

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

(चतुर्थाध्यायः)



शुद्धाद्वैतब्रह्मवादिनिर्गुणभक्तिमार्गप्रवर्तकाचार्य-
चक्रचूडामणिश्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणप्रणीतम्



दशदिगन्तविजयिश्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीत-
भाष्यप्रकाशसंपूर्णवेत्तृश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोपेश्वर-
जिच्चरणप्रणीतभाष्यप्रकाशरश्मिपरिवृंहितम्



पञ्चमो भागः

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

भूमिका

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विलट्टेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ॥

गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा प्रपूरित अणुभाष्यके अंतिम डेढ़ अध्यायकी शैलीसे असन्तुष्ट बाल्लभ सम्प्रदायके कतिपय आधुनिक अनुगामिओंमें श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुके विलुप्त भाष्यको खोज निकालनेकी; और वह न मिल पाये तो महाप्रभुकी शैलीके अनुकरणद्वारा भाष्यपूर्तिका पुनः एक नवीन प्रयास कर लेनेकी महत्त्वाकांक्षा अंगड़ाई सी लेती रहती है। वह जब तक उठकर हमारे सम्मुख आकर खड़ी नहीं हो पाती तब तक उसके रूपकी विवेचना तो अप्रसंगिक ही होगी. फिर भी प्रभुचरणकृत भागवतमूलक लेखनपर बाल्लभ सम्प्रदायके प्राचीन किसी भी विद्वान्-व्याख्याताके हृदयमें कभी भी ऐसा भेदभाव जग नहीं पाया उसके कारणोंकी मीमांसा; तथा इस प्रभुचरण-पूरित अंशपर किये जाते आक्षेपोंका समाधान हम यथामति करना चाहेंगे.

एतदर्थ हम इन ब्रह्मसूत्रोंके उपजीव्य प्रमाणोंका स्वरूप, सूत्रप्रामाण्यका स्वरूप, सिद्धान्तजिज्ञासाकाल तथा सिद्धान्तनिश्चयोत्तरकालमें व्यवस्थाभेद, अणुभाष्यके उपजीव्य प्रमाणोंका स्वरूप, भागवतप्रामाण्यपर आधुनिक आपत्तिका समाधान, श्रुति तथा भागवत का स्वरूप, गीता एवम् भागवत का स्वरूप, सूत्र और भागवत का स्वरूप, भागवतकी सर्वसन्देहवारकताका स्वरूप, दशम सुबोधिनी तथा अणुभाष्य, षोडशप्रथ तथा अणुभाष्य और 'अर्थोयं ब्रह्मसूत्राणां'के संदर्भमें भागवतोक्त साधन-फलका स्वरूप इत्यादि विषयोंकी विवेचना प्रथमतया महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके लेखनके आधारपर देनेका प्रयास करेंगे. तत्पश्चात् आधुनिकोंके आक्षेपोंका समाधान.

प्रकाशक :

श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव कॉओपरेटिव सोसायटी
पुना बेंगलोर रोड, कोल्हापूर,
महाराष्ट्र

प्रथम संस्करण : वि. सं. १९८४

द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०४१

श्रीवल्लभाब्द : ५०७

मुद्रक :

प्र० पु० भागवत
मौज प्रिंटिंग ब्यूरो
खटाववाडी, मुंबई
४०० ००४

सूत्रोंके उपजीव्य प्रमाणका स्वरूप

“अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” सूत्रद्वारा समारब्ध ब्रह्मजिज्ञासामें जिज्ञास्य ब्रह्मके लक्षण तथा प्रमाण “जन्माद्यस्य यतः” तथा “शास्त्रयोनित्वाद्” अंशोंद्वारा दिये गये हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि औपनिषद् ब्रह्म-तत्त्वकेलिए, उसे “उपनिषद्योनित्वात्” न कह कर, “शास्त्रयोनित्वाद्” पदप्रयोग करना सूत्रकारकी एक विशिष्ट मनोवृत्तिका द्योतक है; और सूत्रकारकी इस मनोवृत्तिका अनुवर्तन सभी भाष्यकारोंने, अन्यथा अनेकविध मतभेदोंके बावजूद, यहाँ एकमत हो कर किया है।

श्रीशंकराचार्य कहते हैं “महान् ऋग्वेद आदि शास्त्र जो अनेक विद्यास्थानोंद्वारा उपबृंहित है...अथवा यथोक्त ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्मके यथावत् स्वरूपको अधिगत करना हो तो प्रमाण बनते हैं” (शा. भा. १।१।३) यहाँ “अनेकविद्यास्थानोंद्वारा उपबृंहित” की व्याख्या करते हुए भामतीकार कहते हैं कि पुराण न्याय मीमांसा आदि दशविध विद्यास्थान मान्य हैं तथा ये वेदके वास्तविक अर्थको समझनेमें उपकारक बनते हैं (वहीं)।

श्रीभास्कराचार्य भी देवताओंकी विग्रहवत्ताकी सिद्धिकेलिए केवल उपनिषद्-चर्चोंपर अवलम्बित रहनेके बजाय समग्र शास्त्रोंका अवलम्बन लेते हुए कहते हैं कि मन्त्र अर्थवाद इतिहास पुराणों द्वारा भी अनेक गुण तथा ऐश्वर्यों से युक्त देवता होते हैं, ऐसा समझमें आता है (भा. भा. १।३।३२)।

श्रीरामानुजाचार्य भी कहते हैं कि परम वेद्य तो परब्रह्म ही है, ऐसे ब्रह्मके साक्षात्कारकी क्षमता रखनेवाले भगवद्भूपायन पराशर वाल्मिकी मनु याज्ञवल्क्य गोतम आपस्तम्ब प्रभृति मुनिगणद्वारा प्रणीत तथा विधि-अर्थवाद-मन्त्र-रूप-वेदमूलक, जो इतिहास पुराण तथा धर्मशास्त्र हैं, उनसे उपबृंहित परमार्थभूत अनादिनिधन-अविच्छिन्नपाठसम्प्रदायानुसार ऋक् यजु साम अथर्व रूप तत्तत् शाखावाले वेदको हम जब स्वीकारते हैं तो कहो कि क्या सिद्ध नहीं होगा!.... वेद तो अनन्त तथा दुरवगाह हैं, अतः परमेश्वरद्वारा नियुक्त परमर्षि तत्तत् कर्तव्योंमें निखिल जगत्के उद्धारकेलिए वेदार्थका स्मरण कर विधि-अर्थवाद-मन्त्रमूलक धर्मशास्त्र तथा इतिहास-पुराणोंको प्रकट करते हैं (वेदार्थसंग्रह)।

श्रीमध्वाचार्य भी वेदान्तसम्प्रदायमें मान्य प्रमाणोंकी परिगणना करते हुए कहते हैं कि ऋग् यजु साम और अथर्व इन चारोंकी तरह पञ्चरात्र, भारत,

रामायण तथा ब्रह्मसूत्र भी स्वतःप्रमाण शास्त्र हैं। इनसे अविरोद्ध होनेपर अन्य भी कोई शास्त्र प्रमाण हो सकते हैं अन्यथा नहीं। इसी तरह जो वैष्णव पुराण हैं वे भी पञ्चरात्रात्मक होनेसे प्रमाण ही हैं। मन्वादि स्मृतियां इन उल्लिखित शास्त्रोंसे अनुकूलतया प्रमाण हैं (महाभा. ता. नि. १।३०-३२)।

“शास्त्रयोनित्वाद्” अंशकी व्याख्या करते हुए यद्यपि महाप्रभु केवल इतना ही कहते हैं कि “शास्त्रोंमें ब्रह्मका जगत्कारण होना कहा गया है; और ‘शास्त्र’ यानि वेद, यहाँ ‘वेद’ या ‘उपनिषद्’ न कहकर जो सामान्य पद ‘शास्त्र’ प्रयुक्त हुआ है उसका हेतु यह है कि पूर्वकाण्डोक्त सृष्टिनिरूपक वाक्योंका भी संग्रह हो पाये (अणुभा. १।१।२)।” इस अधिकरणमें इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा गया किन्तु तत्त्वदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणमें यह स्पष्टीकरण दिया गया है कि वेदकी तरह पुराण भी पूर्वसिद्ध ही ऋषियोंद्वारा प्रकट हुए हैं, अतः वेदत्व पुराणोंमें भी अतिदिष्ट है, अतएव पुराणोक्त धर्मार्थकाममोक्ष और भक्ति नित्य भी हैं और वैदिक काम्यकर्मोंकी तरह विकृत भी...पुराणोंके अर्थोंको न समझनेपर सर्वथा मूढता ही वैदिक ज्ञानके बारेमें रहती है, अतएव श्रुति-स्मृतिको नेत्रद्वयी और पुराणको हृदय माना जाता है-वेदमें जो यज्ञ आदिका निरूपण हुआ है उसका अभिप्राय भी पुराणोंके कारण ही समझमें आ सकता है, इसी तरह इस सृष्टिमें जो पदार्थ प्रकट हुए हैं उनका भी वास्तविक स्वरूप पुराणोंके कारण ही समझमें आ पाता है (त. नि. स. ४५-५०)।

इन सभी उद्धरणोंके विमर्शसे यह सिद्ध होता है कि शब्दशः ‘वेद’ पदवाच्य न होनेपर भी वेदों और पुराणों में अर्थशः कोई भेद परम्परातः मान्य नहीं है, अतः ‘शास्त्र’ पदका वेद अर्थ लेनेपर भी, पुराण भी स्वतएव परिग्रहीत हो जाते हैं।

यह मान लेना एक बड़ी भ्रांति होगी कि पुराणोंके बारेमें यह धारणा महाप्रभुकी कोई निजी धारणा है, क्योंकि इन ब्रह्मसूत्रोंके उपजीव्य उपनिषदोंमें भी “नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थः इतिहासपुराणं पञ्चमो वेदानां वेदः (छान्दो. ७।७।४)” जैसे वचनोंद्वारा पुराणोंके बारेमें ये वेदोंमें भी वेद हैं ऐसी प्रशंसा उपलब्ध होती है।

यद्यपि आधुनिक लेखक इस ‘इतिहासपुराण’ पदको अन्य किन्हीं ग्रन्थोंका

वाचक मानते हैं, परंतु प्राचीनतम कृतियोंमें ऐसे किसी ग्रंथका नामोल्लेख भी न मिलनेके कारण तथा परम्परया इन्हीं ग्रंथोंकी 'पुराण' संज्ञा प्रसिद्ध होनेसे अन्य पुराणोंकी कल्पना ही हमें तो अप्रामाणिक लगती है।

इसके अलावा यत्रतत्र स्मृतेश्च (ब्र. सू. १।२।६) स्मरन्ति च (३।१।१४) स्मर्यते च (४।२।१४) जैसे ब्रह्मसूत्रोंमें सूत्रकार भी महाभारत-गीता-पुराण-स्मृतियोंके अनेक वचनोंका प्रमाणत्वेन अवलम्बन लेते ही हैं। इससे सिद्ध होता है कि पुराणके बारेमें आधुनिक लेखकोंकी धारणा तथा प्राचीन वेदान्त-विदों की धारणा के बीच बहुत बड़ा अंतराल है। अतएव इस ब्रह्ममीमांसामें जिज्ञास्य ब्रह्मके यथार्थ बोधकेलिए ग्राह्य प्रमाण 'शास्त्र' पदवाच्य है, न कि केवल उपनिषद् या केवल दशोपनिषद् ही, जिनपर आद्य श्रीशंकराचार्यके भाष्य उपलब्ध होते हैं। क्योंकि पूर्वोदाहृत वचनके आधारपर स्वयमेव श्रीशंकराचार्य भी ऐसी आधुनिक धारणाके पोषक नहीं हैं। अतः पूर्वपरिगणित अनेक या सभी शिष्टादृत शास्त्र इस ब्रह्मजिज्ञासार्थ प्रवृत्त ब्रह्मसूत्रोंके उपजीव्य प्रमाणतया मान्य किये गये थे। अतएव ब्रह्मजिज्ञासामें पुराणोंसे परहेज रखनेकी आधुनिक वृत्ति शास्त्रयोनि ब्रह्मके बारेमें नितान्त अशास्त्रीय अर्थात् अप्रामाणिक मनोवृत्ति है यह सिद्ध होता है।

सूत्रप्रामाण्याक स्वरूप

इससे सिद्ध होता है कि जैसे ब्रह्मजिज्ञासा केवल ब्रह्मकी जिज्ञासा न होकर सपरिकर ब्रह्मकी जिज्ञासा है (द्रष्टव्य अणुभा. १।१।१), वैसे ही ब्रह्मजिज्ञासार्थ अवलम्बनीय प्रमाण भी केवल उपनिषद्रूप न होकर सपरिकर उपनिषद् हैं।

यथा

- (१) श्रुति जिसमें मंत्रब्राह्मणात्मक वेद तथा उपनिषद्रूप वेदान्तका ग्रहण किया जाता है।
- (२) स्मृति जिसमें मनुयाज्ञवल्क्यादि-विरचित धर्मशास्त्र, वाल्मिकीविरचित रामायण तथा वेदव्यासविरचित महाभारत-पुराणोंका ग्रहण अभिप्रेत है।
- (३) स्वयं भगवज्ज्ञानावतार सूत्रकार भगवान् वेदव्यासका दिव्य आर्ष ज्ञान भी जो इन सूत्रोंमें प्रकट हुआ है।

(४) पाञ्चरात्र आगम, यदि वैष्णव वेदान्त-सम्प्रदायकी दृष्टिसे विचारें तो, अन्यथा शैवागम भी अवैष्णव शैव वेदान्त-सम्प्रदायकी दृष्टिसे, तत्त्वनिर्णयार्थ परिकर बन सकते हैं।

सिद्ध इससे यही होता है कि ब्रह्मरूप प्रमेयकी सिद्धि शास्त्ररूप प्रमाणसे अभिलषित है, केवल उपनिषदोंसे नहीं। सूत्रकारको निज आर्ष ज्ञानके बारेमें भी उसके शास्त्रवत् प्रमाण होनेका जो आत्मविश्वास न होता तो अनेक ऋषियोंके मतोल्लेखके बाद निष्कर्षतया स्वनामोल्लेखपूर्वक स्वाभिप्रायको सूत्रित करनेकी शैली सूत्रकारने न अपनायी होती। अतः स्वयं सूत्रकारके अनुसार ही प्रस्तुत ब्रह्मजिज्ञासामें शास्त्रके अन्तर्गत शास्त्रत्वेन निज दिव्य ज्ञान भी प्रमाणतया अभिमत है।

यहां एक गूढ़ रहस्य नितान्त अवधेय यह है कि महाप्रभुके मतके अनुसार श्रुतिसे अतिरिक्त अन्य किसी भी शास्त्रका ब्रह्मविषयक प्रमाजननरूप व्यापारमें प्राथम्य या स्वातंत्र्य नहीं है, क्योंकि वे सभी श्रुतिवचनोंद्वारा प्रारब्ध प्रमाजनन-व्यापारमें सन्देहवारकत्वेन सहायक अंग ही बनते हैं और यही बात इन ब्रह्मसूत्रोंपर भी लागू होती है (द्रष्टव्य अणुभा. १।१।२)।

सिद्धान्तजिज्ञासाकाल तथा सिद्धान्तनिश्चयोत्तरकाल में व्यवस्थाभेद

एक और रहस्य यह भी है कि सिद्धान्तजिज्ञासाकाल अथवा सिद्धान्तोपदेशकाल में जो प्रमाणव्यवस्था महाप्रभुको मान्य है उससे सिद्धान्तनिश्चयोत्तरकाल या वादकाल की प्रमाणव्यवस्थामें थोड़ा सा तारतम्य है।

जिज्ञासा या उपदेश कालमें महाप्रभु इस प्रमाण व्यवस्थामें कुछ संकोच बोध सौकर्यार्थ प्रस्तुत करते हैं : "वेद श्रीकृष्णके वाक्य (गीता) मीमांसासूत्र तथा भागवतकी समाधिभाषा ये चारों मिलकर एक प्रमाण बनते हैं। इनमें उत्तरोत्तर शास्त्रको पूर्वपूर्व शास्त्रोंका सन्देहवारकत्वेन सहायक बनाना चाहिये। इस प्रमाणचतुष्टयीकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशिसे अविरोद्ध जो भी वचन हों वे प्रमाणतया मान्य किये जा सकते हैं, परन्तु विरोद्ध वचन कथमपि मान्य नहीं हो सकते। अलौकिकवस्तु-ज्ञापक शब्द ही स्वतःप्रमाण होते हैं। अलौकिक वस्तुके बारेमें इन वेदादि चारों शास्त्रोंकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशि प्रमाण होती है। यद्यपि चारोंमेंसे एक भी कोई शास्त्र प्रमाणतया मान्य हो सकता

था, परन्तु पूर्व-पूर्व शास्त्रोंमें उठते सन्देहोंका वारण उत्तरोत्तर शास्त्रोंद्वारा ही होता है.

पूर्ण ज्ञान जब तक प्रकट न हो पाता हो तब तककी प्रमाण-व्यवस्था यह है.

पूर्ण ज्ञानोदयके बाद व्यवस्था इस तरह समझनी चाहिये : जगत्के सभी नाम-रूपोंको धारण करके एकमात्र स्वयम् भगवान् ही तो क्रीड़ा कर रहे हैं. अतः अनेकविध विरुद्ध धर्मोंके एक अविरुद्ध आश्रय ऐसे ब्रह्मके विलक्षण स्वरूपका विचार करनेपर प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशिसे विरुद्धतया प्रतीत होते वचनका भी विरोधाभास परिहृत हो जाता है. भगवान्में सर्वभवनसामर्थ्य है तथा एकमात्र भगवान् ही अनेकविध विरुद्ध नाम-रूपोंको धारण कर क्रीड़ा करते हैं. ऐसी स्थितिमें किसी भी वचनको विरुद्धतया अप्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता रह नहीं जाती है (त. नि. शा. ७-९)."

इस विस्तृत उद्धरणसे यह सिद्ध होता है कि पूर्ण ज्ञानोदयसे पूर्व तथा पश्चात् प्रमाणव्यवस्था भिन्न-भिन्न है. जिज्ञासाकाल या उपदेशकाल में यच्चयावत् शास्त्रवचनोंके आधारपर उपदेश या बोध शक्य ही नहीं. जैसे एक शिशुको उपदेशकालमें " 'क' कमल का " रटानेसे जैसी सुगमता निभती है, वैसी 'क' कमल, कागज, कपड़ा, कौआ, काजल, कचरा, कोठी आदि सभीका रटवानेपर निभ नहीं पायेगी! अतएव प्रमाणव्यवस्थामें संकोच प्रस्तावित करना पड़ा है कि "एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं (सत्) प्रमाजनकम्." यहाँ एकवाक्यताके आग्रहके पीछे भी यही हेतु छिपा हुआ है. संस्कृतभाषा में कहें तो "प्रमाणानि तानि चत्वारि" कहनेपर सिद्धान्तावगमार्थ वचनोंके तात्पर्यके उद्देकनका उत्तरदायित्व स्वयम् जिज्ञासु अध्येतापर आ पड़ेगा- और यहीं दिग्भ्रमकी पूर्ण सम्भावना छिपी रहती है. अतः एक बार एक. वाक्यताकी दिशा निर्धारित हो जानेपर जिज्ञासा कभी पथभ्रष्ट नहीं हो पायेगी. चारों शास्त्रोंके परस्परसमन्वित वचन ब्रह्मसम्बन्धी सभी जिज्ञासाओं का उपशम स्वतःप्रामाण्यके बलपर करते हैं.

यह संकुचित प्रमाणव्यवस्था प्रतिवादीके बारेमें पूर्णज्ञानोदयकी अस्वीकृतिके बावजूद महाप्रभु प्रस्तावित करना नहीं चाहते. अतएव श्रीमद्वाचार्थकी प्रतिज्ञाको दोहराते हैं :

अर्थोयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः
रामायणैः सहित भारत पञ्चरात्रैः ।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सहतत्त्वसूत्रैः
निर्णयते सहृदयं हरिणा सदैव ॥

(म. भा. ता. नि १।२२ तथा त. नि. शा. १०४)

सर्वेषां प्रमाणानामत्र एकवाक्यता (त. नि. शा. १०४)

भावार्थ : निखिल वेदवाक्यों रामायणों महाभारत पञ्चरात्रों तत्त्वसूत्रों तथा अन्य भी सभी शास्त्रवचनोंका अर्थ यही है जो हमने दिखलाया है. सभी प्रमाणोंकी हमारे मतमें एकवाक्यता सिद्ध होजाती है.

सुस्पष्ट है कि शास्त्रीय तत्त्वनिश्चयार्थ किये जाते बादकालकी यह प्रमाणव्यवस्था "प्रमाणं तच्चतुष्टयम्" से तो व्यापक है, परन्तु पूर्णज्ञानोदयोत्तरकालकी प्रमाणव्यवस्थासे तो कुछ संकुचित ही है. क्योंकि केवल सकल शास्त्रवचनोंको ही यहां प्रमाणतया मान्य किया गया है. जबकि इससे भी व्यापकतर व्यवस्था महाप्रभु प्रस्तुत करते हैं—"अथवा सर्वरूपत्वात् नाम-लीलाविभेदतः...वाङ्मात्रमेव प्रमाणम् अर्थस्य भगवद्रूपत्वात् (त. नि. शा. ९)" कह कर. भावार्थ : प्रत्येक वचन प्रमाण बन सकता है, क्योंकि वाक्यघटक प्रत्येक शब्दका अर्थ अन्ततः तो ब्रह्म ही होता है. पूर्णज्ञानोदयोत्तरकालका यह महाप्रभुका ब्रह्मवादी डिण्डिमघोष है!

अणुभाष्यके उपजीव्य प्रमाणोंका स्वरूप

वेदान्तके अन्य आचार्योंकी तुलनामें महाप्रभुकी पृथक्ता एक यह दिखलाई जाती है कि अन्य सभी प्रस्थानत्रयप्रामाण्यवादी हैं तथा महाप्रभु प्रस्थानचतुष्टयप्रामाण्यवादी! यह विधान महाप्रभुकी निन्दा या प्रशंसा दोनों ही अभिप्रायोंमें नितान्त निर्मूल है. और यह निन्दा-स्तुति न केवल महाप्रभुके अपितु अन्य भी सभी आचार्योंकी मौलिक धारणाओंसे सर्वथा अपरिचयका द्योतन है. वेदान्तके सभी आचार्य शास्त्रप्रामाण्यवादी हैं, कोई भी केवल प्रस्थानत्रयप्रामाण्यवादी अथवा केवल प्रस्थानचतुष्टयप्रामाण्यवादी नहीं है. प्रत्युत् श्रीमद्वाचार्थके अधुनाप्रकाशित संग्रहका तो श्रुतिप्रस्थान स्मृतिप्रस्थान सूत्रप्रस्थान पुराणप्रस्थान एवम् इतिहासप्रस्थान यों चारसे भी अधिक पांच

प्रस्थानोंमें वर्गीकरण किया गया है. यद्यपि इनमें तन्त्रप्रस्थानका पृथगुल्लेख नहीं हो पाया है, किन्तु उसे भी जोड़ दिया जाय तो श्रीमध्वाचार्य निश्चित ही आपत्तिजनक नहीं मानते, तन्त्रप्रामाण्यवादी होनेके कारण ही.

महाप्रभु भी चार प्रस्थानोंका पृथक्-पृथक् प्रामाण्य नहीं मानते हैं, किन्तु प्रस्थानचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशिका एक समन्वित प्रामाण्य ही स्वीकारते हैं. वह भी केवल जिज्ञासाकाल या उपदेशकाल में ही, यह हम दिखला चुके हैं. इन चारों प्रस्थानोंमेंसे किसी भी एक प्रस्थानका इतरनिरपेक्ष-प्रामाण्य नहीं है. अतएव महाप्रभु यह कहते हैं कि “ब्रह्म तो केवल उपनिषद्बोध ही है अतः ब्रह्मसूत्रोंद्वारा की जाती मीमांसा यदि उपनिषदोंसे स्वतन्त्र हो तो इससे उत्पन्न होता ज्ञान ‘ब्रह्मज्ञान’ नहीं कहलायेगा (अणुभा. : १।१।१).” अतः स्वीकारना पडता है कि (क) ब्रह्मविषयक प्रमाके जननका आद्यप्रवृत्तिरूप व्यापार श्रुतिके शब्दोंद्वारा प्रकट होता है (ख) उस व्यापारमें सन्देहनिरसनद्वारा गीता सूत्र तथा भागवत के शब्द सहकारी बनते हैं (ग) इन तीन सहकारी प्रस्थानोंद्वारा उपकृत श्रुतिके शब्द अथवा प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यतापन्न शब्दराशि असम्भावना-विपरीतभावनारहित ब्रह्मप्रमाको प्रकट करती है.

उदाहरणतया घटविषयक चाक्षुषप्रामामें सर्वप्रथम मनःसंयुक्त चक्षुका प्रकाश-संयुक्त घटके साथ संयोग सम्पन्न होनेपर ही प्रत्यक्षज्ञान शक्य बनता है. इसमें मन चक्षु तथा प्रकाश इतरनिरपेक्षतया घटप्रमाके जनक नहीं हो सकते. महाप्रभुके शब्दोंके वजनपर जोड़ना चाहें तो “एतत्त्रयं परस्परसहकारितया घटसंयुक्तं सत् प्रमाजनकम्” वाक्य घड़ा जा सकता है.

सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य इस सन्दर्भमें यह समझ रखना चाहिये कि ‘प्रस्थान’ और ‘प्रमाण’ पर्यायवाची शब्द नहीं हैं. अतएव प्रस्थानसे अधिक भी प्रमाण किसी वेदान्तसम्प्रदायमें सहज ही सम्भव हैं. ‘प्रस्थान’ का अर्थ विचारयात्राका आरम्भबिन्दु होता है. वैसे स्वयं महाप्रभुकेद्वारा प्रयुक्त शब्दोंपर दृष्टिपात करते हैं तो “प्रस्थानं तच्चतुष्टयम्” नहीं, प्रत्युत् “प्रमाणं तच्चतुष्टयम्” शब्द ही हमें उपलब्ध होते हैं. और फिर न तो उपनिषद् या गीता पर महाप्रभुका कोई स्वतन्त्र भाष्य है और न अन्य श्रीशंकराचार्य प्रभृति वेदान्तव्याख्याकारोंके भी स्वयं उन्हें प्रमाणतया अभिमत सकल शास्त्रोंपर ही कोई भाष्य उपलब्ध होते हैं. इसके बावजूद आधुनिक वेदान्तलेखनमें प्रस्थान और प्रमाण को पर्यायवाची

जैसा अनजाने माना जाने लगा है!

भागवतप्रामाण्यपर आधुनिक आपत्तिका समाधान

कुछ आधुनिक लेखक (द्रष्टव्य : एम. आई. मारफतिया लिखित ‘द फिलो-सोफी ऑफ वल्लभाचार्य’) प्रस्थानत्रयीकी कोटीमें चतुर्थप्रस्थानतया भागवतकी प्रस्थापनाके विरोधमें प्रबल वितण्डा खड़ा करना चाहते हैं. यह किन्तु वेदान्त-शास्त्रीय मौलिक धारणाओंके साथ स्वयम् उनके अपरिचयका ही द्योतक है. क्योंकि ब्रह्मसूत्र भी तो स्वयम् स्मृतिके रूपमें सर्वदा गीताप्रस्थानका ही अवलम्बन करते हों ऐसा कोई भी भाष्यकार स्वीकारता नहीं है. एतदर्थ शांकर आदि भाष्योंके अनुसार ये सूत्र द्रष्टव्य हैं :

शांकरभाष्यमें : २।३।४७, ३।१।१४, ३।१।१९ तथा ४।२।१४.

भास्करभाष्यमें : २।३।४७, ३।१।१५, ३।१।१९ तथा ४।२।१४.

रामानुजभाष्यमें : २।३।४६, ३।१।१५, ४।२।१३ तथा ४।३।१०.

इन सभी सूत्रोंमें तत्तद् भाष्योंके अनुसार गीतेतर तत्तद् पुराणादिवाक्योंका ही विमर्श हुआ है. तब प्रस्थानत्रयीका सिद्धान्त कहाँ रहा? यह बचाव थोथा ही है कि कभी-कभीक इतरवचनोंका अवलम्बन दोषावह नहीं, जबकी निरन्तर पुराणवचनोंका अवलम्बन दोषावह ही है, क्योंकि ऐसा निकष इन पूर्वोक्त भाष्यकारोंने तो कहीं शब्दशः मान्य किया नहीं है. विचारशैलीमें कभी-कभीक पुराणवाक्योंका विमर्श या निरन्तर विमर्श केवल विचारके शैलीगत भेदका परिचायक हो सकता है, आधारगत भेदका नहीं. क्योंकि पुराणवाक्य भी प्रमाणतया ही उभयत्र उपन्यस्त हुए हैं.

श्रीमध्वाचार्य तो सर्वत्र श्रुति-स्मृति-प्रमाणवचनोंका अविशेषण प्रमाणतया उपन्यास करते ही हैं. एक भाष्यकार आचार्यकी विचारशैली अन्य आचार्य-केलीए बन्धनकारी नहीं होती. अन्यथा जो पुराणवचनोंका अधिक अवलम्बन नहीं करते उनकी विचारशैलीमें यह दोष मानना पड़ेगा कि उनके विचारोंकी पुराणोंद्वारा पुष्टि नहीं की गई है.

महाप्रभु या प्रभुचरण ऐसी स्थितिमें ब्रह्ममीमांसामें भागवतका अवलम्बन अधिकतया करते हों तो वेदान्तके किसी भी प्राचीन विद्वानकेलिए तो वह आपत्तिजनक नहीं हो सकता है. श्रीमध्वाचार्य तो स्वयम् ही यह स्वीकारते हैं :

“ब्रह्मसूत्र-महाभारत-गायत्री-वेदसम्बन्धश्चायं ग्रन्थः उक्तं गारुडे—
अर्थोयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः ।
गायत्रीभाष्यरूपोसौ वेदार्थपरिवृंहितः ॥
पुराणानां साररूपः साक्षाद्भगवतोदितः ।
द्वादशस्कन्धसंयुक्तः शतविच्छेदसंयुतः ॥
ग्रन्थोष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः

(श्रीमद्भागवततात्पर्यनिर्णय १।१)

ऐसी स्थितिमें स्वयमेव सूत्रोंको स्मृतित्वेन मान्य, उपनिषदोंको भी वेदोंके वेद अर्थात् पंचमवेदतया मान्य, इतर पुराणोंको ब्रह्मसूत्रार्थत्वेन—भारतार्थनिर्णय रूपत्वेन—सकलपुराणसारत्वेन—गायत्रीभाष्यत्वेन—वेदार्थपरिवृंहितत्वेन—साक्षाद्-भगवतोदितत्वेन मान्य भागवतकी चतुर्थ प्रस्थानताकी मान्यताके विरुद्ध उठाये गये सारे बवण्डर वेदान्तगोष्ठीमें नितान्त प्रभावहीन ही लगते हैं। आधुनिक रिसर्चगोष्ठीकी गवेषणा अशास्त्रीय कल्पनाओंसे प्रभावित होनेके कारण वेदान्त-शास्त्रीय मौलिक धारणाओंसे सर्वथा अपरिचित ही सिद्ध होती है।

महाप्रभुने सर्वनिर्णयप्रकरणके प्रमाणप्रकरणमें, अतएव, भागवतकी असाधारण महत्ता, उसके प्राकट्यका प्रयोजन, उसका सर्वोद्धारक स्वरूप, उसका सर्वसन्देहवारक प्रामाण्य तथा प्रमाणतः—प्रमेयतः—साधनतः—फलतः उत्कर्ष स्वीकारा है।

श्रुति तथा भागवत

वेदादिशास्त्रोंके आपाततः विमर्श करनेपर केवल सुसाधन जीवात्माओंका ही उद्धार सम्भव लगता है। कृष्णावतारलीलाका, परन्तु, भलीभांति अध्ययन

१. ननु कृष्णः सर्वमुक्त्यर्थमवतीर्णः तस्य स्वरूपकथनार्थं भागवतं प्रवृत्तं...सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्यतयोदितः ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः...भगवदिच्छया यदा पुनः सर्वोद्धारार्थं प्रत्यत्नं कृतवान् तदा परम्पराया अभावात् नान्यैः व्यासैः वक्तुं शक्यते इति व्यासावतारः अभिप्रायज्ञानार्थं गीतायां स एव प्रकटीकृतः... स इदानीं तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः तद्व्यासत्वाद् भागवतं पूर्वं भगवतोदितं... कालादिधर्म हेतूनामभावात् साम्प्रतं कलौ वेदस्मृतिपुराणानामर्था सर्वे हि बाधिताः कालदिसाधनापेक्षारहितः सर्वतोधिकः फलतः सुगमश्चैव सर्वथा फलसाधकः (त. नि. स. ५९-६९).

करनेपर कुछ और ही चित्र सामने आता है। इस रूपमें भगवान् सुसाधन निःसाधन तथा दुष्टसाधन यों सभी तरहकी जीवात्माओंका उद्धार करना चाहते हैं। काम-क्रोध-भय-स्नेह-ऐक्य-सौहृदादि किसी भी निन्दित-अनिन्दित-प्रशस्त मनोवृत्तिवश जीवात्माका चित्त परमात्मामें एकाग्रतया तन्मय होनेपर पारमात्मिक आनन्दकी उपलब्धि सम्भव है। “ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसि” श्रुतिमें वर्णित ज्ञानमार्गीय श्रौत प्रक्रियाद्वारा जड़-जीवरूप वस्तु-मात्रका ब्रह्मसे तादात्म्यानुभव न कर पानेवालेको भी इन मनोवृत्तियोंके कारण भी अन्तमें सर्वात्मभावकी सिद्धि सम्भव है। ऐसा उल्लेख भागवतसे पूर्व इतने स्पष्टतम शब्दोंमें तथा लीलावर्णनकी मुहरके साथ उपलब्ध नहीं होता।

महाप्रभु कहते हैं “कर्मज्ञानकाण्डादिष्वपि भक्तिशेषत्वकथनात् सर्वश्रुति-तात्पर्यविषयभगवत्प्रतिपादनाच्च श्रुतिसाररूपत्वं (भागवतस्य)” अर्थात् श्रुति-वर्णित कर्मसाधना तथा ज्ञानसाधना भागवतद्वारा भक्तिकी अंगभूत बनायी गयी है। भगवान् तो प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलनिरूपिका सभी तरहकी श्रुतिओंके परम-तात्पर्य-विषयीभूत हैं, अतः ऐसे भगवत्स्वरूपकी प्रतिपादक होनेसे भी भागवतको श्रुतिसार समझना चाहिये (द्रष्टव्य : सुबो. ३।२।२४)।

ऐसी अवस्थामें ब्रह्मसूत्रके साधनफलाध्यायोंमें यदि जीवके उद्धारके एक अन्यतम किन्तु प्रमुख साधनके रूपमें; तथा इसी तरह जीवात्माको अनुभूत होते एक अन्यतम फिरभी प्रमुखतम फलके रूपमें भागवतोक्त भगवल्लीलाका वर्णन नहीं हो पाया ऐसा स्वीकारते हैं, तो साधनाध्याय तथा फलाध्याय में ही यह न्यूनता स्वीकारनी पड़ेगी। श्रुतिसारभूत साधन एवम् फलके वर्णनसे ब्रह्मसूत्रोंको वञ्चित मानना पड़ेगा।

सम्भव है कि पुष्प या फल के बीजोंमें पुष्पकी सुगन्ध या फलका सुस्वाद न भी अनुभूत होता हो। फिर भी वह सामर्थ्य तो बीजमें गूढतया निहित स्वीकारना ही पड़ता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि “निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्” भागवतवर्णित भगवल्लीलाकी उद्धारसाधनता तथा फलरूपताकी सुगन्ध तथा सुस्वाद भी बीज-शाखा-पल्लवरूप श्रुति-स्मृति-सूत्रवचनोंमें स्पष्टतया

१. कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा ।

नित्यं हरौ विदधते यान्ति तन्मयतां हि ते ॥ (भाग. १०।२९।१५)

अनुभूत न भी होते हों परन्तु विवक्षामें तो निहित स्वीकारने ही पड़ेंगे।

अणुभाष्य उसी फलावस्थाका वर्णन बीज-शाखा-पल्लवोंकी पहचानमें भी देना चाहता है।

गीता और भागवत

जो रहस्य भागवतमें प्रकटतया वर्णित है उसे भागवतपूर्व शाखोंमें गुप्ततया अवस्थित स्वीकारना पड़ेगा। भगवदवतारकालमें मुक्ति या भक्तिके दानमें भगवान्के साधननिरपेक्ष निरंकुश सामर्थ्यको प्रकट करनेवाली अनेक लीलायें वर्णित हुई हैं।

यद्यपि गीतामें “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच (गीता १८।६६)” जैसे भगवत्प्रदत्त आश्वासनोंमें भी भगवान्के साधननिरपेक्ष निरंकुश उद्धारसामर्थ्यका सिद्धान्त ध्वनित होता है। फिर भी साधनाभिमानसे जड़ीभूत हृदयमें इसकी प्रतिध्वनि सहसा नहीं गूँज पाती। परिणामतः व्याख्याकारोंको भय लगता है कि “सर्वधर्मत्याग” को यथाश्रुत लेनेपर जगतमें पाषण्ड बढ़ जायेगा, अतः ‘धर्म’ पदके विविध अर्थ वे प्रस्तुत करने लग जाते हैं। यथा : यह धर्म मनुष्यत्व-पुरुषत्व-स्त्रीत्वादि रूप दैहिक धर्म है, या ब्राह्मणत्व-शूद्रत्वादिरूप वर्णधर्म है, या ब्रह्मचारित्व-संन्यासित्वादिरूप आश्रमधर्म है; यों देहादिके अध्यासमूलक मिथ्या धर्मोंके त्यागका उपदेश यहाँ पारमार्थिक ब्रह्मात्मैक्यकी अनुभूतिके लिए दिया गया है। कुछ अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि ‘धर्म’ पदसे धर्मानुष्ठानमें कर्तृत्वभोक्तृत्वरूपा अहन्ताममता विवक्षित हैं जिनके त्यागका यहाँ उपदेश दिया जा रहा है। इत्यादि इत्यादि।

मूलतः जबकि अर्जुनको भगवान् यह समझाना चाहते हैं कि उसे युद्ध करना चाहिये तथा कर्म-ज्ञान-भक्ति आदि मार्गसम्बन्धी विधिनिषेधोंके अनुसार प्रवृत्ति-निवृत्तिद्वारा आत्मोद्धारकी चिन्ता छोड़ देनी चाहिये। क्योंकि सर्वप्रथम तो इस लड़े जा रहे युद्धमें अर्जुनका सारथित्व भगवान् स्वीकार चुके हैं। पश्चात् श्रीमुखतः युद्धकी अनुज्ञा भी प्रदान कर चुके हैं। भगवान्ने विधि-निषेधमूलक प्रवृत्ति-निवृत्तिसे जन्य पुण्य-पापोंके चक्रसे अर्जुनको मुक्त रखनेका आश्वासन दिया ही है। फिर भी कर्म ज्ञान अथवा भक्ति आदि मार्गोंके कारण

अर्जुनको सत्ताती आत्मोद्धारकीचिन्ताका निवारण भगवान् इस चरमोपदेशद्वारा देना चाहते हैं।

क्योंकि निष्काम कर्म यदि जीवात्माका उद्धार करनेमें समर्थ है तो वह किसी कर्ममार्गीय जीवात्माके कर्मसामर्थ्यके कारण नहीं, किन्तु कर्मके शास्त्रविहित होनेके कारण ही। ज्ञानाग्नि यदि सभी अच्छे-बुरे कर्मोंको भस्मसात् करनेमें समर्थ है तो वह भी किसी ज्ञानमार्गीय साधककी बुद्धिके सामर्थ्यके कारण नहीं, किन्तु ज्ञानके ब्रह्मज्ञान होनेके कारण ही। इसी तरह भक्ति भी किसी सुदुराचारीके उद्धारमें समर्थ है तो वह साधकके भक्तिमार्गीय साधना-डम्बरोंके कारण नहीं, किन्तु भक्तिके हृदयतः भगवद्विषयिणी होने के कारण ही। अतः भगवत्प्रेरित या भगवद्विषयक होनेके कारण, असमर्थ क्षुद्र जीवात्माके कर्म-ज्ञान-भक्तिके भीतर भी यदि सुकृत-दुष्कृतके चक्रको प्रभावहीन बनाने की सामर्थ्य आ जाती हो, तो क्या स्वयम् उस सर्वसमर्थ परमात्मामें अपने शरणागतको पुण्य-पापोंके चक्रसे छुड़ानेकी सामर्थ्य नहीं हो सकती ?

भगवान् इस आशयसे चरमोपदेश कर रहे हैं। व्याख्याकार जबकि पूर्वोपदिष्ट कर्म-ज्ञान-भक्तिमेंसे ही किसी एक उपदेशके साथ पुनः इस चरमोपदेशको भी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार जोड़ देना चाहते हैं ! और इस तरह चरमोपदेशको केवल एक पिष्टपेषण बनाकर रख देते हैं ! !

कर्मज्ञानभक्ति-आदि साधनाओंमें आत्मोद्धारकी सामर्थ्य परमात्मनिरपेक्ष नहीं हो सकती है। यह “फलमत उपपत्ते” (ब्र. सू. ३।२।३८) वचनद्वारा सिद्ध होता है। तथा परमात्मामें जीवात्माके उद्धारहेतु, इन कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप साधनोंसे निरपेक्ष सामर्थ्य भी हो सकती है, यह गीताके चरमोपदेशद्वारा सिद्ध हो रहा है। भागवत इसे सोदाहरण भगवल्लीलाके वर्णनद्वारा समझाती है :

अहन्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण ।

लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्वम् ॥

(भाग २।७।३१)

गोप्यः कामाद् भयात् कंसः द्वेषाच्चैद्य अधीरधी ।

सम्बन्धाद्वृष्णायः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विमोः ॥

(भाग. ७।१।३०)

सुसाधन जीवात्माका तो उद्धार शास्त्रीय साधनोंके माहात्म्य अथवा परमात्माके माहात्म्य मेंसे किसके कारण हुआ यह इदमित्यतया निश्चित कर पाना दुष्कर है. परंतु “अहन्यापृतं...” में निःसाधन जीवात्माके तथा “गोप्यः कामाद्...” में दुष्टसाधन जीवात्माके भी उद्धारकी चर्चा “फलमत उपपत्तेः” तथा “सर्वधर्मान् परित्यज्य...” वचनोंका ही भागवतमें लिखा गया लीलोदाहरणके सहित सुरुचिर भाष्य है.

ऐसा नहीं कि यह सिद्धान्त उपनिषदोंमें सर्वथा उपलब्ध ही न होता हो क्योंकि “एष हेवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष उ एवैनम् असाधु कर्म कारयति तं यमघो निनीषति (कौ. उ. ३।९)” तथा “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन. लभ्यः तस्वैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् (कठो. २।२३)” वचनोंमें इन्हीं सिद्धान्तोंका संकेत मिल तो अवश्य जाता है. क्योंकि किसी भी कर्मका साधुत्वासाधुत्व उत्कर्षाकर्षप्रदत्व तथा कारयितृत्व भगवन्निर्धारित तथा भगवन्निहित हो तो परमात्मामें साधननिरपेक्ष निरंकुश उद्धारसामर्थ्य अर्थात् सिद्ध हो ही जाता है. प्रवचन-मेधा-श्रवणादि साधनोंसे उसे अलभ्य बताकर अनुग्रहापर-पर्याय वरणसे लभ्य बताना भी उसी निरंकुश सामर्थ्यका द्योतन है. परन्तु श्रुति-स्मृति-सूत्र-भागवतकी एकवाक्यता साधे बिना यह रहस्य पूर्णतया उजागर नहीं हो पाता है.

अतएव महाप्रभु भागवतको गीता का विस्तार मानते हैं.

सूत्र और भागवत

सर्वशास्त्रसमर्थित भगवान्के निरंकुश साधनफलरूप सामर्थ्यको अणुभाष्यकार “सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र” अधिकारके अनुसार अथवा “स्वपदानि च वर्ण्यन्ते” अधिकारके अनुसार भी सूत्रारूढ करते हैं (दृष्टव्यः सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः) तो वह भाष्यकारकी हैसियतमें कथमपि अनुचित नहीं माना जा सकता है. क्योंकि फलोपम सूत्रवचनोंकी शब्दत्वचामें वह अर्थ प्रकट न भी होता हो तो न सही, परन्तु निगूढ विवक्षारूप गूदेमें तो वह छिपा हुआ है ही.

अन्यथा भाष्यद्वारा भागवतको सूत्रारूढ करनेकी प्रक्रियाका निषेध

करनेवालोंको कृष्णावतारलीलाका भी निषेध करना पड़ेगा और गीताके सर्वगुह्यतम चरमोपदेशका भी.

विचित्र बात तो यह है कि शास्त्रोक्त साधनोंके यथाविधि अनुष्ठानमें समर्थ साधक तो भागवतके प्रस्थानान्तर्भावपर आपत्ति उठाये तो वह समझमें आ सके ऐसी बात है. देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्मादिकी शास्त्रापेक्षित शुद्धि आज जब कालवशात् सर्वथा उद्ध्वस्त हो गई है, ऐसी स्थितिमें समग्र साधन-व्यवस्थाका निर्मूल-स्वच्छन्द व्याख्यान तथा अनुष्ठान करनेवाले असमर्थ साधक सर्वसमर्थ भगवान्के निरंकुश सामर्थ्यपर आशंका प्रकट करते हैं! सूत्रकार जबकि शब्दशः जैमिनीसे अपना मतभेद कर्मके बजाय परमात्माको फलदाता माननेके रूपमें घोषित कर चुके हैं.

मध्यमाधिकारीकेलिए सर्वसन्देहवारक भागवतकी मनननिदिध्यासनोपयोगिता

श्रुतिमें आत्मदर्शनार्थ श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप उपाय दिखलाये गये हैं (द्र. : बृ. उ. ४।५।६). इन उपायोंके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए महाप्रभु कहते हैं कि उपनिषदोंके वचनोंको केवल सुन लेना पर्याप्त नहीं है, किन्तु इस चतुर्लक्षणी ब्रह्ममीमांसाद्वारा उन उपनिषद्वचनोंकी ब्रह्मपरता समझनी आवश्यक है. अर्थात् ये उपनिषद्वचन ब्रह्मतत्त्वके ही निरूपक हैं, यह भलीभांति समझमें आ जाये तो मानना चाहिये कि श्रवण मग्न हुआ. इस तरह श्रुत वचनोंके अर्थोंके बारेमें कभी असम्भावना या विपरीतभावना मनमें न उठे, एतदर्थ मनन अपेक्षित होता है. इस मननकी प्रक्रियामें वेदोपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र तथा भागवत के वचन उत्तरोत्तर सन्देहवारक अंग बनकर तथा परस्परसमन्वित होकर मननोपाय बनते हैं. पूर्व-पूर्व शास्त्रका कोई भी वचन या शब्द यदि स्वयम्की ब्रह्मपरताके बोधजननमें स्वतःसफल न भी हो पाता हो तो जिज्ञासाकालमें उसका आहार्यविस्मरण करना पड़ेगा, जब तक उत्तरोत्तर आते वचनोंमें निर्दिष्ट किसी प्रक्रियाद्वारा ऐसे वचन या शब्द की ब्रह्मपरताको परखनेकी दृष्टि हमारे भीतर पनप नहीं जाती. ऐसी दृष्टिके लाभ होनेपर मनन सम्पन्न हुआ समझना चाहिये.

महाप्रभुके मतमें अतएव केवल “युक्तिभिः अनुचिन्तनं मननम्” परिभाषा

अपर्याप्त है, जबतक 'युक्ति' पदके अर्थतया 'प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यता-पादिका युक्ति' को विविक्षित न माना जाये. मननके बाद आता है निदिध्यासन. यथावगत ब्रह्मस्वरूपकी यथाधिकार ज्ञानमार्गीय मर्यादोपासना-मार्गीय या पुष्टिभक्तिमार्गीय रीतिके अनुसार ध्यान-धारणा समाधि या तत्स्थानीय चित्तकी किसी अवस्थाका लाभ होना निदिध्यासन है. यह सिद्ध होनेपर अन्य-व्यापारसे निर्मुक्त साधकको स्वस्वमार्गीय रीतिसे ब्रह्मानुभव फलित हो जाता है. महाप्रभु कहते हैं—“इदमेव ब्रह्मज्ञानम्.”

उत्तमाधिकारीकेलिए सर्वसन्देहवारक भागवतकी मनननिदिध्यासनो-पयोगिता

मध्यमाधिकारीकेलिए उपदिष्ट मनननिदिध्यासनकी रीति ही, महाप्रभु, उत्तमाधिकारीकेलिए भी स्थूणाखननन्यायेन उपयोगी मानते हैं. क्योंकि महा-प्रभुकी धारणा है कि श्रीकृष्णवाक्य अर्थात् गीताके अनुसार जो वेदोपनिषदोंका अर्थ करते हैं वे ही सच्चे भागवत और ब्रह्मवादी हैं (त. नि. शा. २१). अतः वेदार्थमें सन्देह न हो तब भी वेदार्थ व्यासोक्त ब्रह्मगीमांसाके अनुसार ही करना चाहिये (अणुभा. १।१।१). महाप्रभु यह भी समझाते हैं कि ब्रह्मके स्वरूपको समझनेकेलिए तीन पक्षोंको समझना पड़ेगा: (१) पूर्वकाण्डोक्त ब्रह्मका क्रियारूप सामर्थ्य, (२) उत्तरकाण्डोक्त ज्ञानरूप सामर्थ्य (अर्थात् प्रत्येक कर्म या क्रिया में वह सामर्थ्य नहीं, किन्तु शास्त्रविहित क्रियामें फलजननसामर्थ्य है. इसी तरह ब्रह्मविषयक ज्ञानमें मोक्षप्रापकता है, घटविषयक ज्ञानमें नहीं) और (३) गीता-भागवतोक्त क्रियाज्ञानविशिष्ट सर्वसमर्थ हरिकी स्वयम्का स्वरूप (द्र. : त. नि. शा. ८९-९०) महाप्रभु यह भी स्वीकारते हैं कि विशिष्ट वेदार्थ (अर्थात् क्रियाज्ञानशक्तियुक्त परमात्मा स्वयम्) फल है. उसे पानेका साधन भगवत्प्रेम है. भगवत्प्रेमका साधन नवधा भक्ति है. जिसका संक्षेपमें प्रतिपादन स्वयमेव

१. अधीतानां ब्रह्मवाक्यानां चतुर्लक्षण्या ब्रह्मपरत्वे सिद्ध श्रवणं भवति, श्रुतस्य कालान्तरेपि असंभावनाविपरीतभावनानिवृत्त्यै पूर्वस्थितानामंगानामनपेक्षितानामुद्रापो अन्येषामपेक्षितानामावापेन तस्यैवार्थस्य निर्धारणे मननं भवति, ततोऽप्येवं ध्यानादिसमाध्यन्तरूपं निदिध्यानरूपं मनसि सर्वतो निवृत्तव्यापारे स्वयमुपलब्धनिजमुत्खानुभवरूपं ब्रह्म इदमेव ब्रह्मज्ञानम्. (अणुभा. १।२।१)

भगवान्ने श्रीमुखसे गीतामें किया है तथा जिसका विस्तार सर्वनिर्णयपूर्वक समाविष्टा श्रीव्यासने भागवतमें किया है (द्र. : त. नि. शा. २२०-२२१).

अतः उत्तमाधिकारीकेलिए भी स्वतः अर्थोंकी उद्दकना करनेके बजाय भागवतके अनुसार श्रुति-स्मृति-सूत्रका अर्थ करना अधिक उचित होता है.

दशमसुबोधिनी तथा अणुभाष्य

इसी पृष्ठभूमिको लक्ष्यमें रखकर महाप्रभुने भागवतके दशमस्कंधमें वर्णित ब्रज मथुरा द्वारिका या वैकुण्ठ की भगवल्लीलाओंमें स्थित तामस राजस सारत्त्विक या निर्गुण भक्तोंके भावोंका तथा भगवल्लीलाओंका विवेचन ब्रह्मसूत्रकी शैलीमें ही अर्थात् प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूपेण ही किया है. न केवल इतना ही अपितु लीलामें विघ्नकारी असुरोंके स्वरूपकी भी विवेचना अविद्याके पांच देहाध्यास इन्द्रियाध्यास प्राणाध्यास अन्तःकरणाध्यास एवं स्वरूपविस्मृति तथा अन्य भी इन अध्यासोंके वश प्रकट होते काम-क्रोधादि दोषोंके रूपमें प्रस्तुत की है.

इसी तरह इन विघ्नोंके निराकरणार्थ भगवान्द्वारा अनुष्ठित उपायोंके स्वरूपोंकी विवेचना भी विद्याके पांच वैराग्य सांख्य योग तप तथा भक्ति नामक पदोंके रूपमें की है.

उदाहरणार्थ पूतनावधकी लीलाको ब्रजवासियोंके बीचमें प्रकट हुए भगवान्द्वारा अनुष्ठित ब्रजवासियोंकी अविद्याका निवर्तन माना गया है. भागवतके अनुसार पूतनावध वास्तवमें तो भगवान्द्वारा उसे प्रदान की गई धान्युचित श्लाघ्य गति ही है. भक्तोंके बीच भगवान् प्रकट होते हैं उनकी भक्तिके कारण. 'भक्ति' का अर्थ होता है “माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोषिक स्नेह.” ऐसी भक्ति भगवत्प्राकट्यकारिणी होनेके कारण प्रकट स्वरूपकी माताके समान होती है. अविद्या यद्यपि माहात्म्यज्ञानवाले भक्तिके अंशसे विपरीत है, फिर भी पूतनाके रूपमें अविद्या भी माता यशोदाकी तरह परमात्माको स्तनपान कराने आयी. अतः उस पूतनाको वैसी गति दी गई, हिंसाभावके अनुरूप नरकादि नहीं. इसी तरह ब्रजभक्तोंकी अविद्याको श्रीभगवज्जननी भक्तिकी तरह भगवद्भावानुकूल देहाध्यासादिकी पोषिका बना लिया गया. पुष्टिभक्तिमार्गमें देहाध्यासादिरूप अज्ञान भी यदि भगवद्भावपोषक बन पाता हो तो

अभिनन्दनीय है. यह है पुष्टिमार्गीय श्रवणके बाद भगवल्लीलाके मनन-निदिध्यासनका स्वरूप।

जैसे फलाध्यायमें—“जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः सफलस्य च” के चातुर्विध्यद्वारा ब्रह्मसूत्रोंमें फलावस्थाका वर्णन हुआ है, वही क्रम भागवतमें भी दशमस्कन्धके अन्तर्गत जीवद्भक्त तथा म्रियमाणभक्त के मुख्यतया वर्णनार्थ है. एकादश स्कन्धको मुक्तिप्रकरण माना गया है जो गच्छतोभक्त वर्णनार्थ है. इसी तरह द्वादश स्कन्ध आश्रय प्रकरण है और वहां आश्रयभावापन्न ‘सफलस्य’ का वर्णन अभिप्रेत है.

उक्त चातुर्विध ब्रह्मज्ञानिता केवल ज्ञानमार्गीय साधकका एकाधिकार नहीं. अत-एव तृतीय स्कन्ध (३।२५।३२-४०) की सुबोधिनीमें बहुत विस्तारपूर्वक भक्तिमार्गीय साधककी भी ऐसी ही चातुर्विध अवस्था सम्भव है, यह दिखलाया गया है.

षोडशग्रन्थ तथा अणुभाष्य

इस चातुर्विध फलनिरूपणके सन्दर्भमें यह ज्ञातव्य है कि षोडशग्रन्थार्गत सेवाफलमें जिस अलौकिक-सामर्थ्यरूप फलका वर्णन है वह “जीवतो म्रियमाणस्य” स्थानीय ही है. इसी तरह एकादशस्कन्धीय मुक्तिप्रकरणके अनुरूप सेवाफल ग्रन्थमें सायुज्यफलका वर्णन है. द्वादशस्कन्धीय आश्रयाभावापत्ति स्थानीय “सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु” फल सेवाफलमें वर्णित हुआ है.

“अलौकिक सामर्थ्य” पदवाच्य आद्यफलका ही स्वरूप निरोधलक्षण ग्रन्थमें चित्रित हुआ है तथा चतुश्लोकीके अन्तिम श्लोकमें भी.

इस तरह अनवतारकालमें पुष्टिभक्तिप्रणालीमें किसी तरहकी असौत्रता नहीं है, यह समझनेकेलिए पर्याप्त है. विस्तारभयसे इस विषयकी अधिक चर्चा यहां सम्भव नहीं.

कुछ अप्रासंगिक होनेपर भी इस विषयको इसलिए यहां छेड़ा गया कि साधन-फलाध्यायमें भागवतोपजीवनपर जैसे कुछ आधुनिक लेखक आपत्ति प्रकट करते हैं, वैसे ही उनसे प्रभावित तथाकथित बल्लभपन्थी भी महाप्रभु और प्रभुचरण के बीच कुछ पृथक् दृष्टिकोणकी उद्भावना करते रहते हैं. इन बल्लभपन्थियोंका आप्रह व्याख्यारहित महाप्रभुके वचनोंको केवल कण्ठस्थ करनेका होता है, अर्थविचाररहित. अतः विचारको अवकाश ही नहीं!

‘अर्थोयं ब्रह्मसूत्राणां’के सन्दर्भमें भागवतोक्त साधनफलका स्वरूप

इस तरह हम देख सकते हैं कि प्राचीन सभी आचार्योंको सर्वथा मान्य शास्त्रप्रामाण्य (केवल उपनिषत्प्रामाण्य नहीं) की धारणाके अनुरूप ही महाप्रभु-प्रभुचरणने अणुभाष्यादि ग्रन्थोंमें प्रमाणचतुष्टयीकी एकवाक्यता कितनी सूझ-बूझसे निभायी है! अन्यथा भगवद्वतारकालमें शास्त्रविहित साधनोंसे असम्पन्न जीवात्माओंको भी ब्रह्मानुभूति या ब्रह्मप्राप्ति के असंख्य उल्लेखोंकी कोई संगति ही नहीं रह जायेगी. एतदर्थ भागवतके ये श्लोक मननीय हैं :

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायतपस्त्यागो नेष्ट्रापूर्ते न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञशिल्पांलि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम् ॥

व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥
तेनाधीतश्रुतिगणाः नोपासीतमहत्तमाः ।
अव्रतातप्तपसः सत्संगान्मामुपागताः ॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगाः मृगाः ।
येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥
यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥

तानाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियस्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोब्धितोये नद्या प्रविष्टा इव नामरूपे ॥
मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥
तस्मात्त्वमुद्धोषोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मयास्या हाकुतोभयम् ॥

(भाग. १।१।२।१-२५)

इस विस्तृत उद्धरणके सम्यक् विमर्शसे भगवद्वतारकालीन लीलामें स्वयम् उस लीलाद्वारा प्रस्तुत होते पुष्टिभक्ति तथा पुष्टिप्रपत्ति के निगूढ सिद्धान्त और

साधनफलव्यवस्थाके प्रकारको या तो अपसिद्धान्त मानना पड़ेगा; या इनकी संगति ब्रह्मसूत्रोंमें कहीं खोजनी पड़ेगी. या तो इतने महत्त्वपूर्ण विषयके अवि-मर्शका दोष ब्रह्मसूत्रोंमें स्वीकारना पड़ेगा या शब्दशः अनुल्लेखका बतंगड़ बनाये विना, सूत्रोंके तात्पर्यपर्यंत अनुधावन करना पड़ेगा. यदि भागवतका ब्रह्म-सूत्रार्थ होना “अर्थोयं ब्रह्मसूत्राणाम्” वचनसे प्रामाणिक माना जाता है तो ब्रह्मसूत्रमें भी कुछ न कुछ शब्द तो ऐसे खोजने ही पड़ेंगे जो भागवतोक्त प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलके स्वरूपके अभिधया या तात्पर्यवृत्त्या वाचक हों. भागवतके उल्लिखित वचनमें वर्णित अनेक व्यक्ति तथा प्रसंग भागवतेतर ग्रन्थोंमें भी वर्णित तो हैं ही. अतः केवल भागवतके बलिदान कर देनेपर भी काम चलेगा नहीं. रामायण और महाभारत, जिसका एक भाग होनेसे गीता ब्रह्मसूत्रोंका उपजीव्य है, भी ऐसी साधननिरपेक्ष-भगवत्सामर्थ्यमूलक उद्धारकथाओंसे भरे पड़े हैं. कितने शास्त्रोंकी उपेक्षा शास्त्रयोनि ब्रह्मके विचारमें ब्रह्मसूत्र कर सकते हैं।

मूल प्रश्न यही है कि भगवदवतारका सिद्धान्त शास्त्रीय है या नहीं? यदि शास्त्रीय है तो अवतारकालमें सभी निःसाधन दुष्टसाधन एवं सुसाधन जीवा-त्माओं को भगवत्साक्षात्कार हुआ था कि नहीं? यदि वह हुआ था तो ऐसे साधननिरपेक्ष साक्षात्कारद्वारा उन-उन जीवात्माओंको यथायथ भक्तिलाभ या मुक्तिलाभ हुआ कि नहीं? यदि आसुरभाववाले एवम् अज्ञानी जीवोंको भी मुक्ति या भक्ति का लाभ हुआ तो शास्त्रविहित साधनफलव्यवस्थाके उत्सर्गका अपवाद भी कुछ सिद्ध होता है कि नहीं? यदि सिद्ध होता है तो उसे भगव-त्सामर्थ्यमूलक या भगवदिच्छामूलक मानना चाहिये कि आकस्मिक ही? यदि भगवत्सामर्थ्य-इच्छामूलक साधननिरपेक्ष फलदानकी धारणा भी इस तरह शास्त्रीय ही हो तो या तो ब्रह्मसूत्रोंके साधन-फलाध्यायमें उसकी चर्चा होनी चाहिये थी अथवा एकाद कोई सूत्र ऐसा होना चाहिये था कि “साधनफलनिर्धारितवतार-कथा ह्यविचार्या अपुरुषार्थत्वाद् गपत्वाद् वा” (!).

इससे अधिक किसी तरहकी जिज्ञासा इस विषयमें हो तो सर्वनिर्णयकी कारिका ३०२-३१६ का अवलोकन समाधानकारी हो सकता है.

“मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं...” (भाग. ५।१९।५) और “तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनां भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः” (भाग. १।८।२०) वचनोंके विमर्श करनेपर भी परमेश्वरके दिव्य

शब्दोंकी जैसे ‘शास्त्र’ संज्ञा “शास्तीति शास्त्रम्” व्युत्पत्तिद्वारा स्वीकारी जाती है, उसी तरह परमेश्वरकी दिव्य लीला भी मर्त्यशिक्षणरूप एवम् भक्तियोग विधानरूप होनेसे शास्त्ररूप है, यह स्वीकारना पड़ता है. अतः अवतार-कथाद्वारा सिद्ध साधनफलव्यवस्था भी शास्त्रीय व्यवस्था ही है जिसे शास्त्रयोनि ब्रह्मकी जिज्ञासामें स्थान देना ही पड़ेगा.

आधुनिक तथाकथित बल्लभपन्थियोंका वितण्डा

पूर्वोक्त पृष्ठभूमिको भलीभांति बुद्धिगत रखनेपर यह सहजतया समझमें आ सकता है कि प्राचीन किसी भी विद्वान्ने महाप्रभु और प्रभुचरण की भाषाशैली और विचारशैली में रही भिन्नताके बावजूद किसी भी प्रकारके मतभेदकी कल्पना क्यों नहीं की. क्योंकि साधन-फलके स्वरूपनिर्धारणकी जो रूपरेखा महाप्रभुने निबन्ध सुबोधिनी तथा षोडशग्रन्थों में प्रस्तुत की है, सर्वथा उसका ही अनुसरण करके प्रभुचरणने भी भाष्यपूर्ति की है.

फिर भी हालमें कुछ लोग केवल महाप्रभुके ग्रन्थोंको ही वाल्लभ मतके स्वरूपनिर्धारणार्थ मूलसाहित्य मानकर, प्रभुचरण प्रभृतिद्वारा विरचित साहित्य-को व्याख्यासाहित्य मानकर, उसकी उपेक्षाका सुझाव देते हैं. कुछ अन्य लोग प्रभुचरणके चिन्तनको दामोदरदासकी विचारहीन भावुकतासे प्रभावित मान कर महाप्रभुके ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथजीकेद्वारा लिखित व्याख्या कैसी होती (1) अर्थात् वह महाप्रभुके मतके अधिक अनुरूप होती, ऐसा प्रभुचरण-विरोधी पन्थ बल्लभसम्प्रदायके अन्तर्गत प्रसारित करना चाहते हैं. इन बल्लभपन्थियों तथा गोपीनाथपन्थियों द्वारा उद्भावित आपत्तियोंके समाधानार्थ अब हमें प्रस्तुत होना है.

प्रथम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) अणुभाष्य (१।१।२) में महाप्रभु ब्रह्मको केवलपनिषद्वेद्य मानते हैं अतः चतुर्थाध्यायमें उपनिषद्वाक्योंकी उपेक्षापूर्वक प्रभुचरणद्वारा भागवतवाक्योंका अधिकरणांगतया उपन्यास स्वयम् महाप्रभुको अनभिप्रेत है.

(स.) उक्त स्थलपर आते “तत्तु तन्त्रौपनिषद् पुरुषं पृच्छामि इति केवलप-निषद्वेद्यत्वाद् उपेक्ष्यम्” वचनमें उपनिषदके अंगभूत न हो ऐसे अनुमानादि

प्रमाणोंका व्यावर्तन 'केवल' पद द्वारा किया गया है. क्योंकि अनुपद ही "अनधिगतार्थगन्तुत्वात् प्रमाणस्य मनननिदिध्यासनयोः श्रवणांगत्वम्. सन्देह-वारकत्वात् शास्त्रस्यापि तदंगत्वमिति (वही)" वचनके आधारपर ब्रह्मसूत्र (या भागवत भी) सन्देहवारकतया उपनिषद्के अंगभूत हैं अर्थात् उपनिषत्से पृथक् नहीं है, यह सिद्ध किया गया है.

एक और तथ्य इसमें अवलोकनीय यह है कि शास्त्रार्थप्रकरणकी कारिका (११-२०) का सावधानीसे विचार करनेपर वर्तमान कलियुगमें कर्मज्ञानादि साधना अशक्यप्राय बन गयी है. कृष्णभक्ति किन्तु सदा-सर्वदा समर्थ उपकारक रहती है. ऐसी कृष्णभक्तिकी भागवतमूलिका साधन-फलात्मना विवेचना महाप्रभुको कथमपि अनभिप्रेत हो नहीं सकती और इसके अलावा प्रभुचरणने कुछ किया नहीं है.

द्वितीय आक्षेप तथा समाधान

(आ.) सुबोधिनी आदि ग्रन्थोंमें साधन-फलाध्यायगत सूत्रोंकी जो व्याख्या स्वयम् महाप्रभुके शब्दोंमें मिलती है, वह प्रभुचरणविरचित भाष्यांशगत व्याख्यासे भिन्न है. अतः सम्पूर्ण अणुभाष्य स्वयम् महाप्रभुद्वारा लिखित मिलता होता तो प्रभुचरणद्वारा प्रपूरित अंशसे निश्चय ही विलक्षण होता.

(स.) सुबोधिनी आदिमें प्रदत्त सूत्रव्याख्या तथा प्रभुचरणकृत भाष्यपूर्तिवाले अंशके परस्पर भिन्नार्थक होनेकी बातको स्वीकार कर, साथ ही साथ, हम भी यह पूछना चाहेंगे कि स्वयम् महाप्रभुविरचित भाष्यगत तथा सुबोधिनीगत सूत्रव्याख्याओंमें यदि कहीं भिन्नार्थकता उपलब्ध हो जाये तो क्या गति होगी? उत्तररूपेण : वही गति महाप्रभु तथा प्रभुचरण द्वारा प्रदत्त भिन्न-भिन्न व्याख्या-ओंकी भी स्वीकारनी चाहिये.

उदाहरणतया "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् (३।१।१४)" सूत्रके स्वयम् महाप्रभुविरचित अणुभाष्यांश तथा सुबोधिनी (१।३।३०) में प्रदत्त उक्त सूत्रकी व्याख्यामें सर्वथा एकरूपता तो नहीं है. "पराभिध्यानात् तुरोहितं ततोह्यस्य बन्धविपर्ययो (३।२।५)" के अणुभाष्यमें 'पराभिध्यान' पदकी व्याख्या तथा इसी सूत्रका विमर्श करनेवाली भागवत (३।२६।६-७) की कारिकामें आते 'पराभिध्यान' पदका अर्थ महाप्रभु पृथक्-पृथक् देते हैं. भाष्यस्थ अर्थ "परस्य

भगवतो अभितो ध्यानं स्वस्य एतस्य च सर्वतो भोगेच्छा तस्माद् ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्भर्मतिरोभावः" उपलब्ध होता है जबकि सुबोधिनीस्थ अर्थ— "परा स्वतो भिन्ना या प्रकृति तस्या अभिध्यानेन तामेव आत्मत्वेन मन्यते. आत्मत्वेन ज्ञानम् अभिध्यानम्" उपलब्ध होता है.

कुछ भाष्यकार तो कभी-कभी स्वयमेव एक ही सूत्रके दो वर्णक लिख देते हैं तब जो समाधान स्वीकारना पड़ेगा, वही समाधान हम भी महाप्रभु तथा प्रभुचरण द्वारा प्रदत्त विभिन्न व्याख्यानोंका देना चाहेंगे.

तृतीय आक्षेप तथा समाधान

(आ.) अत्यधिक स्वरूपसेवापरायणताके कारण प्रभुचरणोंको महाप्रभुविरचित ग्रन्थोंके व्यासंगका अवसर मिलता नहीं होगा. अतः स्वाभाविकतया पिता-पुत्रोंकी व्याख्यामें अनवधानवश भेद आ गया होना चाहिये. बाल्यकालमें महाप्रभुके लीलासंवरणके बाद दामोदारदास हरसानी जैसे भावुक वैष्णवोंकी संगतिके कारण भी प्रभुचरणमें गम्भीर दार्शनिक प्रश्नोंके प्रति महाप्रभुकी जैसी रुचि पनप नहीं पाई होगी. परिणामतः वही भावुकता गम्भीर चिन्तनपर हावी हो गई होगी. और वही अणुभाष्यपूर्तिके समय भागवतपर अत्यधिक झोंकका हेतु बन गयी.

(स.) पिता तथा पुत्र के साहित्य तथा लेखनशैली की यह तुलना कोई स्वयम् साक्षात् महाप्रभुके समक्ष करे तो वे क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करते इसका थोड़ा-बहुत सम्भावित संकेत हमें महाप्रभुके इन वचनोंमें मिलता है :

बुद्धावतारे त्वधुना हरौ तद्वशगाः सुराः।
नाना मतानि विप्रेषु भूत्वा कुर्वन्ति मोहनम् ॥
यथाकथञ्चित्कृष्णस्य भजनं धारयन्ति हि ।
अयमेव महामोहो हीदमेव प्रतारणम् ॥
यत्कृष्णं न भजेत्प्राज्ञः शास्त्राभ्यासपरः कृती ।
तेषां कर्मवशानां तु भव एव फलिष्यति ॥

(त. नि. शा. १५-१६)

प्रेम्णोन्मत्साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत् ।
श्रीभागवतमेवात्र परं तस्य हि साधनम् ॥

(त. नि. स. ३२६)

सचमुचमें यदि किसी आधुनिक गोपीनाथपन्थी या क्ल्लभपन्थी का महाप्रभुके साथ किसी 'हॉट-लाइन' पर कान्टेक्ट हो जाये तो उक्त श्लोकोंमें अपना उत्तर सुना कर शीघ्र ही महाप्रभु लाइनको डिस्कनेक्ट कर देंगे! इसमें दो राय हो नहीं सकती. महाप्रभु कृष्णसेवापरायणताको शाखाभ्यासका फल मानते हैं शाखाभ्यासमें व्यवधान नहीं. प्रभुचरण भी अपने पिताकी भावनाके अनुरूप भागवतको सर्वोपरि फलके प्रापक साधनका प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं.

चतुर्थ आक्षेप तथा समाधान

(आ.) महाप्रभुके ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथजीके सभी ग्रन्थ आज यदि उपलब्ध होते अथवा यह भाष्यपूर्ति उनकी लेखनीसे हुई होती तो वह महाप्रभुको अभिप्रेत सैद्धान्तिक दिशाके अभिसुख अधिक होती.

(स.) कठिनाईकी बात यह है कि गोपीनाथपन्थी लोग महाप्रभुके ग्रन्थोंका तो समुचित स्वाध्याय तो करते नहीं तथा श्रीगोपीनाथजीविरचित उपलब्ध एकमात्र साधनदीपिकाका भी धैर्यपूर्वक अध्ययन नहीं करते हैं. अतः हम तो यह कहना चाहेंगे कि यदि श्रीगोपीनाथजीद्वारा की गयी भाष्यपूर्ति, उपलब्ध प्रभुचरणकृत भाष्यसे अतिशय भिन्न होती, तो निश्चयेन महाप्रभुके अन्य ग्रन्थोंसे उसकी संगति बिठा पाना बड़ी दुष्कर बात बन जाती.

जहाँ तक साधनदीपिकाकी प्रतिपादन शैलीका प्रश्न है तो वहाँ यह स्पष्ट किया ही गया है कि वेदान्तसूत्रव्याख्यान (अर्थात् भाष्य) सम्मत तथा भक्तिशास्त्र (?) के अनुसार साधनदीपिकाकी रचना श्रीगोपीनाथजीने की है. इससे प्रतीत होता है कि महाप्रभुविरचित सम्पूर्ण साधनाध्याय ग्रन्थकर्ताको उपलब्ध रहा होगा. रही बात भक्तिशास्त्रकी तो सम्भवतः वह भागवत, पञ्चरात्र, या निबन्ध अथवा षोडशग्रन्थ में से कोई एक या चारों भी हो सकते हैं. किसी भी स्थितिमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यहां यह है कि श्रीगोपीनाथजी भागवतानुसरणद्वारा श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप अन्तरंग अंगोंका भक्तिरसात्मिका भगवद्वाराधनाके अंगत्वेन ही अनुष्ठान स्वीकारते हैं : "आत्मा वारे इति श्रुत्या दर्शनैकफलो विधिः श्रवणाद्यैः प्रतिज्ञातस्तं भजेत् तं रसेदिति, तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्पर्तव्यश्चेच्छताभयम्,

पुरुषरयाविशेषेण संसारं प्रजिहासतः हरैराराधने मुक्तिस्तत्प्रकारो निरूप्यते, माहात्म्यज्ञानपूर्वो हि सुदृढ सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तथा मुक्तिर्न-चान्यथा, माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम्, शाखाणामुपयोगोऽत्र तत्रा-कांक्षा गुरोर्भवेत्, कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात् (सा. दी. ५-१०)."

ऐसी स्थितिमें गुरु तो स्वयम् श्रीभागवततत्त्वज्ञ तथा श्रीकृष्णकी पुष्टिमार्गीय सेवामें परायण होगा और शिष्यको वह क्या केवल उपनिषत्प्रोक्त मर्यादामार्गीय उपसनाओंका ही उपदेश देगा? इससे अधिक "मनस्यन्यद् क्वस्यन्यद्" और क्या हो सकता है?

रही बात महाप्रभुको अभिप्रेत साधन-फलके स्वरूपकी तो वहां भाष्य न भी उपलब्ध होता हो न सही परन्तु अधोलिखित कारिकायें तो आपके साधन-फलसम्बन्धी हार्दको प्रकट करनेवाली पर्याप्त स्पष्ट शब्दोंमें मिलती है :

तस्मात्सर्वं परित्यज्य दृढविश्वासतो हरिम् ।
भजेत श्रवणादिभ्यो यद्विद्यातो विमुच्यते ॥
ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा ।
संघातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः ॥
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि ।
ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते ॥
मोहार्थशास्त्रकलिलं यदा बुद्धेर्विभिद्यते ।
तदा भागवते शास्त्रे विश्वासस्तेन सत्फलम् ॥

(त. नि. शा. ४९-५२)

प्रभुचरणकृत भाष्यपूर्ति महाप्रभुके इन्हीं कवनोंसे प्रेरित है.

सिद्धान्ततः उल्लेखनीय इसमें यही है कि कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग मर्यादाभक्तिमार्ग पुष्टिभक्तिमार्ग या प्रपत्तिमार्ग मेंसे किसी भी एक मार्गके साधकको जब तक देहाभिमान रहता है, तब तक शास्त्रविहित निज वर्णाश्रमादिके कर्तव्योंके त्यागकी उसे अनुमति नहीं है. देहाभिमानके निवृत्त होनेपर वे यदि न भी निभ पायें तो कोई आपत्ति नहीं. शास्त्रविहित कर्तव्योंका यथाशक्ति निर्वाह करते हुए यथाधिकार निष्ठापूर्वक स्वस्वमार्गोंका अनुसरण सभीकेलिए आवश्यक है. फलरूपेण तत्तद् अधिकारिओंको यथामार्ग—आत्मसुख, जीवन्मुक्ति,

अक्षरब्रह्मसायुज्य, सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति, अलौकिकसामर्थ्य सेवोपयोगिदेह वैकुण्ठादिषु अथवा कृष्णसायुज्य रूप फलकी प्राप्ति होती है. यही साधनफलाध्यायका निष्कर्ष है. यह सभी कुछ महाप्रभुके अन्यान्य ग्रन्थोंमें सिद्ध सिद्धान्तको ही प्रभुचरणने भी भाष्यपूर्तिमें सूत्रारूढ किया है. तत्तत् मार्गोंमें श्रवण-मनन-निदिध्यासनके प्रकारोंमें मार्गभेदानुरोधकश भेद तो रहेगा ही.

पञ्चम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) अणुभाष्य (१।१।३) के “तस्मान्न्यायोपबृंहितसर्ववेदान्तप्रतिपादित-सर्वधर्मवद्-ब्रह्म (१-२) तस्य श्रवणमनननिदिध्यासनैरन्तरंगैः शमदमादि-भिश्च बहिरंगैः (३) शुद्धे चित्ते स्वयमेवाविर्भूतस्य स्वप्रकाशस्य सायुज्यं (४) परमपुरुषार्थः” इस वचनमें अणुभाष्यका एक प्रारूप जैसा कुछ महाप्रभु इंगित कर रहे हैं. यहां कोष्ठकमें दिये गये अंकोंसे उन-उन अध्यायोंका निष्कृष्ट अर्थ सूचित हो रहा है. जहां तक प्रथम-द्वितीय अध्यायोंका प्रश्न है तो वहां स्वयम् महाप्रभुविरचित अंश उपलब्ध होता ही है. साधन-फल सम्बन्धी स्वरूपके निर्धारण यह कहा जा सकता है कि इस प्रारूपके साथ प्रभुचरणपूरित अंशका स्पष्ट संवाद दृष्टिगत नहीं होता.

(स.) शमदमादिरूप बहिरंग उपाय श्रवणमननादि रूप अन्तरंग उपायोंका कोई विशिष्ट स्वरूप तो यहां दिखलाया गया नहीं है. अतः यथायथ सभी मार्गोंमें शमादि तथा श्रवणादि के स्वरूप भिन्न-भिन्न हो ही सकते हैं, अतएव नवधाभक्तिमें श्रवण-मनन-निदिध्यासनका अन्तर्भाव स्वीकारा गया है.

इसी तरह फलस्वरूप के विवेचनमें प्रयुक्त “शुद्धे चित्ते स्वयमेवाविर्भूतस्य स्वप्रकाशस्य सायुज्यं परमपुरुषार्थः” शब्दावलीके बारेमें भी यह अवश्य है कि महाप्रभुके मतमें अक्षरब्रह्मसायुज्य तथा पुरुषोत्तम (कृष्ण) सायुज्य में तारतम्य स्वीकारा गया है (द्रष्टव्य : त. नि. भा. ४।१।५५) यहां कृष्णसायुज्यको उत्कृष्ट गिना गया है. सेवाफल तथा सुबोधिनी के अवलोकनसे कृष्णसायुज्यसे भी अलौकिकसामर्थ्य तथा सेवोपयोगिदेहवैकुण्ठादिषु अर्थात् तनुनवत्व और नवतनुत्व रूप फलोंको उत्कृष्ट माना गया है. ऐसी स्थितिमें या तो महाप्रभुको अभिमत इस मुक्तितारतम्यके सिद्धान्तका प्रत्याख्यान करना पड़ेगा, या अन्यत्र विवक्षित माननेपर भी यहां ब्रह्मसूत्रोंमें उसे अविवक्षित माननेपर, “एतच्चतुष्टयम्

एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्” के सिद्धान्तको तिलाञ्जली देनी पड़ेगी.

प्रभुचरण-प्रपूरित भाष्य इन दोनों आपत्तिओंसे बचते हुवे सूत्रोंकी व्याख्या करनेका प्रयास है, यह निःसन्दिग्धतया कहा जा सकता है.

षष्ठ आक्षेप तथा समाधान

(आ.) एक आक्षेप यह भी किया जा सकता है कि प्रमाणचतुष्टयमें अन्तिम तथा सर्वसन्देहवारक होनेसे सूत्रगत सन्देहोंका निराकरण भागवतके आधारपर किया जाना चाहिये था जबकि प्रभुचरणकृत भाष्यपूर्तिमें भागवतवचनोंमें अथवा तन्मूलक धारणाओंमें उठते सन्देहोंका निवारण सूत्रके आधारपर किया गया है. यह महाप्रभुको अभिप्रेत क्रमसे विपरीत है. वैसे भी वेदशाखाविभाजनके बाद तथा महाभारत तथा इतरपुराणों के प्रणयनके बाद भागवतप्रणयनार्थ वेदव्यास प्रवृत्त हुवे थे. अतः सूत्राधिकरणांगतया भागवतके वचन या सिद्धान्त विषयवाक्य नहीं बन सकते.

(स.) सिद्धान्ताभिमत इतिहासके अनुसार भी सूत्रकारसे बहुत बादमें प्रकट होनेवाले बौद्धादि मतों तथा शांकर मत का निवारण भी जब सूत्रोंद्वारा किया जाना स्वीकारा जाता है; और स्वयम् महाप्रभु भी स्वीकारते हैं,^१ तब भागवत और सूत्र के कर्तारोंमें भेद तो सिद्धान्ताभिमत है नहीं. “दर्शनाच्च (३।२।२१)” सूत्रके भाष्यमें स्वयम् महाप्रभु भी “चकाराद् उल्लुखलबन्धनादि प्रत्यक्षमेवोभय-साधकं दृष्टमिति” कहकर सूत्रघटक चकारद्वारा भागवतके उल्लुखलबन्धनप्रसंगको विवक्षित मानते हैं. उस स्थितिमें सर्वसन्देहवारक चतुर्थ भागवतको स्वयम् महाप्रभु भी तृतीय कोटीमें स्थापित कर रहे हैं.

सिद्धान्ततः प्राथम्य वैसे तो श्रौत वचनोंका है, जिसके सन्देहवारणार्थ उत्तरोत्तर गीता-सूत्र-भागवत प्रवृत्त हुवे हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि पूर्वशास्त्रके किसी वचनमें उत्तरशास्त्रका कोई अर्थ विवक्षित नहीं हो सकता. गीतामें जैसे “ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिः विनिश्चितैः (गीता १।३।४)” उपलब्ध होता है उसी तरह ब्रह्मसूत्रमें भी “अपिस्मर्यते (१।३।२३)” वचनद्वारा गीताकी भी पूर्वसिद्धता द्योतित होती है.

१. द्रष्टव्यः सर्वज्ञेन हि वेदव्यासेन भाविमिथ्यात्वनिराकरणेन इदम् आरब्धम् (अणुमा. १।३।१५)

महाप्रभुके अनुसार तो वेदोंकी शब्दराशिकी तरह पुराणोंकी भी शब्दराशि नित्य है, तथा 'वेदव्यासप्रणीत' कहनेका अर्थ भी, मन्त्रद्रष्टा ऋषिओंद्वारा तमाधिमें दृष्ट उन वेदमन्त्रोंकी, उपलब्धिकी तरह ही समझना चाहिये. नूतन निर्माणके अर्थमें नहीं. अतएव महाप्रभु कहते हैं—“पुराणं वेदवत् पूर्वसिद्धं... नित्यम् इति अर्थः (त. नि. स. ४८).”

अतः उपनिषदर्थनिर्धारणार्थ असम्भावना-विपरीतभावनारहित अधिकारिओंके-लिए तो स्थूणाखननन्यायेन “एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम्” आदर्श अपेक्षित है. जबकि असम्भावना-विपरीतभावना रूप सन्देहादिसे कलुषित चित्तवाले अधिकारिओंकेलिए “उत्तरं पूर्वसन्देहवारकम्” आदर्श समुचित होगा ऐसा भी कहा जा सकता है.

सप्तम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) कुछ लोगोंका कहना है कि सिद्धान्ततः सुसंगत होनेपर भी प्रभु-चरणकी लेखनशैलीमें महाप्रभुके जैसा दार्शनिक गाम्भीर्य नहीं शक्यता है.

(स.) कुछ न कुछ दोष तो कहीं भी खोजे जा सकते हैं. महाप्रभुकी लेखनशैलीमें भी न्यूनपदता अस्पष्टता आदि दोष आलोचकोंने खोजे हैं. “भिन्नरुचिर्हि लोकः !”

अष्टम आक्षेप तथा समाधान

(आ.) एक महानुभाव वक्ताको एक बार निजी वार्तालापमें हमने यह कहते सुना कि हम पुष्टिमार्गके अनुयायी तो श्रद्धावश प्रभुचरणकी भागवतावलम्बिनी विचारशैलीको उचित मान लेंगे परन्तु आधुनिक विश्वविद्यालयोंके विद्वान् अन्वेषकों तथा प्राध्यापकों की गोष्ठीमें इसे मान्यता दिलवाना जरा कठिन काम है !

(स.) मुझे श्रीरामानुज मतके विद्वान् श्रीवेदान्तदेशिककी एक उक्ति याद आती है :

मीमांसायाः कबन्धं कतिञ्चन जग्रहुः राहुकल्पं शिरोन्ये
किन्तैरन्तर्विरोधप्रमुषितमतिभिः बाह्यकल्पैः भ्रमद्भिः ।
स्वाध्यायाध्यायकात्स्न्ये स्वविधिपरविधिप्रेरणा तावदास्तां
कृत्स्नापातप्रतीतौ किमिति कृतधियः कृत्स्नचिन्तां न कुर्युः ॥

अर्थात् कुछ लोग शास्त्रमीमांसाके केतुके जैसे धडकी उपासना करना चाहते हैं, जबकि दूसरे केवल राहुके जैसे मस्तककी उपासना करना चाहते हैं. ये दोनों ही अन्तर्विरोधप्रस्त विचारधाराओंमें फंसे अशास्त्रीय मतोंके कारण भ्रान्त हैं. क्योंकि “स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” श्रुतिवचन यदि पूर्वोत्तर दोनोंकाण्डोंके अध्ययनका विधान करता है तो मीमांसा भी दोनों काण्डोंके अर्थोंकी करनी चाहिये.

यद्यपि श्रीवेदान्तदेशिकका तात्पर्य पूर्वोत्तरमीमांसाको एकशास्त्र सिद्ध करनेका है, फिर भी उसी बातको “प्रमाणं तच्चतुष्टयम्” की एकशास्त्रताके रूपमें थोड़ी देरकेलिए ले लिया जाये तो हमारी बात समझनेमें कठिनाई नहीं होगी. अन्तर्विरोधप्रस्त बाह्य विचारधाराओंसे प्रभावित विश्वविद्यालयीय आधुनिक लेखकोंको हमारी प्राचीन परम्परावादी मान्यता स्वीकार्य न हो तो उनसे मनवानेके मोहसेवनकी क्या आवश्यकता है ?

संविधानमें सौ बार संशोधन करनेपर भी उसका एक अखण्डित प्रामाण्य माना जाता है. बायबलप्रामाण्यवादी ईसाईओंकेलिए भी बायबलके पूर्वकाण्ड (ओल्ड टेस्टामेन्ट) तथा उत्तरकाण्ड (न्यू टेस्टामेन्ट) का प्रामाण्य अखण्डित माना जाता है. अध्यावधि पोप यदि अपने पदाधिरूढतया कोई घोषणा करते हैं तो पूर्वविरुद्ध होनेपर भी ईसामसीहके आदेशवत् ही उन्हें प्रमाणतया मान्य किया जाता है. ये सारे के सारे उत्तरोत्तर-सन्देहवारक प्रामाण्यवादकी धारणापर अवलम्बित प्रकार हैं.

यह तो ठीक है कि एक ईसाई या हिन्दू जैसे अपनी परम्पराका प्रामाण्य स्वीकारेगा वैसे अन्य धर्मकी परंपराका प्रामाण्य स्वीकार नहीं कर पायेगा. संविधानके उत्तरोत्तर संशोधनोंका प्रामाण्य हठात् स्वीकारने पर भी धार्मिक शास्त्रोंमें वैसा भाव किसी अधार्मिकका जग नहीं पायेगा. यह सब तो समझमें आनेवाली बात है. परन्तु प्रमाणचतुष्टयान्तर्गत प्रत्येक शास्त्रको प्रमाण मान कर प्रवचन करनेवाला वक्ता यदि चारोंकी एकवाक्यताके प्रयासमें सन्देह करने लग जाये तो बात फिर समझमें आनी बन्द हो जाती है.

रही बात आधुनिक विद्वानोंकी तो उन सभीका कोई एक मत तो है ही नहीं. किसीके अनुसार भागवत छठी शताब्दीमें वेदव्यासके नामसे दक्षिण भारतमें लिखा गया ग्रन्थ है. भागवतप्रतिपाद्य श्रीकृष्णावतार आजसे पाँज हजार वर्ष पूर्व वस्तुतः हुआ था कि नहीं इसपर भी आधुनिक विद्वानोंमें एक राय नहीं है. अणुभाष्यके इस आद्य संस्करणके सम्पादकके आत्मज विश्वविख्यात इतिहास-

विद् द्वारकाके उत्खननद्वारा उपलब्ध सामग्रीके अध्ययनके बाद भी द्वारका-धीश श्रीकृष्णकी ऐतिहासिकताको सन्दिग्ध ही मानते हैं. बहुतसे इतिहासविद् भागवतकार तथा ब्रह्मसूत्रकार व्यास एक ही हैं ऐसा स्वीकारनेको उद्यत नहीं. वेदव्यास तथा बादरायण को श्रीशंकराचार्य कहीं एक व्यक्तिके रूपमें स्वीकारते नहीं हैं, अतः दोनोंको एक माननेकी धारणा शंकरोत्तरकालकी देन हैं, ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं. समग्र ब्रह्मसूत्र एक ही व्यक्तिकी रचना है, यह भी सन्दिग्ध माना जाता है. क्योंकि प्रारम्भमें केवल छान्दोग्योपनिषद्के ही सूत्र थे जिन्हें बढ़ा-चढ़ाकर समग्र उपनिषदोंके बारेमें बना दिया गया है. वस्तुतः तो विभिन्न उपनिषद् भी विभिन्न कालकी उपज होनेसे विभिन्न विचारधाराके प्रतीक हैं, जिनपर एक तरहकी मान्यता थोपना उनसे खिलवाड़ है ऐसा भी कई आधुनिक विद्वान् मानते हैं. गुजरातके प्रसिद्ध विद्वान श्री के. का. शास्त्री महा-भारतमें गीताके मूल सौ श्लोकोंको प्रक्षिप्त मानते हैं तथा उन सौ श्लोकोंमें पुनः छह सौ श्लोकोंको प्रक्षिप्त मानते हैं. प्रसिद्ध संस्कृतभाषाविद् फादर एस्टेला ऋग्वेदके भीतर भी मूल मन्त्रकर्ता तथा संहिताकार ऋषियोंके बीच अन्तरालवश अविच्छिन्न शब्दानुपूर्विके सिद्धान्तको स्वीकारते नहीं हैं जबकि इसी सिद्धान्तपर तो हमारा वेदप्रामाण्यवाद टिका हुआ है.

इन विद्वानोंकी सहमति प्रभुचरणकृत भागवतोपजीवनपर मिल भी गयी तो सर्वनाशी मूलोच्छेदके बाद फल कब तक प्राप्त हो पायेगा ? कहीं इनकी सहमति प्राप्त करनेके मोहमें स्वयम् हमारे मनके भीतर हम भी भागवतको अप्रमाण माननेकी कोई परत तो संजोये हुवे नहीं बैठे हैं ? यह हमें भी भीतर झांक कर एक बार देख लेना चाहिये !

महाप्रभु कहते हैं—

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत् ।
 मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
 एवकारेण सर्वेषामनुपायत्वमाह हि ।
 ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा ।
 विश्वासं सर्वतस्त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद् बुधः ॥
 आपाततस्तु सर्वेषामुपायत्वं मयोदितम् ।
 विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत्फलं नान्यथाभवेत् ॥

(त. नि. स. ३०४-३०७)

प्रभुचरण तो महाप्रभुके इस उपदेशसे सर्वथा प्रतिबद्ध है. परन्तु जब तक हम इस तरह प्रतिबद्ध न हो पायेंगे तब तक न महाप्रभु और न प्रभुचरण के ही लेखनकी पृष्ठभूमिमें रही भावनाओंसे हम परिचित हो पायेंगे. किमधिकम्....

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९८४-८५ में श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाके सह-योगिजनों श्रीधीरजलाल सांकलिया प्रभृतिने सम्पादित कर सेठ गोवर्धनदास सुन्दरदासद्वारा प्रवाशित करवाया था. प्रस्तुत द्वितीय संस्करण ऑफसेट प्रोसेस द्वारा उसका ही पुनर्मुद्रित रूप है. वह दो भागोंमें मुद्रित हुआ था तथा सम्पादकीय दोनोंके अन्तिम पृष्ठोंमें दिये गये थे. हमने उन्हें प्रारम्भमें समा-योजित किया है. मध्यमें मुद्रित परिशिष्टको हमने ग्रन्थान्तमें योजित किया है. इस सामान्य परिवर्तनके अलावा सभी कुछ यथावत् है. अध्येताओंकी सुविधाके हेतु पूर्वप्रकाशित प्रथमाध्यायकी तरह हमने इस अध्यायमें भी अनु-क्रमणिका नूतनतया योजित की है. प्रबल इच्छाके बावजूद प्रकाशनगतिमें अपेक्षित वेग नहीं आ पाता है. फिर भी द्वितीयाध्याय तथा तृतीयाध्याय का प्रकाशन भी इसी तरह महाप्रभु-प्रभुचरणकी कृपासे सत्त्वर हो, ऐसे मनोरथके साथ....

रामनवमी
 वि. सं. २०४१

गोस्वामी श्याममनोहर

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

॥ असौत्रताशंकानिरासवादः ॥

जयति श्रीवल्लभाय जयति च विट्कृष्णः प्रभुः श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ॥ १ ॥

वागर्थोविष राजते ग्रन्थकृष्णौ हि यन्मुखे ।
वक्तारं तं विभुं वन्दे तद्वागर्थोपलब्धये ॥ २ ॥

श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः ।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा ॥ ३ ॥

स्वेषु पुष्टिकरं काराद्वैत्यबुद्धितमस्करम् ।
नमस्करोमि तं श्यामं सुन्दरं मद्रियङ्करम् ॥ ४ ॥

भुवि भागवतस्याविष्करणप्रेरणापुरा ।
सूत्रेषु भगवद्भक्तेः भक्तानां फलसाधने ॥ १ ॥

विवक्षुरपि नाबोचद् भगवान् बादरायणः ।
शब्दशस्तेषु भाष्येस्मिंस्तद्भक्तारं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

पुष्टिमर्यादयोर्भेदः फलसाधननिर्णये ।
असौत्र इति केषाञ्चिन्मतिरल्पदृशामिह ॥ ३ ॥

श्रीमत्प्रभुवृत्ते भाष्ये तदज्ञानं निवार्यते ।
उभयाचार्यवन्मार्गे मा भूद् भ्रान्तो हि कश्चन ॥ ४ ॥

प्राक्सृष्टेर्हि यथाऽभेदो ब्रह्मणस्तत्त्वतः श्रुतः ।
जडजीवी ततो भिन्नावात्मन्येवात्मना कृतौ ॥ ५ ॥

फलसाधने तथा ज्ञानभक्त्योर्नोक्ते हि शब्दशः ।
तारतम्येन सूत्रेषु प्राक्समाप्तेः विवक्षुणा ॥ ६ ॥

ज्ञानावतारभ्यासेन प्रोक्ते भागवते ततः ।
विवक्षैक्येपि हि तयोः शब्दभेदोवभासते ॥ ७ ॥

तत्राग्रहिलताग्रस्य भेदे ब्रह्माविजानतः ।
भेदं पश्यन्नप्यभेदं श्रुतिज्ञो मनुते यथा ॥ ८ ॥

तथा भागवतात्सूत्रं मूर्खो भिन्नं तु पश्यति ।
वेदान्तकोविदो वेत्ति शब्दभेदेभ्यभिन्नताम् ॥ ९ ॥

वक्तुर्व्यासस्य तात्पर्यं तूभयत्रावधार्य हि ।
भक्तानां दशमोक्तानां साधनानि फलानि च ॥ १० ॥

अस्याध्यायद्वये भाष्यकृताभ्याविष्कृतानि हि ।
ननु सूत्रेष्वनुक्तानामर्थानां स्फोरणादिह ॥ ११ ॥

असौत्रं भाष्यमित्येषां ह्यापत्तिर्महती स्फुटा ।
इति चेत्

तत् न वै युक्तं तथा लोकेपि दर्शनात् ॥ १२ ॥

कदाचिक्वस्यचिद्भक्तुः स्वामिधायप्रकाशने ।
श्रोतावधार्याऽसामर्थ्यं तद्वाक्यं पूरयत्यपि ॥ १३ ॥

उहश्चैतादृशो नैव लोकेऽपार्थ उदीर्यते ।
वक्त्रनुक्तत्वमात्रेण नाथमूहो निरर्थकः ॥ १४ ॥

सोयमूहः स्यत्त्रो नो किन्तु भागवताश्रितः ।
न चाप्रामाणिकस्तस्माच्छास्त्रप्रामाण्यवादिने ॥ १५ ॥

“पराशर्य महाभाग भवतः क्वचिदात्मना ।
परितुष्यति शरीर आत्मा मानस एव वा ॥

जिज्ञासितमधीतं च यत्तद् ब्रह्म सनातनम् ।
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थं इव प्रभो ॥” (भाग, १।५।१२-४)

इत्येवं नारदेनात्र पृष्टः प्राहः स्वयं मुनिः ।

“अस्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं
तथापि नात्मा परितुष्यते मे ।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं
पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम् ॥” (भाग. १।५।५)

तदा तत्र समाधानं नारदेनानुवर्णितम् ॥ १६ ॥

“अथो महाभाग भवानमोषदृक्
शुचिभवा सत्परतो घृतवतः ।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये
समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥

ततोऽन्यथा किञ्चन यद् विवक्षतः
पृथग्दशरतकृतनामरूपभिः ।
न कुत्राधिल्लवापि च दुःस्थिता
मतिर्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ॥” (भाग. १।५।१३-१४)

तस्मादेषु सूत्रेषु चेदन्यद् वर्णितं यदि ।
तेनैव दुःस्थिता नूनं मतिस्स्यान्नात्र संशयः ॥ १७ ॥

अतस्तदनुसारित्वं फलसाधननिर्णये ।
विचक्षैक्यवशात्प्राह प्रभुः श्रीविद्वल्लेधरः ॥ १८ ॥

उपलब्धं भवेद् भाष्यं श्रीमदाचार्यनिर्मितम् ।
श्रीमत्प्रभुक्रतानूनं भिक्षं स्यादिति जल्पनम् ॥ १९ ॥

सिद्धान्तज्ञानशून्यानां स्वयं पण्डितमानिनाम् ।
दुर्बोधायाः सुबोधिण्याः शब्दमात्रनिर्दिष्टमिह ॥ २० ॥

तत्रेदमेव पृष्टव्यमरूपेत्यादि (३।२।१४) सूत्रग्राम् ।
भाष्यं सुबोधिनीस्थेन (१।३।३०) पदार्थेन विरुध्यते ॥ २१ ॥

का गतिस्तत्र कर्त्रेक्ये कर्तृभेदेऽपि सा गतिः ।
अन्येषामपि भाष्येषु यथा वर्णकभेदतः ॥ २२ ॥

अर्थद्वयांगीकरणे सूत्रैक्येऽपि तथा भवेत् ।
भाष्ये यद् वर्णितं श्रीमत्प्रभुमिस्त्रज्ञ भिद्यते ॥ २३ ॥

दशमस्य सुबोधिण्यां श्रीमदाचार्यवाणताद् ।
फलसाधनसिद्धान्ताद्भीष्टादुभयोः सदा ॥ २४ ॥

नन्वस्मिन्निवषये काश्चिच्छंकाः सन्त्यसमाहिताः ।
सूत्रानन्तरजातत्वात् तद्ब्याख्यानतयापि च ॥ २५ ॥

सूत्रेषु क्वापि हेतुत्वेनानुपन्यासतस्तथा ।
स्मृतेरिव तथान्यैश्चाचार्यैरग्रहणादपि ॥ २६ ॥

सूत्राधिकरणगत्वेनानुक्तत्वादपि स्फुटम् ।
पुरुषस्यौपनिषदस्य पृष्टव्यस्य च वर्णनात् ॥ २७ ॥

श्रुतौ पौराणिकस्यात्र कथं वर्णनमुच्यते ।
वेदान्तसम्प्रदायानां प्रस्थानत्रयवादिनाम् ॥ २८ ॥

पौराणिकः प्रमेयश्चेत् पुराणे स्यात्प्रमाणता ।
कर्तृसन्देहतश्चापि तथा भागवतस्य च ॥ २९ ॥

प्रामाण्यमपि सन्दिग्धं प्रोक्तैर्हेतुभिरष्टभिः ।
श्रीमत्प्रभुक्रतं भाष्यं तस्मात्स्यादसमञ्जसम् ॥ ३० ॥

अत्र प्रभो वयं हेतुः प्रथमो दुष्ट एव हि ।
भानन्तर्यं त्वन्यथैव नेयं नित्यत्ववर्णनात् ॥ ३१ ॥

‘अनुस्मरे’ ति पदतः नारदोक्तौ सनातनम् ।
नूनमेतत्पुराणं तु सिद्धं कुर्वित्यभावतः ॥ ३२ ॥

व्याख्येयकोटौ व्याख्यानस्थापनं यदिहोदितम् ।
व्याख्याप्रामाण्यतो ह्येतद् व्याख्येयनयनं मतम् ॥ ३३ ॥

एककर्तृतया तत्र दोषो भाष्यो न कश्चन ।
निखिलाचार्यभाष्येषु स्मृत्यादिपदतो वयम् ॥ ३४ ॥

पुराणोक्तिविवक्षां किं क्वचिन्नोपलभामहे ?
तेन नेह मतो हेतु द्वितीयोत्तरभाविनौ ॥ ३५ ॥

सूत्रग्रन्थश्रुतौ स्पष्टं पुराणं वेदवन्मतम् ।
श्रेयसंसांगिभावेन शास्त्रयोनी परे तु तत्^f ॥ ३६ ॥

वेदान्तसम्प्रदायानां प्रस्थानत्रयवादिनाम् ।
प्रस्थानत्वञ्च प्रामाण्यं नैव चैकमिति स्थितिः ॥ ३७ ॥

नोचेच्छास्त्रेषु भूयान् हि भागो वैयर्थ्यमाप्नुयात् ।
श्रीमद्भागवतस्यात्र प्रामाण्यादिकृते पुरा ॥ ३८ ॥

नरोत्तमैः बहुपत्रान्तत्वाद्बेह वितन्यते^c ।
सर्वं समञ्जसं तस्मात् श्रीमद्भुक्ताविह ॥ ३९ ॥

असमञ्जसैका बुद्धिः सा याऽसमञ्जसमीक्षते ।
उभयाचार्यवन्मार्गे मा मूढ आन्तो हि कश्चन ॥ ४० ॥

इत्येवं साधनाध्याये फलाध्याये च शंकिता ।
असौत्रता स्वमार्गीयैरपि सा खण्डिता मया ॥ ४१ ॥

गोस्वामिना श्याममनोहरेण
श्रीविद्वत्शांघ्रिजोषणेन ।
तोद्यं कुचोद्यं विलयाय नीतं
भाष्ये तदीयैककृपाबलेन ॥ ४२ ॥

॥ इति श्रीगोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण विरचितः साधनफलाध्यायोः
असौत्रताशंका निरासवादः ॥

INTRODUCTION.

By the Grace of God we are able to put before the public the third and the fourth pādas of the Fourth Adhyāya, together with the charming रविमपरिविष्ट of भक्तिमार्गीय रूपसन्निधान and फलदानादि on 3. 3. 16, revealing how God (रसो वै सः) becomes manifest before His भक्त in पुष्टिमार्गे, and what sort of फल the भक्त gets. Unfortunately seven pages of the manuscript are missing, and hence we have lost the description of some of the subjects mentioned in the contents.

The delay in the publication of this Volume is chiefly due to the extreme difficulty of deciphering the परिविष्ट, in which additions and interlineations have been made by the author on almost all the pages and on all the sides of the margin so closely, that it is almost impossible to read them and to put them in their proper places; and in spite of our devoting as much labour as we could, we had unavoidably to leave out some words which could not be deciphered.

Sbastrī Kalyanji Kanji has rendered us very valuable assistance in carrying this edition through the press and has often solved knotty points for which our hearty thanks are due to him. We have also to thank Prof. Maganlal Ganpatiram Shastri, M. A., of the Deccan College, Poona for the willing co-operation and help in the solution of difficulties.

Both the साधन and the फल अध्याय are now before the public, and in order that the reader may get a clear view of both, he must acquaint himself with some of the बोधक ग्रन्थाः of श्रीवद्वत्शांघ्रि, such as सिद्धान्तमुक्तावली, भक्तिवर्षिणी, निरोच्छरण, सेवाफल, and पुष्टिप्रवाहमर्यादा. He will get very valuable help in understanding the subject by a clear grasp of these small works. As श्रीपुरोहितमजी's अधिकरणमाला gives a beautiful summary of all the अधिकरण, we refrain from repeating the same.

Attention of the reader has already been drawn in our note to the previous volume (४ अ. १. २. पं.) to the difference in the interpretation of some सूत्र as between श्रीवद्वत्शांघ्रि and श्रीविद्वत्शेखर. This difference will be found in विद्वन्मन्त्र also, where the interpretation of the सूत्र quoted differs from that of श्रीवद्वत्शांघ्रि. This may perhaps be due to the आधिभौतिक standpoint taken up by श्रीवद्वत्शांघ्रि following वेदव्यास, and आधिदैविक standpoint taken up by श्रीविद्वत्शेखर. This idea is suggested to us by the very lengthy and beautiful addition to the आनन्द-ग्रन्थ-अधिकरण made by श्रीविद्वत्शेखर, giving the आधिदैविक interpretation. The रविमकार श्रीगोपेश्वरजी states in 2-3-50 as under:—

अत्र ऋतेयं यत् प्रतीयतेति मागवतोकमायापक्षो नास्ति, तस्य लक्ष्मणमहात्मजवद्वत्शांघ्रिविरचितत्वेन आधिदैविक-मतत्वात् । अस्य वेदव्यासमतवर्तिवद्वत्शांघ्रिमतत्वेन आधिभौतिकत्वात् । एतेन अपरितीये श्रीभागवतकरणात् । निबन्धे आप्यात्मिकमतम्, विष्णुस्वामिमतवर्तिवद्वत्शांघ्रिविरचितत्वात् । यमुनाहकादि तु खनतम्, निर्गुणम्, युक्त्या परमार्थः तत्प्रतिपादकम्, मुख्यं च । खगात्रा तु मुख्यतन्मिल्यनिर्गुणोक्तः । 'इति श्रीवद्वत्शांघ्रिविरचितं यमुनाहकं सम्पूर्णं सिद्धीतिश्रीकथनम् । रविम २-३-५०.

We invite the scholars of the सम्प्रदाय as well as others to study these works with devotion, and with a view to approach the Presence of God, for which they have been intended. The generality of people go in the wrong direction because पराधि खानि व्यतुणत् स्वयम्, तस्मात् पराद् पश्यति नान्तरात्मन, and because मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् सिद्धे. It is only in this भारतवर्ष that people were engrossed so much in religion, for which men like Emerson, Carlyle, Max Muller and many others have lavished praises over it; but here also काल has been rapidly doing its work, and the contact with materialism and आधुनिक of the West has hastened this change. We have therefore to be very careful, and in all our religious studies we should never miss the goal viz. the Presence of God. We are thankful to many Western Oriental Scholars for the vast amount of labour devoted by them to the study of Sanskrit literature, Vedic and modern. They have approached the subject also very sympathetically, but partly on account of their being strangers unacquainted with our manners and customs with their roots buried in the hoary past, partly on account of partiality for their own Christian religion, partly due to the Doctrine of Evolution which looks upon ancient things in quite a different light, partly on account of want of ऋत, and finally on account of a difference in the idea of civilisation,—the west being generally engrossed in finding fresh means of material comforts and gratification of the senses, and not caring for the vision of God, Who lies deeply buried in the heart,—we have to be very cautious in accepting their premises and their conclusions. Even a sympathetic man like Prof. Max Muller, after his lifelong study of Sanskrit literature opined that writing was unknown to Vedic ऋषि. Again वेद means knowledge from विद् to know and ऋषि means a seer, from ऋ to see. Do they implicitly believe that वेद contains true knowledge and that ऋषि were Soors? If not, it can well be questioned whether the true meaning underlying these writings will ever be revealed to them. They only see the worship of the Sun and the Moon and elements such as Fire, Water etc. in these writings, and they imagine terror to be the root cause of this worship. We are inclined to ask them as to how many Saints and Sages of भारतवर्ष they believe to have got a vision of God, from Vedic Revelation up to the modern times.

One writer after another has written about श्रीवल्हमाचार्य and his System, and has condemned outright the sect of Maharajas. But both श्रीवल्हमाचार्य and श्रीविद्गुलेश्वर were so holy and learned that they were worshipped, as gods upon the Earth. At that very time another divine personage श्रीकृष्णचैतन्य was similarly worshipped in Bengal. They were all called महाप्रभु, because they had साक्षात्कार of God, their mind was in tune with the Infinite and they were able to lead their followers into the Presence of God. Millions of men in Gujarat, Kathiawar, Sind, Rajputana, Muttra and Madras, including several princes, are followers of श्रीवल्हमाचार्य, and millions in Bengal and elsewhere are followers of श्रीकृष्णचैतन्य. Many of the descendants of श्रीवल्हमाचार्य have been great devotees and inspired authors, who have kept the torch of Hinduism burning for these four dark centuries. The latest of them पंडित यदुनाथ—

blind from infancy, was the greatest scholar in वेदान्त of his age, had a wonderful mastery over नीमांसा, न्याय, व्याकरण, अलंकार and all kindred important subjects, was an extempore poet, a शतावधानी, and was the recipient of the title of भारतमहर्षि in the holy city of Benares, only about 40 years ago. The reader of these volumes can easily find out for himself the vastness and depth of learning of योगी श्रीगोपेश्वरजी who lived about a hundred years ago, in all branches of learning—वेद, वेदान्त, पूर्वनीमांसा, व्याकरण, न्याय, अलंकार, etc., who was deeply reverential to his ancestors, and calls himself पूर्णेश, कृतकृत्य and हरीशरत. None of the critics of the सम्प्रदाय ever read सुबोधिनी or निबन्ध, अष्टभाष्य or विद्वन्महर्षिन; भाष्यप्रकाश—that balanced criticism of all the available भाष्य—they never heard of; and of the wonderful रत्न they never dreamt. They never cared to inquire as to how the best among these महाराजस spent their lives in निरोध (श्रवणविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्ति i. e. forgetfulness of the world and devotion to God only), and what their divine experiences were. They denounced one and all in the same strain, attributing to them all conceivable vices and no virtue.

Now what is the फल in श्रीवल्हमाचार्य's doctrine? It is in a nutshell भगवत्प्राकट्य. In पुष्टिप्रवाहमर्षादा he says "भगवानेव हि फलं, स यथाविर्मवेद्भुवि." In निरोधलक्षण he says "स्त्रियमानस्र जनान् रद्धा कृपायुक्ती यदा भवेत्, तदा सर्वं सदानन्दं हृदित्यं निगंतं बहिः". In सत्यासतिनैय he says "बहिर्दिष्टं प्रकटः स्वात्मा बहिर्बद्धं प्रविशेद्यदि, तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा." His son श्रीविद्गुलेश्वर says

श्रीवल्हमाचार्यमते फलं तत्प्राकट्यं, अत्राव्यभिचारिहेतुः ।
प्रैमैव तस्मिन् भवधोक्तभक्तिः, तत्रोपयोगोऽखिलसाधनानाम् ॥

Not to talk of सूक्त which are prayers to various manifestations of God, the उपनिषद्स also clearly speak about दर्शन of God in आत्मा वा अर्धे द्रष्टव्यः, कश्चिदीशः प्रलयगमनं ऐश्वर्यं, यमेवेध पृणुते तेन लभ्यः तस्यैव आत्मा विष्णुते तसुं स्वाम्, स्वयं ज्ञानमनन्तं त्रयं श्री वेदं निहितं शुद्धायाम् परमे व्योमन् सोऽनुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता. ब्रह्मसूत्रस also are very clear on this point. In आसीनः संभवात् (4-1-7) it is stated उत्कटजेहात्मकसाधनस्य संभवात् तत्प्रीणः संस्तदमे आसीनो भगवान् भवति. In ध्यानाद्य (4-1-8)...ध्यानादपि हृदि प्रकटः सञ्जातीयो भवति. प्रदीपद्यदिलभिकरणे (4-4-4) 'भगवानपि स्वदते मुकुदेहे जीवेन सह प्रविष्टस्तं वेदं स्वभोगरूपकार्यधर्मं करोति यतो धर्तो सञ्चिन्ति भर्तृसुकारम्ममन्त्रे भगवतः कीडार्यं बहु' ...नरा उचः । तेन एवं ज्ञायते कीडोपयोगिभगवदावेध एव फलात्तुभयोपकरणमिति (अधिकरणमात्रा). गीता also clearly mentions भगवत्प्राकट्यं, e. g., संसर्गाणि युगे युगे, दर्शयामास परमं रूपं, आत्मानं यजाम्यहम्. And भागवत is the invaluable treasure-house of भगवद्बतारस. In this holy land of भरत, there have been so many ऋषि at various times and places with varied experiences about प्रभुप्राकट्य, साक्षात्कार for a genuine seeker after truth, the evidence is simply overwhelming. युसिहमेहेता and नीरगाई in the West, ज्ञानदेव, तुकाराम and रामदास in the South, कृष्णचैतन्य in the East and many others had all experienced प्रभुप्राकट्य in one form or another. The reader may refer to भक्तमाल and such other works in this respect. There are many anecdotes in this पुष्टिसम्प्रदाय about भगवत्साक्षात्कार, and the large mass of कीर्तन literature, yet unpublished, and the lives of ऋषि like सुरदास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, परमानन्ददास and others leave no doubt about भगवत्प्राकट्य right up to the modern times.

That this प्रकृत्य is of रसो वै सः and it is not simply an emotion of the mind is clear from the following :—

श्रुतौ हि 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, तदात्मानं स्वयमकुरुत, तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति यद्वै तत्सुकृतम्, रसो वै सः, रसं हेवायं लब्ध्वानन्दी भवती'त्येवं पूर्वसृष्टोरसाधुत्वं, ततः सृष्टधन्तरस्य साधुत्वम्, साधुत्वे स्वात्मरूपत्वरूपं हेतुः, तस्य सुकृतत्वं, सुकृतस्य रसत्वं, रसस्यानन्दरूपता च बोधिता । तत्र यद्युद्बोधकादिप्रनाडी न विवक्षिता स्यात्, आत्मकरणं न वदेत्, यदि वा सर्वसामान्या स्यात्, पूर्वसृष्टेरसाधुत्वमनेवंरूपतां च न वदेत् । यदि च रसस्य मनोविकारत्वं लौकिकत्वं वा विवक्षितं स्यात्, तदाप्यात्मकरणं आनन्दरूपत्वं च न वदेत् । अत उद्बोधकादिवैशिष्ट्यं श्रुतिसिद्धम् । तदेतदुक्तं तत्स्वरूपस्यैव तथात्वादि-ल्यन्तेन । तथा च प्रनाड्यङ्गीकारेण न भगवद्रूपत्वहानिरित्यर्थः । किञ्च, अनुकृत्यधिकरणे सर्वस्य भगवदनुकारित्वं 'तमेव भान्तमनु भाति विश्व'मिति विषयवाक्येन प्रतिपादितम्, अतः प्रकृतेः यदि लौकिको रसः प्रतिपाद्यते, तदापि मूलरसानुकारितयैव तत्स्वरूपं सिध्यतीत्येतद्गुणान्तेन सोपि रसो-नुमीयताम् । अयं लौकिकः परिच्छिन्नो, मात्रोपजीवनश्रुतेः, स त्वपरिच्छिन्नो, भूमत्वात् । तथा च लोकेऽनुकरणमात्रेण तदाभासस्यैव प्राकृत्यम्, न तु तस्येति न जीवस्य तत्करणेऽपि न तद्रससम्बन्ध-लेखः । शास्त्रप्रणयनं तु दूरतस्तस्यैव परिचायनायेति तत्रैव स्फुटम् । वस्तुतस्तु पात्रे पातालखण्डे रामाश्रमेऽपि शेषवात्स्यायनसंवादादेष्वैष्णवत्वमवगम्यते । एवं भरतस्यापि, नाट्यशास्त्रज्ञातुर्मोक्षकथनात् । किञ्च, आङ्गनेयोपि प्रणेता नाट्यशास्त्रस्य । स च परमभक्तो जनकतनयाप्राणनाथस्य । अतस्तादृशां य एतावान् प्रयासः स न त्रिवर्गोपयोगितया जीवार्थः, अपि तूक्तरीत्या मोक्षसाधनतापर्यन्ततया । किञ्च, वात्स्यायनेन सांप्रयोगिकाधिकरणे 'ऋचां दशतयीनां षतुःषष्टिसंज्ञितत्वादिद्वापि तदर्थ-सम्बन्धात्पात्रालसम्बन्धाच्च षड्चैरेषा पूजार्थं संज्ञा प्रवर्तितेत्येक' इति सूत्रयता संप्रयोगाङ्गुम्बनादी-नामृगर्थत्वं प्रदर्शितम् । 'सर्वे वेदा यत्सदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इति श्रुतिस्मृतिसं-वेदस्य भगवत्परत्वं सिद्धम् । एवं सत्यस्य शास्त्रस्य तत्सामानाधिकरण्ये वेदवत् परीक्षवादेन लीला-सहितभगवत्प्रतिपादकत्वं युक्तमेव । गान्धर्वस्य सामवेदोपवेदतया च । अत एवमर्थाङ्गावृणां जीवानां भ्रान्तिरित्येतदाद्यभिसन्धायोक्तं तच्चेत्यादि, बुद्धयस्त्वेत्यन्तम् । तस्माच्च कोपि शङ्कालेश इति दिक् ।

(प्रकाश on भा. १०. ३०. १)

That this प्रकृत्य is of परब्रह्म in पुष्टिमार्ग is clear from the three लीला, viz., जृम्भालीला, मृत्नाभक्षणलीला and दामोदरलीला. We may study various systems of religions from a historical point of view, we may try to fix exact dates of the various teachers and their systems, we may try to penetrate into the mysteries of various rites and ceremonies of different religions, but what is the use of all these things if they do not lead us into the Presence of God? भिद्यते इत्यप्रमिद्यः छियन्ते सर्वसंज्ञयाः, श्रीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे. (मुण्डक.)

What are the साधनस for this भगवत्प्राकृत्य? It is clear from पराशिवे ज्ञानि that इन्द्रियस्य are of no use; on the contrary they are a hindrance. Giving up the world and concentration—कीटभ्रमरन्याय—has been generally considered the best method. But it too lacks प्रेम. In सन्ध्यासनिर्णय श्रीब्रह्मभाचार्ये says भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते; in विशालोक्तस्य he says भावसाधनप्रत्यक्षीयः सर्वसंज्ञैर्दिकश्च सः, परलोकश्च. In भक्तिवर्षिणी he mentions प्रेम, आत्मिक

and व्यसन. In सिद्धान्तमुक्तावली he says कृष्णसेवा सदा कार्या. सेवा is defined as चेतस्तत्त्ववर्ण सेवा. This reminds us of मन्मना भव मद्रूपः in गीता. In Anu-Bhāsya. तृतीयाध्याय तृतीयपाद, this question is discussed 'यथा साक्षात्कारो भवति, तथा साधनमुपासनात्वं वक्तव्यम् । उपासनायां च कियमाणयां धारणाः सिद्धौ मानसी मूर्तिरभिव्यक्ता भवति । तत उपासनापरिपाके साक्षात्कारः.' In this connection पदानन्दधिकरण 3.3.16-17, and लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण 3.3.43-47, will be specially useful to understand श्रीब्रह्मभाचार्ये's and श्रीविठ्ठलेश्वर's view. When once God does become प्रकृत, all the इन्द्रियस्य also get their highest फल, as is clear from अक्षयवता फलमिदम् etc. (वेणुगीतसु.)

That ब्रह्म and कृष्ण are not different is clear from the derivation of the word कृष्णः—'कृषिर्भवाचकः शब्दः गन्ध निर्गृहीतवाचकः, तयोरेक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते.' ब्रह्म comes from वृद्ध to grow or increase, and the whole जगत् which has grown out of ब्रह्म is nothing but ब्रह्म itself, 'सर्वं सत्त्विदं ब्रह्म.' It is also called आत्मा from अत् to spread, अदिकृष्णलवत्. ब्रह्म is निःप्रकारकम्, while आत्मा signifies प्रकार. In either sense it is रस, रसो वै सः, and when रस becomes प्रकृत, it is फलरूपकृष्ण. All the three words ब्रह्म, आत्मा and रस etymologically imply परिणाम and तत्तु too in स्वरूप and not of वाक्य or शरीर or माया; therefore it cannot but be अविकृतपरिणाम. परिणाम can only be of something which is साकार, and this साकार is आनन्दमात्ररूपपादमुद्योदरादि. How this साकार becomes manifest is mentioned in रसनिष्पत्तिप्रकार in वेणुगीत (भागवत १०. १८. ८). That the reader may be able to connect it with the परिशिष्ट of श्रीगोपेश्वरजी, and have a faint vision of his meaning, this is quoted here in full.

चूतप्रवालवर्हस्तबकोत्पलाब्जमालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेश्यौ ।

मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥८॥

केवलं रसरूपमाह चूतेति ।

सु०—चूतानामाग्राणां प्रवालाः कर्णयोः, वर्हस्तबकाः वर्हगुच्छानि शिरसि, उत्पला-ब्जानां माला कण्ठे, तैरनुपृक्तं मिलितं परिधानं पीताम्बरादिवस्त्राणि तैर्बिचित्रो वेषो वयोः । एतादृशावभावि पशुपालगोष्ठ्यां मध्ये विरेजतुः । रसाभिनयेवतारवदेवावेशस्या-प्युपयोगाद् द्विवचनम् ।

शुणा माया च वेपार्थमुपयुक्ता भवन्ति हि । अतो रससाभिनये चत्वारोर्था निरूपिताः ॥ १ ॥ रसरूपसुगन्धानां प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिता । धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र निरूप्यते ॥ २ ॥ वस्तुनिर्देशमात्रेण श्रोतॄणां कान्यवद् रसः । रसवत्फलबोधाय प्रथमं पङ्क्तौ मतः ॥ ३ ॥ शास्त्रार्थस्य परिज्ञानाद् भावस्य कलिका भवेत् । ततस्तस्य च वैचित्र्यं पुण्यस्थानमिहोच्यते ॥ ४ ॥ अहोरात्रं वासना स्यात् तत आच्छादनं स्मृतम् । रसोत्पत्त्यर्थमेतावभिरूपितमिति स्थितिः ॥ ५ ॥ आविर्भावे रसास्वादान् नृत्यं शोभा ततो भवेत् । अतोतिगुप्तो भगवान् रसत्वं प्रतिपद्यते ॥ ६ ॥

विचित्रवेषाविति सर्वैरसाभिनियेश्वरार्थम् । त्रयाणामन्योन्यगुणप्रधानभावे नव रसा भवन्ति । एवं रसरूपं भगवन्तं निरूप्य तद्रसपोषकौ समाजे वाद्यगीतविशेषौ निरूपयति

मध्ये विरेजतुरिति । पशुपालानां गोष्ठी नात्यन्तं गूढा । तेन रसस्य सुलभत्वं निरूपितम् । मध्ये गीतवाद्ययोः । त्रयाणां समानतैव सर्वोत्तमा । नृत्यस्य तु विशेषः प्रायिक एवेति तदेवोक्तम् । कादाचित्कनिषेधार्थमलमिति । शास्त्रमत्र नियामकं न भविष्यतीत्याशङ्काह दृष्टान्तं रङ्गे यथा नटवराविति । रङ्गः शास्त्राधारभूतं स्थानम् । रङ्गमण्डपे यथा नटौ शास्त्रार्थानुसारिणौ भवतः । अलौकिकनाट्यार्थं वरपदम् । एवं राजसभावनृत्यस्युक्त्वा सात्त्विकभावनृत्यमाह क्व च गायमानाविति । देशविशेषे हस्ताभिनयमात्रपूर्वकं श्रमरहितं गानं कुरुतः । एतदपि लोकप्रसिद्धम् ॥८॥

टि०-चूतप्रवालेत्यत्र-त्रयाणामन्योन्यगुणप्रधानभाव इति । स्थायिभावव्यभिचारिभावविगाढभावाना-मित्यर्थः ॥ ८ ॥

प्र०-चूतप्रवालेत्यत्र-वरपदातिरिक्तं पूर्वार्थमनेन विभिनय इत्याशयेनाहुश्चूतानामित्यसि । तेन कर्णिकारो-परि पञ्चम अपि स्थापिताः सम्पत्ति बोध्यम् । जेजपम्ती च कमलानां बोध्या । ननु केवले रसे निरूपणीये 'बर्हापीडं नटवरवपु'रिति लोकोक्तमत्र पदातिरिक्तस्यैकत्वात् अयमोचकत्रिनचनस्य किं प्रयोजनमित्यत्र आह रसाभिनय इत्यादि । अचत्तरवदिति । यथावतारे भूभाररणादिना भगवदभियकर्तृत्वेनोपयोगस्तथा रसाभिनये सहस्यतिप्रस्तादितिः भियकर्तृत्वात्पुपयोग इति तस्येत्यर्थः । पञ्चमदितिरूपणप्रयोजनं कारिकाभिराहुर्गुणा माया वेत्यादि । अत्रैवं शेषम् । 'नाट्यशास्त्रे रसे मुख्यो रसाभिनयकारणम् । चतुर्थोभिनयोपेतं लक्षणवृत्तितो ज्ञेयः । नवतं नाट्यमित्युक्त'मिति सङ्गीतरत्नाकरे नाट्यशास्त्रार्थकथनात् तन्मूलभूतार्थप्रत्येकत्वमेवायं इति ज्ञायते । अत्र रसे योगोप्यसि नटितुम-भिनयेतुं योग्यं नाट्यमिति । अहं क्रुत्यस्य यतो भवनात् । तेन योगरूढः । एवञ्च 'न्यायभानेकशास्त्र'मिति जैमि-नीयस्सुलैकस्यार्थस्यैकत्वात्पत्यत्वमित्यस्यैवधारणात् धर्मविशेषपर्यवसानस्यैव ज्यायस्त्वेन अर्थानभिध्यत्वात्पदशा-पत्त्वविशिष्टरसावचकत्वमिति शिष्यति । नवतैरपि बद्धा नटस्य भावः कर्म वा नाट्यमिति योगो विचार्यते तथापि स्वभो भावे कर्मणि च विधानात् योगसौख्यं तथापि रससत्तां विना तथा कर्मणः प्रयोक्तुमशक्यत्वात् तत्प्रयोजको भाव एव मुख्यः । कर्मणि तु सामान्यतः अष्टतः प्रत्ययो योगविशेषवत्तया रसाभिनयजेकं तस्मिन् कर्मणि सङ्कोच्यत इति नवत्येयं नाट्यशास्त्रे लक्षणगर्भं पृष्टः । एतन्नयथापि नाट्यशास्त्रविचारे रसस्य मूल्याभिनयार्थस्यैव सिद्धम् । किञ्च 'नटकथितवार्थपदाभिनयार्थकं नाट्य'मात्रिकाभिनयैरेव भावानेव स्थानिकं यत् तन् मूलं मार्गशाब्देन मसिद्धं नृत्यवेदिनां 'शास्त्रविशेषमात्रं तु सर्वोभिनयवर्जितम् । आङ्गिकोक्तप्रकारेण नृत्तं नृत्तविद्यो विदु'रिति नवतस्य सेद्वत्रचं तत्रोक्तं तथा 'स रसत्राभिनयो भवे'दित्युपक्रम्य 'काव्यबद्धं विभावादि स्मरणं योर्धो नटे शिवतः । सामाजिकानां जनयत् निर्बिभ्रससंविद्'मित्यभिनयं लक्षणित्वा'ङ्गिको वाचिकसङ्घट्टाहायैः सारिवकोपरः चतुर्थोभिनयस्य आङ्गिकोऽः समान-यितः । वाचा विरचितः काव्यनाटकवस्तु वाचिकः । आहायो हारकेयूरकटादिविशूषणम् । सारिवकः सारिवकैर्भावेर्भा-जुकेन विभासित' इति च तत्रोक्तम् । एवं चतुर्थोभिनयमध्ये च आहायोभिनयो वेचारमा तव्यं गुणा रसरूपगुणत्वा माया परिधानस्या 'कनककपिशता' च हि यतो हेतोरुपयुक्ता भयम्भतो हेतो रसस्याहायैर्भिनये निरूपणीये स्वत्वारः पञ्चवादयः परिधानान्ताः पदार्था निरूपिनाः । यत एवमभयोने रससाभिनयिकः । रसश्च विभावादिनिः प्रकृत्यमाणः स्थायिभावात्मा नृत्तं नाटकमनविभावमन्तरेणाभिनयकुमरंति । एवं सति तस्मिन् धर्माभिर्भवेणैव कैवस्यं अजन्तु काव्यरूपतां आहातीपुनभवसामञ्जस्य नटवेचारमकैराहायोभिनयैराकम्बनवरोपणेनाङ्गिकादिभिस्त्रिभिः सामाजि-कानां रससंविजनयम् । यत्र पुनराकम्बनस्यैव नटत्वं तत्रापि नाट्यदशावर्गं मुख्यानां रसधर्माणामनारिक्कारेण म्यरभूते-वाकम्बनता । तादृशत्वमजाततः प्रत्यारोपिता च । एवं प्रकृते अज्ञातमकस्य रसस्य पूर्वोक्तरीत्या स्वप्रतिष्ठत्वाकम्बनत्वयो-रविरोधेपि यथा रसत्वं म्यगमावाकम्बनतया एव कल्पितकटनं तथात्रातं म्यगमाव्य तामप्रकटीकृत्य नटत्वं प्रकटीकृत्य 'रसो वै स' इति श्रुत्युक्तं हि स्वस्वरूपालम्कं रसं सङ्गीतशास्त्रोक्तप्रणाज्जाभिनयतीति तत्र गुणानुपयोगस्यैवैते पञ्चवाद-योर्धो उक्ता इत्यर्थः । तर्हि गुणा एव निरूपणा न गुणिन इत्यत आहु रसेत्यादि धर्म्याङ्कटावमबोधायैति । धर्मो रसस्य गुणतबोधनाय । तथा च पञ्चवादितु तेषां प्रतिष्ठा निश्चितेति ते निरूपिताः । केवलगुणनिरूपणे तेषामागन्तुकता स्यादिति तथा । उक्तार्थबोधनाय मायापि निरूप्यत इत्यर्थः । ननु रसप्रतिष्ठा चूत फले न तु पञ्च वादि नाशोप-योगः कथञ्चिदुपयोगे वा इत्येकेन पञ्चवादिरेवभिनयेन न तु वेपेपि स्थाप्य इत्यत आहुर्वस्तु निर्देष्टव्यादि । नाट्ये हि न रसन आस्ताद् किन्तु काव्येन शब्दद्वारेणात्र पञ्चवादिवस्तुनां इत्यकनिर्देशेन चाक्षुषद्वारा मानस आस्वाद्यो न तु तदभिनयप्रत्यायस्य बोधनमतत्वेन रसवत्फलबोधार्थं प्रथमं पञ्चयो मतो विचारितः । तथा च चूतपञ्चनेन रस-वत्कं मानीति स्वग्रहारा बोध्यत इति तेन मानसिकास्वादिदितिति रसप्रतिष्ठा सत्रापि न दुर्बदेति पञ्चव उचित ३० न० सू० १०

एव । तस्य इत्येनाभिनय उक्तरीत्या मानसमार्थं न तु रसवत्कल्पनं वसायित्वबोधनमपीत्यतस्त्वापनमित्यर्थः । भगवान् हि स्वरूपालम्कमेव हि रसमभिनयादिना यत्र स्थापयति, ततः कदापि न गच्छति, किन्तु बीजत्वात् फलं प्रयच्छतीति वस्तुस्थितिः । तथा च भाववतां नाटकप्रणाज्जा प्राप्तसामान्ये फलप्राप्तित्वस्यैवभावात् प्रथमं पञ्चवस्थापनोक्तिरितिभावः । ननु भवत्वेतदेवं तथापि रसशास्त्र इदृशं नादिभिस्त्रिभिरुक्तैः प्रमोदात्मा स स्थायिभावस्तत्रासात्कृतदेशकालकलावेपभोगादिसेवनप्रभृतिभिस्तत्तदेतुभिः प्रकृत्यमाणः स रस इत्युच्यते, स च मनोविकार एवान्तरात्रानेरूपश्चातित्यत्र, भगवान् तु न तथा, किञ्च पूर्वश्लोके वरत्वमुपपादितमत्र च नटदृष्टान्ते-नाभिनयेत्वं नथैव विभिनयमाणश्लोकेपि । एवं चाकम्बनत्वमभिनयेत्वं च स्फुटति न तु सर्वरसत्वमतः कथं प्रतिष्ठापूर्तिरित्याकाङ्क्षायामाहुः कारिकायां शास्त्रार्थस्येत्यादि । अयमर्थः । 'रसो वै स' इति श्रुत्या 'अंतद्रा इदमप्र आसीदि'त्यादिनोपक्रान्तस्य अक्षण एव रसत्वं बोध्यते । रसशब्दश्च रसनामाद्ये गुणे द्वयद्वये सारभूतेर्वा आस्वाद्यानन्दजनके च तत्र तत्र प्रसिद्धः । तेषु प्रकृते कोर्धो विवक्षित इत्याकाङ्क्षया 'रस' इत्येव कल्प्यामन्दी भवति, को हेवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाशा आनन्दो न स्यादेव हेवानन्दयाती'त्यनेन रसज्ञानमूल्यं प्राणधारणप्रयोजकत्वं इत्याकाङ्क्षस्यैवमानन्दजनकत्वं च तस्यैवोच्यते । तेन इदृशस्यः प्राणिनामानन्दजनको य आनन्दः स रस इति सिध्यति । तत्र यद्यप्यानन्दोत्पत्तिरूपस्य कार्यस्य सत्त्वचयत्वेननुभूयमानत्वेनामानन्दस्य सर्वशरीरव्यापित्वं तथाप्युक्तश्रुत्या 'स मानसीन आत्मा जनानां' मिति श्रुत्यन्तरेण च मनस्यैव तस्य विशेषतः स्थितिरिति सिद्ध्यति । एवं सति रसशास्त्रप्रणाज्जा जायमानो यो मानसो विकारः प्रमोदात्मा स रसात्मनो भगवत् एव कार्यभूत 'एव हेवानन्दयाती'तिसावधारणश्रुतेस्तथा तदनाभूतैश्च 'तस्यैवानन्दस्यान्व्यादि भूताभि मात्रामुपजीवन्ती-तिश्रुतेः । अत एव च प्रकृत्यमाणे तस्मिन् रसत्वप्रतीतिर्लोकानां तथाप्रयोगश्च अज्ञातियु पुत्रयपदप्रयोगवद् भावः । न चैवं सत्यानन्दमात्रस्यैव तथात्वात् प्रणाज्जाभेव कुतो विशेष इति शङ्क्यम् । रसस्वरूपस्यैव तथात्वात् । न च माना-भावः । लौकिकस्य प्रणाज्ज्यभिन्नेभ्यस्त्वे सिद्धे तदृष्टान्तेनालौकिकेपि तथापुमातुं शक्यत्वात् । कारणतदुर्भागादेव कार्येभिनयकेः सन्देहिरासाक्षः । न चानिस्त्वावपत्तिः । अज्ञात्वादेव तन्निरासात् । अत एव न मनोविकारत्वमपि । नाप्यनेकरूपत्वं दोषाय । तस्य प्रणाङ्गीकृतत्वेन वास्तविकरूपावचकत्वा'द्वनतरूप'मिति श्रुत्या वास्तविकत्वाच्च । तेनेदं सिद्धम् । परं प्रह्लेव रसशास्त्रोक्तप्रणाज्जा हृद्यविभूतं रसत्वं स रस इति । तत्र च विदोषो न्यारभ्यत एव । न अत एव 'हृदिभूताचक्षु' इति श्रुती तदानन्दप्रयोगोक्तम् । न च भूगर्भस्य रसशास्त्रकत्वात् सत्तानन्द इति भवति न तु सत्तानन्द इति शङ्क्यम् । तस्यसाया आरम्भरूपत्वेन धर्मत्वाभावस्य व्याकरणमते सिद्धत्वात् सत एव सिद्धेः । अतः परमक्षणस्यारत्वेन प्रणाज्जाविभूतेपि तथास्त्वमेव ।

नन्वस्त्वेवं तथाप्युक्तश्रुतौ अज्ञानो रसत्वमुच्यते न तु रसस्य अज्ञानं, तथा सति बहिराविभूतस्य भगवतो रस-त्वाभावात् कथं प्रतिज्ञायाः पूर्तिरिति चेदित्यर्थः । यथेदं वर्ण्यते न तत्र भगवान् बहिःप्रकटः किन्तु हृद्येव्युपपादितं 'बर्हापीडे'त्यस्य स्वतन्त्रे । यदापि बहिसादाप्यासक्तिभ्रमम्यायेन 'मानसीन' एवेति तदपूर्तः । नन्वेवं सति हृत्विशेष-रूपत्वाच्च भगवानिति चेत् । श्लोके हृतया आश्रय्य देशकालपरिच्छिन्नत्वेन तत्र तदभावेपि विग्रहादौ संस्कारमाव-व्यादिना वृत्तिनिगमात् रुपातिः स्वीकियते न तथा प्रकृते । देशकालपरिच्छिन्नत्वात् । किन्त्वयम्यमतिकल्प्यत्वाद् यादृशी सा तथा तत्राभिर्भवति । सा च मनोधर्म इति तदभिनयकृत्यत्वेन बहिराविभूतस्य मानसीमत्वेन वृत्तित्वाभा-वान्मन्यावादिमते हृत्त्वपरिच्छिन्नविषयावच्छिन्नयोश्चैतन्ययोरेकत्वाभावे बहिःतस्य हृत्त्वपरिच्छिन्नत्वेपि वृत्तित्वाभाववत् । नन्वस्त्वेवं तथापि प्रकृत्यानुतोच'बहुभारारम्भकमेवात्र यत्कथं तस्य च परस्परसाकाङ्क्षीपुंम्यक्यासकामकम्बनद्रवापीन-स्थितिकत्वात्त्रापि तथात्वमङ्गीकृत्यं तच्च भगवतो रसत्वे विरुध्येतेकामकम्बनकत्वेन रसाभासरवप्रसङ्गकत्वादिति चेत् । आकम्बनत्वस्यापि रसत्वात् । 'कामिनां दूरीयत् दैन्य'मित्यस्य टिप्पण्यां 'रसात्मको रसवाञ्छ भगवा'मिति कण्ठवेणोक्त-त्वात् । न च विरोधः । स्वप्रतिष्ठवस्य औत्तत्वेन सर्वसम्मतत्वात् । यथान्धेर्धो कामेन कामवत्त्वं कामस्य तु स्वत एव तथान्धेर्धो रसेन रसवत्त्वं रसस्य तु स्वत इत्यस्यापि सुवचनत्वाच्च तदप्रसङ्गात् । तस्मात् बहिराविभूतत्वापि भगवतो रसत्वमभावात्तमेव । तथा चैवमकारस्य शास्त्रार्थेऽप्य श्रुत्यर्थस्य परिज्ञानाद् विचारपूर्वकामिन्नगणद् भावस्य कालिका स्थायिभावात्तिका विचारवर्तकं भवेत् । बीजाङ्कुरादिकं तु पूर्वमनुग्रहात्मकं सिद्धमेवाकाङ्क्षीतिभावः । ततस्तस्य स्वाभि-भावस्य वैशिष्ट्यं आवादि-व्यभिचारिभावादि-कृतं भवेत् । तद्विद्विभिरु श्लोके पुष्पस्यानमुच्यते । 'विभिन्नेषा'-वित्यनेन कथ्यते । ततोदोरात्रं वासना तत्प्रभावमाकृष्या स्यात् । तथा सति प्रसिद्धा रसत्वादीयेतेत्याकङ्क्षात्वं विवरणे । अन्यथा प्रयोजनाभावात् परिकरं न स्परेयुः । इममर्थं संगृह्य साधकशिष्यार्थमाहु रसेत्यादि । यथावदधे-श्लोकोक्तम् । तिस्रदशावर्गं फलानुभवप्रकारमुत्तरार्धेन बोधयन्तीत्याशयेनाहुराविरित्यादि । तथा च तथा मानसीनस्य बहिराविभोवे स्वधर्ममाकम्बं करोतीत्यर्थः । सिद्धमाहुत इत्यादि । तथा चोक्तप्रणाज्जावन्तराविभूतो रसो बहिराविभू-

तस्य धर्मसाहित्यात् तदुद्बोधकरत्वाच्च साधनमस्तः स्थानमेवेनोभयमप्यविकल्पमिति भावः । त्रयाणां सित्यादेरर्थाद्विषय-
व्याप्याहुः स्थायीत्यादि । तदेवोक्तमिति गोक्षीमप्ये विराजन्मेवोक्तमित्यर्थः ॥ ८ ॥

This will also explain the meaning of 'श्रीभावो गूढः पुष्टिर्माणं तत्त्वमिति कृष्णपदार्यः
कविद्विदतः'. In order to realise कृष्णरस, श्रीभाव is thus essential and hence the
remark of श्रीरा to जीवगोक्षीमी that he was to be congratulated (!) in remembering
his पुंभाव in गूढावन.

It will also help the reader in understanding the significance of the
following श्लोक of श्रीविहङ्गेशः—

भावैरङ्कुरितं महीमृगदशामाकल्पमासिञ्चितैः
प्रेम्णा कन्दलितं मनोरथमयैः शाखाशतैः संभृतम् ।
लौक्यैः पल्लवितं मुदा कुसुमितं प्रत्याशया पुष्पितं
लीलाभिः फलितं भजे प्रजयनीशृङ्गारकल्पद्रुमम् ॥

A person does not become fit to experience these various stages of love
emanating from रसो वै सः (उद्बोधकं इ हरिणः), unless the mind is free of all burden and
the heart is open to these higher Influences. He thus gets स्वप्नयोपगत, but even
then the pouring in of the Influences depends only on वरण, as is stated in यमेवैव
शुभे तेन लभ्यः । Mental repose is प्राज्ञोस्थिति, described in the second अध्याय of गीता, on
attainment of which a man has simply to work as an instrument of परमात्मन्, or
a servant of God, and the best servants are those who never forget their Master
and His commands for a single moment (जन्मना भव). These गोपीजन्य were always
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः, and hence their रास्य was best, and therefore they
were परं तनुभूतः । This also answers the question as to who are the best of
human beings.

श्रीमद्भक्त्यास puts into the mouth of श्रीवद्वेव the following verse as regards प्रजयनीताः ।

एताः परं तनुभूतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यं भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥ भा. १०-४४-५९.

श्रीमद्भक्त्यास's comments on it are as under:—

तनुभूतश्चेदेता एव, नापि ज्ञानिनो नापि लौकिका नापि भक्ताः, तत्र लौकिकास्तु व्यर्थजीवना
एव । न रज्जा बद्धः पाशी भवति, स्वाधीनपाश एव तथा । एवं तनुभूतोपि येषां स्वाधीना तनुः ।
ज्ञानिनां तु ज्ञानप्राप्तिपर्यन्तमेव साधनत्वेन शरीरोपयोगादप्रे व्यर्थ एव देहः, अनपेक्षितं भारवद्
गृह्णन्तीति । भक्ता अपि मौढ्यादेहेहेवात्मानं मन्यमानाः तत्रैव पर्यवसितमतयो बहिर्गुणैः वात्तुरुपा
एव न तु तनुभूतः । कालान्तरे परं सत्फलम्, अस्मदादयस्तु भक्ता अपि प्राप्तज्ञाना अपि भन्दभावं
प्राप्ता नोत्कर्षेण तनुभूतः । अतः परमुत्कर्षेण एता एव तनुभूतः । नन्वेतादृश्याः सन्ति तनुभूतः
लक्ष्मीप्रभृतयः । तत्राह शुचीति । ननु भुव्यप्युक्तः भक्ताः प्रह्लादादयः सन्त्येव तत्राह गोपवध्व

इति । एतादृशीमवस्थां प्राप्य न कोप्येवविधो जात इत्याश्चर्यम् । किञ्च । गोविन्दे स्वकीयस्यैव
ज्ञाते वस्तुतः अखिलात्मनि एवं रूढभावाः, अतो देहस्य स्वाधीनस्यैतदेव फलमिति सर्वोत्सवेन
ज्ञात्वापि निर्दोषपूर्वमावनिष्ठा एव । ननु ज्ञानावस्थोच्येति, 'आत्मलाभाच्च परं विषयत' इति, एता
भगवता ज्ञाननिष्ठा कृता इति च, वस्तुत एवाप्रे देहस्यानुपयोगात्कर्मणो वा स्तुतिरिति चेत्तत्राह
वाञ्छन्ति यमिति, यं भावं भवाद् भीः येषां ते मुमुक्षवः शुनयो मुक्ताः वयं भक्ताः
अकारात्सर्वं एव धर्ममार्गपरा अपि । अवश्यं हि विदेहकैवल्यपर्यन्तं सर्वेषां बहिःसंवेदनास्त्येव,
जीवन्मुक्तानां तथा श्रवणात् । तत्र लौकिक एव भावः सर्वेषां जायत इति कालावच्छेदेन जन्म-
वैयर्थ्यमेव । अन्येषां तु वैयर्थ्यं सिद्धमेव । नारदादीनामपि कदाचित् प्राकृतवद् व्यवस्था । अन्यथा
लौकिकसमानकार्यं न स्यात्, प्रह्लादस्यापि राज्यादिकरणात् तथावसीयते । बहिःसंवेदने तु एषैवा-
वस्था सर्वशास्त्रपर्यवसिता नातोत्या कचिदप्यस्तीति अवस्थायां विचार्यमाणायामेता एव तनुभूतः ।
नन्वेतदपेक्षया ये श्रोत्रिया ब्रह्मविदो ब्राह्मणाः वसिष्ठादयः ते महान्तो भविष्यन्तीत्याशङ्गाह किं
ब्रह्मजन्मभिरिति । ब्रह्मभावापन्नानां जन्मभिः श्लोकसावित्रयाज्ञिकैः किं, न किञ्चित् । यद्यपि
बहिःसंवेदने तेषां वेदायांनुष्ठातृत्वं दीर्घसत्रित्वान्निर्णयान्तर्निष्ठतायां तु ब्रह्मपरत्वमिति, तथापि
कर्मापेक्षया भक्तिरभिका, कर्म हि प्रपञ्चे स्वास्थ्यं संपादयति न तु भक्तिः, यो हि दुष्टं मन्यते
स दुष्ट इति निर्धारः । तत्तत्रकरणे तत्तत्रसंसा तु प्रकरणादुरोधिनी, अतः अनन्तकथायामरसस्य
ब्रह्मजन्मभिः कर्मापयोगिरपि न किञ्चित् । ननु तथाप्युत्कर्षहेतुः लोके तद्व्यतीति शुक्त्या बाधेऽपि
प्रसिद्धैव उत्तमफलत्वं पर्यवसानविधया कल्प्यत इति चेत्तत्राह अनन्तकथायां रसयुक्तस्य पूर्वोक्त-
ब्रह्मजन्मभिः न कोपि पुरुषार्थः साधनीयः । ततोप्युत्कर्षस्यैव साधनदशायां च फलस्य सिद्धत्वात्
कर्मापेक्षयापि मत्तयैव ज्ञाने अधिकोपकारकरणाच्च ॥ ५९ ॥

We praise कालिदास, Shakespeare and other poets, for being able to understand
and vividly describe the various fine subtle emotions of the human heart, but so
long as these emotions emanate from the senses, they are opposed to the मोक्षमार्ग,
because all attachment is to be cut asunder by असङ्गः* But when we learn from
उपनिषत्सु that God is रस as opposed to लौकिकद्वन्द्वियजन्यविवय, that रस is अलौकिक
and नित्य as opposed to विषय which is अनित्य, सविन्न, अल्प and मातृक, we begin to have a
glimpse of "नित्य नैतन नित्यलीला मुक्ति न पामे पार" "क्षणे क्षणे यत्कृतमुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।"
We can then and then only appreciate रासलीला of श्रीमद्भागवत, जयदेव's गीतगोविन्द,
शुद्धिमेहेता's बाललीला, सुरत संप्रदाय, चादुरी बोधसी, दानलीला, राससहस्रपथी, शृङ्गारमाला, and हीरोलापद्,
श्रीविहङ्गेश्वर's शृङ्गारसमञ्जन, and poems and कीर्तनसु सरदास, परमानन्ददास and other अष्टसङ्गाह.
Mere imagination and passion-play have no deeper foundation, and hence Plato
as well as श्रीमद्भक्त्यास have rightly discarded poetry from their philosophy.

वैदिकीय is one of the most important उपनिषत्सु as it narrates फल. The reader
must carefully study it.† From the four पुस्तक-अवसय, प्राणस्य, मनस्य and चित्तजन्य, it
leads us finally to the आनन्दमयपरमात्मन्, and the enjoyment of सर्वान् कामान् with
this विषयिद् ब्रह्मन् is the crowning glory of the soul. This रसरूपता is again described
in the तामसप्रमेयप्रकरण, viz, 12 to 18 अध्यायसु of श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध. This रसरूपता is

* Cf. वेदात्मतन्मः कर्म तु विषयभ्याश्चोत्तरेण । do.

† वैदिकीयोच्यते with मत्तयैव जयगोपबन्धु is published by Mr. Toliwala. आनन्दव्यवापिपरममय
may also be read with advantage.

again clearly described in the verse महात्मनः (१०. ४०. १०.) where all the ten ras including the भक्तिरस are mentioned. That कृष्ण Himself is this रसरूपक and परब्रह्म is clear from the three distinguishing characteristics given in श्रीमद्भागवत viz; जम्बूजल, सृष्टाभक्षणील and दामोदरलील. In the first two, He shows all the महात्मास in His mouth, including the sun, the moon, stars etc., which is shown by no other अवतार, it being peculiar to ब्रह्म only, and in the third, He, in the form of a child, could not be bound by any length of ropes, because they were all within Him, He alone being Immeasurable. Here श्रीब्रह्मप्रार्थना says:—(भागवत १०.१. १२-१५)

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥ १३ ॥
तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ।
गोपिकोत्सृज्यते दाम्ना बन्धनं प्राकृतं यथा ॥ १४ ॥
तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः ।
द्व्यङ्गुलोनमभूत् तेन सन्धयेन्यध गोपिका ॥ १५ ॥
यदासीत् तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्धये ।
तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद्यदादत्त बन्धनम् ॥ १६ ॥
एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्धयत्यपि ।
गोपीनां सुसम्यन्तीनां सम्यन्ती विस्मिताभवत् ॥ १७ ॥
स्वमातुः स्निग्धाग्राथा विस्मस्तकबरस्रजः ।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने ॥ १८ ॥
एवं प्रपरीता सङ्ग हरिणा भक्तवश्यता ।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥ १९ ॥

शुकोपि तां दूषयन्नैव बन्धाभावे परमार्थतो युक्तिं प्रदर्शयति न चान्तरिति, भगवति बन्धाभावो द्वेषापि भवति, भगवत्स्वरूपविचारेण बन्धनसाधनस्वरूपविचारेण च, तत्रादौ स्वरूपं विचारयति । बन्धनं हि कार्यद्वयं सम्पादयति बहिर्निरोधमन्तस्तापं च, तत् तस्यैव भवति यस्यान्तर्बहिर्भावो भवति, भगवांस्तु पूर्णः सर्वं व्याप्य तिष्ठतीति न कस्मादपि भगवानन्तर्भवति, निरवयवत्वाच्च न कोपि तस्य परिच्छेदकः, अकारावन्तःशब्दव्यवहार्य आकाशोतः स शब्दोपि भगवति न प्रवर्तत इत्युक्तम् । अन्तर्यामि-प्राक्षणे सर्वान्तरो भगवानुक्तो न तु भगवतोन्तरं कथित् । सर्वान्तरः केनान्तर्भावमापद्यते ? आचार-त्वे तु नान्तरभावना, रूपादिषु तथोपलब्धेः । न हि फलस्थान्तःस्वरूपं तिष्ठति बीजवत्, तथा सत्यदृश्यः स्यात्, अतो न केनाप्यंशेन भगवतोन्तरमस्ति, नापि बहिः, व्यापकत्वात्, बहिःस्थित एवा-काशोन्तस्तिष्ठतीति नाकाशाच्च बहिरस्ति किञ्चित् । अनेनान्तःकरणे खेदो बहिरावरणं वा नास्तीत्युक्तं । किञ्च बन्धनं हि वेष्टनात्मकं, तद् दिग्दिग्गो सति भवति, निरवयवत्वानिरूप्यस्य स्वत एव मासमानस्य ज्ञातृज्ञेयभावतिरोपायकस्य केनाप्यंशेन पूर्वभावोपरभावो वा न सम्भवति । अनेनैव दक्षिणोत्तरमावा अपि परिहृताः । सर्वत्र स्थितः पूर्वापरभावमेव न मन्यते, अतः स्वरूपकृता वा दिक्कृता वान्तरादिधर्मो भगवति न सन्तीति न बन्धसम्भावना । साधनस्वरूपविचारेणापि न भवतीत्याह पूर्वापरमिति रज्ज्वादीनां पूर्वभावे परभावे चायमेव वर्तते, तत्र यशोदैव प्रमाणं, भगवति सर्वं दृष्टवती यतः,

सर्वस्यापि भगवान् बहिरपि भवति व्यापकत्वात्, अन्तरपि भवति सर्वान्तरत्वात्, अकारात् स्वरूप-मपि । किञ्च जगतो य एतावान्, यतो जायते गच्छति चेति जगत्, यदि भगवानेतावन्न स्यात् कथं जगद् भवेत् ? पूर्वभावाभावे न भवेत् परभावाभावे न गच्छेत्, जगतश्चेद् भगवान् बहिर्न भवेद् जगति गच्छति गच्छेद्, यदि सर्वान्तरो न भवेत् जगदिति विशिष्टं सर्वप्रतीतिसिद्धं न भवेत्, अन्तःस्थितभगवद्दर्भैरेव जगतो विवक्षितधर्मवत्त्वात् । किञ्च यो जगत्, न हि स्वात्मना स्वयं बद्धो भवति, तथा सति बन्धकानां वैयर्थ्यापत्तेः । किञ्च जगन्मयोयं सर्वमेव जगद् व्याप्य तिष्ठति, एतदाज्ञैव जगत् कार्यं करोति, ततः कथमयं स्वबन्धने जगत् प्रेरयेत् ? अतो न केनापि प्रकारेण भगवतो बन्धनमस्तीति निश्चिन्ता भक्ताः ॥ १३ ॥ तादृशं योन्यथा विचारयति स निष्फलप्रयासो भवतीति तां दूषयन्नैव तस्याप्यज्ञानमाह तमिति, तं पुराणपुरुषोत्तममात्मजं स्वशरी-राज्ञातं मत्वा दाम्ना बन्धनेतिसम्बन्धः । देहस्तु प्राकृतस्तस्या इति तजातः सुतरां प्राकृतो भवति । ननु क्वचिन् महान्तोपि पुत्रा जायन्ते देवादयोपि ततो लोके कारणवैलक्षण्यस्यापि दृष्टत्वात् कथमात्म-जत्वे तथा कर्तुं शक्यत इति चेत् तत्राहाव्यक्तमिति, न केनाप्यंशेन व्यक्तं, ये हि महान्तो भवन्ति ते स्वधर्मान् प्रकटीकुर्वन्ति यथा भरतादयः, भगवांस्तु तथा न करोतीति प्राकृतबुद्धिस्तेषां ददा, मध्यमावस्थानामेव तथा करणं न तु परमकाष्ठां गतस्य । किञ्च यदि गुप्त एव संस्तुष्णीं तिष्ठेत् तथापि सन्देहः स्यादन्यवाक्येन वा माहात्म्यं जानीयुः, प्रत्युत भगवान् विपरीत-धर्मान् बोधयत्यतः कथं प्रतीतिरित्याह मर्त्यलिङ्गमिति, मर्त्यस्यात्यन्तप्राकृतस्य लिङ्गानि यस्मिन्निति, तथैव स्वरूपं गुणांशेष्टं च प्रदर्शयतीत्यर्थः । ननु तथाप्यत्यन्ताभिज्ञा यथा नटं परिचि-न्वन्ति तथा सर्वविलक्षणानन्तगुणवत्त्वादानन्दभयत्वाच्च कथं न ज्ञायत इत्याशङ्क्याहाधोक्षजमिति, अधोक्षजं ज्ञानं यस्मादिति, न हि भगवान् गुणा वा कस्यचिदपि चक्षुर्गोचरा भवन्ति, इच्छा तु नास्तीत्यवगम्यते विरुद्धप्रदर्शनात् । किञ्चैवं च यशोदा गोपिकातिप्राकृतरूपा, अतोभिज्ञा कथं जानीयात् ? उल्लूखलोपरि पादं दत्त्वा भगवान् श्रीङ्गति, अग्रेष्व नाभिर्भवति, अतो भगवान् गोकुलस्थितमुल्लूखलं स्वाश्रयत्वेन ज्ञापयितुमत्र बन्धनं कारितयान् गोपिकायास्तु बुद्धियेयान्यत्र न गच्छतीति । दाम पशूनां बन्धकं, नल्लूखलदामहस्तापिष्ठितदेवानां कथं तूष्णीम्भावः ? तत्राह प्राकृतं यथेति, तेषामपि बुद्धिर्भगवता तथा सम्पादितेति ॥ १४ ॥ अयं देहाकारेण भासमान एव भगवान् सच्चिदानन्दरूप इति गुणोपसंहारन्यायेन “न चान्तर्न बहिर्यस्य”त्यादिधर्मा अस्यैवेति ज्ञापयितुं बन्धनेप्युपायं वदन् भगवान् सामिबद्धो जात इत्याह तदागेति, भगवता स्वस्मिन् दोषद्वयं प्रदर्शितं तत्पुत्रत्वमपरा-धश्च, तदा रज्जुरन्तर्बहिःस्थितं भगवन्तं तिरोहितं मत्वा वेष्टनं कृतवती स्वयं बहिःस्थितान्तःस्थितस्य भगवतः, तदाह तदाम बध्यमानस्येति, अन्यथा बहिरपि रज्जुर्न भवेद् वेष्टकमपि न भवेत् । तथापि परितो वेष्टनरूपा न जाता, पूर्वापरयोर्भ-गवत एव सत्त्वात्, अतो द्व्यङ्गुलं न्यूना जाता । लोकपरिमाणे प्रथमपरिमाणमङ्गुलिः, तत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावादल्पवैलक्षण्ये महतो योजनायामाश्चर्यमपि भवतीति द्व्यङ्गुलोनमेवाभूत् । रज्ज्वाद्यन्तयोर्भ-गवान् स एवायं क्रोडीकृतः, न तु ततः केनापि धर्मेण भिन्न इति ज्ञापयितुमेवमाह व्यापकत्वस्य दर्शनार्थमेव तिरोभावाद् रज्जुस्थूलतायामपि नोदरस्थौल्यं, प्रतिबिम्बादौ तथोपलब्धेः, अतो वैलक्षण्यज्ञानात् तेनान्यदपि दाम तावत्प्रमाणकं सन्धये योजितवती । अकाराद् विसदृशमपि ततोपि स्थूलम् । नन्दङ्गुलद्वये न्यूने किमित्येतावद् योजितवती ?

तत्राह गोपिकेति, मौढ्यं तस्या अनुवर्तत इति ॥ १५ ॥ तत किमप्यदित्याशङ्कामाह यदासीदिति, उभयोः सम्बन्धे पुनः सैकैव रञ्जिता, तदाह यदासीदिति, उभयोः सम्बन्धे यदेकमासीदित्यर्थः, तदपि पूर्वोक्तन्यायेनैव न्यूनमासीद् ब्रह्मलं तेनापि विशिष्टेन पुनरन्यत् सन्देहे तद् तृतीयं, तदपि ब्रह्मलमेव न्यूनं, "त्रिवृत्त्या हि देवा" इति, भगवतो जगदाद्यन्तःस्थितिर्वारत्रयं प्रदर्शिता । मानुषभावं ततोपि बहुवारं कृतवतीत्यनुवदति यद्यदादत्त बन्धनमिति, यद्यदेव योजनार्थं गृहीतवती तत्तदेव ब्रह्मलमेवमभूत् ॥ १६ ॥ सर्वा एव गोप्योङ्गणमध्ये तथा करणाद् द्रष्टुमागताः, ता अद्यापि तथा न निरुद्धा इति तदा स्मयन्त्यो जाता गर्विष्ठाः सन्मुखा वा स्वस्यापि भुजबन्धनादिकं भावविषयन्त्यः सुस्मयन्त्यो जाताः । गृहस्थसर्वदामन्ययीकरणेपि न बन्धनं निवृत्तमित्याहैवमिति पूर्वोक्तन्यायेन सर्वाण्येव दामानि योजितवती, यतो यशोदा यशो ददाति घति वा, सन्देहव्यपि ब्रह्मलन्यूनभावाद् विस्मिताभवदिति सम्बन्धः । यशोदागृह एव भगवता पुत्रत्वमपराधश्च दर्शित इति तद्देहदामन्येवान्तर्बहिर्भगवत्सिरोभावात् सम्बद्धानि न तु गेहान्तरस्थितानि, अन्यासां तु तदर्थप्रवृत्तिरेव नास्ति, अन्तर्बहिस्सिरोधानाभावात्, रञ्जनामानयनं यशोदाकर्तृकमेव, न हि तादृश्या अन्यः सहायं कर्तुमर्हति । पूर्वं तु वारद्वयत्रययोजनायां रोषे गते स्मयन्ती जाता, ततोपि बहुवारयोजनायां विस्मिता चाभवत्, आश्चर्यं प्राप्तवती, ततो रञ्जनामन्त्रेणार्थं निर्वन्धेन यत्र कृतवती ॥ १७ ॥ ततः सामर्थ्याभावे गोपिकानां समक्षं परमलज्जां प्राप्य भगवानससङ्कल्पा मृतप्रायासीत् । तदा भगवान् परमकृपालुस्तादृशदुष्टेष्वपि सद् बुद्ध्यायुक्तमपि कृतवानित्याह स्वमातुरिति, ततो भगवान् कृपया स्वबन्धन आसीदिति सम्बन्धः । तत्र कारणत्रयमाह स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्मस्तकबरस्रज इति । मातुर्हि परितोषः कर्तव्यः, "मातृदेवो भव" "एष्यो माता गरीयसी"ति वाक्यात् । नापि तस्या अपत्यान्तरमक्षि यो ह्युपस्थितं दुःखं निवारयेत् यत् इयं स्वस्यैव मातातो मातृत्वं ख्यापयित्वा तस्या दुःखमसहमानेन तथा कृतम् । किञ्च गोकुलवासिनां खेददरीकरणार्थमागतो भगवान् स कथं स्विस्रगात्रायाः सर्वाङ्गे जातस्वेदाया न परिश्रमं दूरीकुर्यात् ? किञ्च गोकुलवासिनां सर्वसौभाग्यदानार्थमागतः स कथं विस्मस्ताः कबरत् केशपात्रात् स्रजो यस्यास्तादृशीं परयेत् ? अनेन सर्वाभरणानामेव तिरोभावः सूचितः । एवमेतादृश्याः परिश्रमं दृष्टेत्सतः पर्यटनं खेदः प्रखेदो मुखशोषो महती च ग्लानिरित्यादिः परिशब्दार्थः । तत्रापि भगवान् कृष्णः सदानन्दोऽनुभूतदुःखो दुःखितानामसमक्षः परदुःखमपि न पश्यति तदपूर्वं यशोदादुःखं दृष्ट्वा कृपया व्याप्तो मात्रार्थं स्विस्रगात्रार्थं स्वगमावार्थं च स्वस्यैव स्वयं बन्धकरूपगुणाङ्गुलत्रयभूतो जातः । द्वाभ्यां परितमङ्गुलमात्रं च बन्धनं जातं, तदा स्वस्यैव स्वयमेव बन्धने जात आसीत्, प्रकरणाद् गृहीत इत्यवक्तव्यत्वाशोकम् ॥ १८ ॥ ननु किमर्थं भगवानेतावत् कृत्वा बन्धनरूपो जात इति चेत् तत्राहैवमिति, एवमपकारिणि लोके स्वकीयत्वमात्राभिमानेनाप्येतावतीमभूतपूर्वा कृपां करोतीति स्वस्य भक्तवदयता प्रदर्शिता । प्रदर्शनस्यापि प्रयोजनमाह हरिणेति, स हि सर्वदुःखहर्ता तत्त्वसिद्धयर्थमसम्बन्धेन दुःखहन्तुत्वेतिप्रसङ्गात् संसारविलयः स्यादिति सम्बन्धार्थं कृपालुतां प्रदर्शयति, कृपा च सर्वधर्मधर्मिभ्यो बलिष्ठेति वक्तुं भक्तवदयता शब्देनैवोक्ता । ननु भक्त्या चेद् धर्मधर्मिणासुपमर्दः क्रियते तदा स्वरूपस्य प्रच्युतत्वात् फलाभावात् प्रदर्शनमपि व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्याह स्ववशोनापीति, स हि स्ववश एव न केनाप्युपमर्दः, अनेन फलसाधकत्वमुक्तम् । फलरूपत्वमाह कृष्णेनेति, नन्वेवं कृतेन्यो

महान् ब्रह्मादिर्न भंस्ते ततो माहात्म्यस्य न्यूनभावात् तथा फलत्वमित्याशङ्क्याह यस्येदं सेम्बरं वशा इति, तत्तदधिष्ठातृदेवतासहितं सर्वं जगद् यस्य वशे, अतो नान्यथाभावं केनचिदपि कर्तुं शक्यमिति भावः ॥ १९ ॥

Thus the aim of श्रीवृद्धभावाचर्य is to take the soul into the Presence of God, and to bring back the आनन्द which is तिरोभूत in जीव. For this, जीव has to forget the जगत् in which he is placed and remember his source ब्रह्म or कृष्ण—प्रपञ्चविस्तृतिपूर्वकभगवत्प्राप्तिके. This can be achieved by कृष्णसेवा which must be मानसी, the steps leading to मानसी being तदुज्जा and वित्तज्ञा सेवा. This he has to do अव्याहृत, because his body is supported by कृष्ण, who has promised 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'. In order that he may get the true फल of his सेवा, he must be free from उद्वेग, प्रतिबन्ध and लौकिकमेव. It is thus that सेवा becomes आधिदैविकी, and he realises कृष्णसाक्षात्कार. He realises also that मोक्षोपि सर्गः, the whole लीलादृष्टि he gets in direct communion with, and following in the footsteps of 'एताः परं तदुभयो मुनि गोपवचो गोविन्द एव निश्चिन्तामनि रुढभावाः' he becomes a part and parcel of the रसरूपपरब्रह्म and eternally enjoys indescribable bliss with Him.

Let us hope these stray notes will guide the reader in understanding to a certain extent गुष्टिमार्गं, in which भगवान् Himself is both साधन and फल, and will lead him to an appreciation of the परिशिष्ट. According to the विस्फुरिग श्रुति, जीव is the अंश of ब्रह्मन्, and it is clear that यो यदंशः स तं भजेत्. This अंजनानन्द begins after उद्धार from ब्रह्मानन्द and is the Eternal Sport of the मुक्त soul with परब्रह्मन्, which is आनन्दमय. These souls also are specially elected for His सेवा:—

उत्साञ्जीवाः पुष्टिमार्गं भिक्षा एव न संशयः ।

भगवद्रूपसेवार्थं तत्तुष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥ १९ ॥

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च ।

तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत् क्रियासु वा ॥ २३ ॥

तथापि यावता कार्यं तावत्तस्य करोति हि । (गुष्टिप्रवाहमर्वादा) .

In this सेवा he gets अलौकिकसाधनार्थं. He becomes भोक्ता, while परब्रह्म becomes गौण—सोऽश्रुते सह ब्रह्मणा, which idea itself is so very enchanting, and in संयोग and विप्रयोग, in one of the ten stages of रसशास्त्र, going through various अनुभावस and संचारिभावस, he is always in रससमुद्र, सोऽश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता.

Though we have given here very long quotations, we are aware that they are quite inadequate to give a clear idea of गुष्टिमार्गं, but if the reader is able to get a glimpse of what these great religious teachers mean to say, and if he is inclined to think and inquire and work on these lines, we have given him an idea of almost all the sources, and in course of time, we may expect to see a complete treatise published on the subject.

We again express our gratefulness to God for giving us strength to complete this volume, and with feelings of joy, we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Lord Shri Krishna.

ज्येष्ठामिनेकः

१९०५.

Dhirajlal Vrajdas Sanklia.
Jamnadas Kanji Morparia.
Hiralal Mooljee.
G. P. Merchant.
Purshottam Kanji Morparia.

Editors' Note.

We are glad to be able to put before the public this fifth volume of भाष्य-प्रकाश-रश्मि containing the प्रथम and द्वितीय पाद of चतुर्थोप्याय. श्रीपुरबोत्तमजी states in प्रकाश on ३. २. ३४ 'इत आरभ्य प्रभूणामिति प्रतिभाति.' The internal evidence of the difference in language is sufficient by itself to convince the reader that the author of this portion is different from the author of the previous portion. Again, the interpretation of जगत्पापारजम् (४. ४. १७) given here is different from the one suggested in सुबोधिनी on ३. ४. १२. which is as follows:—'उत्सृजन्तमित्यनेन स्रजन्तमूर्ध्वं सृजन्तं चेत्यर्थद्वयं विवक्षितम् । तेन यागप्रयोजनं मङ्गावक्ष्य एकरूपो भवति । मङ्गावेत्येतद् द्वयं कर्तव्यम्, गुप्ततया स्थित्वा विश्वजननं सर्वलोकपरित्यागश्च । त्वज्जन्मनश्चरमत्वादेव परित्यागः सिद्धः । मङ्गात्वेन जगज्जननमवशिष्यते । तत्र मत्संयुज्ये जगज्जनन-मन्यथासिद्धं भवति, एकीभावश्रुतेः । यथा सर्वांसामयां समुद्रएकयनम्, इति । निश्चयतया ब्रह्मभावे जगद्गुणापार-वर्जमिति न्यायात् जगत्कर्तृत्वम् । अतः सर्वांशिरोधेन मङ्गात्वेन जगज्जननं यथा सिध्यति तथा वक्ष्यामि ।' Here जगत्पापार is clearly used in the sense of जगत्कर्तृत्वम्. In भाष्य ४. ४. १७. we find as under:—'ब्रह्मणा सह भोगकरणं लौकिकव्यापारयुतसुतसुत नेति संशये तस्युतमिति पूर्वः पक्षः । तथा सति मुक्तिव्यवहार पूर्वोक्तमनुपपन्नम्, इति प्राप्ते, आह जगदित्यादि । पूर्वोक्तस्य जगत्सम्बन्धी लौकिको यो व्यापारः कायवाच्यनसा तद्वर्जं तद्वदितं भोगकरणम् । तत्र हेतु आह प्रकरणादसमिहितत्वात् । ब्रह्मविदाप्रोति परमित्युक्तमेव मुक्तिप्रकरणात् तत्र लौकिकव्यापारोऽसम्भावितः । लीलयाः कालमायाद्यतीतरत्वेन प्राकृतं जगद्भूततरम्, इति हेतुर्न तत्संभनः । Here the question discussed is whether the भोगकरण mentioned in the श्रुति 'सोश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' is लौकिक, and प्राकृत, or जगत्पापारजम्, viz. अलौकिक. If the author were one and the same, he would have at least given both the meanings.

If there is any doubt still left in the mind of any one, it is set at rest by the हस्ताक्षर copy of the भाष्य of श्रीविठ्ठलेश्वर now at श्रीनाथद्वार. It contains a few pages of तृतीय अध्याय, and the whole of चतुर्थोप्याय with somehraaks. When our late Editor Mr. Mulchandra went to श्रीनाथद्वार, he compared a copy of the Calcutta Edition of the अष्टाध्याय with it, and brought the corrected copy with him to Bombay. But at the time of printing, we compared it with five old copies of भाष्य, and many doubts were raised, and hence we requested तिलकाक्षित श्रीगोबर्धनलालजी and श्रीदामोदरलालजी, and they were kind enough to arrange to send the हस्ताक्षर copy to Bombay for a fresh comparison. Thus we got one more opportunity of comparison and some more corrections were made. We have thus got an unique opportunity of publishing all the three works भाष्य, प्रकाश and रश्मि with the help of original manuscripts, and we have done our work with utmost delight, as well as greatest care and devotion

The हस्ताक्षर copy had to be returned, but we find that it is necessary to have it here for ready reference. We have again requested श्रीदामोदरलालजी, and he has promised to send it.

Now, what are the facts found on a careful examination of the हस्ताक्षर copy? We find that the leaves of the manuscript are divided into separate groups. A slip of paper is attached round each group, and on each of these slips are mentioned the portions of भाष्य which they contain. The hand-writing on these slips we find to be of श्रीपुरबोत्तमजी, and we immediately perceive that 'इत आरभ्य प्रभूण' was written by him after a careful examination of the हस्ताक्षर manuscript itself, and our soul does homage to his genius, faculty for research, his carefulness and service to Sanskrit literature. We know that besides this भाष्य, he has also found and preserved the पाण्डुलेख of श्रीद्विषणी, and he has traced one leaf of पत्रायकम्बन in श्रीवल्लभाचार्य's हस्ताक्षर. Let us now remove the slips of paper, and turn to चतुर्थोप्याय. The first page is written on both the sides as usual, and let us put it aside for a moment and take the second page. It is peculiar and immediately draws our attention. It was originally numbered १, which is subsequently changed into २. On one side only a few lines are written as under:—

श्रीगोपीजनबल्लभाय नमः ॥ आश्रितिरसङ्गुपदेशात् ॥ श्रुतिर्हि कर्मज्ञानमर्षीः हीनमन्यमोत्तमाधिकारिणः प्रति कमेण कर्तव्यत्वेन निरूपितवती । तत्राद्यस्या (चित्तशोधकत्वेन ज्ञानस्य पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यसाधनत्वेन भजेः) (साक्षात् पुरुषोत्तमप्रापकत्वेन साधनत्वमिति तृतीयेऽध्याये बाह्यरायणेन तत्तात्पर्यं निर्णीतं । अथ तृतीयेऽध्याये तत्तात्पर्यं लक्षणं निर्णीतं) (ते । तत्र कर्मसामान्यं चित्तशोधकमुत तद्विशेष इति संशये विहितत्वाविशेषात्सामान्यं त) दी फलमुच्यते । आश्रितिरसङ्गुदिति । जन्मप्रवाहः कर्ममार्गस्य फलं । तत्र हेतुरसङ्गुपदेशादिति । आश्रयसाङ्गुदिति ।

This is the beginning of the चतुर्थोप्याय, and we find that the author's thoughts were not quite settled, so he made changes again and again and then left it, and he turned over to the other side of the page and began writing and he wrote as under:—

आश्रितिरसङ्गुपदेशात् । श्रुतिर्हि कर्मज्ञानमर्षीः साक्षात्परंपरानेदेन पुरुषार्थसाधनत्वेन हीनमन्यमोत्तमाधिकारिणः प्रति कर्तव्यत्वेन प्रतिपाद्यति । तत्र &c. The reader will find that this is from the beginning of the second interpretation of the first two सूत्र of चतुर्थोप्याय. He began here and went on till the end. So, what is second interpretation (प्रकारान्तरेण सूत्रार्थं उच्यते) was the only interpretation when first written.

Now let us look at the first page. It begins as under:—'श्रीकृष्णाय नमः ॥ समन्वयेनाविरोधात् साधनैर्ब्रह्मविद्येति । तस्याभिमन्वयवस्था या' &c. All the कारिकास are written in running lines. After the कारिकास are over, we find 'अस्य फलप्रकरणत्वेपि साधनत्वस्यापि प्रवचनसात्तरंगत्वं ज्ञापयितुं तन्निर्धारयाम्याह ॥ ॥ आश्रितिरसङ्गुपदेशात् ॥ आत्मा वारे' &c. The last lines

on the first page are as under:—‘तथापि शाब्दकमादायकम्नो क्लीयानिति न्यायाद्द्रष्टव्य इति पदस्य पश्चात्संबन्धिं तूकरीतिर्नावसरे प्राप्नोतीति प्रकृतविचारस्य फलप्रकरणसंगतत्वमापत्तीति प्रकारान्तरेण सूत्रार्थ उच्यते ॥’ Here ends the first page. The reader will find that all this is exactly as we find in the present manuscripts, and we cannot but come to the conclusion that the whole of the first page containing the कारिका and the first interpretation of the two सूत्र is subsequently added.

This leads us to the further question as to whose these कारिका are? Whether they were composed by श्रीब्रह्मभार्य, and श्रीविद्वत्शेखर having found them subsequently, incorporated them in his own work, or whether they are the composition of श्रीविद्वत्शेखर himself? In सुबोधिनी on ३. २५. ३३, we find as under:—‘पश्चामिद्विद्यायां ज्ञानोपयिकवेदसिद्धिर्निरूपिता, तस्मिन् देहे ज्ञाने जाते सुखिर्भवतीति तस्य च ब्रह्मविदो ‘जीवतो त्रियमाणस्य गच्छतः सन्नतस्य च’ व्यापारा निरूपिताः । सद्योसुखावपि सायुज्यं निरूपितम् ।’ The words जीवतो त्रियमाणस्य गच्छतः च are repeated in the second कारिका, and hence the doubt. Our opinion is that the words as well as the thought expressed therein are both very common, and at the most, they may have acted as मार्गदर्शक, but the language of the कारिका is quite different from that of the कारिका of श्रीब्रह्मभार्य, which are very concise. We therefore think that the whole is the composition of श्रीविद्वत्शेखर himself. In श्रीटिप्पणी also we have seen that the सन्नतकरण is added subsequently.

This is फलभ्याय, and the फल that is realised by ब्रह्मविद, while he is living, is described in प्रथमपाद, his state while dying is described in द्वितीयपाद, his state in the journey is described in तृतीयपाद, and the final condition is described in चतुर्थपाद. The फल varies in मर्यादाभार्य and पुष्टिमार्ग, as well as in कर्म, ज्ञान and गणितमार्ग. A very lucid analysis of the whole is given by श्रीपुरुषोत्तमजी in वेदान्ताधिकरणमाला, and hence we refrain from repeating the same here.

We tender our heart-felt thanks to all those who have helped us in our work, and with feelings of joy we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Lord Sri Krishna.

Dhirajlal Varajdas Sankalia.
Jamnadas Kanji Morparia.
Hiralal Muiji.
Govardhandas Pragji.
Purshottam Kanji Morparia.

ब्रह्मसूत्राणुभाष्ययोः प्रकाशरश्मिटीकोपेतयोः

विषयानुक्रमणिका

(चतुर्थीध्यायस्य)

| | |
|---|----------|
| विषयः | पृष्ठानि |
| प्रथमः पादः | १-५३ |
| [१] आवृत्त्यधिकरणम् | [१-१३] |
| १. आवृत्तिरसकृतुपदेशात् (४।१।१) इति सूत्रं. कारिकाभिः भाष्यो- पक्रमश्च. “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्या- सितव्यः” इत्यादिवाक्यैः विहितं श्रवणादिकं सकृदेव कर्तव्यम् उत असकृद् इति संशयः. तत्र सकृदेव इति प्राप्ते “पेतदात्म्यमिदं सर्वं सत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि” इति जडजीवयोः ब्रह्मात्मक- त्वस्य नवकृतोपदेशोपलब्धेः असकृदेव कर्तव्यम् इति सिद्धान्तः | १-९ |
| २. लिंगाच्च (४।१।२) सूत्रं, भाष्यञ्च | ९-१० |
| ३. एतयोरेव सूत्रयोः वर्णकान्तरेण व्याख्यानं भाष्यादिषु. कर्मज्ञानभ- क्तीनां त्रयाणामपि श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेपि ज्ञानभक्तयोः फलतः उक्त्यर्थः. ज्ञानभक्ती विना कर्मकरणे पुनर्जन्मात्मिका आवृत्तिर्भवति तस्य हेतुः असकृदुपदेशात् तथाहि “प्राप्यन्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययं तस्माद्धोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे” इति पुनरुपदेशाद् इति | ११-१३ |
| [२] आत्माधिकरणम् | [१३-२८] |
| १. आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च (४।१।३) इति सूत्रं, भाष्ये अत्रापि वर्णकद्वयेन विचारः अत्र द्विविधं ज्ञानफलं विचार्यते. तत्र मुख्यं तु आत्मप्रवेशरूपं फलम् अनन्तरं द्वितीयं तु अधिकारिषु उपस्थितेषु तेभ्यो भगवदाज्ञया ज्ञानोपदेशरूपम् अवाप्तरं फलम् इति प्रथमे वर्णके. द्वितीये तु “न स पुनरावर्तते” इति श्रुत्यु- क्तम् अनावृत्तिरूपं फलं ज्ञानभक्तयोः उक्तं तत्र आवृत्त्यभावस्तु पुनः सावधिकः निरवधिको वा इति संशये सावधिक इति पूर्वपक्षः निरवधिक इति सिद्धान्तः | १३-२० |

विषयः

पृष्ठानि

२. न प्रतीकेन हि सः (४।१।४) इति सूत्रं भाष्यञ्च २०-२२
३. ब्रह्मदृष्टिरुक्त्वात् (४।१।५) इति सूत्रं भाष्यञ्च २२-२४
४. प्रकाशे अन्येषां मतानि अनूय आलोचितानि २४-२८
- [३] आदित्याद्यधिकरणम् [२९-३६]
१. आदित्यादिमत्यश्चांग उपपत्तेः (४।१।६) इति सूत्रं, भाष्ये “अथ होवाच सत्ययज्ञं पौत्रिषिं प्राचीनयोग्यं कं त्वमात्मानमुपास्व इति आदित्यमेव भगवो राजन्निति...कं त्वमात्मानमुपास्व इति वायुमेव भगवो राजन्निति” इत्यादिभिः प्रश्नभेदेन वक्तृभेदेन आकाशापः-प्रभृतयः आत्मत्वेन उपासनाविषया उक्ता, तथा मधुविद्यायामपि “असौ वा आदित्यो देवमधु य एतमेवं विद्वान् आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते” इति अत्र संशयः प्रतीकोपासनमिह अस्ति न वा इति, अस्ति इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु आदित्यादौ ब्रह्मत्वमतयः प्रतीकोपासनः न भवन्ति साकारस्यैव ब्रह्मणो व्यापकत्वात्, न हि साकारव्यापकस्य ब्रह्मणो अंगं न ब्रह्म इति न प्रतीकोपासना इति २९-३४
२. आसीनः सम्भवात्, ध्यानाच्च, अचलत्वं चापेक्ष्य, स्मरन्ति च (४।१।७-१०) इति सूत्राणि भाष्यञ्च ३५-३६
- [४] यत्रैकाग्रताधिकरणम् [३७]
१. यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् (४।१।११) इति सूत्रं, भाष्ये बहिरन्तर्भगवत्प्राक्प्रवृत्तयोः उपासकयोः तारतम्यम् अस्ति न वा इति संशये अस्ति इति पूर्वपक्षः नास्ति इति सिद्धान्तः ३७
- [५] आप्रायणाधिकरणम् [३७-३९]
१. आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् (४।१।१२) इति सूत्रं, भाष्ये भगवत्प्राप्तिरूपपरमफलपर्यन्तं पुष्टिभक्तस्य एकैव अवस्था अन्तर्विहिः सर्वत्र भगवदनुसन्धानरूपा, तस्य परमफलं च साक्षाद्भगवत्सेवनरूपमेव इति जीवतो पुष्टिभक्तस्य अवान्तर-फलनिरूपणम् ३७-३८
२. प्रकाशे अन्यमतानुवादपूर्वकं तत्र औदासीन्यं सिद्धान्तिनः इति निरूपणम् ३९

विषयः

पृष्ठानि

- [६] तदधिगमाधिकरणम् [३९-४७]
१. तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषत्रिनाशौ तद्व्यपदेशात् (४।१।१३) इति सूत्रं, भाष्ये मर्त्यादामार्गीयसाधकस्य ज्ञानोदयानन्तरं कर्मसंसर्गो भवति न वा इति संशये भवति इति पूर्वपक्षः न भवति इति सिद्धान्तः ३९-४२
२. इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु, अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वं तद्वधेः, अग्निहोत्रादिकं तु तत्कार्यायैव तदर्शनात् (४।१।१४-१६) इति सूत्राणि भाष्यञ्च ४२-४६
३. प्रकाशरश्मी ४७
- [७] अतोऽन्याधिकरणम् [४७-५३]
१. अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः (४।१।१७) इति सूत्रं, भाष्ये “तस्य पुत्राः दायमुपयान्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विपन्तः पापकृत्याम्” इति श्रुत्या दुर्लभाधिकारवतः पुष्टिभक्तस्य विनैव भोगं प्रारब्धनिवृत्तिः भवति न वा इति संशये न भवति इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु भक्त्येव इति ४७-४९
२. यदेव विद्ययेति हि, भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथं सम्पद्यते (४।१।१८-१९) इति सूत्रे भाष्यञ्च ५०-५२
३. पादस्य अस्य इत्युपसंहारांशः ५३
- द्वितीयः पादः [५५-६३]
- [१] वाङ्मनोधिकरणम् [५५-६५]
१. वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च (४।१।१) इति सूत्रं, भाष्ये म्रियमाणस्य पुष्टिमार्गीयस्य ब्रह्मविदो अवान्तरफलनिरूपणप्रसंगे “आत्मकामो आसक्तकामो भवति न तस्मात्प्राणा उत्कामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति” इति श्रुतौ किं प्राणाः युगपल्लीयन्ते उत क्रमेण इति संशये, युगपदेव इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु क्रमणैव भगवति लीयन्ते “तस्यैतस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पन्नन्ते मनः प्राणे प्राणस्ते बसि तेजः परस्यां देवतायाम्” इति श्रुत्यनुसंधानात् ५५-६३

| विषयः | पृष्ठानि |
|---|----------|
| २. अतएव सर्वाण्यनु, तन्मनः प्राण उत्तरात्, सोध्यक्षे तदुपग- मादिभ्यः (४।२।२-४) इति सूत्राणि भाष्यञ्च | ६१-६५ |
| [२] भूताधिकरणम् | [६५-७२] |
| १. भूतेषु तच्छ्रुतेः (४।२।५) इति सूत्रं, भाष्ये त्रियमाणस्य मर्यादा- मार्गीयस्य ब्रह्मविदोपि प्राणाः भगवत्येव क्रमेण लीयन्ते अन्यथा वा इति संशये, भगवत्येव लीयन्ते इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु प्रकारान्तरेणैव इति | ६५-६८ |
| २. नैकस्मिन् दर्शयतो हि (४।२।६) इति सूत्रं भाष्यञ्च | ६८-७२ |
| [३] समानाधिकरणम् | [७३-८२] |
| १. समाना चास्त्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य (४।२।७) इति सूत्रं, भाष्ये तत्तद्भीवेपु पुष्टिमार्गीयत्वं मर्यादामार्गीयत्वम् अनियतं नियतं वा इति संशये, अनियतम् इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु संसृतिम् उप- क्रम्य मोक्षं यावद् नियतं तत्तन्मार्गीयत्वम् इति न मध्ये मार्गसांकर्यम् | ७३ |
| २. तदापीतेः संसारव्यपदेशात्, सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः, नोपमर्देनातः, अस्यैव चोपपत्तेरुपमा, प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्, स्पष्टो ह्येकेषाम्, स्मर्यते च, तानि परे तथा ह्याह (४।२।८-१५) इति सूत्राणि, भाष्ये तु प्रसक्तानुपसक्ततया मर्यादामार्गीयत्वं पुष्टिमार्गीयस्य वैशिष्ट्यस्य, स्वरूपस्य, अलौकि- कत्वस्य, सर्वोत्कृष्टत्वस्य च निरूपणम् | ७४-८२ |
| [४] अविभागाधिकरणम् | ८२-८५ |
| १. अविभागो वचनात् (४।२।१६) इति सूत्रं, भाष्ये पुष्टिमार्गीयस्य नित्यलीलानुभवव्यफलानुभवस्य नित्यत्वम् अस्ति न वा इति संशये, नास्ति इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु नित्यत्वमेव इति “तद्विश्रुतेः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः” इति श्रुत्यनुरोधात् | ८२-८३ |
| २. प्रकाशे अन्यमतालोचनम् | ८४-८५ |
| [५] तदोक्तोधिकरणम् | [८५-८८] |
| १. तदोक्तोप्रज्वलनं तद्व्यकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनु- स्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शशाधिकृत्या (४।२।१७) इति सूत्रं, | |

| विषयः | पृष्ठानि |
|--|----------|
| भाष्ये मर्यादामार्गे विद्वद्विदुषोः अधिकारिणोः देहाद् उत्क्रमण- प्रकारः तुल्यो विप्रमो वा इति संशये, तुल्यः इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु विप्रम एव इति “शतं चैका हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धनिमभिनिस्सृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति” इति श्रुत्यनुरोधात् | ८५-८७ |
| २. अस्य अधिकरणस्य रश्मि टीकायाः उपसंहारांशः | ८८ |
| [६] रश्म्यधिकरणम् | [८८-८९] |
| १. रश्म्यनुसारि (४।२।१८) इति सूत्रं, भाष्ये “अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः विंगलस्याणिमन्तिष्ठन्ति शुक्लस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः विंगल...तमभित आसीना आहुर्जांसासि मां जानासि मामिति स यावद्स्माच्छरीरादुत्क्रामत्य- धैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वम् आक्रमत” इति श्रुतौ उत्क्रमतो रश्म्यनु- सारित्वं यदुक्तं तद् विदुष एव उक्त अविद्वत्साधारणम् इति संशये अविद्वत्साधारणम् इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु विदुष एव इति | ८८-८९ |
| [७] निशित्यधिकरणम्* | [९०-९३] |
| १. निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहादित्वाद्दर्शयति च (४।२।१९) इति सूत्रं, भाष्ये विदुष उत्क्रमे यथा अनुग्रहहृतो विशेषः तथा कालविशेषकृतोपि विशेषः अस्ति न वा इति संशये, अस्ति इति पूर्वपक्षः नास्ति इति सिद्धान्तः अनुग्रहस्य बलीयस्त्वेन कालस्य अप्रयोजकत्वात् न मुक्त्यर्थे कालाद्यपेक्षा | ९० |
| २. अतश्चायनेपि दक्षिणे, योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते (४।२।२०-२१) इति सूत्रे भाष्यञ्च | ९०-९३ |
| तृतीयः पादः | ९५-१५२ |
| [१] अर्चिराद्यधिकरणम् | [९५-१०३] |
| १. अर्चिरादिना तत्र्यधितेः (४।३।१) सूत्रं, भाष्ये “तद्य इत्थं विदुषे चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेर्विप्रमभिसम्मवन्ति अर्चिषो... | |

* इह मुद्रणाशुद्ध्या निशित्यधिकरणस्य अतोऽन्याधिकरणत्वेन उल्लेखः प्रामादिकः पाठः

तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानं पन्था” इति श्रुतौ क्रममुक्त्याधिकारिणो ब्रह्मविदो अर्चिरादिमार्गेण गच्छन्तो अवान्तरफलनिरूपणप्रसंगेन ज्ञानमार्गीयस्यैव मर्यादाभक्तयोः स्यापि अर्चिरादिमार्गेणैव गमनम् उक्तं सश्रोमुक्तिः इति संशये, सश्रोमुक्त्यार्चिरादिमार्गविषये ज्ञानमर्यादाभक्तयोः नियमाभावः इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु अर्चिरादिमार्गेण ज्ञानमार्गीयस्यैव उत्कर्षकथनात् स एव एतेन मार्गेण गच्छति न तु मर्यादाभक्तोपि इति

१५-१०१

२. वायुमब्दाद्विशेषाभ्याम्, तद्धितो वरुणः सम्बन्धात्, वरुणात्वाधीन्द्रप्रजापती (४।३।२-४) इति सूत्रेषु भाष्ये च “स एतं देवयानं पन्थानमापाद्यादिलोकमागच्छति स वायुलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्” इति श्रुत्यन्तरवचनमधिकृत्य विशेष विचारः

१०१-१०५

३. प्रकाशरभ्योः एतदधिकरणोपसंहारांशः

१०६

[२] आतिवाहिकाधिकरणम्

[१०६-११२]

१. आतिवाहिकस्तद्धिगात् (४।३।५) इति सूत्रं, भाष्ये “तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति” इति छान्दोग्यवाक्यविचारप्रसंगे यस्य, कौषीतकिवाक्योक्तः धियुदनन्तरः वरुणादिलोकसम्बन्धः, तं छान्दोग्यवाक्योक्तः पुरुषः ब्रह्म प्रापयति उत न इति संशये, कौषीतक्युपनिषदि तथा अनिरूपणात् न इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु छान्दोग्यवाक्योक्तपुरुष एव कौषीतकिवाक्योक्तं जीवं ब्रह्म प्रापयति इति

१०६-१०९

२. उभयव्यामोहात् तस्मिद्धेः, वैशुसेनैव ततस्तच्छ्रुतेः (४।३।६-७) इति सूत्रे, भाष्यञ्च

१०९-११२

[३] कार्यं बादरिरित्यधिकरणम्

[११२-१३८]

१. कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः, विशेषितत्वाच्च, सामीप्यात् तद्व्यपदेशः, कार्यात्यये तद्व्यपक्षेण सहातः परमाभिधानात्,

* प्रकाशवेदान्ताधिकरणमालयोः एतत्सूत्रत्रयम् अर्चिराद्यधिकरणान्तर्गतं भावप्रकाशिकायां तु श्रीपुरुषोत्तमाः अप्र भिन्नाधिकरणत्वम् इच्छन्ति.

स्मृतेश्च (४।३।८-१२) इति सूत्राणि, भाष्ये “स एतान् ब्रह्म गमयति” इति पूर्वोदाहृत एव वाक्ये ब्रह्मपदेन परमेव ब्रह्म उच्यते उत कार्यरूपो ब्रह्मलोक इति संशये, प्रथमं पञ्चसूत्रैः बादरिमतेन समाधानं, परस्य व्यापकरत्वेन इह वर्णितं गमनं न संगच्छते अतः कार्यरूपं लोकात्मकमेव ब्रह्म इति

११२-११४

२. परं जैमिनिर्मुह्यत्वात्, * दर्शनाच्च, न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः (४।३।१३-१५) इति सूत्राणि, भाष्ये जैमिनिभतेन परमेव ब्रह्म पूर्वोक्तश्रुतौ विवक्षितम् इति सिद्धान्तनिरूपणम्

११५-१३७

३. प्रकाशे भास्करमतालोचनेन उपसंहारः

१३५

[४] अप्रतिकालम्बनाधिकरणम्

[१३५-१४५]

१. अप्रतिकालम्बनाद्यतीति वादरायण उभयथा दोषात् तत्कृतुश्च (४।३।१६) इति सूत्रं, भाष्ये पूर्वोक्तप्रकरणे आतिवाहिककारिता ब्रह्मप्राप्तिः किं सर्वेषाम् उपासकानाम् उत केप्राद्धिदेव इति संशये, सर्वेषामेव इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु अप्रतिकालम्बनानेव आतिवाहिको नयति इति

१३५-१४५

[५] विशेषाधिकरणम्

[१४६-१५२]

१. विशेषं च दर्शयति (४।३।१७) इति सूत्रं, भाष्ये भक्तिमार्गीयाणां ज्ञानमार्गीयाणां च अविशेषेणैव ब्रह्मप्राप्तिः उत गमने विशेषात् फलप्राप्तावपि कश्चिद् विशेषो अस्ति इति संशये, अविशेषेणैव इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु ज्ञानमार्ग-भक्तिमार्गयोः भिन्नत्वात्, भक्तिमार्गेऽपि शुद्धमिश्रपुष्टिभेदात् च यथाधिकारं तारतम्येनैव फलप्राप्तिः

१४६-१४८

२. प्रकाशे इह शांकर-भास्कर-रामानुज-शैव-माध्वमतानां विमर्शः

१४९-१५२

चतुर्थः पादः

१५३-२२५

[१] सम्पद्याविर्भावधिकरणम्

[१५३-१५७]

१. सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् (४।४।१) इति सूत्रं, भाष्ये

* भावप्रकाशिकायाम् एतेषां सूत्राणां भिन्नाधिकरणत्वेऽपि “तेनेदं पूर्वोत्तरपक्षभेदेन एकमेव अधिकरणम्” इति प्रतिपादनम्.

विषयः

पृष्ठानि

- ज्ञानभक्तिद्वैविध्येन, भक्तावपि पुनः शुद्धमिश्रपुष्टिद्वैविध्येन च प्राप्तफलयस्य ब्रह्मविदः वर्णने “ब्रह्मविदानोति परं...सोश्रुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” इति श्रुतौ किं ब्रह्मान्तःस्थितः मुक्तात्मा सर्वकामान् अश्रुते उत पुनर्जन्म प्राप्य इति संशये, “न स पुनरावर्तत” इति अन्तःस्थित एव इति पूर्वपक्षः जीवस्य ब्रह्मसम्पत्तावपि भगवदनुग्रहवशात् स्वरूपात्मकभजनानन्दद्विस्तरायां पुनः आविर्भावः भगवत्कर्तृकः संभवति इति सिद्धान्तः १५३-१५५
२. मुक्तः प्रतिज्ञानात्, आत्मा प्रकरणात् अविभागेन इष्टत्वात् (४।४।२-४) इति सूत्राणि भाष्यञ्च उक्तार्थोपोद्बलकम् १५५-१५७
- [२] ब्राह्मणेत्यधिकरणम् [१५७-१८४]
१. ब्राह्मण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः (४।४।५) इति सूत्रं, भाष्ये पूर्वो-दाहृतवचननिरूपितं सर्वकामाशनरूपं फलं प्राकृतेन शरीरेण उत अप्राकृतेन तेन इति संशये, भोगस्य लौकिकत्वेन तदायतनस्य देहस्यापि लौकिकत्वम् इति पूर्वपक्षः भगवत्स्वरूपानन्दभोगार्थं सत्यज्ञानानन्दात्मकेन अप्राकृतेन ब्राह्मणेन देहेन फलम् अश्नुते इति जैमिनिमतेन सिद्धान्तः १५७-१५९
२. चित्ति तन्मात्रेण तत्रात्मकत्वादित्यौदुलोमिः, एवमभ्युपन्यासात् पूर्वभावाद्द्विरोधं बादरायणः (४।४।६-७) इति सूत्रे, भाष्ये जैमिनिविरुद्धस्य औदुलोमिमत्स्य बादरायणकृतं निराकरणम् १६०-१६२
३. प्रकाशे स्वमतोपोद्बलनेन शांकर-भास्कर-वैशेषिक-सांख्य-रामानुज-शैव-माध्वमतानां विमर्शः १६२-१७६
४. संकल्पादेव च तच्छ्रुतेः, अतएव चानन्याधिपतिः, अभावं बाद-रिराह खेवम्, भावं जैमिनिर्विकल्पामनभावात्, द्वादशाहबहु-भयविधं बादरायणोतः (४।४।८-१२) इति सूत्रेषु भाष्ये च मुक्ता-त्मनां देहादिविषये बादरिजैमिनिवादरायणमहर्षीणां शंकासमाधाने १७६-१८४
- [३] तत्त्वभावाधिकरणम् [१८४-१९०]
१. तत्त्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः (४।४।१३) इति सूत्रं, भाष्ये भगवल्लीलाकाले भूमौ आविर्भूतस्य भक्तस्येव भगवतोपि शरीराद्यव-स्थावत्त्वं न प्राकृतं किन्तु अलौकिकमेव इति निरूपणम् १८४-१८६

विषयः

पृष्ठानि

२. भावे जाग्रदवत् (४।४।१४) इति सूत्रं, भाष्ये प्राकृतानुकृतिः भक्तानामानन्ददायिनी चेद् दिव्या अन्यथा आसुरव्यामोहनाथैव इति निरूपणम् १८६-१८८
३. प्रकाशे इतरेषां मतानां विमर्शः १८९-१९०
- [४] प्रदीपवदित्यधिकरणम् [१९०-१९५]
१. प्रदीपवदादेशस्तथाहि दर्शयति (४।४।१५) इति सूत्रं, भाष्ये अधिकरणत्रयेण फलप्राप्तिं सपरिकरं फलमन्वप्यं च विचार्य फलानुभवोपकरणविचारे भगवद्भोगरूपं फलं जीवस्य सम्भवति न वा इति संशये “न तस्मिन्” इति श्रुत्या भगवत्साग्यासंभवेन भगवद्भोगासंभवात् न संभवति इति पूर्वपक्षः सिद्धान्तस्तु “प्रज्वालितो दीप इव प्रदीपात्” इति न्यायेन भगवदावेशात् संभवति १९०-१९२
२. स्वाप्ययसम्पत्परोरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि (४।४।१६) इति सूत्रं भाष्यञ्च १९२-१९३
३. प्रकाशे शांकर-भास्कर-रामानुज-मतविमर्शः १९४-१९५
- [५] जगद्व्यापाराधिकरणम् [१९५-२२०]
१. जगद्व्यापारावर्जं प्रकरणादसंनिहिताच्च (४।४।१७) इति सूत्रं, भाष्ये “ब्रह्मविदानोति परं...यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” इति श्रुति-वाक्ये ब्रह्मणा सह भोगकरणं जीवस्य लौकिकव्यापारसहितं तद्रहितं वा इति संशये तत्सहितमेव इति पूर्वपक्षः, मुक्तिप्रकरणपठिते भोगे लौकिकव्यापारसाहित्ये मुक्त्युच्छेदः अन्यथा लौकिकव्यापारा-संभवः इति लौकिकव्यापाररहितमेव जीवस्य ब्रह्मणा सह भोग-करणम् इति सिद्धान्तः १९५-१९७
२. प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः, विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह, दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने, भोगमात्र-साग्यलिंगाच्च, अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् (४।४।१८-२२) इति सूत्राणि भाष्यञ्च, एवम् अस्मिन् पादे पुष्टिमार्गीयाणां सपरिकरं फलं विचारितं, मर्यादामार्गीयाणाम्

विषयः

पृष्ठानि

| | |
|---|---------|
| अनादित्तरूपं, तेन अक्षरोपासकानाम् अक्षरे लयः, सविशेषोपासकानाम् अक्षरे साष्टिसुक्तिः, ज्ञानिभक्तानां भावस्त्वेवं, पुष्टिभक्तानां तु स्वरूपानन्दानुभवः इत्येवम् अस्मिन्नध्याये फलस्वरूपविवेचनम् | १९७-२१० |
| ३. प्रकाशे शांकर-भास्कर-रामानुज-शैव-माध्वमतविमर्शपूर्वकः प्रकृत्याधिकरणोपसंहारः | २१०-२२० |
| ४. भाष्योपसंहारकारिकाः | २२१-२२२ |
| ५. प्रकाशोपसंहारकारिकाः | २२२-२२४ |
| ६. रदम्युपसंहारकारिकाः | २२५ |

परिशिष्टविषयानुक्रमः

विषयः

पृष्ठाङ्क

| | |
|--|---------|
| प्रमुध्यानम् | २२७ |
| देवीभाग्याभिनन्दनम् | २२८ |
| अलौकिकज्ञानादि (इत आरभ्य त्रुटिः) | २२९ |
| भावस्वरूपध्यानम् | २३०-२४० |
| स्वरूपं प्रस्तोतुं मङ्गलम् | २४० |
| तुरीयपुरुषार्थसाधनम् | २४० |
| स्वरूपस्यानन्दत्वम् | २४० |
| तस्मिन्नर्थं सेवनम् | २४० |
| भगवान् तद्गुणाश्च सेव्याः | २४१ |
| आचार्यसेवितानि स्वरूपाणि | २४१ |
| श्रीगोवर्द्धननाथधर्मिस्वरूपम् तत्पीठिकाभावना च | २४२ |
| श्रीनवनीतप्रिये ऐश्वर्यम् | २४३ |

| | |
|--|---------|
| श्रीमथुरानाथे वीर्यम् | २४५ |
| श्रीविठ्ठलेश्वरे यशः | २४७ |
| श्रीद्वारकेश्वरे श्री | २४७ |
| श्रीगोकुलचन्द्रे ज्ञानम् | २४८ |
| श्रीगोवर्द्धनधारिणि वैराग्यम् | २४८ |
| श्रीमदचमोहने संयोगो धर्मात्मा स्तः | २४९ |
| औत्सङ्गिकेष्वाकलीला निर्देशः | २५० |
| शृङ्गारस्वरूपम् | २५१-२६१ |
| उत्सवानां भावना | २६५ |
| प्राकट्यभावनम् | २६२-२६६ |
| राधाष्टमी | २६७ |
| वामनाविर्भावः | २६७ |
| विजयदशमी | २६७ |
| दीपोत्सवः | २६८ |
| गोवर्द्धनपूजा | २६९ |
| अन्नकूटः | २६९ |
| प्रबोधिनी | २७० |
| व्रतचर्या | २७१ |
| वसन्तः | २७२ |
| दोलोत्सवः | २७३ |
| रामाविर्भावः | २७३ |
| श्रीमहाप्रभोदत्सवः | २७४ |
| चन्दनयात्रा | २७४ |
| नृसिंहाविर्भावः | २७४ |
| ज्येष्ठाभिषेकः | २७५ |
| रथोत्सवः | २७६-२७७ |
| हिन्दोलारोहणम् | २७७ |
| पवित्रोत्सवः | २७७-२८१ |
| रक्षाभावना | २७९ |
| एवं प्रत्यब्दकरणे फलत्वं सेवायाः | २७९-२८१ |
| सेवायां संयोगभावमुक्त्वा वियोगे विरहभावनम् | २८१-२८४ |

| विषयः | पत्राङ्कः |
|-------------------------|-----------|
| नित्यसेवाभावना | ६०-९२ |
| भगवन्मन्दिरप्रार्थना | २८६ |
| तन्मार्जनादि | २८७ |
| सिंहासनास्तरणम् | २८७ |
| जलपात्रभावनम् | २८८ |
| भोजनपात्राणां भावना | २८८ |
| प्रभोः प्रबोधनम् | २८८ |
| स्तवनम् | २८९ |
| नमनम् | २८९ |
| शक्तिविज्ञापनम् | २९० |
| श्रीमदाचार्यप्रार्थनम् | २९० |
| मङ्गलभोगविज्ञापनम् | २९१-२९४ |
| उच्छिष्टदानप्रार्थना | २९४ |
| जलपात्रार्पणं तद्भावश्च | २९५ |
| आचमनम् | २९५ |
| मुखबस्त्रम् | २९६ |
| ताम्बूलार्पणम् | २९७ |
| स्नानार्थं विज्ञापनम् | २९७ |
| अभ्यङ्गम् | २९८ |
| उद्वर्तनम् | २९८ |
| स्नानम् | २९८ |
| प्रोच्छन्नम् | २९९ |
| शृङ्गारभावविचारः | २९९-३०० |
| अङ्गरागार्पणम् | ३०० |
| वस्त्रार्पणम् | ३०१ |
| भूषणार्पणम् | ३०१ |
| गुञ्जामालार्पणम् | ३०१ |
| मथूरुचन्द्रिकार्पणम् | ३०१ |
| अञ्जनम् | ३०१ |
| तिलकम् | ३०२ |
| पुष्पमालार्पणम् | ३०२ |

| विषयः | पत्राङ्कः |
|------------------------------------|-----------|
| बेगोः धारणम् | ३०२ |
| आदर्शदर्शनम् | ३०२ |
| गोपीवृद्धभोगः | ३०३ |
| गोपार्पितपयःफेनं पयोर्पणञ्च | ३०३ |
| आरात्रिकम् | ३०४ |
| श्रीनवनीतप्रियस्य प्रेङ्खान्दोलनम् | ३०४ |
| क्रीडनकादिनिवेदनम् | ३०४ |
| राजभोगार्पणे धूपः | ३०५ |
| दीपः | ३०५ |
| पात्रादिभावविचारः | ३०५ |
| शङ्खोदकेन संस्करणम् | ३०६ |
| तुलसीप्रक्षेपः प्रार्थनं च | ३०७ |
| महामन्त्रेण चरणयोस्तुलसीसमर्पणम् | ३०७ |
| पादवीठार्पणम् | ३०८ |
| पुष्पमालार्पणम् | ३०८ |
| आरात्रिकम् | ३०८ |
| अनवसरभावनम् | ३०८-३१० |
| द्वारपिधानभावनम् | ३१० |
| अनन्तरकर्णायम् | ३१० |
| उत्थापनेफलाद्यर्पणम् | ३११ |
| सन्ध्याभोगादिनिवेदनम् | ३१२ |
| शृङ्गारोत्तारणम् | ३१२ |
| दुग्धं तत्फेनं चार्पणीयम् | ३१२ |
| तमोदीपनिवेदनम् | ३१२ |
| शयनभोगार्पणम् | ३१३ |
| शायनम् | ३१३ |
| कीर्तनेनानवसरभावनम् | ३१३-३१६ |
| फलनिर्कर्षः | ३१६ |
| श्रीमदाचार्यसेवनम् | ३१६-३१७ |
| पञ्चामृतभावना | ३१७-३१८ |

| विषयः | पत्राङ्कः |
|---------------------------|-----------|
| दैन्येन प्रार्थनम् | ३१८ |
| नामसेवनम् | |
| कृतसेवाविन्तनम् | ३१९-३२२ |
| इष्टार्थमार्गः | ३२३ |
| श्रीयमुनाप्रार्थना | ३२४ |
| त्रयोदशभिरन्तिमविज्ञप्तिः | ३२४-३२७ |

इति श्रीमदणुभाष्य-चतुर्थोऽध्यायस्य
विषयानुक्रमणिका / परिशिष्टविषयानुक्रमः
सम्पूर्णा

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

पञ्चमो भागः

श्री प्रभुचरणके हस्ताक्षर

अनुभाष्य (३।२।३४) यह प्रथम मातृकाका षष्ठ है- ठीक इसी अंशसे प्रभुचरणपूरित भाष्याशका प्रारम्भ हो रहा है.

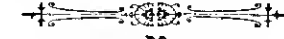
श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिवृंहितम् ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

प्रथमः पादः ।

समन्वयेनाविरोधात् साधनैर्ब्रह्मविद् यदि ।
तस्याग्रिमव्यवस्था या सा चतुर्थे विविच्यते ॥ १ ॥
जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः सफलस्य च ।

भाष्यप्रकाशः ।

अथ चतुर्थाध्यायं विचरिष्वो यथा पूर्वाध्यायारम्भे कारिकाभिरध्यायार्थः पादार्थश्च सङ्गृहीतः, तथात्राध्यायार्थं पादार्थाश्च सङ्गृह्णानाः पूर्वाध्यायसङ्गतिं निरूपणप्रकारं च बोधयितुं पूर्वाध्यायार्थान् सारयन्तः प्रस्तुताध्यायार्थं साधेनाहुः समन्वयेनेत्यादि । श्रुतीनां पर-
स्पराविरोधाद् यो ब्रह्मणि सम्यग्बोधनोन्वयः सम्यग्बोधनरूपस्तेनानुष्ठितैः साधनैर्यदि ब्रह्म-
विद् विरुद्धसर्वधर्माधारभूतब्रह्मविषयकनिर्विचिकित्सशब्दज्ञानवान् भवति, तस्य जीवतो
म्रियमाणस्य गच्छतः सफलस्य च याग्रिमव्यवस्था ज्ञानानुकूलप्रकारेण फलपर्यन्ता
स्थितिः सा चतुर्थे फलाध्याये विविच्यते फलस्वरूपप्रकारबलानां निष्कर्षेणासङ्कीर्णतया
रश्मिः ।

निःसाधनजनोद्धारः ससाधनजनप्रियः ।

फलात्मा कृष्णपरमानन्दान् प्रादुश्चकार ह ॥ १ ॥

‘आत्मा वा अर’ इति श्रुत्युक्तदर्शनमत्र ज्ञेयम् । भक्तिमार्गीयभाष्यत्वात् । फलाध्यायं व्या-
करिष्यमाणा मङ्गलमाचरन्ति स्म अथेत्यादिना । श्रवणमात्रेण मङ्गलसिद्धेः साधनाध्यायानन्तरमित्यर्थः ।
सङ्गृह्णाना इति । उभयपदी त्रयादिस्तेन स्वाधिकारः सूचितः । सङ्गृह्णामिति । हेतुतारुपाय् ।
निरूपणेति । जीवन्त इत्यादिना निरूपणप्रकारम् । सम्यगिति । ‘यतो वाचो निवर्तन्त’ इति श्रुति-
प्राप्ताशब्दनिराकरणपूर्वकबोधनरूपो बोध्यतेनेन शब्देनेति बोधनः शब्दः । बोध्यत इति बोधनं ज्ञानम् ।
ताभ्यां रूप्यते व्यवहियते यः सम्बन्धः स सम्यग्बोधनरूपः । केचिद्वाक्यार्थसम्बन्धमाहुः । तेनेति ।
सम्बन्धेन वाक्यार्थैर्वानुष्ठितैः पूर्व सर्वोत्तममार्गेणानुष्ठानं कर्ममार्गस्य । ‘यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्गुणां
भवे’दित्येकादशस्कन्धात् । तदनु नवधाभक्तिरेकादशकोनविंशाध्यायोक्ता । तदनुष्ठानम् । पश्चाद्
गीतोक्ता ज्ञानयज्ञादीनां विधानमनुष्ठानं तथानुष्ठितैः साधनैः । सफलस्येति । मुक्त्या सह वर्तमानस्य ।
ज्ञानेति । सफलस्य पुरुषोत्तमज्ञानानुकूलप्रकारेण पुरुषोत्तमलीलानुभवः फलपर्यन्ता स्थितिः ।
विशेषात् पूर्वाधिकरणोक्तं स्मारितम् । फलेति । पूर्वपादे जीवतः फलादिकानां निष्कर्षेण, द्वितीये

अतो ब्रह्मविदा कार्यमेवमेव, न चान्यथा ॥ २ ॥
तामसीं बुद्धिमाश्रित्य ये मूढाः सर्वविघ्नम् ।
वदन्ति शास्त्रनाशाय सद्भिः शोच्याश्च येऽनु तान् ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

प्रकाश्यते । तथा च यथा समन्वयाविरोधाभ्यामुपनिषद्वाक्यानामाभासत्वनिराकरणेन तेषां ब्रह्म-
ण्येव प्रमाणत्वम्, तेषु च ब्रह्मण एव प्रमेयत्वं व्यक्तीकृतम्, यथा च श्रुतीनां बोधकताप्रकारनि-
रूपणेनोपासनात्मकसाधनप्रकारनिर्णयाद् ब्रह्मचित्तं व्यक्तीकृतम्, तथात्रोपासनादिसाधनवतो
ब्रह्मविदोवस्थानिरूपणात् क्रमेण साक्षाच्च प्राप्यस्य ब्रह्मणः फलत्वस्युपपत्तिपूर्वकं निरूप्यत इत्ययं
निरूपणप्रकारः, कार्यकारणभावोपसर्गश्च सङ्गतिरित्यर्थः ॥ १३ ॥

पूर्वाध्याये यावज्जीवं ज्ञानानुकूलसाधनानुष्ठानरूपं जीवतो ब्रह्मविदः कार्यं निरूपितमिति
पुनरत्र तत्कथनस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुः अत इत्यादि । यतोयं सिद्धसाधनः,
न तु प्राप्तफलः, अत ईदृशेन प्रथमपादोक्तरीत्यैव कार्यम्, न तु तूर्णार्थं स्थेयम् । 'तत्त्वेव
भयं विदुषोऽमन्वानस्येति प्रतिबन्धबोधकश्रुतेः । अतः सिद्धज्ञानस्याप्येतत्कर्तव्यताबोधनमेव
प्रयोजनमित्यर्थः ॥ २ ॥

नन्वत्रान्ये 'किं प्रजया करिष्याम' इति श्रुत्या 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मवृत्तमभ्र मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यत' इति गीतास्मृत्या च ब्रह्मविदः कार्यमात्रनिषेध-
मङ्गीकुर्वन्ति, तत्कथमत्र ब्रह्मविदः कार्यकरणशिक्षेत्याशङ्क्यायां तन्मतं दूषयितुमाहुः तामसी-
मित्यादि । 'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता । सर्वार्थान् विपरीतान् बुद्धिः सा पार्थ
तामसी' इति गीतोक्तलक्षणका सर्वार्थविपरीत्यबोधिका भ्रान्ता बुद्धिस्तामसी । तामाश्रित्य ये
मूढा वैशासशास्त्रनाशाय सर्वविघ्नं सगुणब्रह्मविधाविषयस्य ब्रह्मस्वरूपस्य वेदोक्तसाधन-
गुरूपदेशप्रभृतीनां मायिकत्वादिरूपं वदन्ति, ये च ताननु तदनुसारिणस्ते सद्भिः शोच्याः
पूर्वोक्तश्रुतिस्मृत्युक्तस्य कार्यकरणनिषेधस्य बहिरङ्गसाधनविषयत्वान्तरङ्गतद्विषयत्वाभावादबोध-
रश्मिः ।

त्रियमाणस्य फलादिकानाम्, तृतीये क्रममुक्तिः फलं तदादिकानाम्, तुरीये पुष्टिमर्यादाभेदेन
फलं तदादिकानां निष्कर्षणेत्यर्थः । समन्वयेति । प्रथमाध्यायार्थः समन्वयः, अविरोधो द्वितीया-
ध्यायार्थः ताभ्याम् । अत्रेति । तुरीयेध्याये । तृतीयाध्यायोक्तोपासनादिसाधनवतः । अवसर
इति । शाब्दापरोक्षे भूयसाङ्गनिषद्वागानां तृतीयाध्यायसङ्गहीतानां सन्दिग्धानां च साधननिरूपकाणां
वैयर्थ्यप्रसङ्गात् प्रतिबन्धकीभूतसाधनजिज्ञासानिवृत्तौ सत्यामवश्यवक्तव्यत्वमग्निभावख्याया इति पूर्वपाद-
योरस्य चावसर इत्यर्थः । साधनफलयोः कार्यकारणभावः सङ्गतिः स्पष्टा ॥ १ ॥ निरूपितमिति ।
सफलोपासनानां सफलभक्तीनां च निरूपणात्तिरूपितम् । अयमिति । ब्रह्मवित् । तत्त्वेवेति । तत् वा
इव विदुषोऽमन्वानस्य भयमित्युक्त्या युक्तिभिरनुचिन्तनस्य मननत्वेन यदि साधनाध्यायेन ब्रह्मविदेव फली
स्यात् फलाध्यायं न वदेदित्यादियुक्तिभिरनुचिन्तनस्य तत्त्वादेव मन्वानस्य भयं प्रतिबन्धकम् । 'उद्वेगः
प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यातु बाधक'मिति भयरूपप्रतिबन्धकश्रुतेः । सिद्धज्ञानस्य साधकत्वेतत्कर्त-
व्यताबोधनं फलाध्यायोक्तकर्तव्यताबोधनम् ॥ २ ॥ मायिकत्वादीति । आदिना सगुणं कार्यं
स्वतन्त्रत्वानि । शोच्यत्वमाहुः पूर्वोक्तेति । अव्यवहितपूर्वाशङ्काग्रन्थोक्तश्रुतिस्मृत्युक्तस्येत्यर्थः । कार्य-
करणेति । कार्यकृतिनिषेधस्य । अन्तरङ्गसाधनविषयत्वाभावाय 'यस्त्वात्मरति' श्लोकोत्तरश्लोकमाहुः

ब्रह्मविद्ब्रह्मनाभावः शतांशेनापि चेद् भवेत् ।
शास्त्रमेतद् वृथा जातं सर्वसूत्रविनाशतः ॥ ४ ॥
स्वाप्ययस्य च सम्पत्तेरत्र ब्रह्मगतिश्रुती ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रस्ता इत्यतः शोकविषयीकार्या एव, न त्पादेयवाक्याः । गीतायां 'यस्त्वात्मरति'रित्यादि-
वाक्यानन्तरं, 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर । असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषं'
इति तथा कर्मकरणावश्यकत्वकथनात् । अतः शिक्षाकथनमेवात्र युक्तम्, न तु साधननिरूपणस्य
प्रासङ्गिकत्वकथनम् । साधनसिद्ध्यनन्तरमपि कर्तव्यतया फलविषयकपरोक्षानुभवरूपतया चावा-
न्तरफलरूपत्वादित्यर्थः ॥ ३ ॥

नन्विदमप्रयोजकम्, 'तस्य तावदेव चिर'मिति श्रुतेर्ब्रह्मज्ञानोत्तरं सद्योमुक्तेरेव भावणात्,
अतो ब्रह्मविदो न किञ्चित् कार्यम्, यत्पुनरत्रोक्तम्, तद्यु जघन्याधिकारिणां सगुणविधावतां
फलसिद्ध्यर्थम्, अत एवाग्रे द्वितीयतृतीययोरुक्तान्तिगमनादिविचारोपि युज्यते, तस्माभोक्तं
साधीय इत्यत आहुः ब्रह्मचिदित्यादि । परब्रह्मचिदो गमनाभावोच्चिरादिना क्रममुक्ति-
मार्गेण गमनस्य राहित्यं चेत्, शतांशेनापि प्रकारेण भवेत्, तदा एतत् तृतीयपादरूपं
शास्त्रम्, सर्वेषां 'अचिरादि'स्रममारभ्य, 'विशेषं च दर्शयती'त्यन्तानां स्रमणां विनाशतोऽ-
ब्रह्मप्राप्तिपरतया वैयर्थ्याद् वृथा जातम्, कार्यालये परप्राप्तेः साधनं विनापि सम्भवादिति ॥ ४ ॥

नन्वत्र कोपपत्तिर्यैतेषां धृत्रार्थानां परब्रह्मपरत्वं स्थाप्यत इत्यत आहुः स्वाप्ययस्येत्यादि ।
अत्र दहरविद्यारूपे ब्रह्मविद्विद्विप्रकरणे स्वाप्ययस्य सुपुत्रेः सम्पत्तेर्ब्रह्मप्राप्तिश्च सम्बन्धिन्यौ ब्रह्म-
गतिश्रुती, 'अथ या एता हृदयस्य नाड्य' इत्यारभ्य, 'तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवती'त्यन्ता,
'अथ यत्रेतदसाच्छरीरादुत्क्रामती'त्यारभ्य, 'शतं चैका च पुरुषस्य नाड्य' इति श्लोकान्ता च
ब्रह्मणि गमनबोधिके श्रुती पूर्वं वर्तेते । अतो भगवदुपन्यस्ते प्रजापतिवाक्येपि ते आदत्तव्ये ।

रश्मिः ।

गीतायामिति । शिक्षेति । कार्यकरणशिक्षाकथनम् । साधनेति । तृतीयाध्याये । प्रासङ्गिकत्वं
शाब्दापरोक्षोपादाने साधनानां स्मृतत्वाम् । कर्तव्यतयेति । 'साधनानामसिद्धवदावृत्तिः कर्तव्येति
सुबोधिन्याम् । फलेति । परोक्षानुभवः शब्दानुभवः । अवान्तरेति । शाब्दापरोक्षं परमफलम् ॥ ३ ॥
अत्रोक्तमिति । पूर्वकारिकयोरुक्तम् । द्वितीयेति । अध्याययोः । 'उक्तान्तिगत्यागती'त्यादिसूत्रैर्द्वितीये ।
'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहती'त्यादिभिस्मृतीये च विचारोपि युज्यते । परेति । गौणमुख्यन्यायेनोक्तम् ।
ब्रह्मविदोपि बोध्यम् ॥ ४ ॥ एतेषामिति । तृतीयपादस्यानाम् । परब्रह्मेति । अधोक्षजपरब्रह्म-
रूपफलपरत्वम् । अत्रेति । व्याख्येयम् । फलाध्याये दहरविद्यारूपे ब्रह्मविद्विद्वि-
प्रकरणे इति व्याख्यानम् । ब्रह्मचिदिति । 'यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तद-
स्मिन्समाहित'मिति श्रुतौ नास्ति यत्तस्यापि समाहित्युक्तेः कतिपयगुणैरधोक्षजपरब्रह्मविदपि ।
प्रजापतीति । प्रजापतेर्वाक्यं प्रजापतिवाक्यम् । 'एतद् स्म वैतत्पूर्वं ब्राह्मणा अनुचाना
विद्वंसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्याम' इत्यादिशरीरब्राह्मणे तस्मिन् । अत्र ब्राह्मणा
इत्यत्र ब्राह्मणः प्रजापतिः । गोपालतापनीये 'तद् होवाच ब्राह्मण' इति श्रुतौ पर्यायतादर्शनात् ।

अन्यथा न श्रुतेरर्थः स्यादेव व्यासो धदेव किम् ॥ ५ ॥
तामसीं बुद्धिमाश्रित्य या मुक्तिः कैश्चिदुच्यते ।
सा सुषुप्तिश्रुतेरर्थो मोहादेवान्यथामतिः ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

हेयस्यात्मन उभयत्राप्यैक्यात् । यतः प्रजापतिवाक्यरूपश्रुतेरर्थः अन्यथा न, पूर्ववाक्यवि-
रुद्धो न । यदि स्यात्, तदा व्यासः सर्वस्य ब्राह्मणपदार्थस्य निर्णयार्थं प्रवृत्तः फलविवेचनावसरे
तमर्थं किं न वदेत्, अपि तु वदेदेव । तथा चानयोपपन्था तेषां ब्रह्मपरत्वं स्याप्यत इत्यर्थः ॥५॥

ननु, 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात् तु द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्वि-
मक्तं यत् पश्ये'दित्यादिना मुक्तौ भेददर्शनाभावभावणात्तत्र कथं ब्रह्मविदो गत्युपपत्तिरित्यत
आहुः तामसीमित्यादि । पूर्वोक्तां बुद्धिमाश्रित्यास्यां श्रुतौ या निःसम्बोधा मुक्तिः साङ्ग-
मतवद्विष्यते, सा निःसम्बोधा मुक्तिः सुषुप्तिश्रुतेरर्थः, शरीरब्राह्मणे तत्सजातीयवाक्यैस्तथा
सिद्धत्वात् । अतः प्रजापतिवाक्यसिद्ध्यायां मुक्तौ या तथा मतिः सा मोहादेव । तस्मात्
रक्षितः ।

शिष्याभिप्रायेण बहुवचनम् । उभयत्रेति । दहरविद्यायां शरीरब्राह्मणे च । पञ्चम्या उत्तरार्धं विवृ-
ण्वन्ति स्म यत् इति । पूर्ववाक्येति । पूर्वं पूर्वत्वेनाङ्गीकृते वाक्ये दहरोक्ते । ताभ्यां विरुद्धो न ।
तदित्यम्, पूर्ववाक्ययोर्दहरविद्यास्थयोः प्रथमे सुषुप्तेः प्रतिपादनादकामो भगवान् सुषुप्तिरूप उक्तः,
स गीतोक्ते कर्तव्यसक्ते प्रपञ्चाऽसक्तेऽवस्थासक्तः, स एव 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नायमात्मा नायं
लोक' इति पूर्वं भवदुपन्यस्ते प्रजापतिवाक्येऽसक्तः गीतोक्तः कर्ता, तत्राकामरूपो भगवान् सुषुप्त्यभिन्नः,
अनुगमात् । द्वितीये सम्पत्तेः प्रतिपादनादोङ्काररूपजीवो मनःक्षेपं कुर्यात्, तदन्वादित्यद्वारा विदुषः
प्रपदनं निरोधो नाशोन्येषां जीवानाम् । निरोधपदतात्पर्यार्थः प्रपञ्चविस्तृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपः,
स भगवद्गतो जीवधर्मः । सोऽप्यन्येषामविदुषां विद्वद्भिन्नानां भक्तानाम्, अन्यथा न्यूनताख्यनिग्रह-
स्थानापत्तेः । भूत्वेन रूपेण निरोधस्य सम्पत्तित्वम् । 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्य त्वं पुरुषोत्तमे'ति-
वाक्यात् । एषोक्ता सम्पत्तिरूपब्रह्मप्राप्तिः । सेव भवदुपन्यस्तप्रजापतिवाक्याग्रे 'स एष नेति नेत्यात्मे'ति
श्रुतिः । अस्या 'अयात आदेशो नेति नेती'तिवदर्थः । अत्र पूर्वोक्तसम्पत्तेः ब्रह्मप्राप्तिरूपायाः स्वीकारः ।
अग्रे 'तस्यैव स्यात्पदवि'दिति पादसेवनभक्तिमुक्त्वा 'ब्राह्मणो भवती'त्युक्तम् ततोपि 'ब्रह्माभयं वै
ब्रह्माभयं ५ इति वै ब्रह्मा भवति य एवं वेदे'ति पठ्यते । एवं पूर्ववाक्याभ्यां विरुद्धो न । विरुद्धस्तु
'किं प्रजया करिष्याम' इत्यादेः । 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य
कार्यं न विद्यते' इतिवाक्यमात्रविषयो ब्रह्मविदः कार्यमात्रनिषेधपरोर्यः । तस्मर्थमिति । ब्रह्मविदः
कार्यमात्रनिषेधपरमर्थं सूत्रैः किं न वदेत् । अनयेति । अर्थो विरुद्धः स्यात् एतदेवेत्यनया तृतीय-
पादस्थानां सूत्रार्थानां परब्रह्मपरत्वं 'यस्त्वात्मरति'रितिवाक्याग्रेतने 'तस्मादसक्त' इति वाक्ये 'परमाश्रुति
पुरुष' इति कथनात् स्याप्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ गत्युपपत्तिरिति । द्वितीयस्मिन् गत्युपपत्तिः । पूर्वो-
क्तामिति । द्वितीयकारिकाव्याख्यानोक्ताम् । निःसम्बोधेति । 'किं प्रजया करिष्याम' इत्यस्या
अग्रे सम्पत्तिबोधिका 'स एष नेति नेत्यात्मे'ति श्रुतिः तथा निःसम्बोधा मुक्तिरुच्यते । 'स एष नेति
नेती'त्यस्याः तामसीं बुद्धिमाश्रित्य स्वमतीत्या निःसम्बोधेति । सम्यग्बोधः सम्बोधः सविषय-
स्तस्माच्चिर्मता निःसम्बोधा । 'देवस्तुर्यो विशुः स्युत' इति मण्डूकोपनिषदि श्रावणात् तुर्यः तुरीयः
विशुत्वमपि स्युतम्, न तु वस्तुत इति निःसम्बोधा । प्रजापतीति । 'किं प्रजया करिष्याम' इति

अतो ब्रह्मविदः कार्यं जीवतः पूर्वमुच्यते ।
आवृत्तिः श्रवणादीनां नवकृत्वोपदेशतः ॥ ७ ॥
दर्शनार्थत्वतो लिङ्गादपि व्रीह्यवघातवत् ।
आवृत्तौ श्रवणादीनामात्मेति स्याद् दृढा मतिः ॥ ८ ॥
आपाततो दर्शनं तद्भेदेनापि बोध्यते ।
प्रतीकोपासनादीनां नैव भावो हि जायते ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

प्रथमे पादे यदुक्तम्, तत् ब्रह्मविदः शिक्षार्थमेव न तु साधनशेषतयेव भन्तव्यम् । 'तत्त्वेव
भय'मिति श्रुतेर्ज्ञानोत्तरमपि मननस्यावश्यकत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं पादप्रयोजनं निश्चित्य तदर्थमाहुः अत इत्यादि । यस्माद् ब्रह्मविदोपि जीवदशायां
फलानुकूलं कार्यमावश्यकम्, अतः पूर्वं प्रथमपादे तदुच्यते । किं तदित्याकाङ्क्षामाहुः
आवृत्तिः श्रवणादीनामिति । तत्र गमकं हेतुत्रयम् । नवकृत्वोपदेशतः नवसङ्ख्यां कृत्वा
य उपदेशः, नवकृत्वोपदेश इति यावत् । तस्मात् ॥ ७ ॥ लिङ्गात् स्युतिरूपात् । व्रीह्यवघात-
वच्छ्रवणादीनां दर्शनार्थत्वतोपीति । सा आवृत्तिः प्रथमेधिकरणे उच्यते । तत्फलं
द्वितीयमाहुः आवृत्तावित्यादि । आत्मेति । भगवानात्मा । तथा वेदं तस्यावान्तरफलमि-
त्यर्थः ॥८॥ अवान्तरत्वं साधयन्ति आपातत इत्यादि । भगवतः सर्वात्मकत्वात् सर्वरूपत्वादात्मा-
त्मत्वाच्च तस्य यद् आत्मयज्ञप्रथमवर्णाकोत्तरीत्या आत्माभेदेन दर्शनम्, तद् आपाततो दर्शन-
मिति बोध्यते । अपिशब्दाद्यथाधिकारमात्मोपदेशरूपं द्वितीयं ब्रह्मविदः कार्यं च । प्रतीक-
मुपासनं येषां ते प्रतीकोपासनाः । आदिपदात् कर्ममार्गीयाश्च । तेषां हि यतो हेतोर्भावो ज्ञानित्वं
भक्तिर्वा नैव जायते ॥९॥ अत आलम्बनार्थं ध्यानविषयतया ग्रहणार्थम्, तत्रापि अन्यैः प्रतीक-
रक्षितः ।

वाक्यसिद्ध्यायां ससम्बोधायां मुक्तौ तथा निःसम्बोधत्वेव मतिः सा मोहाद् ज्ञानावरकतमोषमात् ।
ससम्बोधत्वं तु मण्डूके 'स्युत' इत्यनेन स्युतिविषयः, स्युतौ तु श्रीभागवतरूपायामधोक्षजत्वेपि
'कृष्यस्तु भगवान् स्वयम्' इति तुरीय इत्युक्त्वा प्रजे क्रीडितोक्तः । विद्वन्मण्डनेपि बृहद्भान-
पुराणवचनैर्वृन्दावनादिस्थगोपीजनबलम् उक्तः । एवं च कतिपयगुणैः स्मार्तैरधोक्षजः स्युतः स-
सम्बोध इति । तुरीयः ससम्बोधमोक्षरूप इति । साङ्ग्यमते विशेषतो वदियते । साधनशेषेति ।
ब्रह्मविदः कार्यमात्रनिषेधशेषतया 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्येति' श्रुतिः । तदुच्यते इति । जीवतः
कार्यमुच्यते । यतो द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां जीवतो ब्रियमाणस्य च 'तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान्
हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्' इतिवाक्येन कार्यकर्मसमाचरणमुक्तम् ।
तद् द्वयमत्र गृहीतम् । तद्वितीति । कार्यं कर्म । द्वितीय इति । आत्माधिकरणे । इदमिति ।
दृढं मननम् । तत्र वस्तुविशेषविषयकम् । तस्येति । श्रवणाद्यावर्तनस्येत्यर्थः । यथाधिकारमिति ।
भेदाधिकारे भेदोपदेशोपि । प्रतीकमङ्गमुपासनकरणमुपासनविषयं येषामुपासकानाम् । नैवेति ।
कर्मसु देशादिषण्णामशुद्धोपासनासु श्रद्धाभावादप्रतिबन्धकेन चित्तशुद्ध्यभावाच्चैव जायते । कर्मोपास-
नाभ्यां स्नेहवतामदर्शनादेवकारः ॥९॥ ग्रहणार्थमिति । आत्मनो ग्रहणार्थम् । तत्रापि । व्याख्येयम् ।

आलम्ब्यनार्थं तत्रापि ब्रह्मदृष्टिर्विशिष्यते ।
आदित्यादिब्रह्मदृष्टेरङ्गत्वं न स्वतन्त्रता ॥ १० ॥
मनने च निदिध्यासे विशेषश्चोच्यतेधुना ।
आसनादिषडङ्गैस्तु चित्तं श्रौतार्थं एव हि ॥ ११ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

त्वेनोच्यमाने विषयेषु, ब्रह्मदृष्टिर्विशिष्यते विशेषबोधिका भवति । सापि तदीयं कार्यम् ॥ ११ ॥
तृतीयाधिकरणस्यार्थमाहुः आदित्येत्यादि । स्पष्टम् । मनने चेत्यादि । अधुना आदि-
त्यादिमत्या आदित्याद्युपासनेन आदित्यादिभिः फलदानद्वारा माहात्म्यप्रतिपादनेन भक्तिद्वारा
मनने, निदिध्यासे, भावे षड्, निदिध्यासने च विशेषो भगवतो बहिरन्तःप्राकट्यरूप-
श्चोच्यते । तेन फलस्यापाततोनुभवप्रकारो मनननिदिध्यासनरूपं तृतीयं कार्यम् । तेन फलमाहुः
आसनादीति । आसनं भगवतो बहिःप्राकट्य उपवेशनम् । आदिपदेनान्तरूपवेशनं
लीलाप्राकट्यं च, तेषां यानि षडङ्गानि श्रवणाद्यावृत्तिः, आत्माभेददृष्टिः, तथा ग्राहणम्,
अप्रतीकोपासनम्, सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिः, आदित्यादिष्वङ्गबुद्धिश्च, तैश्चित्तं श्रौतार्थं भगवति

रश्मिः ।

अन्यैरिति व्याख्यानम् । विशेषेति । ब्रह्मेत्युपास्ते सर्वत्रब्रह्मदृष्टिधिकारिणि विशेषस्योक्तर्षस्य
बोधिका भवति । सापीति । ब्रह्मदृष्टिरपि । तदीयं विद्वज्जीवीयम् । स्पष्टमिति । मधुब्राह्मणे 'य
एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्त' इति श्रुत्युक्ताया आदित्यादिषु ब्रह्मदृष्टिः । अङ्गत्वमिति । नत्वादित्यो
ब्रह्मदृष्टिमिति न ब्रह्मेति । स्वतन्त्रतेति । ब्रह्मवत् स्वतन्त्रता । कर्तृत्वम् । एवं स्पष्टमित्यर्थः । अधुनेति ।
व्याख्येयं पूर्वार्थानुसन्धाने । श्रवणानुसन्धानेन मनननिदिध्यासयोर्वक्तव्ययोः सतोः । आदित्याद्युपा-
सनेन चित्तशुद्धिः । इदं श्रवणादिकमुपासनाङ्गम् । अतो भक्तौ कारणं माहात्म्यमाहुः । आदित्यादिभि-
रिति । माहात्म्येति । यतो यदङ्गं फलं ददातीति देवनं माहात्म्यम्, तस्य भक्तिकारणस्य प्रतिपादनेन
कारणरूपेण । भक्तीति । उक्तचित्तशुद्धिराधिदैविकीति भक्तिः, सा प्रेमलक्षणा, तद्वारा । 'आत्मा वा
अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इति मैत्रेयीब्राह्मणश्रुत्या मनने इत्यर्थः । भावे चञ्चिति ।
निदिध्यास्यते निदिध्यासः, इति निदिध्यासनं समाधिस्तस्मिन् । भगवतो बहिरिति । तेन मनने
ध्यानमेकैकाङ्गमनोनिवेशनरूपं बहिरन्तःप्राकट्यकारणं बोध्यम् । फलस्येति । अध्यायार्थस्याव्याप्तिः
परिहृता । तैत्तिरिशाखारूपस्य द्वादशस्कन्धोक्तस्य आदित्यादिभिर्देवतफलस्य यथाकथञ्चित् फलस्यात्राध्याये
सत्त्वात् । आपाततः आत्माभेदेन दर्शनात् । तेनेति । उक्तसाधनेन । सूत्रैरधुनोच्यत इति पूर्वका-
रिकायां करणोपलब्धेराहुः आसनं भगवत इति । यद्यपि 'भक्त्या प्रसन्ने तु हरी तं योगेनैव योजये'-
दितिवृत्तीयस्कन्धकारिकाया श्रौतः षडङ्गयोगः प्राकट्यान्तरं वक्तुमुचितः, 'ततः सिद्धिर्भवाप्स्यती'त्यपि
सम्भवः । एकादशे सेवानन्तरं सिद्धिनिरूपणात् । किञ्च मनने ध्याननिवेशाद्वारणोपस्थितिर्भवति ।
अधिकारस्कन्धानन्तरं साधनस्कन्धे ध्यानधारणयोर्निरूपणात् । तथापि यावत् पर्यन्तमासीनसूत्रस्य धर्मि-
परत्वं सम्भवति, तावत्पर्यन्तं न दैशिकत्वम्, सूत्राणां सारवद्विश्वतोमुखत्वेत्यत आहुः, आसनं
भगवत इति । प्रकटस्येति । अव्यवहितपूर्वोक्तप्राकट्यवत इत्यर्थः । आसीनसूत्रे । अन्तरूपेति ।
ध्यानाच्चेतिसूत्रे उक्तम् । लीलाप्राकट्यमिति । अचलत्वं चेति सूत्रे । श्रवणाद्यावृत्तिरिति । लिङ्गा-
च्चेति सूत्रे श्रवणाद्यावृत्त्यङ्गम्, अतः आत्मेतिसूत्रार्थमाहुः आत्माभेददृष्टिः । तथा ग्राहणमिति ।
न प्रतीकेनेति सूत्रार्थमाहुः 'अप्रतीके'ति । ब्रह्मदृष्टिसूत्रार्थमाहुः सर्वत्रेति । आदित्यादिमतिसूत्रार्थमाहुः

धारयेदामतेरेवं ततः सिद्धिर्भवाप्स्यति ।
धर्माधर्मभयं तस्य नास्त्येवेति विनिश्चयः ॥ १२ ॥
अग्निहोत्रादिकं कार्यं सद्यसासः फल एव हि ।
बोधा चेत् पुरुषो व्यक्तः प्रारब्धान्ते फलं भवेत् ॥ १३ ॥
एतावान् प्रथमे पादे निर्णयः सूत्रकृतकृतः ।
द्वितीये त्रियमाणस्य सर्वेन्द्रियलयः पुरा ॥ १४ ॥
लिङ्गस्यापि शरीरस्य नाञ्ज्योत्क्रान्तिरिहोच्यते ।
दिनायनकृतो नास्य विशेषोस्तीति चोच्यते ॥ १५ ॥
तृतीये क्रममुक्तौ यो मार्गो यस्य श्रुतेर्मतः ।
तन्निर्द्धारोऽन्यमार्गीयाणामप्राप्यत्वं च वर्ण्यते ॥ १६ ॥
गन्तव्यं च परं ब्रह्म कार्यो लोकस्तु नेति च ।
तुरीये पुष्टिभर्यादाभेदेन फलमुच्यते ॥ १७ ॥
प्रभोरेव फलत्वं तन्निर्दोषत्वं च वर्ण्यते ।
लीलानित्यत्वतः पूर्णगुणत्वं च ततोऽखिलम् ॥ १८ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

धारयेत् । तदपि, आमनेः, मननमारभ्य, एवं उक्तप्रकारेण, ततः तदुत्तरम्, सिद्धिं भग-
वदासनादिमत्प्रादकोक्तद्वेहसम्भवरूपामवाप्स्यति । एवं आप्रायणसूत्रान्तस्यार्थं उक्तः ।

तदधिगमादिसूत्रार्थमाहुः धर्मेत्यादि । अग्निहोत्रादिसूत्रार्थमाहुः अग्निहोत्रेत्यादि । फल
इति । फलानन्तरीयकदशायाम् । तदावश्यकत्वाय फलप्राप्तिप्रकारमाहुः षोडशेत्यादि । प्रथमपादार्थ-
मुक्तवोपसंहरन्ति एतावानित्यादि ॥ १३ ॥

द्वितीयस्याहुः द्वितीय इत्यादि । सर्वेन्द्रियलय इति । पुष्टिमार्गीयस्य भगवति,
भर्यादामार्गीयस्य भूतेषु । इहेति । जघन्याधिकारिणि उत्क्रान्तिरित्यर्थः । तृतीयस्याहुः । तृतीय
इत्यादि । यस्येति । अधिकारिणः । अन्यमार्गीयामिति । अन्ये मार्गी उपाया येषां ते तथा,
तेषाम् ॥ १६ ॥

रश्मिः ।

आदित्यादिष्विति । उक्तप्रकारेणेति । षडङ्गैः । भगवदासनादीति । आदिना ध्यानाच्चेत्यादि-
सूत्रोक्तम् । अनेन 'स्मरन्ति चे'ति सूत्रार्थं उक्तः । यत्रैकाग्रतासूत्रार्थः पूर्वशेषः । अनुव्यवसाय-
निर्णायकाप्रायणसूत्रार्थोपि पूर्वशेषः । आप्रायणेति । भाष्यस्य । धर्मेत्यादीति । तत्रैव स्पष्टम् । अग्नि-
होत्रादीति । ननु इतरस्याप्येवमित्यादिसूत्रद्वयस्य कावर्थाविति चेत् । न । सूत्रद्वयार्थयोः पूर्वशेषत्वेन
तदधिगमादिसूत्रार्थमित्यत्रादिपदार्थत्वात् तदधिगमादिसूत्राणामर्थमिति षष्ठीतत्पुरुषात् । फलानन्त-
रीयकेति । फलदशायामित्युक्ते भोगेन त्वितरे इति सूत्रे सद्यसासः फलप्राप्त्यर्थः तद्वदात्तेति तूप-
गच्छन्तीत्यत्रामुख्येपि स्यादतो नान्तरीयकेति दशविशेषणम् । न अन्तरीयके मध्ये भवा दशा नान्त-
रीयकदशा, फलस्य नान्तरीयकदशा फलानन्तरीयकदशा तस्याम् । तदावश्यकतेति । सन्यासावश्य-
कत्वाय । षोडशेत्यादीति । उक्तैः षडङ्गैः । प्रारब्धान्त इति । भोगेन त्वितरे इति सूत्रे स्फुटम् ॥ १३ ॥

द्वितीयस्येति । पादस्यार्थमाहुः । जघन्याधिकारिणीति । जघन्यानामधिकारोऽस्तीत्य-

अस्य फलप्रकरणत्वेपि साधनरूपस्यापि श्रवणस्यान्तरङ्गत्वं ज्ञापयितुं तन्निर्धारमप्याह ।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥ (४-१-१)

‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य’ इत्यादि-
वाक्यैर्बिहितं श्रवणादिकं किं सकृदेव कर्तव्यम्, उतासकृदिति भवति संशयः ।
किं तावत् प्राप्तम्, सकृदेवेति । तावतैव शास्त्रार्थस्य सम्पत्तेः । नच तण्डुल-
निष्पत्तिफलकावघातस्यैव दर्शनफलकानां श्रवणादीनां तत्सिद्धिपर्यन्तमावृत्ति-
न्यायप्राप्तेति वाच्यम् । अवघातस्य वितुषीकरणात्मकदृष्टद्वारकत्वेन तथात्व-
मस्तु नाम, प्रकृते त्वदृष्टद्वारकत्वात् सकृत्कृतेनैवाहृष्टद्वारा फलसम्पादनसम्भवा-
दावृत्तिरप्रयोजिकेति प्राप्ते, उच्यते । आवृत्तिरेव श्रवणादीनां श्रुत्यभिमतता ।
कृतः ? असकृदुपदेशात् । छान्दोग्ये श्वेतकेतुपाख्यान ‘ऐतवात्म्यमिदं सर्वम्,

भाष्यप्रकाशः ।

तुरीयार्थमाहुः तुरीय इत्यादि । सामान्यत उक्त्वा तत्र विशेषमाहुः प्रभोरित्यादि । अत्र
प्रभोः फलत्वं ‘आत्मा प्रकरणा’दित्यादिसूत्रद्वये, तन्निर्दीपत्वं च ‘तत्त्वमर्वा संध्य’दित्यादि-
सूत्रद्वये, शेषं ‘जगद्व्यापारवर्जो’दिसूत्रेषु । ततोऽखिलमिति । ततः तादृशनिरूपणाद्वेतोः ।
अखिलं लीलाविशिष्टं स्वरूपं फलमित्यर्थः ॥ १८ ॥

एवं पादार्थनिरूपणमुखेनाध्यायार्थं निरूप्य घ्राणि व्याचिकीर्षन्तोत्र फलप्रकरणे साधन-
निरूपणस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तत्प्रयोजनं वक्तुं सूत्रमवतारयन्ति अस्येत्यादि । अन्त-
रङ्गत्वमिति । फलपूर्वकक्षारूपतया फलमध्यपातित्वेन तदुपकारकत्वम् ॥

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥ असाधिकरणत्वाय विषयादिकमाहुः आत्मेत्यादि ।
इति प्राप्त इति । द्वारविचारेणावृत्त्यनर्थक्ये प्राप्ते । हेतुं व्याकुर्वन्ति छान्दोग्य इत्यादि ।
रश्मिः ।

धिकारि योनिशरीरादि तस्मिन् । भाष्ये । लिङ्गस्येति । नाख्येति । तदोकोऽग्रजलनसूत्रादिषु । अस्येति ।
विदुषः । तथेति । अन्यमार्गास्तेषाम् । शेषमिति । भोगे लौकिकव्यापारयुतत्वाभावादि । अध्या-
यार्थमिति । अनावृत्तिः फलमध्यायार्थः उपक्रमापेक्षमोपसंहारस्य ‘अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दा’दिति-
सूत्रीयस्यासञ्जातविरोधित्वात् । अनावृत्तत्वेन फलं गृह्यते । तच्च सपरिकरं बोध्यम् । तेन साधनादि-
निरूपणे नाव्याप्तिः ॥ १८ ॥

फलप्रकरण इति । देशकालौ प्रकरणम्, निबन्धे स्पष्टम् । तथा च देशकालयो-
रित्यर्थः । तत्प्रयोजनमिति । साधननिरूपणस्य प्रयोजनं फलसाधनयोरेकीकारः तस्यापि
प्रयोजनं ‘स्वयमेवात्मनात्मन’मिति वाक्यानुकूलत्वम् । फलपूर्वेति । स्वरूपस्य साधनत्वेनाङ्गीकारात्
तथा । अत्र भूमत्वेनैक्येपि सर्वात्मभावस्य दानसाध्यत्वाद्द्विलम्बोपस्थितिकत्वात्प्रसिद्धत्वाच्च, ज्ञानमात्रं
परं ब्रह्मोक्तज्ञानशक्तिरूपं साधनं तदनतिरिक्तत्वेन श्रवणं गृहीतम्, तच्च न श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कार-
रूपम् । जगत्साधारणत्वात् । किन्तु भगवद्वाचकपदवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यनिर्धारणरूपम् ।
भक्तिरत्नटीकायां स्पष्टीकृतम् । फलमध्यमेति । यद्यपि सर्वात्मभावः फलमध्यपाती भूमत्वात्तथापि
ज्ञानकाण्डे श्रवणरूपं ज्ञानं फलमध्यपाति । ‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य’ इति श्रुतौ दर्शनरूप-
ज्ञानसाधनज्ञानत्वेन ज्ञानत्वेनैक्यात्, ज्ञानं फलं साधनं च । तदुपकारकत्वं फलविभावकत्वम् ।
आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥ द्वारेति । दृष्टादृष्टद्वारविचारेण । स्यादिति । पुरुषार्थ-

तत्सत्यम्, स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ इतिवाक्येन जडजीवयोर्ब्रह्मात्मत्वं
नवकृत्वं उपदिष्टवान् । तथा च सकृदुपदेशेनैव चेदर्थसिद्धिः स्यात्, तदैकमेवार्थ-
मेकस्मा एकदैवासकृन्नोपदिशेत् । प्रयोजनाभावात् । एतेनावघातवदन्तःकरण-
दोषनिवर्तनं दृष्टं द्वारमन्येषामुपदेशानाम्, चरमस्य तस्य ज्ञानसाधकत्वमिति
मन्तव्यम् ॥ १ ॥

अत्रैव हेत्वन्तरमाह ।

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

श्रुत्यनुमापकत्वेन स्मृतिर्लिङ्गमित्युच्यते । सा च, “यथा यथात्मा परि-
सृज्यतेसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः । तथा तथा पश्यति तत्त्वसूक्ष्मं
यद्भुर्यथैवाजनसम्प्रयुक्तम्” इत्यादिरूपा, तदावृत्तिमेष फलसाधकत्वेनाह । अत्र
दृष्टान्तेनापि दृष्टद्वारकत्वं श्रवणादीनां सूच्यते । ‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्य’ इतिपदेन

भाष्यप्रकाशः ।

अर्थसिद्धिः स्यादिति । अदृष्टद्वारा स्यात् । अवघातवदिति । सप्तम्यर्थे वतिः । तेन तत्र यथा
वैतुष्यमेवमन्तःकरणदोषनिवर्तनम्, अतो नादृष्टमत्र द्वारम्, किन्तु दृष्टमेवात् आवृत्तिरा-
वश्यकी । तत्र यथान्येषामवघातानां वैतुष्यजनकत्वम्, चरमावघातस्य तण्डुलनिष्पादकत्वम्, एवम-
द्यान्येषामुपदेशानामन्तःकरणदोषनिवर्तनम्, चरमस्योपदेशस्य तु मनसा साक्षात्कारे
जनयितव्ये तत्सहकारितया ज्ञानसाधकत्वम् । शब्दादपरोक्षमितिवादास्य प्रागेव निरस्तत्वात् ।
न च चरमोपदेशस्य करणत्वमेवास्त्विति शङ्क्यम् । तथा सति प्रत्यक्षसामग्रिर्नैवत्येपि तत् स्यात् । तथा
सत्यसकृदुपदेशो मननादिविषयश्च युधेव स्युः । सामग्रीप्राबल्यार्थमेव तदुपयोगात् । प्रबलायां च
तस्यां शब्दस्य सहकारित्वमेव । लोके तथा दर्शनादिति । तस्मादावृत्तिरावश्यक्येवेत्यर्थः ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥ सूत्रमवतारयन्ति अत्रैवेत्यादि । अत्रैवेति । आवृत्तावेव । किं
लिङ्गमित्यपेक्षायां व्याकुर्वन्ति श्रुतीत्यादि । स्मृतावात्मपदमन्तःकरणपरम् । दृष्टान्तेनेति ।
रश्मिः ।

सिद्धिः स्यात् । भाष्ये । अर्थमुपदेशरूपम् । एकस्मै श्वेतकेतवे । एकदा एककाले । प्रकृते ।
तत्रेति । अवघाते । अत्रेति । श्रवणे । प्रागेवेति । । तत्स्यादिति । शब्दापरोक्षं
स्यात् । मननादीति । आदिना निदिध्यासनं ‘मनसैवानुद्रष्टव्य’मिति च । तदुपेति । तेषाम-
सकृदुपदेशादीनामुपयोगात् । तस्यामिति । प्रत्यक्षसामग्र्यात् । शब्दस्य उपदेशस्य । लोक इति ।
‘दशमस्त्वमसी’त्यादौ ।

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥ श्रुतीत्यादीति । आहेति । व्यञ्जनयाहेत्यर्थः । यथा यथेत्यत्र वीप्सा ।
अत्र व्यञ्जना, तयार्थः आवृत्तिरूपः प्रतीयते । दृष्टान्तेनेति । अत्र चक्षुषोऽनपरिमृष्टता दृष्टं द्वारम् ।
दृष्टद्वारकत्वमिति । आत्मपरिमृष्टता दृष्टं द्वारम् । एतावत्पर्यन्तमयमशुद्धान्तःकरणः, अधुना श्रवणा-
भिधानैः शुद्धान्तःकरण इति प्रतीतेः । एवं च दृष्टं द्वारमनुमितं द्वारम् । यद्वा । योगिभिर्दृष्टं ‘अनागत-

१ अत्राक्षररहितपङ्क्तिदर्शनाहेत्यमवशिष्टं दृश्यते तेन तुरीयाध्यायचतुर्थपादस्य द्वादशे सूत्रे शब्दपरोक्षज्ञानस्य
ब्रह्मज्ञानत्वाभावादित्यादिभावोत्रापि ग्रन्थकृदभिमतो भवेदिति व्ययम् ।

श्रवणादीनां फलात्मकं दर्शनं पूर्वसुक्त्वा, 'श्रोतव्यो मन्तव्य' इत्यादिना तत्साधनानि पश्चाद्यदाह तेनात्मनः परोक्षमपि ज्ञानमवान्तरफलरूपमिति भक्तिमार्गे परमफलरूपतत्सजातीयत्वेन च फलमध्यपाल्येवेति श्रुत्यभिमतमिति ज्ञायते । तेन सूत्रकृदपि फलप्रकरणेपि साधनविचारं चकारेति निगूढाशयः ।

भाष्यप्रकाशः ।

चक्षुर्दृष्टान्तेन । एवञ्च पूर्वाध्याये कर्मोपसंहारे 'सर्वथापि त एवोभयलिङ्गा'दित्यनेन श्रवणादीनां भगवद्भोगाणां यदवश्यकर्तव्यत्वमुक्तम्, तस्यावान्तरफलत्वाय तत्प्रकारोत्र फलाध्याये प्रथमत एव सूत्रद्वयेन दर्शितः । तेषां कथमवान्तरफलत्वमित्याकाङ्क्षायां श्रवणादीनामवान्तरफलत्वे बीजमाहुः 'आत्मा वाअर' इत्यादि । तत्सजातीयत्वेनेति । एकविषयतया साक्षात्कारसजातीयत्वेन । तथा च भक्तिमार्गेपि 'सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि । प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता' इति न्यायेनाभीष्टरूपत्वादान्तरफलत्वं बोध्यम् । 'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी । त्वामनुसरतः सा मे हृदयान्मापसर्पति'ति वैष्णवे प्रहादवाक्यादपि तथेत्यर्थः । अत्र गमकमाहुः तेनेत्यादि ॥ २ ॥

एवमेकेन प्रकारेण सूत्रं व्याख्याय तत्र दोषाभावेपि श्रुतौ कर्मज्ञानभक्तीनां मार्गाणामुक्तत्वेपि ज्ञानभक्तयोरेव फलत उत्कृष्टत्वम्, न तु कर्ममार्गस्यापीति श्रुत्याशयं स्फुटीकर्तुमत्र कर्ममार्गस्य फलजाघन्यमपि बोधयतीति हृदिकृत्वा प्रकारान्तरेण व्याख्यातुं तद्वीजमाहुः तथापीत्यादि । अस्मिन् दर्शने शब्दसैव प्राधान्याद् यद्यपि शब्द एव क्रमो मुख्यः, तथापि तत्र-
रक्षिः ।

मतीतं चे'ति वाक्यात् । अवान्तरफलत्व इति । तदित्यम् । श्रवणस्य शब्दपरोक्षज्ञानत्वम् । उक्तलक्षणाम्याम् । आदिना कीर्तनस्मरणे । परोक्षज्ञानरूपे । कीर्तनं शब्दोच्चारणं तच्छब्दज्ञानपर्यन्तमिति परोक्षज्ञानरूपम् । एकविषयकतयावान्तरफलत्वम् । तत्र बीजमाहुः बीजमिति । 'द्रष्टव्य' इति फलोत्तरोक्तिरूपम् । 'आत्मा वाअर' इत्यादीति । 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति श्रुतिः, 'भक्त्या मामभिजानाती'ति स्मृतिः । फलात्मकमिति । भक्तिफलात्मकम् । परोक्षमिति । शब्दं ज्ञानम् । अवान्तरेति । भगवद्विषयकज्ञानस्य फलत्ववदर्थोभेदात्तद्वाचकशब्दजन्यतज्ज्ञानस्यापि फलत्वमिति अवान्तरफलरूपमित्यर्थः । शब्दार्थयोरौत्पत्तिकसम्बन्धात् । एकविषयतयेति । परमफलेन रूप्यते व्यवहियत इति परमफलरूपं ज्ञानम्, विषयेण व्यवहारात् । परमफलरूपं च शब्दार्थयोरौत्पत्तिकसम्बन्धात् । तत्तत्सजातीयं परमफलरूपतत्सजातीयम् । तस्य भावः परमफलरूपतत्सजातीयत्वं तेनेत्यर्थः । ज्ञायत इति । एकस्यैव पाठार्थक्रमभेदेन श्रवणादिभ्यः पूर्वमार्थक्रमेणोत्तरं च द्रष्टव्य इत्यस्यान्वयात् । तथा चैको भगवान् विषयो ययोः शाब्दापरोक्षयोर्ज्ञानयोः ते एकविषये तयोर्भावः एकविषयता तथा । इयं परोक्षज्ञानस्य । नव्यवदिति । प्रथमान्तादिति । विटानां स्त्रियाः साधुवार्तेव । बोध्यमिति । शब्दपरोक्षस्य बोध्यम् । वैष्णव इति । विष्णुपुराणे । तथेति । अवान्तरफलत्वम् । अत्रेति । साधनरूपेऽवान्तरफले । गमकं प्रमाणं व्याससूत्रात्मकम् । निगूढेति । निगूढश्चासावाशयो निगूढाशयः, आशयोभिप्रायः स निगूढो-शब्दार्थः । किन्तु तात्पर्यार्थः । न तु कर्मेति । ज्ञानकाण्डत्वात् 'तमेतं वेदानुवचनेने'ति श्रुति-प्रवृत्त्या तथा । तद्वीजमिति । व्याख्यानबीजं फलप्रकरणासङ्गतत्वापातरूपम् । अस्मिन्निति ।

तथापि 'शाब्दक्रमादार्थक्रमो बलीयानिति न्यायात् 'द्रष्टव्य' इति पदस्य पश्चात्सम्बन्धे तूक्तीतिर्नावसरं प्राप्नोतीति प्रकृतविचारस्य फलप्रकरणासङ्गतत्वमापततीति प्रकारान्तरेण सूत्रार्थ उच्यते आवृत्तिसकृदुपदेशात् । श्रुतिर्हि कर्मज्ञानभक्तीः साक्षात्परम्पराभेदेन पुरुषार्थसाधनत्वेन हीनमध्यमोत्तमाधिकारिणः प्रति कर्तव्यत्वेन प्रतिपादयति । तत्र तेषां स्वरूपं तृतीयेध्याये वादरायणेन प्रतिपादितम् । अथ तुरीयेध्याये तेषां फलं चिन्त्यते । तत्रादौ कर्ममार्गस्य फलमुच्यते । ज्ञानभक्तयोरेव क्रमेणोत्तमात्पुत्तमफलकत्वम्, अतस्तत्साधनत्वेनैव तत् कर्तव्यम्, न तु स्वातन्त्र्येणेति ज्ञापयितुम् । आवृत्तिरिति । कर्ममार्गस्या-

भाष्यप्रकाशः ।

इयस्यैकशाह्यात् पूर्वतन्त्रस्याप्यादरणीयत्वम् । तत्र च क्रमलक्षणे 'क्रमकोपोर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्चे'त्यत्र 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागं पचती'त्यादौ शाब्दक्रमादरे यवाग्वाः पाकस्य च वैयर्थ्यप्रसङ्गाददृष्टार्थत्वादरे च गौरवात्तमनादत्य यवाग्वा होमसम्भवेन पूर्वोक्तदोषासम्भवादर्थ-क्रम एव युक्त इति निर्णीतम् । तद्व्यायाद् द्रष्टव्यादिवाक्येपि दर्शनानन्तरं श्रवणादीनां वैयर्थ्य-प्रसङ्गः फलसिद्ध्या मोक्षस्यैव सम्भवेनादृष्टस्यापि कल्पनायोग इति शब्दं तमनादत्य तेषां साधन-तया पूर्वमेव सम्बन्धो युक्त इति कश्चिदुद्भावयेत्, तदोक्तीतिरनवसरपराहता स्यादतस्त-योच्यत इत्यर्थः । एवं प्रकारान्तरं प्रतिज्ञाय तस्मिन् पूर्वाध्यायसङ्गतिं वदन्तः प्रस्तुतार्थमाहुः श्रुतिर्हीत्यादि । तत्र तेषां स्वरूपमिति । तत्र साधनविचारे तेषां कर्मज्ञानभक्तिरूपाणां पुरु-षार्थसाधनानां स्वरूपं खं प्रति नियतं फलोपयोगि रूपम् । अध्यायार्थमुक्त्वा इत्यमवतारयन्ति तत्रादावित्यादि । तत्कर्तव्यमिति । कर्म कर्तव्यम् । तथा च मार्गान्तरप्रवेश एव कर्मण उत्तमफलत्वम्, स्वतो मार्गत्वे तु जघन्यफलत्वमिति ज्ञापनाय कर्ममार्गफलमुच्यत इत्यर्थः । व्याजुर्वन्ति कर्ममार्गस्येत्यादि । फलमिति । साध्यान्तरसाधनव्यापारोपरमजनकं कार्यम् ।
रक्षिः ।

नैयासे । वादरिप्रतेर्थस्य । क्रमलक्षण इति । पञ्चमाध्याये । उक्तदोषेति । गौरववैयर्थ्यप्रसङ्गयोर-सम्भवात् । तमिति । क्रमम् । तेषामिति । श्रवणादीनाम् । पूर्व 'द्रष्टव्य' इत्यस्मात्पूर्वम्, उक्तीतिरिति । शाब्दक्रमीतिः । तथेति । प्रकारान्तरेण श्रुत्यर्थ उच्यत इत्यर्थः । पूर्वाध्यायेति । हेतुतासङ्गतिं वदन्तः । प्रस्तुतेति । प्रस्तुतं फलं तद्रूपमर्थमाहुरित्यर्थः । श्रुतिर्हीत्यादीति । हीनमध्यमेति । उत्तरकाण्डे साधनत्वं हीनत्वम् । तेषामिति । ज्ञानभक्तिरूपमिति सुवचम् । 'बहुध्वनियम्' इति सूत्रात्तथापि तदादीनामुत्सर्गतः पूर्वपरामर्शकत्वात् कर्मोन्तपराभर्श इति कर्मज्ञान-भक्तिरूपाणामितिरूपपर्यन्तमनुधावनम् । अध्यायार्थमिति । सपरिकरं फलरूपम् । भाष्ये । तत्साधनत्वेनेति । ज्ञानभक्तयोः साधनत्वेन । आधिदैविक्याध्यात्मिकचित्तशुद्ध्या । प्रकृते । जघन्येति । तदुक्तं 'न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनं कुतः पुनः शश्वदमद्रमीश्वरे । न चापितं कर्म यदप्यकारण'मित्यनेन । कर्ममार्गफल इति । कर्ममार्गफलनिमित्तमुच्यते । कर्ममार्गफलस्मरण-मत्राचार्याणां कृपालुत्वं द्योतयति । आचार्यश्चाचार्याश्चाचार्यास्तेषाम् । साध्यान्तरेति । साध्यं स्वर्गादि-तदन्यद्यद्भव तस्य साधनं ज्ञानं तस्य व्यापारः स्नेहः तस्योपरमस्तस्य जनकं स्वर्गादिकार्यम् ।

वृत्तिः पुनर्जन्म फलं तदपि असकृत् । इदं पदमावृत्त्योभयत्रापि सम्बध्यते । तथा चात्र प्रमाणापेक्षायां तदाह हेतुत्वेन असकृदुपदेशादिति । श्रुतौ कर्ममार्गे पुनर्जन्मासकृदुपदेशयते यतः । अन्यथा सकृदुपदेशेनैव तदवगमेष्यसकृदुपदेशो व्यर्थः स्यात्, अतस्तथेत्यर्थः । वाजसनेयिशाखायां पठ्यते, 'एवमेवायं शारीर आत्मैभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैवे'ति तत्रैव पुनःस्तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्कामतीत्युपक्रम्य, पठ्यते 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति । तत्रैवैतदनुपदमेव 'तद्यथा तृणजलायुके'त्युपक्रम्य, पठ्यते 'एवमेवायं पुरुष इदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याण-तरं रूपं तनुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा ब्राह्मं वा प्राजापत्यं वा दैवं वा मानुषं वान्येभ्यो वा भूतेभ्यः' इति । तत्रैवात्रे पठ्यते, 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्यथम् । तस्माद्धोकात् पुनरेत्यसौ लोकाय कर्मण' इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

उभयत्रेति । साध्ये हेतौ च । उभयत्र सम्बन्धस्य प्रयोजनमुच्यते । तथा चेत्यादिना । तथेत्यर्थः इति । पुनर्जन्मैव फलमित्यर्थः । तेन कर्मवाक्येषु यत् स्वर्गादिरूपं फलमुच्यते, तत् प्रतिपत्तिरूपमेवेति श्रुतिव्यतिरिक्तं बोधितम् । वाजसनेयिशाखायामिति । बृहदारण्यके शारीर-ब्राह्मणे । तथा चास्यां श्रुतावावृत्ताद्युपसंहार आद्युक्तावेव पूर्वकर्मन्यापारोपरमश्रावणात् कर्ममार्गस्य तदेव फलमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

भगवदिच्छापर्यन्तं भोगः स्वर्गादौ पश्चादावृत्तिः, खेदे त्वनावृत्तिरतस्तस्योपरम उक्तः । हिरण्यगर्भमोक्षे तु स्वर्ग आत्मसुखम् । तस्य कर्ममात्रं साधनम् । नन्वेतदेव हि देवा गायन्ति । 'अहो अमीषां किमकारी'ति वाक्ये देवानां खेदः स्मर्यते इति चेत् । सत्यम् । परन्तु चित्तशुद्धौ तु कर्मणा खेदद्वारा मोक्षः, 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्त्वि'तिवाक्याच्छ्रीभागवतवाक्याच्च । अत्र तु स्वर्गस्तेषां स्वर्गिणां खेदस्तु भोगशेषः, न तु निरुपधिरिति स्पृहायाः सोपधित्वम्, न तु निरुपधित्वमिति । अत्र कर्ममार्गस्येति पूर्वाप्यायसङ्ख्या लभ्यते । फलं ब्रह्मेत्यनुवृत्त्या । भोगेन त्वितरे इति सूत्रस्थः सम्पद्यत इत्युपसंहारेण ब्रह्मसम्पत्तिरूपफलोक्तेरावृत्तमानन्दविशिष्टमिति ज्ञाप्यतेऽतः फललाभः । उपक्रमस्य सञ्जातविरोधित्वान्न निर्णायकत्वम् । साध्ये हेतौ चेति । साध्ये त्वावृत्तिरसकृदिति । हेतौ त्वसकृदुपदेशादिति । तथा चेत्यादिनेति । अत्र साध्येत्यन्वये हेतुत्वेन तत्प्रमाणमाहेत्यर्थः । यत् इत्यन्तभाष्येण साध्येत्युक्तः । अन्यथेत्यादिभाष्येण हेतावन्य उक्तः । कर्मवाक्येष्विति । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यादिषु । प्रतिपत्तिरूपमिति । भक्तिहंसोक्तरीत्या स्वर्गलोकमध्यपातादावृत्तिरपि लोक इति प्रतिपत्तिस्तद्रूपमेव । भाष्यविरोधादेवकारः । तथा च विश्वः 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेपि च, प्रागल्भ्ये च प्रबोधे च प्रतिपत्तिः प्रयुज्यते' इति । प्रागल्भ्ये च । श्रुतीति । कर्मवाक्य-रूपा । तथा चेति । आवृत्तिपर्यन्तश्रुत्युपन्यासे च । पूर्वकर्मन्यापारेति । देहारम्भात्पूर्वस्य कर्मणो व्यापारः सुकृतदुःकृतभोगजनकः तस्योपरमः 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य'तिश्रुत्या श्राव-णात् । तदेवेति । स्वर्गरूपमावृत्त्यादिसहितम् । भाष्यविरोधापत्तेरेवकारः ।

अत्र हेतवन्तरमाह लिङ्गाच्च । वेदानुमापकत्वेन स्मृतिर्लिङ्गमित्युच्यते । सा च भगवद्गीतासु 'त्रैविद्या मा'मित्युपक्रम्य पठ्यते 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्त' इति । 'आब्रह्मभवनाद्धोकाः पुनरावर्तिनोर्जने'ति च ।

अथवा 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'ति श्रुतिर्वर्तमानजन्म-कर्मणोः पूर्वजन्मसम्बन्धिकर्मोनुमापकत्वं वदतीति कर्मिणः पुनर्जन्मावश्यकमिति ज्ञायते । एवं सति लिङ्गत्वेन निरूपणादित्यर्थः सम्पद्यते । निवृत्तिमार्गीयस्यापि तस्य ज्ञानोपकर्तृत्वमात्रम्, न तु जन्मनिवर्तकत्वम्, मानाभावात् ॥ २ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे प्रथममावृत्त्यधिकरणम् ॥ १ ॥

एवं कर्मफलं विचार्य ज्ञानफलं विचारयति ।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥ (४।१।२)

पूर्वार्थनिरूपणव्यवच्छेदाय तुशब्दः । ज्ञानिनो हि भगवन्तमात्मत्वेनै-

भाष्यप्रकाशः ।

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥ लिङ्गपदस्य स्मृतौ प्रयोगप्राचुर्याभावात्तदेवं युक्तमित्यतः पश्चान्तरेण व्याकुर्वन्ति अथचेत्यादि । 'यथाकारी'त्यारभ्य 'पापो भवती'त्यन्तेन पूर्वकृतकर्मणः फलमुक्त्वा 'पुण्यः पुण्येने'त्यादि यद् वदति, तदेतज्जन्मीनकर्मणः पूर्वकर्मानुमापकत्वायैव वदति । अन्यथा पुनरुक्तं स्यादतस्तथेत्यर्थः । सूत्रार्थमाहुः एवं सतीत्यादि । ननु तर्हि निवृत्तस्य कर्मणोपि तथा-त्वापातो 'निवृत्तं कर्म सेवेते'त्याद्यनुज्ञावैयर्थ्यं च स्यादित्यत आहुः निवृत्तीत्यादि । तथा चाङ्ग-त्वदशायां तस्य प्रधानोपकारातिरिक्तफलाभावात् प्रधानेन ज्ञानेनैव जन्मनिवृत्तेर्न तद्वैयर्थ्य-मित्यर्थः । अस्मिन् पक्षे इदं सूत्रद्वयं नाधिकरणरूपमिति बोध्यम् । अन्ये त्वत्र पूर्ववर्णकोक्त-रीत्या जघन्याधिकारिणः श्रवणादिप्रत्ययावृत्तिमात्रं साधयन्ति । अस्य साधनाश्रयविचारस्यात्र प्रवर्तने बीजं तु न किञ्चिदपि वदन्तीति तच्चिन्त्यम् ॥२॥ इति प्रथममावृत्त्यधिकरणम् ॥१॥

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥ सूत्रमयतार्थं व्याकुर्वन्ति पूर्वैत्यादि । नन्वात्मशब्दः सन्मात्रादिप्रत्ययान्तद्वादशलक्षणविशिष्टवस्तुबोधकः । इतिशब्दः प्रकारवाची । तस्य च विस्मृतकण्ठमणिज्ञानवज्ज्ञानं मोक्षसाधनमित्येवार्थोऽत्राङ्गीकार्यः । यत् उपगच्छतीत्यस्य ज्ञानार्थतैव प्रसिद्धेति साधनाश्रय एवात्र विचारः प्रतीयते इति कथमस्य फलाश्रयत्वमित्यतस्त-दुपपादयन्ति ज्ञानिनो हीत्यादि । ज्ञानिनो ज्ञानमार्गीयाः, ते हि 'आत्मेत्येवोपासीत' 'स रश्मिः ।

लिङ्गाच्च ॥२॥ नेदमिति । 'लिङ्गं स्मृति'रिति व्याख्यानं न । तथेति । कर्मिणः पुनर्जन्मावश्यक-मिति ज्ञायत इत्यर्थः । एवं सतीत्यादीति । एवं सति पुनरुक्त्यभावात् एतज्जन्मीनकर्मणः पूर्वकर्मानुमाप-कत्वे सिद्धे सति । आवृत्तौ श्रुतेर्लिङ्गत्वेन हेतुत्वेन प्रमाणत्वेन निरूपणात् । अत्रावृत्तौ श्रुतिलिङ्गादिति हेतुः । भाष्ये तु सूत्रार्थ उक्तः । एतज्जन्मीनकर्मणः पूर्वकर्मानुमापकत्वं वैद्यके तु कर्मविपाके स्पष्टम् । तथात्वेति । आवृत्तिसाधकत्वापातः । निवृत्तं कर्म मोक्षसाधकं हिरण्यगर्भस्य । इत्यादीति । आदिना 'किं प्रजया करिष्यामः' इति श्रुतिः । तस्येति । कर्मणः । तद्वैयर्थ्यमिति । प्रधानाङ्गं कर्म निवृत्तं तस्य वैयर्थ्यम् । नाधीति । संशयाद्यभावात्तथा । अन्गादीति । प्रत्ययो ज्ञानम् । साधनेति । साधनं श्रवणाद्याश्रयतीति एव साधनाश्रयः । तस्य ॥२॥ इति प्रथममावृत्त्यधिकरणम् ॥१॥

बोपासते । तस्या नैरन्तर्येनेकजन्मभिस्तथैव तेषां हृदि भगवान् स्फुरति । तदा खानन्दांशस्याप्याविर्भावात् 'ब्रह्मभूतः' सत्तात्मत्वेनैव ब्रह्म स्फुरितमिति तदानन्दात्मकः संस्तमनुभवति । एवं स्थितः प्रारब्धसमाप्तौ देहापगमे तत्रैव प्रविष्टो भवति । एतादृशः सर्वोपकारीति परार्थमपि तस्मै भगवता ज्ञानं दत्तमिति प्रवचनमपि तस्य फलान्तःपातीत्यधिकारिण्युपस्थिते तथैवोपदिशति च । एतदेवाह आत्मेत्यादिना । उप समीपे गमनं प्रवेश इति यावत् ।

भाष्यप्रकाशः

म आत्मेति विद्यादित्यादिवाक्येभ्य आत्मत्वेनैव भगवन्तमुपासते । तस्या उपासनाया नैरन्तर्ये, 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' इति स्मृतेरनेकजन्मभिरात्मत्वेनैव भगवान् हृदि स्फुरतीति 'त्वं वै अहं भगवो देवते अहं वै त्वं भगवो देवते' इति व्यतिहारादवसीयते । तदा बहूभ्यासे जीवानन्दस्याप्याविर्भावात् सच्चिदानन्दानां त्रयाणां प्रकट्ये 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुतेर्ब्रह्मभूतः सन्, आत्मत्वेनैवेत्याद्युक्तरीत्या ब्रह्मानन्दात्मकः सत्तात्मानं साक्षात्करोति । ततः प्रारब्धसमाप्तौ ब्रह्मण्येव प्रविष्टो भवतीति मुख्यं ज्ञानिनः फलमुपगच्छन्तीत्यनेनोक्तम् । ग्राहयन्तीत्यनेनावान्तरं तदुच्यते इत्याशयेन तदुपपादयन्ति एतादृश इत्यादि । फलान्तःपातीति । भगवत्कृपाकार्यत्वात् फलान्तःपाति । तथा चायं ब्रह्मार्थः । इतिशब्दः प्रकारे । पूर्वसूत्रद्वये श्रवणाद्यावृत्तेरुक्तत्वाच्छ्रवणादौ च ब्रह्मण एव विषयत्वात्तत्प्रकृतं ब्रह्म आत्मा स्वात्मा इति एवंप्रकारेण उपगच्छन्त्यनुभवन्ति । तत्कृतन्यायेन तत् प्राप्नुवन्ति, अन्यानप्यधिकारिणो ग्राहयन्ति, उपदिशन्ति चेति बोध्यः । ननु भवत्विदमेवम्, तथापि आत्मत्वेन ग्राहणस्य तादृशप्रहणानन्तरभावित्वात् 'उपगच्छन्ती'त्यस्य ज्ञानमेवार्थत्वेन प्रतीयते, न तु प्रवेश इत्यत आहुः उपेत्यादि । तथा चोपगच्छन्तीत्यत्र कर्त्रपेक्षायां साधक-

रश्मिः ।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥ पूर्वैत्यादीति । कर्ममार्गफलरूपार्थनिरूपणव्यवच्छेदाय । सन्मात्रादीति । आदिना..... इत्येवेत्यत्रैवकारः पुरुषोत्तमज्ञानव्यवच्छेदकः । तदुपपादयन्तीति । फलाश्रयत्वमुपपादयन्ति । उक्तमिति । उपोपसर्गविशिष्टत्वादिति भावः । तदुच्यते इति । फलमुच्यते । तदिति । अवान्तरत्वं, शाब्दरूपं ग्रहणमवान्तरम् । तथा च 'ग्राहयन्ती'त्यस्य ग्राहणमुपदेशं करोतीत्यर्थः । भगवदिति । स भगवान् शुक् इव तदानीं गुरुत्वमिति तल्लक्षणं कृपालुत्वमिति कृपोपस्थितिः । तन्मुख्यं कार्यं 'आत्मेति तूपगच्छन्ती'त्युक्तम् । तद्दुपदेशः प्रवचनं पूर्वैकक्षारूपत्वादान्तरं भगवत्कृपाकार्यं तत्त्वात् । फलेति । नवधाभक्त्यन्तःपात्यर्चनवत् । ज्ञानमेवेति । ग्रहणरूपं ज्ञानम्, 'यो गच्छति, तं गमयती'त्यत्र णिचस्थले तथा दर्शनादेवकारः । न तु प्रवेश इति । वादी 'अनुभवती'त्यत्र सूत्रांशसमाप्तिं मन्यत इति भावः । धातुनामनेकार्थत्वात् । तथा चोपेति । उपगच्छन्तीत्यस्योपासते प्रविशन्तीत्यर्थद्वयम् । यद्वा । उपासते नाम प्रविशन्तीत्यर्थः । मनोमात्रमिदं ज्ञात्वेतिपक्षे मनोनिवेशनरूपव्यापारस्य देहापगमे 'तत्रैव प्रविष्टो भवती'त्यत्र प्रवेशरूपत्वेपि बाधकाभावात् । नन्वाकाशशरीरस्याणोर्जाविस्य प्रवेश इति नोपासनेनैकवाक्यतेति चेत् । न । तर्ह्युपासनमुप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणमस्तु इति । तथा चोपासन उपविशन्तीत्येकार्थके क्रियापदे । एकादशस्कन्धोक्तलक्षणात् । ज्ञानिन उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यं कुर्वन्ति

अथवा । ननु ज्ञानभक्त्योरनावृत्तिः फलम्, अत उत्तमे ते, न तु कर्मैत्याशयेन कर्मणः फलमावृत्तिरिति यन्निरूपितम्, तत्रेदं चिन्त्यते । 'न स पुनरावर्तत' इतिश्रुतिः सर्वथानावृत्तिमाह, उत सावधिकीं ताममरशब्देन तन्निरूपितमिष । किमत्र युक्तम् । सावधिकीमेवेति । तथाहि । पूर्वं कर्मनैयत्यस्य त्वयाप्यङ्गीकार्यत्वात् तस्य प्ररोहैकस्वभावत्वात्तस्य दुरतिक्रमत्वात्तत्फलानुभवस्यावश्यकत्वात् । अपि च, 'य एनं विदु'रिति श्रुतेः सति ज्ञाने हि सा । 'यतो वाचः,' 'अगृह्यो न

भाष्यप्रकाशः ।

मात्रस्य ग्रहीतुमशक्यत्वाज्ज्ञानिन एव कर्तृत्वेन वाच्याः । तथा सति कर्तृविशेषणत्वेनैव तत्राप्यास्वार्थद्वयसङ्गाहकत्वाद्योगान्तरेण तस्य फलबोधकत्वं नायुक्तम् । अत्र फलस्यैव प्रकरणादिति । तथा चात्मनि प्राप्ते पुनरावृत्त्यभावाज्ज्ञानस्थानावृत्तिरेव फलमित्यर्थः । अस्मिन् पक्षे एतस्यापि सूत्रस्य नाधिकरणत्वम् । पूर्वशेषत्वात् ।

एवमत्र ज्ञानफलस्य कथनात् कैश्रुतिकेन भक्तिफलस्य द्युचितत्वेप्यविशेषितत्वात् तद्विषयवचनाय पूर्वसूत्रयोर्द्वितीयवर्णके यदुक्तम्, तदुपपद्यमानं चेदमप्यधिकरणान्तरमेवेत्याशयेनाहुः अथवेत्यादि । तत्रेति । अनावृत्तौ । विषयमुक्त्वा संशयमाहुः न स इत्यादि । उक्तवाक्येन 'गृहिणोपसंहार'स्थले कर्मकरणमुक्तम् । सन्न्यासिनो ज्ञाने स्वरूपोपकाराय कर्मकरणं सर्वोपेक्षाद्येपि स्थापितम् । कर्मणां प्ररोहैकस्वभावत्वं च संयमनाधिकरणे पूर्वसूत्रयोर्द्वितीयवर्णके च व्यवस्थापितम् । एवञ्च ज्ञानवता कर्मकरणेऽपुनरावृत्तिश्रुत्यावृत्तिश्रुत्योर्विरोध आपततीति तत्सन्देहबीजं बोध्यम् । पूर्वपक्षमुपपादयन्ति तथाहीत्यादि । अनावृत्तिश्रुतेः पूर्व 'यावदायुषमेवं वर्तय'मिति श्रावणादनावृत्तेः पूर्व जीवदशायां कर्मनैयत्यस्य त्वया सिद्धान्तिनाप्यङ्गीकार्यत्वात् कर्मणां च प्ररोहैकस्वभावत्वात् स्वभावस्य च दुरतिक्रमत्वाज्ज्ञानान्तरे पूर्वकर्मफलानुभवस्यावश्यकत्वादानावृत्तिश्रुतिः पूर्वानुरोधेन सावधिकीमेव तां वदतीत्यर्थः । एवमावृत्तौ साधकमुक्त्वानावृत्तौ बाधकमाह । अपि

रश्मिः ।

नाम देहापगमे तत्रैव प्रविष्टा भवन्ति यथायोग्यं सत्तां कुर्वन्तीत्यर्थः । तत्राप्येति । ज्ञानिन इति विशेषणाज्ज्ञानप्राप्त्या । अस्येत्यादि । कर्तृवाचकपदस्यार्थद्वयं ज्ञानस्वरूपं तस्य सङ्गाहकत्वात् । ज्ञानिकर्तृपदे योगः करणव्युत्पन्नज्ञानयुक्तः परतन्त्रत्वेन करोतीति कर्ता । तदन्यो योगः भावव्युत्पन्नज्ञानरूपफलयुक्तः स्वतन्त्रत्वेन करोतीति कर्तेति । तस्येति । अर्थद्वयवाचकजातिकर्तृपदस्य । ज्ञानस्येति । करणव्युत्पन्नसाधनस्य । एवेति । अप्यर्थे । ज्ञानफलान्तःपातिन्यनावृत्तिरपि फलमित्यर्थः । नापीति । विशयाद्यभावात् तथा । अथवेत्यादीति । न तु कर्मेति । न तु कर्मोत्तममित्यर्थः । यन्निरूपितमिति । पूर्वसङ्गत्यर्थम् । अनावृत्ताविति । तत्रोभयोरनावृत्त्यनावृत्त्योरनावृत्तेरनुपपादादवशिष्टायाभनावृत्तावित्यर्थः । विषयमुक्त्वेति । 'आत्मेत्येवोपासीत स म आत्मेति-विद्या'दित्यादि विषयमपुनरावृत्तिवाक्यघटितम् । अनधिकरणत्वपक्ष एवोक्तार्थः । अपुनरावृत्तिघटितवाक्यार्थाधिकारिणो गृहस्थाः सन्न्यासिनश्चेत्युक्तेन विषयवाक्येनाधिकारिद्वयमाहुः । न स इत्यादीति । तामिति । अनावृत्तिम् । तन्निरूपितमिति । सावधिकीं मरनिवृत्तिम् । उक्तवाक्येनेति । गृहिणेति । कृत्स्नभावसूत्रेत्यर्थः । कर्मकरणमिति । 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्ये'ति श्रुत्या । ज्ञानवतेति । जनकेन । तत्सन्देहेति । तदिति विधेयलिङ्गम्, विरोध इत्यर्थः । श्रावणादिति । छन्दोग्येऽन्ते श्रावणात् । पूर्वेति । अमरदृष्टान्तानुरोधेन । तामिति । अनावृत्तिम् । साधकमिति ।

हि गृह्यत' इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मज्ञानासम्भवात् । इत एव भक्तिरपि प्रत्युक्ता वेदितव्या । ज्ञानाविषये स्नेहासम्भवात् । किञ्च । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इत्यादिश्रुतिभ्यो 'यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः, न यं विदन्ति तत्त्वेने'त्यादिस्मृतिभ्यश्च का प्रत्याशा जीवस्यातिहीनस्य तत्प्राप्तौ । अत एवोपदेशासम्भवोऽपीति प्राप्ते प्रत्याह आत्मेतीत्यादिना । तुशब्दः पूर्वपक्ष-निरासकः ।

अत्रायमाशयः । सत्यमुक्तं भवता । तत्रोच्यते । यथाऽगृह्यत्वातिमहत्त्वादि-धर्मा भगवति सन्ति, तथा सर्वात्मत्वमपि । 'य आत्मनि तिष्ठ'मित्यादिश्रुति-त्वात्मत्वेनैवोक्तेः । सर्वधर्माश्रयत्वेपि यदा यं धर्मं पुरस्कृत्य लीलां करोति, तत्कार्यमेव तदा सम्पद्यते । हितकारित्वस्वभावत्वात् तस्य । एवं सति यस्मिन् पुरुषे यदात्मत्वेन लीलां करोति, तदा स्वप्राप्त्यनुकूलप्रयत्नवन्तं विधायतात्मानं प्रापयति । ननुक्तं दुरतिक्रमः कर्मस्वभाव इति । नैष दोषः । न ह्यधरसपाकाय

भाष्यप्रकाशः ।

चेत्यादि । सेति । अनावृत्तिः । तथा च ज्ञानाभावे तत्कार्यभूता अनावृत्तिरपि न वक्तुं शक्या । न च भक्त्या सेत्यत आह इत इत्यादि । तथा च भक्तेर्माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहरूपत्वात् स्नेहस्य च ज्ञानोत्तर-मेव सम्भवेन तदविषये स्नेहस्याशक्यवचनत्वेन भक्तेरप्यसम्भवादित्यर्थः । एवं प्रमाणबलेन साधनदौर्घ्यरूपं बाधकमुक्त्वा फलविचारेणापि तदाह किञ्चेत्यादि । अत्र श्रुत्या प्राप्तिदौर्घ्यं स्मृत्या च तत्साधनभूतज्ञानदौर्घ्यमुक्तम् । न च केवलकरणबलेन ज्ञानासम्भवेपि शब्दसहकृतेन ज्ञानसम्भवमाशङ्क्य निराचष्टे अत एवेत्यादि । शब्दो हि श्रुतः सहकरोति । भ्रवणं चोपदेशा-दुपदेशश्च ज्ञानादतो गुरुरेव, ज्ञानदौर्घ्यादुपदेशस्याप्यसम्भव इत्यर्थः । तथा च सर्वथानावृत्तौ साधकस्याभावाद् बाधकार्णां च बहूनां सत्त्वादिनावृत्तिः साधकियेवाङ्गीकार्येति कर्मज्ञानमक्तीनां फलतो न कश्चिद्विशेषः । वस्तुतस्तु तयोः सम्भव एव दुर्घट इति कर्मफलमेव फलम्, नान्यदिति पूर्वः पक्ष इत्यर्थः । सिद्धान्तं वक्तुं ह्यत्र व्याकुर्वन्तः पूर्व ज्ञानदौर्घ्यमप्राप्यत्वं च परिहरन्ति ।

रश्मिः ।

कर्म । आवृत्तित्वेन कर्मत्वेन कार्यकारणभावात् । न च हिरण्यगर्भमोक्षे कर्मणामनावृत्तिरिति अन्वयव्य-भिचार इति वाच्यम् । सृष्टीच्छयावृत्तिरित्यङ्गीकारात् । बाधकमिति । ज्ञानाभावम् । यत इत्यारभ्य असम्भवादित्यन्तर्भाष्यार्थमाहुः न च भक्त्येत्यादिना । प्रमाणेति । 'यतो वाच' इत्याद्युक्त-प्रमाणबलेनेत्यर्थः । साधनेति । ज्ञानदौर्घ्यरूपम् । तदाहेति । बाधकमाह । केवलेति । केवलशब्दज्ञानबलेनानुभवात्मकज्ञानासम्भवेपि । श्रुत इति । न तु तूष्णीम् । भ्रवणमिति । श्रुत इत्यत्र विशेषणं यत्तु । गुरुरेव । उपदेशो गौरवप्रसा एव । भाष्यविवरणं ज्ञानदौर्घ्यादित्यादि । ज्ञानदौर्घ्यादेवोपदेशस्यासम्भवोपीति योजना । भाष्यात् । साधकस्येति । ज्ञानस्य । बहूनामिति । कर्माद्यज्ञानानामभरदृष्टान्तानाम् । फलत इति । अनावृत्तिः । दुर्घट इति । 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवा'निति वाक्यात्, 'युक्तानामपि सिद्धाना'मिति वाक्यात् । कर्मफलं स्वर्गादि । भाष्ये । सन्तीति । 'न यं विदन्ती'त्यत्र ज्ञानाभावसाधकाः । सर्वात्मत्वमिति । ब्रह्मत्वेन ज्ञानसाधकम् । 'अवमात्मा ब्रह्मे'ति श्रुतेः । आत्मत्वेनैवेति । एवकारेण ब्रह्मत्वेनाज्ञानयोगो व्यवच्छिद्यते । तत्कार्यमिति । यथा गोवर्द्धनोद्धरणत्वलीलां मत्तमनोरथपूरकत्वधर्मं पुरस्कृत्य करोति, तत्कार्यं भक्त्यैव सम्पद्यते । प्रकृते । कर्मस्वभावेति । पृथगन्तादिति । कर्मस्वभावो नावृत्तिप्रतिबन्धको

जग्धमौषधमपि गौरवाय भवति, नेन न तन्निवृत्तिर्वा । व्यापादनैकस्वभावमपि विषमाशीविषं तदपगमपदुतरनिगमसङ्गमो नापगमयति वा । तथा भगवदपि तं तदर्थं च कृतं कर्म न कर्मनाशाय भवतीति न वक्तुं शक्यम् । 'कर्ममोक्षाय

भाष्यप्रकाशः ।

तुशब्द इत्यादि । प्रापयतीत्यन्तम् । सत्यमुक्तमिति । 'यतो वाच' इत्यादिना, किञ्चेत्या-दिना च यदुक्तम्, तत्सत्यमुक्तम् । आत्मत्वेनेति । शरीरभूतसात्मनो नियामकत्वेन । तस्येति । आत्मनः । तथा च कर्मस्वभाववदात्मस्वभावस्यापि तथात्वात् स्वयमेव भगवान् खली-लानुसारेण ज्ञानप्रणाढ्या भक्तिप्रणाढ्या वा यथाविकारं स्वात्मानं प्रापयतीति न ज्ञानमत्त्यात्म-प्राप्तीनां दौर्घ्यमित्यर्थः । अत्र शङ्कते नन्वित्यादि । तथा चात्मकर्मणोरुभयोरपि स्वभावस्य तथात्वादानावृत्तिसावधिकत्वानवधिकत्वयोः संशय एव पर्यवस्यतीत्यर्थः । एतत् समाधातुं कर्मस्वभावातिक्रमप्रकारं व्युत्पादयन्ति । न हीत्यादि । तथा च यथाधौषधयोर्द्रव्यत्वेन भक्ष्य-त्वेन च तौल्येपि तयोर्नैकस्वभावत्वम्, अपि तु स्वभावभेदः, यथा च निगमस्य विषादिस्वभाव-नाशकत्वेपि तत्कार्यप्रतिबन्धकत्वम्, तथात्र 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणी'त्यादिवोधितस्य भगवद-पितस्य तदर्थं कृतस्य च कर्मणः कर्मत्वे तुल्येपि स्वभावभेदो वा, भगवदपिणादेस्तत्स्वभावनिवर्त-कत्वं वेत्यदोषः । उक्तं च मार्कण्डेये रौच्यमन्वन्तरे 'अविद्याप्युपकाराय विषवजायते तृणाम् । अनुष्ठिताभ्युपायेन बन्धायात्या यतो हि सा' इति । अविद्येति विद्याभिन्नं कर्म, भावरूपमज्ञानं चेत्सुभयमपि सङ्गृह्यते । एतदेव श्रुतितात्पर्यमित्यत्र गमकमाहुः कर्मनाशापेत्यादि । एतदेका-दशस्कन्धे योगेश्वरवाक्यं 'परोक्षवादी वेदोऽथ बालानामनुशासनम् । कर्मनाशाय कर्माणि विद्यसे षगदं यथे'ति । क्वचित्तु कर्ममोक्षापेतिपाठः, तदाप्यर्थतौल्यम् । आत्मस्वभावस्य तु न नाशादि-शङ्का । 'अनुच्छिद्यते'ति श्रुतेः, 'सर्वस्य वशी'त्यादिश्रुतेश्च । ततोधिकबलस्यान्यस्याभावात् ।

रश्मिः ।

शावृत्तिपरिणामकः । आत्मस्वभावः आवृत्तिप्रतिबन्धकोनावृत्तिपरिणामकः । तथात्वादानावृत्तिपरि-णामकत्वात् । प्रमेयबलमाहुः स्वयमेवेति । कर्मादीनामप्रतिबन्धकत्वायायमेव मार्गः । तथा चेति । उक्तपदं भावव्युत्पन्नं केन प्रकारेणेत्यत्र आहुः । दुरतीति । इतिप्रकारेण तत्रात्मप्रवेश उत्तरे सति चेत्यर्थः । तथात्वादिति । दुरतिक्रमत्वात् । संशय एवेति । अनावृत्तिसावधिकत्वे कर्मस्वभावो बीजम् । अनावृत्त्यनवधिकत्वे आत्मस्वभावो बीजमित्येवकारः । नैकेति । रसपरिणामहेतुत्वम् । स्वभावभेद इति । अत्रस्यापदुतरजगधस्य रसपरिणामहेतुत्वम् । औषधस्य रसनिवृत्तिपरिणामहेतुत्व-मिति स्वभावभेदः । निगमस्येति । वणिजस्यौषधिदानद्वारा । यद्वा । निगमस्याभ्यस्तवेदस्य । तदुक्तं 'अनभ्यासाव वेदानां मृत्युर्विप्रान् जिघांसती'ति निबन्धे । तत्कार्येति । भरणप्रतिबन्धकत्वम् । अत्रेति । दाष्टीन्तिके । 'आत्मनी'ति श्रुतिरञ्जन्दोग्यसमाप्तौ । तुल्य इति । अन्यकर्मणा तुल्ये । स्वभावभेद इति । भगवदपितस्येत्यादिकर्मणः कर्मनाशपरिणामहेतुत्वमन्यस्य कर्मण आवृत्तिपरि-णामहेतुत्वं स्वभाव इति स्वभावभेदः । तत्स्वभावेति । कर्मस्वभावनिवर्तकत्वम् । इत्यदोष इति । एवं कर्मस्वभावातिरिक्तप्रकारेण दुरतिक्रमकर्मस्वभावरूपो दोषो न । संगृह्यत इति । अन्यापि योजना । उपकाराय नाशे प्रतियोगित्वेनोपकाराय । विषवदिति । प्रथमान्तादिति । अनुष्-तेनाभ्युपायेन कर्मनाशकज्ञानकर्मणाम् । अन्यानुष्ठिताभ्युपाययुक्तान्यावधिका बन्धाय मता यतः साऽविद्येत्यर्थः । अनुच्छिद्यतीति । न उच्छित्तियेषां ते अनुच्छित्तयः ते धर्मो यस्येत्युच्छित्तिधर्मो

कर्माणि विघ्नते ह्यगदं यथेति वाक्यात् । अगृह्यत्वगृह्यत्वविरोधापहारस्तु जीवसामर्थ्येद्वरेच्छाभ्यां पुरैव कृत इति नाधिकमत्र निरूप्यम् । इतिशब्दो हेत्वर्थः । तथा च भगवानात्मा भवति सर्वेषां जीवानामतो हेतोरुक्तरीत्या तदनुग्रहेण तमुपगच्छन्ति । ज्ञानमार्गेऽङ्गीकृतास्त्वात्मत्वेनैव ज्ञानादुप समीप एव गच्छन्ति, उक्तरीत्याक्षरात्मके तत्रैव प्रविष्टा भवन्तीत्यर्थः । भक्तिमार्गेऽङ्गीकृतास्तु साक्षात् प्रकटे पुरुषोत्तमे सति तद्भजनार्थमुप समीपं गच्छन्तीत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु विरुद्धधर्माधारत्वाद्धर्मा एव स्वभावबाधका भवन्तिवत्याशङ्क्य तेषामप्यबाधकत्वमाहुः अत्राद्येत्यादि । एतेन ज्ञानादिदोषैर्वापि परिहृतम् । एवं बाधकं परिहृत्य छत्रं व्याकुर्वन्ति । इतिशब्द इत्यादि । आत्मशब्दार्थस्तु सर्वान्तर्यामित्वादिरूपः पूर्वोक्त एव । एतावान् परं विशेषो यज्ज्ञानिनां प्रत्यग्रसत्त्वप्राधान्येन तत्स्फूर्तिर्भक्तानां तु सर्वात्मत्वपरमप्रियत्वानन्दप्राधान्येनेति । अत उक्तरीत्या यस्य मार्गस्य या रीतिः क्रमाक्रमेण च्युत्पादिका, तथा रीत्या तं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । उपगमनं विभजन्ते । ज्ञानमार्गं इत्यादि । भजनार्थमुप समीपे गच्छन्तीति ।

रक्षितः ।

इति व्युत्पत्तिः । एतेनेति । विरुद्धधर्माधारत्वेन । परिहृतमिति । ईक्षतेर्नाशशब्दमित्यत्र यावद्धर्मवत्त्वेन ज्ञानखेददोषैर्वापि । बाधकमिति । आत्मोपगमने आत्मग्राहणे च बाधकमगृह्यत्वादिकम् । भाष्ये । पुरैवेति । उभयव्यपदेशाधिकरणे । प्रकृते । सर्वान्तरिति । सर्वान्तर्यामित्वमादिश्या व्यक्तेः सा सर्वान्तर्यामित्वादिः, जातिव्यक्तिभ्यां रूप्यत इति तथा । पूर्वोक्त इति । अत्रैव पूर्वमन्तर्यामिग्राहणोपन्यासे 'नायं शुद्धापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः । ज्ञानिनां चात्मपोतानां यथा भक्तिमतमिहेत्यनेनोक्तं तारतम्यं सर्वेषां जीवानामिति भाष्य आहुः एतावानिति । प्रत्यग्रसत्त्वं यद्यपि प्रतिदेहमात्मा तत्त्वं तथापि ज्ञानिनां ज्ञानकृते विशेषे प्रतीचो रसत्त्वं कारणदृष्ट्या शान्तरसत्त्वं तस्याधान्येनेत्युक्तम् । न तु प्रत्यगात्मत्वेन, 'सुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति'रितिवाक्यात् । प्रत्यग्रस एवात्मपोतः । संसारसागरे प्रत्यग्रसत्त्वे तरणमिति 'शान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठति'रित्युक्त्वा 'त्मन्येवात्मानं पश्ये'दिति श्रुतेः । 'ज्ञानी चेद्भगते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः,' 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इति वाक्याभ्यां सर्वात्मत्वं ज्ञानिविषयः । भक्तत्वेऽभेदस्य प्रतिबन्धकत्वेन परमप्रियत्वेन स्फूर्ती कर्मकर्तृव्यपदेशादत एव फलत्वेन सच्चिदानन्देष्वानन्दप्राधान्येनेति । एतावत्पर्यन्तं ज्ञानमार्गे ज्ञानादित्यन्तं भक्तिमार्गे सत्यन्तं भाष्यमपि विवृतम् । उभयोः फक्कि-कयोरग्रेतनभाष्यार्थमपि वदन्तः प्रकृतस्यातो हेनोरिति भाष्यस्यार्थमाहुः अत उक्तरीत्येति । व्याख्येये इमे, यथेति व्याख्यानम् । क्रमाक्रमेति । क्रमः पापामावानन्तरं मर्यादाभक्तिरक्रमः पापसत्त्वेपि पुष्टिभक्तिरिति । व्युत्पादितेति । तत्रोच्यत इत्यादिभाष्येण । यं धर्मं पुरस्कृत्येत्स्यानुग्रहं पुरस्कृत्य भक्तिमार्गं उभयविधे ज्ञानमार्गे तु प्रतिजीवं विचारितफलसाधनेच्छां पुरस्कृत्येत्सार्थात् । विभजन्त इति । भक्तिज्ञानभेदेनेत्यर्थः । ज्ञानमार्गं इत्यादीति । अर्थो तुभयोः फक्किकयोरुक्तौ पूर्वफक्किकार्यकथनावसरे । उप समीप एवेति भाष्यार्थो नोक्तः स उच्यते । ज्ञानेन स्वरूपस्थित्या वास्तविकाणवः महत्त्वार्थमुपसमीप एव गच्छन्ति, यतोक्षरात्मके स्वमहद्वसे विभूत्यात्मके प्रतिमादावेव प्रविष्टा भवन्ति, 'अणोरणीयान् महतो महीया'निति श्रुतेः । उक्तरीत्यात्रैव ज्ञानमार्गे त्वित्याद्युक्तरीत्या ।

एवं श्लेषोक्तिरियमिति ज्ञायते । सम्प्रदायानुवृत्तिरपि भगवद्विहितेत्येतादृशाः स्वयं येन मार्गेण फलं प्राप्ताः, तं मार्गमन्यानपि ग्राहयन्त्युपदेशैः, अत्रोभय-त्राप्यात्मत्वमेव हेतुः, अन्यथा आत्मारामस्य सर्वनिरपेक्षस्यैवकरणासम्भवेन मोक्षमार्गाप्रसिद्धिरेव स्यात् । तस्मात् सर्वथानावृत्तिरेव श्रुत्यभिमततेति ज्ञेयम् ॥३॥

भाष्यप्रकाशः ।

युक्तोपसृप्यत्वस्य पूर्वमुक्तत्वात् 'ब्रह्मविदामिति परमित्युक्तायाः परप्राप्तेः, 'सोऽश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'त्यत्र ब्रह्मसाहित्येन श्रावणाद्भूमविद्यायाभात्ममिथुनत्वस्य श्रावणाच्च तथेत्यर्थः ।

अत्रेदं सम्पद्यते । भक्ता हि 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्तत्त्वेन अमृतत्वमेती'ति श्लेषाश्रयतश्च्युत्या, 'आत्मेत्येवोपासीते'त्युक्तवाग्रे, 'आत्मानं प्रियमुपासीत ईश्वरो हि तथा स्यात्, आत्मानं लोकमुपासीत'इत्येकस्मिन् प्रकरणे 'त्रिधोपासनश्रावणात् 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते, एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुख'मिति गीतासूत्रेथ स्वत्मात्मतया स्वात्मात्मतया च प्रियतया देहभारम्य यावन्तो भजनीयाः प्रियास्तदात्मत्वेन चोपासत इति तत्क्रतुन्यायात् पृथगेव समीपे तिष्ठन्ति । ज्ञानमार्गायास्तु 'त्वं वै अहं भगवो देवते अहं वै त्वं भगवो देवते' इति व्यतिहारेण स्वात्मतथैवोपासते इति तत्क्रतुन्यायाच्चत्रैव प्रविशन्ति । अतो ज्ञानिभक्तयोरुभयोरप्यात्मत्वेनोपासनस्य तुल्यत्वेपि उपासनाप्रकारभेदादेवं फलभेद इति । उभयसङ्ग्रहस्य छत्राभिप्रेतत्वं स्फूर्तीकुर्वन्ति एवमिति । एतादृशशब्दप्रयोगेण । अन्यथा चेदभिप्रेयात्, शृङ्खली-त्येवं श्रूयादतस्तथेत्यर्थः । एवं मार्गद्वयस्य मुख्यं फलं निरूपितम् । अवान्तरफलं बहु शेषं व्याकुर्वन्ति । सम्प्रदायेत्यादि । इतिशब्दो हेतौ व्याख्यातस्तत्रात्मत्वस्य ग्राहो हेतुत्वं युक्तम्, तस्या भगवत्सम्बन्धित्वात् । ग्राहणं तु ज्ञानिधर्मः । तत्रात्मत्वस्य कथं हेतुत्वमित्याशङ्क्यां तत्रापि तस्य हेतुत्वं व्युत्पादयितुं मार्गद्वयग्राहणेपि तस्य हेतुत्वं व्यक्तीकुर्वन्ति उभयत्रेत्यादि । उभयत्रेति । मार्गद्वयोपदेशे । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । यस्माद्भगवतः सर्ववशित्वं सर्वज्ञानत्वं चेति न तत्त्वभावस्य पर्यावृत्तिः, किन्तु कर्मण एव स्वभावपर्यावृत्तिरतस्तथेति तात्पर्यभ्रमेण रक्षितः ।

भाष्यार्थत्वात् । पूर्वमिति । प्रथमाध्याये तृतीयपादे । तथेत्यर्थ इति । तद्भजनार्थमुप समीपे गच्छन्तीत्यर्थः । उभयेति । भक्तिज्ञानसम्बन्धिनोः सङ्ग्रहस्य । एतादृशेति । उपगच्छन्तीति छिद्यशब्द-प्रयोगेण । तथेति । श्लेषोयमिति ज्ञायते इत्यर्थः । शेषमिति । ग्राहयन्ति चेति सूत्रशेषम् । सम्प्रदायेत्यादीति । सम्प्रदायाश्रितारः श्रीविष्णुस्वामिरामानुजमाध्वनिम्बार्कनामानः । इङ्किता प्रापिता । 'इङ्कितं गतिचेष्टयो'रिति विश्वः । एतादृशा इति । सम्प्रदायिनां ज्ञानिन आचार्याः । प्राप्ताविति । उपगच्छन्तीत्यस्य प्राप्नुवन्तीत्यर्थ उक्तः । तत्र प्राप्ती । तस्या इति । प्राप्तेः । भगवत्प्राप्तिरित्येवं भगवत्सम्बन्धित्वात् । शेषं व्याकुर्वन्ति स्म । ग्राहणमिति । ज्ञानीति एतादृश इत्यादिभाष्ये ज्ञानं दत्तमित्युक्तेः । अत्र ज्ञानिधर्मः । तत्रापि । ज्ञानिधर्मेपि । तस्यात्यत्वस्य । तस्येत्यात्मत्वस्य । अतस्तथेतीति । तस्मात्सर्वथानावृत्तिरेव श्रुत्यभिगतेति ज्ञेयमित्यर्थः । तात्पर्येति । कर्ममोक्षाय कर्मणः स्वर्गादिफलसाधकत्वे तात्पर्यप्रभस्तेन । तात्पर्यं तु आत्मसुखे, कर्ममोक्षे च । एतद्विषयक-

१. एतेन 'अर्चयामेव हरये' इति भागवतपद्य व्याख्यातम्, 'मौन्याद्भूमन्येव जुहोति स' इति च । एवं च दृष्य-कत्वेनापि विधानात् ।

नन्वात्मत्वेनोक्तिरूपासनार्थेति नोक्तं साधीय इत्यत उत्तरं पठति ।

न प्रतीकेन हि सः ॥ ४ ॥

अतद्रूपे तत्त्वेनोपासनं हि प्रतीकमित्युच्यते । तथा च तादृशेन तेन स मोक्षो न भवतीत्यर्थः । श्रुतिसिद्धत्वाद्वास्तु मोक्ष इति न वक्तुं शक्यमिति भावः ।

भाष्यप्रकीर्णः ।

क्रियमाणकर्ममार्गं एवावृत्तिः, फलम्, न तु तात्पर्यज्ञानपूर्वकं भक्तिमार्गीयत्वेन ज्ञानमार्गीयत्वेन वा क्रियमाणे निवृत्तिरूपे कर्मणीत्यनावृत्तिफलकत्वाज्ज्ञानभक्ती उत्तमे इत्यर्थः ॥ ३ ॥

न प्रतीकेन हि सः ॥ ४ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । अयमर्थः । आत्मत्वेन ज्ञानस्याभेदे तादात्म्ये वा पर्यवसन्नत्वात्तन्मार्गीयत्वात् आत्मत्वेन ज्ञानात्तन्मार्गीयो मोक्षोना-वृत्तिरूपः फलमित्युक्तम् । तदयुक्तम् । 'पादोस्य दिक्षा भूतानि', 'ममैवांशो जीवलोक' इत्यादि-ज्वात्मा ब्रह्मांशत्वेन सिद्धः । 'अहमात्मा गुडाकेशे'त्यत्र विभूतिरूपत्वेन च । एवं सति यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादौ सर्वादिब्रह्मत्वेनोपासनार्थं स्तूयते, तथा 'आत्मेत्येवोपासीते'त्यादौ स्वात्मा परमात्मत्वेनोपासनार्थं स्तूयते । एवं सति तत्र यथा ब्रह्मत्वेनोक्तिरूपासनार्था, तथा स्वात्मन्यपि परमात्मोक्तिरिति न पूर्वोक्तं साधीय इत्यर्थः ।

व्याकुर्वन्ति । अतद्रूप इत्यादि । सत्यमात्मत्वेनोक्तिरूपासनार्था, परन्तु तथा श्रुत्या आत्मत्वमवगत्योपासितव्यमिति बोध्यते, न त्वात्मत्वज्ञानस्य फलं निषिध्यते । तथा अकृत्व-त्ववारणार्थत्वात् । पूर्वं 'प्राणञ्च प्राणो भवती'त्याद्युक्त्वा 'तान्येतान्यस्य कर्मनामान्येव स योत रक्षिः' ।

तात्पर्यज्ञानपूर्वकं भक्तिमार्गीयत्वेनार्थिदैविकचित्तशुद्ध्यर्थम् । ज्ञानमार्गीयत्वेनाध्यात्मिकचित्तशुद्ध्यर्थं वा क्रियमाण इत्यर्थः । इत्यर्थ इति । इतिभाव इत्यर्थः । अत्रार्थशब्दो भाववाचकः ॥ ३ ॥

न प्रतीकेन हि सः ॥ ४ ॥ अभेद इति । अज्ञानोपाधिनिवृत्तिद्वाराभेदे पर्यवसन्न-त्वम् । स्वमते तु 'तत्त्वमसी'त्यत्र तस्य भावस्तत्त्वमसीतिपक्षे तादात्म्ये तदात्मनो भावस्तादात्म्यं तस्मिन्पर्यवसन्नत्वं तस्मात् । 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसी'त्यत्र पूर्वं ऐतदात्म्यपदात् । तत्तन्मार्गीयत्वेति । मायावादिमार्गीब्रह्मवादिमार्गीयत्वात् । मोक्ष इति । निःसम्बोधो मोक्षः ससम्बोधो मोक्षः । अहमित्यादि । व्यापकत्वमिति तयोः प्रकरो । अण्वात्मवादमते प्रकारोऽसत्त्वं तदुक्तम् । अहमस्मत्प्रत्ययगोचरः स्वात्मा शङ्कराचार्यमते । स्वात्मत्वेन जीवब्रह्मवादेन । भास्कराचार्यमते विभूतिरूपत्वेन, जीवानामपि व्यापकत्वात् । कार्यरूपत्वेनेति । सर्वमिदं ब्रह्मेति न प्रयोगः, सर्वमिदं तज्जलानिति प्रयोगोत आहुः । सर्वं कार्यरूपत्वेनेति । घटः पृथिवीत्वत्र यथा पृथिवीत्वेन घटस्य बोधः, न तु घटत्वेन । स्तूयन्त इति । शङ्कराचार्यमते सोपाधिकः स्तूयते । फलार्थताया इति । अनावृत्त्यर्थतायाः । नन्वित्यादीति । नोक्तमिति । स्तूतेरनावृत्तिफलमित्युक्तं न । बोधा सृष्टिषु मायिकीमाह्वयाहुः । सत्यमित्यादिना । फलमनावृत्तिः । तस्या इति । अनावृत्तेः । आवृत्तौ तु फलाकृत्वता स्यात् । 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतेः फलं भगवान् । पूर्वमिति । आत्मे-त्येवोपासीतेत्यस्याः पूर्वम् । इत्यादीति । आदिना 'वदन् वाक् पश्यन् चक्षु' रित्यादि । अस्प्येति । अव्याकृतस्याकृत्वस्य । कर्मनामानीति । प्राणनादिकर्मकृतानि । न इत्यस्माकं वागादीनां मध्ये । योत इति पाठे यः अतः कृत्वतापादकत्वात् । वागादीनां मध्ये एकैकमुपास्ते । एकैके कृत्वो न

अथवा आत्मत्वेनोक्तिरूपासनार्थेति वदन् वादी वक्तव्यः । फलार्थमेव तत् । फलं च श्रुत्युक्तस्तत्प्रवेश एवेति त्वयापि वाच्यम् । एवं सत्यादौ ज्ञानमार्गेणुप-

भाष्यप्रकाशः ।

एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्वो ह्येषोन्त एकैकेन भवती'त्युक्त्वा अकृत्वत्ववारणार्थम्, 'आत्मे-त्येवोपासीते'ति वदन्ने, 'अत्र हेते सर्वं एकं भवन्ती'त्याह । तेनात्मत्वात् सर्वरूपस्य प्राणादिनै-कदेशरूपेण यदुपासनं तत्प्रतीकरूपम्, तादृशेन तेन मोक्षो न भवतीति सिध्यति, न त्वात्म-त्वेन ज्ञानान्मोक्षो न भवतीति । 'अत्र हेते सर्वं एकं भवन्ती'त्यनेन कृत्वत्वत्वरूपस्य फलस्यात्मो-पासने बोधितत्वात् । कृत्वत्वं सर्वभावपूर्वकक्षा, सर्वभावश्च मोक्षपूर्वकक्षेति तत्रैव पुरुषविध-ब्राह्मणे 'तद्वैतत् पश्यन्पिबामदेवः प्रतिपदे' इत्यत्र सिद्धम् । अतो मोक्षपूर्वकक्षायामत्र बोधना-दात्मनः परमात्मत्वेनोपासनार्था मोक्ष एव फलमिति सिध्यति । तथा च फलस्यापि वाक्यतात्पर्य-निर्णायकत्वान्मोक्षरूपेण फलेनात्मोपासनबोधकश्रुतित्वात्पर्यं निर्णयते । अतः श्रुतिसिद्धत्वाद्वा मोक्ष इति न वक्तुं शक्यमिति भावोनेन सूत्रेण बोध्यते । अत आत्मनः परमात्मत्वेनो-पासनं प्रतीकोपासनमिति तवाभिमतमसङ्गतमित्यर्थः ।

अस्मिन् पक्षे आत्मत्वेनोपासनस्थाप्रतीकोपासनत्वाज्ज्ञानभक्तयोः फलवत्ता यद्यप्यायाति, तथापि न हीति पदद्वयं सूत्रे व्यर्थं स्यादित्यतः प्रकारान्तरेण सूत्रं व्याकुर्वन्तोवतारयन्ति । अथचे-त्यादि । तदिति । उपासनम् । उपासनस्य फलं च 'ब्रह्मेव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्युक्तस्तस्मिन् ब्रह्मण्युपासकस्य जीवस्य प्रवेश इति त्वयापि वाच्यम् । अन्यथा उपासनविधानस्य वैय-रक्षिः ।

भवति प्रविष्टोपि । यद्वा । एकैकेनेति तृतीयान्तम् । एकैकेन प्रतीकेन वेदं न भवतीत्यर्थः । सर्व-भावेति । कृत्वत्वे सर्वभावः सर्वस्वमात्मोपासने भवतीति कृत्वत्वं सर्वभावस्य पूर्वकक्षा । भावपदेन सर्वत्वेन भावो भक्तिर्भवतीत्युक्तम् । पूर्वकक्षेति । सर्वात्मकब्रह्मभवनस्य पूर्वकक्षा । 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षिणां तथा मनुष्याणां'मिति श्रुतेः । तत् तस्मात् प्रत्यबुध्यत आत्मानं यथावत् प्रबोधितवान् । तदभवत् सर्वात्मकं ब्रह्माभवत् । अत्रे 'तद्वै तत्पश्यन्नि'ति श्रुतिः बृहदारण्यके पुरुषविधब्राह्मणे । शाण्डिल्येति । छान्दोग्ये 'असौ वा आदित्यो देवमधि'त्यार-म्भके प्रपाठकेति । ब्रह्मभावरूपमिति । एतमित इति श्रुतावेतमात्मानं इतः प्रपञ्चात् प्रत्य-त्वेत्यभिसम्भवितास्मीति श्रुत्यर्थात् । अभिसम्भविता प्राप्ता । अभितः सम्बन्धानवगाहि ज्ञानं ब्रह्म तदपि प्राप्ता । समिति सम्यक्त्वं सर्वरूपत्वेन, विपरीतं वा । अत उक्तं ब्रह्मभावरूपमिति । ब्रह्मात्मनो-र्ब्रह्मणो मुख्यत्वप्रसिद्धेः । श्रुतिसिद्धत्वादिति भाष्यं विवृण्वन्तिस्म । अत इति । आरोपितत्वात् मिथ्यात्वेन मोक्षासाधकत्वात् । परमात्मत्वेनेति । आरोपितेन । असङ्गतं मोक्षाजनकत्वात् । न चा'सत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहत्' इति मोक्षोपपत्तिरिति शङ्काम् । 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थे'ति स्मृतिविरोधात् । अतोसत्ये वर्त्मनीत्यप्येकः पक्षो न सर्वथा । अप्रतीकोपासनयेति । चित्तशुद्धिद्वारेति ज्ञेयम् । षष्ठ्यन्तपाठे तु ज्ञानविशेषणम् । फलं चेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । उपासनस्येति । 'ब्रह्मेव स'न्निति श्रुतिः शरीरब्राह्मणेति । त्वयापीति । आवरणमङ्गातिरिक्तमन-ङ्गीकुर्वन्त्योऽभिनेन । यद्वा । त्वयाप्यस्मदाग्रहेण वाच्यम् । उपासनेति । अर्थवादत्वेपि उक्त-शुक्तिरुक्तवेदाः प्रमाणमिति । उपपत्तिमिति पाठो व्याकृतः । अतुपपत्तिमितिपाठे तु इति शेष इति भाष्ये

पत्तिमाह । न प्रतीकेनात्मभूते ज्ञानिन उपगमः पूर्वोक्तः प्रवेशः सम्भव-
तीति शेषः । भक्तिमार्गेण तांसाह न हि स इति । न हि प्रतीकोपासने स
लोकवेदप्रसिद्धः पुरुषोत्तमोस्त्युपास्यत्वेन, येन तत्प्राकृत्यं स्यात्, तदुपगमनं
चेत्यर्थः । एवं ज्ञानभक्तयोः फलसत्ता साधिता ॥ ४ ॥

ननु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' 'आत्मैवेदं सर्वं'मित्यादिश्रुतयः सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि
मुक्तिसाधनत्वेनोपदिशन्ति, सा च प्रतीकात्मिकैवेति कथं प्रतीकोपासनस्य न
मोक्षसाधकत्वमिति प्राप्त उत्तरमाह ।

भाष्यप्रकाशः ।

ध्यापत्तेः । एवमात्मोपासनस्य फलवत्त्वे सति आदौ पूर्वं ज्ञानमार्गेणुपपत्तिम्, एकदेशोपासनेन
फलाभावबोधिकां युक्तिमाहेत्यर्थः । उपगच्छन्तीति पूर्वप्रादानुवृत्त्यं न प्रतीक इति द्वयभाग-
स्यार्थमाहुः । न प्रतीक इत्यादि । प्रतीक इति । अनात्मभूते मनआदौ ब्रह्मत्वेनोपासिते
प्रतीकत्वात् ब्रह्मणि प्रवेशः फलम्, किन्तु मनआधुपासनाद्यक्तमेव । अत्र तु ब्रह्मणि प्रवेशस्योप-
पादितत्वात् प्रतीकत्वमित्यर्थः । शेषमवतार्य व्याकुर्वन्ति भक्तीत्यादि । तथा च यदीदं प्रतीको-
पासनं न स्यात्, अत्रोपास्यः पुरुषोत्तमो न स्यात् । यतोत्र पुरुषोत्तम एवात्मत्वेनोपास्यः, न
त्वात्मा पुरुषोत्तमत्वेन । उपक्रमे सृष्टिकर्तृत्वरूपब्रह्मलिङ्गेन, अत्रे च 'आत्मानं प्रियमुपासीते'ति
विशेषकथनेन, ईश्वरत्वकथनादिना च तथा निश्चयात् । अतो नेदं प्रतीकोपासनमित्यर्थः । सिद्ध-
माहुः एवमित्यादि । तथा च मोक्षफलकं ज्ञानिनामात्मत्वेनोपासनं न प्रतीकम् । अकृत्वत्ववार-
णार्थत्वात् । भक्तानां चात्मत्वेनोपासनं पुरुषोत्तमपर्यवसायीत्यतोपि न प्रतीकम् ।

अतः पूर्वोक्तं तवाभिमतमसङ्गतमित्यर्थः । एवमप्रतीकोपासनेन ज्ञानभक्तयोः फलवत्त्वे
सिद्धे तयोरनाद्युक्तिफलकत्वेन तदद्भूतकर्मणोप्यनाद्युक्तावेव पर्यवसानमित्यपि बोध्यम् ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥ द्वयमवतारयन्ति नन्वित्यादि । मुक्तिसाधनत्वेनेति ।
परम्परया साक्षाच्च तत्साधनत्वेन । सा च प्रतीकात्मिकैवेति । ब्रह्मकार्ये ब्रह्मांशे च ब्रह्म-
दृष्टिरुत्कर्षात्तथा । तथा वेदं वाक्यद्वयं छान्दोग्यस्थम् । तत्र प्रथमं शाण्डिल्यविद्यास्थम् । तेन
शुद्धान्तःकरणस्याग्रे 'यस्य स्यादद्वे'त्यनेन भगवत्प्राप्तिरूपं फलमुक्तम् । द्वितीयं सनत्कुमारनारद-
संवादस्थम् । तत्रापि, 'न पश्यो मृत्युं पश्यती'त्यादिना 'तमसस्पां दर्शयती'त्यन्तेन मुक्ति-
रश्मिः ।

अपि तु न सम्भवतीति काकुर्षोष्या । अनुवृत्त्येति । अत्र क्लृप्तो ल्यपः स्थानिवद्भावेन कित्त्वं स्वीकृतम्,
अतो न गुणः । न प्रतीक इत्यादीति । न प्रतीक इत्येकं पदमित्याशयेनाहुः । अनात्मभूत इति ।
शेषमिति । न हि स इति तत्र शेषम् । भक्तीत्यादीति । तामित्युपपत्तिं, अनुपपत्तिं च
पाठान्तरे । न हीति । भक्तिर्हसै स्पष्टम् । पुरुषोत्तमस्य भक्त्येकविषयत्वेनोपास्यत्वाभावात् । उपगमनं
पूर्वप्रादानुवृत्तोपगच्छन्तिपदप्रकृत्यर्थः । पर्यवसानमिति । उद्देश्यभेदेन चित्तशुद्ध्यर्थं कृतेन कर्मणा
ज्ञानभक्तिद्वारानावृत्तिरिति तथा ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥ तेनेत्यादीति । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'त्युपासनेन ब्रह्मदृष्टिरूपेण ।
अग्रे श्रुत्यग्रे । भक्तिफलं 'यस्य स्यादद्वे प्रत्यक्ष'मितिवाक्येन प्रत्यक्षे लयनियमात्, भगव-
त्प्राप्तिरूपमित्यर्थः । अतिमुक्तिः मुक्तिरूपमिति । सर्वात्मभावप्रकरणादतिमुक्तिरूपम् । आत्मबोधोपनि-

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिर्न प्रतीकात्मिका । सर्वस्य वस्तुतो ब्रह्मात्मकत्वात् । सा च
नोपदेशसाध्या, अतो नोपदिश्यते, किन्त्वन्वयते । सा त्वधिकारोत्कर्षात्

भाष्यप्रकाशः ।

रूपमेव फलमुक्तम् । तच्चोपासनद्वयमपि प्रतीकरूपम् । सर्वरूप आत्मनि प्राणाद्येकदेशदृष्टिवद् ब्रह्म-
कार्यरूपे जगति ब्रह्मांश आत्मनि च ब्रह्मदृष्टिरुपतयातदूपे तत्त्वेनोपासनरूपत्वात् । तस्माच्च मुक्ति-
रुक्तेति प्रतीकेनापि मुक्तिमिदौ फलेन विषयेण च निर्णयाभावादात्मत्वेनोक्तेर्भोक्षफलकत्वोक्तेश्च
तादृशप्रतीकनिवारकत्वकथनं न साधीय इत्याशङ्क्यायाश्चुत्तरमाहेत्यर्थः । द्वयं व्याकुर्वन्ति सर्वत्रे-
त्यादि । सर्वस्मिन् प्रपञ्चे या ब्रह्मदृष्टिः, सा न प्रतीकात्मिका । कार्यस्य कारणात्मकत्वेन
प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकतया वस्तुतो ब्रह्मात्मकत्वस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वात् । अन्यथा 'सर्वं खल्वि'ति
वाक्ये 'तज्जला'निति सर्वविशेषणमुपासनाहेतुत्वेन न वदेत् । 'खल्वि'त्यव्ययं च न वदेत् । तद्वि-
नापि प्रतीकोपासनाया वाचो धेनुत्वोपासनवत्सुखेन सिद्धेः । अत इयं मननात्मिका । अत
एवाग्रिमवाक्ये, 'स ऋतं कुर्वीते'ति शब्दान्तरेण मननमुपदिश्यते, भेददृष्टिजनितभयाभावार्थम् ।
अन्यथा 'तत्त्वेव भयं विदुषोमन्वानसे'ति श्रुत्यन्तराद्भयापत्तेः । श्वेतकेतुविद्यायामप्यावृत्त्या मनन-
मेव बोध्यते । मैत्रेयीब्राह्मणसनत्कुमारविद्यादिषु त्वन्वयते, यतः साधिकारोत्कर्षादेव सेत्स-
रश्मिः ।

षडि प्रसिद्धा । श्रुत्यर्थस्तु लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणेति । प्राणादीति । प्रथमान्ताद्वतिः । आत्मत्वेनेति ।
उक्ते परमात्मत्वारेपेणोक्ते जीवे आत्मत्वेन तादृशप्रतीकोपासनस्य निवारकत्वकथनं पूर्वसूत्रे न साधीय
इत्यर्थः । तज्जलानिति । तज्जायत इति जं, लीयत इति लं, अनितीलन्, उभयत्र तस्मिन्निति
ज्ञेयम् । तज्जं च लं च अन् च तज्जलान्, तज्जलान् सर्वम् । अश्रयमिति । निश्चयार्थकम् । तद्विनेति ।
विशेषणान्वयद्वयं विना । वाच इति । 'वाचं धेनुमुपासीते'तिश्रुतिः । षष्ठ्यन्ताद्वतिः । आश्रुत्येति ।
नवकृत्व उपदेशान्नावृत्तिभिः । तथा च श्रीभागवते 'सर्वभूतेषु मनमति'रित्युक्तसाधनेन प्रेम लभत
इत्युपासनाव्यतिरेकः । मुक्तीनामनेकविधत्वात् । अतो न ब्रह्मदृष्टिं मुक्तिसाधनत्वेनोपदिशन्तीति भाष्य-
विरोधः । सा चेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । मैत्रेयीति । आदिना प्राणविद्या । सा च छान्दोग्ये
उपकोसलजावालविद्या । जावाल आचार्यः । सा च प्राणं च ह अस्यै तदाकाशं चोः । अस्मा
उपकोसलाय । अन्वयत इति । न तूपदिश्यते । भक्तिविद्यायाः पुराणादिष्वपि दर्शनात्, वेदेपि
'अग्रये जुष्टं निर्वेपामी'ति भक्तिरुपदिश्यते इति । सिद्धस्य कथनमनुवाद इति । सा त्विति भाष्यविवरणम् ।
यतः सेति । अधिकारेति । दैव्यां संपदि जातस्य शरणगमने श्रुतात्मनिवेदित्वे च जिज्ञासुत्वा-
मात्सर्यश्रवणादरवत्त्वं श्रोतुरधिकारः । श्रुतभागवतत्वचातुर्यगुह्यज्ञानवत्त्वं वक्तुरधिकारः । अयं हीनाधि-
कारः, अस्मादुत्कर्षः मध्यमेधिकारे, भगवत्कृपाभगवदीयत्वभगवदेकत्वरूपवक्तृश्रोतृगुणरूपे । ततोऽप्यु-
त्कर्षः उत्तमेधिकारे, पारंपर्यकृतदोषाभावो भगवत्कृपया ॥ १ ॥ भगवत्कृपया स्त्रीपारंपर्यकृतदो-
षाभावः ॥ २ ॥ जीवाज्ञाननिवृत्त्या परमकृपा तथा पोषकाश्चरुद्धिः ॥ ३ ॥ सम्बन्धिनां भगवत्परता-
पुरःसरं सामान्यतः सुखप्राप्त्या भगवतः परमकृपा तथा सांसर्गिकदोषाभावः ॥ ४ ॥ भगवतः कार्य-
समाप्त्या सुखस्थित्यान्वेष्वपि भगवत्सुखेन सुखप्राप्त्या आगन्तुकदोषाभावः ॥ ५ ॥ भगवद्भक्तिपुत्रा-
दिसम्पत्त्या विशेषेण सुखप्राप्त्याधिकारिणि परमकृपा ॥ ६ ॥ बीजमुक्तिः ॥ ७ ॥ बीजमुक्तिकार्यभूतव-

स्वत एव भवतीति प्रतीकोपासनस्य न मुक्तिसाधनत्वमिति साधूक्तम् । एतदे-
वोक्तमनेन सूत्रेण ॥ ५ ॥ २ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे द्वितीयमात्मभाधिकरणम् ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तीत्यभिप्रायेण । एवं 'मनो ब्रह्मेत्युपासीते'त्यादावपि मनो ब्रह्म इति हेतोस्तत्रोक्तफलार्थमुपासी-
तेत्येवमुपासनाहेतुत्वेनानुद्यते, न तु विषयत्वेनोपदिश्यते । सा त्वेवं ज्ञात्वोपासने क्रियमाणे-
धिकारोत्कर्षात् स्वत एव भवति । अतस्तत्र मुक्तिफलकथनेन त्वदुक्तेषु प्रतीकेषुपासनेषु न
मुक्तिफलकत्वसिद्धिः, अतः पूर्वोक्तं साध्येवेत्यर्थः । तथा चोपासनावाक्यगतस्यात्मशब्दस्य प्रती-
कोपासननिवृत्त्यर्थत्वात् सर्वत्रात्मदृष्टेरप्रतीकत्वादान्मशब्दब्रह्मशब्दयोरैकाध्यात् सर्वत्र ब्रह्मदृष्टौ
साक्षात्परम्परया च मोक्ष एव फलमिति ज्ञानभक्त्योरनाष्टुक्तिफलकत्वमप्रत्यूहमिति सिद्धम् । न च
यदि ब्रह्मदृष्टिर्न कुत्रापि प्रतीकात्मिका, तर्हिात्मनोऽप्यन्यतुल्यत्वात् पूर्वसूत्रे आत्मत्वेन ग्रहण-
मेव कुत उक्तम्, विशेषाभावादिति वाच्यम् । सर्वत्र जडे सर्वशमात्रस्य प्राकट्येन जीवात्मनि
चिदंशस्यापि प्राकट्येन, 'द्रा सुपर्णा', 'ऋतं पिबन्ता'विति श्रुतिभ्यां सखित्वैककार्यकारित्वयोः
श्रावणेन, 'सरूपा' इति साजात्यश्रावणेन, 'त्वं वै अहं भगवो देवते अहं वै त्व'मिति ध्यति-
हारश्रावणेन च, 'अहं भवान् चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः । न नौ पश्यन्ति कवय-
त्रिदं जातु मनागपी'ति छिद्राभावश्रावणेन च विशेषबाहुल्यात् । एतन्निगमयन्ति एतदे-
वेत्यादि । तथा च ब्रह्मदृष्ट्युपदेशबोधनार्थं नेदं सूत्रम्, किन्तु ब्रह्मत्वस्य फलदाने हेतुत्वेन
बोधनार्थमित्यर्थः ।

अन्ये तु 'आत्मेती'त्यादिसूत्रत्रयं प्रत्येकमधिकरणत्वेनोपगच्छन्त आधेधिकरणे शास्त्रो-
क्तलक्षणः परमात्माहमस्मीति गृहीतव्यः, किं वा मदन्य इति संशये मदन्य इति प्राप्तम् । पर-
मात्मनोपहतपाप्मादिगुणकस्य तद्विपरीततया ग्रहणस्यायुक्तत्वात् । तथाग्रहणे चेश्वराभावप्रस-
ङ्गात् । स्वयेश्वरतया ग्रहणेन साधकाभावशास्त्रानर्थक्यप्रत्यक्षविरोधानां प्रसङ्गाच्चेति । अतः
रक्षिः ।

हिर्निगमनहेतुभूतवैराग्यम् ॥ ८ ॥ वैराग्यनिर्गमफलीभूतमुक्तिः, पूर्वजकृतप्रतिषन्धाभावाय पूर्वजमुक्तिः
॥ ९ ॥ लौकिकसामर्थ्यं परीक्षितम् ॥ १० ॥ अलौकिकसामर्थ्यम् ॥ ११ ॥ त्यागकारणीभूतवैराग्य-
हेतुशापादिना धर्मोन्नतिः ॥ १२ ॥ त्यागसत्सङ्गौ ॥ १३ ॥ एवं ऋमिके इति । एवमधिकारोत्कर्षो-
दित्यर्थः । एवमधिकारोत्कर्षं प्राप्य सा ब्रह्मदृष्टिः । स्वत एवेति सत्त्वाविर्भावोत्र द्रष्टव्यः । 'रजसा तु
तमो हन्याद्रजः सत्त्वेन चैव हि,' 'सत्त्वं सत्त्वेन हन्या'दिति गीतायाम् । एवं ब्रह्मदृष्टिः 'त्रेयोभिर्वि-
विधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति वाक्योक्तश्रेयस्सु निविष्टा 'सर्वभूतेषु मन्मति'रिति
श्रीभागवतीया प्रेमलक्षणा भक्तिः कारणभूता । प्रेमद्वारा मुक्तिः । ब्रह्मदृष्ट्याविति । तस्यां सत्यां
प्रेमद्वारा मोक्ष इत्यर्थः । निगमयन्तीति । तस्मात्तथेति पञ्चावयवेषु निगमनवत्परप्रतिपत्त्यर्थं
सिद्धं निगमयन्ति । अपहतपाप्मेति । भावप्रधानः । अपहतपाप्मत्वादिगुणकस्य । अपहतपा-
प्मादिगुणविपरीततयास्मत्त्वेन ग्रहणस्य । ईश्वरेति । ईश्वरस्यास्मत्प्रत्ययगोचरत्वे जडत्वापत्येश्वरा-
भावप्रसङ्गात् । साधकेति । ईश्वरस्याधिकारिरूपसाधकबोधकानां 'कर्मकर्तृव्यपदेशा'चेत्यादीनामभावस्य
प्रसङ्गात् । तथाशास्त्रस्य प्रयोजनमुद्दिश्य प्रवृत्तस्यानर्थक्यस्य प्रसङ्गात् । प्रयोजनाभावात् । तथा प्र-
त्यक्षस्य मदन्यविषयकस्य विरोधस्य प्रसङ्गात् । खेति । जीवात्मनस्तस्य तदभिन्नस्य तस्यात्मनोभा-

भाष्यप्रकाशः ।

शास्त्रात् प्रतिमासु विष्णुदृष्टिवत् स्वात्मनस्तत्तादात्म्यदृष्टिः कर्तव्या, न तु संसारिणो मुख्य आत्मा
परमेश्वर एवेति प्रापयितव्यम् । एवं प्राप्ते, उच्यते । आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः । यतः
परमेश्वरप्रक्रियायां जावाला आत्मत्वेनैवैवमुपगच्छन्ति, 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं
वै त्वमस्मि भगवो देवते' इति ।

तथा अन्येपि 'अहं ब्रह्मास्मी'त्येवमादाय आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः । ग्राहयन्ति चात्म-
त्वेनैवेश्वरं वेदवाक्यानि । 'एष त आत्मा सर्वान्तरः', 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः', 'तत् सत्यं स
आत्मा तन्वमसी'त्येवमादीनि । यदुक्तं प्रतिमान्यायेन प्रतीकं भविष्यतीति । तदयुक्तम् । गौण-
त्वप्रसङ्गात् । 'मनो ब्रह्मेत्यादित्यो ब्रह्मे'त्यादौ सकृदेव तद्वचनेन, इह चाहं त्वं त्वमहमित्यस-
कृद्वचनेन प्रतीकश्रुतिवैरूप्याच्च । 'अथ योन्यां देवतामुपासेन्न्योसाधन्योहमिति न स वेद,
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती'ति, 'सर्वं तं परादाद्योन्यत्रात्मनः सर्वं वेदे'त्या-
दिषु भेददर्शनापवादाच्च । न च विरुद्धगुणयोरन्योन्यात्मत्वासम्भवः शङ्क्यः । विरुद्धगुणत्वस्य
मिथ्यात्वोपपत्तेः । नापीश्वराभावः शङ्क्यः । शास्त्रप्रामाण्येनास्मिरीश्वरस्य संसारित्वाप्रतिपादनेन
संसार्यात्मनः संसारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वप्रतिपादनस्य क्रियमाणत्वेन तदभावात् । नाप्यधिकार्य-
भावः, प्रत्यक्षविरोधो वा । प्राक्प्रबोधाद् व्यवहारे संसारित्वस्य तद्विषयकप्रत्यक्षस्य चाङ्गीकारेण
विरोधाभावात् । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्ये'दित्यादिना प्रबोधदशायामेव श्रुत्या
प्रत्यक्षबाधभावबोधनात्तदानीं च श्रुत्यभावस्यापि, 'अत्र पिता अपिता भवती'त्युपक्रम्य, अत्रे 'वेदा
अवेदा' इति वचनेन वेदाभावस्यापीष्टत्वात् । यदपि कैश्चिदविद्याया ब्रह्मणः सद्वितीपत्वादङ्गीतानु-
पपत्तिरिति शङ्क्यते, तदप्येतेनैव प्रत्युक्तम् । तस्मादात्मेत्येवेश्वरे मनो दधीतेति शाङ्करा आहुः ।

तत्र रुचिरम् । परमात्मन्यहङ्गहोपासने साध्ये प्रमाणत्वेनात्मत्वोपगमस्य वक्तुमयुक्तत्वात् ।
परमात्मनि मुख्यवृत्तस्यात्मपदस्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' 'इदं सर्वं यदयमात्मा आत्मैवेदं सर्वं'-
मित्यादिश्रुतिभिः सर्वस्य ब्रह्मत्वे बोधिते सर्वसङ्गाहकतया स्वप्रत्यग्विचिधेयवाचकाहम्यदतो
रक्षिः ।

वस्तत्तादात्म्यं तस्य दृष्टिः । मुख्य इति । सोपाधिको गौणो मुख्यत्वनिरूपकः । विरुद्धेति । अहत-
पाप्मत्वापहतपाप्मत्वयोः । तदभावादिति । ईश्वराभावशङ्काभावात् । प्रबोधाज् ज्ञानात् । तद्वि-
षयकेति । संसारिविषयकप्रत्यक्षस्य । प्रत्यक्षत्वादीति । आदिनाधिकारी । एतेनेति । मिथ्यात्वोप-
पादनेन । परमात्मनीति । जीवे ब्रह्मोपासनान्विषेधात् परमात्मनोधिष्ठानत्वमुक्तम् । परमते परमात्म-
विषयके, 'अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि' इत्यादावर्थवादत्वानङ्गीकारादहङ्गहोपासनं तस्मिन् । तत्रापि 'ब्रह्मा-
हमस्मी'ति । ब्रह्मणः प्रसिद्धेः । 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यत्र भवन्नये ब्रह्मज्ञानाधीनविद्यासम्बन्धाधीनत्वात्स-
च्छन्दप्रयोगस्य 'ब्रह्माहमस्मी'ति प्रबोधे सुकरत्वात् । प्रमाणत्वेनेति । अहङ्गहोपासनश्रुतौ ध्वनवि-
गतार्थगन्तृत्वं प्रमाणम् । जीवस्यात्मत्वेनोपगमस्तथेति, आत्मोपगमस्य प्रमाणत्वं शब्दार्थयोरौत्सत्ति-
कसम्बन्धात् । सर्वेति । आत्मपदस्यात्मत्वेन सर्वसङ्गाहकतया । स्वप्रत्यगिति । स्वमात्मा प्रत्यक् जीव-
स्तस्य वित्तिज्ञानं तद्वैद्यः प्रादेशिकः, 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः कामाहङ्कारसमन्वितो यः, बुद्धेरुणेनात्य-
गुणेन चैव आराप्रमात्रो ह्यरोपि दृष्टः', इति श्रुतेर्बुद्ध्यादिगुणेषु प्रदेशेषु भवः प्रादेशिको जीवः ।

भाष्यप्रकाराः ।

भिन्नार्थत्वेऽहम्पदार्थमात्रत्वप्रमित्यजनकत्वात् । अथ 'आत्मैवेदमग्र आसीदित्युपक्रम्य 'सोहम-
सी'त्यग्रे व्याहरत्तोहं नामा अभव'दिति श्रुतेः पर्यायत्वान्न दोष इत्युच्यताम् । तथा सति तेन
तदहंविचित्रेद्यत्तुगुणकोपासनं सेत्स्यति, न तु तस्य स्वाभेदपर्यवसायित्वाहंविचित्रेद्यत्तुगुणकम् ।
ततश्च किमहमिति ग्रहीतव्यः, किं वा मदन्व इति संशयाकारासङ्गतिः । तत्रास्त्वपदाभ्यां प्रति-
शरीरं भिन्नस्य स्वाहंविचित्रेद्यत्तुगुणकम् बोध्यमानत्वात् । न चोपाधेर्मिथ्यात्वात् तदनादरेण घटाकाश-
महाकाशन्यायाचयोरभेदस्यैव सिद्धेर्न दोष इति वाच्यम् । मिथ्यात्वेपि यावद्व्यवहारं तत्स-
त्तायां भेदाभावस्योपगन्तुमशक्यत्वात् । न च जावालवाक्यादभेदोपगमनं शक्यम् । तत्रापि
'देवते' इति द्विवचनेन देवतापदस्य सम्बुद्धित्वपक्षेपि स्वप्रत्यक्षपराग्विचित्रेद्यत्ताभ्यां च भेदस्यैव
बोधनात् । न च व्यतिहारानुरोधभेदः शक्यः । तस्य भेदविरुद्धस्वभावे तादात्म्यरूपे अभेदेऽप्युप-
पन्नत्वेनाभेदोपासनास्तुत्यर्थतया भेदाभावरूपतदगमकत्वात् । 'त्वं तु भागवतेष्वहम्,
'आयुधानामहं वज्र'मित्यादावहम्पदस्य विभूतावपि प्रयोगेण 'त्वं वाहमसी'त्यहम्पदस्य त्वद्वि-
भूत्यात्मकोसीत्यर्थस्य, 'अहं वै त्वमसी'त्यत्र विभूत्यात्मनाभेदस्य शक्यवचनत्वाच्च । नापि
'अहं ब्रह्मास्मि,' 'तत्त्वमसी'त्यादिविरोधः । तत्रापि सुवर्णशकले सुवर्णबुद्धिवद् ब्रह्मांशे ब्रह्मबुद्धे-
रुपपन्नत्वेन तदविरोधात् । 'मामेव विजानीही'त्यादिवदाविष्टवाक्यादिरूपत्वेनाप्युपपत्तेश्च ।
रश्मिः ।

तस्य वाचकादहम्पदत एकात् सर्वसङ्गाहकात्मपदाद्भिन्नार्थत्वे अहम्पदार्थेति । आत्मत्वस्यापि
सर्वान्तर्गतत्वात् प्राञ्च । न दोष इति । 'सोह'मित्यनयोरात्माहमिति पर्यायत्वेनात्मपदवदहम्पदस्यापि
सर्वसङ्गाहकतयाहम्पदस्याहंपदार्थमात्रत्वप्रकारिका, अहम्पदार्थमात्रविशेष्यिका प्रमितित्वजनकत्वरूपो
दोषो न । तेन तदहमिति । 'सोहमसी'त्युपासनेनात्माहंविचित्रा वेद्यत्वं गुणो यस्मिन्नुपासने तत् ।
तस्येति । 'सोहमसी'त्युपासनस्य स्वस्यात्मनो जीवेनाभेदपर्यवसायोऽस्यास्तीति स्वाभेदपर्यवसायि चं
तेन सहाहंविचित्रेद्यत्वं जीवनिष्ठं गुणो यस्मिन्नुपासने तत् । ग्रहीतव्य इति । तस्यैवाकित्वाच्च
सम्प्रसारणं कृतम् । गृहीतव्यइति सम्प्रसारणं चिन्त्यम् । असङ्गतिरिति । अभेदान्वयासम्भवाद-
सङ्गतिः । तत्रास्मदिति । 'सोहमस्मि' 'ब्रह्माहमस्मि' इत्यहंभेदोपासनयोः । स्वाहंविचितीति ।
खेनात्मना सहाहंविचिस्तया वेद्यस्य । तद्योरिति । आत्मजीवयोः । न दोष इति । संशयाकारासङ्ग-
तिदोषो न । मिथ्यात्व इति उपाधेर्मिथ्यात्वेपि स्वपुष्पवन् मिथ्यात्वाभावः यतो यावद्व्यवहारं सत्ता
व्यावहारिकीति श्रीभागवतप्रसिद्धा तस्याम् । जाषालेति । 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै
त्वमसि भगवो देवते' इतिवाक्यात् । भगवो भगवन् । स्वप्रत्ययमिति । स्वप्राप्ता प्रत्यक् पूर्वं पराक्
पश्चात्, एवं च खं च तौ प्रत्यक्षपराञ्चौ स्वप्रत्यक्षपराञ्चौ तयोर्विचिती ताभ्यां वेद्यत्वे ताभ्यामित्यर्थः ।
पूर्वावाक्ये शुभदर्थस्य प्रत्यग्वेद्यत्वम् । द्वितीये पराग्वेद्यत्वम् । भेदस्यैवेति । त्वमहं अहं त्वमिति-
प्रतीयमाननिराकार्यभेदस्य । एवकारोप्यर्थे । तथा च देवदत्तो ममात्मेतिप्रतीतौ निराकार्यभेदस्यैव
देवदत्तपदसालपरत्वम्, न तु देहपरत्वमिति । अत्रापि प्रतिदेहं गच्छतीति प्रत्यग्जीव इति च्युत्यतिः ।
पूर्वत्वं तस्य । व्यतिहारेति । 'त्वमहं अहं त्वमिति व्यतिहारः । तस्येति । व्यतिहारस्य । तादात्म्य-
रूपे स्वप्रतियोग्यसम्बन्धरूपे । स्वभेदः । यथा घटानामभेदस्तादात्म्यरूपः । नाभेदेति । न अभेदेनो-
पासना नाभेदोपासना तस्तुत्यर्थताऽभेदारोपेण तयेत्यर्थः । भेदाभावरूपाभेदागमकत्वात् । त्वं त्विति ।
उद्धवः, मामेवेतीन्द्रप्रतर्दनसंवादे । अत्र भगवदाविष्ट इन्द्रः । आविष्टेति । भगवदाविष्टजीवशेत-

भाष्यप्रकाराः ।

अत एव, 'एष न आत्मं'त्यादिषु ब्राह्मणवाक्येष्वप्यात्मपदमेवोक्तम्, न तु, त्वम्पदमहम्पदं
वेति युज्यते । किञ्च । आत्मनः स्वप्रत्यग्विचित्रेद्यत्स्य च सर्वथा भेदाभावे, 'अथातोहंकारादेश'-
इत्यनन्तरं 'अथात आत्मादेश' इति पुनर्नोपदिश्येत । तस्मात् स्वात्मेश्वरयोर्भेदविरुद्धस्वभावाभेदे-
नैवोपासना युक्ता, न तु भेदाभावरूपेणाभेदेन । एवमेव श्रीभागवतेऽप्युच्यते । 'आत्मानं
चिन्तयेदेकमभेदेन मया शुभिरिति, न तु स्वाभेदेन मामिति । 'अथ योन्यां देवतास्युपासनेऽप्यो-
सावन्योहमिति न स वेद यथा पशुरेवं हि स देवानांमिति भेदोपासननिन्दापि, न हि
निन्दान्यायेन पूर्वोक्ताभेदोपासनास्तुत्यर्थत्वादुपपन्ना । एवमन्यान्यपि वाक्यानि बोध्यानि ।
एवञ्च प्रतिमादौ विष्णुबुद्धेः प्रतीकत्वं यदुक्तम्, तदपि तथा । सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वेन तत्र विष्णु-
बुद्धेः प्रतीकत्वाभावात् । अतद्रूपे तत्त्वेनोपासनस्यैव भवद्भिः प्रतीकत्वोपगमात्, यदपि, वेदाना-
मप्यभावः प्रबोधे इत्युक्तम् । तदपि तथा । 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दित्यत्र सर्वस्य नाशा-
क्यनेनात्मभावस्य च कथनेन, 'वेदा अवेदा' इत्यत्रापि ज्ञानाद्विकल्पबुद्धिमात्रवाचेन वस्तुस्वरूपा-
वाघात् स्वरूपतो वेदाभावस्य वक्ष्यमशक्यत्वादिति । यदपि, न प्रतीकद्वये प्रतीकोपासने आत्म-
रश्मिः ।

केतू प्रति वाक्यादिरूपत्वेन । आदिना 'श्रद्धत्सव सौम्ये'तिश्रद्धावाक्यं श्रेतकेतुं प्रति । व्यतिहारवाक्य-
मन्यान् प्रति । तेनाविष्टानां वाक्यादि, आविष्टवाक्यादि तत्स्वरूपत्वम् । सम्बन्धश्च षष्ठ्यर्थो न
कर्मसम्बन्धो विषयविषयिभावोऽतो न द्वितीयापत्तिः । अन्त इति । आविष्टवाक्यादिरूपत्वात् ।
आत्मपदमिति । असन्देहात्मत्वपदम् । एवकारार्थमाहुः न त्विति । आत्मानं चिन्तयेदिति ।
अभेदस्तादात्म्यरूपत्वेन । न तु खेति । स्वस्य जीवस्याभेदो भेदाभावरूपत्वेन । न हि निन्देति ।
'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोत्रं'मितिन्यायेन । पूर्वोक्तेति । तादात्म्यरूपा-
भेदोपासना स्तुत्यर्थत्वात् । अन्यानीति । 'मद्भियाचंये'त्यादीनि । 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मत' इति
गीतावाक्यात्तादात्म्यरूपाभेदः । एवं चेति । 'दृष्टमात्रा मत्प्रतिमाहमेवेति मन्तव्ये'ति विष्णुस्वामिनं
प्रति भगवद्वाक्ये 'शिलाबुद्धिर्न कार्या च तत्र नारद कर्हिचित् । ज्ञानानन्दात्मको विष्णुर्यत्र तिष्ठत्य-
चिन्त्यकृत । तीर्थक्षेत्रस्थिते विष्णौ शिलाबुद्धिं करोति यः । स याति नरकं घोरं पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥
अत्र सामान्यतो मूढा हेतुकाः पापबुद्धयः । प्रतिभेति विकल्पन्ते दृष्टानन्दात्मकं वपुरि'ति स्कान्दसं-
द्विखण्डोत्तरसंहितास्यपाण्डुरङ्गमाहात्म्यवचने च । अत्र पूर्वत्र प्रतिमाहमिति प्रयोगः । प्रतिमा सती
अस्त्वपदार्थः सच्चिदानन्दरूपः, एनयोरभेदस्तादात्म्यरूपः । षट्योरिव । यदि तु विष्णुस्वामी दैशिको
भगवत्सन्नधिष्यं चेति प्रतिमा सच्चिदानन्दरूपा तदापि तादात्म्यरूपोऽभेदः, परन्तु 'आश्वर्यो वक्ता
कुशलोऽस्य लब्धे'तिकाठकादाश्वर्याभिनिवेशिनां भेदाभावरूपोऽभेदोऽस्तु भेदप्रतीतावपि । तदुक्तं
'आश्वर्यवत्त्वयति कश्चिदेनमाश्वर्यवद्भवति तथैव चान्यः' इति । परत्र । प्रतिमायां शिलाबुद्धिनिषेधा-
च्छिलात्वेन बुद्धिः प्रतिमाविषयिणी । एवं च सच्चिदानन्दबुद्धिः शिलायां प्राप्ता । दृष्टशान्दान्दामन्य-
स्या बुद्धेरभावात् । तत्रैवत्यानन्दात्मकवपुषि । उपलक्षणमेतत् सच्चित्तोः । यत्र त्वस्याप्ययमर्थः ।
तीर्थ सर्वात्मभावोपि । 'नातः परतरं स्तोत्रं नातः परतरः स्तवः, नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः
परात्पर'मिति निरोधलक्षणग्रन्थवाक्यात् । एतदेवोक्तं सर्वस्य ब्रह्मत्वेत्यादिप्रकाशेन । तथेति ।
अनुपपन्नम् । प्रबोध इति ज्ञाने । तथेत्यनुपपन्नम् । उपपादयन्ति स्म । यत्र स्वस्येत्यादिना ।
ज्ञानादिति । आत्मत्वप्रकारकसर्वविशेष्यकज्ञानात् । विकल्पेति । 'आत्मैवाभू'दित्यात्मरूपवेदा-

भाष्यप्रकाशः ।

दृष्टिर्न कार्येत्युक्तम् । तत्रापि मनआद्युपासनस्य प्रतीकत्वमेवायुक्तम् । 'सर्वं तं परादाद्योन्यत्रात्मनः सर्वं वेदे'ति सर्वत्राभेददृष्ट्यर्थं भेददृष्टिनिन्दाङ्गीकारेण भवतामपि सिद्धे सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वे मनआदीनामपि तथात्वात्पुरुषाङ्गे पुरुषबुद्धिवत् प्रतीकत्वाभावात् । अथ, 'अङ्गं प्रतीकोवयव' इति कोशादङ्गोपासनैव प्रतीकोपासनेतीष्यते, तदा तु अमिति ब्रूमः ।

रामानुजाचार्यास्तु, तुशब्दोवधारणे । उपासितुरात्मत्वेवोपास्यम् । उपासिता प्रत्यागात्मा स्वशरीरस्य स्वयं यथात्मा तथा स्वात्मनोपि परं ब्रह्मात्मेत्येवोपासीत । कुतः । एवं ह्युपगच्छन्त्युपासितारः । 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसी'ति । उपासितुरर्थान्तरभूतं ब्रह्म उपासितारः कथमित्युपगच्छतीत्यत्राह । ग्राहयन्ति चेति । इति इममर्थमविद्गोपासित्वं ग्राहयन्ति । शास्त्राणि तान् प्रत्युपपादयन्ति । 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरः' । 'सन्भूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः', 'देतदात्म्यमिदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जला'मिति च सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनस्तज्जत्वात्तच्छ्रुत्वात्तदन्त्वात्तन्नियम्यत्वात्तच्छरीरत्वाच्च सर्वस्यायमात्मा, अतः स त आत्मा । अतो यथा प्रत्यागात्मनः स्वशरीरं प्रत्यात्मत्वाद्देवोहं मनुष्योहमित्यनुसन्धानम्, तथा परमात्मनः प्रत्यागात्मनोप्यात्मत्वात्प्रत्यागात्मनं प्रत्यप्यहमित्यनुसन्धानं युक्तमित्युपपादनात् । सर्वबुद्धीनां ब्रह्मैकनिष्ठत्वेन सर्वशब्दानां ब्रह्मैकनिष्ठत्वमभ्युपगच्छत'स्त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसी'ति ध्यतिहारेणोक्तवन्तः । एवं च 'अथ योन्यां देवतामुपास्तेन्योसावन्योहमिति, अकृतस्त्रो ह्येषः, आत्मेत्येवोपासीत, सर्वं तं परादाद्योन्यत्रात्मनः सर्वं वेदे'ति आत्मत्वाननुसन्धाननिषेधः । तेन, 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्त्वे'ति पृथगात्मानुसन्धानं चाविरुद्धम् । अहमिति स्वात्मतयानुसन्धानान्दन्त्यनुसन्धाननिषेधो रक्षितः । स्वशरीरत्वात्मनोधिकत्वात्तनुसन्धानवत् स्वात्मनोपि परात्मनोधिकत्वात्तनुसन्धानात् पृथक्त्वानुसन्धानविधानं च रक्षितम् । अधिकस्य ब्रह्मणस्तदात्मकत्वात् तस्य च ब्रह्मशरीरत्वात्निषेधवाक्येकृतस्त्रो ह्येष इत्युक्तम् । अत उपासितुरात्मत्वेन ब्रह्मोपास्यमिति स्थितमित्याहुः । तदापि शाङ्करादिमतापेक्षयोपपन्नम् ॥ ५ ॥

इति द्वितीयमात्माधिकरणम् ॥ २ ॥

रश्मिः ।

त्मकत्वस्यापि सम्भवादकारो नञो वा विष्णुवाचको वेति विकल्पस्तद्विषयिणी बुद्धिस्तन्मात्रभाषेनेत्यर्थः । किन्तु अकारो विष्णुः चासौ वेद इतिसमासः । अत एव न वेदा इत्यस्य निरुक्ते कृतिनो न वेदा इत्यस्यार्थ उक्तः । अभेदेति । तादात्म्यादिरूपाभेददृष्ट्यर्थम् । तथात्वात् ब्रह्मात्मकत्वात् । उ०मिति । अग्निमाधिकरणात्तथा । विशिष्टाद्वैतार्थं 'यस्यात्माशरीर'मित्यन्तर्यामिब्राह्मणेनाहुः उपासितेति । अत्र शरीरमचित्, आत्मा चित्, परमात्मा चिदचिद्विशिष्टः । 'अहमस्मी'ति जाबालश्रुतिः । भगवो भगवन् । त्वं विशिष्टः अहं चिदचित् उपलक्षणम् । उपासितुरिति पञ्चम्यन्तम् । इतीति । आत्मैवेत्यवधारणेन । तन्नियम्यत्वादित्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणस्यम् । अद्वैतानुरोधेनाहुः सर्वबुद्धीनामिति । अन्योहं भिन्नोहम् । अकृतस्त्र इति । अभेदे कृतस्त्रत्वमिति भावः । आत्मत्वानन्विति । भिन्नेस्त्रच्छब्दाच्चे । तेनेति । विशिष्टाद्वैतेन । स्वात्मनोपीति । पञ्चम्यन्तम् । अकृतस्त्र इति । शरीरं विनाऽकृतस्त्रः । उपपन्नमिति । भेदस्येवार्थत्वमङ्गीकृतं गीतायामित्यस्मिन्भेदे विरोधाभावाच्छाङ्करादिमतापेक्षयोपपन्नम् ॥ ५ ॥ इति द्वितीयमात्माधिकरणम् ॥ २ ॥

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥ (४-१-३.)

छान्दोग्ये 'अथ होवाच सत्ययज्ञं पीलुषिं प्राचीनयोग्यं कं त्वमात्मानमुपास्स इति, आदित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचे'ति । 'अथ होवाचेन्द्रयुञ्ज'मित्युपक्रम्य, 'कं त्वमात्मानमुपास्स इति, वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचे'ति । एषमेवाग्रे प्रश्नभेदेन वक्तृभेदेनाकाशापःप्रभृतय आत्मत्वेन उपासनाविषया उक्ताः । तत्रैव 'असौ वा आदित्यो देवमध्वि'त्युपक्रम्यान्ते पठ्यते 'य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्त' इति ।

अत्रेदं चिन्त्यते । अत्र प्रतीकोपासनत्वमस्ति, न वेति । अस्तीति पूर्वः पक्षः । तथाहि । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति श्रुतौ सर्वमनूय ब्रह्मत्वं तत्र बोध्यत इति न क्वचित् प्रतीकोपासनमस्तीति हि पूर्व निरूपितम् । तच्चोक्तश्रुतिभिः प्रत्येकं तत्त्वेनोपास्यत्वेनोक्त्या नोपपद्यते । ब्रह्मण एकत्वादेकप्रकारकेणैवोपासनेन

भाष्यप्रकाशः ।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥ एवं प्रधानभूतानां ज्ञानभक्तिसम्बन्धिनीनामुपासनानां फलमुक्त्वा, अङ्गोपासनानां तदुक्तप्रतीकत्वं वारयितुमङ्गोपासनानां फलं विचारयतीत्याशयेनाधिकरणविषयमाहुः छान्दोग्य इत्यादि । छान्दोग्य इति । तत्र वैश्वानरविद्यायाम् । अत्र प्रश्नप्रत्युत्तरे 'चक्षुष्टेतदात्मन' इत्यादिकथनाद् आदित्यस्याङ्गत्वेपीतः पूर्व प्रश्ने 'दिवमेव भगवो राज'न्नित्यादिना द्युमतेरुक्तत्वेनादित्यमतेरादित्वाभावात्पूर्वं द्युमतेरुक्तत्वेन तस्यागे नीजाभावादनाङ्गोपासनाफलस्योत्कृष्टत्वाभावाद्भक्तिमार्गीयस्य नेदं युज्यत इत्यरुच्या विषयवाक्यमन्यदाहुः तत्रैवेति । छान्दोग्ये मधुविद्यायाम् । संशयमाहुः अत्रेत्यादि । अत्रात्माङ्गैवादित्यादिष्वात्मबुद्धित्वबोधनादतद्रूपे तद्बुद्धिरूपतया प्रतीकत्वस्य पुरुषैकदेशे पुरुषबुद्धिवदत्र ब्रह्माङ्गे ब्रह्मबुद्धेरपि मननसिद्धत्वादप्रतीकत्वस्य सम्भवः सन्देहबीजम् । पूर्वपक्षं व्युत्पादयन्ति तथाहीत्यादि । पूर्व निरूपितमिति । पूर्वाधिकरणीयस्यत्रद्वये व्युत्पादितम् । तत्त्वेनेति । ब्रह्मतया । एकप्रकारकेणेति । 'सर्वं खल्विद'मिति श्रुत्युक्तप्रकारकेण ।

रश्मिः ।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥ ज्ञानभक्तीत्यादि । ज्ञानफलं आत्मेति ज्ञानम् । 'उपगच्छन्ती'ति श्लिष्टप्रयोगेण भक्तिमार्गफलं पुरुषोत्तमसमीपमनम् । ज्ञानमकृत्युपासनानां चित्तशुद्धिद्वारा जन्यजनकभावः । फलमिति । उपगच्छन्तीतिपदाभिहितम् । तदुक्तेति । न प्रतीकस्त्रोक्तं प्रतीकत्वम् । तेन सायुज्यालौकिकसामर्थ्यभगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिष्विति फलप्रयं मुख्यत्वेन निरूप्यते । 'सालोक्यसाष्टिसामीप्ये'त्याद्युक्तं यथायथमत्रैवान्तर्भूतम् । फलमिति । 'उपगच्छन्ती'तिपदेनोक्तं फलम् विचारयतीति । प्रतीकोपासनात्वनिवर्तनेन ज्ञानभक्तिद्वारा फलं विचारयति । चक्षुष्टेतदात्मन इति । चक्षुः तु एतत् आत्मन इतिपदच्छेदः । इत्यादीति । आदिना 'प्राणस्त्वेष आत्मन' इत्यादि । इत्यरुच्येति । यद्यप्यादित्यस्यादिगणित्यादिः, आदित्यः आदिर्यासां ता आदित्यादयः, आदित्यादिश्चादित्यादयश्चादित्यादयः तेषां मतयः आदित्यादिमतय इति समासः सम्भवति, तथापि भाष्यानाहतत्वादरुचिस्तया । अत्रात्माङ्गैष्विति । स्यान्तयोः सम्भवपदेनान्वयः । भाष्ये कप्रत्ययः स्वार्थ इत्याशयेनाहुः सर्वं खल्विदमिति । प्रयोजनेति । स्त्रोक्तप्रयोजनविशेषभावे

सर्वेषां फलसिद्धेः, पृथक्पृथगुक्तौ गौरवात्, प्रयोजनविशेषाभावाच्च । तादृशाधिकाराभावात् पृथक् तदुक्तिरिति चेत् । न । सर्वत्र सदा तद्भावनायां तथानुभवस्यापि सम्भवात् । एवं सति वस्तुनः सर्वस्य ब्रह्मत्वं नाभिमतम्, किन्तु यथादित्यादीनां तत्तथा, तथा सर्वस्यापीति प्रतीकोपासनत्वमेव सर्वत्र । तेनैव फलमिति प्राप्ते प्रतिबद्धति ।

आदित्यादौ या ब्रह्मत्वमतय उच्यन्ते, तास्तु साकारस्यैव ब्रह्मणो व्यापकत्वात् तस्य प्रत्येकमप्यङ्गमुपासितं फलदमित्येकैकाङ्गविषयिण्यस्ता विधीयन्ते । उपपन्नं चैतत् । न हि साकारव्यापकब्रह्मणोऽङ्गं न ब्रह्म, अतो न प्रतीकोपासनत्वं तत्र ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रयोजनविशेषसत्तामाशङ्कते तादृशेत्यादि । तादृशाधिकाराभावादिति । उक्तृष्टाधिकाराभावात् । तथा च येषां न सर्वत्र ब्रह्मत्वेन स्फूर्तिः, तदर्थं पृथगादित्याद्युपासनोक्तिरित्यर्थः । समाचक्षे नेत्यादि । सर्वत्र तद्भावनायां तथा उपनयेनोपनीतमानरूपस्य ब्रह्मानुभवस्यापि सम्भवात् । एषं सतीति । अधिकाराभावेऽप्युक्तरीत्या ब्रह्मं ब्रह्मदशेनसम्भवेत्येवं पृथगुपासनीपदेशे सति । वस्तुत इत्याद्युक्तरीत्या तत्तथा उपासनं प्रतीकम्, तथा सर्वस्यापि ब्रह्मत्वेनोपासनमपि प्रतीकम् । तेनैव चित्तशुद्धिद्वारा शुक्तिरूपं फलं सम्भवतीति पूर्वब्रह्मदशोक्तमयुक्तमिति प्राप्ते प्रतिबद्धति । आदित्याद्युपासनानामङ्गोपासनत्वेन फलवत्त्वं वदन् तासु तदुक्तप्रतीकरूपत्वं परिहरतीत्यर्थः । सिद्धान्तं वक्तुं शत्रं व्याचक्षते । आदित्येत्यादि । एकैकाङ्गविषयिण्य

रश्मिः ।

प्रतियोगिज्ञानरूपप्रयोजनविशेषसत्ताम् । उरुकृष्टेति । ब्रह्मत्वदृष्टधिकारः ह्यादित्यवायुघटपटप्रतिमादिषु तस्याभावादिकप्रकारेणोपासनस्य पृथगुक्तिः । तेन ह्यादित्यवायुघटपटादिरूपौपमन्यवसत्ययज्ञेन्द्रगुणकुलालकुविन्दफलानां तूष्णीकं विचारो ज्ञानमार्गोपयोगी । भक्तिमार्गे तु घटपटादिकार्यस्य ब्रह्मत्वमात्मकत्वंतासम्पादकम् । कृत्स्नोपासनया तादृशाधिकारे प्रेम, 'श्रेयोभिर्विधिष्वैश्वान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इतिवाक्यात् । तदर्थमिति । औपमन्यवसत्ययज्ञेन्द्रगुणार्थम्, न तु वामदेवार्थम् । उपनयेनेति । उपनयः समीपनयनं यथा शब्दं ह्युपनीतं मन्तव्यमिति शङ्कायां श्रोत्रसमीपे शब्देनार्थनयनं श्रावणं प्रत्यक्षमिति । तेनेत्यर्थः । उपनीतस्य ब्रह्मणो भानं तद्रूपस्य । उक्तरीत्येति । उपनीतमानरूपत्वेन ब्रह्मदर्शनमिति रीत्या । आदित्यादीनां पृथक् तदनन्तर्गतत्वेनोपासनोपदेशे सति । तत्तथेति व्याख्येयम् । उपासनं प्रतीकम् । तथा सर्वस्येतिभाष्यार्थमाहुः तथा सर्वस्येति । पूर्वसूत्रेति । 'न प्रतीक' 'ब्रह्मदृष्टि'सूत्रद्वयोक्तं प्रतीकोपासनस्यामुक्तिजनकत्वम् । तास्विति । अङ्गोपासनायु । पूर्वपक्षयुक्तप्रतीकरूपत्वम् । आदित्येत्यादीति । उच्यन्त इति । छान्दोग्ये उच्यन्ते इति । साकारस्येति । विराजः । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति विषयवाक्ये भाष्ये विराज उक्तेः 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशा'दित्यत्र । ननु 'न हि स' इति भागे भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमोक्तेः 'साकारब्रह्मवादैकस्थापक' इति श्रीसर्वोत्तमग्रन्थोक्तेर्विरादस्रष्टुः साकारत्वं कथमिति चेत् । न । अधोक्षजत्वेपि 'यतो वाच' इतिश्रुत्येदमित्यतया यावद्धर्मप्रतिपाद्यत्वेपि परब्रह्मणो जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन साकारजगत्समवायिनः साकारत्वात् । साकारादेवदत्ताज्ञायमानस्य तस्युत्रस्य साकारत्वदर्शनात् ।

अपरश्च । 'असौ वा आदित्यो देवमधिन'त्युक्त्वा तस्य प्रतिद्विकारदमीनां कृपावलोकनरूपाणां मधुत्वं निरूप्य, 'तद् यत् प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन, न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं हृष्ट्वा तृप्यन्ति । त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्गुपादुच्यन्ती'ति पठ्यते । तथा च दर्शनमात्रेण

भाष्यप्रकाशः ।

इति । सूत्रेण इति सप्तम्या वैषयिकाधिकरणबोधनात्तथा । हेतुं व्याकुर्वन्ति उपपन्नमित्यादि । तथा च, 'अङ्गं प्रतीकोऽवयव'इति कोशादङ्गमेव प्रतीकं तदुपासनं चाङ्गोपासनमेव, न तु त्वदुक्तरीतिकप्रतीकोपासनम् । अतस्त्वदुक्तरीतिवाचसात्र फलम् । असदुक्तरीतिकासु तस्मात्फलम् । भगवदङ्गमाहात्म्यप्रतिपादने ज्ञानाङ्गभक्तिद्वारा भगवज्ज्ञाने ज्ञानमार्गीयस्योपकरोतीति भावः । अङ्गत्वेन प्रतीकत्वाच्च तावन्मात्रस्यात्मत्वेनोपासनेऽकृत्स्नत्वादन्यत्वदोषकथनमपि युज्यते । न च यदेवम्, तदा 'अच्यञ्जं पश्यति प्रिय'मित्यादिफलकथनमपि कथमिति शङ्काम् । भगवदङ्गमप्युवाक्षिर्षं फलायेतिभगवद्भाहात्म्यज्ञानमेवैव भक्तिसिद्धयर्थमिति जानीहि । एतासां भक्तिमार्गोपकारार्थम् । द्वितीयवाक्यस्यार्थं परोक्षवादेनाहुः । अपरं चेत्यादि । आदित्यो भगवच्चक्षुरूपः ।

रश्मिः ।

त्रिगुणतन्तुभिर्जायमानस्य पटस्य चित्रपटत्वदर्शनाच्च । वैषयिकेति । गोक्षे इच्छास्ति इत्यत्र यथा । तथेति । एकैकाङ्गविषयिण्यः । उपपन्नमिति । उपपत्तेरित्यत्र भावे क्तिन् । उपपन्नमित्यत्र कर्मणि क्तः इति प्रयोगशुद्धिः कथमितिचेदुच्यते । भावप्रत्ययान्तस्य हेतोः पक्षभिन्ने देवदत्तस्य चक्षुरित्यादौ निश्चितसाध्ये विशिष्टाभिधानं यत्र तत्र कर्मप्रत्ययान्तत्वमिति । तथा चादित्यादिमतयोऽङ्गविषयिण्य उपपत्तेर्दृष्टान्ते देवदत्तचक्षुरादिवदित्यनुमानं फलितम् । तत्रेति । औपमन्यवाद्युपासनेषु । त्वदुक्तेति । लक्षणपुरःसरप्रतीकोपासनम् । तस्मादिति । प्रतीकोपासनात् । अस्मादिति । कोशोक्तलक्षणकात् । अन्धत्वेति । कृत्स्नादर्शित्वादन्यत्वम् । 'अन्धो भविष्यत्यस्मात्त्रागमिष्य' इति श्रुतिः । श्रुतौ युज्यते । अस्तीति । 'अन्नमति प्रियं पश्यती'ति एतत्फलकथनं 'य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्त' इति श्रुत्या वक्ष्यमाणोपासनायाः मुक्त्यतिरिक्तफलकथनम् । द्वितीयेति । द्वितीयविषयवाक्यस्य । परोक्षवादेनेति । 'परोक्षवादे वेदोय'मितिवाक्यात्तथा । अथवा । तत्तदुपासकानामादित्यादीनां फलत्वेन फलंशे परोक्षवादात्तथा । आदित्यस्य फलत्वात्तत्र परोक्षवादं वक्तुमादित्यस्वरूपमाहुः आदित्य इति । चक्षुरूप इति । विष्णोस्तृतीयरूपशरीरेषु चक्षुषामेवै रूपत्वात् । मधुत्वमिति । 'मनेर्धन्वन्तसी'तिसूत्रेण ज्ञानार्थकस्य मनेर्धप्रत्यय औणादिकः । देवस्य 'अन्तस्त्वद्दर्शो'धिकरणोक्तस्यादित्यान्तःस्थस्य नारायणस्य मधु ज्ञानकर्तृ द्वादशस्कन्धप्रसिद्धम् । त्रयीरूपत्वाद्वा । अतो मधुनः नारायणस्य नाड्यादित्यः । नाडीछिद्रम् । अतो मधुशब्दे लक्षणा । लक्षणायां प्रमाणमाहुः प्राच्य इत्यादि । श्रुतौ लक्षणायाः तास्वामिति । नाडीनाम् । तेन कर्मधारयः । एतस्याः पूर्वश्रुत्यर्थस्तु, आदित्ये मधुनाडीत्वसम्पादनाय ज्ञानादिपदान्यपहाय मधुपदानेन प्रसिद्धमधुसाम्यं दर्शयितुमुपक्रमते तस्य चौरिति । तिरश्चीनवंशः सामान्यस्थानं मधुकृतः तद्वदयौः । अत्र मधुकृत ऋच इत्यृचां सामान्यस्थानमवयव्यादित्यद्वारा । अवयव्यनङ्गीकारे साक्षादपि । 'अन्तरिक्षमपू' इति । अपूपः पिष्टस्य विकारः आश्रयो मधुकृतस्तद्वदन्तरिक्षम् । अत्र मधुकृत ऋचः तासामाश्रयः । ननु मधुकृतामाश्रयः सरसा वृक्षाः, अपूपः कथमिति चेत् । न । अपूपेषु स्थित्वा तद्रसपाटुणां मधुकराणां

भाष्यप्रकाशः ।

मधुत्वं मधुनाडीत्वम् । 'प्राच्यो मधुनाड्य' इत्यादिश्रुतेः । तासां मधुप्रधानत्वान्मधुत्वम् । ऋचां मधुकृत्वम्, ऋग्वेदस्य पुष्पत्वम् । तासामेव ऋचाममृतता ब्रह्मरूपत्वम्, तामिऋग्वेदतापम्, रश्मिः ।

विवक्षितत्वात् । पूज्यवने, सम्पदादि क्विप्, अपुवं पाति पिभति वा । आतोलुपेति कः । पिष्टस्य विकारः । संज्ञायामिति कन् । 'पिष्टको घृतपूपादौ नेत्ररोगान्तेरेपि चे'ति विश्वः । 'पिष्टको नेत्ररोगे स्याद्धान्यादिचमसेपि चे'ति पाठान्तरम् । धान्यादिपानपात्रं नानावृक्षा रसाश्रया अप्यपुः । तेन 'यथा मधु-मधुकृतो निस्तिष्ठन्ती'त्यत्रोक्तनानावृक्षरसातृत्वं मधुकृतां न विरुद्धम् । तद्वदन्तरिक्षं तत्रादित्यस्त्री-रूपोन्तरिक्षस्याप्यक्षे वायौ स्वसमवायिनि समवायेन स्थित्वा 'वायव्या वै पशव'इत्युक्तेः पशून् अश्वान् रथद्वारा भुङ्क्ते । ऋचोपि भुङ्क्ते आदित्यद्वारा । 'वायुः शब्दतामापद्यत' इति प्राचां प्रवादात् ।

अत्रेदं प्रतिभाति । अवयवा ऋगादयः न दृष्णीमादित्यमवयविनमारभन्तेपि तु मधुत्वम् । आदित्यस्य सिद्धत्वात् । मधुत्वान्तर्गतज्ञानं च किंविषयकमित्यपेक्षायामन्तरिक्षे ये वायव्याः पशवः राधाकृष्णवराहः । पञ्चमाद्ये 'आदित्यः पशुरासीत्तेनायजन्त, अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त, वायुः पशुरासीत्तेनायजन्ते'ति श्रुतावुक्तेः । आदित्यः कृष्णः पशुः पश्यतीति पशुः द्रष्टा अग्निः, निरुक्ते देवपत्नीनामसु सूर्यपाठाद् राधा । वराहः वायुः । हिरण्यगर्भनस्तो 'वराहदत्तोको निरगा'दिति श्रीभागवते । तथा च मधुत्वान्तर्गतज्ञानं पशुविषयकमिति भावोत्र । अधिकारस्कन्धानन्तरं ज्ञानस्कन्धः । तादृजज्ञानविषयत्वेन तृतीयस्कन्धे वराहपशुसंगपुरःसरं सर्ग उक्तः । ततो राधाकृष्णपशुनिरोधपुरःसरं सामान्यतो निरोधः प्रपञ्चनिष्पृतिपूर्वकभगवदासक्तिरक्षणकनिरोधो व्याख्यात इति । स्कन्धचतुष्टय-व्याख्याशयः । मरीचयः पुत्रा इति । मधुकृतां पुत्रा अपि मधुकृतस्तादन्मरीचयः किरणाः दीप्तयोपि आदित्यमधुकृताः । तथाहि । आदित्योपां पुष्पं तेजस्तु भगवदीयं पुत्रवत् किरणदीप्तिरूपम् । 'अजा-यमानो बहुधा विजायत' इति श्रुतेरधिकारिणं 'पुत्राप्तो नरकात् प्रायत' इति पुत्रपदच्युत्पत्तेः पाल-कम् । अन्यथा बन्धप्राप्त्या नाधिकारं कुर्यात् । 'देवो वः सविता प्रार्थयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण' इति संहितोक्तम्, तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राञ्चो मधुनाड्यः । अत्रत्वं प्रतीकमाहुः । प्राच्य इत्यादि । तस्यादित्यस्वावयवर्षपरसाश्रयस्य सवितुर्थे प्राञ्चः पूर्वदिग्गता रश्मयः । ता एवास्यादित्यस्य प्राच्यो मधुनाड्यः । प्रसिद्धमधुरूपार्णवादित्यमधुरूपच्छिद्राणि । ऋचामिति । ऋच एव मधुकृत इति श्रुत्यर्थः । अमरा इवर्चः समवायित्वं मधुनि अमराणां आदित्ये ऋचाम् । 'एषा अर्येव विद्या तपती'-ति श्रुतेः । 'ऋग्वेद एव पुष्प'मितिश्रुत्यर्थमाहुः ऋग्वेदस्येति । नारायणविशिष्टादित्यस्य पुष्टिद्वारोपासन-फलत्वं सूचितमित्यादित्यमधुनर्भूषेण वेद ऋग्वेदः पुष्पं अर्थरूपफलसत्ताविशिष्टम् । वेदयति साधनफले अलौकिके इति वेदः । 'ता अमृता आप' इति श्रुत्यर्थमाहुः तासामेवेति । प्रसिद्धमधुनः द्रव्यभय-स्करत्वरूपाणां लक्षणवत्त्वात् प्रकृते आप उक्ताः । ता इति विधेयलिङ्गम् । पुष्पं फलसत्ताकमिति । आदित्यमधुपीता आपः अमृताः अमृतपदवाच्या मुख्यफलजनकत्वात् । एव च तासामपामेव या रुचो दीप्तयः तासाममृता आपः इतीति शेषः । इति हेतोर्ब्रह्मरूपत्वम् । ऋग्वेदस्य शब्दस्यार्थरूपत्वम् । 'ब्रह्म वेद' इति शब्दरूपत्वं वा । 'ता वा एता ऋच एतमृग्वेदमभ्यतप'न्निति श्रुत्यर्थमाहुः ताभिरिति । ता वै मधुकृताः वै निश्चयेन एताः पुष्परूपाः कार्यकारणभेदात् । ऋग्वेदं स्वं रूपं गहनार्थवत्त्वेन तापयुक्तमकरोत् । आधिदैविके तापः सम्भवति । 'मृदमवी'दिति वत् । 'तस्याभितसस्य यशस्तेज

भाष्यप्रकाशः ।

तामित्तस्यशर्वेदस्य यशआदिरसजननं तत्क्षरणम्, तस्य रसस्यादित्यमभितः श्रयणम्, तस्यादित्य-रोहितरूपत्वमित्येवं प्रतिदिकरश्मीनां ये रसास्तेषाममृतत्वं च निरूप्य, तदत्रे 'तद्यत्प्रथम-ममृत'मित्यादि पठ्यते । अत्र कल्पनोपदेशात्परोक्षवादता । तेन यदत्र सिद्धं तद्विशदयन्ति ।

रश्मिः ।

इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायते'त्यस्यार्थमाहुः ताभित्तस्येत्येति । अभित्तस्यशब्दो लोकप्रसिद्धः । कः शब्दः इत्यपेक्षायामाहुः यश इत्यादि । यशः रसः, यशोजनकशब्दः 'रस शब्दे' इतिपातु-पाठात् । स च शब्दः 'अलौकिको हि शब्दार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते, तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात् परमात्मन' इति । 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'ति । तेजो रसः, आधिदैविके सन्तापस्तेजः तत्प्रतिपादकः शब्दः 'मद्भयाद्वाति वातोयं सूर्यस्तपति मद्भयाद्'इति । 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेच्छिळम्, यच्चन्द्रमसि यचायौ तत्तेजो विद्धि मामक'भिति च । इन्द्रियं रसः, इन्द्रियप्रतिपादकः शब्दः 'इन्द्रियाणि जुहोती'तिगीतोक्त इन्द्रियहोमश्च । वीर्यं रसः, तत्प्रतिपादकः शब्दः, 'यदेव विषयां करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेवासा वीर्यवत्तरं भवती'ति । दशमस्कन्धे वीर्यवाक्यानि । अन्नाद्यं रसः, अन्नाद्यप्रतिपादकशब्दः । 'अमये जुष्टं निर्वपामी'ति । प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्प्रश्न । आषपदेन 'असा देवतायाः सालोक्यं साष्टितां सायुज्यतामाप्नोती'ति । 'सालोक्यसाष्टितामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत, दीयमानं न गृह्णन्ति विना मस्तेवनं जना' इति फलप्रतिपादकः शब्दः । तद्विश्वरदित्यस्या अर्थमाहुः तत्क्षरणमिति । तस्य यशआदेरजाधान्तस्य क्षरणं विशेषेण तद्यशआषाढाद्यान्तं विशेषेणोर्ध्वमक्षर-दगमत् । 'तदादित्यमभितोश्रय'दित्यस्याः श्रुतेरर्थमाहुः तस्य रसस्येति । स्पष्टा । 'तदा एत-धदेतदादित्यस्य रोहितं रूप'मित्यस्या अर्थमाहुः तस्यादित्येति । तद्वैतदेव पूर्वोक्तमेवैतत्प्रत्यक्षं मधु, किं तत्, यत् एतत् उद्यत आदित्यस्य रोहितं रक्तरूपमप्युष्पादित्यगुह्यरूपातिरिक्तं दृश्यत इत्यर्थः । इत्येवमित्यादि । पूर्वोक्तप्रकारेण दिशं दिशं प्रतीति प्रतिदिक् येषां रश्मीनां ते इत्येवं प्रतिदिक्शास्ते च रश्मयः इत्येवं प्रतिदिकरश्मयस्तेषाम् । ये रसाः पुष्पाणि तेषां वेदत्वेनात्मत्वादसुतत्वम्, ता अमृता आप इत्येतया निरूप्य । अत्र कल्पनेति । भक्तिरसपरोक्षस्य माष्य उपदेशात् । अक्षयः परमिति परोक्षं तस्य वादन्तात् । विशादयन्तीति । परोक्षार्थस्याधिकस्योक्त्या विशादं कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा चेत्यादीति । तत् तस्मात् यत् प्रथमममृतमृग्वेदरूपं तद् वसवोष्टी नन्दाद्याः उपजीवन्ति । समीपस्थादाचार्योदुपसमीपाय जीवन्ति कारणं कुर्वन्ति । अग्निस्त्वाचार्यः स्वयमुपजीवति । केनोपायेने-त्यत आहग्निना मुखेनाभ्याचार्येण । आचार्योः सर्वात्मभाववन्त इति सर्वात्मभाववन्तो नन्दाद्या-वसव उपजीवन्ति ब्रह्मज्ञानकारणं कुर्वन्ति । परोक्षार्थस्तु कृपावलोकनेन प्रथमममृतमृग्वेदरूपमभ्याचार्य-स्तेहेन तात्पर्यार्थं कृत्वा ब्रजमक्तभावेन नित्यकीडाप्रवेशार्थं कारणं कुर्वन्तीति । एतस्य संक्षेपः दर्शन-मात्रेण ऋग्वेददर्शनमात्रेण शब्दज्ञानेन तात्पर्यार्थविषयेण । कारणान्तरव्यवच्छेदको मात्र च । 'न वै देवा' इत्यस्याः परोक्षापरोक्षार्थयोः परोक्षार्थमाहुः प्राणादिति । 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेणे'तिवाक्ये प्राणधारणमुक्तम्, तस्माद्धेतोरिन्द्रियरूपाणां चक्षुरादीनां निवृत्तिवैकल्पमिति परोक्षार्थः । अपरोक्षस्तु 'न वै देवा' इत्यस्य स्पष्टः । ननु देवानां भोगो विग्रहवत्त्वात् सिद्धोपलभ्यते इत इति चेत् । न । प्रमेयत्वात् । वस्तुतस्तु परोक्षवाद इति । तन्नास्तेरामावादात्मेतन्नास्ति न पिषन्तीति

अन्यधर्मनिवृत्तिः, तस्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन ज्ञानमतिशयितस्त्रेहजविगादभावेन तत्रैव लयः, पुनस्तद्दर्शनानन्दानुभवार्थं भगवानेव कृपया पुनः पूर्वभावं सम्पादयतीति तस्माद्रूपादुदयश्च । एतत्सर्वं भगवदङ्गत्वे एवोपपद्यत इत्यपि हेत्वभिप्रेतोर्थो ज्ञेयः । न हि प्रतीकत्व इदं सर्वं सम्भवति । भक्तिमार्गीयत्वात्स्यार्थस्येति भावः । अज्ञानां भगवत्स्वरूपात्मकत्वेनैक्यमिति ज्ञापनायैकवचनम् । एतेन स्वरूपस्यैव फलत्वमुक्तं भवतीति मुख्यः सिद्धान्तः सूचितो भवति ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तथा चेत्यादि । अन्यधर्मनिवृत्तिरिति । प्राणधर्मरूपधुदादिनिवृत्तिः । हेत्वभिप्रेतोर्थ इति । हेतुबोधके उपपत्तिपदेभिप्रायगोचरोर्थः । तदुपपादयन्ति न हीत्यादि । ज्ञानमार्ग एवान्धत्वादिदोषः, न भक्तिमार्ग इत्यपि सूचितम् । शेषं स्फुटम् । किञ्च, अस्मिन् सूत्रे आदित्यादिमतीनामङ्गविषयकत्वकथनेन पूर्व, 'अन्तस्तद्दर्शी'दिसूत्रेषूक्तानां हिरण्यपुरुषाकाशप्राणादीनामप्यङ्गत्वं बोध्यते । तेन तदुपासना अपि तथेत्यपि बोधितमिति ज्ञेयम् ॥ ६ ॥

रहिमः ।

सूपपन्नम् । भाष्ये । तस्यैवेत्यादि । तात्पर्यार्थस्यैव । ज्ञाते स्नेह इति नियमार्थमुक्तम् । तत्कार्यमाहुः । अतिशयितेति । विगादत्वं शास्त्रार्थोत्थत्वम्, शास्त्रार्थसंवादित्वं वा । लयोभिसंवेशः परोक्षार्थः । कृपयेति । ब्रह्मानन्दानन्दसुदृश्य भजनानन्दयोजनं कृपाकार्यमिति । प्रकृते । हेत्विति । गोचरः प्रत्ययार्थः । न हीत्यादीति । प्रतीकत्वमत्र पूर्वोक्तमतद्रूपे तत्त्वेनोपासनत्वं तस्मिन् । भक्तीति । भक्तिमार्गीयार्थेऽतत्त्वे तत्त्वेनोपासनं नास्ति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'तिश्रुतेर्जगत्त्रित्वात् । 'सहस्रधा सर्वथा सद्भिर्न सेव्यमखिलं जगत्, प्रान्त्या सहस्रद्विरेति सन्तं कृष्णं भजेद्बुध' इति तु ज्ञानमार्गीयार्थपरमिति सूच्यते । अस्ति समन्वितसत् कृष्णभजनपरं वा, समन्वयाधिकरणात् । ननु भगवदङ्गत्वे सकलाङ्गोपासना मामृत्, तत्रैवाङ्गे मनोव्यापाररूपोपासनासम्भवात्, तथापि सर्वाङ्गेषु मनोव्यापारस्यावर्जनीयत्वादेकसम्बन्धिज्ञानमप्यसम्बन्धिस्मारकमितिन्यायादान्तस्तद्दर्माधिकरणोक्तादित्यान्तःस्थनारायणस्मरणाच्च भक्तिमार्गे उप. समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणरूपोपासनासत्त्वात्, 'चक्षुष्टेजदात्मन इति होवाचान्धो भविष्यद्यन्मां नागमिष्य' इति श्रुतिविरोध इति चेत्, तत्राहुः ज्ञानमार्ग इति । उपासनयाध्यात्मिकचित्तशुद्धौ ज्ञानमित्यस्मिन्मार्गे एव, न भक्तिमार्गे इत्येवकारार्थो वक्ष्यते । अन्धत्वादिदोषस्याभिधेयार्थे सम्भवः । आदिपदेन 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य' इति धुमतिकरणवाक्यं 'प्राणस्ते उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य' इति वायुमतिकरणादिवाक्यानि सङ्गृह्यन्ते । सूचितार्थे तु न । तथा च 'यथा एष हुलोकाख्यः आत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धो, नायं समग्रो वैश्वानरोतः समग्रबुद्ध्यासोपासनाद् विपरीतप्राहिणस्ते मूर्धो पतितोभविष्यत्, यद्यदि मां प्रति नागमिष्य इत्यभिधेयार्थलङ्घिचारेण तथा भक्तिमार्गे लङ्घिचारेण क्रियाया अनिष्यत्तौ गम्यमानायां नान्धत्वादिदोषः । तथा च मूर्धो त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धो ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य' इत्यस्यामात्मन इत्यभेदे षष्ठी राहोः शिर इतिवत् । व्यतीतपतनयुक्तमभविष्यदिति व्यपतिष्यदित्यस्येति सूचितार्थः । एवं 'चक्षुष्टेजदात्मन इति होवाचान्धो व्यभविष्यद्यन्मां नागमिष्य' इत्यादिषु । स्फुटमिति । एकवचनमिति । सूत्रेण इत्येकवचनम् । एतेनेति । गौणमुख्यन्यायोक्त्या चेति भाष्येनेत्यर्थः । सूचित इति । वाच्यस्तु प्रतीतोर्थः । एवं शेषं स्फुटमित्यर्थः ॥ ६ ॥

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥

पूर्वसूत्रेण धर्ममात्रस्य फलत्वमुक्त्वा, अधुना धर्मिणः फलत्वं तत्साधनं चाह सम्भवात् । उत्कटस्त्रेहात्मकसाधनस्य सम्भवात् तदधीनः सस्तदग्रं आसीनो भगवान् भवति । एतेन भक्तवद्वयतोक्ता ॥ ७ ॥

एवं बहिःप्राकट्यमुक्त्वा आन्तरं तदाह ।

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

भावानौत्कट्यदशायां व्यभिचारिभावात्मकसततस्मृतिरूपध्यानादपि इति प्रकटः सन्नासीनो भवतीत्यर्थः । तेन स्वैर्यमुक्तं भवति ॥ ८ ॥

एवं भक्तेच्छयैव स्वरूपप्राकट्यमित्युक्त्वा लीलानाविष्करणमाविष्करणं चापि तदिच्छयैवेत्याह ।

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

भक्तेच्छामपेक्ष्याचलत्वम्, चकाराचलत्वमपीत्यर्थः ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥ सूत्रमवतारयन्ति पूर्वसूत्र इत्यादि । पूर्वसूत्रे चक्षुरादिरूपसादित्यादेर्धर्मस्य प्राप्यत्वेन फलत्वमुक्त्वासिन् सूत्रे धर्मिणो भगवत एव तदुपासनफलत्वं तत्राप्तिसाधनं चाहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति सम्भवादित्यादि । भगवदङ्गत्वज्ञानपूर्विक्यादित्याद्युपासनया उत्कटस्त्रेहसम्भवात् तथा, न तु तदभावपीत्यर्थः । एतेन ज्ञानमार्गिणामीदृशस्त्रेहामावाचारीनो भवति, किन्तु परोक्षज्ञानविषयो भवतीत्यपि बोधितम् । सिद्धमाहुरेतेनेत्यादि ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥ सूत्रमवतारयन्ति एवमित्यादि । तदिति । प्राकट्यम् । व्याकुर्वन्ति भावेत्यादि । स्वैर्यमुक्तं भवतीति । एतेन ज्ञानमार्ग एतादृशशापि भावस्याभावादस्वैर्यमित्यपि बोधितम् ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥ सूत्रमवतारयन्ति एवं भक्तेत्यादि । अस्मिन्पि सूत्रे अपेक्ष्येति कथनाज्ज्ञानमार्गीयसोपासनामपेक्ष्याचलत्वादिकं बोध्यम् ॥ ९ ॥

रहिमः ।

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥ उक्त्वेति । अभिवयोक्त्वा, व्यसनया तु धर्म्यप्युक्त एव । आहेति । अभिधेयाहेत्यर्थः । परोक्षेति । 'मक्त्याहमेकया प्राञ्च' इतिवाक्यात् तथा ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥ भावेत्यादीति । भावना न सन्ध्यासनिर्णयोक्तत्वाद्भिप्रयोग एव, संयोगव्यभिचारिभावसततस्मृतिरूपत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । एकैकान्ते मनोनिवेशस्य ध्यानस्य साधनदशायां सत्त्वम् । फले तत्र निविष्टम् । अत एव सततपदम् । एतादृशस्येति । भक्तिरस्य व्यभिचारिभावात्मकस्यान्तर्बहिःस्थित्या स्वैर्यमुक्तस्य । किन्त्वक्षरविषयकं ज्ञानं सोहमिति तस्य 'कृष्णोहं पश्यत गति'-मित्यत्रोक्तसदृशस्य । अस्वैर्यमिति । तादृशे स्वैर्यमिन्नो धर्म उक्तः, आन्तरमात्रत्वात् ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥ उपासनामपेक्ष्येति । यावदुपासनं तावदित्यर्थः । अचलत्वेति । आदिना चलत्वम् ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

केचन भक्ताः स्वरूपनिरपेक्षास्तस्मिन्स्मरणजनितानन्देनैव विस्मृतापवर्गान्तफला भवन्ति । चकाराच्छ्रवणकीर्तनादयोपि समुद्भीयन्ते । तदुक्तं 'अथ ह वा व तव महिमासृतसमुद्रविमुषा सकृद्वीर्या स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतसुखलेशभासाः परमभागवता' इति । अथवा । 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिस्मृतिः पूर्वोक्ते प्रमाणत्वेनोक्ता ॥ १० ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे तृतीयमादित्याद्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः

स्मरन्ति च ॥ १० ॥ अनेन साधनान्तरमुक्तमित्याहुः केचनेत्यादि । अत्र भाष्यमति-रोहितार्थम् ।

एवञ्चात्रादित्यसूत्रोक्ते मनने आसीनद्वारेण विशेष उक्तः, ध्यानसूत्रोक्तनिदिध्यासने चाचलत्वद्वारेणोपि ज्ञेयम् । अनेनाधिकरणेन आदित्याद्यङ्गविषयिणीनामुपासनानां जघन्याधिकारिषु फलदानद्वारा भगवन्माहात्म्यप्रतिपादनेन तत्र भक्तिजननद्वारा सर्वात्म्यभावरूपज्ञानाङ्गत्वमपि प्रतिपादितम् । तेन तासामपि परम्परया तदेव फलमिति सिद्धम् ।

अन्ये तु, आदित्यादिमतिद्वयमधिकरणान्तरत्वेनोक्त्वा तत्र 'य एवासौ तपति तमुद्गीथ-मुपासीते'त्यादिषु कर्माङ्गोपासनेषु किमादित्यादिषुद्गीथदृष्टिः कार्या, किं उद्गीथादिष्व्वादित्यादिदृष्टिः, दृष्टेरनियमो वेति संशये, उद्गीथादिष्वङ्गेष्वेवादित्यादिदृष्टयः कार्या इति सिद्धान्तयन्ति । आसीन इत्यादिकं चतुःद्वयमधिकरणान्तरमुक्त्वा तेष्वेवासाधननियमोस्ति न वेति संशये, आसीन एवोपासीतेति नियमं सिद्धान्तयन्ति । तत्रोदासीना वयम् ॥ १० ॥

इति तृतीयमादित्याद्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

स्मरन्ति च ॥ १० ॥ अनेनेत्यादि सूत्रेण । साधनं भक्तेच्छालीलाविष्करणे तदन्यत् साधनं 'अहं भक्तपराधीन' इति भगवत्सङ्कल्पस्तद्रूपं साधनान्तरम् । आदित्येति । मतिपदेनादित्य-सूत्रोक्ते । विशेष इति । आसीनत्वविषयकमनने विशेषः । निदिध्यासन इति । सततस्मृति-रूपे । ध्यानधारणयोः स्मृतौ सातत्याभावात् । अचलत्वेति । भक्तेच्छापेक्षत्वरूपो विशेषो भगव-त्युक्तः । लीलाः पूर्वं नित्यलीलास्थानामनुदितास्तत्र प्रवेशस्तु ब्रजभक्तभावेन भजने भवति, तत्र तु सर्वात्मभावोपीति तमाहुरत्रानेनेति । फलदानेति । तत्तद्देवतासायुज्यफलदानद्वारा । तत्रेति । भगवति । सर्वात्मभावेति । प्रदानसिद्धसर्वात्मभावेत्यादि । ज्ञानत्वं तु । सर्वात्मभावरूपं ज्ञान-मिति 'लिङ्गभूयस्त्वा'धिकरणग्रन्थात् । न च 'प्रदानवदेवे'तिसूत्रात् प्रदानमात्रसाध्यत्वं सर्वात्मभाव-स्येति शङ्क्यम् । पूर्वसाधनवत्ते दानस्याविरुद्धत्वात् । तदेवेति । सर्वात्मभाव एव फलम् । तदिति विधेयलिङ्गात् । कर्माङ्गेति । 'यदेव विद्यया करोति' इतिश्रुतेर्विद्योपासनकृतिं करोति । कृतिः कर्म । तेषु कर्माङ्गोपासनेषु । अभियम इति । अभितः पक्षद्वयेपि यमो नियमः । इति संशये त्रिकोटि-कसंशये । अङ्गेष्वेवेति । उद्गीथाद्यङ्गिषु । 'रसानां रसतमः परमः परार्थोऽहोयमुद्गीथ' इत्यादिष्व-ङ्गिनः । तेष्वेवेति । उपासनेष्वेव, एवकारेण योगयोग्यवच्छेदः । उदासीना इति । योगं विनासन-विचारप्रसङ्गादसङ्गतो विचार इति तथेत्यर्थः ॥ १० ॥ इति तृतीयमादित्याद्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

१. अभियम इति रश्मिपाठः ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥ (४-१-४.)

अथेदं विचार्यते । बहिराविर्भावो येभ्यो, येभ्यश्चान्तस्तेषां तेषां च मिथस्तारतम्यमस्ति, न वेति । तत्र निर्णयमाह । यत्र भक्तेषु एकाग्रता भगवत्स्वरूपे प्रकट एवैकस्मिन् ग्राहकचित्तधारा, न त्वन्तर्बहिर्विज्ञानम्, तत्रो-भयोरन्तःपश्यतो बहिःपश्यतश्च भावे भगवत्स्वरूपे च विशेषाभावात् तारतम्य-मस्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे चतुर्थं यत्रैकाग्रताधिकरणम् ॥ ४ ॥

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥ (४-१-५.)

उक्तेर्था एवायं संशयः । अन्तःप्राकट्यवतो यदा बहिःसंवेदने सत्यपि पूर्वानुभूतभगवत्स्वरूपानुभवः, तदा पूर्वमन्तरन्वभूवम्, अधुना बहिरनुभवामी-त्यनुभवसायो भवति, न वेति । तत्र वैलक्षण्याद्बधितुमर्हतीति पूर्वः पक्षः । तत्र सिद्धान्तमाह आप्रायणादिति । श्रीभागवते, 'प्रायणं हि सतामह'मिति

भाष्यप्रकाशः ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥ एतस्य दृष्टस्याधिकरणत्वं बोधयन्तोवतारयन्ति अथेत्यादि । अथेति । पूर्वाधिकरण आदित्यादिरूपाणामङ्गानामुपासनानामिः साधनभूतभक्त्यु-त्कर्षात् पुरुषोत्तमस्य बहिरन्तःप्राकट्यविचारानन्तरम् । येभ्य इति । चतुर्थी तादर्थ्ये । तत्रेति । उक्तसंशयोच्चरं प्राकट्यप्रकारभेदाद् भक्तयोस्तारतम्यमिति प्राप्ते । न त्वन्तर्बहिर्विज्ञानमिति । करणभेदानुसन्धानकृतमन्तर्बहिर्विज्ञानम् । शेषः सिद्धान्तग्रन्थस्तु स्फुटः । तथाचैकाग्र्याभावे भावतारतम्यम् । तेन च तयोस्तारतम्यम्, न तु प्राकट्यप्रकारभेदादिति भावः ॥ ११ ॥

इति चतुर्थं यत्रैकाग्रताधिकरणम् ॥ ४ ॥

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥ एतस्याप्यधिकरणान्तरत्वं बोधयन्त आहुः । उक्तेऽर्थ इत्यादि । तेनानुप्रसङ्गः सङ्गतिरित्यर्थः । सत्यपीत्यपिशब्दानुभवशब्दानन्तरमन्वेति । पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । वैलक्षण्यादिति । भूतकालवर्तमानकालरूपविशेषणभेदकृताद्वैलक्ष-ण्यात् । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं विवृण्वन्ति श्रीभागवत इत्यादि । तत्रैकादशस्कन्ध एकादशा-रश्मिः ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥ अथशब्दस्यानन्तर्यमर्थमाहुः पूर्वेति । साधनेति । पुरुषोत्तमप्राप्तिसाधनभूतमेसर्वात्मभावरूपेण श्रवणाद्युत्कर्षात् । करणेति । करणं मनः तस्य भेदयोरनुसन्धानमन्तर्बहिर्विषयानुसन्धानकृतम् । तयोरिति । अधिकारिणोः । प्राकट्येति । अन्तर्बहिःप्रकारौ तयोर्भेदात् ॥ ११ ॥ इति चतुर्थं यत्रैकाग्रताधिकरणम् ॥ ४ ॥

आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥ अनुप्रसङ्ग इति । पूर्वाधिकरणयोः प्रसङ्गः उक्तेनाधिकरणेनास्य पश्चात् प्रसङ्गोधिकरणयोः सङ्गतिरित्यर्थः । अन्वेतीति । तेनान्वेति । भाष्ये । अनुभववसाय इति । अयं घट इति ज्ञानानन्तरं घटमहं जानामीति ज्ञानवत् । तत्तेदन्ता-प्रकारकज्ञानत्वाभावात् प्रत्यभिज्ञा, सेयं दीपमालिकेतिवत् । प्रकृते । भूतेति । अन्वभूवमिति

भगवद्वाक्यात् प्रायणशब्देन स्वतःपुरुषार्थत्वेन प्राप्यं परमं पारलौकिकं फल-
मुच्यते । तथा च तन्मर्यादीकृत्य तस्य सैवावस्था सार्वदिकी, न तु बहिः-
प्राकट्येपि बहिष्पानुसन्धानमित्यर्थः । ततस्तस्य तत्र सायुज्यं भवति, न वेति
संशये निर्णयमाह । तत्रापि प्रायणेपि प्राप्ते तस्य पूर्ववत् प्रभुणा सममालाप-
वलोकनश्रीचरणनलिनस्पर्शादिकं दृष्टमेष फलम्, न त्वदृष्टं सायुज्यमित्यर्थः ।
यतः शुद्धपुष्टिमार्गोऽङ्गीकृतः, अन्यथा पूर्वोक्तभावसम्पत्तिः कथं स्यादित्युपपत्ति-
हिंशब्देन सूच्यते । एतच्च 'तद्भूतस्य तु नातः' इत्यत्र निरूपितम् ॥ १२ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे पञ्चममाप्रायणाधिकरणम् ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

ध्यायोपान्ते ज्ञानमार्गाद् भक्तिमार्गोत्कर्षं वदता भगवतोक्तं 'प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनो-
द्व । नोपायो विद्यते सम्यक् प्रायणं हि सतामह'मिति । प्रकृतमयं प्रायणमिति योगात्तादृशं
फलमुच्यते । तथा च तादृशं फलं मर्यादीकृत्य तस्य भक्तस्य सैवावस्थैकाग्रतारूपा सार्व-
दिक्यतस्तथेति नानुव्यवसायवैलक्षण्यमित्यर्थः । तर्हि प्रायणे तु फले वैलक्षण्यं भविष्यतीति
शङ्कायां सूत्रशेषमवतारयन्ति ततस्तस्येत्यादि । निर्णयमाहेति । तत्कतुन्यायात्, 'यं यं
वापी'ति स्मृतेश्च भवतीति प्राप्ते निर्णयमाहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति । तत्रापीत्यादि । सूच्यत इति ।
हेतुतया सूच्यते । तथा च पूर्वपक्षोक्तन्यायादिर्बुधासने प्रवर्तते । अत्र तु साक्षात्कार इति तस्य
भावस्य सार्वदिकत्वं निष्प्रत्युहमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

भूते लुङ्, अत्र भूतकालो व्यापारस्य विशेषणमस्मत्पदार्थनिष्ठ एकः भूतकालीनोभवानुकूलो व्यापार
इति बोधात् । तथा नोभवाभीत्यत्र वर्तमाने लट् । अत्र वर्तमानकालो व्यापारस्य विशेषणम् । अस्मत्प-
दार्थनिष्ठ एकः वर्तमानकालिकोभवानुकूलो व्यापार इति बोधात् । एवं विशेषणकृताद्देशवसाया-
नुव्यवसाययोर्ज्ञानयोर्वैलक्षण्यात् । तादृशमिति । अयं प्राप्यं प्रकृतं परमं पारलौकिकं
सर्वात्मभावलभ्यम् । भाष्ये । सैवेति । अन्तःप्रकटैकाग्रतारूपा । न त्विति । अत्र बहिष्पमिदं
पदार्थान्तर्गतं बोध्यम् । तथा च वाक्यं 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गध्वजधियः स्वमात्मानमदस्तथेद'मिति ।
तत्र दृष्टान्त उत्तरार्धेन । 'यथा समाधौ मुनयोन्मितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे' इति । दृष्टान्तद्वयं
ज्ञानभक्तिभेदेन । नामरूपे विहाय । प्रकृते । फलितमाहुः तथा चेति । अतस्तथेति । न तु
बहिरित्यादिभाष्योक्तम् । भाष्यार्थस्तु ह्युक्तः । नान्येति । अनुव्यवसायादन्यस्य व्यवसायस्य
वैलक्षण्यं नेत्यर्थः । बहिष्पानुसन्धानाभावाद्विषयभेदाभावादिति भावः । वैलक्षण्यमिति । प्रायणे
भगवति फले बहिष्पानुसन्धानस्य सधोमुक्तये आवश्यकत्वादान्तर्व्यवसायाद्वैलक्षण्यम् । सूत्रशेषमिति ।
अधिकरणकत्वेन सूत्रशेषम् । ततस्तस्येत्यादीति । तत्रेति । बहिःप्रकटे । सायुज्यं सधोमुक्तौ ।
तत्कतुन्यायादिति । अयं नृतीयचरणे 'अप्रतीकालम्बन'सूत्रशेष इति तत्रैव स्फुटियति ।
'भगवद्भजनलक्षणकृतुश्च नीयत' इत्यर्थः । यमिति । 'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्,
तत्तदेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः' इति स्मृतेश्च । भवतीति । सायुज्यं भवति । तत्रापीत्या-
दीति तत्रापीति । व्याख्येयम् । प्रायणेपीति व्याख्या । प्राप्त इति, सायुज्ये प्राप्ते । हेतु-
तयेति । पुष्टिमार्गोऽङ्गीकारो हेतुः पूर्वोक्तभावसम्पत्तिः कार्यम् । हेतुतामाहिकोपपत्तिस्तर्को हिशब्दार्थः तेन

तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥ (४-१-६.)

पुष्टिमार्गीयभक्तस्य फलं निरूप्य मर्यादामार्गीयस्य तस्य फलं चिन्त्यते ।
तत्र तु ज्ञानपूर्वकत्वं भक्तेरावश्यकम् । कर्ममर्यादाया अपि स्वकृतत्वात्तामनुकूल्यैव
भगवता फलं दीयते । तच्च, नाऽभुक्तं क्षीयते । तद्भोगानुकूलकर्मणा स्वसंजातीय-
तत्सन्तानजननादिनिर्मोक्ष एव सर्वस्य सम्पद्यते । न च प्रायश्चित्तवज्ज्ञानस्य
कर्मनाशकत्वं वक्तुं शक्यम् । तद्वत्तस्य तदुद्देशोनाविहितत्वात् । तथा कथने
चान्योन्याश्रयः । दुरितस्य चित्ताशुद्धिहेतुत्वेन तत्राशो ज्ञानोदयो यतः, अतो
मर्यादामार्गे मुक्तिरनुक्तिविषयेति प्राप्ते, उच्यते । तदधिगमे ब्रह्मज्ञाने सति
तज्ज्ञानस्वभावादेवोत्तराद्यस्याश्लेषोऽसम्बन्धः, पूर्वस्य तस्य विनाशो भवतीत्यर्थः ।
अत्रोत्तरस्योत्पन्नस्याश्लेष इति नार्थः, तस्यात्मन्येवोत्पत्तेस्तदतिरिक्तस्य श्लेषस्या-

भाष्यप्रकाशः ।

अन्ये तु, पूर्वसूत्रे उपासनासु एकाग्रताप्रयोजकं यद्भवति, तदेव दिगादिकं नियतम्, न
तु प्राच्यादिनियम इति सिद्धान्तयन्ति । अस्मिन्स्वभ्युदयफलासुपासनास्वपि प्रयाणकालपर्यन्तं
प्रत्ययावृत्ति सिद्धान्तयन्ति । प्रायणपदेन च प्रयाणकालं व्याकुर्वन्ति । तदा प्रायणशब्दो यौगिक
एव । अयनपदस्य गमनवाचकत्वादिति । तत्राप्युदासीना वयम् ॥ १२ ॥

इति पञ्चममाप्रायणाधिकरणम् ॥ ५ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥ अधिकरण-
प्रयोजनमाहुः पुष्टीत्यादि । पुष्टिमार्गीयभक्तस्य फलमिति । लौकिकदेहे भगवत्साक्षात्कारा-
दिकं फलं 'आसीनः सम्भवा'दित्यादिभिर्निरूप्य प्रायणप्राप्तावलौकिकदेहेऽस्य भगवत्संसेवनरूपं
फलं चिन्त्यत इति । कथं भवतीति विचार्यते । कुतश्चिन्त्यत इत्याकाङ्क्षायां संशयं तद्वीजं च
सूचयन्तः पूर्वपक्षमाहुः तत्र त्वित्यादि । ज्ञानपूर्वकत्वं भक्तेरावश्यकमिति । 'तस्माज्ज्ञानेन
सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव । ज्ञानविज्ञानसहितो भज मां भक्तिभावत' इति भगवद्वाक्यात्
तथा । दीयत इति । मर्यादामार्गे दीयते । तच्चेति । कर्म च । तद्वदिति प्रायश्चित्तवत् । ज्ञानस्य
पापनाशकत्वाङ्गीकारे दूषणान्तरमाह तथेत्यादि । अन्योन्याश्रयं व्युत्पादयति दुरितस्येत्यादि ।
तथा च ज्ञानोदये दुरितक्षयो, दुरितक्षये च ज्ञानोदय इत्यन्योन्याश्रय इत्यर्थः । अनुक्ति-
विषयेति । तूष्णीम्भावविषया, अशक्यवचनेति यावत् । तथा च मर्यादामार्गे सर्वमर्यादारक्षणात्

रश्मिः ।

सूच्यते तात्पर्यवृत्त्योच्यते । अव्ययानां द्योतकत्वम् । भाष्ये । तद्भूतस्येति । गतपादेस्ति तत्र ।
प्रकृते । न्यायादिरिति । 'यं यं वापी'तिस्मृतिरादिना गृह्यते । अत्र त्विति । भक्तिमार्गे तु
अन्तर्व्यवसायः साक्षात्कार इति न वैलक्षण्यमित्यर्थः । उपासनोक्तेः साधनाविष्करणत्वात् सधोमुक्त्यर्थं
बहिःप्राकट्यं बहिष्पानुसन्धानयोरभावात्, फलसम्बन्धित्वात् । अभ्युदयेति । षोडशकर्मफलमभ्युदयः ।
निःश्रेयसफलव्यतिरिक्तस्तत्तदुपासना फलं च । यौगिक इति । प्रकर्मणायनं गमनं यत्र काल इति
प्रायणम् । समासोयं न योग इति चेत्, तत्राहुः । अयनेति । अय्यत इत्ययनमितियोगाद्यौगिकः ।
उदासीना इति । फलविचाराभावात् फलाध्यायेऽसङ्गतो विचार इति तथा ॥ १२ ॥ इति पञ्चम-
माप्रायणाधिकरणम् ॥ ५ ॥

भावात् । अतोनुत्पत्तिरेवार्थः । न चैवं मर्यादासामांयत्वमङ्गः । साधनं विना स्वस्वरूपबलेनैव कार्यकारणे हि पुष्टिः, इह तु नियतकर्मविरोधित्वस्वभावेन ज्ञानेनैव तथा सम्पत्तेः । अत एव, 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतेव' हास्य

भाष्यप्रकाशः ।

कर्ममर्यादाया अपि रक्षणीयतयोक्तप्रकारेण ज्ञानानुदये भक्त्यभाषान्मोक्षरूपफलाभावः, उत 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति ज्ञानिनमुपक्रम्य, 'एतः ह वा व न तपति किमहः साधु नाकरवं किमहं पापमकरव'मिति ज्ञानस्य बलवत्ताश्रवणात्तेन तन्नाशे भक्त्युदयात् फलं भवतीति संशये उक्तरीत्या मर्यादारक्षणावश्यकतया तूष्णीम्भाव एव शरणमिति प्राप्त इत्यर्थः । सिद्धान्तं वदन्तः सूत्रं व्याचक्षते तदधिगम इत्यादि । अत्राश्लेषपदार्थोऽसम्बन्धपदेन विवृतः, तं निर्णेतुं व्युत्पादयन्ति अत्रेत्यादि । एतत्सूत्रार्थविचारेनुत्पत्त्यश्लेष इति नार्थः । 'श्लेष आलिङ्गन' इति धातोः संयोगविशेषार्थकतया गुणरूपस्य पापस्यात्मनि समवेतत्वेन संयोगस्य मूलत एवाभावादनश्यति च पापे समवायाभावस्य वक्तुमशक्यत्वादुत्पत्त्यस्य पापस्याश्लेष इति नार्थः, किन्तु तस्य पापस्यात्मनि लिङ्गविशिष्टे जीव एवानुत्पत्तेरुत्पत्त्यकार्यसमवायातिरिक्तस्य श्लेषस्याभावात् । अत उक्तानुपपत्तिरुपाद्धेतोरनुत्पत्तिरेवार्थः । 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त' इति श्रुतावपि पापानुत्पत्तिरेवार्थ इत्यर्थः । न च श्रौतदृष्टान्तानुरोधाच्छ्लेषशरीरे उत्पत्त्यस्य जीवेऽसम्बन्ध इत्येवार्थो युक्तः, न पूर्वोक्त इति शङ्क्यम् । तेन 'भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष' इति श्रुतेस्तस्य सदेवासङ्ग-

रश्मिः ।

तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषत्रिनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥ उक्ते इति । अन्योन्याश्रयप्रकारेण । तेन तन्नाश इति । ज्ञानेन पापनाशे । उक्तरीत्येति । आसूत्रादुक्तरीत्या । उत्पन्नस्येति । सौप्तोत्तरपदार्थस्य भाष्ये विवृतस्य । भ्रूलत इति । द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमादेवाभावात् । अचीति । न विशयदविश्यत् शता तस्मिन् । नार्थ इति । गुणगुणिनोः समवायेन श्लेषरूपसंयोगाभावादश्लेषाभावात् । तस्यात्मन्येवेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म, किन्त्विति । जीवे पापाभावोपहतपाप्मांशत्वात्, अतो विशेषणं लिङ्गविशिष्ट इति तदाहुः लिङ्गविशिष्ट इति । श्लेषस्येति । संयोगरूपस्य गुणगुणिनोरभावात् । अत इति । व्याख्येयम् । उक्तेति । किन्त्वित्यादिनाऽव्यवहितपूर्वोक्तानुपपत्तिरुपात् कचित्प्रत्यये रूपाब्दस्य दीर्घाभावदृष्टान्तसः । अर्थ इति । अश्लेषपदार्थः । आद्यक्षणासम्बन्धः उत्पत्तिः सा संयोगसम्बन्धः न कालिकः, द्रव्यस्य कालस्यात्मनि द्रव्ये कालिकविशेषसंयोगस्य वक्तुं शक्यत्वात् । यथा पुष्करेति । श्रुत्यर्थः स्पष्टः । श्रुताविति । 'न ह वा एवंविदि किञ्चाननन्न भवती'त्यस्मात् । 'सर्वाज्ञानमति'सूत्रे व्याकृता । एवंविदि ज्ञानिनि प्राणविद्यनन्नमप्रशस्तमन्नम् । जन्तुमात्रस्य जगधं मक्ष्यं तत्सर्वमिहानन्नं भवति, अदनीयमित्यन्ये । भवतीत्यस्योत्पद्यत इत्यर्थे । अप्रशस्तं पापजनकम् । अत्र पापस्य समवाय इति पूर्वश्रुत्यैकनाक्यत्वे पापानुत्पत्तिरश्लेषः । पूर्वोक्त इति । जीव एवानुत्पत्तिरश्लेष इति । श्रौतेति । अत्रेकत्वज्ञास्तदाश्रया आपः तत्संयुक्ताः पुष्करपत्रे संयोगाभाववत इति श्रौतदृष्टान्तानुरोधात् । तस्येति । जीवस्येत्यर्थः । लिङ्ग एवेति । अभावप्रतियोगिनोरैकाधिकरणनियमादेवकारः । असंबन्धेति । अनुत्पत्ति-

१. रश्मौ अविश्यति इति ससम्बन्धतपाठः ।

सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त' इति श्रुतिरग्निदृष्टान्तमाह । स्मृतिरपि 'यथैवासि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' इति । 'सर्वं पाप्मानं तरति, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजत' इत्यादिश्रुतिभ्यस्त्वयापि न तद्भोगनियमो वक्तुं शक्यः । एतेनाशुक्तस्याक्षयाद्भोगे च कर्मान्तरजननान्मोक्षासम्भव इति निरस्तं वेदितव्यम् । नचान्योन्याश्रयः । अनाद्यविद्याजनितसंसारवासनात्मिका हि सा । सा च गुरुरूपसत्तिश्रवणमन-विष्णुपासनादिरूपया ज्ञानसामग्र्यैव नाशयते । अविद्या परं ज्ञानेन नाशयत इति

भाष्यप्रकाशः ।

त्वेनैवंविदीतिविशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न च लिङ्ग उत्पन्नं लिङ्गे एव न श्लिष्यत इत्यपि युक्तम् । दृष्टान्तवैयर्थ्यस्यात्रापि तुल्यत्वात् । अतः पापस्यासम्बन्धमात्रमेव श्रुतौ विवक्षितम्, न तु तस्य पूर्वं सत्तापीति पूर्वोक्तमनवद्यम् । मर्यादाभङ्गमाशङ्क्य समादधते । न चैवमित्यादि । एवमिति । दुष्कर्मणो दुरदृष्टानुत्पादकत्वे । तथा सम्पत्तेरिति । कर्मासम्बन्धसम्पत्तेः । तथा वेद्यमपि मर्यादैवेति न तद्भङ्ग इत्यर्थः । अत एवेति । मर्यादाभङ्गाभावादेव । 'तद् यथेषीकातूल'मिति श्रुतिस्तु छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यायां द्रष्टव्या । 'नाशुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । अक्षयमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभ'मिति नियमवादे श्रुतिविरोधरूपं दूषणान्तरमाहुः सर्वमित्यादि । एतेनेति । अश्वमेधरूपनिर्वेशादशुक्तस्यापि दुष्कर्मणः क्षयश्रावणेन । अन्योन्याश्रयं परिहरन्ति न चान्येत्यादि । सेति । चित्ताशुद्धिः । क तत्प्रसङ्ग इति । अन्योन्याधीनोत्पत्तिकत्वे ह्यन्योन्याश्रयः । इह तु श्रवणादिरूपसामग्र्या ज्ञानोदयस्तथैव च चित्ताशुद्धिनाश इति नान्योन्याधीनोत्पत्तिकत्वम् । अतः कान्योन्याश्रयप्रसङ्गः । ननु तथा-

रश्मिः ।

मात्रम् । तस्येति । पापस्याभावप्रतियोगिनी सत्तापीत्यर्थः । पूर्वोक्तमिति । अश्लेषोनुत्पत्तिरिति पूर्वोक्तम् । एवमित्यादीति । सम्भ्रमात् । छान्दोग्य इति सप्तमस्यार्थप्रपाठकानन्तरं 'प्राचीनशाल औपमन्यव' इत्यारम्भकेसि । श्रुत्यर्थस्तु 'यथा लोके इषीकायाः मुञ्जमध्यवतिनालस्य तूलमग्नौ प्रोतं प्रक्षिप्तं प्रदूयेत दवेत एवमेवेहास्य विदुषः सर्वे पाप्मानः धर्माधर्माल्याः प्रदूयन्ते दहन्ते दशेरन्निति । प्रसिद्धार्थस्तु इषीका दुर्गमनस्यानगम्, 'इषीकाटवीं निर्विविशु'रिति वाक्यात् । तूलं ब्रह्मदारु, 'तूलं वा रूई' इति लोके, प्रोतं तन्तुषु पट इव प्रोतम् । प्रदूयेत दुष्यते । अथे समानोर्थः । अत्र भोगाभावेपि ज्ञानिनो ज्ञानेन कर्मदूषणमुक्तम् । अथे भाष्ये ज्ञानेन कर्मनाश उक्तः । एवं भोगेन कर्मनाशे नियमभङ्गः, भोगेनैव कर्मनाश इति नियमभङ्गः । दूषणान्तरमिति । उक्तदूषणादन्यदूषणम् । सर्वमित्यादीति । अत्र तरणोक्त्या पाप्मनि जलदृष्टिः कर्तव्या । 'आपमापामपः सर्वा' इत्यारणेनाश्रुत्वात् । एवं ब्रह्महत्यायामपि स्वकारणादृष्टिः कर्तव्या । अश्वमेधेति । 'निर्वेशो मूर्च्छने भोगे' इति विश्वादेश्वमेधरूपाद्भोगात् । अन्योन्याश्रयमिति । ज्ञानोदये दुरितक्षयो दुरितक्षये ज्ञानोदयः इत्यन्योन्याश्रयम् । न चान्योन्येत्यादीति । अनादीति । अनादिर्योऽविद्या तथा जनितो यः संसारोऽहंताममतात्मकः तेन वासना संस्काररूपा, पूर्वपरानुसन्धानरहितपदार्थादानं वा तदालिकेत्यर्थः । चित्ताशुद्धिरिति । दुरितजन्या । अन्योन्येति । ज्ञानोदयदुरितक्षययोस्तथा । ज्ञानोदय इति । ज्ञानाङ्गमक्तित्वादिति भावः । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इति श्रुतेः, न तु दुरितक्षयेण । तथैवेति । श्रवणादिरूपसामग्र्या स्वव्यापाररूपचित्ताशुद्धिनाशः । तद्वत्त्वे सति

१. अश्वमेधेन यजते यः स ब्रह्महर्षा तरति ।

६ अ० सू० २०

क तत्प्रसङ्गः । ज्ञानसामग्र्या बलिष्ठत्वात्कर्मणो दुर्बलत्वाच्च तत्प्रतिबन्धकत्वमिति ज्ञाननाशयत्वबोधकश्रुतिस्मृतिमता त्वयाप्युरीकार्यम् । इममेव हेतुमाहाचार्यस्तद्व्यपदेशादिति ॥ १३ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

पापस्य शास्त्रविरोधित्वेन शास्त्रीयज्ञानेन समं विरोधो भवतु नाम,

भाष्यप्रकाशः ।

प्यश्रुतेन कर्मणा ज्ञानसामग्रीबन्धो भवत्विति चेत्, तत्राहुः ज्ञानसामग्र्या इत्यादि । यदि हि कर्ममात्रमश्रुतं न क्षीयेत्, तदा प्रायश्चित्तविधिरनर्थकः स्यात् । यदि चाक्षीयमाणं स्वसजातीय-सन्तानमुत्पादयेत्, तदा ज्ञानसाधने प्रवृत्त्यनुपपत्त्या ज्ञानसामग्रीविधिरानर्थक्यमापद्यते । अतस्तदभावाय प्रारब्धस्यैवाश्रुतस्याश्रयः, क्रियमाणसंचितयोस्तु प्रायश्चित्तादिना क्षय इत्यवश्य-मङ्गीकार्यम् । एवं सति प्रारब्धं भुञ्जानस्यापि क्रियमाणसंचितयोः क्षये ज्ञानसामग्र्या बलिष्ठत्वात्तयैव चित्ताशुद्धिनिवृत्तौ तत्पोषकस्य कर्मणो निरालम्बनतया दुर्बलत्वाच्च सामग्रीप्रतिबन्धकत्वमिति त्वयापि श्रौतवादिनाङ्गीकार्यम् । इममेव हेतुं पूर्वपक्षिवोधनाय तद्व्यपदेशादिति पदेनाह । तस्मान्न कोपि दोष इत्यर्थः । अश्लेषश्रुतिस्तु, 'यथा पुष्कर-पलाश आपो न क्षिप्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न क्षिप्यत' इति छान्दोग्य उपकोसल-विद्याया बोध्या । सात्र न लिखिता । सहकारित्वद्वये ज्ञानस्य कर्मस्वभावनाशकताया व्युत्पादिततया तत् एव निर्वाहादिति ॥ १३ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥ सूत्रमवतारयन्ति पापस्येत्यादि । इत्या-
रम्भिः ।

तदन्यजनको हि व्यापार इति व्यापारलक्षणात् । न तु ज्ञानोदयेन । चित्ताशुद्धिनाशस्य कर्मोपासना-जन्यत्वादित्येवकारः । कर्मणेति । दुष्कर्मणा । सूत्रेऽप्यपदेनाश्रुतेनाश्रुतविवेचनेनार्थमाहुः यदि हीत्यादि । कर्ममात्रमिति । प्रारब्धक्रियमाणसंचिताधमात्रम् । अनर्थक इति । प्रायश्चित्तस्य भोगातिरिक्तस्य भोगनाश्याधनाशेऽकारणत्वात् तथा । स्वसजातीयेति । अधत्वेन सजातीयत्वम् । स्वसजातीयसन्तानज्ञानप्रतिबन्धकम् । आनर्थक्यमिति । शमदमादीनां ज्ञानोत्पादे कौण्ड्यात्तया । तदभावायेति । द्वयोर्विध्योरानर्थक्याभावाय । अश्रुतस्येति । भोगेन क्षयः । प्रायश्चित्तादि-नेति । आदिना ज्ञानेन । चित्ताशुद्धीति । ज्ञानसामग्रीव्यापारमूलायाम् । तत्पोषकस्येति । चित्ताशुद्धिहेतोर्दुष्कर्मणः । आलम्बनं दुष्कर्मणश्चित्ताशुद्धिः, तस्याः निष्क्रान्ततया । सामग्रीति । ज्ञानसामग्रीप्रतिबन्धकत्वम् । श्रौतेति । श्रुतिभिः श्रूयत इति श्रौतम् । शैषिकोण् । श्रुतिः श्रवणं तस्य वादिना श्रुतिश्रुतिमता श्रुतिश्रवणवतेति यावत् । इममेवेति भाष्यविवरणं इममेवेति । तद्व्यपदेशादिति । तस्य हेतोर्व्यपदेशात् । न लिखितेति । अधनाशविचारेऽभाव-प्रतियोगिनोऽधिकरणयोरिति बोध्यमित्येवंबोधिका न लिखिता । कर्मस्वभावेति । व्यधिकरण-ज्ञानस्य कर्मस्वभावनाशकत्वम् । समानाधिकरणस्य कर्मनाशकत्वमिति बोधनाय स्वभावशब्दः । श्रुतौ व्यधिकरणयोर्जलतदभावयोः समानाधिकरणयोः जलसंयोगतदभावयोर्ग्रहणं बोध्यम् । तन्न इति । सहकारित्वसूत्रात् ॥ १३ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥ पापस्येत्यादीति । विरोधः सहानव-

धर्मस्यातथात्वेनाविरोध एवेत्याशङ्कानिरासाय पूर्वन्यायातिदेशमाह । इतरस्य पुण्यस्याप्येवम्, पूर्वस्य नाश उत्तरस्याश्लेष इत्यर्थः । अतिदेशादितुरपि स एव ज्ञेयः । तथाहि । 'उभे उ श्वैष एते तरति', 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी'ति सामान्यधचनाज् 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणी'ति स्मृतौ सर्वशब्दाच्च तथा ।

अथेदं शङ्क्यते । मर्यादाभार्गीयत्वाज्ज्ञानानन्तरं भरतवत् सङ्गदोषेण भगवद्भावाच्च्युतौ सङ्गजदोषोत्पत्तिवदग्रे विहितनिषिद्धकर्मणोरप्युत्पत्तिर्वक्तुं शक्येति ज्ञानस्य न सर्वात्मना कर्मविरोधित्वमिति । तत्र निर्णयमाह । पाते । भक्तिमार्गे भगवद्भावाच्च्युतिः पात इत्युच्यते । तुरप्यर्थे । अपिशब्दे वाच्ये व्यवच्छेदार्थकतुशब्दोक्त्यास्मिन्मार्गे पातस्य व्यवच्छेद एव । 'न कर्हिचिन्मत्पराः' इति वाक्यात् । परन्तु मर्यादाभार्गीयत्वात् प्रारब्धभोगार्थं प्रभुश्चेत्तथा करोति, तद्भावे पूर्णे सति तद्भोगोऽसम्भावित इति तदेवं भवतीति व्यासाभिप्रायो ज्ञायते । तथा च तस्मिन् सत्यप्युत्तरस्य कर्मणोऽसंश्लेष एवेत्यर्थः । पूर्वसूत्र एवमेवा-

भाष्यप्रकाशः ।

शङ्कानिरासायेति । इति हेतोः पूर्वपुण्यस्थानाश उत्तरस्य च संश्लेषो भवत्विति शङ्कानिरा-साय । ननु हेतोरकथनात् कथं पुण्यस्य तथात्वं ज्ञेयमित्यत आहुः अतिदेशादित्यादि । 'उभे श्वैष' इति श्रुतिस्तु शारीरब्राह्मणस्या । 'उभे श्वैष एते तरत्यमृतः साध्वसाधुनी' इत्यादि । द्वितीया तु गुण्डकस्या । सूत्रशेषमवतारयन्ति । अथेदमित्यादि सङ्गजदोषोत्पत्तिवदिति । ज्ञानानन्तरं यथा सङ्गजदोषोत्पत्तिस्तथेत्यर्थः । अग्र इति । ज्ञानानन्तरम् । व्याकुर्वन्ति भक्ती-त्यादि । वाक्यं तु तृतीयस्कन्धे कापिलेये 'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्गयन्ति नोऽनिमिषो लेढि हेतिः । येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो देवमिष्ट'मिति । अत्र 'मत्परा न नङ्गयन्ती'ति कथनात् पातव्यवच्छेदलाभः । तथा करोतीति । भक्तिभावं प्रतिबध्नाति । तदर्थं प्रतिबन्धकरणे हेतुः तद्भावे इत्यादि । तदेवं भवतीति । यदा भक्तिभावप्रतिबन्धः, तदा भरतवदन्यासत्त्वादिर्भवति । असंश्लेष एवेति । तदुपाख्याने, 'स च तदा पितृसभिधावैवा-
रम्भिः ।

खानम् । अतथात्वेनेति । अशास्त्रविरोधित्वेन । सूत्रशेषमिति । पाते त्विति सूत्रशेषम् । ज्ञानानन्तरमिति । हरिणशरीरे ज्ञानानन्तरं पञ्चमस्कन्धेऽस्ति । व्याकुर्वन्तीति । सूत्रशेषं व्याकुर्वन्ति भक्तीत्यादीति । अपिशब्दं विहाय तोरुपादाने तात्पर्यमाहुः अपिशब्द इति । पातस्येति । सुकृतदुष्कृतार्थं कर्मण्यं पातस्य व्यवच्छेद एव तोः प्रयोजनम्, न त्वन्यत्तात्पर्य-प्रयोजनम् । न कर्हिचिदिति । शान्तरूपे हे मातः नङ्गयन्ति नाशं पातं वा प्राप्नुवन्ति । अनिमिषः हेतिः कालः । लेढि । 'लिह आस्वादाने' तिपि तस्य रूपम् । अत्रेति । मत्पराः सुकृत-दुष्कृतकर्मनिर्हारकाः न नक्षयन्ति । 'प्राप्तिपूर्वको निषेध' इति नाशः पातः प्राप्तः । सोऽन्यनिष्ठसुकृत-दुष्कृतकर्मण्यं भगवत्परनिष्ठः व्यवच्छेदयुक्तः । सुकृतदुष्कृतकर्मणोर्भगवत्परभक्तेऽभावात् । एवं पात-व्यवच्छेदलाभः । तद्भावे इत्यादीति । भगवद्भजने पूर्णे सति । तद्भोगः प्रारब्धभोगः । अन्यासकत्वादिरिति । प्रारब्धभोजकः । तदुपाख्याने इति । भरतोपाख्याने । तादृशेति ।

श्लेषशब्दस्य व्युत्पत्तेः । अतिदेशस्यैवंपदेनैव प्राप्तेः सर्वं सूत्रं तत्परत्वेन न व्याख्येयम् । पातशब्दस्य देहपातं तुशब्दस्यावधारणमर्थमुक्त्वा देहपाते मुक्तेरावश्यकत्वावधारणं वाक्यार्थ इति चोक्तिर्न साधीयसी । मुक्तिप्रापकपदाभावात् 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यत' इत्यग्रे वक्तव्यत्वाच्च ॥ १४ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

ननु देहस्य कर्मजन्यत्वात्तन्नाशे तन्नाशस्यावश्यकत्वाद् ब्रह्मविदः प्रवचनानुपपत्तिः । एवं सति ब्रह्मजिज्ञासोर्गुरूपसन्त्यादिसाधनासम्भवः । 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'ति श्रुतेस्तद्भावेन ज्ञानमार्गोच्छेदेन मुक्त्युच्छेदप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य समाधत्ते । पूर्वे पूर्वसूत्राभ्यां ज्ञाननाशत्वेन ये प्रोक्ते पापपुण्ये ते नाशेषे,

भाष्यप्रकाशः ।

सप्रीचीनमिव स करोती'तिवाक्येन तादृशकर्मबोधनादग्रे च जीवन्मुक्तत्वबोधनादसंश्लेषः । एवमेवेति । अनुत्पत्तिरूपतया । ननु सर्वस्य स्रष्टातिदेशपरत्वे को दोषः, येन एवं विभज्य व्याख्यायत इत्यत आहुः अतिदेशस्येत्यादि । तत्परत्वेनेति, अतिदेशपरत्वेन । तथा च शेषवैयर्थ्यमेव दोष इत्यर्थः । एवं मर्यादामार्गेणि ब्रह्मज्ञानोत्तरं भक्तौ यदा प्रतिबन्धः, तदापि प्रारब्धमात्रस्यैव भोगो, न तु क्रियमाणसञ्चिताभ्यां दुरदृष्टोत्पत्तिरित्यर्थः सिद्धः । अत्रान्येषां व्याख्यानं पातशब्दस्येत्यादिना नूद्य दूषयन्ति उक्तिर्न साधीयसीत्यादि । ननु स्रष्टे मुक्तिप्रापकपदाभावेपि फलप्रकरणत्वात्तदुरोधेन तथा कल्पने को दोष इत्यत आहुः भोगेनेत्यादि । तथा च तैः 'सम्पद्यत' इत्यस्य 'मुच्यत' इति व्याख्यानासत्या मुक्तेरत्र सिद्धौ तन्मतेष्विमस्रान्तरे भोगेन कर्मक्षपणानन्तरं ब्रह्मसम्पत्तिरूपमुक्तेरेव व्याख्यानात्तद्वैयर्थ्यमेव दोष इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । तन्नाशे तन्नाशस्येति । कर्मनाशे देहनाशस्य । एवं सतीति, ब्रह्मविदो देहनाशे सति । तद्भावेनेति । आचार्याभावेन । भक्त्युच्छेदप्रसङ्ग इति । निरुपधिक्षेहात्मिका हि भक्तिरात्मत्वेन ज्ञाने सति भवति । आत्मत्वेन ज्ञानं च परम्परया आचार्याधीनमतस्तद्भावे तत्प्रसङ्ग इत्यर्थः । मुक्त्युच्छेदप्रसङ्ग इति वा पाठः । व्याकुर्वन्ति पूर्वेत्यादि । नाशेषे इति ।

रश्मिः ।

असंश्लेषकर्मबोधनात् । अग्रे चेति । नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्मलाभाधिगम इत्यत्र । असंश्लेष इति अनुत्पत्तिः । एवं विभज्येति । इतरस्याप्येवमसंश्लेष इत्यस्यातिदेशकत्वं 'पाते त्व'त्यस्य भिन्नप्रक्रमेण ज्ञानस्य न सर्वात्मना कर्मविरोधित्वमिति शङ्कानिवर्तकत्वमिति विभागं कृत्वा । शेषेति । 'पाते त्व'तिसूत्रशेषस्य वैयर्थ्यम् । तैरिति । लीलोपयोगिपदार्यैः । तद्वैयर्थ्यमिति । 'भोगेने'ति सूत्रवैयर्थ्यम् ॥ १४ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥ भक्त्युच्छेदेति । भाष्ये कचित्पुस्तके मुक्त्युच्छेदप्रसङ्ग इति । भक्त्युच्छेदप्रसङ्ग इति पाठं व्याकुर्वन्ति स्म निरुपधीति । अयमेव प्रेमा । सर्वात्मभावस्तु प्रदानसाध्य इति नोक्तः । भवतीति । तथा च भाष्यम् । ज्ञान एव स्नेह इति । परम्परयेति । आचार्याभावे तद्वत्ताभाव इत्याचार्याधीना तद्वत्ता तद्वत्ताधीनमधिकारद्वारात्मत्वेन ज्ञानमिति परम्परा तथा । तद्भाव इति । आचार्याभावे, आत्मत्वेन ज्ञानाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः ।

१. श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यप्रकाशे मुक्त्युच्छेद इति पाठः ।

किन्त्वनारब्धं भोगायतनलक्षणं कार्यं याभ्यां ते एवेत्यर्थः । नन्वितरनिरपेक्षं हि ज्ञानं स्वशक्त्यैवाग्निरेव इव कर्माणि दहतीति पूर्वमुक्तम्, तथा सत्यशेषमेव तदहतीति वक्तुं युक्तम्, न तु सशेषम् । शक्तेरविशिष्टत्वात् । न च कर्मनाशेषि संस्कारवशात् कुलालचक्रभ्रमिवत्तद्भासनावशाद्देहादिसत्तया प्रवचनाद्युपपत्तिरिति वाच्यम् । ज्ञानस्य सर्वतो बलवत्त्वात् सवासनस्य तस्य नाशनात् । न हि महाशिलानिपाते चक्रभ्रमिरनुवर्तितुं शक्नोतीत्याशङ्क्यारब्धकार्यादहने हेतुमाह । तदवधेः । तज्ज्ञानेनारब्धकार्यादहने यत् तदखिलकारणकारणत्वेनाखिलस्य पूर्वावधिरूपभगवद्विच्छालक्षणाद्धेतोरित्यर्थः । यत्र तस्यापि दहनेच्छा तत्र तथैवेति निगूढाशयः । अत एवाग्रे तथा वक्ष्यते । अत एव श्रीभागवते 'सृग्दारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशित' इति, 'उपभोगेन कर्मरब्धं व्यपनय'न्निति च भरतं प्रति वचनं गीयते । एवं सति मणिमन्त्रादिप्रतिबद्धशक्तेरग्रेरिव ज्ञानस्याप्यदाहकत्वे न काचिद्धानिरिति सर्वमनवद्यम् । इच्छाप्रतिबद्धतादशायां न प्राचीना दशास्तीति तद्वधवच्छेदज्ञापनाय तुशब्दः । एतेन भगवद्भावस्य सर्वतो बलवत्त्वात् कथं तस्य पात इति शङ्का निरस्ता । भगवद्विच्छाया मूलकारणत्वेनोक्तेस्तस्याः सर्वतो बलिष्ठत्वात् । तथेच्छा च स्वकृतमर्यादापालनाय पुष्टावहीकृते न तथेति सर्वमनवद्यम् ॥ १५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

न यावत्तावच्छिन्ने नश्येते इति शेषः । ते एवेति । दहते इति शेषः । तथा चापरोक्षेणापि ज्ञानेनारब्धकार्यमेव कर्म दहते इति शरीरारम्भकस्य कर्मणः सत्त्वेन शरीरस्यापि सत्त्वात् प्रवचनाद्यनुपपत्तिरित्यर्थः । हेतुं व्याख्यातुं सूत्रशेषमवतारयन्ति नन्वित्यादि । न तु सशेषमिति । न तु प्रारब्धकर्मरूपं शेषं स्थापयित्वा । हेतुं व्याकुर्वन्ति तदित्यादि । तत्र तथैवेति । तादृशस्यैव प्रारब्धकर्मणोपि दाह एव । अत्र गमकमाहुः अत एवाग्रे तथा वक्ष्यत इति । 'अतोऽन्यापी'ति सूत्रे वक्ष्यत इत्यर्थः । मर्यादामार्गे प्रारब्धकर्मसत्तायां मानमाहुः अत एवेत्यादि । भरतं प्रतीति । प्रतिर्लक्षणे । भरतं लक्ष्मीकृत्य । अदाहकत्व इति भिन्नं पदम् । तथेच्छेति । प्रारब्धस्य भोगेनापनयनेच्छा । न तथेति । न तस्य भोगेनापनयेच्छा ।

रश्मिः ।

भाष्ये । शक्तेरिति । दृष्टान्ते दाहकशक्तेः । शेषशेषिणी प्रति कारणताया विशेषशून्यत्वात् । निर्विशेषाया एकस्या एव कारणत्वात् । महाशिलेति । तद्वत्कृते ज्ञानप्राप्तिः । तदवधेरितिहेतोस्तस्य तच्छब्दार्थस्य ब्रह्मणः अवधेरिच्छाया इत्यर्थं हृदिकृत्याहुः तज्ज्ञानेनेति । ज्ञानेनेतिव्याख्यानं तदित्यन्तम् । अग्रे षष्ठीतत्पुरुषः । तस्याखिलकारणत्वेनाखिलस्यावधेर्नाम पूर्वावधिरूपाद्भगवद्विच्छालक्षणात् । पूर्वत्वं कार्यापेक्षया । इच्छाशक्त्यधीनत्वात्सर्वशक्तीनामिति । गूढाशय इति । तात्पर्येन्तःकरणम् । अदाहकत्व इति । समन्यन्तम् । सौत्रतुशब्दार्थमाहुः इच्छेति । प्रारब्धकार्यादहने इच्छाप्रतिबद्धता या दशा, तस्याम् । प्राचीनेति । सर्वकर्मनाशिका दशा । तद्वधवच्छेदेति । प्राचीनदशाव्यवच्छेदज्ञापनाय । तथा च तदवधेस्त्वित्यन्वयः । प्राचीनदशा-

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

ननु प्रारब्धं हि प्राचीनम् तन्नाशाय तद्भोग एव कर्तव्यो ब्रह्मविदा, न तु विहितमन्यदप्यग्निहोत्रादि, प्रयोजनाभावात्, हृद्यते च तादृशानां तत्करणम्, अत उत्तरस्य कर्मणः संश्लेष आवश्यक इत्याशङ्क्य तत्प्रयोजनमाह । तुशब्दः शङ्काव्युदासकः । अग्निहोत्रादिविहितकर्मकरणं तत्कार्यायैव, भोगकार्याय प्रारब्धनाशायैवेत्यर्थः । येषामग्निहोत्रादिकारकं प्रारब्धमस्ति, तैरेव तन्नाशाय भोगवत्तदपि क्रियते, न त्वतादृशैः, अत एव न सनकादीनां तथात्वम् । कुत एतत् । तद्दर्शनात् । 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'ति श्रुतिः पूर्वकर्मणोऽग्निमकर्महेतुत्वं दर्शयतीति नानुपपत्तिः काचित् ।

केचिस्तु ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवाग्निहोत्रादेरिति तत्कार्यायेति पदस्यार्थं वदन्ति । स न साधुः । तदधिगम इत्युपक्रमात् ब्रह्मविदः प्रारब्धात्मकप्रतिबन्धनाशे मोक्षस्य पूर्वज्ञानेनैव सम्पत्तेः कर्मणो वैयर्थ्यापातात् । 'तमेतं वेदानुबन्धनेने'त्यादिश्रुतिदर्शनं दर्शनपदार्थ इत्यपि पूर्वविरोधादुपेक्ष्यः ॥ १६ ॥

इति षष्ठं चतुर्थाध्याये प्रथमपादे तदधिगमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अन्ये तु, 'तदवधे'रित्यस्य, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येथ सम्पत्स्य' इति प्रारब्धस्य शरीरपातावधिश्रुतेरित्यर्थमाहुः । तत्रापि प्रवृत्तफलस्य कर्मणोऽनाशे हेतुस्तु मृग्यः । सोऽत्र सिद्धान्ते विवृत इति तन्मतेपि नातो विशेष इति बोध्यम् ॥ १५ ॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥ सप्रभवतार्थं विश्वन्ति तुशब्द इत्यादि । केचिदित्यादिना परमतमुपक्षिप्य दूषयन्ति स नेत्यादि । प्रारब्धात्मकप्रतिबन्धनाशे इति । 'तस्य तावदेव चिर'मिति श्रुतेस्तस्य नाशे । पूर्वविरोधादिति । एतस्माद्वाक्यात् पूर्वं 'मनसैवावाप्तव्यम्, मनसैवानुदृष्टव्य'मित्यवधारणश्रावणेन सप्रकृतापि तदधिगमसूत्रे ज्ञानादेव कर्मनिवृत्तिकथनेन उक्तश्रुतौ च यज्ञादेर्विदिपाफलकत्वस्य ज्ञानपर्यन्तत्वस्य

रश्मिः ।

व्यवच्छेदादिति तोरर्थः । तुरिति । लुप्तपञ्चम्यन्तम् । तस्येति । भक्तस्य । तथेच्छेति । पातेच्छा । स्वकृतेति । एवं 'जीवेनैतदेतत्कर्म कारयित्वैतदेतत्फलं दास्यामी'ति विद्वन्मण्डनोक्तदिशा स्वकृता-मर्यादा तस्याः पालनाय । न तथेति । न भक्तस्य पातेच्छा । मर्यादाकारणस्य पापाद्यभावस्य पुष्टौ कारणताभावात् । प्रकृते । प्रवृत्तं प्रवृत्तिः फलं यसेति विग्रहः, न तु निवृत्तं फलं तस्य, प्रारब्ध-कर्मण इत्यर्थः । अनाश इति । शरीरपातात्पूर्वमनाशे । स इति । भगवद्विच्छारूपः ॥ १५ ॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥ अवतार्येति । नन्वित्यादि-नावतार्ये । भाष्यार्थस्तु, प्राचीनमिति । ननु सञ्चितमपि प्राचीनमिति चेन्न । स्वतथेच्छस्य मुनेः पर्यनुयोगानर्हत्वात् । प्रारब्धं भोगेन नश्यति । क्रियमाणमकरणेन सञ्चितं देहमुत्पाद्य नश्यतीति । आवश्यक इति । कर्मणां प्ररोदकस्वभावत्वात् तथा । तुशब्द इत्यादीति । अग्निहोत्रादीति ।

अतोऽन्यापि होकेषामुभयोः ॥ १७ ॥ (४-१-७)

तदेवं पूर्वसूत्रचतुष्टयेन मर्यादासार्गीयभक्तस्य मर्यादयैव मुक्तिप्रतिबन्ध-सम्भवस्तयैव तन्नाशश्चेति निरूपितम् । अथ पुष्टिमार्गीयस्य विनैव भोगं प्रारब्धं नश्यति न वेति विचार्यते । तत्र भोगैकनाशस्य भावत्वात्तस्य न तं विनास्यापि तन्नश्यतीति प्राप्ते निर्णयमाह । एकेषां पुष्टिमार्गीयाणां भक्तानामुभयोः प्रारब्धा-प्रारब्धयोर्भोगं विनैव नाशो भवति । कुत एतत् । तत्राह । अतः । श्रुतेः कर्मणो ज्ञाननाशयत्वनिरूपिकायाः । ब्रह्मविद एव प्रवचनादिनिरूपणेन तद-नाशप्रारब्धास्यकर्मक्षेपकश्रुतेश्च । अन्यापि श्रुतिः पठ्यते 'तस्य पुत्रा दाय-धुपगन्ति सुहृदः साधुकृत्यां, द्विषन्तः पापकृत्या'मिति । ज्ञानभोगाभ्यां कर्म-

भाष्यप्रकाशः ।

वा बोधनेन तद्विरोधात् । न च सहकारित्वस्य विरोधः । प्रारब्धनाशकत्वेनापि तदुपपत्तेरविरो-धात् ॥ १६ ॥ इति षष्ठं तदधिगमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

अतोऽन्यापि होकेषामुभयोः ॥ १७ ॥ एतस्याधिकरणस्य न पूर्वोक्तत्वमिति बोध-नाय पूर्वोक्तमनुवदन्त एतदवतारयन्ति तदेवमित्यादि । अथेत्यादि च । पूर्वोक्तमाहुः तन्ने-त्यादि । तस्येति । प्रारब्धस्य । तं विनेति । भोगं विना । अस्यापीति । पुष्टिमार्गीयस्यापि । व्याकुर्वन्ति एकेषामित्यादि । तदनाशयेति । ज्ञानानाशयेत्यर्थः । 'तस्य पुत्रा' इतिश्रुतिस्तु शाब्दायनिनामस्ति । ननु सूत्रे, एकेषामिति पदेन पुष्टिमार्गीया एव विवक्ष्यन्त इत्यत्र किं गमकमित्याकाङ्क्षायामन्यथानुपपत्तिं तथात्वेनोपपादयन्ति ज्ञानभोगाभ्यामित्यादि । अर्थस्तु प्रकटः ।

रश्मिः ।

अत्रादिना विहितकर्म तत्करणं च पृथक्ते । अतादृशैरिति । अग्निहोत्रादिकारकप्रारब्धस्यैः । अत एवेति । अतादृशत्वादेव । तथात्वं अग्निहोत्रादिकर्तृत्वम् । एतदिति । प्रारब्धतदभावाभ्यामग्नि-होत्रादिकरणाकरणम् । सहकारित्वेति । तृतीयस्य चतुर्थचरणेति । अत्राश्रमधर्मोपाणां ज्ञानाय सहकारित्वमुक्तमिति तथा । तदुपपत्तेरिति । आश्रमधर्मोपपत्तेः ॥ १६ ॥ इति षष्ठं तदधिग-माधिकरणम् ॥ ६ ॥

अतोऽन्यापि होकेषामुभयोः ॥ १७ ॥ तदेवमित्यादीति । मर्यादयेति । एतस्मै जीवायैतदेतत्कर्म कारयित्वैतदेतत्फलं दास्यामीति स्पष्ट्यादौ इच्छाविषया मर्यादा तस्याम् । मर्यादाया-मग्निहोत्रादिकारकं प्रारब्धं निवेद्य मुक्तिप्रतिबन्धसम्भवोक्ति । अग्निहोत्रादिनैव प्रारब्धनाशाय भोग-वदग्निहोत्राद्यपि क्रियत इति कर्मणा मुक्तिप्रतिबन्धसम्भवः । तयैवेति । मर्यादयैव मुक्तेः प्रतिबन्धो-नुत्वाद्दस्तस्य नाशश्च सनकादीनामिव । मुक्तिप्रतिबन्धकं कर्मेत्युक्तम् । नश्यतीति । अग्निहोत्रादिना नश्यति । अत्र संशये पूर्वोक्तौ 'कर्मणा कर्मनिर्हार' इतिवाक्यं बीजं, द्वितीयस्यां कोटौ, 'ते नाधीत-श्रुतिगणा नोपासितमहत्तमा' इतिवाक्यं बीजम् । भाष्ये तन्नश्यति, प्रारब्धं नश्यति । ज्ञाननाशयत्वेति । श्रुतिस्तुक्ता । हेत्वन्तरमाहुः ब्रह्मविद इति । श्रुतिस्तु 'धर्मज्ञ एतदित्य'मिति शिक्षायाम् । 'आचार्यवान् पुरुषो वेदे'ति छान्दोग्ये । 'आचार्यः पूर्वरूपं अन्तेवास्युत्तररूपं विद्या सन्धिः प्रवचनसंस्थान'मिति तैत्तिरीये । प्रवचनं प्रारब्धं विना नेति प्रारब्धास्यकर्मक्षेपकं प्रवचनादि । 'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यत' इतिन्यायात् । तस्येति । पुष्टिमार्गीयस्येत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

अन्ये तु, अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्मकर्मणोऽन्याप्यस्ति साधुकृत्या या फलमभिसन्धाय क्रियते । तस्या एष विनियोग उक्त इति व्याकुर्वन्ति । तथा सत्येवं नित्यकाम्यकर्मभेदेन श्रुत्योर्विषयभेदे सिद्धे विरोधाभावात् द्वये 'चैकेषामिति पदेन शाखिनां परामर्शादुभयोरित्यनेन जैमिनिवादादरायणयोराचार्ययोः परामर्शाच्छ्रुतौ द्वये चानुपपत्त्यभावात् कथमधिकारिकृतविषयभेदावगमः, कथं च प्रारब्धकर्मणोऽत्र विषयत्वावगम इत्याकाङ्क्षायां तद् दूषयितुमाहुः न चेत्यादि । तथा चैवं नित्याग्निहोत्रादेरस्या विषये भेदितेति, 'तदधिगम'दिसूत्राद्विषयो न भिद्यत इति, 'तद्यथेपीकातूलं' 'यथा पुष्करपलाश आपः', 'उमे हेवैष एते' इत्येताभ्यो विषयभेदाभावात्तासां विरोधो दुष्परिहरः । न च येषामश्लेषो व्याख्यातः, तेषां विद्यमानत्वादयं तेषां विनियोग इति विषयभेदात् सुपरिहर इति वाच्यम् । विद्यमानाश्लेषस्य प्रागेव दूषितत्वात् । ज्ञानोत्तरं स्वर्गादिलौकिककामनोत्पत्त्यसम्भवेन काम्यायाः साधुकृत्याया उत्पत्तेर्वक्तुमशक्यत्वाच्च श्रुतौ पापकृत्याविनियोगस्याप्युक्तत्वेन तस्यां च फलाभिसन्धानासम्भवेन काम्यत्वासम्भवाच्च

रश्मिः ।

साधुकृत्यापापकृत्यासहितत्वात् । न ब्रह्मविद इत्यर्थे ज्ञाने न कृत्ययोर्नाशात् । मर्यादाभक्तसेल्यर्थे भक्तेः पूर्वमेव तच्चाशात् । साधारणसेल्यर्थे प्रायपाठविरोधः । अतः पुष्टिमार्गीयसम्बन्धिनी साधुकृत्यां भगवदनुग्रहेण सुहृत्सु गच्छन्तीं ते गृह्णन्ति तथा पापकृत्यां द्विषन्तो गृह्णन्तीत्यर्थः । प्रकृते । अन्यथानुपपत्तिमिति । विषयभेदकल्पनमन्तरोक्तीत्या श्रुत्यर्थसम्भवे 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्देहे परावर' इति, 'नामुक्तं क्षीयते कर्म' इति च श्रुत्याः 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ती'त्यस्या विरोध इत्यर्थापत्तिः । अन्यथानुपपत्तिस्तु जीवन् देवदत्तो गृहे नास्तीत्यत्र जीवनसंगृह्येष्टदी-भावचर्हिर्भावयोः प्रमेययोः संसृष्टद्विरूपप्रमेयं तस्याः कारणमित्यन्यथानुपपत्तिरत्र ताम्, तथा च ज्ञानभोगाभ्यामिति भाष्ये विरोधेऽन्तर्भाष्येणान्यथानुपपत्तिनिरूपणं, परिहारायेत्यादिभाष्येणार्थापत्तिनिरूपणमिति ज्ञेयम् । तथा च प्रस्थानरत्नाकरेऽन्यथानुपपत्तिस्त्वर्थान्तरकल्पनया समाधे-यत्वेनोच्यमानप्रमाणसिद्धयोर्द्वयोः रर्थयोः परस्परप्रतिघातः, तत्समाधानायाथान्तरकल्पनमर्थापत्तिरिति । तथात्वेनेति । गमकत्वेन । प्रकट इति । विषयभेद इति । पुष्टिमार्गीयविषयस्य भेदः । अन्यस्तु अन्यथानुपपत्तिसमर्थने प्रकट इत्यर्थः । तस्या इति । साधुकृत्यायाः काम्यकर्मरूपायाः । व्याकुर्वन्तीति । सूत्रं व्याकुर्वन्ति । श्रुत्योरिति । अग्निहोत्रादिनित्यकर्मपतिपादिका, 'तस्य पुत्रा' इत्यस्याः काम्यकर्मप्रतिपादिका, तयोः । अधीति । पौष्टिकमार्यादिकाभ्यामधिकारिभ्यां कृतो यो विषयस्य पुष्टिमार्गीयस्य भेदावगमः । अत्रेति । सूत्रे । तदिति । मतं दूषयितुम् । अस्या इति । काम्यकर्मप्रतिपादिकायाः 'तस्य पुत्रा' इति श्रुतेः । नित्यत्वकाम्यत्वान्यां भेदिते । तदधिगम इत्यादि-भाष्यफलितार्थमाहुः । तदधिगमादीति । तदधिगमादिसूत्रं प्राप्य यः काम्यकर्मविषयः स न भिद्यत इत्यर्थः । एताभ्य इति । भाष्यतत्प्रकाशभेदेन तदधिगमसूत्रोक्तान्यां द्वाभ्यां 'इतरस्ये'ति-सूत्रोक्ता तृतीया एताभ्यः । विरोध इति । एताभिरेवैतस्य पुत्रा इति श्रुतेः सहावस्थानसम्भवेपि पृथक् चिन्तने तथा । येषामिति । पुण्यपापानां, अश्लेषो ब्रह्मविदि । अयमिति । तेभ्यः काम्य-कर्मभ्यः पृथगयं तस्य पुत्रा इति श्रुत्युक्तः । तेषां पुण्यपापानाम् । प्रागेवेति । तदधिगमसूत्र एव, 'अत्रोत्तरस्योत्पन्नसाश्लेष इति नार्थ' इत्यादिभाष्येण दूषितत्वात् । पापकृत्यायामिति भाष्यं प्रपञ्चयन्ति स्म । श्रुतौ पापेति । फलाभीति । कृष्णेच्छाविषयस्य बलवदनिष्ठाननुबन्धीष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्त-

नाशनिरूपकश्रुत्या अस्याः श्रुतेर्विरोधपरिहारायावश्यं विषयभेदो वाच्यः । न च काम्यकर्मविषयेयं श्रुतिरिति वाच्यम् । 'तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषवि-नाशा'वितिसूत्रेण 'इतरस्याप्येव'मितिसूत्रावयवेन चाविशेषेणारब्धातिरिक्तकर्म-णोरखिलयोर्नाशनिरूपणात् । पापकृत्यायां काम्यत्वासम्भवाच्च । तस्मादख्यनु-ग्रहभाजनस्य भक्तस्य संप्राप्तिविलम्बमसाहृष्टणुर्भगवान् अस्य प्रारब्धभेदतत्सम्ब-न्धिगमं कृत्वा तस्य तेन भोगं कारयति । प्रारब्धं भोगेकनाशयमिति स्वकृतमर्यादापालनाय न नाशयति । न च तयोरमूर्तत्वेनाकृताभ्यागमप्रसङ्गेन च नैवं वक्तुमुचितमिति वाच्यम् । ईश्वरत्वेनान्यथापि करणसम्भवात् । मर्यादा-विपरीतस्वरूपत्वात् पुष्टिमार्गीयस्य न काचनानुपपत्तिर्भावनीया । तस्या अत्र शूषणत्वात् । अत एवैकेषामिति दुर्लभाधिकारः सूचितः ॥ १७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

विषयश्रुतिविरोधोपि दुष्परिहरः । अतस्तदभावायावश्यमधिकारिभेदः प्रारब्धात्मककर्मविनियोग-श्चात्रानुपपेयः । उभयपदे आचार्यद्वयग्रहणमप्यसङ्गतम् । सन्निधौ जैमिनेरश्रुतत्वात् । सामान्य-शब्दस्य चोपस्थितार्थकत्वनियमेन बाधकं विना तच्चागायोगात् । अत उत्तरीत्यैव मन्तव्यमित्यर्थः । तदेतच्चतुर्थस्कन्धीये तच्चवदीपप्रकाशे सम्यग् व्युत्पादितमिति प्रसूचरणैर्नात्रोक्तम् । सिद्ध-माहुः तस्मादित्यादि । पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति न च तयोरित्यादि । तथा चेदं तवापि तुल्यमतः परिहारसाम्यान्न पर्यनुयोग उचित इत्यर्थः ॥ १७ ॥

रश्मिः ।

कत्वात् । बलवत् यदनिष्टं तस्यानुबन्ध्यजनकं यदिष्टसाधनताज्ञानं तस्येत्यर्थः । विषयश्रुतिस्य पुत्रा इति । तस्या निरोधः काम्यकर्मविषये सूत्रविषयश्रुतिस्वप्रलयो नाशः । विषयश्रुतिविरोध इति पाठे वा । विषयश्रुतिसहानवस्थानं तस्य पुत्रा इत्यस्या इत्यर्थः । तथा च तदधिगम इत्यत्र सहावस्थानमित्यर्थः । तदभावायेति । तदधिगमाधिकरणे विषयत्वेन प्रवेशाभावाय । अधिकारीति । पुष्ट्याधिकारिभेदः । अप्रारब्धेति । सञ्चितक्रियमाणकर्मविनियोगः पुष्टिमार्गीयस्योक्तः । सामान्येति । एकेषामिति शाखिपरत्वेन सामान्यशब्दस्य चोपस्थितार्थो विशेषार्थः पुष्टिमार्गीयानामिति, तदर्थकत्वनियमेन । तच्चागेति । पुष्टिमार्गीयानामित्यर्थत्यागस्य योगाभावात् सामान्यतो विशेषो बलीयानिति । मन्तव्यमिति । मननं कर्तव्यम् । तदेतदिति । तदधिगम इत्यादिभाष्येणोक्तम् । तस्मादित्यादीति । एतत्सम्बन्धीति । यथा पूर्णभगवदीयानां शेषव्यासाभिमास्तानामाचार्याणां तत्सम्बन्धिगतकरणम् । तस्य प्रारब्धस्य । तेन सम्बन्धिना भोगं कारयति । यतः सम्बन्धिनी विरक्त-नामग्रेसराः । तत्कार्याणि कुर्वन्तीति णिच् । प्रारब्धमिति । मर्यादास्वरूपं पुष्टिगतम् । न च तयोरित्यादीति । तयोः पुण्यपापयोः । अकृतेति । सुहृद्भिस्तु अकृतस्य कर्मणोभ्यागमस्तस्य प्रसङ्गेन, कृतनाशाभावात् कृतनाशो नोक्तः । नैवं वक्तुमिति । पुष्टिमार्गीयस्य साधुपापयोः सुहृदा-दिषु प्रापणं वक्तुं नोचितम् । अन्यथापीति । अमृतयोः प्रापणमकृताभ्यागमप्रसङ्गनाशनं च । अत्रेति । पुष्टिमार्गीय इत्यर्थः । तस्या इति । मर्यादाभ्यागमपपत्तेः । दुर्लभेति । 'मुक्तानामपि सर्वेषां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोऽपि महासुने' इति वाक्यात् तथा । सूचित इति । वाच्यार्थस्तु पुष्टिमार्गीया इत्युक्तम् । तथापीति । तयोरमूर्तत्वेनेत्याद्याशङ्कितुरपि । परिः-

१. विषयश्रुतिविरोध इति रश्मिपाठः ।

२. अप्रारब्धेति रश्मिपाठः ।

७ अ० सू० २०

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

ननु 'यदेव विद्यया करोती'ति श्रुत्या विद्यापूर्वकं कर्मकरणे वीर्यातिशयः फलं श्रूयते । अतो ब्रह्मविद्यावतोपि तथात्वस्योचितत्वाद्'दुस्तरस्याश्लेष' इति यदुक्तम्, तन्नोपपद्यत इति प्राप्ते, आह यदेवेति । हि यस्माद्धेतोस्त्वया 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदे'ति श्रुतिरेव ब्रह्मविदोपि कर्मोत्पत्तिप्रसञ्जिकात्वेनोदाहृता । सा तु न तत्समर्था । तथाहि । 'ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते'त्युपक्रम्य तस्य रसतमत्वं मिथुनरूपत्वमनुशाक्षरत्वं त्रयीप्रवृत्तिहेतुत्वं च निरूप्य, एतदग्रे 'यदेव विद्यये'त्याद्युक्त्वा, 'इति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवती'-त्युपसंहारादुद्गीथोपासनाविषयमेव 'यदेव विद्यये'ति वाक्यमिति ज्ञायते । तेनोत्तरसतमत्वादिप्रकारकोपासनानां मध्ये यदेव विद्यया करोति, तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति तदर्थं इति न ब्रह्मविद्यागन्धोऽपीति न सा शङ्कात्र सम्भवतीत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥ इत्थमवतारयन्ति नन्वित्यादि । तथात्वस्येति । कर्मणो वीर्यवत्त्वस्य । तथा च यदि ब्रह्मविद्यावतः कर्मसंसर्गो न स्यात्, तदेवं श्रुतिर्विद्यया वीर्यवत्तां कर्मणो न श्रावयेत् । अतस्तदन्वयानुपपत्त्याऽश्लेषादिवाक्यानां विद्यास्तावकत्वमेवाङ्गीकार्यमिति पूर्वोक्तं नोपपद्यत इत्यर्थः । परिहारं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति हीत्यादि । तेनेति । वाक्यस्य प्रकरणावरुद्धत्वेन । तथा चानुपपत्त्यभावात्तेषां स्तावकत्वं शक्यवचनमतः पूर्वोक्तं साध्वेवेत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे सूत्रयोजना तु, यदेव विद्ययेति वाक्यं हि यतो हेतोः इति प्रकरणावरुद्धम्, तथा च न ब्रह्मविद्यावतः कर्मप्रसञ्जिकेत्यर्थः ।

रश्मिः ।

हारेति । इदं परिहारसाम्यं ग्रहिलतया पुष्टिमागानङ्गीकर्तारं प्रत्युक्तं बोध्यम् । स्वमार्गे पुष्टिमागङ्गीकारेण परिहारस्य कृतत्वात् । पर्यनुयोग इति । नैवं वक्तुं युक्तमित्यनेनोक्तः पुष्टिमागीयस्य साधुपापयोः सुहृदादिषु प्रापणं वक्तुं नोचितमित्येवंरूपो नोचित इत्यर्थः । 'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तत्समः, नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारण' इति वाक्यात् ॥ १७ ॥

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥ तदन्यथेति । अन्यथानुपपत्तिः पूर्वसूत्र उक्ता । अत्रार्थान्तरस्य यदेवेतिवाक्यस्य प्रकरणावरुद्धत्वस्य कल्पना तथा समाधेयत्वेनोच्यमानप्रमाणसिद्धयोर्द्वयोर्ब्रह्मविद्यावत्कर्मसंसर्गाभावविद्याकर्मवीर्यवत्तयोरर्थयोः परस्परप्रतिघातोन्यथानुपपत्तिः । पूर्वोक्तमिति । अश्लेषादिवाक्योक्तं ब्रह्मविद्यावतः कर्मसंसर्गाप्रसञ्जनम् । नोपपद्यत इति । परस्परप्रतिघातरूपान्यथानुपपत्तिरुक्ता । अग्रे भाष्ये । इति प्राप्ते नामान्यथानुपपत्तिप्राप्ते । आह अर्थापत्तिरूपं सूत्रमाहेत्यर्थः । अर्थापत्तिस्तुत्परस्परप्रतिघातसमाधानायार्थान्तरस्य यदेवेति वाक्यस्य प्रकरणावरुद्धत्वस्य कल्पना । हीत्यादीति । त्वयेति । कर्मवदिना । तत्समर्थेति । ब्रह्मविदः कर्मोत्पत्तिप्रसञ्जनसमर्था । विषयश्रुतेरुच्छान्दोग्यीयप्रथमप्रपाठकोपसंहारस्थत्वेन प्रकरणद्योतनार्थं प्रपाठकार्यं स्मारयन्ति स्म तथाहीत्यादिना । तदर्थं इति । विषयश्रुत्यर्थः । इत्यक्षरविद्यायाः कर्माङ्कत्वप्रतिपादकविषयवाक्ये न ब्रह्मविद्यागन्धोपीति, सा, अनया श्रुत्या ब्रह्मविद्यावतोपि कर्मणो वीर्यवत्त्वस्योचितत्व-

यद्वा । उक्ताशङ्कानिरासायैवाह यदेवेति । ब्रह्मविद्धि प्रारब्धक्षयायैव कर्म कुरुते, तत्त्वन्वयकृतात् कर्मणः सकाशात् सवासनतन्नाशनाद् वीर्यवत्तरं भवत्येवेति नानुपपत्तिः काचिदित्यर्थः ।

यद्वा । ननु पुष्टिमागीयस्य प्रारब्धस्यापि भोगं विनैव नाश इति श्रुत्याऽसम्भावनां कुर्वाणं प्रति कैमुतिकन्यायेन तत्परिहारमाह यदेवेत्यादि । जीवनिष्ठा विद्या हि भगवज्ज्ञानशक्तेरंशभूता । एवं सति यत्र धर्मसम्बन्धिसम्बन्धादन्येभ्योऽतिशयं कर्मणि वदति श्रुतिः, तत्र साक्षाद्भूमिसम्बन्धेऽतिशयितकार्यसम्पत्तौ कथमसम्भावना कर्तुमुचितेति निगूढाशयः । अत एव हेतुवाची हिशब्दः ॥ १८ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते ॥ १९ ॥

पुष्टिमागीयफलप्राप्तौ प्रतिबन्धाभावं सोपपत्तिकमुक्त्वा तत्प्राप्तिप्रकारमाह ।

भाष्यप्रकाशः ।

श्रद्धोपनिषदोः साधारणत्वात् तत्समभिव्याहृताया विद्याया अपि साधारण्यमेवोचितम्, न तु सङ्कोचनमिति कश्चिच्छङ्केत, तदर्थं प्रकारान्तरेणार्थमाहुः । यद्वा । उक्ताशङ्केत्यादि । सवासनतन्नाशनादिति । सवासनप्रारब्धनाशनात्, तथा च सङ्कोचाभावेपि पूर्वोक्तार्थसिद्धिरप्रत्युहेति न तेषां स्तावकत्वमित्यर्थः । एतेन जन्मादिसूत्रभाष्ये व्युत्पादितं पूर्वोत्तरकाण्डयोः परस्परानङ्गत्वमपि समर्थितं ज्ञेयम् ।

पूर्वोक्तमर्थं सगृह्यन्त एतत्सूत्रस्य तात्पर्यान्तरमाहुः । यद्वा नन्वित्यादि ॥ १८ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते ॥ १९ ॥ भाष्यमत्रातिरोहितार्थम् । अत्र

रश्मिः ।

रूपा शङ्केत्यर्थः । एतेषामिति । अश्लेषादिवाक्यानाम् । पूर्वोक्तमिति । पूर्ववत् । अद्धेति । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वै'ति श्रुतावुक्तयोः । साधारणत्वादिति । सकलविद्यासाधारणत्वात् । तत्समभिव्येति । श्रद्धोपनिषत्समभिव्याहृतायाः 'यदेव विद्यये'त्युक्ताया विद्याया अप्युद्गीथानुद्गीथसाधारण्यमेवेत्यर्थः । सङ्कोचनमिति । उद्गीथविद्यामात्रपरत्वेन सङ्कोचनम् । तेषामिति । अश्लेषादिवाक्यानाम् । जन्मादीति । जन्मपदादादिसूत्रं जिज्ञासासूत्रम् । तस्य भाष्ये इत्यर्थः कर्तव्यः । व्युत्पादितं जिज्ञासासूत्रभाष्य इति । भाष्ये । नानुपपत्तिरिति । अनुपपत्तिर्ब्रह्मविदः कर्मणो वीर्यवत्तरत्वस्य । प्रकृते । तात्पर्यान्तरमिति । पूर्वोक्तोपनिषदो द्वितीयार्थस्तात्पर्यरूपः, वक्ष्यमाणस्तृतीयार्थस्तात्पर्यान्तररूपस्तमाहुरित्यर्थः । यद्वा नन्वित्यादीति । तत्परीति । असम्भावनापरिहारम् । अंशभूतेति । अस्तिमातिप्रियत्वेन समन्वयाधिकरणे समन्वयोक्तेस्तथा । कैमुतिकन्यायं विवृण्वन्ति स्म । यत्र धर्मेति । धर्मो ज्ञानं तस्य सम्बन्धोऽस्तीति धर्मसम्बन्धिन आचार्यास्तात्सम्बन्धादित्यर्थः । निगूढेति । संवृततात्पर्यसम्बन्धन्तःकरणम् । अत एवेति । उक्ताशङ्कानां सत्त्वादेव, तन्निरासक'यदेव विद्ययेतिही'तिहेतुप्रतिपादकं सूत्रम् ॥ १८ ॥ भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते ॥ १९ ॥ अतिरोहितार्थमिति ।

इतरे अत्रे प्राप्यालौकिकदेहाङ्गिन्ने स्थूललिङ्गशरीरे क्षपयित्वा वृरीकृत्य, अथ भगवल्लीलोपयोगिदेहप्राप्यनन्तरं भोगेन सम्पद्यते । 'सोऽश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुत्युक्तेन भोगेन सम्पद्यत इत्यर्थः । श्रुत्यर्थस्त्वानन्दमयाधिकरणे निरूपितः । अलौकिकत्वं विनोक्तदेहं विना शोक्तफलप्राप्तेर्व्यवच्छेदकस्तुशब्दः ॥ १९ ॥

इति सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्रहस्यसूत्राणुभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ४ ॥ १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

क्षपणं च कुरुक्षेत्रप्रसङ्गे ब्रजभक्तानां जीवकोशध्वंसरूपम् । भोगश्च तदनन्तरदर्शनादिरूपो जीवशायामेव भवतीत्यवान्तरफलपरिसमाप्तिरिति मम प्रतिभाति । अत्यन्तानुग्रहे तु स्थूलस्य लोकवत् क्षपणम्, सूक्ष्मस्य, 'वाङ्मनसी'ति वक्ष्यमाणरीत्या ततस्तदव्यवहितमेवालौकिकदेहप्राप्त्या भोगसम्पत्तिरिति ज्ञेयम् ।

अत्र मतान्तरीयव्याख्यानस्यादूषणात् तदपि ज्ञानमार्गीयमर्गादामक्तिमार्गीयपरतया सङ्गाहमिति सूचितं ज्ञेयम् ॥ १९ ॥

रश्मिः ।

प्रतीति । प्रारब्धनाशकमर्थादां पुष्टौ निवेद्य प्रारब्धादिप्रतिषन्धानामभावमुपपत्तिः कैयुतिकन्यायस्तया सहितम् । इतरे इति । भोगस्य पौष्टिकप्रारब्धादिनाशेऽकरणत्वात् । सम्पद्यत इत्यत्र करणत्वात् तेनान्वयः । अलौकिकत्वमिति । इतरे क्षपयित्वाऽलौकिकत्वम् । अथ भगवल्लीलोपयोगिदेहप्राप्यनन्तरमित्यत्राथशब्दार्थघटकसुक्तदेहं प्राप्य तु भोगेन सम्पद्यते न तु तौ विनेत्येव व्यवच्छेदकस्तुशब्द इत्यर्थः । एवमतिरोहितार्थम् ।

अत्रेदमुच्यते । अबसाने भोगेन सम्पद्यत इति फलोक्त्या प्रथमसूत्रादारम्य 'सालोक्यसाष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत, दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना'इत्यस्मिन् श्रुत्युक्तफलविस्तारके मुख्यफलमुक्तं सन्दिग्धत्वाद् अन्येषां फलानां प्रसङ्गं विना नोक्तिरतोसन्दिग्धफलप्रतिपादकानां न विषयवाक्यत्वम् । फलेभ्यः पातस्तु वर्तत इति, फलावृत्तिः सन्दिग्धोक्ता, अनावृत्तिश्च, न फलविचारः कृतः । फलानां सर्वत्रासन्दिग्धत्वात् । भोगेन सम्पत्तिर्भगवत्सेवनमिति ।

प्रकृतमनुसरामः । षष्ठाधिकरणे मतान्तरमविरुद्धतया नीतं, तथापि परेषामभिहोत्राद्यधिकरणमेकसूत्रात्मकं प्रविष्टम् । तत्राभिहोत्रादिकर्म नश्येन्नो वेति संशयेनुष्ठितं यदभिहोत्रादिकर्म तस्यापि काम्यकर्मवदकर्त्रात्मबोधवस्तुमहिम्ना नाशोभ्युपेयत इति पूर्वपक्षे द्वावन्शौ नित्यकर्मण एकोऽशः प्राधान्येन चित्तशुद्धिप्रदोपरोशोतुषङ्गेप्यस्वर्गादिफलप्रदस्तस्य नाशोस्तु नाम, चित्तशुद्धिप्रदस्तु विषयायुपयुक्तत्वाच्च नाशो वक्तुं शक्यः । न हि लोके भोगेनोपक्षीणं व्रीह्यादिकं नष्टं मन्यन्ते । यत्तु ज्ञानादूर्ध्वं नित्यं कर्म तस्य काम्यवदश्लेष इति व्याख्यानस्य । अत्राधिकरणे तु मतान्तरनामापि नास्तीत्यत्राहुः । अत्रेत्यादि । सप्तमाधिकरणे । मतान्तरीयव्याख्यानस्येति सूत्रत्रये प्रत्येकमधिकरणद्वयम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

इति सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्रहस्यभाचार्यचरणनखचन्द्रनिरस्तहृदयध्वान्तस्य श्रीपीताम्बरात्मजस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तः प्रथमः पादः ॥ १ ॥

रश्मिः ।

तत्रातोल्यापीत्येकं सूत्रं विनियोगवाक्यं परंथां तद्विषये तत्रैव प्रकाशे किञ्चिदुक्तम् । 'यदेव विद्यथे'-त्यधिकरणे विद्यासाधनं नित्यं कर्म द्विविधम् । अज्ञावबोधोपास्तिसहितम्, तद्रहितं च । विद्यासाधननङ्गावबोधोपास्तिसहितं तद्रहितं वेति संशये सोपासनस्य कर्मणः प्रशस्तत्वात् तदेव विद्यासाधनं न तूपास्तिरहितमिति पूर्वपक्षे, सोपासननिरूपणसंयोजनस्योत्तरतम्येन विद्यासाधनत्वं 'यदेव विद्यथे'ति श्रुतेः सिद्धान्त इति व्याख्यानस्य । तथा 'भोगेने'त्यधिकरणे अधिकारिपुरुषाणां मुक्तिरस्ति न वेति सन्देहधिकारिपुरुषाणां नास्ति मुक्तिः, प्रारब्धभोगाय बहुषु जन्मसु स्वीकृतेषु तत्र पूर्वाजितविद्यायां तु लुप्तायां यत्कर्म क्रियते तस्य फलप्रदत्वे सत्युत्तरोत्तरजन्मपरम्पराया अवश्यम्भावित्वादिति पूर्वपक्षे, आरब्धकर्म स्वफले सुखदुःखे भोजयेत्, तदर्थमेव प्रवृत्तत्वात् । न हि विद्याविलोपार्थं किञ्चित्कर्म पूर्वमनुष्ठितम्, येन कर्मदशाद्विद्यालोप आशङ्क्येत । न मरणव्यवधानमात्रेण विद्याविलोपः, सुषुप्तिसंस्थानेन तलोपादर्शनात् । अतो विद्यायामवस्थितायां बहुभिरपि क्रियमाणैः कर्मभिरश्लेषादस्त्वधिकारिणां मुक्तिः । यद्यप्येतद्गुणोपसंहारपादे निर्णीतं, तथापि तस्मैवाक्षेपसमाधाने इत्यनवधमिति व्याख्यानस्येत्यर्थः । शङ्कराचार्यमतेधिकरणानि चतुर्दश । 'अतोऽन्यापि ह्येकेषा'मित्यस्य विनियोगवाक्यत्वात् । ज्ञानमार्गीयति । 'यदेव विद्यथे'त्यत्रोक्तसिद्धान्तस्य स्वमते कर्मणाध्यात्मिकचित्तशुद्धौ ज्ञानमिति साधनकर्मपरतया सङ्गाहत्वम् । 'भोगेने'त्यत्रोक्तसिद्धान्तस्तु मर्गादामक्तिमार्गीयाधिकारिमुक्तिपरतयेति बोध्यम् । सूचितमिति । सूत्रयोरधिकरणात्मकयोः सर्वतोमुखत्वाद् व्यञ्जनया वृत्त्यापितमित्यर्थः ॥ १९ ॥

इति सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण सम्पूर्णवेद्या विठ्ठलरायजिज्ञाश्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता

कृते भाष्यप्रकाशस्य रश्मौ चतुर्थाध्यायस्य

प्रथमपादः सम्पूर्णतामगमत् ॥ ४ ॥

समाप्तः प्रथमः पादः ॥ १ ॥

श्रीगुरुभ्याय नमः ।

श्रीगोपीजनघट्टभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्रहस्यसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिवृंहितम् ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

द्वितीयः पादः ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥ (४-२-१).

पूर्वपादे लौकिकशरीरे क्षपयित्वा अलौकिकं तत्प्राप्य फलेन सम्पद्यत इति निरूपितम् ।

अथात्रेदं चिन्त्यते भक्तस्य सूक्ष्मशरीरस्य क्षपणं नाम किं तत्स्वरूपनाशनम्, उत मणिस्पर्शादयसश्चामीकरत्वमिव तस्यैवालौकिकत्वसम्पादनं भगवदनु-
ग्रहादिति ।

भाष्यप्रकाशः ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥ अथ द्वितीयपादं व्याचिख्यासवः पादार्थानां तत्सङ्गतेषु पूर्व कारिकाभिर्निरूपितत्वादिहाधिकरणसङ्गतिं वक्तुं अतीतपादान्ते यन्निरूपितं तदनु-
वदन्ति पूर्वपाद इत्यादि । अलौकिकं तत् प्राप्येति । अलौकिकं देहं लब्ध्वा । अलौकिक-
देहस्वरूपं त्वग्रे वक्तव्यम्, 'ब्राह्मेण जैमिनि'रित्यादिभिः । प्रकृतं वक्तुमाहुः । अथेत्यादि । तद-
नन्तरमवसरसङ्गत्या एतत्पादारम्भे प्रकृतं वक्तुं तदुपोद्घाततया इदं वक्ष्यमाणं विचार्यत इत्यर्थः ।
तदाहुः भक्त्येत्यादि । एवं संशयमुक्त्वा पूर्वपक्षमाहुः । अत्रेत्यादि । तथात्रापि वक्तुमुचित-
त्वादिति । सूक्ष्मलिङ्गशरीरात्मकं प्राणेन्द्रियादिष्वपि द्वितीयस्य चतुर्थपादे 'तथा प्राण' इत्यत्र

रश्मिः ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥ पादार्थानामिति । पादार्थस्तु त्रियमाणस्याग्नि-
मावस्थोक्ता । अनुवदन्तीति । सिद्धस्य कथनमनुवादः । भाष्ये । निरूपितमिति । सन्दि-
ग्धत्वात् फलत्वात् फलप्रसङ्गायातत्वाच्च निरूपितम्, परमतनिराकरणेन स्वमतं स्थापितम् ।
प्रकृते । प्रकृतमिति । पादार्थम् । तदिति । वक्ष्यमाणम् । भक्त्येत्यादीति । भक्त्येत्यपि
पाठः । अयस इति । लोहस्य सुवर्णत्वमिव । तेनाधिकरणसङ्गतिः सामान्यविशेषभावरूपोक्ता । क्षपण-
सामान्यविशेषयोर्भयोरधिकरणयोः सत्त्वात् । पादार्थसङ्गतिस्तु जीवतोग्निमावस्थानिरूपणानन्तरं त्रिय-
माणसावस्थया अधीतश्रीभागवतस्य स्मरणात् काग्निमावस्था त्रियमाणसेति जिज्ञासया पादनिरूपणा-

तत्रोत्तर एव पक्षः साधीयानिति भाति । तथाहि । यथा पूर्वं संसारिण एव जीवस्य तदनुग्रहात् पूर्वावस्थापगमो मुक्त्यवस्था चोच्यते, तथात्रापि वक्तुमुचितत्वात् । 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्त' इति श्रुतिस्तु जीवस्य सायुज्यमुक्तिकाले तत्प्राणादीनामपि तथैवाह, अत एवाग्रे 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्युच्यते । पुष्टिमार्गीयस्योक्तमुक्त्यभावात्तत्रैवं तद्विषयिणीति प्राप्ते प्रतिवदामः । ब्रह्मांशत्वेन जीवस्यानन्दात्मकत्वाभिर्दोषस्वरूपत्वाभित्यत्वाच्च दोषाणां चागन्तुकत्वात्तदपगमे तस्य तथात्वमुचितम् । प्राणादयस्तु न तादृशा इति तद्दृष्टान्तेनात्रापि तथात्वं न वक्तुं शक्यम् । 'देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठ-

भाष्यप्रकाशः ।

जीवातिदेशेन जीववभित्यत्वाद्यङ्गीकारालौकिकावस्थापगमस्यालौकिकावस्थाप्राप्तेश्च वक्तुमुचितत्वात् । तथैवाहेति । कारणभूते सति लयमाह । तथा च पुष्टिमार्गे तेषामलौकिकत्वापादनपक्ष एव साधीयानित्यर्थः । सिद्धान्तमाहुः ब्रह्मांशत्वेनेत्यादि ।

अयमर्थः । श्रुतौ हि त्रिविधा सृष्टिभिरेतेति ज्ञायते । ब्रह्मवित्प्रपाठके आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वपरिचायनार्थं 'तस्माद्वा एतस्मा'दित्यादिना 'सोक्तामयते'त्यादिना 'स आत्मानं स्वयमकुरुते'ति वारत्रयं कथनात् । श्वेतकेतुपाख्याने च कार्यस्य कारणानन्त्यत्वं मृत्पिण्डनखनिकृन्तनलोहमण्यात्मकदृष्टान्तत्रय-कथनाच्च । तासु विधासूचनीचभावोपि मृदपेक्षया अयसः, तदपेक्षया लोहस्योत्कृष्टतायाः सर्वजनीनत्वात् । ब्रह्मवित्प्रपाठकेपि 'सोक्तामयते'त्यादिना पूर्वमुक्तायाः सृष्टेः 'असद्वा इदमग्र आसी'दित्यनेना-सत्त्वकथनपूर्वकं 'तदात्मानं स्वयमकुरुते'ति सृष्टेः पुकृतत्वश्रावणाच्च । तदेतत्सृष्टिप्रयं तदुत्कर्षादिकं च पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थे आचार्यचरणैः इच्छामात्रेण मनसे'त्यत्र सूचितम् । तत्प्रपञ्चो-स्मत्पितृचरणकृतात्तद्विवरणदावगन्तव्यः । एवं सति अत्र पुष्टिमार्गीया जीवा मर्यादिक-सृष्टिपातिनः, तत्र ब्रह्मांशत्वेन जीवस्यातिरोहितानन्दत्वं तत्र तस्यानन्दात्मकत्वाभिर्दोषस्वरूपत्वाच्च जीवस्य तथात्वं युक्तम् । प्राणादयस्तु सृष्ट्यन्तरस्थाः 'असद्वा इदमग्र आसीत्तादृशः किं तदसदा-

रश्मिः ।

त्रिर्वाहकसङ्गतिः । अत्रेत्यादीति । तत्रेत्यपि पाठः । सायुज्येति । सह युनक्तीति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यम् । पूर्वपक्षे तु सायुज्यपदमैक्ये रूढम् । तच्चासौ मुक्तिः सायुज्यमुक्तिः तस्याः काले । सतीति । विशेष्यम् । न तु सप्तम्यर्थः । भाष्ये । अत एवाग्र इति । बृहदारण्यके शरीरब्राह्मणेऽग्रे । प्रकृते । तेषामिति । प्राणादीनाम् । भाष्ये । उक्तमुक्तीति । सायुज्यमुक्त्यभावात् । तद्विषयिणीति । पुष्टिमार्गविषयिणी । प्रकृते । त्रिविधेति परम्परात्वविधा, इच्छाद्वाराविधा, आत्मरूपाविधेति त्रिविधा । लोहस्येति । सुवर्णस्य । पुष्टिमार्गीया इति । जयविजयवत्पाते भगवद्वाच्ययुतौ मर्यादिकसृष्टिपातिनः । जयविजययोः क्रोधादीश्वरे मन आवेशनं मानसी । अतिर इति । मर्यादासार्गीयस्य यदच्छया प्राप्तस्याम्बरीषवत्तत्र सत्त्वात् । मर्यादिकसर्वात्मभावे तु तत्र ढलं निरोधलक्षणग्रन्थोक्तं 'सच्चिदानन्दता तत' इतिवाक्योक्तमिति । तत्र मर्यादायाम् । तस्य जीवस्य । तथात्वमिति । पुष्टौ भगवदनुग्रहेण दोषाणासुद्वेगप्रतिषन्धभोगानामवैराग्यामुमुक्षुत्वाशम-दसादीनां चापगमे तथात्वमानन्दात्मकत्वम् । प्राणादय इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म प्राणादय इति । सृष्ट्यन्तरेति । पुष्टिसृष्टिरन्यस्यां सृष्टौ । श्रुताविति । अर्थस्तु सृष्टः । न तादृशा इत्यस्य

पुरवासिना'मिति श्रीभागवतवाक्याच्च । न च लौकिकत्वविशिष्टदेहादिरत्र निषि-ध्यत इति वाच्यम् । सामान्यनिषेधे बाधकाभावात् । न च तदनुभव एव बाधक इति वाच्यम् । भगवत इव तदीयानामपि तेषां तथात्वे बाधकाभावात् । नन्वा-गन्तुकत्वमेव बाधकमिति चेत् । मैवम् । यथा व्यापिवैकुण्ठस्याक्षरात्मकत्वेनाना-गन्तुकत्वेन नैसर्गिकतद्गताखिलवस्तुरूपत्वेन सामीप्यादिमुक्तिं प्राप्नुवतां भक्तानां तेहेन्द्रियादिरूपमप्यनागन्तुकमेव वैकुण्ठप्राप्तिमात्रेण शुद्धजीवानां सम्पद्यते, तदीयत्वेन तत् फलतीति यावत्, तथा पुरुषोत्तमलीलाया अपि पुरुषोत्तमात्मक-त्वात्तत्राङ्गीकारमात्रेण प्राचीनाशेषप्रावाहिकधर्मनिवृत्तौ शुद्धजीवस्य पुरुषोत्तम-लीलात्मकदेहादिरपि तदीयत्वेन सम्पद्यत इति नानुपपन्नं किञ्चिदित्यवहितोऽवैहि । अयमेवार्थो वाजसनेयिशाखायां 'अथाकामयमान' इत्युपक्रम्य, 'आत्मकाम

भाष्यप्रकाशः ।

सीदित्युपयो वा व तेऽग्रे असदासीत्तादृशः के ते ऋषय इति प्राणा वा ऋषय इति वाजिनां श्रुतौ प्राणा असत्पदेनासाधुतया श्राविता इति पुष्टिसृष्टिस्त्वभावाच्च तादृशाः । धर्मान्तरैर्जीवतौल्येपि स्वरूपतो न जीववचिर्दुष्टा इति जीवदृष्टान्तेन प्राणादिरूपे सूक्ष्मशरीरे लौकिकत्वापगमेनालौकि-कत्वं न वक्तुं शक्यम् । अयं च पक्षो, 'देहेन्द्रियासुहीनाना'मिति सप्तमस्कन्धवाक्येनोपष्टम्भ्यते । अतस्तस्यापगपक्ष एव साधीयानित्यर्थः । उक्तवाक्य एव किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति न च लौकि-केत्यादि । अत्रेति । एतद्वाक्ये । तदनुभव इति । देहाद्यनुभवः । तथात्वे इति । ब्रह्मात्मक-त्वे । पुनः किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्ति नन्वित्यादि । मैवमित्याद्यवेहीत्यन्तं च । अनागन्तु-कमेवेति । यथा लौकिकेषु देहादिषु प्रकृतिर्भूलकारणतयाऽनुसीव्यति, एवं जीवेऽक्षरमन्वेति । 'यथा प्रदीप्तात् पावकाद्विस्फुल्लिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपा' इति, 'यदक्षरे परमे प्रजा' इति च श्रुतेः । तच्च सर्वत्र सर्वात्मकमिति जीवांशभूतस्य तस्य आकारो जीवरूपेऽंशे नैसर्गिक एवेत्यना-गन्तुकम् । तदीयत्वेन तत्फलतीति । अग्रे 'ब्राह्मेण जैमिनि'रित्यत्राङ्गीकरिष्यमाणत्वादावरण-भूतलौकिकापगमे भगवद्दत्तदीयत्वेन फलतीत्यर्थः । दार्ष्टान्तिके तु बादरायणसूत्रोक्तः पुरुषो-त्तमात्मकस्तदीयत्वेन सम्पद्यत इति ज्ञेयम् । एतं पक्षं श्रुत्योपष्टम्भन्ति । अयमेवेत्यादि । श्रुति-

रश्मिः ।

विवरणं धर्मान्तरैरित्यादि । शरीरादिभिः । निर्दुष्टा इति । असत्पदेन श्रुतौ मृत्युत्वस्य नास्तिकत्व-स्योक्त्या सर्वमारकत्ववेददूषकत्वदोषवन्त इति न निर्दुष्टाः । सूक्ष्मेति । प्राणर्षीणां सूक्ष्मशरीरे । तथात्वमित्यस्य व्याख्यानमलौकिकत्वमिति । देहेन्द्रियेति । भाष्यं विवृण्वन्तिस्य । अयं चेति । सूक्ष्मशरीरस्य क्षणपक्षः । तस्याग्रेति । प्राणादीनां त्यागपक्षः । प्रकृतिरिति । पुराणमतमिदम् । मायाद्वारा सृष्टौ ब्रह्मकर्तुं माया समवायिकारणमिति । श्रुतेरिति । दृष्टान्तश्रुतेः । पूर्वश्रुत्येकवाक्य-तया 'यदक्षर' इत्यत्रापि अक्षरे समवायिनीत्यर्थः । कपालयोर्धट इतिवत् । दार्ष्टान्तिकश्रुतिस्तु 'तथाक्षरा-द्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्त' इति गुण्डकस्था । यद्वा, महानारायणस्य 'यदक्षर' इतिदार्ष्टान्तिकम् । तच्चेत्यक्षरम् । 'द्विरूपं तद्वि सर्वं स्या'दिति सिद्धान्तमुक्तावलीवाक्यम् । आकार इति । निराकारस्या-कारः सर्वात्मभाववतां नित्यलीलाप्रविष्टानां च । छान्दोग्ये नारदसनत्कुमारसंवादे 'तस्य वा एतस्यैव पश्यत एवं मन्वानस्यैव विजानतः आत्मतः प्राण आत्मतः आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्म-

आप्तकामो भवति, न तस्मात् प्राणा उत्कामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीत्यन्तेन वाक्येन निगद्यते । अत्र प्राणशब्देन प्राणाः सर्वेन्द्रियाणि चोच्यन्ते । आत्मकामशब्दे भगवद्वाचकात्मपदग्रहणेन भक्तस्य स्नेहातिशय-जनितप्रभुदृष्टक्षार्यतिशयस्तादृशो येन भरणमेव सम्पद्येत, यदि प्रभुप्राकट्ये क्षणमपि विलम्बः स्यात् । अतो भगवत्प्राकट्येनैवात्मस्थितिरिति ध्वन्यते । भक्तिमार्गे प्राकट्यस्यैव परमफलत्वेन तद्दर्शनेनाप्तकामो भवति । ततः साक्षात्-श्लेषादिकामनायां प्राचीनदेहप्राणादेस्तदयोग्यत्वात्ते तत्रैव लीना भवन्ति ।

भाष्यप्रकाशः ।

व्याकुर्वन्ति अत्र प्राणेत्यादि । ध्वन्यत इति । तात्पर्यवृत्त्या बोध्यते । तात्पर्यवृत्तिस्तु मया प्रस्थानरत्नाकरे व्युत्पादिता ततो ज्ञेया । अत्रैव लीना भवन्तीति । अन्तःप्रकटे पुरुषोत्तमस्वरूप एव लीना भवन्ति । ननु पुरुषोत्तमात्मकलीलोपयोगिदेहप्राप्त्या ब्रह्मभाव एव श्रुत्य-

रश्मिः ।

तस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावित्यादि । अत्र तस्येति पूर्वं सर्वात्मभावनिरूपणात् सर्वात्मभाववत् इत्यर्थात् । नलकूबरदेरिति, आदिर्गजेन्द्रः । 'सच्चिदानन्दता तत' इत्यानन्दस्य साकारत्वात् । नलकूबरमणिग्रीवगजेन्द्रादिमुक्तीनामौडुलोमिमतसिद्धत्वादानन्दाकारस्य श्यामत्वाद्यदि विभाव्येत तदा तु तदीयत्वेन तत्फलतीति प्रतीकसहितग्रन्थो हेयः । तत्रत्योत्रे ब्राह्मणे जैमिनिरित्यब्राह्मी-करिष्यमाणत्वाच्चेति चकारं पूर्यित्वा हेतुग्राह्यः । उपष्टभन्तीति । त्रयादिरयं प्रयुक्तः । खरवर्णो-नुक्रमद्वैमधातुपाठे तु एषु स्तम्भे, भ्वा. आ. सेट्, उदिदन्तमिति भ्वादिरयं तदनुसारेण शब्दविक-रणम् । अत्र प्राणेत्यादीति । भक्तस्येति । आत्मकामशब्दे काम इच्छा सा च 'अलमन्यविचारेण प्रेमेच्छेति स्थितं मत'मिति विश्वनाथः प्रेमरसायनकारः ततश्चात्मस्नेह इत्यर्थो भवति, अत उक्तं भक्तस्येति । मुख्यवाचकात्मशब्दग्रहणेन तत्र कामरूपप्रेम्णा गोपालतापिनीयोत्तरीत्यानाविष्कुर्वन् कामप्रेमविनियोगात् । स्नेहातिशयेत्यादिः परानुरक्तिभक्तिधर्मानाहुः स्नेहातिशयेति । आतिशब्दा-दातृत्वं चतुर्धधिकारेष्वासां ब्रजस्त्रीप्रभृतीनामुक्तम् । प्रभरगीते स्फुटे यत्तदाहुः । येन मरणमि-त्यादि । ननु वृत्तेर्द्वैविध्यमत आहुः भगवत्प्राकट्येनेति । इदं त्रिचत्वारिंशाध्याये 'आगमिष्यत्य-दीर्घेण कालेने'तिश्लोकव्याख्याने 'नन्दं द्रष्टुं समागत एव भगवा'निति सुबोधिन्योक्तम् । नन्दोद्धवसंवाद-समये भगवत्स्तिरोहितत्वेवमुक्तेः । ननु वृत्तेर्द्वैविध्यमत आहुः तात्पर्यवृत्तिरिति । भाष्ये । प्राकट्यस्येति । निबन्धोक्तप्रणाड्या प्राकट्यं तस्य । 'भगवानेव हि फलं स यथाविधेवेद्भवी'ति निरोधलक्षणग्रन्थात्परमफलत्वं तेन । आपाः कामा येनेत्याप्तकामः । काम्यन्त इति कामा अनन्त-कल्याणगुणास्तत्रात्मदर्शनस्यापि सत्त्वात् । 'एकदा हि ब्रजस्त्रियः सकामाः सर्वरीमुषित्वा सर्वेश्वरं गोपालं कृष्णं हि ता ऊचिर' इति गोपालतापिनीयारम्भः 'गान्धर्वी गच्छ त्वं खालयान्तिक'मित्युपसंहारस्ता-भ्यामाप्तकामत्वं ब्रजस्त्रीणां । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्य' इति श्रुतेश्च । पूर्वपादान्ते सूत्रोक्तरीत्या मननं प्रभुचरणैर्नात्रोक्तम् । चतुर्थस्कन्धीये तत्त्वदीपप्रकाशे सम्यगव्युत्पादितत्वादित्युक्तमतः ऋषिरूपाणां श्लेषां चानुरोधेन सायुज्यकामनाभाहुः ततः साक्षादिति । प्रभरगीते लौकिकभाषया श्रुतिरूपाणामपि कामनिरूपणात् सायुज्यकामना बोध्या । सर्वदा तु भक्तौ तात्पर्योद्भक्ता एव ब्रजस्त्रियः ।

१. अत्रेति प्रकाशे । २. पुष्टिप्रवाहमर्थादाप्रन्नादिति स्यात् ।

बहिःप्रकटस्यैवान्तरपि प्राकट्यादुत्क्रमणाभाव उच्यते । आत्मातिरिक्तस्य गति-शुक्त्वा तस्य तामाह 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यनेन । उक्तरीत्या पुरुषोत्तमात्मक-तल्लीलोपयोगिदेहेन्द्रियादिसम्पत्त्या ब्रह्मैव सन्, न तु ब्रह्मातिरिक्तदेहादिमानपि, तादृशः सन्, ब्रह्म बृहत्त्वात् बृहर्णवत्त्वात् पुरुषोत्तमस्वरूपं प्राप्तो भवतीत्यर्थः । अन्यथा जीवस्य ब्रह्मांशत्वेनानन्दांशाविर्भावेन च ब्रह्मत्वे प्राणादिलयोक्त्या तदितरव्यवच्छेदे चानुक्तसिद्धे सति 'ब्रह्मैव स'न्निति न वदेत् । अत एवैतदग्रे श्लोकोक्तिः 'अथ मर्त्याऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति । मृतिधर्म-वच्छरीरं हि मर्त्यम्, तद्वत्त्वेन जीवोपि तथोच्यते । तथाचायं पूर्व तादृश एव, अथ पुष्टिलीलाप्रवेशानन्तरममृत उक्तरूपशरीरवान् भवति, ततोत्र अस्मिन्नेव शरीरेब्रह्म सम्यगश्नुते । भगवता क्रियमाणलीलारसमनुभवतीत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

मिप्रेत इत्यत्र किं गमकमित्यत आहुः अन्यथेत्यादि । तथाच 'ब्रह्मैव स'न्नित्यस्यान्यथावैयर्थ्या-पत्तिरेव गमिकेत्यर्थः । उक्तोपष्टम्भाय गमकान्तरमाहुः अत एवेत्यादि । तथा चात्र 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मे'त्युक्तरीतिको ब्रह्मभावो यदि 'ब्रह्मैव स'न्नित्यत्रामिप्रेतः स्यात्, तदास्मिन् श्लोके 'अथ मर्त्याऽमृतो भवती'त्येतावदेव वदेत्, न त दुरीयं पादम् । अतो यथोक्त एव श्रुत्यर्थ इत्यर्थः । एवमुपोद्घातेन पुष्टिमागीयस्य लौकिकदेहक्षणं नाम प्राणादीनां ब्रह्मणि लय इति सिद्धम् । तदेतत्पूर्वपादान्तमग्रे एव विचारणीयम् । तथाप्येतत्प्रणयनं प्रति तस्य हेतुत्वं न स्फुटं भवेदिति तत्रानुत्त्वा अत्र विचारितमिति हेयम् । तदेतत् हृदि कृत्वाचार्यः प्रकृतं विचा-रश्मिः ।

बहिरिति । सद्योमुक्त्यर्थ, आत्मस्थित्यर्थ वा बहिःप्रकटस्य । उत्क्रमणेति । छान्दोग्यीयाष्टमोप-देशोक्तरीत्या प्राणेन्द्रियादीनां लयस्थानेन्तःप्रकटे लयादुत्क्रमणाभाव उच्यत इत्यर्थः । आत्माति-रिक्तस्येति । सूक्ष्मदेहस्य । तस्येति । भक्तस्य । तां गतिं, ननु विरहं विना पूर्णमक्त्यभावाद्द्विरेहे च ब्रह्मण-भ्रान्तरत्वेन बहिःप्राकट्याभावात् कथं पुरुषोत्तमप्राप्तिरत आहुः । ब्रह्म बृहत्त्वादिति । अत एव बृहत्त्वात् बृहर्णत्वाच्च ब्रह्मेति लक्षणमादृतं न स्वरूपलक्षणं नापि कार्यलक्षणमिति बोध्यम् । तदितरेति । ब्रह्मातिरिक्तयोगव्यवच्छेदे । तद्वत्त्वेनेति । मर्त्यशरीरवत्त्वेन । तथोच्यत इति । मर्त्यत्वेनोच्यते । तादृश इति । मर्त्यः । ब्रह्मसम्यगिति । सायुज्ये परमात्मन एव ब्रह्माशनम् । सन्दिग्धमुक्तौ तु निर्णीतायां सम्यगन्तरात्मब्रह्मात्मनोरपि ब्रह्माशनमिति सम्यगश्नुत इत्यर्थः । अश्नुत इत्यस्य न व्याप्नो-तीत्यर्थ आनन्दमयाधिकरणे दृष्टत्वात्, नाप्यश्रातीत्यर्थः । द्वितीयत्वाभावात् । अतो धातुनामनेकार्थ-स्वादर्थान्तरमाहुः भगवतेति । आविर्भूतभगवताष्टमोपदेशोक्तेनैक्यं गतेन । त्रियमाणस्याग्निमावस्था-निरूपणे पादार्थसङ्गतेः । तेन नासम्भवः । अनुभवतीति । पूर्णा भगवदीयाः सदा, अन्ये तु कदापि-दिति विवेकः । प्रकृते । उपोद्घातेनेति । त्रियमाणस्यास्याग्निमावस्थानिरूपणोपोद्घातेन । 'चिन्तां प्रकृत-सिद्धार्थामुपोद्घातं विदुर्बुधा' इत्युपोद्घातलक्षणम् । तदेतदिति । क्षणम् । एवेति । 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वे'ति क्षणोक्तेरेवकारः । हेतुत्वार्थमिति । तथा च हेतुहेतुमद्भावः पूर्वोत्तरपादयोः सङ्गतिरिति

१. बृहर्णत्वावितिरश्मौ । २. प्राप्तेतीति पाठः ।

भगवान् वादरायण इमामेव श्रुतिं विषयीकृत्य तत्रोक्तप्राणानां लय एकदैव, उत क्रमनियमोऽस्तीति संशये निर्णयमाह वाङ्मनसीति । तत्र हेतु-दर्शनादिति ।

एतदुक्तं भवति । भक्तेः स्नेहात्मकत्वात्तस्य प्रभुप्राकट्यफलकत्वात्तदौत्कट्ये तस्यावश्यकत्वात् 'अयं मां पश्यत्विति' प्रभिवच्छया तस्मिन् सम्पन्ने, चक्षुर्भ्यां मनसा च तद्रूपमृतमनुभवतः स कोप्युक्तो भावः समजनि, येन प्रभुणा सह

भाष्यप्रकाशः ।

रयतीत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति भगवानित्यादि । निर्णयमाहेति । उक्तश्रुतौ सामान्यतो लयश्रावणाह्वयो युगपदेव युक्त इति पूर्वपक्षनिरासाय निर्णयमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्तः क्रमनियमे दर्शनस्य कथं हेतुत्वमित्यतो व्युत्पादयन्ति एतदित्यादि । तदौत्कट्य इति । भक्तस्योत्कण्ठायाम् । तदौत्कट्य इति पाठे तु स्नेहौत्कट्य इत्यर्थो बोध्यः । तत्रैव सङ्गता इति । मनसैव सर्वे प्राणाः समागताः । शेषं स्फुटम् ॥ १ ॥

रश्मिः ।

न स्फुटं भवेदित्यपि बोध्यम् । प्रकृतमिति । त्रियमाणस्याग्निमावस्थानम् । क्रमनियम इति । एतेन तत्रेतिभाष्यस्योक्तस्य क्रम इत्यर्थो बोधितः । एतदित्यादीति । अकामयमानप्रकरणाद् ब्रह्मसम-शनकथनाद्विषयवाक्ये एतद्ब्रह्ममाणमुक्तं भवति । न च प्रकरणानुरोधेपि 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतुसश्च मानवः । आत्मनैव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते' इतिवाक्योक्ताकामयमानस्य छान्दोग्यीयाष्टोप-देशोक्तब्रह्मसमशनस्य सर्वसाधारण्यस्य सम्भवः 'तद्यथा हि निर्व्वेदिनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयितैव मेवेदंशरीरंशेत' इति श्रुतेरत एव 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चनेति वाक्याविषयत्वमिति वाच्यम् । गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय इति न्यायेन वक्ष्यमाणस्य निरुक्तेः । एतेनैव सर्वसाधारणब्रह्मसमशनस्यापि सिद्धेः । किञ्च 'तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ धर्मस्यैष सेतु'रिति श्रुत्यन्तरोक्तो गुणः । अत उक्तमेतदुक्तं भवतीति । अत एव 'गूढं ब्रह्मणि वाङ्मय' इति तृतीयस्कन्धवाक्यम् । वाङ्मये वेदे गूढम् । गूढं संवरणे । संवरणं भक्ति-स्तद्विषय इत्यर्थः । स्वार्थे ध्वजमभिप्रेत्याहुः उत्कण्ठायामिति । भाष्ये । तस्येति । प्रभुप्राक-ट्यस्य । न विषयसन्निधिमात्रेण पुरुषोत्तमप्रत्यक्षमलौकिकत्वव्याहतेरत आहुः अयं मामिति । तस्मिन्निति । दर्शने । चक्षुर्भ्यामिति प्रभिवच्छयेत्येतेन तया विशेषाधानं, एवमग्रेपि । स विशेषः क इति चेत् ? शृणु । ससात्रब्राह्मणे बृहदारण्यके आत्मने ग्रीण्यकुस्तेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मने कुस्तेति व्याख्यायाग्र आह । 'विज्ञात विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत् किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं, वाग्धि विज्ञातावागेनं तद्भूत्वावती'त्युक्तम् । अत्रात्मने स्वस्मै । एत इति वाङ्मनःप्राणाः । एनमित्यादि । एनं वाग्धिवदं भगवदिच्छया कृतवाग्धिशेषविदं तद्भूत्वा विज्ञातस्वरूपं भूत्वावतीति । अथार्था उक्ता अस्माभिर्मन्यान्तरेतस्ततोवसेयाः । एवमग्रेपि, यत् किञ्च विजिज्ञास्यम् । मनसस्तद्रूपं मनो हि विजि-ज्ञास्य मन एनं तद्भूत्वावति । यत् किञ्चाविज्ञातम् । प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भू-त्वावतीत्यनयोरर्थो ज्ञेयः । अत उक्तं तद्रूपमृतमनुभवत इति । तद्रूपं चक्षुर्विषयं अमृतमानन्दरूपम् । 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाती'ति श्रुतेः । ननु विरहे सर्वोपमदं कथमानन्दानुभव इति चेत् ? न । विरहे ये भावा रसस्वमावादानन्दरूपास्तेषामनुभवे बाधकाभावात् । 'भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना

सर्वेन्द्रियव्यापारकृतीच्छा समभूत् । तत्र तेषामसामर्थ्यात् भगवदानन्दसम्ब-न्धिमनःसम्बन्धेन तं प्राप्स्याम इति तत्रैव सङ्गताः तेनानन्देन सम्पन्ना जाताः । अयमेवाधोऽनेन सूत्रेणाग्निमेण च 'अत एव सर्वाण्यन्वि'ति सूत्रेण निरूप्यते । दर्शनानन्तरमादौ सह सम्भाषणेच्छैव जन्यत इति, 'वाङ्मनसि सम्पद्यत' इति छान्दोग्ये स्फुटोक्ते संमत्या चादौ सैवोक्ता । एवं सति वाङ्मनसि सङ्गता सती भगवदानन्देन सम्पद्यत इति सूत्रार्थः सम्पद्यते । 'दर्शनाभावेपि वेण्वादिशब्दा-दपि तथा सम्पद्यत इति हेत्वन्तरमाह शब्दाच्चेति ॥ १ ॥

अत एव सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

अत एव दर्शनाच्छब्दाच्च हेतोः सर्वाणीन्द्रियाणि, अनु सान्निध्यात् वाचः पश्चान् मनसि सङ्गतानि भगवदानन्देन सम्पद्यन्त इत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

अत एव सर्वाण्यनु ॥ २ ॥ एतेन श्रुतौ वाक्यदमिन्द्रियान्तराणामप्युपलक्षकमिति बोधितम् । भाष्यमत्र स्फुटार्थम् ।

रश्मिः ।

कचित्, आत्मत्वाद्भक्तवश्यत्वात् सत्यवाकत्वात् स्वभावत इति वाक्यं चेति । सर्वेन्द्रियेति । ऋषिरूपाणां ब्राह्मणसारात्तथान्येषां, श्रुतिरूपाणां भक्त्यादरात्त्रिरोधलक्षणप्रन्धोक्तरीत्या सर्वात्मभावरूपसर्वेन्द्रिय-व्यापारकृतीच्छाभेदेन बोध्या । तत्र तेषामिति । पूर्णभगवदीयानां सामर्थ्यं तत्र पूर्णविरहानुभवे फलकेन्येषां तु अलौकिकसामर्थ्यरूपे सेवाफले जात एवेति तदभावेनासामर्थ्यात् । 'मन आनन्द'मिति श्रुतेराहुः । भगवदानन्दसम्बन्धिमनःसम्बन्धेनेति तमानन्दं प्राप्स्यामः । उपलक्षणमेतत् । मनस्य भोजः प्राप्स्याम इत्यलौकिकसामर्थ्यं प्राप्तम् । भगवत्सेवायाः सत्त्वात् । तेनेति । मानसी-नानन्देन वागादयः सामानाधिकरण्यं प्राप्यानन्दसम्पन्ना जाता इति तेषां जाताः । जानातीच्छति यतत इति कार्यकारणभावादाहुः दर्शनानन्तरमिति । एवेति । खानुभवादेवकारः । छान्दोग्य इति । श्वेतकेतुपाख्याने । तं मत्त्वेति । अर्थं मत्त्वार्थस्य मननं कृत्वा । सैवेति । वागेव । भगव-दिति । छान्दोग्येष्टमोपदेशेप्यधोक्षजानन्दो वर्तत इति तथा । 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरा-यणः, सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिञ्चपि महासुने' इति षष्ठस्कन्धादाहुः दर्शनेति । विरहे वेण्वा-दिसम्बन्धात् । आदिना सिद्धान्तरहस्यीयभगवत्सम्बन्धात् । प्रकृतेः । समागता इति । सम्पद्यत इति गत्यर्थकधातुप्रयोगात् ॥ १ ॥

अत एव सर्वाण्यनु ॥ २ ॥ सूत्रप्रयोजनं वाक्यदस्योपलक्षकत्वबोधनमित्याहुरेतेनेति । सूत्रेणेत्यर्थः । स्फुटार्थमिति । स्फुटोर्थो यस्येति स्फुटार्थम् । भगवदानन्देनेति । पूर्वसूत्र उक्तम् । अर्भति । अभितः परमार्थत्वेन सम्पद्यतत्वम् । तेषामिति । दूषणत्रयेण विषयत्वं बोधयितुम् । केचिदित्यादीति । वाग्वृत्तीति, वाग्व्यापारो 'व्यापारपक्रियाध्यानं सर्वथैव परित्यजे'दित्यत्र त्याग-विषयस्तत्परत्वम् । तत्राशं वाग्वृत्तिनाशं वदन्तीत्यर्थः । तत्रेत्यादीति । तत्सरूपमिति । वाग्वृत्तेः समानं रूपं स्वभावसौन्दर्यं यस्य वाक्यस्य सूत्रस्य । वाग्वृत्तित्वेपि न वाग्वृत्तिरूपं सूत्रम् । वाक्य-मित्यत्र वाक्यदमिति पाठो वा बाहुलकात् । तन्निर्णयेति । वाग्वृत्तिनिर्णयार्थम् । एवं वाग्वृत्तिर्-मनसि सम्पद्यत इति पाठभेदापत्तिरूपो एको दोष उक्तः । दोषद्वयमन्यदाहुः मुख्यार्थेति । मुख्यार्थो

१. 'स्फुटोक्ते संमत्या' इति हस्ताक्षरादर्शो, 'स्फुटोक्तेस्तंमत्या' इत्यन्यादयोषु; 'स्फुटोक्तेस्तं मत्वा' इति रश्मौ ।

केचित्स्वप्न छान्दोग्यस्य 'वाक्चानसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवताया'मिति वाक्यं विषयत्वेन उक्त्वा, सूत्रे वाक्पदस्य तद्वृत्तिपरत्वं वदन्ति, सम्पत्तिं तन्नाशं च ।

तन्न साधीयः । तथाहि । वाक्पदस्य वृत्तिपरत्वं चेच्छ्रुत्यभिमतं स्यात्, सूत्रकारस्तदा तथैव वदेत्, न तु तत्स्वरूपमेव वाक्यम् । तन्निर्णयार्थमेव प्रवृत्तेः । मुख्यार्थत्यागो लक्षणापत्तिश्च । किञ्च, एवं 'मनसी'ति पदवैयर्थ्यं स्यात्, विषयवाक्योक्तक्रमत्यागानुपपत्तिश्चेति ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

ननु या छान्दोग्यश्रुतिरत्र सम्पत्तिर्वेन दर्शिता, सैवात्र सर्वाहत्त्वादिष्यवाक्यत्वेना-
दरणीया, ततश्च कथं भवदुक्तस्यार्थस्याभिसंहितत्वमित्याकाङ्क्षायामन्यमते तेषां बोधयितुं मतान्तर-
मनुवदन्ति केचिदित्यादि । ते हि हिरण्यगर्भादिविद्यास्वपरासु च विद्यासु फलप्राप्तये देवयानं
पन्थानमवतारयिष्यन्तो यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिक्रमकथनं विद्मद्विदुषोरुत्क्रान्तौ प्रकारसाम्यं च
व्यासाभिमतमङ्गीकुर्वन्त उक्तरीत्या वदन्तीत्यर्थः । तन्न तथेति बोधनाय दूषयन्ति तद्धेत्यादि ।
ननु सत्यमस्तीदं दूषणत्रयम्, तथाप्यग्रे 'अविभागो वचना'दित्यनेन तत्त्वप्रलयस्य वक्ष्यमाण-
त्वादत्र वृत्तिप्रलय आद्रियत इति व्यासाशयस्य तैर्बोधनाददोष इत्यत आहुः किञ्चेत्यादि ।
यद्यपि तत्त्वप्रमन्यार्थम्, तथापि स्वोक्तसमर्थनाय तथार्थादरेपि सम्पत्तिपदस्य वृत्त्युपसंहारार्थ-
कतया वृत्तिनाशनाथत्वमेवाभिप्रेतम्, यथाङ्गिरसः । तथा सति निरन्वयो वृत्तिध्वंस इति
ध्वंसकसंसर्गमात्रस्यैवापेक्षणेन ध्वंसकस्य तत्राधिकरणतानपेक्षणान्मनसीत्यधिकरणबोधकपदवैय-
र्थ्यम् । नन्वधिकरणत्वेऽनपेक्षितेऽप्यग्रेऽप्युत्तरे प्रक्षेपे वृत्तिनाशस्य दर्शनाच्च मनसीत्यस्य वैयर्थ्यमि-
त्यतो दूषणान्तरमाहुः विषयेत्यादि । स्यादवैयर्थ्यम्, यदि विषयवाक्यत्वमस्य स्यात् । तदेव
तु न । यत एतस्य विषयवाक्यत्वे सन्नकृता तेजस्त्यागेन प्राणस्य करणाध्यक्षे जीवे लयकथनाद्यः
क्रमत्यागस्तदनुपपत्तिश्चेत्यतो व्यासानभिप्रेतत्वावगमादनेकदोषप्रसक्तं तथा व्याख्यानमयुक्तमित्यर्थः ॥

यत्तु दर्शनादित्यस्य व्याख्यानम् । दृश्यते हि वाग्बुद्धेर्मनोवृत्ताववस्थितायां पूर्वोपसंहार
इति । तदपि न युक्तम् । परमनोवृत्तेर्वोवृत्तिद्वारैव गोचरतायाः प्रत्यक्षसिद्धत्वेन वाग्बुद्ध्यभावे
तदवस्थित्यवगतेरशक्यवचनत्वात् । तथा विद्मद्विदुषोरुत्क्रान्तिप्रकारसाम्याङ्गीकारेऽपीन्द्रि-
यवृत्त्युपसंहारो न युक्तः । प्रश्नोपनिषदि 'इन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैरित्यत्रापि लक्षणापत्त्या
सम्पत्तिपदस्य नाशार्थाङ्गीकारे च बृहदारण्यकीयशारीरकब्राह्मणस्यायां 'एकीभवति न पश्यतीत्या-
रश्मिः ।

वाक्पदस्य शब्दस्तस्य त्यागः लक्षणा वाचस्तद्वृत्तीनां च जन्यजनकभावः सम्बन्धः । तेन स्ववृत्तौ
लक्षणा वाक्पदस्य । अनेनेति सूत्रेण । अत्रेत्यस्मिन् सूत्रद्वयके । वृत्तीति । वाग्बुद्धिप्रलयः ।
व्यासेति । व्यासाभिप्रायस्य । तैरिति । कैश्चित् । दूषणत्रयेऽप्यदोषः । तत्सूत्रमिति । अवि-
भागसूत्रम् । निरन्वय इति । नास्तिकप्रसिद्धो द्वितीयाध्याये तन्मतखण्डनप्रसङ्ग उक्तार्थः । ध्वंस-
केति । मनःसंसर्गमात्रस्य मनस्येवमागच्छति केनापि न सम्भाषणं कार्यं भगवन्नामैव ग्राह्यमिति लोके मनः-
सङ्कल्पवृत्तिः । ध्वंसकस्येति । मनसः । न मनसीति । वाग्बुद्धीनामुत्तरीत्या मनसि प्रक्षेपेधिकरण-
बोधकमनसीत्यस्य न वैयर्थ्यमित्यर्थः । मनोवृत्ताविति । सङ्कल्परूपायाम् । पूर्ववाचां मनस्युपसंहारः ।
तदवस्थित्येति । मनोवृत्त्यवस्थित्यवगतेः । लक्षणेति । श्रुताविन्द्रियैरित्येन्द्रियवृत्तिभिरित्यर्थः ॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तसर्वेन्द्रियवैशिष्ट्यवन्मनः प्राणे सम्पद्यते, न तु केवलम् । तत्र हेतुः ।
उत्तरादिति । 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतन-
मलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पति-
त्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयत' इत्युक्त्वा, तत्र हेतुसूत्रेण वाक्ये-
नाह 'प्राणबन्धनं हि सौम्य मन' इति । तस्माद्धेतोस्तथेत्यर्थः ॥ ३ ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

सर्वेन्द्रियविशिष्टमनोविशिष्टः प्राणोऽध्यक्षे पुरो हृदि वा प्रकटे भगवति

भाष्यप्रकाशः ।

हुंरित्यादिरूपायां च श्रुतौ लक्षणापत्त्या श्रुतिपीडाया दुर्बोत्त्वापत्तेः । अत एतेषु सूत्रेषु लक्ष-
णमित्यवस्थापनायकथनमयुक्तम्, किन्तु मुख्यतया सद्योमुच्यमानव्यवस्थायामिन्द्रियलयक्रमः,
प्रासङ्गिकस्तूकमिष्यद्वृत्तान्तः । 'ओकोग्रज्वलन'सूत्रादिभिस्तस्यापि वक्ष्यमाणत्वादिति ।

यदपि भामतीनिबन्धे, वाचस्तूपसंहारमदृष्टं नागमोपि गमयितुमर्हति । आगमप्रभव-
युक्तिविरोधात् । आगमो हि दृष्टानुसारतः प्रकृतौ विकाराणां लयमाहेत्युक्तम् ।

तदपि व्याख्येयग्रन्थपूजामात्रम् । आगमस्य सर्वत्र दृष्टानुसारित्वादर्शनेन युक्तेः शिथिल-
त्वादिति । तस्मादेतस्य विषयवाक्यत्वमयुक्तमेवेति पूर्वोक्तमेव विषयवाक्यम्, तथैवाव्या-
भिप्रेत इति ध्येयम् ॥ २ ॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥ अत्र भाष्यमुत्तानार्थम् । श्रुतिस्तु छान्दोग्ये श्वेत-
केतूपाख्यानस्था ॥ ३ ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥ अत्रापि भाष्यमुत्तानार्थम् ।

अत्रेदमर्थात् सम्पद्यते । अत्यनुग्रहभाजनस्य पुष्टिमार्गीयस्योक्तप्रकारेण वागादिप्राणान्तानां

रश्मिः ।

न्यजनकरूपरूपलक्षणापत्त्या । नाशार्थेति । निरन्वयध्वंसार्थाङ्गीकारे च । बृहदिति । 'न तस्मात्
प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव सपवनीयन्त' इत्यस्याम् । लक्षणेति । समवनयस्यैकीभावस्य च निरन्वय-
ध्वंसत्वाभावेन सान्वयध्वंसवाचकयोर्निरन्वयध्वंसे लक्षणा विपरीतलक्षणा, तस्या आपत्त्या । तस्या-
पीति । उत्क्रमिष्यद्वृत्तान्तस्यापि । उपसंहारमिति । मनस्युपसंहारम् । आगमः पञ्चरात्रम् ।
इत्युक्तमिति । भामतीनिबन्ध इत्यनेनान्वेति ॥ २ ॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥ उत्तानेति । पूर्वोक्तेति । मतुषन्तम् । तथेति ।
मनः प्राणे सम्पद्यते । एवमुत्तानार्थम् ॥ ३ ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥ उत्तानेति । मुण्डकोपनिषदतुरोधेनाहुः । उपगम
इति । मर्यादामार्गसासन्दिग्धत्वादाहुः । पुष्टीति । 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेः । प्रवचनादिनिषेधा-

सम्पद्यत इत्यर्थः । अत्र हेतुः । उपगमादिभ्य इति । उपगमोऽभ्युपगमः पुष्टि-
मार्गोऽङ्गीकार इति यावत् । ततस्तथेत्यर्थः । आदिपदाद् भगवद्भक्तीकरणसमर्थः
स्नेहः प्रभ्वनिष्कितार्थत्यागस्तदनु रूपं भजनं च । अभ्युपगमे सिद्धे स्नेहादयो-
ऽवश्यं भवन्त्येवेत्याशयेन, तदादित्वमुक्तम्, नोद्देशः कृतः । मर्यादामार्गो-
ऽङ्गीकृतानां तु मुक्तिपर्यवसायित्वेन मुमुक्षुत्वादुत्कटस्नेहासम्भवेन प्रभुप्राकट्या-
सम्भवात् स्वस्वप्रकृतौ सङ्घातलये शुद्धजीवस्य भगवदनुग्रहेण श्रवणादिरूपया
तथाविधस्नेहरूपया च भक्त्या मुक्तिः सम्पद्यत इति बह्वेव तारतम्यमिति निगृ-

भाष्यप्रकाशः ।

लये तदानीमेव पुरुषोत्तमात्मकदेहप्राप्त्या लीलात्मकभोगसम्पत्तिः । ततो न्यूनस्य तस्य तु
पुरुषोत्तमे लयः, ततः सम्पद्याविर्भावाधिकरणोक्तरीत्या भगवता तस्य स्वरूपाभिष्कासने पुरुषो-
त्तमात्मकदेहसम्पत्त्या लीलानुभव इति बोध्यम् ।

अन्ये तु, अध्यक्षपदे करणाध्यक्षं जीवम्, उपगमादिपदे च ज्योतिर्ब्राह्मणे 'एवमेवममा-
रक्षिः ।

दस्याः पुष्टिमार्गीयत्वम् । तथेति । प्राणो भगवति सम्पद्यते । भगवद्भक्तीति । 'नायमात्मा बल-
हीनेन लभ्यः' इति श्रुतेः । बलं भक्तिरिति भाष्यम् । भक्तौ बलपदप्रयोगेन तात्पर्यार्थः वशीकरण-
समर्थ इति विशेषणम् । प्रभिवति । 'इङ्गितं गतिवेष्टयो'रिति विश्वात्, भगवतः सेनायामकालत्यागः,
अर्थस्य त्यागो व्ययः । तदुक्तं उक्ते । 'न च प्रमादादि'ति श्रुतेः । उभयमप्यप्रमादरूपम् ।
तदनु रूपं भगवदनु रूपं भजनं महाराजोपचारकरणरूपम् । 'एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वानि'ति श्रुतेः ।
नोद्देश इति । पुष्टिमार्गोऽङ्गीकारदीनामुद्देशो नामा पदार्थसङ्कीर्तनम् । अत्र पुष्टिमार्गोऽङ्गीकारे बीजं वक्तुं
मर्यादायां स्पष्टत्वं मुक्तिपर्यवसायिनीत्वं न तु नित्यलीलाभावे पर्यवसायिनीत्वम् । स तु मर्यादास्ने-
नात्यन्तानुग्रहवता लब्धपुष्टिना लभ्य इति तारतम्यमाहुः । मर्यादेति । मुक्तीति । 'मार्गास्त्रयो मया
प्रोक्ता' इति 'भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्सम न भक्तियोग'मिति मुक्तिपर्यवसा-
यित्वं भक्तेः । साधनचतुष्टयसम्पत्त्यन्तर्गतं मुमुक्षुत्वम् । तस्मात् । तथा च श्रुतिगोपालतापनीये
'मुमुक्षुर्धै शरणमनुग्रजे'दिति । तदुक्तं 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः । भगवद्भजने योग्या नान्य
इत्यर्थतः फल'मिति सुबोधिन्याम् । उत्कटेति । मर्यादामार्गोऽङ्गीकारस्वभावात्, स्नेहासम्भवो नास्त्यत उत्क-
टेति विशेषणम् । स्नेहत्वेन सायुज्यत्वेन कार्यकारणभावात् प्रभुप्राकट्यसम्भवाभावरूपफलाभाव उक्तः ।
न च भगवदाविर्भावाभावेन न सद्योमुक्तिः, किन्तु ज्ञानिविलक्षणचरणमुक्तिस्तु स्यादिति वाच्यम् ।
सङ्घातस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अतस्तत्त्वं विदुष आहुः । स्वप्रकृत्याविति । स्वयोनौ । श्रुतिस्तु, अग्रिमा-
धिकरणेति । शुद्धेति । शुद्धशुद्धमुक्तस्वभावनिराकारजीवस्य । 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यव-
स्थिति'रित्येकादशस्कन्धात् । ननु सङ्घातद्वयरहितस्य करणादिः कुत इत्यत आहुः । भगवदनुग्र-
हेणति । तथा च भगवत्सन्निधानस्यावर्जनीयत्वान्भर्यादायां महापुरुषाङ्गीकाराच्च 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं
सर्वेन्द्रियविवर्जित'मिति गीतायां ब्रह्मलक्षणनिविष्टवाक्याद् भगवदनुग्रहेण सर्वेन्द्रियासफलनात् । अत
आहुः । श्रवणादिरूपयेति । नापि पुष्टिमार्गीयप्रभेयबलेन सर्वेन्द्रियगुणाभासत्वम् । भाष्ये भगव-
दनुग्रहेणेत्यत्रान्तानुग्रहपदाभावात् । अत्यन्तानुग्रहत्वेन पुष्टित्वेन कार्यकारणभावात् । 'आश्रयो
वक्ता कुशलोऽस्य लब्धे'ति काठकादाश्रयं च । तदुक्तं 'आश्रयवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्रयवद्भवति तथैव
चान्य'इति गीतायाम् । तथाविधेति । श्रवणादिजन्यस्नेहरूपया । भक्त्येति । मर्यादाभक्त्या ।

दाशयेनेवमुक्तम् । अभ्युपगमादयस्तु मुण्डकोपनिषत्सु पठ्यन्ते । 'नायमात्मे'-
त्युपक्रम्य, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यै' आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् । नायमात्मा
बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाथ लिङ्गात् । एतैरुपायैर्यतते यस्तु
विद्वान्स्तस्यै आत्मा विशते ब्रह्मधामे'ति ॥ ४ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे प्रथमं वाङ्मनोधिकरणम् ॥ १ ॥

उक्तं निगृह्यमाशयं प्रकटयति ।

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥ (४-२-२.)

ननु मर्यादामार्गीयाणामप्येवमेव वागादिलयः, उतान्यथेति संशये
निर्णयमाह । तेषां ते भूतेषु लीयन्ते, न तूक्तरीत्या भगवति । अत्र प्रमाण-

भाष्यप्रकाशः ।

त्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ती'त्यनेनोक्तमुपगमनम्, शारीरब्राह्मणे 'तद्युक्तामन्तं
प्राणोऽनुक्तामती'त्युक्तमनुगमनम्, 'सविज्ञानो भवती'त्यनेनोक्तमवस्थानं च व्याकुर्वन्ति । तदा
छान्दोग्यस्य कस्याप्यर्थस्यानङ्गीकारात् कथं तस्य विषयवाक्यत्वमित्यापि ध्येयम् ॥ ४ ॥

इति प्रथमं वाङ्मनोधिकरणम् ॥ १ ॥

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥ अधिकरणमवतारयन्ति नन्वित्यादि । इति संशये निर्णय-
माहेति । एवं संशये भगवन्मार्गत्वस्याविशिष्टत्वेनात्रापि पूर्ववदेव वागादिलय इति पूर्व-
पक्षवताराभिर्णयमाहेत्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति तेषामित्यादि । हेतुबोधिकां श्रुतिमुदाहरन्ति
रश्मिः ।

तदुक्तं भक्तिर्हसे 'भक्तिमार्गः श्रवणादिसरणिरूप' इति । स चैकादशैकोनविंशाध्यायोक्तो ब्राह्मः ।
'पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं पर'मितिवाक्ये परपदात् परं फलाविसंवादि तेन शरणगमना-
नन्तरमात्मनिवेदनमपि श्रोतव्यं भगवत्सन्निधान इति बोधितम् । सप्तदशाष्टदशाध्यायोक्ता भक्तिः
सर्वोत्तममार्गीया, तथापि तथा भक्त्यजननदर्शनाच्च गृहीता । मुक्तिरिति । पुरुषोत्तमचरणसायुज्यम् ।
चरणस्य वैकुण्ठादिरूपत्वाद्ब्रह्मादिरूपत्वं बोध्यम् । 'प्रायो बतम्व विहगा मुनयो वनेस्मिन्नि'ति
वाक्यात् । पुष्टिमार्गोप्ययमुच्यते 'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान' इति सन्ध्याश्रुतेः । अस्यां तदाशया
प्रतिकृतिभजने फलसाधनविषययोर्भिन्नत्वेन व्यभिचारिणी भक्तिरिति । निगृह्याशयेनेति । भक्तिवि-
ध्याभिप्रायेण । मुण्डकेति । बहुत्वमान्यत्वात् । तनुं स्वामिति । स्वीयतनुत्वेन वृणुते । अ-
लिङ्गादिति । सर्वोत्तमभावलिङ्गशून्यात् । आत्मनोप्यात्मा । धाम अक्षरं अक्षरालम्बकं हृदयम् । एवमु-
त्तानार्थमित्यर्थः । प्रकृतमुच्यते सविज्ञान इति । विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानम् । इन्द्रियजालं प्राण-
सहितं तेन सह वर्तमानो भवति । अवस्थानमिति । सप्राणसेन्द्रियजालस्य प्राप्त्यव्यकर्मफलज्ञानवति
जीवेऽवस्थानम् । तदेत्यादिविषयवाक्योक्तार्थस्य सौत्रसइतिपूर्वपरामर्शकतच्छब्दस्य छान्दोग्यीयार्थ-
परामर्शकस्य सत्त्वेपि कस्यार्थस्येत्यादिः । तस्येति । ज्योतिर्ब्राह्मणादेः । विषयेति । तृतीयमेकसूत्र-
मधिकरणमिदं परेषाम् । इत्यपीति । अपिना सन्दिग्धत्वविषयवाक्यस्य व्याख्यानेन । नन्वस्येवं परन्तु
ग्रन्थान्तरेधिकरणमालायां प्राणच्छान्दोग्योक्तोत्रत्यविषयवाक्यैकवाक्यतया प्राणसहितो जीवस्तैजसि
क्षीनो भवतीत्युक्तेः कथं छान्दोग्यस्यस्य कस्याप्यर्थस्यानङ्गीकार इति चेन्न । एतद्ग्रन्थमात्रविषयत्वेन
दोषस्य ग्रन्थान्तरसम्भलेनेऽभावात् ॥ ४ ॥ इति प्रथमं वाङ्मनोधिकरणम् ॥ १ ॥

१. नाप्यभिप्रायेति रश्मिपाठः ।

९ अ० सू० २०

माह । तच्छ्रुतेः । 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं विशः श्रोत्रं पृथिवीः शरीरमाकाशमात्मसौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत' इति श्रुतेः ।

न चाविद्वद्विषयिणीयं श्रुतिरिति वाच्यम् । 'याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात् प्राणाः कामन्त्याहो नेति, नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्रयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेत' इति पूर्ववाक्यात् । न ह्यविदुषः प्राणानामनुत्क्रमः । 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामती'त्यादिश्रुतेः । ननु 'यत्रास्य पुरुषस्येत्युपक्रम्य 'रेतश्च निधीयत' इत्यन्ता श्रुतिरविद्वद्विषयिणीति मन्तव्यम् । यत एतदग्रे, 'कायं तदा पुरुषो भवती'ति प्रश्ने याज्ञवल्क्यार्तभागाभ्यां विचारितमुत्तरमुच्यते । 'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत् प्रशशः सतुः कर्म हैव तत् प्रशशः सतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेने'ति । एतेन कर्माश्रयस्तिष्ठतीति निर्णयः सम्पद्यते । एवं सति प्राणानुत्क्रमणोक्त्या सङ्घातलयोक्त्या च विद्वद्विषयत्वमप्रावसीयते, यतस्तस्यैवोक्तं द्वयं सम्भवति । अग्रिमश्रुत्युक्तकर्माश्रयत्वं च तस्मिन् विरुद्धम्, अतः पूर्वोत्तरविरोधाद्विषयानिश्चये प्राप्ते प्रतिवदामः । मर्यादामार्गीयविद्वद्विषयिण्येवेयं श्रुतिरिति । अत एव प्रश्ने, 'क तदा पुरुषो भवती'त्येतावतैव चारितार्थेयं

भाष्यप्रकाशः ।

यत्रास्येत्यादि । एतेन सूत्रस्य 'भूतेष्विति' पदं देवताया अप्युपलक्षकमिति बोधितम् । श्रुतिस्तु बृहदारण्यक आर्तभागब्राह्मणेऽस्ति । इयं श्रुतिरन्यैरविद्वद्विषयत्वेन व्याख्यातेति तन्निषेधन्ति न चेत्यादि । तथा चेतः पूर्वस्मिन् ग्रन्थे प्राणानुत्क्रमणरूपस्य युक्तिलिङ्गश्रावणाभाविद्वद्विषयत्वं तस्या वक्तुं शक्यमित्यर्थः । एवमस्याः श्रुतेरविद्वद्विषयतायां बाधके दर्शिते पुनरविद्वद्विषयतां साधयितुं पूर्वोत्तरश्रुत्योर्विरोधेन सन्देहमुत्थापयन् विद्वद्विषयतां प्रतिक्षिपति नन्वित्यादि । एतेनेति । विचारितनिर्धारकवाक्येन । एवं सतीति । उक्तप्रकारके विरुद्धवाक्यद्वये एकस्मिन् प्रकारेण श्रूयमाणे सति । विरुद्धमिति । अवसीयत इति शेषः । एवं रश्मिः ।

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥ बोधितमिति । स्वदेवतासहितायां प्रकृतौ योनौ निधानकथनाद्बोधितम् । न चेत्यादीति । याज्ञवल्क्यो नेति होवाचेत्यन्वयः । उच्छ्रयतीति । उच्छ्रयन्तां प्राप्नोति शोथेन । आध्मायतीतिवद्विद्वेन वायुना पुर्यत इत्यर्थः । मुक्तिलिङ्गस्येति । वक्ष्यमाणामुक्तलिङ्गाद्विपरीतं मुक्तिलिङ्गं तस्य । बाधक इति । प्राणानुत्क्रमणरूपे बाधके । पूर्वोत्तरेति । यत्रायं पुरुषो म्रियतेति पूर्वा, यत्रास्य पुरुषस्येत्युत्तरा, तयोः श्रुत्योः । नन्वित्यादीति । उच्यत इति । भगवतोच्यते श्रुत्या । उक्तेति । आर्तभागब्राह्मणप्रकारके । आर्तभागब्राह्मणे वाक्यद्वयमित्युक्तप्रकारकता । ऋतभागस्यापत्यमार्तभागः । विरुद्धेति । सङ्घातलयप्राणानुत्क्रमणबोधकवाक्यद्वये । एकस्मिन्निति । एकविद्वन्मात्रविषये देशकालरूपे प्रकारेण । विरुद्धमितीति । विद्वन्निष्ठज्ञानविरुद्धं, सहानवस्थायित्वं

१. उच्छ्रयतीति प्राचीनादर्शेषु, उच्छ्रयतीति रश्मौ ।

साधारणपुरुषव्यावृत्त्या मर्यादामार्गीयतत्प्रापकं 'अय'मिति पदम् । तस्यैवोपक्रान्तत्वात् तथा । अग्रिमविचारितोर्थोपि तद्विषयक एवेति बुध्यस्व । ननुक्तं बाधकमिति चेत् । हन्त श्रुतिशिरःसमाकलितमाकलय । मर्यादामार्गे हि विधिप्राधान्यम्, तथैव तन्निर्माणात् । तत्र खेवं कृत एवं फलं दास्ये, न त्वकृतेपीति भगवद्विच्छा, अतः कर्म प्रधानम् ।

एवं सत्यार्तभागस्यायमाशयः । वागादिरेतोऽन्तालयेन प्रारब्धस्यापि तदा नाशाच्छुद्धं जीवं विध्यविषयं कदाचित् पुष्टौ प्रवेशयति, न वेति संशयेन तदायं क मर्यादामार्ग एवोत पुष्टावपि प्रवेशितो भवतीति प्रश्नः । तदास्यार्थ-

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वपक्षमुत्थाप्य समादधते प्रतिवदाम इत्यादि । तस्यैवोपक्रान्तत्वादिति । प्राणानुत्क्रमलिङ्गेन विषय एवोपक्रान्तत्वात् । तदग्रिमविचारितोर्थे इति । उपक्रमानुरोधिप्रश्नोत्तररूपत्वात् 'तौ ह यदूचतु'रित्यादिना विचारितोऽर्थः । अग्रिमविचारितार्थे पुनः शङ्कते नन्वित्यादि । उक्तं बाधकमिति । कर्माश्रयेणावस्थानरूपं विद्वत्ताबाधकम् । तथा च विद्वद्विषयत्वे बाधकस्य विद्यमानत्वादविद्वद्विषयैवेयं श्रुतिरित्यर्थः । अत्र समादधानाः पूर्वपक्षिणो भ्रान्तत्वं बोधयितुमुपालभन्ते हन्तेत्यादि । श्रुतिशिरःसमाकलितमिति । वेदान्ततात्पर्यबोधितम् । एवं सतीत्यादि । उक्तरीत्या मर्यादामार्गे कर्मप्राधान्ये सति आर्तभागस्य वक्ष्यमाण आशयः । वक्ष्यमाणरीतिकसंशयेन तदा क शुद्धत्वदशायाम्, अयं विधिनियतो जीवः, क वैधयिकाधिकरणे ससमी । कस्मिन् मार्गे, किं मर्यादामार्ग एव तिष्ठत्युत पुष्टौ प्रविष्टो भवतीति रश्मिः ।

निरोधः । तदग्रिमे विचारितार्थे इतीति । भाष्येऽग्रिमेल्याधपि पाठः । भाष्ये । तद्विषयक इति । मर्यादामार्गीयविषयकः । विद्वानित्यत्र विच्छन्देन ज्ञानमिव भक्तेरपि वक्तुं शक्यत्वात् । गीतायां 'भक्तिरव्यभिचारिणी'त्युक्त्वा 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्त'मित्युक्तेः । प्रकृते । कर्माश्रयेणेति । ननु नैदमुक्तं बाधकं किन्तु प्राणानुत्क्रमणरूपं बाधकमिति चेन्न । पूर्वोक्तबाधकस्य तथाविधत्वेपि नास्य तथाविधत्वं कर्मावस्थानश्रुतेः पूर्वमुक्तत्वात् । तस्यागेन पूर्वमनुधावने दूरान्वयदोषान् । वेदान्तेति । श्रुतिशिरो वेदान्तम् । कल अव्यक्ते शब्दे तात्पर्येण बोधनेऽव्यक्तः शब्दो भवति । आकलय विचारय । मर्यादामार्ग इति । यद्यपि मर्यादामार्गः श्रवणादिसरणिरूपस्तथापि साधनत्वमिश्रफलरूपमिति विचारितत्वाच्च फलाप्याय इतिसमाख्यया वक्ष्यमाणेच्छाशरीरनिविष्टफलानि सर्वाण्येवोद्देष्टव्यानि । प्रथमसूत्रभाष्ये सामीप्यादिशुक्तिं प्राप्तवतां भक्तानामिति भाष्येऽसन्दिग्धानां सामीप्यादीनामुद्देशादित्याशयेनाहुर्विधिप्राधान्यमिति । विधेः प्राधान्यं विधिप्राधान्यम् । कर्मप्रधानमिति । विधिविषयं कर्मैव प्रधानं न तु विधिः साक्षात्फलकारणत्वाभावात् । उक्तरीत्येति । तथैव तन्निर्माणादित्याद्युक्तरीत्या । कर्मप्राधान्य इति । कर्मप्राधान्यमत्र न विद्यया कृते कर्मणि । अङ्गित्वात्, यदेव विषयेति हीत्यत्र व्याख्यातत्वाच्च । किन्तुक्तरीत्येति करणोक्तेः मर्यादामार्गे कर्मणः फलजनकत्वं कर्मप्राधान्यम् । यथा वाक्यं 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यत्र प्राधान्यं फलसम्बन्धात्तथा । विधिनियत इति । 'आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चेरेत्' इति विधिनियतः । पूर्वसूत्रे शुद्धस्य जीवस्य भगवदनुप्राहेण श्रवणादिरूपयेत्युक्तेः । कस्मिन्निति । किंमार्गेविषयो जीव इत्यर्थः । यद्वा । 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो

स्वैश्वरेच्छारीतिमविदुषो दुर्ज्ञेयत्वं जानन्तौ स्वयमेव यदवधारितवन्तौ, तदपि रहस्यमिति स्फुटमनुक्त्वा, श्रुतिः पर्यवसितमर्थमुक्तवती 'तौ हे'त्यादिना । अत्र कर्मपदं मर्यादामार्गपरम् । तथा च मर्यादामार्ग एव तस्य स्थितिस्त्वर्थः सम्पद्यते, मुक्त एव भवतीति यावत् । अत एव तत्प्रशंसापि । यत ईश्वरत्वेन सर्वकारण-समर्थोपि तद्दाने तदपेक्षते । अत्र हेतुत्वेन मर्यादामार्गस्वरूपमुक्तं 'पुण्यो वा' इत्यादिना ॥ ५ ॥

ननु मर्यादामार्गीयौ भक्तो ज्ञानी च भवतः, उक्तनिर्णयस्तु ज्ञानमार्गीयविषय एव, भक्तं तु तादृशमपि कदाचित् पुष्टावपि प्रवेशयतीत्याशङ्क्य तन्निर्णयमाह ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रश्न इत्यर्थः । एवं प्रश्नस्य विद्वद्विषयत्वं प्रतिपाद्योत्तरस्य प्रतिपादयन्ति तद्वेत्यादि । ईश्वरे-च्छारीतिमविदुषः पुंसः प्रति अस्वार्थस्य दुर्ज्ञेयत्वमिति योजना । अत्रेत्यादि । श्रुतिवाक्ये कर्मपदं मत्वर्थलक्षणया तन्मार्गपरम् । ननु मर्यादामार्गस्य विद्वद्विद्वत्साधारणत्वाद् अत्र विद्वद्व्यवस्थैवोच्यत इत्यत्र किं गमकमित्यपेक्षायामाहुः अत एवेत्यादि । तथा च निश्चितिमार्गीयकर्मणोपि तत्र विद्यमानत्वात्तदादाय तत्प्रशंसात्र मुख्यं विद्वद्विषयत्वगमकमित्यर्थः । प्रशंसायां बीजमाहुः यत इत्यादि । तद्दाने तदपेक्षते इति । मुक्तिदाने ज्ञानसमुच्चितं कर्मापेक्षते । ननु यद्यस्य विद्वद्विषयत्वं स्यात्, तदात्र 'पुण्यो वा पुण्येने'त्यादि न वदेदित्यत आहुः अत्रेत्यादि । अत्र हेतुत्वेनेति । फलदाने हेतुत्वेन । तथा च, 'एष उ वे'ति श्रुतेः फलदाने कर्मकारणमेव हेतु-मर्यादामार्ग इति बोधनाय 'पुण्यो वा' इत्यादिना तत्स्वरूपमुक्तम् । तावता न अविद्वद्विषयकत्वं वक्तुं शक्यमिति विद्वद्व्यवस्थैवाच्यते इत्यर्थः ॥ ५ ॥

रश्मिः ।

वा मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः, सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा श्रेयदविधिगोचर' इति नियतः । शुद्धं जीवं विध्यवि-षयमित्युक्तभाष्यात् । प्रविष्ट इति । भगवतात्यन्तानुग्रहेण प्रवेशितः प्रविष्टो भवतीत्यर्थः । विद्व-दिति । विद्वन्तौ विषयौ भक्तज्ञानिनौ यस्य प्रश्नस्य तत्त्वम् । उत्तरस्येति । प्रश्नोत्तरस्य विद्वद्विषय-त्वम् । ईश्वरेति । ईश्वरेच्छया मर्यादामार्गे प्रवेशितः तथैव पुष्टिमार्गे प्रवेशित इत्यत्र न विचार इत्युक्तरीतिम् । अविदुषः पुंस इति । द्वितीयावहुवचनान्ते पदे । भाष्ये । यद्वेति । ज्ञानकर्म-भक्तिमार्गानवधारितवन्तौ निश्चितवन्तौ षट्शक्यैः । तदपि रहस्यं मार्गप्रयं षट्शक्यैरहस्यरूपमित्यर्थः । रहस्यपदेन अत्रैव समनीयन्त इति पुष्टजीवपुरुषोत्तमसायुज्यम् । इन्द्रियसमर्पणेन साधनेन जीवोपि समन्वयनं प्राप्स्यतीति रहस्यम् । एवं अग्निं वागप्येतीत्यादिषु स्त्रीपुंसपुंसकमित्थुनोक्ते रहस्यं बोध्यम् । पर्यवसितमिति । रहस्यं न वक्तव्यं खलत्वं च निवर्तनीयमिति उभयसामञ्जसाय मार्गप्रयकथन-पर्यवसितं मार्गत्रये कथिते तदीयं रहस्यमपि ज्ञास्यन्तीत्यभिप्रायेण ।

प्रकृते । तन्मार्गेति । मर्यादामार्गपरम् ॥ चित्तशुद्धिद्वारा कर्मवन्तौ भक्तिज्ञानमार्गौ । मर्यादामार्गस्येति । भाष्ये स्त्रीकृतस्य कर्मप्रधानरूपस्य । निष्कृतीति । ज्ञानभक्तिमार्गीयकर्म-णोऽपि । ज्ञानसमुच्चितमिति । ज्ञानेन स्वकारणचित्तशुद्धिजनकत्वेन कर्मसमुच्चितमिति तथा । वीर्यवत्तरं फलमन्यथा तु न कर्मसमुच्चय इति ध्येयम् । न वदेदिति । विद्वान्पुण्यः । अपुण्यवत्त्वज्ञानानन्तरमपुण्यनाशकज्ञानेतरकर्मसत्त्वे विद्वत्त्वं न स्यादिति । तथा चाविद्वानपुण्यः पुण्येन कर्मणा भवतीत्यर्थः । तत्स्वरूपमिति । हेतुस्वरूपम् ॥ ५ ॥

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

एकस्मिन् ज्ञानिनि भक्ते वा मर्यादानियमो न, किन्तु भयोरपि । तत्र हेतुः दर्शयत इति । यतो याज्ञवल्क्यार्तभागौ ज्ञानिभक्तसाधारण्येन मर्यादा-नियमं दर्शयत उक्तरीत्या, 'तौ हे'त्यादिना । अन्यथा प्राक् कृताङ्गीकृतिरन्यथा भवेदित्युपपत्तिर्हि शब्देन सूच्यते । पूर्वोक्तपूर्वोत्तरश्रुतिविरोधपरिहारान्यथानुप-पत्तिरत्र मूलमिति ज्ञेयम् ।

केचित्पुंसंहतेषु वागादिषु शरीरान्तरप्रेप्सासामयिको जीवः 'कायं तदा पुरुष' इति प्रश्नविषय इति वदन्ति । तन्न साधीयः । 'तमुत्क्रामन्तं

भाष्यप्रकाशः ।

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । भक्तं तु तादृश-मपि कदाचित् पुष्टौ प्रवेशयतीति । तृतीयस्कन्धे, 'जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवाना'मित्यादिना शेषपूजायामुत्कृष्टबोधने, 'मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि सव्यस्तकर्मणः । न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शना'दिति कपिलदेववाक्ये मर्यादाभक्ते उत्कर्षविश्रान्तेः कथनेन तादृशं पुष्टौ प्रवेशय-तीत्येवं सम्भावयितुं शक्यत्वात् प्रवेशयति । व्याकुर्वन्ति एकस्मिन्नित्यादि । ज्ञानिभक्त-साधारण्येनेति । विशेषानिर्देशात्, 'अयं पुरुष' इति सामान्यनिर्देशात्, कर्मोक्तिकर्मप्रशंसाभ्यां मर्यादामार्गस्यैव विषयीकरणञ्च । तथा च यद्यवान्तरो ज्ञानभक्तिकृतो विशेषो विवक्षितः स्यात्, तदा सामान्येन न वदेताम्, अतस्तथेत्यर्थः । ननु पुष्टिमर्यादाभक्तयोर्भक्तिमत्त्वे तुल्येपि कुतोऽयं विशेषो यन्मर्यादामार्गीयवागादीनां भूतेष्वेव लयः, न भगवतीत्याकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिमाहुः अन्यथेत्यादि । यदि तद्वागादिलयो भगवत्यङ्गीक्रियेत, तदा अप्राकृतानां सर्वभावप्रपत्त्या प्रकृतिसम्बन्धरहितानां या अङ्गीकृतिः स्वीयत्वेन वरणम्, सा अन्यथा भवेत्, इतरतुल्यतां प्राप्नुवन्ती वरणश्रुत्युक्तमसाधारण्यं विरुन्ध्यादित्यर्थोपपत्तिर्हि शब्देन सूच्यते । तथा च ताभ्यां ज्ञानिभक्तसाधारण्येन यन्निरूपितं तत्रेदं बीजमित्यर्थः । मन्वस्याः श्रुतेरेवं तात्पर्यकल्पने किं बीजमत आहुः पूर्वोक्तेत्यादि । पूर्वोत्तरश्रुतिस्तु 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ती'त्यादिरूपा बोध्या । तथा चैतद् बीजमित्यर्थः ।

एतदेव दृढीकर्तुं, दूषणाय मतान्तरमुपक्षिपन्ति केचिदित्यादि । दूषयन्ति तत्रेत्यादि ।

रश्मिः ।

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥ अकर्तुं इति । वाक्योक्तान्यस्याकर्तुः । पञ्चम्यन्तम् । मर्यादाभक्तेरिति । मय्यर्पितात्मन अत्रात्मपदं मनःपरम् । पञ्चम्यन्तं पदम् । मानसीसेवा । संन्यस्तानि कर्माणि । 'कुर्वीत्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्नि'त्युक्तानि । अतस्तथा । पुष्टा-विति । कदाचिदिति बोध्यम् । अत्यन्तानुग्रहकाल इति तदर्थः । मर्यादामार्गस्येति । विधि-विषयस्य कर्मणः । तथेति । ज्ञानिभक्तसाधारण्येनेत्यर्थः । गूढाभिसन्धिमिति । वरणश्रुत्युक्ता-साधारण्यभङ्गरूपम् । ताभ्यामिति । याज्ञवल्क्यार्तभागभ्याम् । एतदिति वरणश्रुत्युक्तासाधारण्य-मङ्गनम् । अस्या इति । वरणश्रुतेः । पूर्वोक्तेत्यादीति । 'भूतेष्वि'ति । सूत्रभाष्योक्तस्य पूर्वा यथायं पुरुष इति, उत्तरा यत्रास्य पुरुषस्येति तयोः श्रुत्योर्विरोधस्य यः परिहारः परिहारान्तरं तस्यान्यथानुप-

प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तः सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्तीति श्रुतिर्भाषि-

भाष्यप्रकाशः ।

अत्रायमर्थः । 'अत्रैव समवनीयन्त' इति वाक्येन प्राणानुत्क्रमणस्य प्रोक्तम् । तत्र शरीरब्राह्मणे 'अथाकामयमान' इति निष्कामं पुरुषस्य प्रकृत्योक्तम् । अन्ते च 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति तस्य ब्रह्मप्राप्तिरुक्ता । आर्तभागब्राह्मणे तु 'यत्रात्रं पुरुषो म्रियत' इति सामान्यतो म्रियमाणस्य प्रकृत्योक्तम् । अन्ते च 'स उत्क्ष्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेत' इत्येतावदुक्तम् । तत्र सामान्यस्य विशेषेण निर्णय इति ब्रह्माप्ययथाक्यस्यात्र निर्णायकत्वादस्य मुक्तिलिङ्गत्वमेवोचितम् । तथापि 'आध्मातो मृतः शेत' इत्यनेनोक्तावस्था ब्रह्मविच्छरीरस्यानुचिता । लौकिकस्य पुण्यं कृतोपि प्रायस्तादृशावस्थाया अदर्शनात् । अतः पुनः प्रश्नः 'यत्रास्य पुरुषस्येत्यारम्भ, 'कामं तदा पुरुषो भवतीत्यन्तः । अमुच्यमानस्य हि प्राणोत्क्रमः 'तमुत्क्रामन्त'मित्यादि-श्रुत्योक्तः । अयं शरीरदुरवस्थावानुक्तस्य चेद् 'अग्निं वागप्येतीत्युक्तप्रकारेणोन्द्रियाणामनु-त्क्रान्तानां तत्तद्योग्येषु भूतेषु इन्द्रियाविष्ठात्तदेवतायां च लयस्तदा तस्य साधनाभावात् मुक्ति-र्वक्तुं शक्या । इन्द्रियाणां लये मनसोपि चन्द्रे लयात् । 'तदेव स तत्सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्येति श्रावितस्य जीवगमनस्यापि वक्तुमशक्यतया शरीरान्तरप्राप्त्यावश्यकत्वे वागा-दिलयवैयर्थ्यापत्त्या, देहस्य मृतत्वाच्च स्थितेर्वक्तुमशक्यतया तस्य जीवस्य कुत्र स्थितिरिति तत्राशयो भाति । एतदुत्तरे तु कर्माश्रयस्तिष्ठतीति । यथा बाणो वा पाषाणशकलो वा चेतनेन क्षिप्त आकाशे गच्छति, तस्य गमनक्रियैवाश्रयः, न त्वन्यः, तथा जीवोपि, 'एष उ' इति श्रुत्युक्त-कर्माश्रयस्तिष्ठतीति सिध्यति । तत्र जीवस्य स्वतः क्रियाराहित्यालिङ्गस्य च लीनत्वाभ्यायादि-मतवददृष्टात्मधर्मताया अत्रानङ्गीकाराजीवाधिष्ठानभूतं कर्म किमीयमिति शङ्का नापैति । तेन शरीरान्तरप्रेप्सासामयिको जीवः 'कामं तदे'ति प्रश्रविषय इत्यसङ्गतम् । लीनकरण-ग्रामस्य प्रेप्साया व्यापारस्य च वक्तुमशक्यत्वात् । प्रेप्साङ्गीकारे च 'तमुत्क्रामन्त'मिति श्रुत्या लिङ्गसाहित्यस्यावश्यकत्वाद्वागादिलयोऽप्यसम्भवदुक्तिकः । 'अत्रैवे'ति मुक्तिलिङ्गश्रुतिविरोधाच्च ।

रश्मिः ।

पतिरर्थापत्तिरूपा । द्वितीया वान्यथानुपपत्तिसमर्पितप्रमेयार्थापत्तिः । प्रस्थानरत्नाकरे स्पष्टा पूर्वमुक्ता च । अत्रेति । श्रुतौ पुष्टिकल्पने । एतदिति । अर्थापत्तिः । विषयलिङ्गमेतदिति । उभयत्रेति । आर्तभागब्राह्मणे शरीरकब्राह्मणे च । सामान्यस्येति । 'मृतः शेत' इति सामान्यं, 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति विशेषः । अस्येति । मृतः शेत इत्यस्य । मनसश्चन्द्रे लये मुक्त्यभावं वदन्ति स्म । तदेवेति । यत्र गन्तव्ये मनः लिङ्गं निषक्तं निश्चयेन सक्तं भवति तत्र स आसक्तः सन् फल-रम्भकीभूतकर्मणा सह तदेव गन्तव्यं फलमेति गच्छतीति श्रुत्यर्थः । वक्तुमिति । मनोसक्तायां मुक्तौ वक्तुम् । वागादीति । मुक्त्यभावे तथापत्या । स्थितेरिति । जीवस्य स्थितेः । तत्रेति । यत्रास्येत्यादि पुनः प्रश्नश्रुतौ । भातीति । भात्ययमर्थ इति पूर्वेण सम्बन्धः । जीव इति । बाणवद्वा पाषाणशकलवद्वा ऊर्ध्वगन्ताऽधोगन्ता वा । किमीयमिति अदृष्टधर्ममिश्रम् । अपैतीति । अप आ एतीति पदच्छेदः । पूर्वं वृद्धौ ऐतीति जाते एङि पररूपमित्यस्य अविषयत्वाद्द्विरेचि । प्रेप्सेति । मनोधर्मः प्रेप्सा । 'कामः सङ्कल्प' इति श्रुतेः । व्यापाराश्चक्षुरादेः । एवमुपोऽन्तमुक्त्वा तमुत्क्रामन्तमिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म प्रेप्साङ्गीकार इति । तत्रासम्भवादित्यन्तभाष्यविवरणम् ।

देहान्तरजीवस्य प्राणानामिन्द्रियाणां च सहैवोत्क्रमणं वदतीति वागादिलयस्य तत्रासम्भवात्प्रोक्तस्य प्रश्रविषयत्वं वक्तुं शक्यम् । पूर्ववाक्ये 'अत्रैव समवनीयन्त' इत्युक्तत्वाच्च, अतोऽस्यदुक्त एव मार्गोऽनुसर्तव्यः । एतेन नायं परविद्यावान्

भाष्यप्रकाशः ।

अतो देहान्तरप्रेप्सावतः प्रश्रविषयताया वक्तुमशक्यत्वादस्यदुक्त एव मार्गः, सदसत्कर्म-प्रधानो मर्यादाभार एव कर्मपद आदर्तव्यः । अन्यथा केवलकर्मणः संसारजनकत्वात् प्रशंसा-वैयर्थ्यापत्तेः । मार्गादरे तु तस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिकर्मात्मकत्वात्प्रवृत्तं कर्मादाय प्रशंसोपपत्तेः । दुष्टं कर्मादाय शरीराध्मानाद्युपपत्तेश्च । एतद्बोधनायैव 'पुण्यो वा पुण्येने'ति मार्गस्वरूपमुक्तम् ।

एवं सतीदमत्र सिध्यति । यः सद्यो मुच्यते, तस्य प्राणानामत्रैव समवनयनम् । य-श्चान्धन्तमो विशति, तस्यापि प्राणानामत्रैव समवनयनम् । शरीरदुरवस्थालिङ्गात् । अन्यथा तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः । ये पुनः क्रममुक्तिगामिनः, तत्प्राणानां सहोत्क्रमः । 'अणुः पन्था विततः पुराण' इत्यादिश्रुतेः । 'यदि प्रयास्यन्नूप पारमेष्ठ्य'मित्यादिस्मृतेश्च । ऊर्ध्वगामिनां च तथा । 'तदेव तत्सह कर्मणैतीत्यादिश्रुतेः, 'मनः कर्ममयं नृणा'मित्यादिस्मृतेश्च । सुबोधिन्यां तु धृतराष्ट्रं प्रत्यक्षरवाक्ये 'अकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणाराय' इत्युक्त्वा, उपसंहारे 'मृतोऽन्धं रश्मिः ।

तत्रेत्यस्य भाष्यस्य 'इहैव समवनीयन्त' इति श्रुत्युक्ताश्रये भगवतीत्यर्थः । नोक्तस्येति भाष्यविवरणम् । अतो देहान्तरेति । नोक्तस्येत्यत्र उक्तस्येत्यस्यार्थः देहान्तरप्रेप्सावत इति । प्रश्रविषयत्वं वक्तुं न शक्यमित्यत्र भाष्यान्वये इतिशब्द हेत्वर्थकमध्याहृत्य विवरणं प्रश्रविषयतेत्यादि । सदसदिति । सन्मार्गद्वयरूपं कर्ममार्गरूपं चासत् तदतिरिक्तं सर्वम् । कर्मपद इति । औपश्लेषिकाधारे सप्तमी । प्रशंसेति । 'यत्प्रशशंरसतुः कर्म ह्येव तत्प्रशशंरसतु'रिति श्रुत्युक्तप्रशंसवैयर्थ्यापत्तेः । यत्रेति । पुष्टोपि । समवनयनमिति । अष्टमोपदेशस्य समत्वात् । तत्र समवनाश्रयस्य भगवत्त्वात् । तत्रार्थं विवेकः । भक्तिमार्गीया आनन्दे लीना भवन्ति अनुग्रहात्यन्तानुग्रहयोः पुष्टिमर्यादाकारणयोः सत्त्वात्, ये संभूत्यां रताः आसुरीसंपजाताश्च तेषामानन्दधर्मं तमसि लयः अनुग्रहाभावादिति । तदुच्यतीति । शरीरदुरवस्थोक्तिवैयर्थ्यापत्तेः । तत्प्राणानां तेषां प्राणानाम् । अणुः पन्था इति । शरीरब्राह्मणेस्ति । मोक्षः । अणुः स्थूलादिसकलविशेषातीतत्वात् । चिन्तनः विस्तीर्णः सत्याद्या-त्वावगाहित्वात् । पुररणश्चिरतनो नित्यः श्रुतिप्रकाशितत्वात् । एवंभूतः पन्था अभेदान्वयः फलसाधनयोरतो भक्तिज्ञानमार्गः । मोक्षाभिन्नः 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति सूत्रेण धर्मधर्मिणो-रभेदात् । आदिना 'मा'स्पृष्टोऽनुचितो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्कम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ता' इति पादत्रयम् । अर्थस्तु मां याज्ञवल्क्यं स्पृष्टः शास्त्राचार्यदिर्मोमनुप्राप्तः मया प्राप्त इति वा । किञ्च मयैवानुचित इत्यत्रैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदको न भवतीत्यभिप्रेत्याह तेनेति । जीवन्त एव विमुक्ताः सन्त इतोऽस्माच्छरीरपाताऊर्ध्वमनन्तरमेव तेन ब्रह्मविद्यामार्गेण स्वर्गं परमानन्दलक्षणं प्रकरणाद्दोषं स्वप्रकाशं यन्ति गच्छन्तीति । यदि प्रयास्यन्निति । क्रममुक्तिप्रतिपादिका द्वितीय-स्कन्धस्मृतिः तस्याः । अकृतार्थमिति । पूर्वार्धसंगतौ 'पुण्याति यानधर्मेण खडुद्वा तमपण्डितम् । तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणारायः सुतादय' इति वाक्यम्, कुतः अर्थो येन स कृतार्थः । न कृतार्थोऽ-कृतार्थस्तम् । हि गतौ स्वादिः प्रपूर्वकः । प्राणा इन्द्रियाण्यपि ते आसमन्ताद्रायो येषां ते प्राणारायः । तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति त्यजन्ति । मृत इति । अत्र विशेष्यम् । स्वयं पिता ।

यतः, अमृतत्वमेव तत्फलमिति । तच्च देशान्तरानायसमित्युत्क्रमणापेक्षा कर्माश्रयत्वं च न स्यात्, किन्त्वपरविद्यावान् । तस्यास्तु ब्रह्मलोकावधि फलमिति कर्माश्रयत्वोत्क्रमणादिकं सम्भवतीत्यपि निरस्तं वेदितव्यम् ॥ ६ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे द्वितीयं भूताधिकरणम् ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

विशते तम' इति कथनादन्धन्तम एव प्रकृतमिति श्रौतं मुक्तिलिङ्गं न विचारितम् । इह तु मुक्तेरेव फलत्वेन प्रकृतत्वात् तमोलिङ्गं न विचारितम् । अतोऽन्धतमसोऽप्यासुरमुक्तित्वात् भाष्यसुबोधिन्योर्विरोध इति ज्ञेयम् । उभयथापि शरीरान्तरप्रेप्साया अलाभान्मलान्तरदूषणं तूभयथापि निष्प्रवृहमिति च ।

एवं परोक्तं प्रश्नाशयं दूषयित्वा तदुक्तं सिद्धान्ताशयं दूषयन्ति एतेनेत्यादि । एतेनेति । जीवस्यात्र देहान्तरप्रेप्सासामयिकत्वासङ्गतिव्युत्पादनेन । इत्यपि निरस्तमिति । इति एवमर्थकं यद्, 'भूतेषु तच्छ्रुते'रित्यत्र, 'भूतेष्वतः श्रुते'रिति पाठमङ्गीकृत्य स प्राणोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु देहजीवभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठते । कुतः । अतः श्रुतेः प्राणस्तेजसीत्यतः श्रुतेरिति व्याख्यानम्, 'नैकसि'न्निति सूत्रे च शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां नैकसिन्नेव तेजसि जीवोऽवतिष्ठते । कार्यस्य 'शरीरस्य पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमय' इति श्रुतिः, 'अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्य' इत्यादिस्मृतिश्रौतमर्थं दर्शयत इति व्याख्यानमुक्तम्, तदपि निरस्तम् । तद्रीत्योत्क्रमाङ्गीकारे पूर्वैन्द्रियलयप्राणानुत्क्रमणवैयर्थ्यप्रसङ्गेन अर्तभागप्राक्षणेऽनुक्तायाः शरीरान्तरप्रेप्साया नूतनेन्द्रियापेक्षायाश्च कल्पनापत्त्या लक्षणाप्रसङ्गेन श्रुतिष्वत्र व्याकुलीभावापत्त्या च निरस्तमित्यर्थः ।

अत्रायसरगर्भः प्रसङ्गोऽधिकरणसङ्गतिः ॥ ६ ॥ इति द्वितीयं भूताधिकरणम् ॥ २ ॥

रश्मिः ।

प्रकृतमिति । 'असिद्धार्यो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्त्वम्' इति वाक्यार्थेनोक्तेन प्रकृतं मुक्तिष्वेतस्वीकृतम् । श्रौतमिति । अत्रैव समवनीयन्त इति श्रुत्युक्तं मुक्तिलिङ्गम् । इह त्विति । भाष्ये तु । मुक्तेरिति । सद्योमुक्तेः । तमोलिङ्गमिति । शरीरदुरवस्थालिङ्गम् । नेति । पूर्वत्रैकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति प्रवादान्ध्रौतमुक्तिलिङ्गविचारः स्थानसाभ्यात्पूर्वमीमांसोक्ताद्वा । उत्तरत्र तत एव तमोलिङ्गमीमांसेत्यर्थभेदाभावात् विरोध इत्यन्वयः । उभयथेति । उभे भाष्यसुबोधिन्यौ अवयवौ प्रतिपादकौ यस्य मुक्तिरूपप्रकारस्य तेन प्रकारेण । प्रश्नाशयं प्रश्नाभिप्रायस् । अत्रेति । भाष्ये । सूक्ष्मेऽपि । रेतःकणेषु अण्वी मात्रारूपेषु वा । व्याख्यानमिति । अन्याचार्यव्याख्यानम् । तद्रीत्येति । अपरविद्यावतः उत्क्रमाङ्गीकारे । पूर्वैन्द्रियेति । अग्निं वागप्येतीत्याद्युक्तो लयः अत्रैव समवनीयन्त इति प्राणानुत्क्रमणं तयोः वैयर्थ्यम् । बुद्धेर्गुणैरुत्क्रमात्रो जीव इति तल्लये परविद्यावतो या मुक्तिरावरणभङ्गरूपा सा स्यादिति पूर्वैन्द्रियलयवैयर्थ्यम् । परविद्यावतः फलं देशान्तरानायत्तं देशान्तरं बुद्धिगुणकृत-जीवदेशादन्यद् देशान्तरं तस्यानायत्तमधीनमिति प्राणानुत्क्रमणं प्राणोत्क्रमणप्रतियोगिकवैयर्थ्यं च तस्य प्रसङ्गेन । लक्षणेति । अत्रैव समवनीयन्त इति वाक्यं शरीरान्तरप्रेप्सा । नूतनेन्द्रियापेक्षावतोऽत्रैव समवनीयन्त इत्येवं कल्पयित्वा तदर्थं लक्षणाप्रसङ्गेनेत्यर्थः । शक्यार्थस्य षष्ठ्यर्थेन सम्बन्धो लक्षणा । श्रुतीति । पूर्वैन्द्रियलयप्राणानुत्क्रमणानुत्क्रमाङ्गीकारेण श्रुतिपीडापत्तिः, पाठान्तरेण सूत्रव्याकुलीभावापत्तिः तथा ॥ ६ ॥ इति द्वितीयं भूताधिकरणम् ॥ २ ॥

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥ (४-२-३.)

मर्यादापुष्ट्योर्न कदाचिदन्यथाभाव इति यदुक्तम्, तत्र हेत्वपेक्षायां वस्तुस्वरूपमेव तथेति बोधयितुमाह समानेत्यादि ।

अत्रायमाशयः । साधनक्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादामार्गीया मर्यादा, विहितसाधनं विनैव मोचनेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा । तथा सति सदैकरूपत्वं तयोर्मुक्तमिति ।

एतदेवाह । सृतिः संसृतिः । जीवानां स्वस्मात् पृथक्कृतानामविद्यया अहन्ताममतास्पदीकरणम् । तदुपक्रम आरम्भस्तं मर्यादीकृत्य मुक्तिपर्यन्तमुक्तरूपा मर्यादा समाना सदैकरूपा, मध्ये नान्यथा भवतीत्यर्थः । एवमेव अनुपोष्य, व्रतमकृत्वा, अमृतत्वमपि पुष्टिमार्गं समानमित्यर्थः । अत्रोपोषणपद-मशेषमुक्तिसाधनोपलक्षकम् ॥ ७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥ एवमधिकरणद्वयेन पुष्टिमर्यादास्थयोः क्रमेण वागादिलयं व्युत्पाद्य पुष्टिमर्यादास्थयोः कुत एवं विशेष इत्याकाङ्क्षायां मार्गस्वरूपविशेषादेव विशेष इति वक्तुम्, इत आरभ्य नवभिः सूत्रैरुपोषातेन तदाद्यर्थं तास्ता आशङ्का निवारयतीत्याशयेन काश्चिदाशङ्कामनुवदन्तः सूत्रमवतारयन्ति मर्यादेत्यादि । व्याकुर्वन्ति साधनेत्यादि । अविद्यया अहन्ताममतास्पदीकरणमिति । 'विद्ययाऽविद्यये'ति श्लोकोक्त्या स्वीयया मूलशक्त्या अहंममेत्यसद्ग्राहात्मकजीवाविद्याश्रवत्वसम्पादनम् । मुक्तिपर्यन्तमिति । इदमुत्तरावधिकथनमार्थिकं ज्ञेयम् । संसारस्य तदधीनत्वादिति । मध्ये नान्यथा भवतीति । 'एष उ वे'ति श्रुत्युक्ताया इच्छाया इव

रश्मिः ।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥ साधनेत्यादीति । मर्यादेति ज्ञानभक्तिमर्यादा । एतदेवाहासृतिरिति भाष्यपाठः । आसृतिरित्यस्य संसृतिरिति विवरणम् । विद्ययेति । इदं दशमस्कन्धेऽकूरदर्शनेस्ति । 'विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवित'मिति । एतत्कथनं भक्तिमार्गे भक्तिसाधननाशयसंसृतेरभावादत्यन्तानुग्रहे तेनैव तदभावाच्चायुक्तं संसृतिकथनं भत्वोक्तम् । तदुक्तं 'कृत्वाऽतरन्वत्सपदं स्म यत्प्रवा' इत्यस्य सुबोधिन्याम् । एवं च पुष्टिमार्गेत्यन्तानुग्रहनाशयत्वेनाहन्ताममते तयोरास्पदीकरणम् । मर्यादाभक्तिमार्गे साधननाशयत्वेन ते तयोरास्पदीकरणम् । ज्ञानमार्गे ज्ञाननाशयत्वेन ते तयोरास्पदीकरणं बोध्यम् । विद्ययाऽविद्ययेति वाक्यात् । भाष्ये । मुक्तीति । सद्योमुक्तिरूपमुक्तिपर्यन्तम् । उक्तरूपेति । अहन्ताममतास्पदीकरणं ज्ञानेन न सम्भवति तथापि अन्तराभूतग्रामसूत्रादिवाऽर्थभेददाने भवतीति भक्तिमार्गेऽहन्ताममतास्पदीकरणारम्भे तथा उक्ता श्रवणादिसरणिरूपा मर्यादा सा समाना । ज्ञानभक्तिभ्यामविद्योपमर्देपि भक्तिज्ञानरूपविद्याया अविद्ययोपमर्दादहन्ताममतास्पदीकरणं ज्ञानमार्गीयश्रवणादिसरणिरूपा मर्यादा, सा समाना । 'यथा यथात्मा परिमृज्यतेसौ मत्पुण्यमाथाश्रवणाभिधानै'रित्यत्र ज्ञानाङ्गभक्त्युक्तेः । ज्ञानमार्गीयश्रवणादिभिः सूक्ष्मवस्तुदर्शनम् । भक्तिमार्गीयश्रवणादिभिः प्रेमैति विवेकः । 'तथा तथा पश्यति वस्तुसूक्ष्म'मित्युत्तरार्धात्,

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतं परामृश्यते । 'सोऽध्यक्ष' इति सूत्रेण पुष्टि-
मार्गीयभक्तसङ्घातस्य भगवत्वेव लय इत्युक्तम् । अग्रिमेण तेन मर्यादामार्गीयभक्त-
सङ्घातस्य भूतेषु लयमुक्त्वा, प्रश्नानन्तरं शुद्धजीवस्य तस्य मुक्तिरेव भवतीति
वक्तव्ये सति, 'आहर सौम्य हस्त'मित्यादिना स्वाशयमन्येष्वप्रकटयन्तौ कर्म
यन्निरूपितवन्तौ, तत्कुत इत्याशङ्क्य तयोराशयं निगूढं प्रकटयति ।

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

तदा नित्यलीलान्तःपातलक्षणपुष्टिमार्गीयमुक्तिदशायां मर्यादामार्गी-
याया अपीतेर्मुक्तेः संसारत्वाभावेऽपि पुरुषोत्तमभजनानन्दानुभवाभावात् संसार
इत्येव पुष्टिमार्गं व्यपदेशो यतः क्रियते, अतस्तदभिसन्धाय तथा रीत्या

भाष्यप्रकाशः ।

मुमोचयिष्याया अप्यप्रतिहतविषयत्वस्य न्याय्यत्वात् तथा । पुष्टिमार्गे समानमिति । 'ते
नापीतश्रुतिगणा' इत्यादिभगवद्राक्यात् तथा । सूत्रे तु प्रथमश्रुतारोपधारणे, द्वितीयश्रोऽप्यर्थे
बोधः । 'भूतेष्वित्यतीताधिकरणे मर्यादिकव्यवस्थाया उक्तत्वादव्यवधानेनात्र मर्यादासूते-
र्मर्यादोल्लेखः । व्यवहितत्वेन पश्चात् पुष्टेरित्यपि ज्ञेयम् । तादृशतादृशेच्छायां लीलाया लोक-
तुल्यत्वस्यैव हेतुत्वादिति ॥ ७ ॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥ सूत्रमवतारयन्ति एवं प्रासङ्गिकमित्यादि ।
यथा एकनगरप्रापकधोर्माग्योस्तत्प्रापकत्वे मार्गत्वे च समानेऽपि कस्यचित्केवलपान्थप्रापकत्वम्,
कस्यचित् सपरिकरपान्थप्रापकत्वमिति तन्मार्गस्वरूपकृत एव भेदः, तथा मर्यादापुष्टोरपीत्येत-
त्प्रासङ्गिकं तत्तन्मार्गस्वरूपबोधनायोक्त्वा, प्रकृतं आर्तभागत्राहणस्य प्रमेयं परामृश्यते विचार्यत
इत्यर्थः । ननु तत्र किमवशिष्टं येन पुनर्विचार्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुः सोऽध्यक्ष इत्यादि ।
अग्रिमेणेति । 'भूतेषु तच्छ्रुते'रिति सूत्रेण ।

फक्किकायोजना तु एवं लयमुक्त्वा प्रश्नानन्तरमित्याद्युक्तरीत्या निरूपणं कुत इत्याशङ्क्य
तथा प्रकटयतीति बोध्या । तथा च यदि न तत्तन्मार्गीयमुक्तौ तारतम्यम्, तदा बागादि-
लयस्य भिन्नप्रकारकत्वविचारः काकदन्तविचारतुल्यः स्यादिति तद्विषयस्य तयोरेकान्त-
गमनाद्याशयं वक्तव्यर्थः । सूत्रं व्याकुर्वन्ति तदेत्यादि । तथा रीत्या निरूपणमिति ।

रश्मिः ।

'एवं धर्मैर्मुद्याणामुद्भवात्मनिवेदिना'मित्येकादशैकोनविंशत्यायवाक्याच्च । तथेति । ज्ञानमार्गेण
समानम् । ज्ञानमार्गेण श्रवणादीनां पुष्टिमार्गे समानत्वेऽपि उपोषणाद्यकरणमपि समानं ज्ञानमार्गेण ।
ज्ञानमार्गे उपोषणाद्यकरणजपापस्य ज्ञानेन नाशः । पुष्टिमार्गेऽत्यन्तानुग्रहेण पापस्य नाशः । एवं
फलप्रकरणे सन्दिग्धे अहन्तास्पदत्वमसम्भवद्विचारितम् । अवधारण इति । तथा च समानैवेत्यर्थः ।
अप्यर्थ इति । अमृतत्वमपीति भाष्यात् ॥ ७ ॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥ केवलेति । पदातिमार्गत्वम् । सपरिकरेति ।
राजमार्गत्वम् । मर्यादेति । मर्यादापदेन भक्तिज्ञाने । एवमिति । पूर्वोक्तप्रकारम् । तदित्यस्यार्थमाहुः ।
निरूपणमिति । तथेति । तयोराशयं निगूढम् । 'गूढं ब्रह्मणि वाच्यम्' इति वाक्यात् । तयोरिति ।

निरूपणम् । अत एव श्रीभागवते श्रीशिववचनं गीयते । "नारायणपराः सर्वे न
कुतश्चन विभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः" इति । श्रीभगवद्गीता-
स्यपि । 'देवान् देवयजो यान्ति मङ्गला यान्ति मामपी'ति वाक्येन मर्यादा-
मार्गीयभक्तमुक्तेरितरसाधारण्यमुच्यते ॥ ८ ॥

ननु संसारबन्धुक्तेरपि हेयत्वं यत्र, तादृशं चेत् पुष्टिमार्गीयं तत्त्वम्, तदा
मुक्तेः पुरुषार्थत्वबोधिकायाः श्रुतेः प्रतारकत्वमापततीति तद्बोधकप्रमाणानां
तत्स्तुतिमात्रपरत्वमेवेति प्राप्त आह ।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

पुष्टिमार्गीयं तत्त्वं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयमित्यर्थः ।

अत्रायमाशयः । पुष्टिमर्यादामप्यतिक्रम्य पुष्टिपुष्टौ प्रवेशे तत्तत्त्वमनुभव-
विषयो भवति, नान्यथा । तत्र प्रवेशस्त्वितिदुरापोऽतिशयितानुग्रहेतरासाध्यत्वात्,
अत उक्तेतराज्ञेयमेव तद्भवति । तेषां तु मुक्तिरेव फलम् । तस्या एवेष्टत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

पुष्टिमार्गीयमुक्त्यपेक्षया मर्यादामार्गीयमुक्तेः साधनसाध्याया न्यूनत्वबोधनाय मुक्तिहेतुत्वेन
प्रशंसनीयस्यापि मार्ग्यरूपस्य कर्मण एकान्ते गत्वा जीवाश्रयत्वेन निरूपणम् । तथा च तस्य
सद्योमुक्तिप्रकारत्वदृढीकरणार्थं पुष्टिमार्गीयापेक्षया न्यूनत्वज्ञापनार्थं च पुनर्विचार इत्यर्थः ।
इदं धोषबुद्ध्याभावे मनसि न विशतीत्यतस्तदाहुः अत एवेत्यादि । तथा चात्र युक्तेरितर-
साधारण्यकथनात्तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । तद्बोधक-
प्रमाणानामिति । भजनानन्दोत्कर्षप्रमाणानाम् । सूत्रं व्याकुर्वन्ति पुष्टीत्यादि । ननु पुष्टि-
तत्त्वस्य दुर्ज्ञेयत्वे श्रुतेः प्रतारकत्वं कथं नियततामित्यतस्तदाशयमाहुः अत्रायमित्यादि । तत्त्व-
मिति । पुष्टिमार्गीयतत्त्वम् । उक्तेतराज्ञेयमिति । अतिशयितानुग्रहमाजनातिरिक्ताज्ञेयम् ।

रश्मिः ।

याज्ञवल्क्यार्तभागयोः । एकान्तेति । आदिनाऽऽहर सौम्य हस्तम् । आर्तभागेति होवाच तौ होक्तव्य
मन्त्रयांचक्रतुः तौ ह यदचतुः कर्गैव तदचतुरित्यत्रोक्तम्येत्युक्तम्य संतीघत् 'मुक्तोपस्यव्यपदेशादि'ति
सूत्रात् । तथा च तावित्यस्य जीवावित्यर्थः । इत्युक्तम्यपदाशयः । तथेत्यादीति । नित्येति ।
इजभक्तसजातीयभावः कारणं पुष्टिमुक्तौ । एकान्त इति । एतस्य शरीरे संस्थाप्योत्क्रमणेनैकान्त
इत्यप्यर्थो भगवन्माहात्म्यस्थापकः । जीवाश्रयत्वं जीवस्याश्रयत्वं चाणस्याश्रयत्वं यथा कर्मणा ।
तेन । पुनरिति । फलत्वेन पुनर्विचारः । यथा एकनगरेत्याद्युक्तरीत्या मार्गत्वेन निरूपणाद्गतेरर्थ-
वत्त्वत्प्रादिविचारितस्य पुनर्विचारः ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥ श्रुतेरिति । मुक्तेः पुरुषार्थत्वबोधिकायाः
'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽश्रुतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्रुतेः ।
पुष्टिमार्गीयतत्त्वमिति । ननु ज्ञानकाण्डत्वाच्च ज्ञानमार्गीयं तत्त्वं तत्र तदुक्तं 'तथा तथा पश्यति

रागिणां स्वर्गादिषु । इष्टफलाप्राप्तौ हि प्रतारकत्वम्, अन्यथा प्रवृत्तिमार्गीय-
फलबोधिकाया अपि श्रुतेः प्रतारकत्वं स्यात् । इच्छा चाधिकारानुसारिणीति
नानुपपन्नं किञ्चिदिति ।

नन्वेवंविधार्थोस्तित्वे किं मानमित्याकाङ्क्षायामाह प्रमाणत इत्यादि ।
प्रमाणं श्रुतिः । सा तु, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं
ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चने'ति । 'एतद् वा व न तपति किमहं साधु
नाकरवं किमहं पापमकरव'मिति ।

अत्र पूर्वार्धेन दुर्ज्ञेयत्वम्, उत्तरार्धेन तत्सत्ता च बोध्यते । अन्यथा मनसो-
प्यप्राप्यस्य वेदनकथनं विरुद्धं स्यात्, अतो दुर्ज्ञेयत्वेनैव धर्मिग्राहकमानसिद्धं
तदित्यर्थः । चकारात्तादृशानामनुभवः परिगृह्यते ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तेयामिति । अतिशयितानुग्रहभाजनातिरिक्तानां भक्तानां शुष्कज्ञानिनां च । इच्छेति । स्वर्गा-
दिविषयिणी मोक्षविषयिणी च । इति नानुपपन्नं किञ्चिदिति । इति हेतोः, यथा स्वर्गादि-
कामिनः प्रति निवृत्तिमार्गतत्वं दुर्ज्ञेयमधिकारराहित्यादेवं मोक्षकामिनः प्रति पुष्टिमार्गतत्वमपीति
तच्चञ्चुतीनां तं तं प्रति फलबोधकत्वात् प्रतारकत्वमतो हेतोर्ये उत्कृष्टाधिकारिणस्तान् प्रति
भजनानन्दोत्कर्षबोधकतया न स्तुतिमात्रत्वमतः पूर्वोक्तं सूत्रमभित्यर्थः । सूत्रशेषमवतारयन्ति
नन्वेवमित्यादि । एवंविधार्थोस्तित्व इति । अतादृशसर्वदुर्ज्ञेयार्थसद्भावे । शेषं स्फुटम् ॥ ९ ॥

रश्मिः ।

वस्तुसूक्ष्ममिति वाक्येनेति चेन्न । असन्दिग्धमिदं ज्ञानकाण्डेऽविचार्यमिति । पुष्टिप्राप्ये सूक्ष्मपदं
गीतायां त्रयोदशे 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽऽमृतमश्नुते । अजादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासद्युच्यते ।
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखं । सर्वतः श्रुतिमहोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । सर्वेन्द्रियगुणाभासं
सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । असक्तं सर्वभूतैव निर्गुणं गुणभोक्तुं च । बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तद्विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् । अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् । भूतभर्तुं
च तज्ज्ञेयं प्रसिष्णु प्रमविष्णु च । ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि
सर्वस्य विष्ठितम् । इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः । मद्रक्त एतद्विज्ञाय मद्रावायोपपद्यते'
इत्यत्र । 'यतो वाच' इति श्रुत्या सह निर्णयः । तथाहि । गीतायाम् । अहं परो यस्मेति मत्परः ।
अग्रे विरुद्धधर्माश्रयः । अग्रे सूक्ष्मत्वात्तद्विज्ञेयमुक्तम् । तत्र कर्ममार्गीयगीताया उपनिषत्वात् ।
नापि ज्ञानमार्गीयम् । ज्ञानगम्यत्वात् । नापि मर्यादाभक्तिमार्गीयम् । 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति
श्रुतेः । नापि पुष्टिमर्यादायाम् । मर्यादाशेन ज्ञेयत्वात् । अतः पुष्टिपुष्टवेव सूक्ष्मत्वात्तद्विज्ञेयम् ।
'यतो वाच' इति श्रुतेः । तर्हि वस्त्वभावसिद्धिः । नेत्युच्यते । 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने' इति वाक्यात्, 'पूर्णा भगवदीयास्ते शेषव्यासाभिमास्ता'
इति वाक्याच्च वस्तुसिद्धेरिति । अग्रे दूरस्थमित्यादिसमानम् । अग्रे भक्ते विशेषः 'मद्रक्त एतद्विज्ञाय'ति ।
अतिशयितेति । 'भगवान्भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोग'मिति वाक्यात् ।
न च भक्तियोगो मर्यादाभक्तिरपि । भजतामित्यनेन तत्सद्भावात् । प्रवृत्तीति । अकामयमानस्य
प्रवृत्तिर्बोध्या । अतादृशेति । अनधिकारिणः सर्वे तेषां दुर्ज्ञेयार्थसद्भावे ॥ ९ ॥

तर्हि ब्रह्मविदामिव तादृशानां भक्तानामपि स्वमार्गोपदेशनं कश्चिच्छूयेत,
न चैवम्, अतः पूर्वोक्तं न साधीय इति भातीत्युत्सूत्रमाशङ्क्य तत्र हेतुमाह ।

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

उपदेशनं तदा स्यात्, यदि ब्रह्मविदामिव तेषां स्वास्थ्यं स्यात्, यतस्तेषां
विरहिदशा प्रियसङ्गमदशा चेति दशाद्वयमेव भवति, नान्या । पूर्वस्यास्तस्या-
स्त्वतिदुःसहत्वेन सर्वेषां भावानामुपमर्देन तिरोधानेनोपदेशो न भवतीत्यर्थः ।
सङ्गमे तु, अतः, पुरःप्रकटपरमानन्दस्वरूपाद्भगवत एव हेतोरुपदेशोऽन्यस्मै न
भवतीत्यर्थः । न हि भगवदग्रे स सम्भवतीति भावः ॥ १० ॥

ननु 'रसो वै सः रसः खेवायं लब्धवानन्दी भवती'त्युपक्रम्य 'एष खेवा-
नन्द्याती'ति श्रुतेरुक्तरूपानन्दप्राप्तौ दुःसहविरहतापोऽशक्यवचनः । आनन्द-
तिरोधान एव तत्सम्भवात् । तद्वेतोरसम्भवात्, सम्भवे तु तत्प्राप्तिरेव न
स्यादिति प्राप्ते, उत्तरं पठति ।

अस्यैव चोपपत्तेरुत्पत्त्या ॥ ११ ॥

आनन्दात्मकरसात्मकस्यास्यैव भगवत एव धर्मं ऊत्सा विरहताप इत्यर्थः ।
विरोधपरिहारायाह उपपत्तेरिति ।

इदमुक्तं भवति । भगवद्विरहस्य सर्वसाधारणत्वेपि स्याद्विभावात्मक-
रसरूपभगवत्प्रादुर्भाषो यस्य हृदि भवति, तस्यैव तदप्राप्तिजस्तापः, तदनन्तरं

भाष्यप्रकाशः ।

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥ सूत्रमवतारयन्ति तर्हीत्यादि । तत्रेति । तादृशमार्गानुपदेशे ।
सूत्रं व्याकुर्वन्ति उपदेशनमित्यादि । अर्थस्तु स्फुटः ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरुत्पत्त्या ॥ ११ ॥ उपमर्दे प्रत्यक्सन्धानं वारयितुमग्रिमसूत्रमवतारयन्ति
ननु रस इत्यादि । तद्वेतोरित्यादि । तद्वेतोरानन्दतिरोधायकहेतोरविधाकात्मकमरूपस्य
उत्कटभक्तिभावे सत्यसम्भवात् उत्कटभक्तिदशायामप्यविधादिसम्भवे तु तत्प्राप्तिर्भगवत्-
प्राप्तिरेव न स्यात् । सा च तेषामस्ति । अतः उत्पत्त्यासम्भवादनुपदेशोऽसङ्गत इति प्राप्ते । सूत्रं
व्याकुर्वन्ति आनन्देत्यादि । तथा चान्तःप्राप्तिबाह्याप्राप्तिभ्यामानन्दानुभवविरहतापाविति इत्य-
मप्युपपद्यत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

रश्मिः ।

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥ स्फुट इति । अत इति सौत्रं व्याख्येयम् । पुर इत्यादि
व्यख्यानम् । सम्भवतीति । दासानामाज्ञां विना सम्भवतीति । एवं स्फुटः ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरुत्पत्त्या ॥ ११ ॥ प्रत्यवेति । आनन्दरूपत्वाद्भगवतः सन्देहादिभि-
नोपमर्दे इति प्रत्यख्यानम् । सम्भवे त्वित्यादिमाध्यं विवृण्वन्ति स्म उत्कटेति । अनुपदेशः
असङ्गत इति । एकः पदान्तादतीति न भवति, वाक्ये विवक्षाभावेन संहिताभावात् । आनन्दे-

नियमनस्तत्प्राप्तिश्च भवति, न त्वतथाभूतस्येत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तरसस्यैवैव धर्म इति निश्चीयते । तस्य वस्तुन एव तथात्वात् स तापोपि रसात्मक एव ॥ ११ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

ननु 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखं' इति श्रुत्या दुःखप्रतिषेधस्तादृशो भक्ते क्रियत इति तस्य दुःखित्वं न वक्तुं शक्यमित्याशङ्क्य प्रतिषेधति नेति । कुतः । शारीरात् । शरीरसम्बन्धिनो हेतोर्पदं दुःखं कर्मजनितमिति यावत्, तस्यैव श्रुतौ प्रतिषेधात्प्रानुपपत्तिरित्यर्थः । एतेन दुःखत्वेन कर्मजन्य-

भाष्यप्रकाशः ।

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥ अत्र पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्दुरुहत्वात् पूर्वपक्षे, उपमर्दप्रज्ञाशब्दं, तस्यैवेति सूत्राच्चस्यैवोप्पेति पदत्रयं चानुवर्त्य, सिद्धान्ते चोपपत्तेरिति पद-मनुवर्त्येदं व्याख्यायत इत्याशयेन पूर्वभागं व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । तस्य दुःखित्वं न वक्तुं शक्यमिति । तस्य भगवत्स्वरूपलाभवतो भक्तस्य दुःखित्वं तस्यैवोप्पेत्यनेनोक्तो विरहतापो न वक्तुं शक्यः । प्रतिषेधतीति । प्रतिषेधस्य कर्मजन्यत्वं बोधयंस्तत्कथना-शक्यत्वं प्रतिषेधति । सिद्धान्तभागं व्याकुर्वन्ति नित्यादि । तस्यैवेति । शरीरसम्बन्धिनोर्भूत्यु-रोगयोरनन्तरं तत्राप्यापठे पठितस्य तादृशस्यैव दुःखभावस्य पूर्वपक्षोक्तहेतोः संग्रहं ध्रुवयन्ति एतेनेत्यादि । एतेनेति । सिद्धान्तभागेन । तथा च भगवद्विरहदुःखं कर्मजन्यं दुःखत्वाद् दुःखाः-रश्मिः ।

व्यादीति । विरोधेति । आनन्दानुभवविरहतापयोर्विरोधपरिहाराय । अन्वयेति । स्थायिभावा-त्मकरसरूपभगवत्प्रादुर्भावसत्त्वे विरहतापः, उक्तप्रादुर्भावाभावे विरहतापाभाव इत्यन्वयव्यतिरेकौ ताभ्याम् । यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः, यदभावे यदभावो व्यतिरेक इति ॥ ११ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥ दुरुहत्वादिति । अनुवर्तनीयपदाज्ञानात् पूर्वपक्षस्य, स्वरूपतः सिद्धान्तस्य दुरुहत्वं बोध्यम् । तेनायं सूत्रार्थः । अस्य भक्तस्यैव ऊष्मा दुःखित्वं न, प्रतिषेधात् । इति चेन्न । शारीरात् । शरीरसम्बन्धिनः कर्मजनितदुःखात् हेतोः, तं हेतुं प्रकृत्योपपत्तेरिति । उपपत्तिस्तु कर्मजनितदुःखस्यैव प्रतिषेधादिति । नन्वित्यादीति । दुःखतां दुःखसत्ताम् । तस्यैवेति । अत्रास्यैवेति सूत्रादस्यैवोप्पेतिपदत्रयमिति पाठः । तस्यैवोप्पेति । तस्यैव तदप्राप्तिजस्ताप इति भाष्येण । तापवत्त्वोपपदोपादानम् । प्रतीति । दुःखस्य । बोधयन्निति । व्यासः । तत्कथनेति । भक्तस्योष्मकथनाशक्यत्वम् । 'न पश्य' इति श्रुतिमनुसन्ध्याहुः शरीरसम्बन्धिनोरिति । तथा चायं भाष्यार्थः । शरीरसम्बन्धिनो हेतो-रिति । शरीरसम्बन्धिनः यस्य दुःखस्य हेतोः कर्मणः इत्यर्थः । एतदेवाहुः यद्दुःखमिति । प्रतिषेधादिति । आवृत्योपपत्तिहेतुत्वेनोक्तः । अनुवृत्तस्योपपत्तिपदस्यार्थमाहुः नात्रेति । अत्र भक्तस्योष्मणि । दुःखत्वेनेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तथेत्यादि । यथा सिद्धान्तभागेन पूर्वसूत्रो-

त्वानुमानमपि निरस्तं वेदितव्यम् । लौकिक एव दुःखे तज्जन्यत्वनियमात् ॥ १२ ॥
स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

एकेषां शास्त्रिणां भगवत्स्वरूपलाभानन्तरं दुःखतन्निवर्तनलक्षणोऽर्थः स्पष्टः पठ्यते ।

तथाहि । 'रसो वै सः, रसः ह्येवायं लब्धवानन्दीभवति, को ह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयति' । अत्र रसात्मकभगवत्स्वरूपलाभे सत्यानन्दवत्त्वमुक्त्वा, तस्यैव जीवनहेतुत्वं परमानन्दहेतुत्वं बोध्यते । मरणहेतूपस्थित्यभावे जीवनहेतुत्वं न वदेत् । स रसस्तु संयोगविप्रयोगभावाभ्यामेव पूर्णो भवत्यनुभूतः, नैकतरेण । तत्र विरहतापस्यात्युपमर्दित्वेन तदा प्राणस्थितिरपि न स्यात्, यदि रसात्मको भगवान् हृदि न स्यादित्याशयेनाह, 'को ह्येवान्या'दिति । यत् यदि एष हृदि स्फुरद्रूप आकाशो भगवान् स्यात्, कस्तदाऽन्याद्, अन प्राणने, को वा जीव-

भाष्यप्रकाशः ।

न्तरवदिति साधने, सुखत्वेन हेतुना मोक्षसुखस्यापि तथात्वापत्तेस्तत्परिहाराय तत्र लौकिक-त्वस्योपाधित्वं वाच्यम् । तत्रापि तुल्यमिति लौकिक एव दुःखे कर्मजन्यत्वनियमाद् उपपत्तेरेव निरस्तमित्यर्थः ॥ १२ ॥

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥ पुष्टिमार्गीयस्य भगवद्विरहजं यद्दुःखं तत्र कर्मजन्यमित्यत्र प्रमाणापेक्षया तद्विधनायेदं सूत्रमित्याशयेन सूत्रं पठित्वा व्याचक्षते एकेषामित्यादि । शास्त्रि-नामिति । तैत्तिरीयाणाम् । श्रुतिगुणस्य तदर्थं व्याख्यातुं गृह्णन्ति अत्रेत्यादि । विभजन्ते स रस-रश्मिः ।

क्तेतोः सङ्ग्रहसूचनम्, तथा दुःखत्वेनेत्यादिभाष्येण भगवद्विरहेत्याद्युक्तम् । सुखत्वेनेत्यादि । मोक्षसुखं कर्मजन्यम्, सुखत्वात् सुखान्तरवदित्यनुमानेन सुखत्वेन हेतुना मोक्षसुखस्यापि तथा-त्वापत्तेः कर्मजन्यत्वापत्तेः । तत्परीति । मोक्षसुखस्य कर्मजन्यत्वपरिहाराय । अत्रापीति । दुःखत्वलिङ्गकानुमानेपि । लौकिक इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म लौकिक इति । एवेति । अयमलौकिकसुखदुःखयोगव्यवच्छेदकः । उपेति सूत्रेऽनुवृत्तोपपत्तेरेव न तत्सूत्रयुक्तेरित्यर्थः । उपाधित्वं तु साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् । तत्र साध्यसमानाधिकरणः कर्मजन्यत्वसमानाधिकरणो यो लौकिकत्वात्यन्ताभावो दुःखान्तरे नास्ति, किन्तु घटाभावस्तादृशाभावप्रतियोगित्वं घटे अप्रति-योगित्वं लौकिकत्व इति साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वमिति लक्षण-समन्वयः एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमित्यर्थः । साधनयद् दुःखत्ववद् अलौकिक-दुःखम् । तन्निष्ठो योऽत्यन्ताभावः लौकिकत्वात्यन्ताभावः तादृशाभावप्रतियोगित्वं लौकिकत्वेन त्ववधृते घटाभावे प्रतियोगी घट इति साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वमिति लक्षणसमन्वयः ॥ १२ ॥

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥ अलौकिकदुःखसत्त्वे पुनः प्रमाणमत्र । विभजन्त इति । विभागं व्याख्यातं कुर्वते । स रस इत्यादीति । एवकारव्यवच्छेदमाहुः नैकतरेणेति । संयो-गेन विप्रयोगेण वा । साधनैकदेशत्वात् । क इति । कर्तृसामान्यपदम् । भाष्ये ।

येत्, न कोपीत्यर्थः । तादृशस्य भगवत्स्वरूपातिरिक्तात् जीवनमिति ज्ञापनाय सामान्यपदम् । ब्रह्मानन्दाधिकपूर्णानन्दविरहासन्नमरणनिवारणासामर्थ्यम-
तादृशस्योचितमेवेति ज्ञापनाय हिशब्दः । तादृशस्य जीवनसम्पादनं प्रभो-
रावश्यकमिति ज्ञापनाय एवकारः । तापात्मकस्याप्यानन्दात्मकत्वमेवेति ज्ञाप-
नायानन्दपदम् । तदा प्रलापगुणगानादयो ये भवन्ति, तेषु तद्धर्मा एव । नीला-
म्बुदश्यामोऽतिक्लेशशब्दाद् हृदयादपगच्छत्विति भावेऽपि हृदयात्प्राप्तारयितुं
शक्य इति ज्ञापनाय आकाशत्वमुक्तम् । तदनन्तरं प्रकटीभूय, तदन्यः को वा
प्रकर्षेण दर्शनस्पर्शाश्लेषभाषणादिभिः स्वरूपानन्ददानेन अन्यात्, पूर्वतापनि-
वृत्तिपूर्वकमानन्दपूर्णं कुर्यादित्यर्थः । 'रसः खेवायं लब्धवानन्दीभवती'ति
पूर्ववाक्येनैवान्यदयत्तच्छेदपूर्वकं भगवत्प्राप्तेरानन्दहेतुत्वप्राप्तावपि यत्पुनराह,
तत्रापि व्यतिरेकमुखेन, तत्रापि जीवनहेतुत्वम्, तदपि सामान्यविशेषाभ्यां
वारद्वयम्, तेन विरहसामयिकोक्तरूप एवार्थः श्रुतेरभिप्रेत इति निश्चीयते ।

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यादि । तत्रेति । पूर्णरसानुभावनेच्छया भगवत्तानुभाव्यमाने विप्रयोगे । सामा-
न्यपदमिति । क इति पदम् । ब्रह्मानन्दाधिकपूर्णानन्दविरहासन्नमरणनिवारणा-
सामर्थ्यमिति । अक्षरानन्दादधिको यः पूर्णानन्दो भगवांस्तद्विरहेणासन्नं यन्मरणं तद्विचारणे
असामर्थ्यम् । तद्धर्मा इति । विप्रयोगरसात्मकस्य भगवत् एव भर्माः । आकाशपदस्य ब्रह्म-
वाचकत्वेऽपि व्यापकत्वरूपं धर्ममादाय तस्य तात्पर्यान्तरमाहुः नीलाम्बुदेत्यादि । अति-
क्लेशशब्दादित्यस्य, इति भावेऽपीत्यनेन सम्बन्धः । प्राण्यादिति पदसार्थमाहुः तदनन्तर-
मित्यादि । अस्याः श्रुतेरयमेवार्थ इत्यत्र किं गमकमित्यपेक्षायां तदाहुः रसमित्यादि । यत्पु-
नराहेति । 'को हेवान्या'दित्यादिना आनन्दनं यत्पुनराह । अन्यथेति । विरहावस्थाया अन-
भिप्रेतत्वे । अत्र 'अन्यात्' 'प्राण्या'दित्यत्रान्यतरैरेव जीवनसम्पादनसिद्धौ सामान्यविशेषभावो
नातीवोपयुज्यत इत्यरुच्या 'प्राण्या'दित्यस्य व्याख्यानान्तरमाहुः तदवस्थेत्यादि । तथा च मास्तु
सामान्यविशेषभावः, तथाप्युक्तव्याख्यानेन दोषनिवृत्तेर्मगलप्रयोगदुःखस्य कर्माजन्यत्वे उक्त्-
रश्मिः ।

हिशब्द इति । श्रुतौ हिशब्दः । एवकारोऽवधारणार्थ इत्याहुः तादृशस्येति । तापात्मकस्येति ।
टिप्पण्यामेतत्स्पष्टम् । वागवर्णनीय आनन्दे भक्तविरहदुःखं कियत् यद् स्वस्वरूपं सुखमतिक्रम्य
प्रमवेत्, किन्तु सुखाय तत्स्वरूपोपज्ञापकत्वात् । दुःखमिन्नं सुखमिति । एवकारो दुःखमनु तद्वि-
तैवैषचप्रयोगे सुखविशेष इत्यनुभवात् । प्रलापेति । 'मधुप कितवचन्धो' इति प्रलापः । प्रकृते ।
ब्रह्मवाचकत्व इति । आकाशस्तद्विरहादित्यधिकरणत्वात् । तात्पर्यान्तरमिति । आकाशत्वाच्छब्दे
आकाशपदशक्तिः । नीलाम्बुदश्यामे तात्पर्यम् । हृदयादपसारणाशक्तयेवं तात्पर्यान्तरम् । एतत्
ज्ञापनाय चेति भाष्यीयचकारार्थः । तदाहुरिति । गमकमाहुः । अप्रान्यादिति । अयं साया-
न्यविशेषाभ्यां वारद्वयमिति भाष्यार्थोऽपि । यद्युज्यत इति । यस्मान्न युज्यत इति ननुविशिष्टोऽर्थ
भाति । तदवस्थेत्यादीति । अन्यात् स्त्रीः प्राण्यात् पुरुषः, 'स्त्रियो वा पुरुषा वापि भर्तृभावेन
केशवम् । इति कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशय' इति वाक्यात् । उक्तेति । भाष्योक्तव्याख्यान-
ान्तरेण पुनरुक्तिदोषस्य अन्यात् प्राण्यादित्यत्र निवृत्तेः । कर्माजन्यत्वं इत्यस्य प्रमाणमित्यनेनान्वयः ।

अन्यथा मरणहेतुत्वपस्थितौ जीवनहेतुत्वं न वदेदित्युक्तम् । तदवस्थापन्नः को
वा पुरुषो जीवेदिति वार्थः ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

भगवद्भावस्य मरणहेतुत्वम्, तेनैव च जीवनं तस्य ब्रह्मादिदुरापत्वं च
श्रीभागवते स्मर्यते । 'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थं त्यक्तदैहिकाः । ये
त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थं तान् विभर्म्यह'मित्युपक्रम्य, 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण
प्रायः प्राणान् कथञ्चने'त्यादिश्रीप्रभुवचनम् । श्रीमद्ब्रह्मवचनं च 'एताः परं
तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः । वाञ्छन्ति यं
भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य' इत्यादि । तेन
भगवत् एव जीवनहेतुत्वं भावस्य च परमपुरुषार्थत्वं दुरापत्वं च स्फुट-
मवगम्यते ॥ १४ ॥

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

ननु हृदि बहिश्च रसात्मकभगवत्प्राकृत्यम्, तददर्शनजनितो विरहभावः,
तज्जनितस्तापः, तेन मरणोपस्थितिः, तद्विचर्तनं तदौत्कथ्यं, तदा प्राकृत्यं, ततः
पूर्णस्वरूपानन्ददानादिकं लोके क्वचिदपि न दृष्टं श्रुतं वा वैकुण्ठेपीति कुत
इत्याशङ्क्यामाह । तानि । उक्तानि वस्तूनि परे प्रकृतिकालाद्यतीते वैकुण्ठा-
दप्युत्कृष्टे श्रीगोकुले एव सन्तीति शेषः । तत्र प्रमाणमाह । तथाह्याह

भाष्यप्रकाशः ।

श्रुतिबोधितं भगवत्कर्तृकजीवनसम्पादनरूपमासन्नमरणलिक्रमेव प्रमाणमित्यर्थः । असिन् सत्रे
'एकेषां स्पष्ट' इत्युक्त्या शास्त्रान्तरेऽस्पष्ट इति बोधितम् । तेन भूमविधायां 'आत्मतः प्राण'
इत्यादिकथने 'आत्मत एवाविर्भावतिरोभावा'वित्यपि कथनेन व्यापारतया विरहदुःखस्यापि सार-
णादिति । एतेनापि, 'न पश्यो मृत्युं पश्यती'ति श्लोकोक्तस्य दुःखस्य कर्मजन्यत्वं दृढीभवति ।
अदर्शनकथनेन तस्यैवाप्राप्तस्य बाधबोधनादिति बोध्यम् ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥ यद्यपि रसात्मकमेव ब्रह्म प्रकृत्येयं श्रुतिः प्रवृत्तेति नास्मिन्नर्थे सन्देहः,
तथापि कश्चिदेतदर्थं सामान्यजीवपरतया शङ्केतेति तद्वारणायैतमर्थं स्मृत्योपष्टम्भयतीत्याशयेन
सत्रं पठित्वा व्याचक्षते भगवद्भावस्येत्यादि ॥ १४ ॥

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥ इत्यमवतारयन्ति नन्वित्यादि । न दृष्टं
श्रुतं वेति । फलकोटी न दृष्टं श्रुतं वा । इति कुत इति । इति हेतोः कुत एवमुच्यत
रश्मिः ।

उक्तेति । कः प्राण्यादित्यस्याः पूर्वा उक्तश्रुतिस्तया बोधितम् । व्यापारतयेति । आत्मत इत्यत्र
तसिलर्थः सव्यापारो हेतुरिति भावः । विरहेति । आत्मनः सव्यापारहेतोः विरहदुःखाविर्भाव
इति स्मरणात् । एतेनेति । शास्त्रान्तरीयेणापि । अदर्शनेति । न पश्यतीति योजनया अदर्शनकथनेन ।
तस्यैवेति । कर्मजन्यत्वं दुःखस्य ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥ भाष्ये । जीवनेति 'तान् विभर्म्यह'मिति जीवनहेतुत्वम् । 'वान्छन्ति
य'मित्यादिना परमपुरुषार्थत्वादि ॥ १४ ॥

श्रुतिः । ऋग्वेदे पठ्यते 'ता वा वास्तून्पुष्मसि गमध्वै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि' । ता तानि वा भगवत्तदन्तरङ्गभक्तयोः सम्बन्धीनि वास्तूनि वस्तूनि गमध्वै प्राप्तुमुष्मसि कामयामहे । तानि कानीत्याकाङ्क्षायां गृह्णाभिसन्धिमुद्गाटयति । यत्र श्रीगोकुले गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा रुरुप्रभृतयो मृगाश्च वसन्तीति शेषः । अयासः शुभावहाः । तत् उक्तगुणविशिष्टं उरु गीयत इत्युरुगायस्य । गीयते हि सततं तं गायन्ति । अत एव तदादिभक्तेषु कामान् वर्धतीति वृषा । तस्य परमं प्रकृतिकालाद्यतीतं पदं स्थानं भगवतो वैकुण्ठं भवति । तत्रैतादृशलीलाभावेन तस्मादपि परममुत्कृष्टम् । अत्र भूमाववभाति प्रकाशत इत्यर्थः । तथापि स्वहृद्गोचरो न भवतीति खेदेन अहेत्याह श्रुतिः । उरु गीयते परं सर्वत्र कामवर्धनं भक्तेष्वत्रैवेति तात्पर्येण वा विशेषणद्वयमुक्तम् । यमुनापुलिचतदुपवननिकुञ्जगह्वरप्रदेशाद्रिसान्वाद्यात्मकत्वेन भूरि बहुरूपम् । तथा चैतादृशं यत् परमं पदमवभाति तत्सम्बन्धीनि वास्तूनि कामयामहे इति वाक्यार्थः सम्पद्यते । 'ते पदार्था' इति वक्तव्ये सति 'तानी'त्युक्तिर्या, सा विषयवाक्यानुरोधादिति ज्ञेयम् ।

पुरुषोत्तमसम्बन्ध्यर्थानां तत्प्राकट्यस्थान एव प्राकट्यं युक्तमिति हिशब्देनाह ॥ १५ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥ (४-२-४)

ननु लीलाया नित्यत्वेन तन्मध्यपातिनां तद्दर्शनं यथा नित्यम्, तथा तादृक्साधनाभावेपि निजानुकम्पया कदाचित् कमपि भक्तं तत्र नयति

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यर्थः । आहृति । तस्य स्थानं, तत्र प्रमाणं चाह । अत्रस्य श्रुतेश्च व्याख्यानमतिरोहितार्थम् ॥ १५ ॥ इति तृतीयं समानाधिकरणम् ॥ ३ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥ एवं नवभिः सूत्रैस्तदाशङ्कानिराकरणेन वागादिलय-प्रकारभेदावश्यकत्वं दृढीकृत्य पुष्टिमार्गविषय एव किञ्चिद्विचारयतीत्याशयेनाधिकरणमवतारयन्ति ननु लीलाया इत्यादि । अत्र यदि वियोजयति, तदापि कृपाविषयत्वात् संसारे न पातयति, किन्तु मुक्तिमेव ददातीति प्रथमकोटेराशयः । द्वितीयकोटिस्तु कादाचित्कत्वादनुपपन्नैति सन्देह-पीडम् । शेषं भाष्यमतिरोहितार्थम् ।

रश्मि

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥ अतिरोहितार्थमिति । उत्कृष्ट इति । वाराहेस्ति वैकुण्ठादप्युत्कृष्टं गोकुलमिति चातुर्मासमाहात्म्ये । 'वेदार्थो रामकृष्णयो'रिति कृष्णोपनिषच्छ्रुतेरर्थ-माहुः श्रीगोकुल इत्यादि । एतादृशलीलाभावेनेति समत्वादेवम् । अहृति खेदे । अधो-क्षजत्वाद् विरुद्धधर्माश्रयत्वाद्वाहुः पुरुषोत्तमसम्बन्ध्यर्थानामिति । औचित्यैवकारः । एवमतिरो-हितार्थम् ॥ १५ ॥ इति तृतीयं समानाधिकरणम् ॥ ३ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥ अतिरोहितार्थमिति । निजेति । प्रमेयत्वेन ।

येत् तदा कश्चित्कालं स्थापयित्वा, ततस्तं वियोजयति, न वेति संशयः । तोषस्य कादाचित्कत्वात् तत्साध्या तत्र स्थितिरपि तथैवेति वियोजयतीति पूर्वः पक्षः । तत्र सिद्धान्तमाह । तत्र प्रवेशितस्य तस्माद्विभाग एव । कुतः । वचनात् । तैत्तिरीयक उक्तगमन्तरमेव, 'विष्णोः कर्माणि पश्यते'त्युक्त्वा तत्र कृतानि कर्माण्युक्त्वा, तदग्रे वदति 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय' इति । पुरुषोत्तमस्वरूपवित्त्वं सूरित्वम् । तच्च भक्त्यैवेति सूरयो भक्ता एव । तेषां सदा दर्शनमुच्यते । अन्यथा लीलानित्यत्वेनैव पूर्वगभ्यां तत्र स्थितगवादीनां प्रभुकर्मविषयाणां च भक्तानां सदा तद्दर्शनस्य प्राप्तत्वादिदं न वदेत् । तस्माद्विभाग एव । एतेनापि लीलानित्यत्वं सिध्यति । एतद् यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम् ॥ १६ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे चतुर्थमविभागाधिकरणम् ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः

अयं च विचारः प्रासङ्गिक इति बोध्यम् । तस्य स्थानस्य परिच्छिन्नत्वाद् भक्तानां च नाना-देशत्वेन तत्र तत्र मरणे ततो निर्गत्यात्रागमनस्यावश्यकत्वात् सद्योमुक्तिप्रसङ्ग एतद्विचारो न युक्त इति शङ्क्यम् । दहराधिकरणन्यायेन तन्नित्यत्वस्य परिच्छिन्नत्वेपि व्यापकत्वस्य, एतस्य

रश्मिः १

उक्तमिति । 'ता वा वास्तूनी'त्याद्युपगन्तरम् । तत्रैति फलात्मकपुरुषोत्तमज्ञानवत्त्वं च भक्त्यैव, 'भक्त्या मामभिजानाती'ति वाक्यात् । प्रभित्ति । निजानुकम्पया नित्यकीडायां निवेशितानाम् । तथा च प्रभुनिवेशनकर्मविषयाणाम् । इदम् । 'सदा पश्यन्ति सूरय' इत्युक्तं दर्शनम् । अविभाग एवेति । तेन 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिष च स्थित'मिति गीतायां विरुद्धधर्माश्रयत्वं नोक्तम्, किन्तु ब्रह्मस्वरूपमेवेति द्योतितम् । तेन भेदाभेदाविलयत्रापि भेद इवार्थः स्वरूपनिविष्टः, न तु विरुद्ध-धर्माश्रयत्वार्थम् । यथा 'प्रवर्तते यत्र रजस्तम' इत्यत्र, 'विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवित'-मित्यत्र मायाविद्याविद्याभ्यां न विरुद्धधर्माश्रयत्वम् । मायाया अवस्थितमतेऽनङ्गीकारेण तथा विरुद्ध-धर्माश्रयत्वासिद्धिः । विद्याविद्ययोस्तु ज्ञानस्वरूपत्वात् प्रभोरविद्यया तन्नाशयया न विरुद्धधर्माश्रयत्वम्, तथा । नन्वविद्यायाः सर्वथा नाशे 'कृत्वातरन् वत्सपदं स्म यत्प्रवाः' इत्यस्य सुबोधिन्युक्तदिशा-हन्ताममतयोरपि भेदनिबन्धनत्वात् तन्नाशे सुबोधिन्यादिविरोध इति चेत् । न । जगतो बन्धकत्वेन मोचकभक्तिमार्गाविषयत्वात्तदीयाहन्ताममतयोर्बन्धकत्वेपि भक्तिमार्गेऽहन्ताममतयोर्भक्तित्वेन मोचक-त्वात् । इवार्थभेदनिबन्धनत्वेपि बन्धदोषाभावात् स्वरूपतो ब्रह्मत्वात् । एतेनापीति । 'पश्यन्ती'ति वर्तमानप्रयोगेण । ननु 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवदे'ति सामीप्ये वर्तमानप्रयोगेपि 'पश्यन्ती'ति लङ्प्रपत्तेर्न लीलानित्यत्वं सिध्यतीत्यत आहुः एतद्यथातथेति । 'जयति जननिवासो देवकीजन्म-वाद' इत्यत्र निरोपलीलोपसंहारश्लोके 'जयती'त्यादिवर्तमानप्रयोगेण लीलानित्यत्वसाधने प्रपञ्चितम् । अत्राप्यष्टाविंशतिदोषास्ते सुवर्णसूत्रे विविच्य परिहृताः । भक्तिमार्तण्डेपि मया लिखिताः । एवमतिरोहितार्थमित्यर्थः ।

प्रकृतमनुसरायः । तस्येति । श्रीगोकुलीयस्य (व्रजभवस्य) भक्तस्थानस्य । अत्रेति । भवक-

भाष्यप्रकाशः ।

व्रजस्य तद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् । तद्व्युत्पादितत्वात् तादृशभक्तस्य यत्र कचन मरणेऽपि तदानीं लीलादिसहितस्य भगवतो हृदि वा बहिर्वा प्राकट्ये तत्स्थानादेरपि तत्रैव प्राकट्येन तत्रैव तस्य तत्प्राप्तेर्विद्वन्मण्डन एवोपपादितत्वेन सद्योमुक्तिविचार एतद्विचारस्य युक्तत्वादिति । अन्ये तु, 'समाना चास्युत्पत्कमा'दित्यादिषु दशसु सूत्रेष्वपि प्रथमे सूत्रेण्यनाडीद्वारा देवयानमार्गे गमनात् पूर्वं विद्वद्विदुषोरुत्क्रान्तिसाम्यं व्याख्यातम्, तदोकोप्रसूत्रोक्त-ज्वलनादेव स्वयमाणतया गतार्थम् । यत्पुनरग्रेविद्यादिक्लेशानदग्ध्वा आपेक्षिकममृतत्वं व्याख्या-तम्, तत्त्वप्रिमपादे गमनस्य प्रारब्धभोगार्थत्वाद्यदैव प्रारब्धनिवृत्तित्तदैव मोक्ष इति व्यु-त्पादनेन दूषयिष्यते । यत्पुनरद्वितीये तेजः परस्यां देवताया'मित्युक्तायाः साध्यक्षसप्राणसकरण-प्राप्तसभूतान्तरस्य तेजसः परदेवतायां सम्पत्तेः सौबुतिकसम्पत्तिवत् संसारबीजभावयुक्तत्वं व्याख्यातम्, तत्क्रान्तिसामर्थ्यादेवार्थात् सिध्यतीत्यविचार्यम् । यत् तृतीये पूर्वोक्ततेजसो निष्क्रमणवेलायां दुर्ज्ञेयत्वम्, चतुर्थे च स्थूलशरीरदाहादिना लिङ्गशरीरस्य सूक्ष्मत्वादनुपमर्दम्, पञ्चमे च देहीष्यरूपस्योष्मणः सूक्ष्मशरीरधर्मत्वं व्याख्यातम्, तत्प्रयोजनाभावादनर्थकम् । षष्ठे च 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ती'ति शरीरब्राह्मणीयवाक्ये या षष्ठी, सा आर्तभागब्राह्मणीये 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ती'ति वाक्ये या पञ्चमी तथा सम्बन्धसामान्ये व्यवस्थाप्यमाना पञ्चम्य-र्थमेवाभिधत्ते इति परविद्यावतोपि जीवान् प्राणानामुत्क्रमः, किन्तु सहैव प्राणैः स्थितिरिति रश्मिः ।

स्थाने । तद्दृतीति । भगवद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् । व्युत्पादितत्वादिति । 'सर्वोपेता चे'त्यधिकरणे 'लोकवचु लीला कैवल्य'मितिसूत्रे तथा । यद्वा । प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे 'अन्तर उपपत्ते'रित्य-धिकरणे । तथाप्युपपादितत्वादित्यर्थोपत्त्या पूर्वं व्युत्पादितत्वादित्यर्थः । पूर्वं तृतीयाध्याये उपसंहारपादे 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे' इत्यादिसूत्रभाष्ये । तत्स्थानादेरिति । भगवतः स्थानम्, आदिना यद्यद्विद्या भावितं रूपं तत् तस्य । तत्रैवेति । व्रज एव । तस्य भक्तस्य । तत्प्राप्तेः भगवत्प्राप्तेः । दूषयन्ति स्म तद् ओकोप्रेति । वक्ष्यमाणाधिकरणेऽस्ति । गतार्थमिति । सूत्राणां न्यायरूपत्वादिति भावः । अग्र इति । 'अमृतत्वं चानुपेक्ष्ये'ति सूत्रांशे । अनुपेक्ष्येत्यस्यार्थो विद्यादिक्लेशानदग्ध्वेति । द्वितीय इति । 'तदापीते'रिति सूत्रे । तत् तेज आदिभूतं सूक्ष्मं आपीतेरासंसारगोक्षात् सम्यग् ज्ञाननिमित्ता-दवतिष्ठतः पुंसः । 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुत'-मिति सूत्रार्थः । साध्यक्षं सजीवं तेजः । अत्र सूक्ष्मशरीरस्य लयः । संसारबीजेति । संसारबीजं कर्म, तदभावयुक्तत्वम् । 'संसारव्यपदेशा'दिति सूत्रांशव्याख्यानम् । संसारस्य संसारबीजस्य व्यप-देशादभावात् । तथात्र भाष्यं 'बीजभावावशेषैवेवा सत्सम्पत्ति'रिति । तत्तु क्रममुक्तिव्यकाञ्चीभागवता-देवासन्दिग्धमित्याशयेन दूषयन्ति स्म तत्त्विति । तृतीय इति । 'सूक्ष्म'मिति सूत्रे । दुर्ज्ञेयत्व-मिति । सूक्ष्ममित्यस्यार्थः । 'प्रमाणतश्चै'त्यस्य सूत्रांशस्य नाडीनिष्क्रमणश्रुतेः । 'तथोपलब्धे'रित्यस्य सूत्रांशस्य तनुत्वात् सञ्चारोपपत्तिः, स्वच्छत्वाच्चप्रतिपातोपपत्तिः, अत एव देहाभिर्गच्छन् पाश्च-स्येनोपलभ्यत इत्यर्थः । चतुर्थे इति । 'नोपमर्दने'ति सूत्रे । नोपमर्दनेत्यस्यार्थः स्थूलशरीरत्यादिः । सूक्ष्मत्वादिति । सौत्रस्य अत इत्यस्यार्थः । पञ्चम इति । 'अस्यैवे'ति सूत्रे । षष्ठ इति । प्रतिषे-धादिति सूत्रे । आर्तभागेति । सप्तम्यन्तम् । तस्मादिति श्रुतिः । परविद्यावत इति । पञ्चम्य-

एवं पुष्टिमार्गीयभक्तवृत्तान्तमुक्त्वा ज्ञानमार्गीयस्य तमाह ।

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेष-

गल्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुग्रहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥ (४-२-५)

पूर्वं, 'भूतेषु तच्छ्रुते'रित्यादिना मर्यादामार्गीयस्य वागादिलय उक्तोद्युना तस्य जीवात्मन उत्क्रमणप्रकार उच्यते । 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वपक्षः । सप्तमाष्टमयोस्तु परविद्यावतः शरीरादेव प्राणाननुत्क्रम इति परविद्यावान् केवल एव मुच्यत इति सिद्धान्तः । नचमे च परविद्यावतः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परे ब्रह्मण्येव सम्पद्यन्त इति । दशमे च, परविद्यावतो यः प्राणादीनां परब्रह्मणि लयः स नान्य-प्राणलयवत् सविशेषः किन्त्वात्यन्तिक इति सिद्धान्तयन्ति । तत्र षष्ठं 'प्रतिषेधा'दिव्यप्रमारम्य सूत्रपक्षके यत् प्रतिपादितम्, तदत्र पूर्वपक्षांशं विहाय, शेषं 'वाङ् मनसी'ति प्रथमाधिकरण एव हेतुक्तिपूर्वकं पुष्टिमार्गीयभक्तेन्द्रियाणां प्रतिपादितम् । ततो मर्यादामार्गीयाणां भक्तानां ज्ञानिनां च यत्ततो वेलक्षण्यम्, तदपि 'भूतेषु तच्छ्रुते'रिति द्वितीये प्रतिपादितम् । तावता सद्योमुक्तिप्रकारः सर्वोपि विचारित इति तेनैव गतार्थम् । यानि पुनस्तेरपरविद्यावद्विद्वत्सा-धारण्येन तत्परतया व्याख्यायन्ते, तान्यत्र विरोधाभावात् पूर्वोक्तदूषणेनैव विरुद्धांशदूषणस्य जातत्वादुपेक्षितानि ॥ १६ ॥ ४ ॥ इति चतुर्थमधिभागधिकरणम् ॥ ४ ॥

अतः परं क्रममुक्तिप्रकारः पितृयानेन भ्रमतां च प्रकारो विचारणीय इति तं वक्तुं सूत्रमव-तारयन्ति एवमित्यादि ।

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगल्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुग्रहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥ तत्र को वृत्तान्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः पूर्वमित्यादि । रश्मिः ।

न्तम् । जीवादिति शरीरादिसूत्रांशार्थः । नेति । श्रुतिविरोधान्न प्राणानामुत्क्रम इति विरोधादिति सूत्रांशार्थः । तथा च शरीरादुत्क्रान्तिप्रतिषेधाद् इति चेद् इत्यन्तः पूर्वपक्षः । नेति सिद्धान्ते योज्यं सूत्रे । सप्तमेति । 'स्पष्टो बोकेषाम्' 'स्मर्यते चे'त्येतयोः । प्राणाननुत्क्रमः । 'अत्रैव समवनीयन्त' इति श्रुतेरत्रैव लयः । इतीति । इत्येवम् । 'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः । देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिण' इति 'स्मर्यते चे'ति सूत्रस्य स्पष्टिहायं सिद्धान्तमाहुरित्यर्थः । नचम इति । 'तानि पर' इति सूत्रे । 'तथा ह्यहो'लस्यार्थस्तु 'एवमेवास्य परिदृष्टिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती'ति छान्दोग्यश्रुतिस्तथा बाहेति । दृष्टान्तोऽपि । 'यथा नवः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ती'ति । षोडश कलाः सूक्ष्मदेहरूपाः । दशम इति । 'अविभाग' इति सूत्रे । 'वचना'दित्यस्य तु कलानां लयोक्त्यानन्तरं 'भिद्यते चासां नामरूपे' इति वचनादित्यर्थः । पूर्वोक्तोति । 'समाना चास्य-त्युत्पत्कमा'दित्यादिसूत्रभाष्योक्तदूषणेनैव । विरुद्धांशेति । यथा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे'त्युक्ते विरुद्धस्य 'अथातो धर्मजिज्ञासे'त्यस्य धर्मज्ञस्य दूषणमप्राकरणिकत्वं तस्य जातत्वादुपेक्षा तद्वत् ॥ १६ ॥

इति चतुर्थमधिभाग इत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगल्यनुस्मृति-योगाच्च हार्दानुग्रहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥ अतः परमिति । सद्योमुक्तिविचारानन्तरम् ।

हृदयमेवान्वेषकामतीति श्रुतेस्तस्यात्मन ओक आयतनं हृदयं तदग्रं पूर्वं प्रज्वलति, पूर्वं तथा अप्रकाशमानमपि तदा प्रकाशन इति यावत् । तदा तत्प्रकाशितं द्वारं निर्गमनमार्गो यस्य तादृश उत्क्रामति । यतः श्रुतिस्तथाह 'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्धनो वेत्यादि ।

भाष्यप्रकाशः ।

पर्यादामागीयाणां सद्योमुक्तिर्दिधा, हृदय एव साधनप्राबल्ये ब्रह्म प्राप्नोतीत्येकः, तदभावे ब्रह्माण्डमध्ये दशमद्वाराभिर्गतस्य तत्रैवेत्यन्यः । क्रमशुक्तिब्रह्माण्डमेदनोत्तरं ततो बहिः । तत्राद्यायां जीवस्य नोत्क्रमणम् । द्वितीयतृतीययोस्तदपेक्षासत्त्वात् तत्प्रकार उच्यते इत्यर्थः । एवं वृत्तान्तस्वरूपमुक्त्वा सूत्रं व्याकुर्वन्ति स इत्यादि । प्रकाशन इति । इन्द्रियरूपमित्तेजोमात्राभिः प्रकाशते । सूत्रशेषं पूरयन्ति तादृश उत्क्रामतीति । श्रुतिस्तु बृहदारण्यके शरीरप्राज्ञे । 'स वा अयमात्मा अक्षयं नीत्य संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति, स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्वेषकामति यत्रैव चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्तते-स्तथारूपज्ञो भवत्येकीभवति न पश्यतीत्याहुः । एवं न जिघ्रति, न वदति न शृणोति, न मनुते, न विजानातीत्याहुरित्युक्तम् । ततः, 'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्धनो चान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति प्राणमनुत्क्रामन्तं सर्वं प्राणा अनुत्क्रामन्तीत्यादिना 'इति तु कामयमान' इत्यन्तम् । अर्थस्तु, यः पूर्वब्राह्मणे 'एभ्योऽङ्गैः समग्रमुच्ये'त्यादिना प्रियमाणावस्य उक्तः, सोऽयं शरीर आत्मा जीवो यत्र यस्यां प्रियमाणावस्थायां अवलम्ब्य नीत्य अवलम्बानं नितरां प्राप्य, संमोहमिव न्येति सम्मोहः संमूढता विवेकराहित्यं तन्नितरां प्राप्नोति, अथ तदा एतन् करणस्वामिनम्, एते प्राणा वागादयोऽभिसमायन्ति आभिमुख्येन निकट आयान्ति । स एतास्तेजोमात्रा विषयप्रकाशकानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि समभ्याददानः सम्यग्भिमुख्येन गृह्णान उपसंहरमाणो हृदयं स्वायतनमेवान्वेषकामति तल्लक्ष्मीकृत्य आयाति, स यत्र वर्तते, तत्र एष चाक्षुषः पुरुष आदित्याश्रयसुद्वैवतारूपः पराङ् पर्यावर्तते स्वकार्याद्विमुखो भवति । अथ तदा 'स एष' इत्यनेनोक्तचक्षुरभिप्राया अरूपज्ञो भवत्येकीभवति करणग्रामेण । तदा न पश्यतीत्याहुः । पार्श्वस्था न पश्यतीत्याहुः । एवमग्रेपि । तदुत्तरावस्थामाह तस्येत्यादि । तस्य लिङ्गोपाधिकस्य ह एतस्य शुभ्रमूर्धोहृदयस्य एतत्स्थानस्य अग्रं नाडीमुखं प्रद्योतते पूर्वमप्रकाशमपि तदानीं प्रकाशते । तेन प्रद्योतेन एष आत्मा शरीरान्निष्क्रामति

रश्मिः ।

को वृत्तान्त इति । सङ्कतिबोधको वृत्तान्तः कथा । साधनेति । प्रमेयबलमपि द्रष्टव्यम् । तदभावे साधनप्राबल्याभावे । दशमेति । नवद्वाराणि देहे । दशमद्वारं (नाडीद्वारं) हृदयाग्रद्वारम् तस्मात् । तत्रैवेति । हृदय एव । इति सद्योमुक्तिः । तदपेक्षेति । जीवोत्क्रमणपेक्षासत्त्वात् । स इत्यादीति । तेजोमात्रा इन्द्रियाणि । प्रकाशन इति । तेन प्रकाशमानं हृदयाग्रं भवति । मांसपिण्डं हृदयं आकाशरूपम् । 'कास दीप्ता'विति धातुपाठत् तत्सुप्तत्वात् तेजोमात्राभिः प्रकाशत इत्यर्थः । पूर्वं तथा अप्रकाशमानमपीति भाष्यात् । पूर्वेति । ज्योतिर्प्राज्ञे । इत्यादिनेति । 'प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैवे'ति । स्पष्टोऽर्थः । उपसंहारेति । उपसंहारं कुर्वाणः । अप्रकाशमानमिति । परीत्योक्तम् । स्वमते तथा अप्रकाशमानं यतः । यमगतीति । यमकृत्य

यद्यप्येतावत् सर्वजीवसाधारणम्, तथापि विद्वांस्तु नेतरवदितरनाड्या निष्क्रामति, किन्तु, शताधिकया एकशततम्या नाड्या मूर्धन्या निष्क्रामति । 'शतं वैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नसृतत्वमेति विष्वङ्कन्या उत्क्रमणे भवन्तीति यतः श्रुतिराह । अत्र हेतुमाह । हार्दानुगृहीत इति । हेत्वन्तर्गर्भं विशेषणम् । 'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्थे' इति श्रुतेर्हृदयाकाशसम्बन्धी यः परमात्मा तदनुग्रहात् तथैव भवतीत्यर्थः । अनुग्रहे हेतुः विद्यासामर्थ्यादिति । तस्या विद्यायाः शेषभूताङ्गभूता या गतिः प्रव्रजनरूपा, तच्छेषभूतैव या भगवत्स्मृतिपरम्परा च ताभ्यां च यो भगवदनुग्रहस्तेन तथेत्यर्थः ॥ १७ ॥ इति चतुर्थोऽध्याये द्वितीयपादे पञ्चमं तदोक्तोधिकरणम् ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

निर्गच्छति । चक्षुराद्यन्यतमेभ्यः शरीरदेशेभ्यः । तदुत्तरव्यवस्थामाह तमुत्क्रामन्तमित्यादि । तं जीवात्मानम् । प्राण आसन्त्यः । प्राणा इन्द्रियाणि । अयं च निष्क्रमणप्रकारो यमगतिरहितानाम् । यमगतीनां तु, 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्कर्षं यमो बला'दित्यादिवाक्यात् पिण्डितकरणग्रामस्य जीवस्य बलान्निष्क्रमणम् । एवं सति यद्यप्येतावद् ओकोप्रज्वलनादिकं यमगतिरहितचर्षणीजीवानां विदुषां च साधारणम्, तथापि, विद्वांस्तु नेतरवदितरनाड्या निष्क्रामति, किन्तु शताधिकयेत्याद्युक्तमार्गेण । श्रुतिस्तु छान्दोग्ये दहरविद्यायाः । शेषं स्फुटम् ।

तथा च 'स यदासाच्छरीरान्निष्क्रामतीति श्रुत्युक्तो निष्क्रमणप्रकारो विद्वद्विदुषोस्तुल्यो वा विशेषवान् वेति सन्देहे, कामयमानताया उभयोस्तुल्यत्वेन शरीरब्राह्मणोक्तरीत्या हृदय एवेति प्राप्ते । हृदयाग्रप्रद्योतनपर्यन्तं विद्वद्विदुषोस्तुल्यो निर्गमनमार्गः प्रकाशश्च किदुषोऽतिरिक्त इति सिद्धान्तो बोधितो ज्ञेयः । एवमेतेन क्रमशुक्तिप्राप्त्यां जीवस्य शरीरान्निष्क्रमणप्रकार उक्तः । तत्र ये मूर्धनो निष्क्रामन्ति, ते दशमद्वारं भित्त्वा तत्रैव सद्यो ब्रह्मणि लीयन्ते । तथा सति करणग्रामो भूतेष्वेव लीयत इत्यर्थादायाति ॥ १७ ॥ इति पञ्चमं तदोक्तोधिकरणम् ॥ ५ ॥

रश्मिः ।

मतिर्यमगतिस्तद्रहितानाम् । पिण्डितेति । पिण्डितः पिण्डीभावो विद्यते यत्र । तारकादिभ्य इतच् । करणानामिन्द्रियाणां ग्रामः । यमगतीति । यम प्रजननेत्ययोः । चर्षण्यो यमगतिः । तद्युक्तानां जीवानाम् । इत्याद्युक्तमार्गेणेति । इत्यादिभाष्योक्तमार्गेण । शेषमिति । मूर्धानमिति । मूर्धानं लक्ष्मीकृत्य । हेत्वन्तर्गर्भेति । हेतुरन्तर्गर्भो यस्य विशेषणस्य । हार्दानुगृहीतत्वादित्यर्थः । हार्दानुग्रहमाहुः गुहामिति । तथैवेति । हार्दानुगृहीत एव । तच्छेषेति सूत्रांशं विवृण्वन्ति स तस्या इति । गतिर्गमनं तत्प्रव्रजने प्रधानमिति तुरीयत्वाच्च गतिः प्रव्रजनम् । मुख्याधिकारत्वाच्च । संन्यासनिर्णयग्रन्थोक्तम् । तनु आसुष उत्तरभागेऽवशिष्टे पञ्चविंशतिवर्षे भवति । पारिभाषिकं प्रव्रजनं तु गृहस्थाश्रमेऽप्यस्ति । काम्यकर्मसर्वकर्मफलत्यागात् । तदुक्तं गीतायां 'काम्यानां कर्मणां त्यागं संन्यासं कवयो विदुः । सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणान्' इति । अनुस्मृतेरर्थमाहुः तच्छेषेति । उक्तमकत्यादिविद्याशेषभूता भगवत्स्मृतिपरम्परायां अनुस्मृतिर्भवति । सा चानुस्मृतिर्न्योक्तरीत्या ब्राह्मण । श्रवणादीत्यनुक्त्वा स्मरणपरम्परोक्तेरयं भावः । तुरीयाश्रमसाहचर्याद् भक्त्या प्रसन्ने हरी योगप्रयुक्तेः । सैकादशचतुर्दशाध्याये । 'नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् । तत्र

रश्म्यनुसारि ॥ १८ ॥ (४-२-६)

‘अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिन्नस्तिष्ठन्ति, शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल’ इत्युपक्रम्य, अग्रे पठ्यते ‘तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति । स यावदस्माच्छरी-
रादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानात्यथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभि-

भाष्यप्रकाशः ।

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥ एवं ब्रह्माण्डमध्ये सद्योमुक्तस्य व्यवस्थामुक्त्वा क्रमेण मुच्य-
मानस्य व्यवस्थां वदतीत्याशयेन प्रासङ्गिकमेतस्याधिकरणस्य विषयादिक्रमाहुः । अथ या एता
इत्यादि । श्रुतिस्तु छान्दोग्यस्य दहरविद्यायाम् ।

अर्थस्तु, यो हृदयपुण्डरीकगतयथोक्तगुणविशिष्टब्रह्मोपासकः स या एता हृदयस्य
पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासनस्थानस्य सम्बन्धिन्व्यो नाड्यो हृदयमांसपिण्डात् सर्वतो विनिःसृता
आदित्यमण्डलाद्रश्मय इव ता एताः पिङ्गलस्य वर्णविशिष्टस्याणिन्नः स्रष्टमरसस्य पूर्णा इति
सर्वत्राध्याहारः । तिष्ठन्ति । शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य सौरं तेज एव शरीरे
पित्तं तत्पार्थिवेन कफेन न्यूनाधिकमेदादनुविद्धं सत् शरीरस्य रसं पाचयत्तद्वर्णं करोति ।
तत्रादित्यसम्बन्ध एव कारणम् । पित्तरूपेण तेजसा आदित्यस्य तत्र सत्त्वात् । तदाह श्रुतिः
‘असौ वा आदित्यः पिङ्गल एव शुक्ल’ इत्यादि । तथा चादित्यमण्डलस्य पञ्चवर्णत्वा-
त्तदंशभूतं पित्तमपि तादृशमपि स्वपाचितं शरीरं रसयुपरञ्जयति, तदा तत्तन्नाडीस्यो रसस्तथा
भवतीत्यर्थः । तदेतदुपक्रम्य ततो महापथदृष्टान्तेन आदित्यरश्मीनामुभयलोकसंसर्गित्वमुक्त्वा,
रश्मिः ।

लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् । तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तये’दिति सार्ध-
श्लोके उक्ता । तथेति । हार्दानुगृहीतः । एवं शेषं स्फुटम् । अधिकरणत्वात्माहुः तथा चेति ॥ १७ ॥

इति पञ्चमं तदोक्तोधिकरणम् ॥ ५ ॥

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥ प्रासङ्गिकमिति । स्मार्तम् । तथा चारणे । ‘स्मृतिः प्रत्यक्षमैति
ह्यनुमानचतुष्टयम् । एतैः सर्वैरादित्यमण्डलमेव विधास्यत’ इति । एतन्मूलभूतां श्रुतिः । ‘सूर्य आत्मा
जगतस्तस्थुषश्च’ । जगतः जङ्गमस्य । तस्थुषः स्थावरस्य । हृदयेति । हृदयपुण्डरीकगतं यथोक्त-
गुणविशिष्टं ब्रह्म । तस्योपासक इत्यर्थः । हृदयमांसेति । स्मार्तपक्षे हृदयरूपमांसे आकाशे सूर्य
आत्मा । आकाशो मांस’ इत्यत्र संहिता । उपासनवशाद् अणोः सूर्यजीवस्याप्रत्यक्षेण हृदयमांस-
पिण्डादित्युक्तम् । सृष्टमेति । अपां पुष्पत्वादादित्यरसत्वमुक्तम्, पिङ्गलस्य हृदयद्वारा सूर्यस्य पिङ्गले
सत्त्वात् । एवमित्यन्तां श्रुतिं व्याकृत्य ‘असावा’ इत्यादिश्रुतिं व्याकर्तुमाहुः सौरं तेज इति ।
पित्तमित्यौचित्यात् । कफस्य पार्थिवत्वं कठिनत्वात् शुष्कस्य । न्यूनाधिकेति । न्यूनं पित्तम्,
कफोऽधिकः । अधिकं पित्तम्, कफो न्यून इति । एवं न्यूनाधिकप्रकारात् । करोतीति । पञ्चवर्ण-
त्वादादित्यस्य मूलस्य रसं तत्तद्वर्णं करोति । उपरञ्जयतीति । रञ्ज रागे । इत्यर्थोऽर्थ इति पूर्वे-
णान्वयः । उद्वेग्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यं बाधकं न भवति । घटो घटो न पट इति प्रयोग-
दर्शनात् । इत्युपक्रम्येत्यादिभाष्यं निवृण्वन्ति स्म तदेतदिति । महापथेति । ‘तद्यथा महापथ
आतत उभौ प्रामौ गच्छतीमं चासुं चैवमेवेता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छतीमं चासुं चासु-

रूर्ध्व आक्रमत’ इति । अत्र ‘तमभित’ इत्याद्युक्तेः सर्वसाधारण्युत्क्रान्तिः
प्राप्यते । पूर्वमादित्यत्वेनोक्तस्य पिङ्गलस्य रश्मिभिरूर्ध्वाक्रमणं च तथा । अत्र
संशयः । ओक्तोग्रज्वलनादेरितरसाधारण्येपि यथा हार्दानुग्रहाद्विलक्षणा गतिर्वि-
दुष उक्ता, तथा रश्म्यनुसारित्वमपीतरसाधारणम्, उतास्मिन्नेवेति । तत्राव-
धारणमाह । रश्म्यनुसारी । निष्क्रामत्ययमेवेति ॥ १८ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे षष्ठं रश्म्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तासां नाडीनागादित्यरश्मिसंसृष्टत्वं चोक्त्वा, तासु नाडीषु सृष्टस्य सुषुप्तं चोक्त्वा, ततो मरणा-
वस्थां बोधयन्ती श्रुतिः पठ्यते तमभित इत्यादि । तदर्थस्तु स्फुटः ।

एवं श्रुतिश्रुपन्यस्यात्र संशयजनकं विषयमाहुः अत्रेत्यादि । उत्क्रान्तिः शरीराभि-
र्गमनम् । पिङ्गलस्येति । वर्णविशिष्टस्यादित्यांशभूतस्य पित्तस्य । संशयस्तु स्फुटः । पूर्वपक्षस्तु,
ओक्तोग्रज्वलनादीनां साधारण्याद्रश्म्यनुसारित्वमपि तत्रवाहपातात्साधारणमिति । सिद्धान्त-
माहुः तत्रेत्यादि । अत्र प्रमाणं तु, ‘अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमत’ इत्येतदनन्तरं, ‘स
अंमिति चाहोहा मीयते स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां
प्रपदनं निरोधोऽविदुषां’मिति तदग्रिमा श्रुतिः । तत्र हि स विद्वान् अंकारेण परमात्मानं ध्यायन्
उंमिति चाह, यथापूर्वं वदति, उत् ऊर्ध्वं वा मीयते गच्छति । स विद्वान् यावन्मनः
क्षिप्येत् यावता कालेन मनोऽन्यापारं कुर्यात्तावता कालेनादित्यं गच्छति प्राप्नोति । एतद्वै
आदित्यरूपं खलु निश्चितं लोकद्वारं ब्रह्मलोकप्रवेशमार्गः । विदुषां प्रपदनं प्राप्तिकरणभूतम्,
निरोधोऽविदुषाम्, ये अविद्वान्स्तेषां तेजसा निरोधजनकमिति तस्या अर्थात् । अतो विदुष
एव रश्म्यनुसारित्वावधारणमित्यर्थः । अयं च करणग्रामसहितो गच्छति । ‘यदि प्रयास्यन्पृ-
षारमेष्टं वैहायसानामुत यद्विहारम् । अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च’ इति
श्रीभागवतोक्तन्यायस्यात्रापि शक्यवचनत्वात् । एतस्य करणग्रामस्यस्तु प्रारब्धसमाप्तौ श्रुक्ति-
दशायां भूतेष्वेव बोध्यः । तथैवोपक्रान्तत्वादिति ॥ १८ ॥ इति षष्ठं रश्म्यधिकरणम् ॥ ६ ॥
रश्मिः ।

ष्मादादित्यात् प्रतायन्त’ इत्यनयोक्त्वा । महापथशब्दः ससम्यन्तः । आतत इति च ससम्यन्तम् ।
प्रतायन्त इति । तनु विस्तारे इत्यस्य रूपम् । तासांमिति । ता आसु नाडीषु सृष्टाः आम्नो
नाडीभ्यः प्रतायन्तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृष्टा इत्यनयोक्त्वा । ता रश्मयः । तास्त्विति । ‘तद्यत्रैतत्
सुप्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृष्टो भवति तत्र कश्च पाप्मा स्पृशति, तेजसा
हि तदा सम्पन्नो भवती’त्यनयोक्त्वा । श्रुतिः पठ्यते इति । ‘अथ यत्रैतदवलिमानं नीतो भवती’-
त्यनन्तरं ‘तमभित’ इत्यादिश्रुतिः पठ्यते । अवलिमानं अवलभावम् । स्फुट इति । अस्मिन्नेवेति ।
विदुष्येव । एवं स्फुटः । तत्रेत्यादीति । अयमेवेति । विद्वानेवैत्यवधारणमित्यर्थः । चाहेति ।
श्रुतौ पूर्वं वाकारः समुच्चयार्थक इति भावः । केन सह समुच्चय इत्याकाङ्क्षा तु ‘अंकारेणे’त्यादिग्रन्थे-
नोपशान्ता । यथापूर्वमिति । पूर्वं ध्यानविषयः तमनतिक्रम्य । आहेत्यस्यार्थो वदतीति । वा आह
उद् वा मीयते इति श्रुतौ पदच्छेदः । येऽविद्वान्स्ते इति । य इति सामान्योक्त्या पुष्टा अपि ।
नाशपदं विहाय निरोधपदोपादानादविदुषां नाशः पुष्टानामधिकार्यादित्यप्रेरणया निरोधो निरोधलक्षण-
ग्रन्थोक्तः । भगवतोऽत्यन्तागुग्रहात् ॥ १८ ॥ इति षष्ठं रश्म्यधिकरणम् ॥ ६ ॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वादर्शयति च ॥१९॥ (४२१७).

विदुष उक्तक्रमेण हार्दानुग्रहकृतो यथा विशेषः, तथा कालविशेषकृतोपि विशेषो भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निरासमाह । तत्राहोरात्रकृतोऽयनकृतो वा स भवेत् । तत्राद्यकृतो नास्तीत्याह नेति । तत्र हेतुः । सम्बन्धस्येत्यादि । अनुग्रहहेतुभूतो यः पूर्वोक्तो गत्यनुस्मृतिसम्बन्धस्तस्य यावद्देहभावित्वात् तत्कार्यस्यानुग्रहस्यापि तथात्वात् कालस्याप्रयोजकत्वमित्यर्थः । अत्र प्रमाणमाह । दर्शयति यतः श्रुतिः । 'तमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रजाजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ती'ति ॥ १९ ॥ हार्दानुग्रहस्य मुक्तिहेतोर्विद्यमानत्वाप्यनविशेषोप्यप्रयोजक इत्याह ।

भाष्यप्रकाशः ।

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वादर्शयति च ॥ १९ ॥ इत्याशङ्क्येति । एवं निशि नेत्यनेनाशङ्क्य । तथा च निशीतिपदं मुक्तिप्रतिबन्धककालविशेषोपलक्षकम् । तत्र न आदित्यद्वारेण गमनम् । अतो ज्ञानिना मुक्त्यर्थं योगादिना कालः प्रतीक्षणीय इत्याशङ्क्येत्यर्थः । सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति अत्रेत्यादि । अर्थस्तु स्फुटः ।

अन्ये तु, सम्बन्धस्य 'यावद्देहभावित्वा'दित्यत्र नाडीसम्बन्धस्य तथात्वं व्याकुर्वन्ति । 'दर्शयती'त्यत्र, 'अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सप्ता'इति छन्दोगश्रुतिं दर्शयति । तत्र यद्यपि पूर्वसूत्रोक्तं रश्म्यनुसारित्वमेव, 'निशि ने'त्यनेनाक्षिप्यत इति प्रतीयते, न तु कालविशेषनिषेधः, कालान्तरस्य सहकारित्वापादनं वा, तथाप्यनसूत्रे रश्म्यभावशङ्कानुदयेन तत्रैतत्सूत्रोक्तस्य तत्परिहारहेतोरसङ्कल्या, 'अतश्चे'त्यतिदेशासङ्कतिरिति तत्र उदीक्षानुपपत्तेर्विधाया अपाक्षिकफलत्वस्य मृत्योरनियतकालत्वस्य चेति कल्पितहेत्वन्तराध्याहारापेक्षया अतिदेशसामञ्जस्याय सम्बन्धपदे हार्दानुग्रहजनकगत्यनुस्मृतिसम्बन्धग्रहणस्यैव युक्तत्वाच्चिन्त्यम् । तथा च, 'रश्म्यनुसारि'शब्देऽपि स हेतुर्विध्यः ॥ १९ ॥

रश्मिः ।

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् दर्शयति च ॥ १९ ॥ अत्रेत्यादीति । तत्राहोरात्रकृत इत्यपि भाष्ये पाठः । स्फुट इति । पूर्वोक्त इति । तदोक्तप्रसूयोक्तः । यावदिति । साकल्ये । देहानां साकल्यं यावद्देहम् । अव्ययीभावः । यावद्देहं भावी यावद्देहभावीत्वात् । 'को तु राजत्रिन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् । न भजेत् सर्वतोऽस्त्युत्पास्यममरोत्तमै'रिति वाक्यात् । एवं स्फुटः । ता आस्त्विति । ता रश्मयः । आक्षिप्यते इति । नञर्थनिषेधप्रति योनिर्वेनाक्षिप्यते । रश्म्यभावेति । रश्म्यनुसारित्वनिषेधशङ्कानुदयेन । असङ्कल्येति । अर्थद्वारासङ्कतिसत्या । अतिदेशेति । हेत्वतिदेशासङ्कतिः । तत्र उदीक्षेति । अयवसूत्रे वक्ष्यमाणे 'अथापि रात्रानुपगतोऽहरागममुदीक्षेते'त्युक्तोदीक्षाऽहरागमोदीक्षा तस्या अनुपपत्तेः उत्तरायणोदीक्षासत्त्वात् । तथा विधाया पक्ष उत्तरायणस्तत्सम्बन्धिपाक्षिकः न पाक्षिकं फलं यस्याः सा अपाक्षिकफला तत्त्वस्य । तत्सम्बन्धि तदभिन्नं यत् हेतोः नाडीसम्बन्धस्य यावद्देहसम्बन्धित्वादित्यस्माद् अन्यत् तद्वत्त्वन्तरं हेत्वन्तरद्वयम् । तदपेक्षया । अतिदेशेति । तथा च शङ्करभाष्यम् । अतश्चाप्यन इत्यत्र । 'अत एव उदीक्षानुपपत्तेः अपाक्षिकफलत्वाच्च विधाया' इति । तस्यातिदेशस्य साम-

अतश्चायनेपि दक्षिणे ॥ २० ॥

स्पष्टार्थमिदम् ॥ २० ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अतश्चायनेपि दक्षिणे ॥ २० ॥ स्पष्टार्थमिति । चोऽवधारणे 'नेति चेन्नेति पूर्वसूत्रादनुवर्तते । तथा च 'दक्षिणेऽयने ने'ति चेन्नेति पूर्वपक्षस्य, 'अतश्चे'त्यनेनातिदिष्टस्य तत्परिहारहेतोश्च स्फुटत्वात्तथेत्यर्थः ॥ २० ॥

रश्मिः ।

अस्याय अत इति सौत्रातिदेशस्य वा सामञ्जस्याय । स इति । हार्दानुग्रहजनकगत्यनुस्मृतिसम्बन्धः । रश्म्यनुसारी विद्वानेव निष्कामति हार्दानुग्रहजनकगत्यनुस्मृतिसम्बन्धात् । अपरेषां तदोक्तप्रज्वलनमेकसूत्रमधिकरणम् । अर्थस्तु न विरुद्धः । रश्म्यनुसारीत्यधिकरणं द्विसूत्रम् । अतश्चायनाधिकरणं द्विसूत्रमिति । 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमुत्कामती'त्यत्र रश्म्यनुसारित्वमुक्तम्, तत्किमविशेषेणैवाहनि रात्रौ वा प्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वम्, आहोस्विदन्त्येवेति संशये, अविशेषश्रवणादविशेषेणैव रश्म्यनुसारीति प्रजायते इति रश्म्यनुसारिसूत्र उक्तम् । 'निशि नेति'सूत्रे अस्त्यहनि नाडीरश्मिसम्बन्ध इति । अहनि मृतस्य स्याद् रश्म्यनुसारित्वम्, रात्रौ तु प्रेतस्य न स्यात्, नाडीरश्मिसम्बन्धविच्छेदादिति चेत्, न, नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावीति । शिराकिरणसम्पर्कः । दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः । 'अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सप्ता आम्नो नाडीभ्यः प्रतायन्ते, अतोऽमुष्मिन्नादित्ये सप्ता' इति । तस्मादविशेषेणैवेदं रात्रिन्दिवं रश्म्यनुसारित्वमित्युक्तम् । अतश्चायनाधिकरणे द्विसूत्रे प्रथमे अत एव उदीक्षानुपपत्तेरपाक्षिकफलत्वाच्च विधाया अनियतकालत्वाच्च मृत्योर्दक्षिणायनेपि प्रियमाणो विद्वान् प्राप्नोत्येव विद्याफलमित्युक्तम् । द्वितीये 'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभे'ति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावपुनरावृत्तये नियमितः । कथं रात्रौ दक्षिणायने वा मृतोनावृत्तिं यायादिति । अत्रोच्यते । 'योगिनः प्रती'ति । योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते । स्मर्यते चैते योगसाक्ष्ये । न श्रौते । अतो विषयभेदात् प्रमाणविशेषाच्च नास्त्यस्मात्तस्य कालविशेषस्य श्रौतेषु निश्चाने-
व्यक्तम् इत्युक्तम् ॥ १९ ॥

अतश्चायनेपि दक्षिणे ॥ २० ॥ चोऽवधारण इति । अन्यभाष्याभिमतोऽयमर्थः ।

इदमधिकरणान्तरमिति शाङ्कराः, अतः 'पूर्वपक्षस्येति' वक्ष्यन्ति । शास्कररामानुजाचार्याणां तु नाधिकरणान्तरम् । अतो नात्राधिकरणसमाप्तिः कृता । अतः सन्दिग्धमधिकरणमिदम् - १ अथविदो ब्रह्मप्राप्तिर्दक्षिणेऽयने भवति, उत हार्दानुग्रहमात्रेणेति सन्देहे पूर्वपक्षः दक्षिणेऽयनेपि न, किन्तु वेदान्तविज्ञानेनावरणमङ्गमात्रमिति चेत्, न । अतश्च अत एव । हार्दानुग्रहजनकगत्यनुस्मृतिसम्बन्धात् । अतो हार्दानुग्रहानुक्तिहेतोः पुष्टिस्तस्य मुक्तिः, दक्षिणायनादिकालोप्यप्रयोजक इत्यर्थः । अथविदो यद्यपि ज्ञानमार्गी, तथापि भक्तावपि ज्ञानपदस्य गीतायां प्रयोगात् सुष्ठु । नारायणपरायणस्य दुर्लभत्वादेवमुक्तम् । एतदेवोक्तं तथा चेत्यादिना, अतश्चेत्यनेनेत्यादिना च । अनधिकरणत्वे तु, अतश्च अत एव निशि मृतस्यापि विदुषो दक्षिणेऽयने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिः सिद्धा । विद्याकर्मसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वादिति रामानुजभाष्ये । किञ्च, अधिकाशङ्का तु, 'अथ यो दक्षिणे प्रतीयते सिद्धामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं गच्छती'ति दक्षिणायने मृतस्य चन्द्रप्राप्ति-

ननु 'यत्र काले त्वनावृत्ति'मिति कालप्रधान्येनोपक्रम्य 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना' इति भगवद्वाक्याद् ब्रह्मविदोऽप्युक्तकालापेक्षास्तीत्याशङ्क्य विषयभेदेन समाधत्ते ।

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

ज्ञानमार्गाद् योगमार्गो हि भिन्नः । तथा च योगिनमुद्दिश्यैव कालविशेषस्य गतिविशेषहेतुत्वं स्मर्यते, न तु ज्ञानमार्गीयस्य श्रौतस्य । इतरनिरपेक्षत्वात् । नच योगसाङ्ग्ये अपि श्रौते एवेति वाच्यम् । यतः स्मार्ते एते । चो हेत्वर्थे । एते योगसाङ्ग्ये, 'अग्निर्ज्योतिर्धूमो रात्रि'रिति वाक्यद्वयोक्तगती वा । इदं तु

भाष्यप्रकाशः ।

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥ व्याकुर्वन्ति ज्ञानमार्गादित्यादि । तथा च मार्गभेदान्न कालविशेषापेक्षेत्यर्थः । साङ्ग्यस्य स्युक्तत्वेऽपि योगस्य न तथात्वम् । योगतत्त्वोपनिषदादौ तस्योक्तत्वात् । सूत्रे च योगिपदमात्रम् । अत एते इति पदे साङ्ग्यनिवेशनं न युक्तमित्यरुच्या पश्चान्तरमाहुः अग्निरित्यादि ।

नन्वेतयोर्गत्योरपि स्मार्तत्वं न युक्तम्, किञ्चिच्छब्दभेदेऽपि छान्दोग्योक्तदेवयानपितृयानयोरेव प्रत्यभिज्ञानात्, अतः कथमिदं समाधानमित्यत आहुः इदं त्वित्यादि । न विरोध इति । तस्मिन् कालद्वारा तत्तदभिमानिन्य आतिवाहिकयो वा देवता मार्गद्वयगता उच्यन्ते, न तु काल इति तस्यात्राकथनाच्छ्रुतिस्मृत्योर्न विरोधः । तथा च यदि तत्र काल उच्यते, तदा तत्र

रश्मिः ।

श्रवणाच्चन्द्रमसं प्राप्तानां च तेषां 'तत्पर्यवैलथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्त' इति पुनरावृत्तिश्रवणात् भीष्मादीनां च ब्रह्मविद्यानिष्ठानामुत्तरायणप्रतीक्षादर्शनात्तद्विज्ञानायने सृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्न संभवतीति । परिहारस्तु, अविदुषां पितृयानेन यथा चन्द्रमसं प्राप्तानामेव पुनरावृत्तिः विदुषस्तु चन्द्रं प्राप्तस्यापि, 'तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमाप्नोती'ति वाक्यशेषात्तस्य दक्षिणायनश्रुतस्य चन्द्रप्राप्तिर्ब्रह्मप्राप्तितो विश्रामहेतुमात्रमिति गम्यते । वाक्यशेषाभावेऽपि पूर्वोक्तादेव बन्धहेत्वभावाद्द्विषुषश्चन्द्रं प्राप्तस्यापि ब्रह्मप्राप्तिरनिवार्या । भीष्मादीनां योगप्रभावात् स्वच्छन्दमरणानां धर्मपर्वतनायोत्तरायणप्राप्तस्य प्रदर्शनार्थः, तथाविधाचार इति रामानुजभाष्ये । भास्करभाष्ये तु, अतश्चेत्यनेन नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावच्छरीरभावित्वादिति पूर्वसूत्रोक्तहेतुर्गृहीतः ॥ २० ॥

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥ भाष्ये । विषयभेदेनेति । योगमार्गरूप-विषयभेदेन । प्रकाशे । योगतत्त्वेति । आदिना योगशिक्षा । अग्निरित्यादीति । 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः । धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते । शुक्लकृष्णे गती च्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यालनावृत्तिमन्ययावर्तते पुन'रिति वाक्यानि । प्रत्यभिज्ञानादिति । छान्दोग्योक्ते एते गती इति प्रत्यभिज्ञानात् । तत्तादन्ताप्रकारकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा । सेयं दीप-मालिकेतिवत् । इदं त्वित्यादीति । इदं ब्रह्मविदोऽप्युक्तकालापेक्षणम् । श्रुत्युक्तेति । योगमार्ग-मभिप्रेत्य । तस्मिन्निति । गीताग्रन्थे स्मृतौ । कालद्वारेति । दक्षिणायनोत्तरायणकालद्वारा

श्रुत्युक्तदेवयानपितृयानातिरिक्तमार्गमभिप्रेत्य समाहितम् । ते एव वेदत्राप्यु-च्येते शब्दभेदेन, तदा न विरोधः ॥ २१ ॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीब्रह्मभाचार्यविरचिते श्रीब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

योगिन उपक्रान्तत्वाद् विषयभेदेनाविरोधः, यदि चैकविषयत्वम्, तदा अचिरादिश्रुताविषय-त्राप्यभ्यादिशब्दैस्तत्तदेवतालोकविशिष्टौ तावैव मार्गावुच्येते इत्युभयथापि न श्रुतिस्मृत्योर्विरोध इत्यर्थः । तेन विद्यावतो नान्यापेक्षेति सिद्धम् ॥२१॥ इति सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यचरणनखचन्द्रनिरस्तहृदयध्वान्तस्य श्रीपीताम्बररत्नजस्य
पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥ २ ॥

समाप्तो द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

रश्मिः ।

तस्यात्रेति । कालस्य अत्र छान्दोग्येऽकथनाद्विषयभेदाद् गतिस्मृत्योर्न विरोधः । तत्रेति । गीता-स्मृत्योः । तत्रेति । पूर्ववदर्थः । विषयेति । ज्ञानयोगमार्गभेदेन । एकेति । प्रत्यभिज्ञैकविषय-त्वम् । अत्रापीति । गीतास्मृतावपि । ताविति । अचिरादिश्रुतादिमार्गौ । उभयपेति । विषय-भेदविषयैक्यप्रकाराभ्याम् ॥ २१ ॥ ७ ॥ इति सप्तममतोन्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

इति श्रीविद्वत्श्वरेश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पीत्रेण
सम्पूर्णवेद्या विद्वलरायजिज्ञात्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता

कृते भाष्यप्रकाशस्य रश्मौ चतुर्थाध्यायस्य
द्वितीयः पादः सम्पूर्णतामगमत् ॥ ४ ॥

समाप्तो द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्रहस्यसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिवृंहितम् ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

तृतीयः पादः ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥ (४-३-१)

ननु ज्ञानमार्गीयस्यैव मर्यादामार्गीयभक्तस्याप्यर्चिरादिमार्गेणैव गमनम्, उक्त सद्योमुक्तिरेव भवति संशयः । तत्र यथा ज्ञानिनो नियमाम्भावः, तथा-
त्रापीति प्राप्ते आह । अर्चिरादिमार्गेण तस्य ज्ञानमार्गीयस्यैवोत्कर्षकथनात् एव तेन मार्गेण गच्छति, न तु भक्तोपीत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥ पूर्वस्मिन् पादे प्रथमतः पुष्टिमार्गीयस्य ततो मर्यादा-
मार्गीयस्य सद्योमुक्तिप्रकारो दर्शितः, तदनु क्रममुक्तौ निर्गमनद्वारादिकं च दर्शितम्, इह
तु ततो निर्गतस्य यो ब्रह्मप्राप्तिमार्गो ब्रह्मलोकस्तत्प्रकारश्च प्रदर्श्यते, तत्राधिकरणमवतारयितुं
संशयादिकमाहुः नन्यत्यादि । अत्र मर्यादायाः स्वकृतत्वात् तत्पालनं भक्तेर्ज्ञानादुत्कृष्टत्वं च
सन्देहबीजम् । नियमाम्भाव इति । साधनसामर्थ्यतारतम्यनियमाम्भावः । सिद्धान्तं वक्तुं सर्वं
विवृण्वन्ति अर्चिरादीति । तस्येत्यादि । 'प्रथं प्रख्याने', प्रथमं प्रथितिः प्रसिद्धिः । सा श्रुतिषु
तस्यैव ज्ञानमार्गीयस्यैवेति तस्यैव तथेत्यर्थः । ज्ञानिन एव प्रसिद्धिरिति यदुक्तम्, तद् व्युत्पादयन्ति
रश्मिः ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥ पूर्वस्मिन् पादे इति । द्वितीयपादे । निर्गमनेति ।
तदोकोग्रज्वलनाधिकरणे निर्गमनद्वारादिकम्, आदिना रश्म्यनुसारित्वादिकम् । ब्रह्मलोक इति ।
'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इति श्रुतेर्ब्रह्मविदो विश्रामस्थानम् । संशयादिकमिति । आदिना
पूर्वपक्षोत्तरे सङ्गतिश्च । भाष्ये । तत्र यथेति । संशये यथा । नियमाम्भावः सद्योमुक्त्यर्चिरादि-
मार्गीयोः तथा । तथात्र सद्योमुक्त्यर्चिरादिमार्गीयोः भक्तस्य नियमाम्भावः । प्रकृते । साधन-
सामर्थ्येति । अत्र साधनतारतम्यादित्येतावतैव चारितार्थ्यं सामर्थ्यपदं ज्ञापयति । सद्योमुक्ति-
क्रममुक्त्योः सायुज्यं सह युनक्तीति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यमित्येवं यौगिकपदार्थं जीवब्रह्मणोः
प्रथमपादे निरूपितम् । द्वितीयपादे तत्प्रकारादिर्दर्शित इति प्रकाश उक्तम् । तत्र भक्तिमार्गीयसायुज्या-

तथाहि । पञ्चाभिविद्याप्रकरण 'तद्य इत्थं विदुर्धे चमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरहृ आर्प्यमाणपक्ष'मित्यत्र उपक्रमे भक्तातिरिक्तानेव अधिकृत्य तथा गतिरुच्यते । स्मृतावपि 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल' इत्यत्र 'ब्रह्मविदो जना' इति वचनेन ज्ञानमार्गीयस्यैव स पन्था इत्युच्यते । अथेदं चिन्त्यते । सामोपनिषत्सु पठ्यते 'अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याग्निमस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल' इत्युपक्रम्यादित्यरूपस्य पिङ्गलस्य रश्मिरूपत्वं नाडीनामुक्त्वा, अग्रे वदति 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमत' इति नाडीरश्मिसम्बन्धेनैका परलोकगतिः श्रूयते । अर्चिरादिका चाऽन्या, 'तेर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽह' रित्यादिश्रुत्युक्ता । 'स एनं देवयानं पन्थानमापद्यामिलोकमागच्छती'ति चापरा । 'स यदा वै पुरुषोऽस्माह्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छ-

भाष्यप्रकाशः ।

तथाहीत्यादि । भक्तातिरिक्तानेवाधिकृत्येति । 'इत्थं विदु' रित्यादिना क्रियाविषयस्य क्रियायाश्च श्रावणात् 'ये' इत्यनेन तानेवाधिकृत्य । तथा च मर्यादामार्गीयाणामपि भक्तानां प्रायशः सद्योमुक्तिरेव । ज्ञानमार्गीयस्यैवानियम इत्यर्थः ।

ननु भवत्वर्चिरादिमार्गेण ज्ञानमार्गीयस्य गतिः, तथापि मर्यादाभक्तस्य प्रायशः सद्यो-मुक्तिरेवेति न नियन्तुं शक्यते, श्रुतावर्चिरादिमार्गातिरिक्तानामपि मुक्तिमार्गीणां श्रावणात्, तथा बहूनां सत्त्वेपि सन्नकृतावर्चिरादिमार्ग एव कस्मादुक्त इति चाशङ्क्यामाहुः अथेदमित्यादि । तान् मार्गान् विषयीकृत्य तेषां भेदोऽस्ति परस्परम्, उत नेति चिन्त्यत इत्यर्थः । एवं प्रतिज्ञाय मार्गबोधिकाः श्रुतीरुदाहरन्ति सामेत्यादि । पठ्यत इति । विद्याभेदेन गतिभेदः पठ्यते । श्रूयत इति । दहरविद्यार्थां श्रूयते । अन्येति । पञ्चाभिविद्यायाः अपरेति । कौशीतकि-रश्मिः ।

दिषु सेवाफलोक्तेषु सायुज्यं गतपादयोर्निरूपितम्, अलौकिकसामर्थ्यमत्र निरूप्यत इति । तदातिवाहिकाधिकरणभाष्ये 'ब्रह्म अमानवः पुरुषः प्रापयती'ति वक्ष्यते तथा चामानवपुरुषस्य भक्तिमत्त्वं वक्तव्यम्, भक्ताधीनत्वाद्भवतः । भक्तिभावे तु अलौकिकं सामर्थ्यं वक्तव्यम्, शूरत्व-लक्षणं 'अश्रेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावना'दित्याचार्यवाक्यात् । चतुर्थपादेऽलौकिकदेहो वैकुण्ठादिषु निरूपयिष्यते । सेवाफलानां त्रयाणां सगुणत्वापादकानां सन्दिग्धत्वात् । एवञ्च, सालोक्यादिवाक्ये प्रतिलोमक्रमेणैकत्वं प्रथमद्वितीयपादयोर्निरूप्य तृतीये सारूप्यस्य स्पष्टत्वात् साष्टिरूपालौकिकसामर्थ्यं निरूप्यते । तदनु चतुर्थपादे सालोक्यं निरूपयिष्यते । सामीप्यं सालोक्य-भेदः । साष्टिः 'ऋष गतौ' । तु. । प. । से. । क्त्वाप्रत्यये नेद्, क्तिनि नेद् । समाना ऋष्टिः गतिः साष्टिः । समानस्य सः । प्रथमप्रस्थाने भाष्ये प्रथमकथने ज्ञानिनि । तथेति । उत्कर्षकथनादित्यादिः । तथाहीत्यादीति । अह इति पञ्चम्यन्तम् । आर्प्यते किरणैश्चन्द्र इत्यार्प्यमाणपक्षः शुक्लः पक्षः तम् । क्रियाविषयस्येति । प्रेतस्य क्रियायाः श्रद्धातपउपासनक्रियायाश्च श्रावणात्, 'इत्थं विदु' रित्यत्र ज्ञानविषयत्वेन क्रियाविषयस्य प्रेतस्य 'ये चमेऽरण्य' इत्यत्र क्रियायाः श्रावणात् । तानेवेति । 'इम' इति प्रत्यक्षविषयाणामुक्तेरेवकारः । भक्तानामुक्तोभयाभावात् प्राधान्येन । भाष्ये । ब्रह्मविद् इति । कचिदेव कार्यवशाज् ज्ञानं भक्तिरिति व्याक्रियत इति भावः । प्रकृते । सामे-

ती'ति चेतरा । 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ती'ति चान्या । एवमनेकेषु मार्गेषु सत्त्वर्चिरादेरेवोक्तिः कुत इति । तत्र सर्वेषां पारिभाषिकमर्चिरादित्वम्, अत एव 'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च ने'ति मार्गद्वयभ्रष्टानामतिकष्टं 'जायस्व त्रिय-स्वेति तृतीयं स्थान'मित्युक्तम्, अन्यथानेकेषां मार्गीणामुक्तानां श्रूयमाणत्वादस्य तृतीयत्वं नोच्येत, अतः प्रकरणभेदाद्विशोपासनशेषत्वान्मिथोऽनपेक्षा भिन्ना एवेते मार्गा ब्रह्मप्रापका इति मन्तव्यमिति चेत् ।

तत्रोच्यते । न हीयं परिभाषा सर्वेषु श्रुतास्ति, यतस्तथोच्येत । अतो लाघवा-दनेकपर्वविशिष्ट एक एव मार्ग इति मन्तव्यम्, न तु पर्वभेदेन मार्गभेद इति । गौरवप्रसङ्गात् । न चैवम् 'अथैतैरेव रश्मिभि' रित्यवधारणानुपपत्तिरिति वाच्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

ब्राह्मणे पर्यङ्कविद्यायाः । इतरेति । बृहदारण्यकेऽनात्मोपासनगतफलकथने । एवमन्यापि पञ्चमी प्रथमगुण्डकसमाप्तौ द्रष्टव्या । एवं मार्गभेदबोधिकाः श्रुतीरुपन्यस्य सन्नेऽर्चिरादेरेवोक्तौ हेतुं निश्चेतुं पृच्छति एवमित्यादि । स्वयं हेतुं कल्पयित्वा वास्तवैकत्वस्य हेतुत्वं दूषयति । तत्रेत्यादि । अर्चिराद्युक्तिहेतुविचारे । सर्वेषां मार्गीणामर्चिरादित्वं पारिभाषिकम्, मुक्ति-मार्गा अर्चिरादिपदेन व्यवहर्तव्या इति साङ्केतिकनियमसिद्धम्, न तु वास्तवम् । अतः पारि-भाषिकत्वादेव हेतोः 'अथैतयोः पथो'रिति द्वित्वम्, 'जायस्वे'त्यस्य तृतीयस्थानत्वं च श्रुता-मुक्तम् । अन्यथा वास्तवेऽर्चिरादित्वे बहूनामुक्तानां मार्गीणां ब्रह्मप्रापकतया श्रूयमाणत्वादस्य तृतीयत्वं पथोरिति द्वित्वं च नोच्येत । अतस्तृतीयत्वादिपीडारूपाद्देतोस्तेष्वर्चिरादित्वं पारि-भाषिकमङ्गीकृत्योक्तहेतुद्वयात् ब्रह्मप्रापका मार्गा बहव एवेति मन्तव्यमित्यर्थः ।

एवं पूर्वपक्षी स्वमतमुक्त्वा तत्रैकदेशिकृतं समाधिं प्रतिक्षेपमुपक्षिपति तत्रोच्यत इत्यादि । तथोच्येतेति । पारिभाषिकत्वमुच्येत । अतो लाघवादिति । पारिभाषिकत्वेनार्चिरादित्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् पर्वप्रत्यभिज्ञानलिङ्गेन मार्गैक्याङ्गीकारे लाघवात् । गौरवप्रसङ्गादिति । मार्गीणामनेकत्वं तेषु पर्वन्यूनाधिक्येन कस्यचित्कटत्वम्, कस्यचित् दूरत्वम्, निकटमार्गत्या-गेन दूरमार्गगतने उपपत्तिकल्पनम्, निकटत्यागे चोपपत्तिकल्पनमित्येवं तथात्वादित्यर्थः । पुनर्मार्गीनेकत्वमाशङ्क्य निषेधति न चैवमित्यादि । एवमिति । मुक्तिमार्गस्यैकत्वे ।

रश्मिः ।

त्यादीति । बहुवचनं स्मार्तम् । यथाहुः 'इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु' इति । अत एवेति भाष्यवि-वरणम् । अत इति । श्रुताविति । पञ्चाभिविद्याप्रकरणे छान्दोग्ये 'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानी-मानि ध्रुदाण्यसकृदावतीनि भूतानि भवन्ति । जायस्व त्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थान'मिति श्रुतौ । श्रुत्यर्थस्तु कतरेण चेति प्रश्नः । नकारद्वयस्य न यान्यपि नेति शेषेण योजना । यद्वा एतयोः पथोः न कतरेण नेति प्रश्नः । उत्तरम् । तानीमानीति तृतीयस्थानमिति । अन्यथेति भाष्यविवरणे । अन्यथेति । उपपत्ति । 'अर्चिरादिने'ति सौत्रपदोक्तहेतुद्वयात् । वास्तवपारिभाषिकहेतुद्वयात् । पारीति । पारिभाषिकत्वमुच्येतेति पाठः । न तूच्यत इति पाठः । पर्वप्रतीति । तानि पर्वानीति प्रत्यभिज्ञानलिङ्गेन । पर्वन्यूनेति । पर्वन्यूतत्वे कस्यचित्फलस्य निकटत्वं पर्वधिक्ये फलस्य दूरत्वम् । उपपत्तीति । अधिकाररूपोपपत्ति-कल्पनम् । तथात्वादिति । गौरवप्रसङ्गात् । एकत्व इति । एतैरेव रश्मिभिरन्यमार्गेष्वूर्ध्व आक्रमत

तस्याः श्रुतेरुत्क्रमणमात्रमार्गनिरूपकत्वात् । तथाहि । तत्रोपक्रमे हि 'अथ यत्रै-
तदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरुर्ध्वं आक्रमत' इत्युच्यते । एतस्मात्
पुरस्तात् 'अथ या एता हृदयस्य नाड्य' इत्युपक्रम्य पिङ्गलस्यादित्यत्वमुक्त्वा,
'तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं वैषमेवैता आदित्यस्य
रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात् प्रसायन्ते ता आसु
नाडीषु सृष्टा आभ्यो नाडीभ्यः प्रसायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृष्टा' इत्यन्तेन
वाक्येन नाडीषु रश्मिप्रसारमुक्त्वा, अत्रे 'अथ यत्रैतदस्मादित्याद्युक्तम् ।
उपसंहारे च 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका, तयोर्ध्व-
मायस्यृतत्वमेति विष्वङ्कन्या उत्क्रमणे भवन्ती'ति । एवमुपक्रमोपसंहाराभ्या-
मुत्क्रमणमात्रमार्गनिरूपकत्वम्, न तु ब्रह्मप्रापकमार्गस्य, अतस्तदनुपपत्तिपरि-
हारोऽनर्थकः । नन्वनेकपर्वविशिष्टत्वेन मार्गस्यैकत्वे तं निरूपयन्ती श्रुतिः कश्चित्
किञ्चित् पर्वं निरूपयति, कश्चित्तेति कथम् । उपसंहारेण प्राप्स्यन् इति तात्पर्येण
तथेति चेद् ब्रवीषि, तदा शाखान्तरमविदुषस्तदसम्भवेन तं प्रति श्रुतेर्न्यूनता-
पातः । न हि सर्वशाखाविद्ं प्रत्येव कथनमिति वक्तुमुचितम् । तस्यासम्भवात् ।
अतः स्वशाखाज्ञानवन्तं प्रत्येव तथा । अध्ययनविधेरपि तावन्मात्रपरत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

निषेधे हेतुः । तस्या इत्यादि । तत्रेति । रश्मिवाक्ये । हिर्हेतौ । इत्युच्यत इति । शरीरादुत्क्रम
उच्यते । नन्वेतस्मात् पूर्व रश्मिनाडीप्रचारकथने महापथदृष्टान्तेन तासां मार्गत्वमपि बोध्यत इति नैवं
वक्तुं युक्तमित्याशङ्कामाह एतस्मात् पुरस्तादित्यादि । तथा च महापथदृष्टान्तेऽप्यन्ते, 'एत-
स्मादित्यादिनोत्क्रान्तिरेवोक्तेति तन्मार्गत्वमेव तासां युक्तमित्यर्थः । युक्त्यन्तरमाह उपसंहारे
चेत्यादि । एतदेव निगमयति एवमुपक्रमेत्यादि । तदनुपपत्तिपरिहार इति । ब्रह्मप्रापक-
मार्गत्वानुपपत्तिपरिहारः । एवमेकमार्गत्वे साधिते तद् दूषयितुं पर्वोक्तिप्रकारे पृच्छति नन्वि-
त्यादि । समाधिमुद्भाव्य दूषयति उपसंहारेणेत्यादि । तस्यासम्भवादिति । वेदानाम-
नन्तत्वेनेदानीं कलिकृतबुद्धिहासेन च सर्वशाखाविलस्यासम्भवात् । एतदुपपत्त्याह अध्ययने-
त्यादि । स्वशाखाधारणत्वेन पितृपितामहादिपरम्परामासु शाखा स्वाध्याय इति योगस्य सर्वै-

रश्मिः ।

इत्यवधारणानुपपत्तिरित्यन्वयः । निषेध इति । न च वाच्यमिति निषेधे । हिर्हेताविति । यस्मादित्यर्थः ।
श्रुतिस्त्वथ यत्रेत्यादिः । नैवमिति । मुक्तिमार्गस्यैकत्वं न । महापथेति । श्रुतिस्तु पूर्व व्याख्याता ।
तन्मार्गत्वमुत्क्रमणमार्गत्वम् । पर्वोक्तीति । विषयसप्तमी । पर्वोक्तप्रकारविषयकः प्रश्नानुकूलो
व्यापारः । तथा च पर्वोक्तिप्रकार इति प्रश्नस्य विषयपूरक इति नैकदेशान्वयः । अनन्तत्वे-
नेति । 'अनन्ता वै वेदा' इति श्रुतेः । कलिकृतेति । द्वादशस्कन्धे कालेनाग्रहणं दृष्टेति । भाष्ये ।
तथेति । निरूपणम् । प्रकृते । स्वशाखाधारणत्वेनेति । 'स्वाध्यायोध्येतध्य' इत्यध्ययनविधौ
स्वाध्यायपदार्थः साधनीयास्तुत्तरेणेकः । अत्र उक्तं सर्वैरिति । अमुं अग्रयन्तादध्यायः स्वाध्याय

शाखान्तरसंवादिपर्वकथनानुपपत्तिश्च । उपसंहारेणैव तस्यापि प्राप्तिरसम्भवात् ।
अतो विरुद्धदिक्कानां स्वशाखाधिकारमप्राप्तिविहापि भवितुमर्हति स्वातन्त्र्येण
सर्वैर्मार्गैर्ब्रह्मप्राप्तिः । न चैवम् 'अथैतयोः पथोरिति द्विवचनानुपपत्तिः, 'जायस्व
त्रियस्वे'त्यस्य तृतीयत्वं चानुपपन्नमिति वाच्यम् । अर्चिरादिकमुक्त्वा 'उपसं-
हरति 'एष देवयानः पन्था' इति, श्रुत्यन्तरे च, 'स एनं देवयानं पन्थानमापद्याग्नि-
लोकमागच्छती'ति । तथा च ब्रह्मप्रापकाः सर्वे मार्गा देवयाना इत्युच्यन्ते ।
'देवी सम्पद्विमोक्षाये'ति भगवद्वाक्याद्देव्यां सम्पदि ये जाताः, ते देवा इत्यु-
च्यन्ते तेषां यानं गमनं यत्रेति ते सर्वेपि मार्गा देवयानशब्देनोच्यन्ते । द्वितीय-
स्त्वविशिष्टः । एवं द्वित्वं त्रित्वं चोपपद्यते । न चोक्तरीत्या लाघवादेक एव स
मन्तव्यः । स्वतःप्रमाणभूता हि श्रुतिः । सा येन यदा या श्रुता, तदर्थावधारणे
द्वितीयस्या अनुपस्थितत्वात् लाघवगौरवतद्विचारावसरः । कश्चिदुपस्थितौ
चोक्तबाधकैरुपसंहारानवकाशः ।

अपरं च । ब्रह्मविद्ः क्रममुक्तौ गन्तव्यो मार्गो ह्ययमुपदिश्यते । तत्तल्लोके
तदानन्दानुभवश्चावश्यकः । तथा चोपासनभेदात् फलभेदस्यावश्यकत्वान्मार्ग-
भेदोपि तथेति सर्वेष्वेकरूपफलप्रसङ्गक उपसंहारो न युक्तः । किञ्च । उपासने

भाष्यप्रकाशः ।

रादृत्त्वेन शाखाप्रणयनस्य च तदर्थत्वेव तथात्वात् । उपसंहारेणैव तस्यापि प्राप्ति-
सम्भवादिति । उपसंहारे हि प्रयोजको वस्त्वभेदः, प्रयोजनाभेदश्च । तस्योभयसत्तया कृते उप-
संहारे तेनैवानुक्तपर्वप्राप्तिसम्भवात् । एवं तदुक्तं दूषयित्वा स्वमतं स्थापयति अतो विरुद्धदिक्के-
त्यादि । द्विवचनाद्यनुपपत्तिं परिहरति न चेत्यादि । उपपद्यत इत्यन्तम् । लाघवं दूषयति
न चोक्तेत्यादि । येनेति । यच्छाखाध्यायिना । बहुशाखाध्यायिनोऽनेकमार्गोपस्थितौ दोषतद-
वस्थ्यमाशङ्क्य परिहरति कश्चिदित्यादि । उन्वाधकैरिति । अध्ययनविधेः स्वशा-
खाध्ययनमात्रपरत्वम्, तदध्येतुस्तावन्मात्रकरणे सर्वशाखार्थकरणपूर्तिः, शाखान्तरसंवादिपर्वकथ-
नानुपपत्तिश्चेत्येवंरूपैः ।

एवं परोक्तं परिहृत्य खोक्तौ युक्तिमाह अपरं चेत्यादि । आवश्यक इति । तदर्थमेव
तत्कथनात् पुराणे तथा प्रसिद्धेश्चावश्यकः । तथेति । आवश्यकः । एवं स्वमतं स्थापयित्वा
उपसंहारपक्षे बाधकमग्रह्य किञ्चेत्यादि । ननुपासने फलभेदजनकः प्रकारभेद उपसंहारप्रयोजकः

रश्मिः ।

इति स्वमते पत्रावलम्बने प्रकाशे च जिज्ञासाधिकरणे । तदर्थत्वेनेति स्वाध्यायार्थत्वेन ।
तथात्वादिति । तावन्मात्रपरत्वात् स्वशाखाध्ययनमात्रपरत्वात् । उपसंहार इति । एकवस्तुप्रति-
पादकचरमवर्णध्वंस उपसंहारस्तस्मिन् । प्रयोजनेति प्रयोजनमर्थनिर्णयः, तस्य संजातविरोधि-
न उपक्रमाद् भेदः, असंजातविरोधित्वेनापि भेदः । तस्येति अभिन्नवस्तुनः । उभयसत्तया वस्त्वभेद-
सत्तया अर्थनिर्णयसत्तया च । तेनैवेति उपसंहारेणैव, न तु शाखान्तराध्ययनेन । विरुद्धदिक्काना-
मिति । यथा पूर्वोदिक्कानां एकस्य श्रीगोवर्धननाथद्वारस्य प्राप्तिः । न चेत्यादीति । द्वितीय इति
धूममार्गः । अविशिष्टो मार्गान्तराविशिष्टः । पुराण इति । द्वितीयस्कन्धे क्रममुक्तौ । तथा
चेति । द्वितीयार्थबोधकचकारधटित्वे सति । किञ्चेत्यादीति । उपासने उपसंहारपदे पर्वोप-

कर्मणि चोपसंहारः सम्मतः । मार्गस्तु नान्यतररूपः, अतो यस्योपासकस्य येन मार्गेण गमनम्, स मार्ग उपदिश्यते इति नोपसंहारो युक्तः । अविधेयत्वादपि तथा । एतद् यथा तथा पुरस्तान्निरूपितम् 'उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विशेषवत् समाने चेत्यत्र । एवं सत्यर्थिः शब्देनार्थिरूपलक्षितो मार्ग उच्यते । आदिपदेनान्ये सर्वे मार्गाः संगृह्यन्ते इति नानुपपत्तिः काचिदिति चेत् ।

अत्र वदामः । 'अर्चिरादिभ्य' इत्युक्तं भवेत्, त्वद्रीतिरेव चेदभिप्रेता भवेत्, तस्मात्त्वमित्यवधार्यते । अर्चिरादिनेत्येकवचनान्यथानुपपत्त्या मार्गस्यैकत्वमवश्यमूरीकार्यम् । एवं सति श्रुतिषु यावन्ति पर्वण्युक्तानि तानि सर्वाण्येकस्मिन्नेवार्चिरादिमार्गे वर्तमानान्यपि यस्योपासकस्य यावत्पर्वभोगो भावी, तं प्रति तावत्पर्वोक्तिः, यस्य यावतां तेषां स न भावी तं प्रति न तदुक्तिः, तद्भोगाभावादिति नानुपपन्नं किञ्चित् । ननु त्वयाप्यनुक्तानां पर्वणां तत्र स्थितिं वदतोपसंहार एवोक्तो भवति प्रापकत्वेनेति चेत् । स्यादेतदेवम्, यदि तस्यैव गन्तुर्भोगाय तदपि पर्व तन्नोच्येत, न त्वेषम्, किन्त्वेकवचनानुरोधान्मार्गैक्ये निश्चिते यं प्रति यत् पर्वोच्यते, तत्तत्र कण्ठोक्तमेवेति नोपसंहारापेक्षा । अत्रेऽ-

भाष्यप्रकाशः ।

कर्मणि च वाक्यसार्थक्यम्, न त्पासनत्वं कर्मत्वं वा, अतो मार्गस्य तदन्यतररूपत्वाभावेपि ब्रह्मप्राप्तिरूपप्रयोजनैक्यात् कृतो न युक्त उपसंहार इत्यत आह अविधेयत्वादपि तथेति । नन्वविधेयत्वस्योपसंहारबाधकत्वं क सिद्धमित्यतः पूर्वोक्तं सारयति एतद्यथेत्यादि । तत्र हि समाने योऽर्थाभेदादुपसंहारः स विशिष्टः, योऽविशिष्टोऽप्यस्यैव इत्युक्तम् । तेषामिदोत्रादयः सर्वेषां समाना अपि येषां शाखिनां यथोक्ताः, तेषामेव ते तथा विशेष्या भवन्ति । तथाऽभिधेयत्वात् । एवमत्रापि यदुपासनशेषे यत्पर्वको मार्ग उक्तः, तं प्रति स एव विशेष्यः, न त्वन्यान्-प्रति । अतोऽन्यान् प्रत्यविधेयत्वादपि न मार्गोपसंहारो युक्त इत्यर्थः । एवमुपपाद्य सिद्धमाह एवं सतीत्यादि ।

एवं पूर्वपक्षमुपपाद्य सिद्धान्तमाहुः अत्र वदाम इत्यादि । तथा च नानाप्राप्तयुक्तमार्गैक्येऽपि कस्यचित् कस्यचित् ग्रामेऽवान्तरनिवासः, अन्यस्थान्यत्र, तथेहापीत्यर्थः । अत्रोपसंहारस्य पर्वप्रापकत्वमाशङ्कते नन्वित्यादि । तत्परिहरन्ति स्यादेतदित्यादि । नोपसं-

रश्मिः ।

संहारः । कर्मणि प्रयाजोपसंहारः । येनेति । अधिकारानुसारेण येन मार्गेण गमनम् । वाक्येति । प्रयाजानुयाजवाक्यसार्थक्यम् । अङ्गानां अर्थः फलं तदभावेऽनुपसंहृतानामानर्थक्यं स्यात् । मार्गस्त्विति । भाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतो मार्गस्येति । अर्चिरादिमार्गस्य प्रकारभेदवाक्यसार्थक्ययोरन्यतररूपत्वाभावेपि । अस्येति । अविधेयत्वस्य । तथाऽविधेयत्वादिति । तथा अविधेयत्वादिति पदच्छेदः । यदुपासनशेष इति । यस्योपासनस्य शेषे कर्तरि । तमिति । उपासनकर्तारं प्रति । तथेति । भाष्यार्थमाहुः न मार्गोपसंहार इति । सिद्धमाहुः तथा चेति । तथा च यथा ब्रजं गच्छतः शकटवाहनत्वे क्रोशपञ्चक्रग्रामे क्रोशपट्टग्रामे वावान्तरनिवासः । रथवाहनत्वे क्रोशाष्टक्रग्रामेवान्तरनिवासः । अश्ववाहनत्वे क्रोशदशक्रग्रामेऽवान्तरनिवासः । तथैव शिबिकावाहनत्वे । उष्ट्रावाहनत्वे क्रोशद्वादशके क्रोशचतुर्दशके वा ग्रामे निवासः । सुखेन । इहापीति । इह यावत्पर्वभोगस्तं प्रति तावत्पर्वोक्तिः । नन्वित्यादीति । तन्नोति । अर्चिरादिमार्गे । प्रापकत्वेनेति । पर्वप्रापकत्वेन

न्यत्रोक्तानां पर्वणाद्युक्तस्यले सन्निवेशोक्त्यापि सूत्रकाराभिमत एक एव मार्ग इति ज्ञायते । श्रुतौ सर्वत्र पूर्वपरामर्शादपि तथा ॥ १ ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

छान्दोग्ये वायुर्न पठ्यते । कौशीतकिश्रुतौ तु 'स एतं देवयानं पन्थानमाप्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोक'मिति वाच्चादयः श्रूयन्ते । तत्रार्चिषोऽग्नेश्चाभेदात्तत्र विचारणीयमस्ति । वायुलोकं कस्माद्धोकात् गच्छतीत्याकाङ्क्षायामाह वायुमब्दादिति । 'अर्चिषोऽहरहृ आर्प्यमाणपक्षमाप्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्य'मित्यत्र संवत्सरलोकात् परस्ताद्वायुलोको निवेशयितव्यः, तथा च संवत्सरलोकाद्वायुलोकं गच्छतीत्यर्थः । तत्र विनिगमकमाह अविशेषविशेषाभ्यामिति ।

अत्रेदं ज्ञेयम् । अग्निहोत्रादिकर्मनिश्चितशुद्धावुपासनाभिर्ज्ञानोदये क्रममुत्पत्तिकारी हि तत्सल्लोकं गत्वा मुक्त्वा अन्ते ब्रह्म प्राप्नोति । कर्म त्वमिसाध्यम्

भाष्यप्रकाशः ।

हारापेक्षेति । अन्यभोगाभावान्नोपसंहारापेक्षा । ननु मार्गभेदे को दोषो येन क्लिष्टादरः क्रियते इत्यत आहुः अत्र इत्यादि । अत्र इति । अग्निमन्त्रेषु । पूर्वपरामर्शादिति । 'अर्चिषोऽहरहृः पूर्वपक्ष' इत्यादिरूपात्तस्मात् । तथा च मार्गान्तरस्याभावादेतस्य च ज्ञानिनः प्रत्येवोक्तत्वाज्ज्ञानिनामेव क्रममुक्तिः । मर्थादाभक्तानां तु पूर्वोक्तरीत्या सद्योमुक्तिरेवेति सिद्धम् ॥ १ ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥ ननु मार्गैक्यं न युक्तम्, अनुक्तपर्वत्वस्य वक्तुमशक्यत्वादित्याशङ्क्य तद्विनिगमनायाग्रिमं पठतीत्याशयेन सत्रभवतारयन्ति छान्दोग्य इत्यादि । आहेति । 'संवत्सरलोकाद्वायुलोकं गच्छती'ति विनिगमकपूर्वकमाहेत्यर्थः ।

अविशेषो कतरावित्यपेक्षायां हेतुं व्याकुर्वन्ति अत्रेदमित्यादि । तथाचार्चिरादिसंवत्सरान्तानां भूसम्बन्धित्वमविशेषः । वाच्चादित्ययोर्नीचोच्चलोकाधिपत्येन तथात्वात्तयोः पौर्वोरश्मिः ।

रूपेण । पूर्वपक्ष इति । अहः आप्यमाणपक्षः । इत्यादिरूपादिति । 'आप्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था' इति श्रुतिरादिपदार्थः । सिद्धं वदन्तः तथेति । भाष्यार्थमाहुः तथा चेति । पूर्वोक्तेति । पूर्वपादोक्तरीत्या ॥ १ ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥ संवत्सरलोकादिति । सौत्राब्दशब्दार्थः । कतराविति । अविशेषविशेषयोः साधारणयोर्विशेषाविशेषौ कतराविति प्रश्नः । हेतुमिति । अविशेषविशेषरूपम् । अत्रेदमित्यादीति । अग्निहोत्रादीति । अग्निहोत्रादिभिराध्यात्मिकचित्तशुद्धौ

भूलोक एक च भवति, अत आदौ तत्रत्यो भोगः, ततस्तदुपरितनलोकानाम् । 'पृथिवी दीक्षा तथाऽग्निदीक्षया दीक्षितः' । 'यथा पृथिव्यग्निगर्भे'त्यादिश्रुतिभ्यो भूरग्निप्रधाना भवति, अतोऽग्निरूपमग्निलोकमादौ गच्छति । ततः कर्मोपासनयोरहरादिसंबत्सरान्ते काले विहितत्वात्तत्र तत्र गत्वा भुङ्क्ते । तथा च संबत्सरान्तानां भूसम्बन्धित्वेनाविशेषात् तन्मध्ये वायोर्न प्रवेशः । भूलोकादुपर्यन्तरिक्षलोकस्तदुपरि शुलोकः, तथा च 'वायुरन्तरिक्षस्याधिपति'रिति श्रुतेः, 'सूर्यो दिवोऽधिपति'रिति श्रुतेस्तयोः पौर्वापर्ये विशेषो हेतुरस्तीत्यादित्यलोकात् पूर्वमुक्तरीत्या भूलोकमध्यपातिसंबत्सरस्य परस्ताच्च वायुनिवेशयितव्य इत्यर्थः । ननु 'तेऽर्षिषमभिसम्भवन्त्यर्षिषोऽह'रित्यादिश्रुतिरुक्तमुक्तमनूयान्धापादानत्वं वदन्ती पूर्वात्तरयोरव्यवधानं सूचयतीति नोक्तभादरणीयमिति चेत् । सत्यम् । यस्योपासकस्य न वायुलोकभोगः, तं प्रति सोक्तिः, यस्य तु तद्भोगः, तस्योक्तरीतिर्मागैक्यादिति नानुपपत्तिः काचित् ।

केचित्सु, 'स एनं देवयानं पन्यानमापद्याग्निं लोकमागच्छति, स वायुलोकं स वरुणलोक'मित्यविशेषेण वायुरूपदिश्यते । मिथःपौर्वापर्यप्रापकपदाभावात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

पर्यं विशेष इति ताभ्यां तथेत्यर्थः । अत्र 'नन्वि'त्यादिना छान्दोग्यश्रुतिविरोधमाशङ्क्य समादधते सत्यमित्यादि । सोक्तिरिति । छान्दोग्योक्ता अव्यवधानोक्तिः । उक्तरीतिरिति । व्यासोक्तरीतिः । तथा च भोक्तृविशेषेणाव्यवधानव्यवधानसम्भवाच्च श्रुतिविरोधरूपानुपपत्तिरित्यर्थः ।

एवं स्वमतेन व्याख्यायात्र शाङ्करादिसतस्रुपधिपन्ति केचित्चित्वादि । मिथःपौर्वापर्यप्रापकपदाभावादिति । तादृशपञ्चम्यन्तपदाभावात् । तथा च सोऽत्राविशेषपदार्थः । 'यदा रश्मिः ।

ज्ञानम्, आधिदैविकचिच्चशुद्धौ भक्तिरिति सुभोधिन्त्यां अस्य पक्षस्य 'नैतादृशा भक्ता' इति निबन्धेऽनङ्गीकारात् तत्र्यायेनोपासनाः निवेश्योक्तम् । एवेति । मनुष्याणां न तु देवानामिति न 'तदुपर्यपी'त्यधिकरणविरोधः । यदि पृथिव्यग्निगर्भो स्यात्, तदा पृथिवीदीक्षयाग्निदीक्षितो भवेदित्याशयेनाहुः यथा पृथिव्यग्निगर्भेति । तथा च पृथिव्या दीक्षा तथा दीक्षया पृथिवीगर्भोऽग्निदीक्षित इत्यर्थः । दीक्षा इतो दीक्षितः । अहरादीति । 'अहरहः सन्ध्यासुपासीत' । 'प्रातर्मध्यन्दिने सप्तं विष्णुपूजा स्मृता भुवैः । यथा सन्ध्या तथा विष्णुपूजा नित्ये'ति नारदीये । 'नियतस्य तु सन्ध्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः' इति गीता । 'मल्लिङ्गमङ्गकजनदर्शनस्पर्शनाचनः'मित्युपक्रम्य 'मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् । गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्महोत्सवः । यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वस्त्रि'ति श्रीभागवते । सर्वेषु वार्षिकेषु पर्वेषु च । एवमहरादिसंबत्सरान्ते काले विहितत्वात् तत्र तत्रेति । जगन्नाथादौ । श्रीगोवर्धननायादौ भक्तिशरणमार्गाम्याम् । एवं चादित्यमित्यनेन पदेन विश्रामस्थानमपि । 'स तत्र विजिहीते' इति बृहदारण्यकात् । स सूर्यः तत्र आगमनस्थले विजिहीते छिद्रं कुरुते । उक्तरीत्येति । छान्दोग्ये पञ्चाग्निविशोक्ता 'धिष' इत्यादिश्रुतिक्रमेण । तथात्वादिति पौर्वापर्यात् । तथेति वायुमन्दात्रिवेशयेत् । अत्रेति स्वार्थे । छान्दोग्येति उक्तश्रुतिविरोधम् । अच्यवेति । वायुतो न तथा । न श्रुतीति । उपा-

'यदा वै पुरुषोऽस्माद्धोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छती'ति श्रुत्या आदित्यात् पूर्वं वायुर्विशेषेणोपदिश्यत इत्यन्दादित्ययोरन्तराले निवेशयितव्य इत्यर्थं वदन्ति ।

स चिन्त्यते । यथा तेन 'स ऊर्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छती'ति विशेषोपदेश इत्युच्यते, तथा 'स वरुणलोक'मित्यत्रापि वक्तुं शक्यम् । न च, 'स आदित्यमागच्छती'त्यत्र तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वाद्वायुलोकगतस्यैव पूर्वत्वात् तथेति वाच्यम् । 'अग्निं लोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोक'मित्यत्रापि

भाष्यप्रकाशः ।

वै पुरुष' इत्युक्तं तेनोर्ध्वाक्रमणमादित्ये गमनं च यदुच्यते, स विशेषपदार्थः । तान्यामन्दादित्ययोरन्तराले वायुनिवेशं वदन्तीत्यर्थः । श्रुत्यर्थस्तु यदा यस्मिन् वै निश्चयेन पुरुषो मन्त्रविद् अस्माद्धोकाच्छरीरात् प्रैति लोकान्तरं गच्छति, तदा स पुरुषो वायुमागच्छति प्राप्नोति । तस्मै आगताय, स वायुः तत्र तदागमनस्थले विजिहीते पूर्वं स्तिमितोऽपि तदानीं स्वावयवान् विगमयति तस्य गमनार्थम् । विगमनस्थलपरिमाणमाह, यथा रथचक्रस्य खम् शक्यपरिमाणं रथचक्रस्य छिद्रम् । तेन मार्गेण स पुरुष ऊर्ध्वं आक्रमते, स आदित्यमागच्छति प्राप्नोतीति ।

एवं तत्राख्यातमर्थमनूय तदुक्तस्य विशेषस्य विशेषत्वं युज्यते, न वेति विचारयन्ति स चिन्त्यते इत्यादि । इत्यत्रापि वक्तुं शक्यमिति । ऊर्ध्वाक्रमणस्वार्थसिद्धत्वात्तच्छब्दस्य तत्रापि सत्त्वाद्भक्तुं शक्यम् । तथाचोर्ध्वाक्रमणतच्छब्दोक्तपूर्वपरामर्शयोर्विशेषपदार्थत्वाङ्गीकारे वाजसनेयिभिवीचनन्तरमादित्यवत्कौशीतकिमिर्वायुलोकानन्तरं वरुणलोकस्य पञ्चमानत्वेन भवदुक्तविशेषस्य तत्रापि शक्यवचनत्वादुक्तहेतोरर्थान्तरसाधकतया प्रकृत्यासिद्धिरित्यर्थः । तर्हि वायुलोकगतपुरुषीयं पूर्ववर्तित्वं परामुशतस्तच्छब्दस्य तथात्वमस्त्वित्यत आहुः न चेत्यादि तथा चाद्ये पक्षे न्याय्येयपक्षविरोधः, द्वितीये च वरुणस्येत्युभयमप्युक्तमित्यर्थः । दूषणान्तर-

रश्मिः ।

दानविरोधकृतश्रुतिविरोधरूपा । अन्दादित्ययोरन्तराल । इति नन्वन्दः कोक्त इति चेन्न । छान्दोग्यैकवाक्यतया प्राप्तेः । स्तिमित इति विगमनस्थलरहितोपि । विगमयतीति विगमनस्थलं कुर्वन्त्यवयवास्तान् विगमनस्थलं कारयति वायुः । तच्छब्दस्येति । स वरुणलोकं इत्यत्र स इति तच्छब्दस्य । तत्रेति वरुणवाक्ये । तत्रापि कौशीतकिमाश्रयेषु । उक्तहेतोरिति अविशेषविशेषहेतोः । अर्थान्तरम् । 'संबत्सराद् वायुलोकं वायुलोकाद् वरुणलोकं वरुणलोकादादित्यं' इत्यर्थान्तरम् । अर्थः 'अग्निं लोकात्संबत्सरं संबत्सराद्वायुलोकं वायुलोकाद्वरुणलोकं वरुणलोकादादित्यलोकम् । स आदित्यमागच्छती'त्युक्तश्रुतरिति । तदन्योर्थ उक्त इत्यर्थान्तरम् । तस्य साधकतया प्रकृतं यदन्दाद्वायुलोकं वायुलोकादादित्यमिति । यदा परमते प्रकृतोऽग्निं लोकात्संबत्सरं इत्यादिरुक्तोर्थः । तस्यार्थस्यासिद्धिः । अनुमानं तु छान्दोग्ये वायुमन्दात् अविशेषविशेषाम्याम् । 'अग्निं लोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोक'मिति वाक्यवदिति । एवं दृष्टान्तः । तच्छब्दस्येति स वरुणलोकमिति तच्छब्दस्य । तथात्वमिति । पौर्वापर्यवाचकत्वमस्त्विति । न चेत्यादीति । तथेति । स वरुणलोकमागच्छतीति न निवेश्यम् । तदितोविषय इति सूत्रात् । एवं च तथा

तुल्यत्वात् । किञ्च, एवमग्निलोकानन्तरं वायुलोक इत्यपि वक्तुं शक्यम्, अतो विद्व-
द्विरूपेक्ष्योऽयम् । वाजसनेयिनस्तु, 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्य'मिति
पठन्ति । तत्राप्यादित्यात् पूर्वं देवलोकात् परो वायुर्ज्ञेयः । एकत्रादित्यात् पूर्वत्वे
सिद्धे मार्गैक्यादान्यत्रापि तथात्वस्य न्यायमाप्तत्वात् । सूत्रकारेण तु छन्दोग-
श्रुत्यपेक्षयोक्तम्, वायुमब्दादिति । एवं सति मासेभ्यः परस्तादब्दनिवेशनं कार्यम् ।
न च 'वायुमब्दा'दिति सूत्रान्मार्गभेदापत्तिः । देवलोकस्यादित्याभिधेयत्वेनादि-
त्यमध्यपातित्वमभिप्रेत्य छन्दोगश्रुतिस्तथोक्तवती । तदनुसारेण व्यासोपि ।
अतो नानुपपत्तिः ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

माहुः । किञ्चेत्यादि । एवमिति । ऊर्ध्वक्रमणपूर्ववर्तित्वयोर्विशेषपदार्थत्वे । तथा चाब्दानन्त-
र्यमपि न सिद्ध्येदित्यर्थः । एवं सूत्रव्याख्यानांशे तन्मतमपास्य बृहदारण्यकश्रुतिविरोधांशेपि तन्मतं
परिहर्तुमाहुः वाजसनेयिन इत्यारभ्याब्दादित्यन्तम् । परिहरन्ति एवं सतीत्यादि । एवं
सतीति । देवलोकनिवेशेऽवश्यं कर्तव्ये सति । तथोक्तवतीति । संवत्सराब्दादादित्यमित्युक्त-
वती । तथाच स्थानापेक्षया 'सर्वो दिवोऽधिपति'रित्युक्तलिङ्गस्य बलिष्ठत्वाद् देवलोकात् पूर्वमेव
वायुनिवेशो युक्तः, न तु ततः परमित्यर्थः ।

रामानुजाचार्यास्तु, देवलोकशब्दं वायुलोकपरमेवाङ्गीकुर्वन्ति । यदेवलोकशब्दे
अविशेषणोक्तम्, तदेव वायुलोकशब्दे विशेषणोच्यत इत्यविशेषविशेषाभ्यामित्येव तत्रापि हेतुः ।
वाजसनेयिनां 'स वायुमागच्छती'ति श्रावणात् कौशीतकिनां वायुलोकशब्दे वायुश्चासौ लोकश्चेति
कर्मधारयमङ्गीकुर्वन्ती वायोर्देवलोकत्वाय, 'योऽयं पवत एष देवानां ग्रहा' इति श्रुतिं चाहुः ।
तत्राप्येकत्र कर्मधारयाङ्गीकारे प्रायपाठविरोधः । सर्वत्र तदङ्गीकारे तु लोकपदप्रयोगवैयर्थ्यम् ।
'स वायुमागच्छती'त्यत्र केवलवायुप्रयोगस्तु द्वारत्वाभिप्रायेण । आदित्यसभिधानात् । आदित्ये
लोकद्वारत्वस्य, 'एतद्वै खड्ग लोकद्वार'मिति छान्दोग्ये श्रावणादिति । अतश्चिन्त्यम् ॥ २ ॥

रश्मिः ।

नाम स आदित्यमागच्छतीत्यत्र अविशेषविशेषहेतुर्न वरुणलोकमित्यत्रापि न च वाच्यमित्यर्थः ।
तुल्यत्वादिति वायुलोकानन्तरमादित्यलोकं गच्छतीत्यस्य तुल्यत्वात् । तथा च न स वरुणलोक-
मागच्छतीत्यनिवेशयम् श्रुतत्वात्, अन्यपूर्वापर्यं तु निवेश्यमिति भावः । आद्य इति अर्थोन्तरपक्षे ।
व्याख्येयेति वायुमब्दाद्वायोरादित्यमिति व्याख्यानाद् व्याख्येयसूत्रविरोधः । द्वितीय इति ।
अर्थपक्षे सोप्युक्त एव । उभयमिति अर्थोन्तरं च । दूषणेति । उक्तानुमाने अग्निलोक-
मागच्छतीत्यादेरदृष्टान्तत्वार्थं तथा । बृहदारण्यकेति माते व्याख्येयसूत्रविरोधांशे । तन्मतमिति ।
वाजसनेयिनस्तु 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्य'मिति समामनन्ति । तत्र आदित्यानन्तर्याय देव-
लोकाद् वायुमभिसंभवेयुः । वायुमब्दादिति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयेति परमाप्यादनुदितं तन्मतम् ।
इत्यन्तमिति । इत्यन्तं तन्मतमाहुरित्यन्वयः । एवं सतीत्यादीति । मार्गभेद इति वायुलोकादेव-
लोकं देवलोकादादित्यमित्यस्मान्मार्गाद्भेदस्यापत्तिः । इत्युक्तस्येति । अत्रैव भाष्योक्तस्य लिङ्गस्य । तत
इति देवलोकात् । ग्रहा इति । छत्रिणो यान्तीत्यत्र छत्रित्ववत् वायो ग्रहत्वम् । बहुवचनं छान्दसम् ।
ग्रहा इत्यत्र अचो रेफो वा । प्रायपाठेति । अग्नेर्लोकमिलोकस्तमित्येव षष्ठीतत्पुरुषप्रायपाठस्तस्य
विरोधः । सर्वत्रेति । वायुलोकपदेपि । लोकेति वायुश्चासौ लोकः वायुलोक इत्यत्र वायुलोकलोक
इत्यर्थापत्त्या तथा । वायुपदस्य वायुलोकवाचकत्वम् । 'योऽयं पवत एष देवानां ग्रहा' इति श्रुतेः ॥२॥

तद्धितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥

'आदित्यावन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युत'मित्यत्र पठितविद्युल्लोकात् परतो
वरुणलोको निवेशनीयः । तत्र हेतुः । सम्बन्धात् । तद्धितोऽप्सम्बन्धित्वाद्-
रुणस्य तत्पतित्वात् तथा ॥ ३ ॥

वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती ॥ ४ ॥

स्पष्टमिदम् । अर्चिरादिपाठे विद्युदनन्तरं 'तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म
गमयती'ति पठ्यते । तत्तु यस्योपासकस्य वरुणदिलोकगमनापेक्षा नास्ति, तमपे-
क्ष्येति ज्ञेयम् । मार्गैक्यनियममभिप्रेत्य सूत्रकारोऽन्यत्रोक्तानामन्येषामपि
लोकानां तत्रैव निवेशनमाह ॥ ४ ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्याये तृतीयपादे प्रथममर्चिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तद्धितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥ ननु भवतु संवत्सरादुपरि देवलोकादवर्णावायु-
लोकनिवेशस्तथापि वरुणलोकः क्व निवेशनीयः, न हि तत्र विशेषादिरूपं किमपि नियामकमन्त-
राले निवेशने लभ्यते, अतो मार्गभेदपक्ष एव युक्त इत्याशङ्कानिरासायेदमित्याशयेन व्याकुर्वन्ति
आदित्यादित्यादि । तद्धितोऽप्सम्बन्धित्वादिति । 'विशाला हि विद्युतो नृत्यन्ति तीमस्त-
नितनिर्घोषो जीमूतोदरेषु नृत्यन्ति अथापः प्रपतन्ति विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वे'ति ब्राह्मणात्
तथा । तथा चाप्सम्बन्धरूपस्य नियामकस्य विद्यमानत्वात् तन्निवेशसिद्धेर्न मार्गैक्यबाध इत्यर्थः ॥३॥

वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती ॥ ४ ॥ स्पष्टमिति । पाठसामर्थ्यादेव तन्निवेशस्थानं
स्पष्टमिति न पूर्ववदाशङ्कावकाश इत्यर्थः । तद्धितानन्तरं वरुणादिलोकनिवेशेऽर्चिरादिश्रुति-
विरोधमाशङ्क्य परिहरन्ति अर्चिरादीत्यादि । तमपेक्ष्येति पर्यङ्कविद्युदुपासकमपेक्ष्य ।
मार्गैक्यनियममभिप्रेत्येति । अक्षिपुरुषविद्यापश्चाद्विद्ययोरिव पर्यङ्कविद्यायामपि
देवयानमार्गस्य प्रत्यभिज्ञानात् तयोरिवास्यामपि वैद्युतस्यातिवाहिकस्यावश्यकत्वात्
रश्मिः ।

तद्धितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥ तत्रेत्यादि । 'अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं
स वरुणलोक'मित्यत्र विशेषः स इति द्वये । आदिना क्रमः सम्बन्धश्च । अन्तराले इन्द्रादित्यलो-
कयोरन्तराले । इदमिति । सूत्रम् । नृत्यन्तीतीति । नृत्यन्ति इति इ इति छेदः । इ आक्षर्ये ।
ब्रह्मेति । ब्रह्मेवाचरति । नृत्यसूक्ष्मत्वादिना । तेति वर्णागमः । तन्निर्घोषो वा तकारलोपः । तस्याः
विद्युतः निर्घोषः आकाशे जीमूतोदरेष्वाकाशे शब्दः । 'आकाशे कः शब्दं करोती'ति प्रश्ने 'आरणे
विद्यु'दित्युत्तरात् । जीमूतो मेघः इन्द्रस्यात्ममूर्तिः । अथ तदनन्तरं आपः सेचनकर्त्र्यः । वि-
द्योतते विद्युत् । स्तनयति जीमूतः । वर्षिष्यति वा जीमूतः । तथेति । भाष्यीयतयेत्यस्मा-
नुवादः । तद्धितोऽप्सम्बन्धित्वम् । तन्निवेशेति । वरुणलोकनिवेशसिद्धेः ॥ ३ ॥

वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती ॥ ४ ॥ पाठे इति । 'स एवं देवयानं पथानमापधामिलोक-
मागच्छति, स वायुलोकम्, स वरुणलोकम्, स इन्द्रलोकम्, स प्रजापतिलोकम्, स ब्रह्मलोक'मिति
कौषीतकिश्रुतिपाठसामर्थ्यात् । पूर्ववदिति । तद्धितसूत्रवत् । आशङ्केति । लोकनिवेशशङ्कावकाशः ।
मार्गैक्यनियममभिप्रेत्येतीति । अर्चिरादिमार्गैक्यनियमम् । तयोरिवास्यामिति ।

आतिवाहिकास्तद्धिक्तात् ॥ ५ ॥ (३-३-२)

विद्युदनन्तरं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयतीत्यत्र भवति संशयः । उक्तश्रुतेर्गमयित्रैव ब्रह्मप्राप्तिरिति निश्चीयते । स च विद्युदनन्तरमेव पठ्यते । एवं सति यस्य वरुणादिलोकगमनम्, तस्य वचनाभावेन गमयित्रप्राप्तेर्ब्रह्मप्राप्तिर्भवति, न वेति । तत्र वाचनिकस्य यावद्ब्रह्मनत्वात्तदभावेन सा न भवतीति प्राप्त आह आतिवाहिका इति ।

एतदुक्तं भवति । यस्योपासकस्य यावत्फलभोगानन्तरं ब्रह्मप्राप्तिर्भाविनी, तस्य तावत्सद्भोगानन्तरं ब्रह्मप्राप्तिर्भवति, अत एव कौशीलकिश्रुती प्रजापति-लोकानन्तरं ब्रह्मलोकः पठ्यते । अन्यथा कृतसाधनवैयर्थ्यम्, तेषां ब्रह्मप्राप्तिसाधन-त्वबोधकश्रुतिविरोधश्च स्यात् । तथा च यत्रातिवाहिकश्रुतिर्नास्ति, तत्राप्याति-वाहिको भगवदीय एव ब्रह्म प्रापयतीति ज्ञेयम् । वस्तुतस्तु बहव एव तादृशाः

भाष्यप्रकाशः ।

तथाभिप्रेत्य । तथाचैतद्व्यायेन सर्वासु क्रमप्राप्तिसोपिकासु ब्रह्मविद्यासु वैशुतं पुरुषं विना न ब्रह्मप्राप्तिरिति बोधनार्थं मार्गैक्यनिरूपणमित्यर्थः ॥ ४ ॥ इति प्रथममर्धिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

आतिवाहिकास्तद्धिक्तात् ॥ ५ ॥ एतस्याधिकरणत्वाय विषयं संशयं चाहुः विद्युदित्यादि । सङ्गतिस्त्ववसरः । पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । सिद्धान्तं व्युत्पादयन्ति एतदित्यादि । अन्यथा कृतसाधनवैयर्थ्यमिति । तेनोपासनेन ब्रह्मप्राप्त्यभावे तदर्थं कृतं यदुपासनरूपं साधनं तस्य वैयर्थ्यम् । तेषामिति । उपासनानाम् । आतिवाहिकश्रुतिरिति । अतिवहनं अतिक्रामयित्वा प्रापणं अतिवाहः । भावे च । तत्सबन्धी आतिवाहिकस्तद्भोघिका श्रुतिरातिवाहिकश्रुतिः । ननु यद्येवमातिवाहिकप्राप्त्यर्थमिदं घृतं स्यात्, तदैकवचनमेव प्रयुज्येत, श्रुतौ 'अमानवः पुरुष' इत्येकवचनात्, अतो नैवमित्यत आहुः वस्तुत इत्यादि । तथा च यत्रातिवाहिको न पठितः, तस्यामपि विद्यायां ब्रह्मप्राप्तेरुक्त-रक्षिः ।

अक्षिपुरुषविद्यापञ्चमिविद्ययोरिवासां पर्यङ्गविद्यायाम् । तथाभिप्रेत्येति । मार्गैक्यनियममभिप्रेत्य । एतदिति । समीपतरवर्तिसूत्रेण ॥ ४ ॥ इति प्रथममर्धिराद्यधिकरणम् ॥ १ ॥

आतिवाहिकास्तद्धिक्तात् ॥ ५ ॥ विद्युदित्यादीति । उक्तेति । अव्यवहितपूर्वमुक्त-श्रुतेः । गमयित्रप्राप्तेरिति । भोगमभिसु भोगानन्तरं अन्यस्य कर्मादेर्गमयितुरभावात्पेक्षितगमयित्र-प्राप्तेरित्यर्थः । अवसर इति । क्रमसूक्तौ ज्ञानिसम्बन्धिन्यां ब्रह्मप्राप्ते प्रतिबन्धकीमूला मार्गनिवेशन-विज्ञासा तस्या निवृत्तौ सत्यां अवश्यवक्तव्यत्वं सर्वत्र ब्रह्मपुरुषस्य अमानवस्य निवेशे इत्यवसरसङ्गति-लक्षणसमन्वयः । प्रतिबन्धकीमूलाविज्ञासानिवृत्तावश्यवक्तव्यत्वमवसर इति लक्षणम् । तत्रेत्यादीति । वाचनिकस्य तत्पुरुषस्य अमानवस्य । यावद्ब्रह्मनं वचनमनतिक्रम्येति यावद्ब्रह्मनम् । अव्ययी-भावः । अन्यत्र वचनाभावेन । सेति ब्रह्मप्राप्तिः । तदर्थं ब्रह्मप्राप्त्यर्थम् । आस्करभाष्ये तु मवार्ये ठ्युक्तः तत्र भव इति सूत्रात् । तथा चातिवाहे भव आतिवाहिकः । आतिवाहिक इति । औषादिकष्टक । भाष्ये । तथा चेत्यादि । विद्यासामर्थ्याद्गमयित्रभावेपि ब्रह्मप्राप्ते सत्याम् । भगवदीय एवेति ।

सन्तीति ज्ञापनाय बहुवचनमत्रोक्तम् । तन्मध्ये कश्चनान्यैक एव नयतीति ज्ञापनाय श्रुतायैकवचनम् । तत्र हेतुः तद्धिक्तात् । 'तत्पुरुषोऽमानव' इत्यत्र ब्रह्म-सम्बन्धित्वं लिङ्गमुच्यते । तेनेदं ज्ञाप्यते, यथा विद्याबलात् तत्सल्लोकप्राप्तिः, तथैव ब्रह्मप्राप्तिरपीति न, किन्तु भगवदीयपुरुषानुग्रहेणैवेति ।

न च पूर्वपूर्वलोकाधिष्ठातृदेवा उत्तरोत्तरलोकं प्रत्यातिवाहिका यथा, तथा ब्रह्मप्राप्त्यव्यवहितपूर्वलोकदेवा एव ब्रह्मप्रापका इति तत्पदेन स लोक एवोच्यत इति वाच्यम् । तदेतरेल्लोकेषु तदकथनं यथा, तथात्रापि न कथयेत् । लोका-

भाष्यप्रकाशः ।

त्वात् तदन्यथानुपपत्त्या स कल्प्यः, अतः प्राप्यबहुत्वात् प्रापकबहुत्वबोधाय तद्वचनमित्यर्थः । श्रौतस्यैकवचनस्य तात्पर्यमाहुः तन्मध्ये इत्यादि । तत्र हेतुरिति । बहुत्वे हेतुः । एतमर्थं हेतुव्याख्यानस्युत्पत्तेन स्फुटीकुर्वन्ति तत्पुरुष इत्यादि । उच्यत इति । 'अमानव' इत्यादिना वाक्येनोच्यते । तेनेति । श्रौतेन लिङ्गेन । तथा चैतलिङ्गेनैव तेषां बहुत्वसिद्धिरित्यर्थः ।

अत्रान्ये एवं व्याकुर्वन्ति । 'अर्चिषोहरद् आपूर्यमाणपङ्क'मित्यादौ किमेतेऽर्चिरादयो देवयानमार्गस्य चिह्नानि, यथा अमुकं नगरं प्रति गच्छतोऽमुकः पर्वतोऽमुका नदी, एते ग्रामा इति, अथवा अवान्तरभोगभूमयः यथा दूरतरं नगरं गच्छतोऽवान्तरनिवासग्रामाः, उतातिवा-हिका देवताविशेषा इति सन्देहे । आतिवाहिका एवेति । कृतः । तद्धिक्तात् । 'आदित्याबन्धमसं चन्द्रमसौ विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयतीति सिद्धवद्गमयितृत्वदर्शनरूपाद्धिक्तात् । 'अमानव' इति विशेषणं तु पूर्वोक्तमानवत्वनिवृत्त्यर्थमिति ।

तदेतभिषेधन्ति न चेत्यादि । तत्पदेनेति । श्रौतेन उपापादानपञ्चमीकेन । तभिषेध-हेतुं व्युत्पादयन्ति तदेतरेत्यादि । यदि तत्पदेन विद्युल्लोकः परामृश्येत, तदान्येषु लोकेषु यथा गमयितुरकथनम्, तथात्रापि गमयितारं न कथयेत् । देवानामातिवाहिकत्वस्य लोक-सम्बन्धादेव प्राप्तत्वात् । नन्वत्र तत्पदस्य लोकबोधकत्वेपि देवानां लोकस्यत्वात् आतिवाहिकत्व-रक्षिः ।

अयं कर्मस्थानीयः, न तु ज्ञानावयवितकर्मणां ज्ञानिगामुक्तमणादि कर्म । मनु विद्या प्रापयतीत्युक्तमिति चेत् । न । विद्याफलस्य ब्रह्मप्राप्तेरवान्तरमार्गगततत्तल्लोकदेवताऽसाहित्ये सामिफलं भवेदिति विद्यासाफल-त्यायातिवाहिकोक्तेः । नैवमिति । यत्रातिवाहिकश्रुतिर्नास्तीत्याद्युक्तं न, किन्तु वाचनिकस्यामानवपुरुषस्य यावद्ब्रह्मनत्वम् । तदन्यथानुपपत्त्येति । अत्र शास्त्रान्तरवत् नान्यथानुपपत्तिर्यापत्तेरविषयत्वपरिञ्चि-हीर्षयापि त्वयोपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः करणल्लोकेस्तृतीययेति । स इति आतिवाहिकः । तद्ब्रह्मनमिति सूत्रे बहुवचनम् । एनमित्यन्वादेशः । प्रतीकार्यमुपात्तस्य हेतोः स्फुटीकारार्थं पुनरुपादानात् । किञ्चि-त्कार्यस्युपात्तस्य पुनरुपादानमन्वादेशः तत्पुरुषो लोकपुरुषः अतोऽमानवो ब्रह्मसम्बन्धिलिङ्गमि-त्याशयेनाहुः अमानव इति । श्रौतेन इति । अमानवरूपेण । तेषामिति । आतिवाहिकानाम् । यथा अमुकमिति । यथा अमुकं नगरं प्रति गच्छतः अमुकः पर्वतः अमुका नदी य एते ग्रामा इति पाठः । सन्देह इति त्रिकोटिकसन्देहे । पूर्वपक्षस्तु अवान्तरभोगभूमय आतिवाहिका इति । आतिवाहिका एवेति । देवताविशेषा एव तु देवयानमार्गस्य चिह्नानि नाप्यवान्तरभोगभूमय

धिष्ठातृदेवानामातिवाहिकत्वोक्तावर्चिलोकप्रापकान्तिवाहिकस्याभावात् तत्प्राप्तिर्न स्यात् । तथा सति देवयानमार्ग एवोच्छिद्येत । अतो यथा विद्याबलेनैवार्चिषः प्राप्तिः, तथेतरेषामपीति बुध्यस्व । कस्यचिदल्पलोकगत्यनन्तरमेव ब्रह्मप्राप्तिः । कस्यचित् बहुलोकगत्यनन्तरं सोच्यत इति भोगभूमित्वमेव तेषामवगन्तव्यम् । सर्वेषां सर्वत्र गमने देवयानं पन्थानं वदन्त्याः श्रुतेः सामि तत्कथनमनुपपन्नं स्यात् । अत उपासनाभेदेन फलभेदं ज्ञापयन्ती तथा वदतीति युक्तमुत्पश्यामः ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

कल्पनम्, किन्तुपसंहारस्य सिद्धवत् गमयितृत्वदर्शनमेव देवानामातिवाहिकत्वे लिङ्गम्, अतस्तत्प्रापणार्थं तत्कथनमिति चेत्, तत्राहुः लोकेत्यादि । तथा चात्र यद् गमयितृकथनम्, तद्विद्युल्लोकात् पूर्वेषु लोकेषु ग-विप्रपेक्षाभावं बोधयति, न तु गमयितारं प्रापयतीत्यर्थः । ननु यदि विद्याबलेनैव विद्युदन्तलोकप्राप्तिः स्यात्, तदा सर्वासु विद्यासु सर्वे लोका उच्येरन्, तत्तु नोच्यते, अतो न विद्याबलेन तत्प्राप्तिः, किन्तु गमयित्रैवेति श्रुतेस्तात्पर्यमिति चेत्, तत्राहुः कस्यचिदित्यादि । तथा च देवयाने मार्गोऽप्याद्युत्तरं सर्वत्र लोकशब्दोपबन्धात्तस्य च श्रुतिरूपतया लिङ्गापेक्षया बलीयस्त्वात्तेषां भोगभूमित्वमेव युक्तम्, न त्वातिवाहिकत्वम् । किञ्च । कस्यचित् प्रापणार्थमर्चिरादिदेवतायां गतायां तस्मिन्नवसरेऽन्यस्यार्चिःप्राप्तिर्न स्यात् । तथाच 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्तीति श्रुतिबाधप्रसङ्गः । अतस्तदभावाय तेषां लोकत्वमवश्यमङ्गीकार्यम् । किञ्च । विद्याया अर्चिषः पूर्वमुक्तत्वेपि तस्या गत्या सहानुवर्तमानत्वात्तयैव तत्तल्लोकप्राप्तिरित्येव युक्तम् ।

रश्मिः ।

इत्यर्थः । सिद्धवदिति । न तु पूर्वोक्तेद्वयमुपन्यस्य तत्पुरुष इत्यादि साध्यवत् । पूर्वोक्तेति । तत्पुरुष इत्यनेनोक्तमानवत्वनिवृत्त्यर्थम् । तत्पदेन तस्य लोकस्य पुरुषा इति व्याख्यानं तद्वत् तत् तस्मादित्यपि व्याख्यानमित्याशयेनाहुः । अतो न लुसापादनपञ्चमीकेनेति । तन्निषेधहेतुमिति । भोगभूमिरूपार्थरहिततत्पुरुषरूपार्थस्य निषेधे हेतुं व्युत्पादयन्ति विद्युल्लोक इति । तस्मा-ल्लोकादित्यर्थात्तथा । परामृश्येतेति । अधीष्टे लिङ् । कथयेदिति । स्वार्थे णिच् । उपसंहारस्थ-मिति । देवयानपथि संप्राप्तिस्थमित्यर्थः । तत्प्रापणार्थमिति । लोकप्रापणार्थम् । तत्कथनमिति आतिवाहिककथनम् । तस्त्विति । लोकन्यूनाधिकभावापेक्षया सामान्ये नपुंसकम् । लोकन्यूनत्वं लोका-धिकत्वं नोच्यत इत्यर्थः । तत्प्राप्तिः लोकप्राप्तिः । अत्र्यादीति । वायुवरुणेन्द्रप्रजापतिब्रह्माणि गृह्यन्ते आदिना । श्रुतीति । निरपेक्षो रवः श्रुतिः पूर्वतन्त्रोक्तलक्षणा । लिङ्गिति आतिवाहिकलिङ्गापेक्षया । बलीयस्त्वं 'श्रुतिलिङ्गावक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्य'मिति जैमिनिसूत्रात् । तेषां अर्चिरादिमार्गगतावान्तरविश्रामस्थानानाम् । आतिवाहिकत्वमिति । तत्तल्लोकदेवताविशेष-त्वम् । तेषामिति । आतिवाहिकानाम् । सर्वेषामित्यारभ्योत्पश्याम इत्यन्तभाष्यतात्पर्यार्थं वदन्तो विद्यासाफल्ययातिवाहिका इत्याहुः किञ्च विद्याया इति । तयैवेति । तथा विद्ययापि । अपि-नातिवाहिकाः । एवकारोप्यर्थे । लोकदेवता विना विद्या सामि स्यादिति भावः । लोकदेवतास्ता-त्पर्यार्थः । भाष्यार्थस्तु सर्वेषां विद्यावतां सर्वत्र लोकेषु । सामि तत्तल्लोकदेवता विनार्थम् । तत्कथनं देवयानपथकथनम् । फलभेदं तत्तल्लोकदेवतासाहिल्यरूपं फलप्रकारम् । तथा वदतीति । शक्ति-तात्पर्याभ्यामातिवाहिकपदार्थं वदतीति ।

ननु 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ती'त्यादिश्रुतिभ्यो देवयानं पन्थानं प्राप्तानां पुंसां ब्रह्मविस्त्वमवश्यं वाच्यम् । तेन सद्योमुक्तौ सम्भवत्यां सत्यां क्षयिष्णुत्वेन श्रुद्धानन्दत्वेन च हेयानां परमफलप्राप्तिविलम्बहेतूनामर्चिरादिलोकानां कामना कुतः यतस्तद्धेतुभूतोपासनाः सम्भवन्ति । किञ्च । 'अर्चिरादिना तत्प्रथिते'रित्यत्र यदुक्तं ज्ञानमार्गीयस्यैवार्चिरादिप्राप्तिः, न भक्तिमार्गीयस्येति, तदप्यनुपपन्नम् । 'यत्कर्मभिर्न्यस्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यदित्युपक्रम्य, 'सर्वं मङ्गलकियोगेन मङ्गलतो लभतेऽञ्जसा, स्वर्गोपवर्गं मद्भाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छती'ति भगवद्वाक्याद्भक्तस्या-प्येतद्वाञ्छाफले सम्भवतः । अन्यथा प्रभुर्न वदेत् । एवं सति भक्तिमुखं हित्वा-न्यत्र कामनायां हेतुर्वाच्य इत्याकाङ्क्षायां तमाह ।

उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥

अत्रेदं ज्ञेयम् । देवयानः पन्था अपि भगवतैव सृष्टोऽस्ति । तथाचोक्तहेतु-भिस्तत्र कस्यापि कामाभावे तत्सृष्टिर्व्यर्था स्यात्, अतो भगवानेव काँश्च व्यामो-हयति ज्ञानिनो मर्यादामार्गीयमक्ताँश्च, अतस्तत्कामनासिद्धेस्तत्फलभोग इति । यत्त्वर्चिरादिमार्गगन्तूणां देहवियोगेन सम्पिण्डितकरणग्रामत्वेनास्वातन्त्र्यं व्यामोहः । अर्चिरादीनां चाचेतनत्वेनास्वातन्त्र्यं व्यामोहः । कार्यकरणासामर्थ्य-मिति यावत् । तेनार्चिराद्यधिष्ठातृदेवैरतिवाह्यन्त इति सिद्धमिति व्याख्यानम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

अतो यथैकदेशीयानेकग्रामवासिनामेकस्मिन् देशे गन्तव्ये तन्मार्गेणैकेन तं प्रति गच्छतां मध्ये-मार्गमनेकगमराप्तादिवाङ्मतेषु यस्य यत्र किञ्चिदकार्यम्, स एव तत्र विरम्याग्ने गच्छति, अन्य-स्त्वन्यत्र, न तु सर्वः सर्वत्र तथेत्यर्थः ॥ ५ ॥

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥ सूत्रमवतारयन्ति ननु तेषामित्यादि । अर्थस्त्वव-तारणस्य सूत्रव्याख्यानस्य च स्फुटः । तथाच, 'स वै नैव रेम' इत्यादिश्रुतेः 'कृतप्रयत्नापेक्ष' इति न्यायाच्च काँश्चन व्यामोहयन् लीलां करोतीति तदर्थं तथेत्यर्थः ।

पूर्वसूत्रोक्तं हेतुमर्चिरादिदेवानामातिवाहिकत्वसिद्धावपर्याप्तं मन्वानैस्तदर्थं यदत्रान्यैर्व्या-रश्मिः ।

गन्तव्य इति । देशस्वास्थ्यसुक्त एको देशः गन्तुमर्हस्तस्मिन् । तन्मार्गेणेति गन्त-व्यदेशमार्गेण । तमिति । गन्तव्यदेशं प्रति । अत्रेपि गच्छतीति । सुहृद्भिः सह गच्छतीति बोध्यम् । दार्ष्टान्तिकानुरोधात् ॥ ५ ॥

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ६ ॥ स्फुट इति । तमाहेत्यस्य हेतुमाहेत्यर्थः । एवमव-तारणस्यार्थः स्फुटः । सूत्रव्याख्यानस्यार्थस्तु ज्ञानिन इत्यारभ्य सूत्रार्थः । उभयेषां ज्ञानिमर्यादामार्गीय-मक्तानां व्यामोहात् कामनासिद्धेस्तत्तल्लोकफलभोग इत्येवं स्फुटः । कृतप्रयत्नेति । 'कृतप्रयत्ना-पेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैवर्थादिभ्य' इति सूत्रात् द्वितीयाध्यायतृतीयपादस्थात् । तथेत्यर्थ इति । उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेरित्यर्थः । अपर्याप्तमिति । अभिवायुवरुणाद्युत्तरं लोकसम्बन्धान्निरपेक्षरूप-श्रुतिः भोगायतनत्वहेतुभूता पूर्वसूत्रोक्ततल्लिङ्गादिति हेतुर्बलीयसी आतिवाहिकत्वहेतुभूतात् । अतो-ऽपर्याप्तम् । अपरिपूर्णम् । तदर्थमिति । आतिवाहिकत्वसिद्धयर्थम् । ननुक्तमर्चिराद्यधिष्ठातृदेवैरति-

तत्र साधीयः । व्यामोहशब्दस्थान्यथाज्ञानवाचकत्वेन असामर्थ्यावाचकत्वात् । तथा सत्यार्थिलोकमपि न प्राप्नुयात् । प्रापकाभावादित्युक्तम् ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

ख्यातं तद्गुणायोपक्षिपन्ति दूषयन्ति च यस्त्विवादि । तन्नेत्यादि च ।

तथा सतीति । गन्तृणां पिण्डितकरणग्रामत्वेनास्वातन्त्र्ये सति । तथा चानया रीत्या व्यामोहे-
नार्चिरादीनामातिवाहिकत्वसाधनमसङ्गतमेवेत्यर्थः । किञ्च । यदनवस्थितत्वादार्चिरादीनां न मार्ग-
लक्षणत्वमिति । तदपि तथा । तेषां लोकत्वस्य स्वयमप्यङ्गीकृतत्वेनाप्रलयं तत्स्थितेस्तद्भावात् ।
नापि रात्रौ प्रेतस्याहःसम्बन्धालुपपत्तिः । तेषां लोकतया स्थिरत्वेन विद्ययैव तत्प्राप्त्युपपत्तेः ।
'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्त' इति ब्राह्मणस्य स्वयमेव पूर्वं लिखनात् । तेनाहोरात्रन्यायात् समान-
प्रकरणे लोकपदोपबन्धाच्च गन्तृविशेषभोगभूमित्वमेव युक्तम् । अतः पूर्वसूत्रव्याख्याने श्रीता-
नामार्चिरादिपदानां स्वार्थत्यागः । अन्यगतलिङ्गेनान्येषामातिवाहिकत्वसाधनम् । लोकपदोपबन्ध-
वैयर्थ्यम् । अत्र सौत्रपदस्य स्वार्थत्याग इति तदुभयव्याख्यानामप्यसङ्गतमित्यर्थः ॥ ६ ॥

रश्मिः ।

वाच्यन्त इति चेत्, तत्राहुः प्रापकाभावादिति । अर्चिषः प्राप्तावातिवाहिकाभावादित्यत्रापि तथा-
त्वादित्यर्थः । अर्चिषः प्राप्तौ कल्प्यत आतिवाहिक इति चेत्, तत्राहुः इत्युक्तमिति । लोकाधिष्ठाने-
त्यादिभाष्येण पूर्वसूत्र उक्तम् । तथा च त्रिवृत्करणे पञ्चीकरणप्राप्तिसिद्धिर्वातिवाहिकाप्राप्तिरिति
भावः । असङ्गतमिति । निरपेक्षरूपप्राप्तिलोकादिश्रुत्यपेक्षयातिवाहिकलिङ्गस्य दुर्बलत्वादिति पूर्वसूत्र
उक्तत्वादेवकारः । शाङ्करभाष्यीयमन्यदपि दूषयन्ति स्म किञ्चेति । न मार्गेति । न मार्गविह्वलं
संशयप्रथमकोट्युक्तम् । तथेति । असङ्गतम् । आप्रलयमिति । प्रलयं मर्यादीकृत्येत्यर्थः । तद्भावा-
दिति । अनवस्थितत्वाभावात् । प्रलयात् पूर्वमेकदेशविकृतावप्येकदेशविकृतमनन्यवदितिन्यायस्य
'अन्ये तु' इत्येवं शाङ्करादिमतोपन्यासेन सूचनात् । अहः सम्बन्धेति । लोकदेवता विना । अहः-
सम्बन्धावश्यकत्वं 'निशि ने'ति सूत्र उक्तम् । तेषामिति । आतिवाहिकानाम् । विद्ययैवेति ।
विद्ययापि । अपिना तात्पर्यविषया लोकदेवताविशेषाः । पूर्वमिति । आतिवाहिकसूत्रे । सिद्धमाहुः
तेनेति । अहोरात्रन्यायो गन्तृणां विशेषत्वे हेतुः । विशेषो विद्वत्त्वम् । रात्रौ मृतस्य विदुषोऽहः-
सम्बन्धावश्यकत्वात् । समानेति तेषां भोगभूमित्वे हेतुः । समानप्रकरणत्वं तु कौशीतकिनां समान-
प्रकरणीयत्वकथनात् । एवेति । न तु देवताविशेषत्वम् । इत्मातिवाहिकापिकरणं परेषां मतेपि त्रिसुत्रम् ।
तत्र प्रथमसूत्रे किञ्चिदाहुः अतः पूर्वमिति । व्याख्यातं तु तल्लिङ्गादातिवाहिकाः लोकदेवताविशेषाः ।
द्वितीयार्थस्तु उभयव्यपदेशात् आतिवाहिकत्वसिद्धेरिति । तृतीयसूत्रार्थस्तु अमानवो विद्युलोकमागतो
वैद्युतः । तेनैव ततो विद्युल्लोके प्राप्तेरुर्ध्वं नीयमाना विद्वांसः कार्यं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति । तच्छ्रुतेः विद्युल्लोक-
स्वनित्यमानवस्यैव गमयितृत्वश्रावणादिति । तस्मिन् । स्वार्थेति । लोकरूपस्वार्थस्तस्य त्यागः ।
अन्यगतमिति । संपिण्डितकर्णग्रामजीवगतत्वेन अर्चिरादिमार्गगतत्वेन च लिङ्गेन उभयव्यामोहेन
च । अन्येषामिति । लोकदेवानाम् । लोकपदेति । अग्निलोकवासुलोकेश्यादिषु लोकपदेत्यादिः ।
अग्न्यादिपदेरेव देवताविशेषोपस्थितेः 'अन्तर्याम्यधिदेवादिषु तद्गर्भव्यपदेशा'दिति न्यायात् । अत्रेति
उभयव्यामोहसूत्रे । सौत्रपदस्य व्यामोहपदस्य । स्वार्थान्यथाज्ञानम् । तस्य त्यागः । तदुभ-
येति । सूत्रयोर्द्वययोर्व्याख्यात्वम् । तृतीयं त्वागन्तुकमित्युपेक्षितम् ॥ ६ ॥

ननु विद्युतो बरुणादिलोकप्राप्त्यनन्तरं यस्य ब्रह्मप्राप्तिः, तस्य तल्लोकसम्बन्धी
ब्रह्मप्रापकः पुरुषोस्ति, उत स स्वत एव तत्प्राप्नोतीति संशय उत्तरं पठति ।

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ७ ॥

न हि ब्रह्मप्राप्तिर्विद्युल्लोकसम्बन्धिपुरुषसामर्थ्येनोच्यते, किन्तु ब्रह्मसम्बन्धि-
तत्सामर्थ्येन । तथा च यत एव लोकात् तत्प्राप्तिः, ततो ब्रह्मसम्बन्धिपुरुषा-
देव । एवं सति विद्युल्लोकात्तत्प्राप्ती यो ब्रह्मसम्बन्धी पुरुषः प्रापक उक्तः, तेनैव
ततो बरुणादिलोकेभ्योपि ब्रह्मप्राप्तिः । तत्र हेतुमाह तच्छ्रुतेः । 'तान् वैद्युतात्
पुरुषो मानस एव ब्रह्मलोकान्गमयती'ति श्रुतेः । अत्र 'एत्ये'ति वचनात्त एव
लोकाद् ब्रह्मप्राप्तिर्भविष्यती, तत्रैवागत्य ब्रह्म प्रापयतीति गम्यते । श्रुतौ 'वैद्युतं
लोकमागत्य तस्माद् ब्रह्मलोकान्गमयती'त्युक्तमिति स पुरुषो वैद्युत इत्युच्यते, न
तु तल्लोकवासित्वेन । तथा सति 'एत्ये'ति न वदेत् तत एव ब्रह्मप्रापणे ।

अत एव 'मानस' इत्युक्तः । यदैव भगवन्मनसि भवति 'अथैनं मां प्राप-
यस्व'ति, तदैव प्रापयतीति तथा ।

छान्दोग्ये तु 'अमानव' इति पठ्यते । तच्चाह्लौकिकत्वम्, तदप्युक्तरूप-
मेवेति न कश्चिद्विशेषः । वाजसनेयके 'ब्रह्मलोकान्गमयती'ति पठ्यते । छान्दोग्ये
तु 'ब्रह्मे'ति । तत्रायं भावः । भक्तं तु वैकुण्ठलोकं नयति, ते बहुविधा इति

भाष्यप्रकाशः ।

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ७ ॥ सूत्रमवतारयन्ति ननु विद्युत इत्यादि । तल्लोक-
सम्बन्धीति । विद्युल्लोकसम्बन्धी । तत्प्राप्नोतीति । ब्रह्म प्राप्नोति । सूत्रं व्याकुर्वन्ति न हीत्यादि ।
इति श्रुतेरिति । पञ्चाग्निविद्यात्वाजसनेयिश्रुतेः । श्रुतौ 'वैद्युता'दित्यस्य 'गमयती'त्यनेन
सम्बन्धाद्योऽर्थः सिध्यति, तमाहुः अत्रेत्यादि । तथा सत्येत्येति न वदेदिति । तस्य विद्युल्लोक-

रश्मिः ।

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ७ ॥ न हीत्यादीति । ब्रह्मसम्बन्धीति । ब्रह्मसम्बन्धः
स्वस्वामिभावलक्षणस्तद्वाद् ब्रह्मसम्बन्धी । ब्रह्मसम्बन्धी चासौ सः ब्रह्मसम्बन्धिसः तस्य सामर्थ्येन ।
तत्प्राप्तिरिति ब्रह्मप्राप्तिः । तत इति लोकाद् अवधिभूतात् । ब्रह्मसम्बन्धिपुरुषाद्द्वैद्युतादेव । उक्त
इति । वक्ष्यमाणश्रुतावुक्तः । तत इति । सौत्रं पदं व्याख्येयम् । गमयतीत्यनेनेति । न
त्वेत्येत्यनेनेति भावः । भाष्ये । तत इति विद्युल्लोकवासिन एव ब्रह्मप्रापणे सति । प्रकृते ।
तदेति । विद्युल्लोक आगमनपूर्वकाले ब्रह्मलोकवासित्वादेव । स्फुटमिति । तथेति मानसः । बहु-
विधा इति । चत्वारः पञ्च वा । व्यापिवैकुण्ठः रमावैकुण्ठः श्वेतद्वीपः अन्यश्च । आत्मबोधोपनिषदि

‘ब्रह्मलोकानित्युक्तम् । ज्ञानमार्गीयं त्वक्षरं ब्रह्म प्रापयतीति ‘ब्रह्मे’त्युक्तम् । अत एवोभयव्यामोह उक्त आचार्येण ॥ ७ ॥

इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे द्वितीयमातिवाहिकाधिकरणम् ॥ २ ॥

अत्र सिद्धान्तदाढ्यार्थमुक्तमर्थं हस्तपिहितमिष कृत्वा वादरिमत् पूर्व-पक्षत्वेनाह ।

कार्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ८ ॥ (४-३-३)

‘स एतान् ब्रह्म गमयती’त्यत्र ब्रह्मपदेनाविकृतं परमेव ब्रह्मोच्यते, उत कार्यरूपो ब्रह्मलोक इति भवति संशयः । परस्य व्यापकत्वेन देशविशेषगम-यित्रोरनपेक्षितयोरुक्तेः कार्यरूप एव स ब्रह्मपदेनोच्यत इति वादरिराचार्यो मन्यते । कृतः । अस्य गत्युपपत्तेः । तस्य परिच्छिन्नत्वेन तत्स्थितिदेशं प्रत्यस्य गन्तुर्गतेरुपपत्तेरित्यर्थः ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

वासित्वे सति विद्युताद् ब्रह्मलोकान् गमयतीत्येतावतैव विवक्षितार्थसिद्धेरेत्येति न वदेदित्यर्थः । अत एवेति । तदवासित्वादेव । शेषं स्फुटम् ॥ ७ ॥

इति द्वितीयमातिवाहिकाधिकरणम् ॥ २ ॥

कार्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ८ ॥ क्रममुक्तौ मार्गं विचार्य तत्फलं विचारयती-त्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति अत्र सिद्धान्तेत्यादि । क्रममुक्तौ परब्रह्मैव प्राप्यमिति सिद्धान्तस्य दाढ्यार्थमुक्तमर्थमर्चिरादिभागो जघन्याधिकारिणां परप्राप्तिसाधनमित्येतमर्थं हस्तपिहितमिष कृत्वा अत्रे स्थापनीयत्वादिदानीमनुकृत्वा तथेत्यर्थः । सूत्रं व्याख्यातुमधिकरणत्वाय विषयसंज्ञा-वाहुः स एतानित्यादि । तथा च ब्रह्मपदश्रुतेर्गतिश्रुतेश्च संशय इत्यर्थः । पूर्वपक्षमाहुः परस्ये-त्यादि । स इति । ब्रह्मलोकः । तस्येति । कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य ॥ ८ ॥

रश्मिः ।

वाराहपुराणीयचातुर्मास्यमाहात्म्ये श्रीभूः । अत एवेति । फलाभोगादेव । क्रममुक्तौ ज्ञानिनोपि फलभोगः । उभयेषां ज्ञानिनां मर्यादाभक्तानां व्यामोहोऽन्यथाज्ञानम् । परप्राप्तित्वाभाववति ज्ञानि-मर्यादाभक्तमोक्षे परप्राप्तित्वप्रकारकज्ञानत्वात् लक्षणसमन्वयः । तदभाववति तत्रकारकं ज्ञान-मन्यथाज्ञानमिति लक्षणम् । पुष्टिमार्गीयपरप्राप्तियतिरिक्ते फले व्यामोह इत्युक्तम् । तदुक्तं तृतीय-सुबोधिन्यां ‘भक्तिमार्ग एव मार्ग’ इति । मुख्ये पुष्टिमार्गे कार्यसम्प्रत्ययो बोध्यः । एवं स्फुटम् । अत्र वृत्तौ ब्रह्मप्राप्तेः प्रापकपुरुषाधीनत्वाद् विद्युलोकस्य वातिक्रान्तत्वाद् बरुणादिलोकस्यस्यैव ग्राह्यत्वाद् अस्तीति पूर्वपक्षं निक्षिप्याधिकरणान्तरत्वं सूचितम् । संशय आभास उक्तः । विषयसिद्धान्तौ व्याख्यान एव स्फुटाविति ॥ ७ ॥ इति द्वितीयमातिवाहिकाधिकरणम् ॥ २ ॥

कार्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ८ ॥ तत्फलमिति । उभयव्यामोहोऽनुसन्धेयः । परब्रह्मैवेति । ज्ञानिभक्तौ विशेषतश्चेदनुगृह्णाति तदा पुष्टिमार्गं प्राप्नुत आदाविति सिद्धान्तमुक्ता-वलीटिप्पणे श्रीगोस्वामिनः । तेन परब्रह्मापीत्यर्थः । एवकारोप्यर्थः । तथेति । वादरिमत् पूर्वपक्षत्वे-नाहेत्यर्थः । गतिश्रुतेरिति । ‘गमयती’ति गतिश्रुतेः । ब्रह्मणः सायुज्यात्तत्र गमनाभावाद्ब्रह्मलोको ब्रह्मपदवाच्य इति ॥ ८ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ९ ॥

‘ब्रह्मलोकानामयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ती’ति श्रुतौ बहुत्वेन वासाधिकरणत्वेन च विशेषिता लोकाः । गन्तारश्च दूरदेशगत्या विशेषि-यिता इति न परं ब्रह्म तत्, किन्तु कार्यमेवेत्यर्थः । लोकपदं तज्जन्यभोगपरम् । तेन तस्यैकत्वेपि विविधभोगज्ञापनाय बहुवचनं घटते ॥ ९ ॥

तत्र ब्रह्मशब्दप्रयोगहेतुमाह ।

सामीप्यान्तु तद्व्यपदेशः ॥ १० ॥

तल्लोकस्थितानां नान्यलोकव्यवधानं परप्राप्तौ, किन्तु तत एवेति परब्रह्म-सामीप्याद् ब्रह्मत्वेन व्यपदेशः कृतः । तुशब्दस्तु वस्तुनो ब्रह्मत्वं व्यव-च्छिनत्ति ॥ १० ॥

भाष्यप्रकाशः ।

विशेषितत्वाच्च ॥ ९ ॥ तस्य कार्यत्वाय हेत्वन्तरं दर्शयतीत्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मलोकानित्यादि । विशेषिता इति । अत्र श्रुतौ पूर्वं तानिति गन्तुविशेषणे दूरदेशगन्तारः परामृश्यन्ते, बहुत्वं चोच्यत इति गन्तारस्तथा विशेषिताः । ‘पराः परावतो वसन्ती’ति प्रकृष्टा गन्तारः प्रकृष्टान् ब्रह्ममानमितान् संवत्सरान् वसन्तीति श्रावणाच्च ब्रह्मलोका विशेषिताः । तदिति ‘ब्रह्म गमयती’त्यत्र प्राप्यत्वेनोक्तम् । ननु ब्रह्मपदस्य कार्यब्रह्मपरत्वे श्रुत्यन्तरोक्तलोकपदविरोध इत्यत आह लोकपदमित्यादि ॥ ९ ॥

सामीप्यान्तु तद्व्यपदेशः ॥ १० ॥ भाष्यमत्रातिरोहितार्थम् ॥ १० ॥

रश्मिः ।

विशेषितत्वाच्च ॥ ९ ॥ तस्येति । स एतान्ब्रह्म गमयतीत्यत्र ब्रह्मणः । दूरदेशेति । लोकालोकांतरगमनेऽवधिभूतदेशस्थास्त्वानिति तच्छब्दार्थः दूरदेशगन्तारः तानिति । बहुत्वं च । तथा विशेषिताः बहुत्वेन साधिकरणत्वेन च विशेषिताः । परपदार्थमाहुः । प्रकृष्टाः । ‘परोपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यत’ इत्यत्र । परावत इत्यास्यार्थमाहुः ब्राह्ममानेति । ब्राह्ममानेन मितान्परमितान् । परा विद्यन्तेऽस्येति परावान् तान् परावतः । पराशब्दोत्र धर्षणे । ‘परादि मोक्षप्राधान्यप्रातिलोम्येषु धर्षण’ इति विश्वात् तद्वतः संवत्सरान् कालो धर्षयतीति तथा । ब्रह्मलोका इति । तेन ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु कार्यरूपेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतः वसन्तीति पदच्छेदः । पराः परावतो ब्रह्मलोकान् वसन्तीत्यन्वयः । केचित्वाकाङ्क्षायानाह । तेषु ब्रह्मलोकेषु ये ब्रह्मलोकास्तान् । श्रुत्यन्तरेति । ‘अत्रिलोकमागच्छति स वायुलोक’मित्यादिश्रुत्यन्तरेत्यर्थः । लोकः कार्यमिति । स ब्रह्मपदार्थ इति तथा । आहेति पूर्वपक्ष्याह लोकपदमित्यादीति । तज्जन्येति लोकजन्य-भोगपरम् । तस्येति । कार्यब्रह्मणः । विविधेति ‘सोश्रुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते’त्यत्र विविधं पश्यच्चित्तमर्थः तेन तद्वद्विविधभोगचतुरेणेत्यप्यर्थात् । घटत इति । अन्यथा तु ब्रह्म गमयती-त्यत्र शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे एकस्मिन्नद्वितीये उक्तब्रह्मलोकानिति बहुवचनं न घटत इति युक्त्या वेदाद्योऽन्यथा नीतः ॥ ९ ॥

सामीप्यान्तु तद्व्यपदेशः ॥ १० ॥ अतिरोहितार्थमिति । तत्रेति । ब्रह्मलोके कार्ये । एवमतिरोहितार्थम् ॥ १० ॥

ननु 'आब्रह्मभयनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'ति वाक्यात्ततः पुनरावर्तते । अत्र तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीति पठ्यत इति परमेवात्र ब्रह्मशब्देनोच्यत इति प्राप्ते, उत्तरं पठति ।

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ११ ॥

कल्पसमाप्तौ कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य नाशे सति तदध्यक्षेण चतुर्मुखेन ब्रह्मणा सह अतो ब्रह्मणः सकाशात् परमीश्वरं प्राप्नोत्यतोऽपुनरावृत्तिश्च्युतिर्न विरुध्यते । अत्र प्रमाणमाह अभिधानादिति । श्रुतौ तथाभिधानादित्यर्थः । सा तु 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितायाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिसुच्यन्ति सर्वे' इति । 'परान्तकाल' इत्यत्र पर-शब्देन ब्रह्मणः पूर्णमायुरुच्यते ॥ ११ ॥

उक्तेऽर्थे श्रुतिं प्रमाणत्वेनोक्त्वा स्मृतिमप्याह ।

स्मृतेश्च ॥ १२ ॥

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पद'मिति स्मृत्यापि स एवार्थः प्रतिपाद्यते ॥ १२ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ११ ॥ प्राप्यस्य ब्रह्मसामी-प्याद् ब्रह्मत्ववाद इत्यङ्गीकारे विषयश्रुतिविरोधमाशङ्क्य समाधत्त इत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । व्याकुर्वन्ति कल्पेत्यादि । ब्रह्मण इति । चतुर्मुखात् ॥ ११ ॥

स्मृतेश्च ॥ १२ ॥ उत्तानार्थम् ॥ १२ ॥

रश्मिः ।

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ११ ॥ प्राप्यस्येति । ब्रह्मलोकस्य न तु ब्रह्मणः, तस्य नित्यप्राप्तत्वात् । समाधत्त इति पूर्वपक्षेव । नन्वित्यादीति । अत्रेति । प्रकृतविषये । पञ्चाभिविधायां श्वेतकेतुब्राह्मणे 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ती'ति श्रुतिः । अत्रेति 'स एतान्ब्रह्म गमयती'त्यत्र । कल्पेत्यादीति । परशब्देनेति । तथा च ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य पूर्णायुषोऽन्तकाले आयुषश्चरमाधयवे इति परान्तकाल इत्यस्यार्थः ॥ ११ ॥

स्मृतेश्च ॥ १२ ॥ उत्तानेति सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे कल्पसमाप्तौ कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य नाशे सति नष्टाः सृष्टेः प्रतिकूलसञ्चरः तद्रूपे ब्रह्मणा चतुर्मुखेन सह ते सर्वे कृतात्मानः प्राप्तज्ञानाः । परस्यान्ते परान्तकाले । परं पदं पदनीयं ब्रह्म । एवमुत्तानार्थम् ।

वृत्तौ त्वत्राधिकरणसमाप्तिः सूचिता, वक्ष्यमाणसूत्रे अत्रापि 'स एतान्ब्रह्म गमयती'त्येव विषय-वाक्यम् । पूर्ववदेव संशयः, तद्दीर्घं च पूर्वपक्षस्तु बादरिमतेनेति पुनरुक्तेः । तन्न, भाष्यविरुद्धत्वात् । अत एव अत्रे सूत्रमवतारयन्तीत्युक्तम्, न त्वधिकरणमवतारयन्तीत्युक्तम् ॥ १२ ॥

अत्र सिद्धान्तमाह ।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १३ ॥

'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र ब्रह्मपदेन परमेव ब्रह्मोच्यत इति जैमिनि-राचार्यो भवते । कुतः । मुख्यत्वात् । बृहत्त्वादिधर्मविशिष्टं हि ब्रह्मपदेनोच्यते । तादृक् परमेव ब्रह्म भवतीति मुख्या वृत्तिर्ब्रह्मपदस्य परस्मिन्नेव, अन्यत्र गौणी । तथा च मुख्यगौणयोर्मध्ये मुख्यस्यैव बलिष्ठत्वात् तथा ॥ १३ ॥

दर्शनाच्च ॥ १४ ॥

'स एतं देवधानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोक'मिति कौशीतकिश्रुतिरग्न्यादिलोक-प्राप्तिवदविशेषेणैव प्रजापतिलोकप्राप्त्यनन्तरं ब्रह्मलोकप्राप्तिं दर्शयति । न हि तत्र ब्रह्मलोकशब्देन कार्यः स उच्यत इति वक्तुं शक्यम् । पार्थक्येन प्रजापति-लोकसोक्तत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १३ ॥ सूत्रमवतारयन्ति अत्रेत्यादि । पञ्चभिः सूत्रैर्वादरि-भतोपक्षेपमुखेन पूर्वपक्षमुक्त्वा, अस्मिन् सूत्रे जैमिनिमतोपन्यासमुखेन स्वसिद्धान्तमाहेत्यर्थः । सूत्रन्यासख्यानं तूत्तानार्थम् ॥ १३ ॥

दर्शनाच्च ॥ १४ ॥ अविद्यादिदोषाणात्तत्रापि कामनायाः सत्त्वात्तन्मात्रेणाधिकार-जाघन्याद् गत्युपपत्तौ लोकाङ्गीकारेण विशेषितत्वस्य चोपपत्तौ सामीप्यनिबन्धनाया गौण्या अप्र-योजकत्वानिवृत्तिरिति पूर्वपक्षे मुख्यत्वेन हेतुनैव सिद्धमिति कार्यात्ययादिद्वयचरमव-शिष्यते । तदनेन वदतीत्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति स एतं देवधानमित्यादि ।

रश्मिः ।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १३ ॥ बादरीति । मुखमुपायः । उत्तानेति । अत्रेति । पूर्वपक्षे । बृहत्त्वादीति । आदिना बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मेत्यत्रोक्तं बृंहणत्वम् । अन्यत्रेति ब्रह्म-लोके । गौणमुख्यन्यायमाहुः तथा चेति । तथेति । ब्रह्मपदेन परमेव ब्रह्मोच्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

दर्शनाच्च ॥ १४ ॥ सूत्रावतरणाय पञ्चभिः सूत्रैर्वादरिमतोपक्षेपः कृतः तस्य परिहारं विवेचयन्ति स्म अविद्यादीति । कामनाया इति । द्वितीयस्कन्धोक्तलोकदिदक्षायाः । गतीति कार्ये ब्रह्मणि गत्युपपत्तौ । द्वितीयसूत्रे अधरलोकपरब्रह्माङ्गीकारेण परावद्विशेषणस्य चोपपत्तेः । परावत इत्यस्य मोक्षवतो ब्रह्मलोकान् । प्राधान्यवतो वा । उक्तविश्रामात् । तृतीयसूत्रे सामीप्येत्यादिः । मुख्यत्वेनेति । कार्यं ब्रह्म न मुख्यम्, परावत इत्यस्य धर्षणवत इत्यर्थो न मुख्यः प्रथमत्यागे मानाभावात् । गौणी न मुख्येति प्रसिद्धमिति पूर्वोक्तं मुख्यत्वेन हेतुनोत्तरं सिद्धमित्यर्थः । अत्रेनेति । दर्शनाच्चेति सूत्रेण । जैमिनिमतेन समाधाने धर्मोपस्थित्या तत्रप्रतिपादकपूर्वकाण्डे प्रजापतिलोकोपरि-ब्रह्मलोकस्य असम्भवदुक्तित्वात् तृतीयाष्टके 'प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेय'तीक्षावशात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु तैत्तिरीयभाष्ये आनन्दमीमांसायां 'विराट् त्रैलोक्यशरीरो ब्रह्मा समष्टिव्यष्टिरूपः संसारमण्डलस्यायी प्रजापतिशब्देनोच्यते । यत्रैते शतं प्रजापत्यानन्दा एकतां गच्छन्ति धर्मश्च तन्निमित्तं ज्ञानं चैतद्विषयम् अकामहतत्वं च निरतिशयं यत्र स एव हिरण्यगर्भ' इति शङ्कराचार्यैर्व्याख्यातत्वात्तस्य हिरण्यगर्भस्य यो लोकः स कौशीतकिवाक्ये ब्रह्मलोकपदेन पठ्यते, हिरण्यगर्भश्च जन्यः । 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्व'मिति श्वेताश्वतरे 'हिरण्यगर्भं पश्यत जायमान'मिति तैत्तिरीये च श्रावणात् । अतस्तस्यात्र परामर्शं कार्यता कुतो न वक्तुं शक्येति चेत् । उच्यते । प्रजापत्यतिरिक्तस्य हिरण्यगर्भस्य वक्तुमशक्यत्वात् । 'वेदात्मनाय विद्महे, हिरण्यगर्भाय धीमहि, तन्नो ब्रह्म प्रचोदया'दिति तैत्तिरीयमन्त्रे 'हिरण्यगर्भो वेदाना'मित्येकादशीयविभूत्यध्यायवाक्ये च तस्य वेदात्मकतयैव सिद्धत्वात् । वेदात्मकत्वं च प्रजापतावेवं सिद्धम् । 'शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः । ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहित' इति तृतीयस्कन्धे प्रजापतिं प्रकृत्यैव वाक्यात् । पर्यङ्कस्ये ब्रह्मणि हिरण्यगर्भपदस्य वेदात्मकत्वादिबोधकस्य वाक्यस्य चाभावात् । न च 'यजूदरः सामशिवा असावृक्षमूर्तिरव्ययः । स ब्रह्मेति विज्ञेय ऋषिर्ब्रह्ममयो महा'निति मन्त्रे तस्य वेदात्मकत्वमुक्तमेवेति शङ्क्यम् । तत्र 'एतावदिदं सर्व'मित्यनेन सत्यपदार्थे निगमिते इदं सर्वमस्मीत्येवं तदाहेत्यनेन एतं उपासकं तत् पर्यङ्कस्य ब्रह्म इत्येवाहेति तदुक्तस्य याथाार्थं बोधयित्वा, तदेतच्छ्लोकेनाभ्युक्तमिति वाक्यं श्रुतिरुक्त्वा श्लोकमाह 'यजूदर' इति । तत्र यजूदरादिविशिष्टोऽसौ ब्रह्ममयो महानृषिः स ब्रह्मा ब्रह्मसहितो रश्मि

प्रजापतिलोकपर्यन्तवस्तुस्थितिर्ब्रह्मलोकेऽर्थवाद इत्याशङ्कते ननु तैत्तिरीयेति । विराट् कीदृशः, त्रैलोक्यं शरीरं यस्य स त्रैलोक्यशरीरः । समष्टीति । यथा देववस्त इति । समष्टिरेहेन व्यष्टयवयवै रूप्यते व्यवहियते आत्मा स समष्टिव्यष्टिरूपः । संसारेति । प्रपञ्चस्य मण्डलं कदम्बकः तत्र स्थायी । तन्निमित्तमिति । धर्मस्य निमित्तम्, ज्ञात्वा कुरुते सर्व इति । यद्वा । तन्निमित्तं धर्मस्य निमित्तं फलं चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानम्, तन्निर्विषयं नास्तीति एतद्विषयमकामहतत्वम् । 'ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्याकामहतस्ये'ति ब्रह्मवित्पपाठकश्रुतेः । हिरण्यगर्भ' इति । प्रजापतिः संसारमण्डलस्थायिनोतिरिक्तः आनन्दादिमान् । पठ्यते इति । अभेदान्वयात् पठ्यते । अर्थवादत्वात् सम्भवति । पूर्वमिति । सृष्टेः पूर्वम् । पश्यतेति । ययं पश्यतं दूर्वाद्यो रुद्रान्ताः पूर्वोक्ताः । महानारायणे श्रुतिराह तस्येति । ब्रह्मलोकाभिन्नप्रजापतिलोकस्य परामर्शं कार्यता कार्यब्रह्मता । एवं जैमिनिपदसूचिताशङ्कां समादधते स्म उच्यते इति । सत्त्वं परन्तु औत्पत्तिकसूत्रे जैमिनिना बादरायणग्रहणेन गुरुमतप्राधान्यपूर्वकेऽर्थे विवक्षिते यत् सिध्यति तदुच्यत इत्यर्थः । तन्नो ब्रह्मेति । तन्नोऽस्मान् ब्रह्म, प्रजापतिरित्यर्थः । वेदानां हिरण्यगर्भोऽस्मीत्यर्थः । तस्येति । प्रजापतेः । शब्देति । शब्दब्रह्मात्मनः वेदात्मनः तस्य प्रजापतेः । व्यक्ताव्यक्तात्मनः पञ्चम्यन्तम् । जगत्प्रकृतिभ्यां परः ब्रह्मावभाति । सुबोधिन्यां द्वादशाध्याये प्रपञ्चोऽस्य । वेदात्मकत्वादीति । आदिना व्यक्ताव्यक्तात्मनः परत्वं नानाशक्त्युपबृंहितत्वं च । यजूदर इति । सकारलोपशब्दस्य ततोऽकः सर्वार्थे दीर्घः । एतावदिति । सत्यम् । निगमित इति । पर्वतो वह्निमान्तिवन् निगमिते । तदुक्तस्येति । उपासकस्य । वाक्यश्रुतिरुक्तेति । वक्ष्यमाणवाक्यसम्बन्धिनी श्रुतिरुक्तेत्यर्थः ।

१. वाक्यश्रुतिरुक्तेति रश्मौ ।

अपरं च, 'चे चेमेऽरण्ये श्रद्धालप इत्युपासते तेर्विषमभिसम्भवन्ती'ति छान्दोग्यश्रुतिं विषयीकृत्य, 'ह्यविरादिना तत्प्रथिते'रित्युपक्रम आचार्येण कृतः, अन्यत्रार्थिः शब्दस्याभावात्, तत्र चान्ते 'ब्रह्म गमयती'त्युच्यते । तथा च छान्दोग्येऽनुक्तानामन्यत्रोक्तानां लोकानां मार्गैक्यसिद्ध्यर्थं तत्रैव सन्निवेशो, 'वायु-मब्दाल', 'तद्वितोऽधिवरुणः', 'वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती' इत्यन्तेनोक्तः । एवं सत्यादावर्षिषम्, ततोऽहः, ततः सितपक्षम्, तत उदगयनम्, ततः संवत्सरम्, ततो वायुम्, ततो देवलोकम्, तत आदित्यम्, ततश्चन्द्रमसम्, ततो विद्युतम्, ततो वरुणम्, तत इन्द्रम्, ततः प्रजापतिम्, ततश्चात्मानवेन पुरुषेण ब्रह्मप्राप्तिरिति निर्णयः सम्पद्यते । एवं सति प्रजापतिलोकादन्यस्य कार्यब्रह्मलोकस्यासम्भवात् तच्छङ्कापि भवितुं नार्हति यद्यपि, तथापि व्यासोक्तमार्गैक्यमन्वानस्तथाऽवदिति ज्ञायते । परन्तु वेदार्थनिर्णयार्थमेव प्रवृत्तत्वाद् भगवद्वतार-

भाष्यप्रकाशः ।

विज्ञेय इति वचनव्यक्त्या ब्रह्मविद् एव वेदात्मकत्वबोधनात् । न चेत् पूर्ववाक्ये 'तं ब्रह्मापृच्छती'ति पुंलिङ्गस्य प्रष्टरि ब्रह्मणि निर्देशादत्र यजूदरत्वादिकं प्रष्टपरमेवेति शङ्क्यम् । तत्र ब्रह्म आपृच्छतीति पदच्छेदात् । न चात्रैवं पदच्छेदे किं मानमिति शङ्क्यम् । ततः पूर्ववाक्ये 'स ब्रह्मालङ्कारेणालङ्कते ब्रह्म विद्वान् ब्रह्माभिप्रेती'ति 'विसृक्तो विदुःकृतो ब्रह्म विद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रेती'ति अभिप्रायकमेणि ब्रह्मणि नपुंसकप्रयोगस्यैव मानत्वात् । तस्मादत्र ब्रह्मलोकपदेन नित्य एव लोको ग्राह्यः । तथा च पूर्वोक्तश्रुतिस्मृत्योः प्रलयविषयत्वेन विषयभेदात् तान्भ्यामत्र निर्णयो युज्यत इति तन्मतमगुच्यमित्यर्थः ।

ननु यदीदं स्वस्वामिप्रेतम्, तदाचार्येण स्वनामैव गृहीतं स्यात्, न तु जैमिनेः, अतो नैवं सिद्धान्त इति शङ्क्यां तन्नामोक्तितात्पर्यमाहुः अपरं चेत्यादि ज्ञायते इत्यनेन । तथाचददिति । जैमिनिरवदत् । तथा च फलांशे सिद्धान्तभेदाभावेपि मार्गांशे भेद इति ज्ञापनार्थं तदुक्तिरित्यर्थः । तर्हि मार्गभेद एव कुतो नाद्रियत इत्यत आहुः परं त्वित्यादि । ननु व्यासेन स्वनामः कुत्राप्यनुक्तत्वान्मतद्वयमपि पारक्यमित्येव प्रतीयते, तथा सति जैमिनिमतस्यादरणीयत्वे किं रश्मिः ।

विशेषेण सुकृतं यस्य स विसृक्तः । एवं चिदुच्युक्तः । पुंस्त्वे तु ब्रह्माणमिति सादित्ये-वकारः । तस्मादिति । जैमिनिना गुरुमतस्य भृगुणा मानववदुक्तत्वात् । अत्रेति । कौशीतकि-श्रुतौ । पूर्वोक्तेति । कार्यालयसूत्रस्येति सूत्रोक्तयोः श्रुतिस्मृत्योः । ताभ्यामिति । श्रुतिस्मृतिभ्याम् । अत्र व्यासमते । तन्मतमिति । बादरिमतम् । आचार्येण व्यासेन । तन्नाम जैमिनिनामोक्तितात्पर्यम् । सिद्धान्त इति । मन्त्रमयीं देव पठन्तीति फलांशे चितः सदानन्दयोश्च शास्त्रद्वये भेदेपि सिद्धान्तस्याधुना बादरायणगुरोर्भेदेऽवस्थितेः सिद्धान्तभेदाभावेपीत्यर्थः । मार्गांशे भेद इति । यद्यपि क्रियाज्ञानमिति पञ्चरात्रशास्त्रे इति ज्ञानकर्ममार्गैक्यम्, तथापि प्रसिद्ध्या परस्परं साध्यसाधनभावान्मार्गांशे भेद इत्युक्तम् । तदुक्तिरिति । जैमिनिनामोक्तिः । एवेति । न तु क्रियाज्ञानयोरैक्यम् । पञ्चत्वेत्यादीति । प्रवृत्तत्वादिति । व्यासस्य 'जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्म सनातन'मिति प्रथमस्कन्धे व्यासवाक्यात् । मन्तव्यमिति । पञ्चरात्रशास्त्रप्राधान्यात् क्रियाज्ञानमार्गैक्यस्य मन्तव्यम्, मीमांसितव्यम् । कुत्रापि । कुत्राप्यत्र पादत्रये । मतद्वयमिति । बादरिजैमिनिमतद्वयम् ।

त्वाच्च तदुक्त एव शास्त्रार्थ इति मन्तव्यम् । किञ्च । 'स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं'मित्यत्र ब्रह्मपदस्य परवाचकत्वं तेनापि वाच्यं चेत्, तद्दृष्टान्तेनान्यत्रापि तथैव वाच्यं बाधकाभावात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

बीजमित्यत आहुः किञ्चेत्यादि । तेनेति । बादरिणा । अन्यत्रेति । अक्षिपुरुषविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च । बाधकाभावादिति । गत्युपपत्त्यादिदृष्टानां परिहृतत्वेनान्येषां चाभावेन तथात्वात् । तथा च श्रुतिसामञ्जस्यमेव बीजमित्यर्थः ।

अत्र बादरिमतस्युपपन्नं मन्वानाः शङ्कराचार्या एवमाहुः । 'आकाशवत् सर्वतगतस्य नित्य' इति श्रुतेः परस्य ब्रह्मणो व्यापकत्वम्, 'य आत्मा सर्वान्तर' इति श्रुतेः सर्वान्तरत्वम्, 'आत्मैवेदं सर्वम्,' 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठ'मिति श्रुतेः सर्वात्मकत्वं च निर्धारितम् । तत्र व्यापकस्य ब्रह्मणो गन्तृदेशे विद्यमानत्वेन गन्तृत्वैवेति तस्य गन्तव्यता नोपपद्यते । न च भूमिष्ठं प्रति गताया एव पृथिव्या देशान्तरद्वारेण गन्तव्यतावदत्राप्युपपद्यत इति वाच्यम् । सर्वात्मकत्वस्यापि गन्तव्यताबाधकत्वात् । अन्य एव ह्यन्यद् गच्छतीति लोके दर्शनात् । न च बालस्य वार्धक्यवदन्यत्वेपि गन्तव्यतोपपद्यत इति वाच्यम् । 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवधं निरञ्जनम्,' 'अस्थूलमनणु,' 'स एष नेति नेत्यात्मे'त्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो ब्रह्मणः सर्वविशेषशून्यतया सिद्धत्वेन तत्र देशकालविशेषयोगसाशक्यवचनतया दृष्टान्तविरोधेन तद्व्याप्यस्य रदिमः ।

बादरिणेति । विपरीतलक्षणा जैमिनिना निरीश्वरवादिनेत्यर्थः । यथापकारिणि 'बहूपकृतं त्वये'ति बहूपकारित्वप्रयोगः । अक्षिपुरुष इति । 'जानश्रुतिर्हं पौत्रायण'इत्यारम्भकेऽस्ति । 'उ ह वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चे'त्यारम्भके पञ्चाग्निविद्यास्ति छान्दोग्ये । 'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यक्षिपुरुषविद्यायाम् । 'स एतान् ब्रह्म गमयती'ति पञ्चाग्निविद्यायाम् । उभयत्रापि ब्रह्मपदेन परमेवोच्यते, न तु कार्यं ब्रह्मेति । पञ्चाग्निविद्यायां चेति । चकारोऽथवा सेश्वरजैमिनिमते इत्यनुक्तसमुच्चारकः । यद्वायवेत्याद्युक्तशेषो वा पूरणीयः । एतेन व्यासेन सूत्रे मन्त्रमयी देवता जैमिनिमुख्यत्वादित्यनुक्त्वा 'परं जैमिनिमुख्यत्वा'दित्युक्तं तत्स्वारस्यमसृचि । परिहृतत्वेनेति । सूत्रव्याख्यानाारम्भ एव परिहृतत्वेन । श्रुतिसामञ्जस्यमिति । 'स एतान् ब्रह्म गमयती'ति श्रुतिसामञ्जस्यं ब्रह्मपदे गौणीनिवृत्तिः, सा मतद्वयस्य पारक्ये परमते स्यात्, न तु स्वमत इति । तुरीयपादे बादरायणग्रहणात् तस्य बुद्धिस्थत्वेन जैमिनिसेश्वरवादि-स्वशिष्यस्य स्वमतसिद्धस्य सूत्रे ग्रहणं बीजमित्यर्थः । तेन 'परं जैमिनिदर्शना'दिति सूत्रान्वयः । 'स एतान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र ब्रह्मपदेन परमेव ब्रह्मोच्यते, दर्शनाच्छास्त्ररूपादिति जैमिनिराचार्यो मनुत इति सूत्रार्थः । अत्रेति । वक्ष्यमाणसूत्रेण सहास्मिन् सूत्रे । वक्ष्यमाणविचारस्य द्वितीयसूत्रे करणात् । अपिचेतिप्रभृति द्वितीयभाष्यादत्रैव तद्विचार उपक्षिप्तः । 'कार्यं बादरिणस्ये'त्यधिकरणी-यत्वात् सूत्रयोरेकविषयत्वम् । अग्रे 'अप्रतीकालम्बनाधिकरणम्' ।

देशान्तरद्वारेण । यद्वा यथा पृथिवीस्य एव पृथिवी देशान्तरद्वारेण गच्छति । शरीर-ब्राह्मणे 'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्कामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नि वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य' इति देशान्तरवद्वा । अत्रापि । व्यापके ब्रह्मण्यपि । तत्रेति । ब्रह्मणि । देशकालरूपविशेषयोगस्य । दृष्टान्तेति । बालवार्धक्यदृष्टान्तविरोधेन । तद्व्याप्यस्य

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र वक्तुमशक्यत्वात् । नच जगदुत्पत्तिप्रलयहेतुत्वश्रुतेर्ब्रह्मणोऽनेकशक्तित्वाच्च दोष इति वाच्यम् । विशेषनिषेधकश्रुतीनामनन्यार्थत्वात् । नचोत्पत्त्यादिहेतुत्वबोधकश्रुतीनामपि ब्रह्मपरत्वात् समान-मनन्यार्थत्वमिति वाच्यम् । तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात् । तत्र मृदादिदृष्टान्तवाक्येषु 'मृत्तिकेत्येव सत्य'मित्युपसंहारे एकस्य कारणस्यैव सत्यत्वकथनेन विकारानुत्पत्तिप्रतिपादने तद्दर्शनामुत्पत्त्यादीनामपि तथात्वेन शास्त्रस्य तत्परताया वक्तुमर्हतया तासां विशेषनिराकरण-श्रुतिशेषताया एव युक्तत्वात् । न चोत्पत्त्यादिश्रुतिशेषत्वं निर्विशेषश्रुतीनामेवास्त्विति शङ्क्यम् । विशेषनिषेधश्रुतीनां निराकाङ्क्षात्त्वात् । आत्मन एकत्वमित्येवशुद्धत्वाद्यवगतौ सत्यां भूयः कदाचिदप्याकाङ्क्षान्तरानुदयेन तत्र पुरुषार्थसमाप्तिबुद्ध्युत्पत्तेः । न चात्र मानाभावः शङ्क्यः । 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' 'अमयं वै जनक प्राप्नोऽसि', 'विद्वान्च विभेति कुतश्चन', 'एतं ह वा व न तपति किमहं साधु नाकरय'मित्यादिश्रुतिभ्यस्तथैव विदुष-स्तुष्ट्यनुभवादिदर्शनस्य च मानत्वात् । तथा विकारानुताभिसन्ध्यपवादाच्च । 'मृत्योः स मृत्यु-माप्नोति य इह नानेव पश्यती'ति भेददृष्ट्यपवादाच्च । न विशेषनिषेधश्रुतीनामन्यार्थत्वं शक्य-वचनम् । उत्पत्त्यादिश्रुतीनां तु नैवं निराकाङ्क्षाप्रतिपादनसामर्थ्यमस्ति, येन तच्छेषत्वं विशेष-निषेधश्रुतीनां वक्तुं शक्येत । तत्र हि, 'यत्रैतच्छुद्ध्युत्पत्तितं तं सोम्य विजानीहि नेदममूलं रदिमः ।

बालवार्धक्यपन्थायस्य । अत्रेति । व्यापकस्य गन्तव्यतोपपत्तौ । अनेकेति । जगत्कर्तृत्वजगत्पालक-त्वजगत्संहारकस्वरूपानेकशक्तित्वादिशेषसत्त्वेपि न दोषः, कार्यलक्षणत्वेन ब्रह्मप्रतिपादादपि वा विषयार्थ-त्वादिशेषाणामिति वाच्यमित्यर्थः । विशेषनिषेधकेति । ताश्च 'निष्कलं निष्क्रिय'मित्याद्युक्ताः तासाम् । अनन्यार्थत्वादिति । निर्वाहकसङ्गत्या ब्रह्मनिरूपणपरत्वात् । न तु आरो-पापवादसङ्गत्या ब्रह्मनिरूपणपरत्वं तासाम् । आरोपापवादलक्षणसङ्गतेर्निर्वाहकसङ्गतिरन्योऽर्थो भवत्येवम् । अन्योऽर्थः ब्रह्माप्रतिपादकत्वलक्षणः प्रयोजनम् । न अन्योऽर्थो यासां तां अनन्यार्थाः तासां भावः अनन्यार्थत्वम् तस्मात् । यथा विशेषप्रतिपादिकानां ब्रह्मलक्षणत्वम्, तथा विशेष-निषेधिकानामपि ब्रह्मलक्षणत्वम् । कार्यलक्षणत्वं स्वरूपलक्षणत्वमिति विशेषः । ब्रह्मपरत्वादिति । यथारोपापवादान्यायेन विशेषनिषेधिकानां ब्रह्मपरत्वम्, तथा निर्वाहकसङ्गत्या विशेषप्रतिपादिकानां ब्रह्मपरत्वम् । यथा 'अथात आदेशो नेति नेति', तथा 'तदेजति तत्रैजती'ति । यथा शास्त्र-रुन्धतीन्यायः, तथा किमन्यद्ब्रह्मज्ञाननिर्वाहकमिति जिज्ञासा । तथा जगज्जन्मादिकर्तृत्वं कार्य-लक्षणमुक्तम् । अतः समानन्यार्थत्वम् । तासामिति । निर्विशेषप्रतिपादिकानामस्थूलादिश्रुतीनाम् । तत्रेत्यादीति एकत्वप्रतिपादने छान्दोग्ये मृदादिदृष्टान्तवाक्येषु । एतच्च द्वितीयाध्याये तदनन्यत्वाधि-करण उक्तम् । तद्दर्शनां ब्रह्मवर्माणाम् । तथात्वेनेति । विकारानुत्पत्तेन । तत्परैति । धर्मपर-ताया वक्तुमर्हतया । ब्रह्मणो वागविषयत्वेनोत्पत्त्यादीनामर्हता तथा । तासामिति । सविशेषप्रतिपादिकानां 'यतो वा इमानि भूतानि'त्यादीनाम् । अस्त्विति । यतो निरूपणं हि लक्षणैः । तानि चासाधारण-धर्मरूपाणि जगज्जन्मादिकर्तृत्वादीनि । तैर्निर्विशेषश्रुतिप्रतिपाद्यज्ञानमिति तथा । अन्तरङ्गत्वं बहिरङ्गाद्-बलीय इत्याहुः विशेषनिषेधेति । तत्रेति । एकत्वाद्युक्त आत्मनि । तुष्ट्यनुभवेति । आदिना संक्षोभोऽक्षररुपात् । तथा विकारेति । छान्दोग्ये मृदादिवाक्येषु । भेददृष्टीति । न च नाना इव पश्यति स मृत्युमाप्नोति, किं पुनरभेदमित्यर्थेन भेददृष्ट्यपवादा इति शङ्क्यम् । अस्वार्थस्य नैयायिकमते शोभनात् । अन्यार्थत्वं शून्योत्तार्थकत्वम् । तच्छेषत्वमुत्पत्त्यादिश्रुतिशेषत्वम् । तत्र हीति ।

भाष्यप्रकाशः ।

भविष्यतीत्युपन्यस्य तदुदकं सत एवैकस्य जगन्मूलस्य विज्ञेयत्वदर्शनात् । एवं, 'यतो वा इमानी'-
त्यादिश्रुतावपि ज्ञेयम् । अतस्तासां सर्वासामैकात्म्यावगमपरत्वात्तानेकशक्तियोगो ब्रह्मण इति ।

अत्र च ब्रह्मणो व्यापकत्वं निर्विशेषत्वं च गन्तव्यतावाद्यकत्वेन सिद्धमिति सङ्गहेण तदनु-
वदन्ति ननु परस्येत्यादि उपपद्यत इत्यन्तम् ।

अथ यत्तैर्जीवस्वरूपविचारेणान्तव्यत्वं साधितम्, जीवो नाम किं ब्रह्मणोऽवयवो वा,
विकारो वा, अन्यो वा । नाद्यः । एकदेशत्वे एकदेशिनो नित्यप्राप्तत्वाद्गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मणो
निरवयवत्वप्रसिद्धेरेकदेशित्वकल्पनस्यानुपपन्नत्वाच्च । न द्वितीयः । विकारेणापि विकारिणो
नित्यप्राप्तत्वात् । परित्यागेऽभावप्राप्तेः । पक्षद्वयेपि ब्रह्मणः स्थिरत्वेन जीवस्य संसाराभाव-
प्रसक्तेश्च । अथ तृतीयः पक्षश्चेत्, तदापि किं जीवोऽणुर्व्यापको मध्यमपरिमाणो वा । आद्ये
सर्वशरीरवेदनोपलम्भानुपपत्तिः । द्वितीये गमनानुपपत्तिः । तृतीये अनित्यत्वप्रसङ्गः । अन्यत्वे,
तत्त्वमस्यादिशास्त्रवाधप्रसङ्गः । विकारावयवपक्षयोरपि मुख्यैकत्वानुपपत्तिः । सर्वेषु चैतेषु पक्षेषु
संसारित्वानतिवृत्तेरनिर्मुक्तप्रसङ्गः । अतिवृत्तौ वा स्वरूपनाशप्रसङ्गो ब्रह्मात्मत्वानभ्युपगमादि-
त्येवं जीवविषये मतत्रयं निराकृत्य, ततो भिन्नजीवपक्षे काम्यनिषिद्धकर्मपरिहारपूर्वकं नित्य-
नैमित्तिककर्मणां करणमात्रेणैव स्वरूपावस्थानरूपो मोक्षोपि भविष्यतीति मतमुपश्लिष्य, तद्-
दूषयित्वा संसारात्पनः कर्तव्यमौक्तृत्वभावस्य विद्यागम्यब्रह्मात्मत्वावगतिमन्तरेण मोक्ष-
रश्मिः ।

छान्दोग्ये श्वेतकेतूपासने हि । यत्राप्यु शुद्धं अन्नरूपं शुद्धं कार्यम् । तदुदकं तस्य शुद्धस्रोतरो-
त्तरप्रतिभायाम् । 'उदकं ईपत्कालीयफले मदनकण्ठक' इति विश्वात् फलाध्याये परोक्षवादान् मूलकारणे
फलाध्यायोपयो' िति वाधैः । उदक इति पाठः । 'तदप आचक्षतेऽशनयेति तत्रैतद्ब्रह्ममुत्पतित'-
मिति श्रुतेः । चिञ्जैयत्वेति । 'सदेव सौम्येदमग्र आसी'दिति श्रुतेः । ज्ञेयमिति । मूलं ज्ञेयम् ।
सर्वासामिति । सविशेषनिर्विशेषप्रतिपादिकानाम् । ऐकात्म्येति । एक एव ऐक्यः, स्वार्थे व्यञ्ज
एकात्मत्वावगमपरत्वात् । नानेकशक्तियोग इति । सविशेषश्रुतिप्रतिपादितः सः । अनुवदन्तीति ।
सिद्धस्य कथनमनुवादः तं कुर्वन्ति उपपद्यत इत्यन्तेनेति । आद्योपपद्यत इत्यन्तेन ।
अथेति । ईश्वरस्वरूपविचाराद्भिन्नप्रक्रमेण । न गन्तव्यत्वमगन्तव्यत्वम् । नित्यप्राप्तत्वे सदा
विकारित्वापत्तिरत आहुः परित्याग इति । विकारपरित्यागे । अभावेति । अत्यन्तभावप्राप्तेः ।
पक्षद्वये इति । नित्यप्राप्तत्वाभावप्राप्तत्वपक्षद्वये । स्थिरत्वेनेति । असङ्गत्वे तथा । तृतीय इति ।
ब्रह्मान्यत्वपक्षः । विकारावयवयोर्मध्यमपरिणामत्वादाहुः विकारावयवपक्षयोरिति । मुख्यैकत्वेति ।
'तत्त्वमस्या'दिवाक्ये बोध्या । संसारित्वेति । तृतीयपक्षोक्तेषु सर्वेष्वेतेषु पक्षेषु । संसारित्वेति ।
संसारित्वस्य आसमन्तात्त्र निवृत्तेः । स्वरूपत्वेन केनाप्यंशेन विकारादीनां सत्त्वात् । अतिवृत्ता-
विति । विकारादीनां स्वरूपत्वे तदतिवृत्तौ तु स्वरूपनाशप्रसङ्गः । विकारादीनां ब्रह्म आत्मा येषां
तत्त्वानभ्युपगमात् । काम्यनिषिद्धेति । स्वर्गनरकानवासये तथा । नित्यनैमित्तिकेति । प्रत्य-
वायानुत्पत्तये । स्वरूपावस्थानेति । साम्प्रतं देहोपभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षीयन्त इत्यतो
देहापाताद्ध्वं देहान्तरप्रतिसन्धानकारणाभावात् । स्वरूपावस्थानलक्षणो मोक्षो विनापि ब्रह्मतया
एवंवृत्तस्य सेत्स्यतीति मतम् । तद् दूषयित्वेति । 'तदस'दित्यादिना भाष्येण दूषयित्वा । तथाहि ।
तदसत् । प्रमाणाभावात् । न ह्येतत् शस्त्रेण केनचित् प्रतिपादितम् । 'मोक्षार्थीस्य समाचरे'-

ननु परस्य व्यापकत्वाच्चिर्विशेषत्वाच्च न गन्तव्यतोपपद्यते । जीवस्याप्य-
विद्योपाध्यवच्छिन्नतादशायां परब्रह्मणि गन्तव्यासम्भवात् तन्नाशे च वस्तुतोऽ-
भिन्नत्वात् स्वरूपेणावस्थानमेव भवतीति न गन्तव्यत्वमुपपद्यते । तस्यैवाभावात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रत्याशाभावात्, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'ति श्रुत्या मोक्षे ज्ञानातिरिक्तसाधननिषेधाच्च तस्य
मतस्यासङ्गतत्वं स्थापयित्वा, जीवस्य परस्मादन्यत्व संव्यवहारलोपप्रसङ्गः, प्रत्यक्षादिप्रमाणा-
प्रवृत्तिश्चेत्प्राशङ्क्य, प्राक् प्रबोधात् स्वमन्व्यवहारवत् तदुभयोपपत्तिमुक्त्वा, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति
तदितर इतरं पश्यती'त्यादिश्रुत्या अप्रबुद्धविषये प्रत्यक्षादिव्यवहारभावणात् प्रबुद्धविषये च
'यत्र त्वस्य सर्वगतमैवाभूत्तत् केन कं पश्ये'दित्यादिना तदभावभावणात् । परब्रह्मविदो गन्तव्य-
त्वादिविज्ञानस्य बाधितत्वेन न कथमपि गतिरुपपादयितुं शक्येत्यन्तेन ।

तदेतत् संगृह्यानुवदन्ति जीवस्योपाध्यवच्छिन्नत्वदशायामित्यादि । तस्यैवाभावा-
दिति । जीवस्यैवाभावात् ।

एवं परब्रह्मविदो गत्यभावमुपपाद्य गतिविषये यत्तैरुक्तम्— गतिविषयाः श्रुतयः सगुण-
ब्रह्मविषया भविष्यन्ति । तथाहि । क्वचित् पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य गतिरुच्यते, क्वचित् पयैङ्क-
विद्याम्, क्वचिद्बैश्वानरविद्याम् । यत्रापि ब्रह्मविद्यां प्रस्तुत्य गतिरुच्यते, 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म
सं ब्रह्म,' अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेष्मे'त्यादौ, तत्रापि वामनीत्वादितिः
सत्यकामत्वादिभिर्गुणैः सगुणस्योपासत्वात् सम्भवति गतिः । न क्वचित् परब्रह्मविषया गतिः
श्राव्यते । गतिप्रतिषेधस्तु 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ती'ति श्राव्यते । यः पुनः 'ब्रह्मविदामोति
पर'मित्यत्र गत्यर्थं आमोतिः, तत्रापि पूर्वोक्तेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसम्भवात् स्वरूपप्रति-
रश्मिः ।

दिति । 'स्वमनीषया त्वेतत् तर्कित'मित्यादिना दूषयित्वा । जीवस्य परस्मादन्यत्वे सर्वव्यवहार-
लोपप्रसङ्ग इति पाठः । प्रबोधादिति । ज्ञानात् प्राक् दीर्घस्वमन्व्यवहारवत् । तदुभयेति ।
जीवस्य परस्मादन्यत्वसर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गाभावयोरुभयोपपत्तिमुक्त्वा । तद्भावेति । प्रत्यक्षा-
दिव्यवहाराभावभावणात् । इत्यन्तेनेति । भाष्येण । परब्रह्मविद इत्यारभ्य तु तद्भाष्यफक्किवैव ।
कथमपीत्यत्र कथञ्चनेति भाष्ये पाठात् तावन्मात्रभेदः । जीवस्योपाध्यवच्छिन्नत्वदशायामि-
त्यादीति । क्वचित् पुस्तके तु जीवस्याप्युपाध्यवच्छिन्नतादशायामिति भाष्ये पाठः । गन्तव्यत्वा-
सम्भवादिति । अज्ञानस्योपाधेर्विद्यमानत्वाद् गन्तव्यत्वस्यैक्यस्यासम्भवात् । आविद्यकरूपेति ।
आधुनिकास्तु मायाविद्ययोर्भेदमङ्गीकृत्य मायोपाधिरीश्वरः, अविद्योपाधिर्जीव इत्याहुः तत्त्वानुसन्धान-
नाख्यग्रन्थादौ । गन्तव्यत्वेति । नात्र गन्तव्यत्वैक्यम्, किन्तु विद्यावतो विद्ययावरणमङ्गाद्-
न्तृत्वस्यासम्भवो ज्ञेयः । क्वचिदिति । श्वेतकेतूपाख्याने । यत्रापीति । छान्दोग्ये 'जान-
श्रुतिर्हि पौत्रायण' इत्यारम्भके प्रपाठकेपि । तथा दशमप्रपाठके दहरविद्यायामपि । तत्रा-
पीति । आमोतावपि । पूर्वोक्तेनेति । भाष्यप्रकाशे 'अथ यत्तैर्जीवस्वरूपविचारेणेत्याद्युक्ते य
आद्यपक्षदूषण एकदेशत्व इत्यादिनोक्तन्यायेन । स्वरूपेति । स्वरूपपदप्राप्तिः स्वरूपप्रबोधो वा ।

भाष्यप्रकाशः ।

पतिरेवेयम्, अविद्याऽप्यारोपितं नामरूपप्रविलयापेक्षयाऽभिधीयते । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति-
वदिति द्रष्टव्यम् । किञ्च । परब्रह्मविषया गतिः किं ब्रह्मविदः प्ररोचनाय, किं वाचुचिन्तनाय ।
नाद्यः । स्वसंवेद्येनैवाव्यवहितेन विद्यासमर्पितेन स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः । न द्वितीयः । नित्य-
सिद्धनिःश्रेयसे वेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तनापेक्षया अभावात् । तस्मादपरब्रह्म-
विषयैव गतिः । सा परस्मिन् ब्रह्मणि नोपपद्यत इति परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनापरस्मिन्
ब्रह्मणि वर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारोप्यन्ते । न च परापरभावेन द्वे ब्रह्मणी न स्त इति
शङ्क्यम् । 'एतद्वै सत्यकाम परश्चापरश्च ब्रह्म यदोङ्कार' इत्यादिश्रुतिदर्शनात् । किं पुनः परं
ब्रह्म, किमपरमिति चेत् । उच्यते । यत्राविद्याकृतनामरूपनिषेधेनास्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते
तत्परम् । तदेव यत्र नामरूपादिविशेषाणां केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते, 'मनोमयः प्राण-
शरीरो भारूप' इत्यादिशब्दैः, तदपरम् । नचैवमद्वितीयश्रुत्युपरोधः शङ्क्यः । अविद्याकृत-
नामरूपतया परिहृतत्वात् । तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य तत्सन्निधौ श्रूयमाणं 'स यदि पितृलोक-
कामो भवती'त्यादिजगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति । अनिवर्तितत्त्वाद्विद्यायाः ।
तस्य फलस्य देशविशेषावगच्छत्वात् तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम् । आत्मनः सर्वगतत्वेऽप्याकाशस्य
घटादिगमनेनेव बुद्ध्याद्युपाधिगमनेन गमनप्रसिद्धिरित्यवादिष्य, 'तद्गुणसारत्वा'दित्यत्र । तस्मात्
'कार्यं वादरि'रित्येव स्थितः पक्षः । 'परं जैमिनि'रिति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं बुद्धि-
विकासनायेति द्रष्टव्यमिति ।

रश्मिः ।

इयं प्राप्तिः । अविद्याध्यारोपिते ये नामरूपे तयोः प्रविलयस्यापेक्षया । ब्रह्माप्येतीति । गत्यर्थोऽस्ते
प्राप्त्यर्था इति ब्रह्म अप्येति स्वरूपं प्रतिपद्यते प्रयोध्यते वेत्यर्थः । प्ररोचनायेति । 'रोचनाया
फलश्रुति'रिति वाक्यादपि । अरूप्यवहितेनेति । परब्रह्मणा । विद्या तत्त्वमस्यादिरूपया समर्थितेन ।
स्वास्थ्येनेति । 'अस्य महिमानमिति वीतशोक' इति श्रुतिः स्वास्थ्येन स्वरूपस्थित्या । तत्सिद्धेः
प्ररोचनसिद्धेः । वेदनस्येति । विज्ञानस्य कृत्यसाध्यं फलं यस्य । गत्यनुचिन्तनस्य कृतिरूपस्य
अपेक्षायाः । अपरेति । मुण्डके यद्यपि ऋग्वेदादिरूपा अपरविद्या, तथापि तत्प्रतिपाद्य-
पञ्चाश्यादिविद्या तादृशापरविद्यैव गतिः । ब्रह्मणीति । अक्षरब्रह्मणि । अध्यारोप्यन्त इति ।
परत्र परावभास्यन्ते । एतद्वा इति । परं ब्रह्म च यदोङ्कारः अपरविद्यारूप इति योजनाया
प्रतिपाद्यप्रतिपादकरूपपरापररूपे द्वे ब्रह्मणी उक्ते । नामरूपादीति । आदिना क्रिया, 'नाम रूपं
क्रिया चे'ति बृहदारण्यकात् । एतेषां मध्ये केनचिन् नाम्ना रूपेण क्रियया वा तदेव विशिष्टम् ।
चरीति । अद्वितीयश्रुत्युपरोधस्य । श्रूयमाणमिति । छन्दोग्ये दहरविद्यायाम् । जगद्वैश्वर्येति ।
जगति ऐश्वर्यं पित्रादिसमुत्थानकर्तृत्वं सङ्कल्पद्वारा । 'स यदि पितृलोककामो भवति, सङ्कल्पादेवास्य
पितरः समुत्तिष्ठन्ती'त्यादिश्रुतेः । एवं 'स यदि मातृलोककामः, प्रातृलोककामः, स यदि स्वसृलोककामः,
स यदि सखिलोककामः, स यदि गन्धमाल्यलोककाम' इत्यपि द्रष्टव्यम् । संसारः प्रपञ्चः ।

जीवत्वदशायां तूपाध्यवच्छेदाद् गन्तृत्वं जीवस्यापरस्य ब्रह्मणश्चाविचकरूप-
नामवत्त्वेन गन्तव्यता चोपपद्यते । उपासनाफलत्वादस्य गमनस्य उपास्यस्य च
सगुणत्वेन तत्प्राप्तेरेवोचितत्वाच्च । निर्गुणब्रह्मविद्यावतो गन्तृत्वासम्भव इत्युक्तम्,
अतो वादरिमनमेव साधीयः । न च ब्रह्मपदस्य मुख्यार्थत्वमुक्तरीत्यात्र सम्भवति,
अतोत्रामुख्यार्थत्वमेवानुसर्तव्यमिति चेत् । स्यादेतदेवम्, यद्यौपाधिकमुपास्यरूपं
जीवत्वं वा स्यात्, न त्वेवम् । 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधती'त्यादिभिस्तद्गुण-
सारत्वाच्च तद्गुणपदेश' इत्याद्यधिकरणैः श्रुत्यर्थनिर्णयेन ब्रह्मणि विशेषाणा-
मौपाधिकत्वस्य जीवपुरुषोत्तमाभेदस्य च पुरस्तादेव निरस्तत्वात् । न च
व्यापकत्वं गन्तव्यत्वं बाधकम् । प्रारब्धभोगं विना तत्प्राप्त्यसम्भवाद् यदा यत्र
तद्भोगसमाप्तिः, तदा तत्र तत्प्राप्तेर्निःप्रत्यूहत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

तदनुवदन्ति जीवत्वेत्यादिना चेदित्यन्तेन । एवं सर्वं तन्मतं सङ्गहेणानूय, यत्तैर्गतिश्रुत्यु-
पादानार्थं पश्चादुक्तम्, तदेव प्रथमतो दूषयन्ति स्यादेतदेवमित्यारभ्य निरस्तत्वादित्यन्तेन ।

अत्रायमर्थः । यत्रावत् परब्रह्मणो निर्विशेषमावत्त्वोपादानाय, 'सदेव सोम्ये'ति, 'यतो वा
इमानी'त्यादीनां जगदुत्पत्त्यादिशेषकश्रुतीनामेकत्वप्रतिपादनपरत्वमुक्तम्, तत्किमुपादानतथै-
कत्व प्रतिपादनार्थम्, उत तदर्थतयैकत्वप्रतिपादनार्थम् । आद्ये तासामुपादानतादिबोधकत्वेन
स्वार्थेपि तात्पर्यात् सिद्धमनेकशक्तित्वम् । द्वितीये तु, न प्रमाणमुपलभामहे, तत्र तादृ-
स्थयोधकपदाभावात् । न च मृदादिदृष्टान्तवाक्ये विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वकथनेन
तन्मिथ्यात्वस्य 'मृत्तिकेलेव सत्य'मिति कारणसत्यत्वस्य च बोधनात् तदेव मानमिति
वाच्यम् । तत्र तथार्थाभावात् । तत्र विकारस्य वाचारम्भणत्वोक्त्या तस्य कारणानन्वयाया
एव सिद्धेस्तावता तदस्यैक्यस्य साधयितुमशक्यत्वात् । वाचारम्भणस्य नामधेयत्वविधानेन
रश्मिः ।

जीवत्वेत्यादिना चेदित्यन्तेनेति । परब्रह्मण इति । ननु तन्मतेऽक्षरातिरिक्तब्रह्माभावात् किं
परं ब्रह्मेति चेदुच्यते । न च कार्यं प्रतिपत्त्यभिरान्विरिति सूत्रभाष्ये तयोक्तेरस्ति परब्रह्मेति । परत्वक्षरमेव
परब्रह्म । ब्रह्मपदस्येति । उक्तरीत्येति । वादरिमतोक्तरीत्या । अत्रेति । 'स एतान् ब्रह्म गमयती'-
तिश्रुतौ । अत्रेति । उक्तश्रुतौ । अमुख्यार्थत्वं कार्यब्रह्मार्थत्वम् । पश्चादिति । जीवविचारेण
पश्चादुक्तम् । व्यापकत्वविचारात् पश्चात् । जगदुत्पत्त्यादीति । एतेन यद्यौपाधिकमुपास्यरूपमित्यत्र
मायोपाधिस्तः धर्माणामाविद्यकत्वात् । उपास्यं मायोपाधिकमिति । एकत्वेति । आरोपापवादसङ्गत्या
तथा । जीवविषये तु जीवब्रह्मैकत्वप्रतिपादनपरत्वमित्यर्थः । जीवोऽविद्योपाधिकः । तत्राप्यारोपापवादः ।
भागत्यागलक्षणयैकत्वम् । तत्त्वमस्यादिवाक्ये । उक्तमिति । न च कार्यं प्रतिपत्त्यभिसन्धिरिति सूत्रे
उक्तम् । तथा च यदि मायोपाधिकमुपास्यरूपम्, अविद्योपाधिकं जीवत्वं वा स्यादिति भाष्यार्थो
दिब्यात्रेणासूचि । अनूय दूषयन्तः न त्वेवमित्यादिभाष्यं प्रपञ्चयन्ति स्म विचारेति । विचारेण
विकारो विचारविकारः तस्य । मृदादिदृष्टान्तवाक्यविचारे इति पाठः सुवचाः । तत्रेति । वाचार-
म्भणश्रुतौ । कारणानन्वयेनेति । 'कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्पणं पटतन्तुव'दिति वाक्यात् । साधयितु-
मिति । आरोपापवादसङ्गत्या साधयितुम् । नामधेयत्वेति । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेलेव
सत्य'मित्यत्र वाचारम्भणं विकारः कार्यम् ; तथा सत्युक्तसङ्गत्या मिथ्यात्वं प्राप्तं तद्वारणाय वाचारम्भणं

भाष्यप्रकाशः ।

तथा निश्चयात् । अन्यथा, वाचारम्भणानामधेयपदयोरन्यतरप्रयोगमात्रेण विकारमिध्यात्वसिद्धावन्य-
तरवैयर्थ्यापत्तेर्दुर्वारत्वात् । अतो घटशरावादयो यथा मृद एव नामान्तरम्, तथा प्रपञ्चरूपो विकारो-
पि ब्रह्मण एव नामान्तरमिति तत्र कारणानन्यतायामेव तात्पर्यात् । भगवता ह्यकारेणापि तथैव
द्वित्रितत्वात् । अन्यथा 'तन्मिध्यात्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इत्येव वदेत् । 'यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात्
पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्यस्य । तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेऽरहमस्य तद्द'दित्येकादशस्कन्धीय-
भगवद्वाक्याच्च । अतस्तासां कारणैक्ये एव तात्पर्यम्, न तु तटस्थैक्ये । एवं कारणसत्यत्वावधारणा-
दपि न तटस्थैक्यसिद्धिः, कारणत्वेनैव सत्यत्वावधारणात् । न च कारणत्वेनापि कारणसत्यत्वाव-
धारणे कार्यस्य मिध्यात्वसिद्धौ ताटस्थ्येनैव कारणतेति तटस्थैक्यस्यैव सिद्धिरिति वाच्यम् ।
'आत्मैवेदं सर्वम्', 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वृष्टि'मित्यादिभिस्तदुक्तश्रुतिभिरेव कार्यस्य ब्रह्मत्वावधारणे
तन्मिध्यात्वस्यैव वक्तुमशक्यत्वात् तटस्थकारणताया एवासिद्धेः । अतः, 'सन्मूलाः सौम्येमा'
इत्यादिश्रुतेः ह्यत्रकृता कार्यलक्षणमुखेनैव ब्रह्मजिज्ञासाप्रतिज्ञानादन्यथा जगदप्रतीत्यादिदोषप्रसङ्गाच्च
उपादानत्वेनैवैकत्वसिद्धिरित्युत्पत्त्यादिहेतुत्वबोधकश्रुतीनां स्वार्थेपि तात्पर्यस्य दुरपोहत्वात् तासां
विशेषनिराकरणश्रुतिशेषताया एवायुक्तत्वात् । अनन्तशक्तित्वेनैव ब्रह्मणः सिद्धिरिति न विशेषनिषेध-
श्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वम् । तावता ब्रह्मज्ञानस्यापूर्तेः । नाप्यात्मन एकत्वमित्यत्वशुद्धत्वाद्यव-
गत्या पुरुषार्थसमाप्त्यवगतिः । भूमविद्यायां 'भूमैव विजिज्ञासित्व्य' इत्यादिना नित्यनिरवधि-
सुखात्मकब्रह्मज्ञानादेव पुरुषार्थयुद्धिसमाप्तिबोधनात् । जीवब्रह्मैक्यस्यापि तादात्म्यरूपत्वमेव,
रश्मिः ।

नामधेयमित्युक्तम् । तथेति । तटस्थसाधनाशक्यत्वनिश्चयात् । मृद इति । पृथगन्तम् । तथैवेति ।
कारणानन्यत्वबोधकत्वेन 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इति । वदेदिति । सूत्रकारः । तासा-
मिति । सविशेषप्रतिपादिकानां श्रुतीनाम् । तटस्थैक्यमारोपापवादेन तस्मिन् । तद्भुक्तेति । 'न च
कार्यं प्रतिपत्यमिसन्धि'रितिसूत्रभाष्ये शङ्कराचार्यैरुक्ताभिः श्रुतिभिः । अन्यथा जगदिति । विद्व-
न्मण्डने 'उपजीव्यत्वतः श्रौतवाच्यैश्चान्यपरत्वतः अन्तरङ्गत्वतश्चापि निर्विशेषं निरूप्यत' इत्यनया
निर्विशेषनिरूपणे प्रतिज्ञाते सिद्धान्तोक्तिः 'अभेदादनुपाधित्वाच्च जगदप्रत्ययसिद्धिः, सर्वाधारत्वतस्ता-
वच्छक्तित्वाच्चास्य बाधन'मित्यनया । इमे जगदप्रतीत्यादिदोषास्तेषां प्रसङ्गात् । अर्थस्तु सुवर्णसूत्रे
प्रसिद्धः तथा चान्यथेत्यस्य तटस्थकारणत्वे च । न च व्यावहारिकसत्तया मिध्यात्वेपि न जगद-
प्रतीतिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । तथाप्यनृतप्रतीतेर्दुर्वारत्वात् । व्यावहारिकसत्तायाः सत्कृष्णत्वात् ।
वेदस्तुतौ 'सन्तं कृष्णं भजेद्बुध' इत्युक्तत्वात् । स्वार्थेपीति । अन्यथा तु व्यवहारे वयं माहा इति
वदतां शाङ्कराणां 'विधिना त्वेकवाक्यत्वे स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु'रिति जैमिनिसूत्रेण विध्यर्थस्तावक-
त्वेन स्वार्थे तात्पर्यसापोहत्वात् । तासामिति । उत्पत्त्यादिहेतुत्वबोधकश्रुतीनाम् । अयुक्तत्वा-
दिति । स्वार्थे तात्पर्यविधुराणामेव अर्थवादानां विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थत्वम् । तासां तु स्वार्थे
तात्पर्योक्तेर्नार्थवादत्वमित्युक्तत्वं तस्मात् । निराकाङ्क्षेति । ब्रह्मज्ञानपूर्तौ तथा । तावतेति ।
विशेषनिषेधमात्रेण । ब्रह्मज्ञानस्य विषयतावच्छेदकं विरुद्धधर्माधारत्वम् । दशविधलीलाविशिष्टत्वं वा ।
अन्यथा मायाकार्यत्वेन जगतो मिथ्यात्वादप्रतीतिप्रसङ्गः । पुरुषार्थेति । मोक्षपुरुषार्थसमाप्त्यवगतिः ।
ननु 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधती'त्यादौ तृतीयाध्यायद्वितीयपादस्थे विशेषतो अक्षरजीवविषय इति
फलाध्याये किं प्रयोजनमत आहुः भूमेति । छान्दोग्ये नारदसनत्कुमारसंवादेऽस्ति । मार्गत्रये भक्ति-
मार्गगणनादधिकारिभेदादाहुः जीवब्रह्मेति । अपिना ब्रह्म परं ब्रह्म तेनैक्यस्य तादात्म्यरूपत्वं

भाष्यप्रकाशः ।

न तु सर्वात्मनाऽभेदरूपत्वम् । 'तत्त्वमसी'त्यादौ तस्य भावस्तत्त्वमिति व्युत्पत्त्या तथैव सिद्धत्वात् ।
सर्वात्मनाऽभेदस्य भागत्यागलक्षणादोषप्रसङ्गत्वेनाग्रहमात्रत्वात् । एतच्च, 'तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेश'
इत्यत्र व्युत्पादितम् । तदनन्यत्वाधिकरणे च । 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत'
इति ईशावास्यवाक्येपि, 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत' इति पूर्वार्धेन ज्ञानिनः
सर्वात्मभावो वामदेववत्तस्यामवस्थायामुच्यते इति तादृशीनां श्रुतीनामपि पूर्वैकक्षाविश्रान्तत्वमेव ।
रश्मिः ।

गौणाद्वैतरूपत्वम् । तथा च तत्रयायस्य फलाध्यायेपि तौल्यं सूचितम् । ब्रह्मपदस्याक्षरे पुरुषोत्तमे च
प्रयोगात् । गौणमद्वैतं फलप्रकरणे पुरुषोत्तमस्याधोक्षजत्वात् । 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मन' इति
सूत्रविषयत्वाच्च । एवकारव्याकर्त्यमाहुः न त्विति । मुख्याद्वैतस्याक्षरविषयत्वात् । फलाध्याये
पुरुषोत्तमस्य मुख्यत्वात् । सर्वात्मना अभेदो भेदाभावः यथा सैन्धवखिल्यस्य सिन्धुना अभेदो
मुख्यः । यथा घटस्य घटान्तरेणाभेदस्तादात्म्यरूपो अभेदो गौण इति । तत्त्वमसीत्यादाविति ।
आदिना ब्रह्माहमस्मीति । अन्यान्यपदानि च । तत्त्वमसीत्येकादशपदात्मक उपदेश इति । तस्य
भावस्तत्त्वमिति । तत् त्वमित्युपादानकार्ययोरभेदः सोक्षरेण अतस्तं विहाय कर्तृकारकघटितत्वाच्च ।
तस्य त्वमिति शेषमष्टिघटिततादात्म्यरूपोऽभेदः पुरुषोत्तमविषये फलाध्यायत्वादुक्तः । षष्ठ्या
अकारकत्वात् । द्वितीयसप्तमाध्याये 'शश्वत्प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समं सदसतः परमात्म-
त्त्वम् । शब्दो न यत्र पुरुकारकवान्क्रियार्थो मायापरैत्यभिमुखे च विलज्जमाने'त्यत्र पुरुषोत्तमे कारक-
त्वाभावोक्तिः । तथैवेति । जीवपरब्रह्मैक्यस्य तादात्म्यरूपत्वस्यैव सिद्धत्वात् । जीवपरब्रह्मणो
मुख्याभेदे दोषमाहुः सर्वात्मनेति । तथा च मुख्याभेदे स्वीकृते लीलावैचित्र्यं न स्यादिति दृष्ट-
वैचित्र्याफलापो दोषः । नन्वधोक्षजे लीलावैचित्र्यदर्शनं केन करणेनेति चेन्न । महतामन्तःकरणस्य
करणत्वात् । महत्त्वं भगवत्सम्बन्धादेव । तदुक्तं बृहदारण्यके 'मनसैवानु द्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुव'मिति ।
अनु महत्त्वमनु भक्तिमनु वा । अप्रमेयमधोक्षजरूपम् । तथा च सप्तमस्कन्धे सप्तमाध्याये सद्भाषना-
प्रकरणे 'हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः । इति भूतानि मनसा कामैस्त्रैः साशु मानये'दित्युक्त्वा
'यदा ग्रहग्रस्त इव कश्चिद्भसत्याकन्दते ध्यायति वन्दते जनम् । मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते नारायणे-
त्यात्ममतिर्गतत्रयः । तदा पुमान्मुक्तसप्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः । निर्देग्धवीजानुशयो
महोयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् । अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः शरीरिणः संसृतिचक्रशासनम् ।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजन्वं हृदये हृदीश्वर'मिति । तस्य भावश्चेष्टादिः तस्य भावो भावना
तेनानुकृते आशयानुकृती मनःशरीरे यस्य । निर्देग्धं वीजमज्ञानमनुशयो वासना च यस्य सः ।
सम्यगेति प्राप्नोति । ततः किमत आह । अधोक्षजस्यालम्भं मनसा स्पर्शम् । अधोक्षजालम्भमिति
पाठेऽधोक्षजस्याश्रयणम् । अशुभः रागादियुक्त आत्मा मनो यस्य । शासनं निवर्तकम् । ब्रह्मणि
निर्वाणं लयो मोक्षस्तदात्मकं सुखम् । हृदीश्वरमन्तर्यामिणम् । उक्तरीत्या पूर्वैकक्षाविश्रान्तत्वादेव ।
तद्गुणेति । द्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादेऽस्ति । तदनन्यत्वेति । द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादेऽस्ति ।
भाष्यस्य दिग्भात्रत्वात्तिसिद्धयेप्रपञ्चमाहुः तत्र को म्ने इति । एकत्वमिति । तादात्म्यं वक्ष्यमाण-
दृष्टान्तात्, फलाध्यायाच्च । सर्वात्मभाव इति । सर्वस्मिन्नात्मभावः सर्वात्मभावः 'सर्वात्मभावोऽ-
धिकृतः' इत्यस्य सुबोधिनीटिप्पण्युक्तः । वामदेववदिति । पुरुषविधब्राह्मणेऽस्ति । तत्रापि टिप्पण्युक्तो
विग्रहः । तस्यामिति । तस्य ज्ञानिनः अवस्थायां साधनावस्थायाम् । 'सर्वभूतेषु मन्यति'-

भाष्यप्रकाशः ।

अत एव 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्मन् विभेति कुतश्चेति श्रुतावपि मनोवागगोचरनिरवध्यानन्दज्ञानादेव भयाभावकथनं युज्यते । एतेनैव विदुषस्तुष्यनुभवादिदर्शनमपि व्याख्यातम् । तस्य यथाधिकारत्वात् विकारानृताभिसन्ध्यपवादस्तु विकारसत्यत्वमेव बोधयति । अन्यथा तेनात्मान्तर्धानानुपपत्तेः । आत्मान्तर्धानानन्तर्धानयोर्वस्तुधर्मत्वात् । अन्यथा 'अनृतेनात्मानमन्तर्धाये'ति श्रुतिविरोधापत्तेः । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोती'ति भेददृष्ट्यपवादस्तु परब्रह्मस्वरूपगतभेददृष्टिविषयः । काठके 'पराञ्चि खानी'त्यादिना परमात्मन एवोपक्रान्तत्वात् । उपसंहारेपि 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष' इति मन्त्रद्वये तस्यैवोक्तत्वात् । अग्रे च, 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा

रश्मिः ।

रिति वाक्यात् । तथा च सर्वात्मभावः लिङ्गभूमविद्यायां पुष्टिमागीयः । तच्चरमवृत्तौ टिप्पण्युक्तः । मयादायां निरोधलक्षणग्रन्थोक्तः । अम्बरीषस्येव 'सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास दे'ति नवमस्कन्धे । वामदेवस्य महादेवस्य सर्वात्मभावः भक्त्यङ्गं ज्ञानित्वात् । 'ज्ञानेन भक्ते'ति श्रुतेः । भक्त्यङ्गं सर्वात्मभावः । 'सर्वभूतेषु मन्मति'रिति वाक्योक्तः । टिप्पण्युक्ते नित्य-लीलायामपि । तत्र ज्ञानस्यावर्जनीयत्वेन राजसादिज्ञानानां चाभावात् । 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रम' इति वाक्यात् । एतादृशीनामिति । 'ज्ञानेन भक्ता', 'तद्वैतत् पश्यन् ऋषिर्वाग्देवः प्रतिपेदे, अहं मनुरभवम्, सूर्यश्च', 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानी'त्येतादृशीनाम् । पूर्वकक्षेति । भयाभावसाधनं यदानन्दज्ञानं तत्साधनं भक्तिः तस्याः पूर्वकक्षा ज्ञानिनां ज्ञानं तत्र विश्रान्तत्वमित्यर्थः । वाक्यशृङ्खलयैवकारः । अत एवेति । उक्तरीत्या पूर्वकक्षाविश्रान्तत्वादेव । एवेति । पूर्वकक्षाव्यवच्छेदकः । एतेनेति । मनोवागगोचरनिरवध्यानन्दज्ञानादेवाभयकथनेन । विदुषः पूर्वकक्षाविश्रान्तज्ञानवतः भक्त्यङ्गसर्वात्मभावेन तुष्टैरनुभवः स्वस्य परस्य । आदिना स्थितिः । व्याख्यातमिति । ज्ञानिपरत्वेन व्याख्यातम् । तदेवाहुः तस्येति । दर्शनस्य भक्ताधिकारकसर्वात्म-भावातिरिक्तसर्वात्मभावमनतिक्रम्य यथाधिकारं तस्य भावो यथाधिकारत्वं तस्मात् । विकारैरिति । विकारानृताभिसन्धिर्दृष्टादिदृष्टान्तेन छान्दोग्ये तस्यापवादः 'वाचारम्भणं विकार' इत्येतावतैव चारितार्थ्ये नामधेयपदेन व्यर्थतां गतेन विकारवाचारम्भणाभिसन्धेरपवादः क्रियते । एवं नामधेयपदसार्थक्यम् । यद्यपि नामरूपरूपस्य जगतो विकारत्वप्रतिपादनेन वाचारम्भणनामधेयपदयोरुभयोः सार्थक्यम्, तथापि नामां शब्दात्मकानां शब्दनित्यत्वेन विकारसत्यत्वप्रतिपादकत्वमपीत्याहुः विकारसत्यत्वमेवेति । 'वाचा विरूपनित्ये'ति श्रुतेरेवकारः । छान्दोग्ये श्वेतकेतुपाख्यानस्यश्रुतिसिद्धमर्थं श्रुतिं चोपष्टम्भ-कत्वेनाहुः अन्यथेत्यादि । नामधेयपदेन विकारसत्यत्वाबोधने । तेन अनृतेन । अनृतेनेत्यादिश्रुतिः । परब्रह्मस्वरूपेति । 'सजातीयविजातीयस्यगतद्वैतवर्जित'मिति निबन्धात् । पराञ्चीति । द्वितीया-ध्यायारम्भे । अनया मध्ये 'मृत्योः स मृत्यु'मिति श्रुतिः । तत्र 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयं-भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्नि'त्यत्र द्रष्टृत्वेन अन्तरात्मसमवायित्वेन तदभिन्नस्य परमात्मन एव । यद्वा । प्रथमाध्याये 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रमूहि तं श्रद्धधानाय मन्त्र'मित्युपक्रान्तामित्वेना-न्तरात्मन एव । मन्त्रद्वयेनेति । 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स ईश्वरं एतद्वैतत् । यथोदकं दुर्गे वृष्टे पर्वतेषु विधावति एवं धर्मान् पृथक् पश्यस्तानेवानुविधावति । 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमे'त्यत्र तृतीयश्रुतिं परित्यज्य मन्त्रद्वये । तस्यैवेति ईश्वरस्य सधर्मकस्य परात्मन एवोक्तत्वात् । विजानत इत्यस्याश्च

१. 'उच्य' इति मुद्रितोपनिषदि ।

भाष्यप्रकाशः ।

भवति गौतमे'ति मुक्तिदशायामपि साम्यमात्रबोधनाच्च । तेन 'चक्षुषश्चक्षु'रित्यादिना परस्य ब्रह्मण एवोपक्रान्तत्वाद्यथा बृहदारण्यकेऽर्थः, तथात्रापीति न तेनापि विकारस्य मिथ्यात्वसिद्धिः । 'यत्रैतच्छुद्धमुत्पतित'मिति श्रुत्यापि जगन्मूलत्वेनैवैकत्वमुदकं प्रतिपादितम्, न तु तादृश्येन । एवं, 'यतो वे'त्यादावपि हेयम् । अतः सर्वासां श्रुतीनामुपादानकारणैकत्वावगमपरत्वाद् विशेषनिषेधश्रुतीनां च लौकिकविशेषनिषेधपरत्वात् तासां परस्परसाकाङ्क्षत्वैव । शेषशेषिभावस्तु यथाधिकारं प्रकरणबलादनियत इति ब्रह्मण्येकशक्तियोगो निरावाध एव ।

तेन यत्तैः प्रश्नोपनिषदाक्यात् परापरै द्वे ब्रह्मणी अङ्गीकृत्य, यदविद्याकृतनामरूपादि-विशेषप्रतिषेधेनास्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते, तत् परम्; यत्पुनर्नामरूपविशेषाणां केनचित्-विशिष्टपुपासनाद्योपदिश्यते 'मनोमयः प्राणशरीर' इत्यादिशब्दैस्तद्वरमिति प्रतिपादितम्; तत्र किं मानम्? न नावदस्थूलादिवाक्यम्, मनोमयादिवाक्यं च । तत्र परापरशब्दयोरश्रवणात् । आद्ये अक्षरशब्देनेव लक्ष्यनिर्देशात् । यदि च गुण्डके, 'अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यत' इत्य-क्षरविद्यायाः परत्वश्रवणात् तद्वेद्यस्याक्षरस्य परत्वमिष्यते । वाढम् । तदा पुरुषस्य ततोपि परत्वमेव द्रष्टव्यम् । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यत्रः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो रश्मिः ।

विद्यया विजानत इत्यर्थोदाहः मुक्तीति । जीवन्मुक्तिदशायाम् । काठक उपक्रमस्य परमात्मपरत्वं क्लिष्टं गत्वा भाष्यस्य दिङ्मात्रत्वाय बृहदारण्यकेन एतत्प्रपञ्चयति स्म तेन चक्षुष इति । शरीरब्राह्मणे अर्धप्रपाठकसमाप्तौ 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः, ते निचिक्युः ब्रह्मपुराणमध्यं मनसैवावासात्त्वं नेह नानास्ति किञ्चने'ति, अग्रे 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहे'त्यादि-श्रुतिः । चक्षुषश्चक्षुरित्यादिः चक्षुषश्चक्षुरित्यादिः तथा । अत एव प्राण इत्यातिदेशाधिकरणे प्राणस्य परब्रह्मतोक्तेः । बृहदारण्यकेऽर्थ इति । भेददृष्ट्यपवादः परब्रह्मस्वरूपगतभेददृष्टिविषय इत्यर्थः । तथात्रापीति । काठकेऽपि उक्तोऽर्थ इति । न तेन काठकेन । विकारस्येति । नाना पश्यति विकारैः कृत्वा नाना पश्यति इति विकारस्य मिथ्यात्वे मृत्योर्मृत्यात्तिर्नेत्येवं न विकारस्य मिथ्यात्वसिद्धिः । यत्रैतदिति । तत्रैतदित्यपि पाठः, तत्रैत्यप्यु । अक्षररूपं श्रुद्धं कार्यम्, उत्पत्तिर्न जातम् । जगदिति जगत्समवायित्वेनैवैकत्वं कार्यकारणैकत्वम्, न तु विकारमिथ्यात्वेनैकत्वम् । नाप्युदकविकारयोरैक्ये नैकत्वम् । श्रौतत्वेऽपि जलस्य मूलकारणत्वाभावेन जन्माद्यधिकरणविरोधापत्तेः । उदके ईषत्कालीय-फले मदनकण्ठके वा । उदक इति वा पाठः । तदपः आचक्षते अशनायेति तत्रैतच्छुद्धमुत्पतितमिति श्रुतेः । तथापि फलाध्याये परोक्षवादादुदकं इति । एवं कार्यलक्षणोक्तधर्मैक्यमुक्तम्, तदस्थलक्ष-णोक्तसत्यत्वादिधर्मैरित्याहुः न त्विति । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'त्युक्तं तदस्थलक्षणम् । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इत्युक्तं कार्यलक्षणं तदेवाहुः एवं यतो वेति । सिद्धमाहुः सर्वासामिति । सगुणनिर्गुणप्रतिपादिकानां श्रुतीनां फलाध्यायत्वाच्च जगदुपादानमक्षरं लोकरूपं तत्रत्यो भगवान् रसात्मकजगदुपादानं तत्र कार्यकारणयोरैकत्वावगमः तस्माद्ब्रह्मधर्माधारत्वादाहुः तासामिति । धर्मप्रतिपादिकानां स्वलक्षणधर्माकाङ्क्षा, धर्मप्रतिपादिकानां च स्वाश्रयाकाङ्क्षेति परस्परसाकाङ्क्षता । शेषशेषीति धर्मप्रतिपादिकानां प्रतियोगिप्रतिपादकत्वाच्छेषभावः । धर्मनिषेधिकानां तु शेषिभावः । शेषः प्रतियोगी यस्यास्तीति शेषी निषेधः । तयोर्भावः शेषशेषिभावः । ज्ञानरूपमधिकारमनतिक्रम्य यथाधिकारम् । ज्ञानकर्मभक्तिप्रकरणबलात् । अनेकेति । जगज्जन्मादिकर्तृत्वादिसत्यत्वादिरूपानेक-शक्तियोगः । उभयव्यपदेशाद्यधिकरणसत्त्वादेवकारः । आद्य इति । परस्मिन् । एवकारः पुरुषोत्तमस्यैव

भाष्यप्रकाशः ।

अक्षरात् परतः पर' इति तत्रैव श्रावणात् । न च तस्य यावद्विशेषशून्यत्वम् । तदग्रे, 'एतस्माज्जायते प्राण' इति मन्त्रेण तत एव सृष्टेः श्रावणात् । 'अग्निर्मूर्धे'त्यादिभिस्तद्गुणोपन्यासाच्च । नाप्यक्षरस्य तथात्वम् । अस्थूलादिश्रावणोत्तरं प्रशासनस्य वेद्यत्वं द्रष्टृत्वादीनामाकाशोपादानत्वस्य च श्रावणेन, मुण्डकेपि, 'यत्तददृश्य'मित्याद्युक्त्वा, 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ती'त्यादिजगदुपादानत्वसर्वज्ञत्वादीनां श्रावणेन 'यावद्विशेषशून्यताया वक्तुमशक्यत्वात् । एवं वाक्यान्तरेणपि द्रष्टव्यम् । सर्वत्र एकस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वात् । अत एव श्वेताश्वतरेपि 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः', 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं'मित्यादीन् नानाधर्मबोधकानेव मन्त्रानुक्त्वा 'निष्कलं निष्क्रियं'मित्युक्तम् । 'स वा एष महानज आत्मे'त्यत्रापि शारीरब्राह्मणे, 'अन्नादो वसुदान' इति 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इत्यादयो धर्मा उक्ताः । 'स वा एष नेति ने'त्युक्त्वा, 'अगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्यो न हि शीर्यते असङ्गोऽसितो न सज्जते न व्यथत' इत्येवं निषेधो विधृतो न तु यावद्दर्मपरत्वेनेति द्रष्टव्यम् । अतो यत्रोत्कर्षस्य विश्रान्तिः, अक्षराद्वा यदुत्कृष्टम्, तदेव परमिति मन्तव्यम्, उक्तमुण्डकश्रुतेः । 'अव्यक्तात् पुरुषः परः, पुरुषात् परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति'रिति काठकश्रुतेः । 'अममस्यपार' इत्युपक्रम्य, 'अतः परं नान्यदणीयस' हि परात् परं यन्महतो महान्त'मिति तैत्तिरीयश्रुतेश्च । पुरुषस्य च विरुद्धधर्माश्रयत्वमेतास्त्रेव प्रतिपादितम् । एतदेव परत्वम् । गीतासु च 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम । पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यथे'ति । 'द्राविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः । यस्मात् क्षरमतीतोऽहमराक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽसि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम' इति तदुपबृंहणात् । अत एव, 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इत्यादिषु तस्य समाभ्यधिकनिषेधोपि युज्यते । न च पुरुषोत्तमाक्षरयोः परापरभावाङ्गीकारे अद्वैतश्रुतिविरोधः । गणितागणितानन्दस्वधर्मभेदेपि वस्त्वभेदेन द्वैताभावे तद्भावात्, अमित्रादिवदद्वैतविरुद्धसम्पद्गुणत्वेनाभेदस्य तादात्म्यात्मकत्वात् । अथवा । शब्दब्रह्मवेद्यं परम्, शब्दब्रह्मैवापरम् । पृथक्स्थान्धे चित्रकेतुं प्रति, 'शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोमे शाश्वती तन्नू' इति भगव-
रक्षिः ।

व्यवच्छिनत्ति । लक्ष्यनिर्देशो बृहदारण्यकेऽक्षरब्राह्मणेऽस्ति । वाक्यान्तरेऽपि । यथा प्रश्नोपनिषदि । 'यो ह वैतदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य सर्वज्ञः सर्वो भवती'ति । पशुंदासार्थको नञ् । अतो यावद्विशेषशून्यता न । परत्वमिति । पुरुषोत्तमत्वम् । तत्रैवेति । मुण्डके एव । तस्येति । पुरुषोत्तमस्य । सृष्टेरिति । आत्मसृष्टेः । अक्षरसृष्टेरन्यत्वात् । श्रावणेनेति । अक्षरब्राह्मणे श्रावणेन । अन्नाक्यत्वादिति । न च प्रशासनत्वादिकं प्रशासत्वाद्यभावाभावात्मकं अभावोऽधिकरणात्मकमिति कथमशक्यत्वमिति शङ्काम् । अभावस्याधिकरणात्मकताया अप्रसिद्धेः यावदिति । तथा च यावद्दर्मनिषेधे 'स वा एष नेति नेती'त्यत्र विवक्षिते न विवृणुयादिति भावः । अत एवेति । विरुद्धधर्माधारत्वादेव । युज्यत इति । तादृशविरुद्धधर्माधस्वाभावादिति भावः । तद्भावादिति । अद्वैतश्रुतिविरोधाभावात् । नन्वक्षरत्वेन पुरुषोत्तमत्वेन रूपेण भेदो वर्तत इति कुतो वस्त्वभेद इति चेत्, तत्राहुः अमित्रादीति । तादात्म्येति । फलाध्यायत्वात् तादात्म्यात्मकत्वम्, न तु भेदाभावात्मकत्वम् । 'अन्तरा भूतग्रामव'दिति सूत्रे भेदाभावरूपामेदस्य फले निषेधात् । शब्दब्रह्मवेद्यमिति । वाच्यं परम्, वाचकमपरमित्यर्थः । ममेति भगवतः । इति

भाष्यप्रकाशः ।

द्राक्यस्य 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् । शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छती'त्यादिवाक्यस्य च स्वारस्यात् । 'एतद्वै सत्यकाम परं च ब्रह्मे'ति वाक्यविचारेऽप्योङ्कारस्य, 'एतद्वै यजुस्त्वयीं विद्यां प्रती'ति श्रुतेः सर्ववेदमूलत्वेन वाच्याभिन्नत्वेन चोभयरूपत्वं प्रतिज्ञाय, तदभिध्यानफलकथने एकद्वित्रिमात्राध्यानेन यजुःसामभिर्मनुष्यलोकसोमलोकसूर्यलोकेषु यथायथं महिमानुभवं फलमुक्त्वा, अर्धचतुर्थमात्रेणोङ्कारेण ध्याने, अथर्वभिर्ब्रह्मलोकप्राप्तिं चोक्त्वा, 'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षत' इति फलमुक्तम् । शङ्कराचार्यमतेन त्रिमात्र एवोङ्कारोऽङ्गीकृतः । स पाठो यद्यपीदानान्तिनेभ्यः पुस्तकेभ्यः पाठिभिः पठ्यमानात् पाठाच्च विरुध्यते, तथापि त्रिमात्रव्यानेपि, 'ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि परे सम्पन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्त' इत्येतावतो ग्रन्थस्य 'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षत' इति ग्रन्थस्याग्रिमश्लोकद्वयस्य च वर्तमानत्वेन शब्दब्रह्म अपरम्, मृत्युमन्मात्राप्रतिपाद्यं वाऽपरम्, जीवघनरूपो यो हिरण्यगर्भः क्षरः पुरुषस्तस्मात् परमक्षरं ब्रह्म । परं ततोपि यः परः पुरिशयोऽन्तर्याम्युक्तः, श्लोकेपि 'तमोङ्कारेणैवायनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं परायणं चे'त्युक्तः

रश्मिः ।

वाक्येति । प्रश्नोपनिषत्स्यवाक्यमीमांसायामपि 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार' इति श्रुतेरोङ्कारस्य । एतदिति । ओङ्कारः यजुः मूलकारणं कां प्रतीत्यत आहुः । प्रथीं विद्यां प्रतीति श्रुत्यर्थः । मूलं शब्दरूपम् । सर्ववेदेति । त्रयीविद्यामूलत्वेन वाच्यं परं ब्रह्म तदभिन्नत्वेन । उभयरूपत्वं वाच्यवाचकरूपत्वम् । प्रतिज्ञायेति । उक्तश्रुत्या । तद्भीति । 'स यथेकमात्रमभिध्यायीत'त्यादिना तदभिध्यानफलस्य लोकजयस्य कथने । एकद्वीति । 'स यथेकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव तस्यामभिसम्पद्यते किञ्चिदुक्त्वाग्रे द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते पुनः किञ्चिदुक्त्वा यः पुनरेतं त्रिमात्रेणमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये इत्येवमेकद्वित्रिमात्राध्यानेन । उक्तत्वेति । अभिसम्पद्यत इत्यस्या अग्रे 'तद्युचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पद्यते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवती'त्यनयोक्त्वा । 'तथा द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यत' इत्यस्या अग्रे 'योऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुच्चीयते सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते' इत्यनयोक्त्वा । यः पुनरित्यस्या उक्ताया अग्रे सामभिरुच्चीयते सूर्यलोके स सूर्यलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते इत्यनयोक्त्वेत्यर्थः । अर्धचतुर्थेति । उक्तोङ्कारचतुर्थमात्रेण । पुस्तकेभ्य इति । पञ्चम्यन्तमेको हेतुः । पाठिभिरित्यपरः । ओमित्येतेनेति । यः पुनरर्धचतुर्थमात्रेणमित्येतेनेत्यादिः । एवं ह वा इति श्रुतिस्तु 'एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः सोऽथर्वभिरुच्चीयते ब्रह्मलोक'मिति । एतस्या अग्रे 'स एतस्माज्जीवघना'दिति श्रुतिः । अग्निमेति । 'तदेतो श्लोकौ भवतः । तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः । क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः । ऋग्भरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यतत्कवयो वेदयन्ते । तमोकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं परायणं चे'त्यग्रिमश्लोकद्वयस्य । तस्मात्परमक्षरं ब्रह्म, ततोऽपि यः पर इति पाठः । श्लोकेऽपि तमिति । परपुरुषम् ।

किञ्च । उपास्यरूपाणां सर्वेषां निर्गुणत्वमेव, उपासकस्य परं सगुणत्वेन

भाष्यप्रकाशः ।

स एव पर इति सिध्यति । तथा चात्र 'परायणं चे'ति चकारादक्षरात् परः पुरुषोऽपि परं परायणं यस्येति योगादक्षरधामवासी बोधितः । तेन मुण्डकवदेवात्राप्यर्थः । अपरं तु ब्रह्म वेदात्मकम्, हिरण्यगर्भस्य शब्दब्रह्मात्मकत्वात् । किञ्च । नृसिंहोत्तरतापनीये, 'सैषाऽविद्या जगत् सर्वमिति सर्वस्य जगतोऽविद्यात्वश्रावणोपि न सर्वस्य जगतस्तथात्वम् । उपसंहारे, 'तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं योनित्वमपी'ति निगमनात् । इदं यथातथोपपादितं द्वितीयस्य प्रथमे पादे, 'दृश्यते त्वि'ति सूत्रे । मुण्डके, 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते चे'त्यादिना अक्षरात् सृष्टिमुपक्रम्य, 'तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते तदेतत्सत्य'मिति निगमनात् । 'तदेतदृषिः पश्यन् वामदेवः प्रतिपेद' इत्यादिश्रुत्युक्ताबाधितब्रह्मवित्प्रत्यक्षविषयत्वात् । व्यावहारिको नामरूपप्रपञ्चः, खोत्कृष्टसत्ताकतत्प्रपञ्चपूर्वकः, मायिकप्रपञ्चत्वादैन्द्रजालिकादिप्रपञ्चवदित्यत्र साध्यविशेषणत्वेनानुमितिविषयत्वाच्च । अतो नामरूपादीनामपि न सर्वेषामाविद्यकत्वमिति सिद्ध्यति । एवं सति 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः । 'अयमात्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प' इत्यादिषु शाण्डिल्यदहरभूमविद्याप्रभृतिवाक्येष्वपहतपाप्मसत्यकामादिशब्दैस्तच्चद्विशेषणविशिष्टं यदुपासनायोपदिश्यते, तस्याविद्याकृतनामरूपविशेषविशिष्टत्वं कृतोऽवधारितं येन तस्यापरब्रह्मत्वमुच्यते, न तावदुपासनाविषयत्वात्, उपासनाविषये तथात्वनिषयस्य क्वाप्यसिद्धत्वेन प्रमाणशून्यत्वात् । न च, 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासत' इत्यादितलवकारश्रुतेरिति युक्तम् । तत्र तथार्थाभावात् । नेदमित्यनेन मनोवागादिनिषेधोत्तरम्, 'इदं ब्रह्म विद्धि यदुपासत' इत्यर्थात् ।

रश्मिः ।

परं अयनं यस्येति । परमक्षरम् । मुण्डकवदिति । 'अक्षरात्परतः पर' इति मुण्डकसुक्तम् । परतोऽक्षरात् पर इत्यर्थः । वेदात्मकमिति । 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽयर्वेद' इत्यादि मुण्डकात् । तत्र परापरयोः । आत्मन एवेति । आत्मनः, न त्वविद्यायाः । त्रैविध्यं गुणैः स्त्रीयैः । योनित्वमुपादानत्वम् । निगमनं तस्मात् पर्वतो वह्निमानितिवत् । तदेतदिति । अबाधितत्वं भ्रमप्रतिषाधवद् बाधाविषयत्वम् । ऐन्द्रजालिकादीति । आदिना हिरण्यगर्भसृष्टिः कुलालादिपुत्रकर्तृकसृष्टिश्च । व्यावहारिको नामरूपप्रपञ्चः खोत्कृष्टसत्ताकतत्प्रपञ्चपूर्वकत्ववानित्यनुमितिः, अत्र साध्यं खोत्कृष्टेत्यादि । तद्विशेषणं पक्षः तत्त्वेन व्यावहारिकप्रपञ्चस्यानुमितिविषयत्वादित्यर्थः । अत इति । आविद्यकान्तरालिकसृष्टिवदाल्मयोनेः सत्त्वाद्ब्राह्मसृष्टेः । सर्वेषां ब्राह्मणानामाविद्यकानां च । मनोमय इति शाण्डिल्यविद्यास्थं वाक्यम् । अयमात्मेति दहरविद्यास्थं वाक्यमादिना भूमविद्यास्थं वाक्यं तत्तु 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'ति । भूमैव सुखमिति वा । सुखत्वेन भूमि मनोनिवेशनं मनसा ज्ञानमुपासनम् । प्रभृतिपदेनोपकोसलविद्यास्थं वाक्यम् । तत्तु 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मे'ति । अपहतपाप्मेति । दहरविद्यास्थौ शब्दौ । अतः शाण्डिल्यविद्यास्थशब्दाग्रहणं तदर्थम्, अपहतपाप्मसत्यकामयोरादयः अपहतपाप्मसत्यकामादयः । मनोमयप्राणशरीरभारूपाः । तथापहतपाप्मसत्यकामावादी येषां ते विजरादिसुखाश्रुताभयब्रह्मरूपाः अपहतपाप्मसत्यकामादयः ते च ते चापहतपाप्मसत्यकामादयस्ते च ते शब्दाः अपहतपाप्मसत्यकामादिशब्दास्तैः । मनोवागादीति ।

भाष्यप्रकाशः ।

अन्यथा द्वितीयेदङ्कारप्रयोगवैयर्थ्यप्रसङ्गादित्येवं गामेवोपपादितत्वात् । 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धी'ति विधीयमानज्ञानविषयस्य ब्रह्मणः पूर्वं, 'न तत्र चक्षुर्गच्छती'त्यादिना यावत्करणगाम्यताया उक्तत्वात्तस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षादिरूपताया वक्तुमशक्यत्वादुपासनारूपत्व एव पर्यवसानेन तद्विषयस्य परस्याप्यपरत्वापत्तेश्च । नाप्युपशान्तत्वाभावात् । सर्वत्र परस्य ब्रह्मण एकत्वेन तस्य च विरुद्धधर्माधारताया उपपादितत्वेन तदभावस्यैवाभावात् । एतेनेव, 'अवचनेनेव प्रोवाचे'त्यनेनापि प्रत्यवस्थानमयुक्तम् । तत्राप्युपशान्तत्वस्यैवोक्तत्वात् । लौकिकयावद्दर्शनाहित्येनेव तत्सिद्धेश्च । एवं 'इन्द्रो मायाभि'रित्यादिवाक्यानामप्युपमलिङ्गाद्यधिकरणविचार एव विचारितत्वाच्च तैरपि प्रत्यवस्थानावकाशः । अतः परविद्यासक्तानामन्यत्राप्युक्तानां परब्रह्मधर्माणामनाविद्यकत्वादलौकिकैर्नानागुणैर्युक्तमप्युपास्यरूपं नापरब्रह्मरूपमिति नौपाधिकम् ।

एवं जीवत्वमपि नौपाधिकम् । 'अंशो नानाव्यपदेशा'दित्यत्र जीवस्यांशत्वेनेव निर्धारितत्वात् । श्वेताश्वतरे, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्, अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जग'दिति कण्ठतोऽवयवत्वोक्तेश्च । 'घटसंघृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा । घटो लीयेत नाकाशं तद्ब्रह्मीनो नभोपम' इति विन्दुस्तोकश्रुतौ नभोपम इति दृष्टान्तोपि लयाभाव एव, न त्वनंशत्वे । इतः पूर्वस्मिन्, 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रव'दिति मन्त्रे जलचन्द्रदृष्टान्तेनांशप्रवेशद्वारिकायाः सर्वभूताधिकरणकस्थितेर्बोधितत्वात् । निष्कलश्रुतेस्तु नांशत्वबाधकत्वम् । 'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि'रित्यादिभिः पूर्वमन्त्रैर्नानाधर्माणां क्रियाणां च बोधनेन जीवानामवयवरूपतायाश्च पूर्वश्रुतत्वेन, 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना'मिति भेदस्य बोधनेन ब्रह्मणो विरुद्धधर्माधारत्व एव तत्तात्पर्यावगमात् । अविद्यया विस्मृतस्वस्वरूपं ब्रह्मैव जीव इति पक्षस्यापि, 'तत्त्वमसी'ति वाक्यविचारे लक्षणादोषग्रासेनेव

रश्मिः ।

मनोवागादीनां करणत्वनिषेधोत्तरम् । प्रागेवेति । विधीयमानेति विद्धीति लोटा विधीयमानज्ञानविषयस्य तद्विषयस्येति । यदिदमुपासत इति श्रुत्युक्तोपासनाविषयस्य । ननु यथोपासनाविषयत्वेन परस्य अपरत्वम्, तथोपशान्तत्वाभावादपरत्वं भविष्यति तत्राहुः नापीति । उपशान्तत्वाभावादपरत्वापत्तिर्न । सर्वत्रेति । निर्गुणसगुणप्रतिपादिकासु एकत्वं निर्वाहकसङ्गत्या, न त्वारोपापवादसङ्गत्या । उपपादितत्वेनेति । नृतीयाध्याये उभयव्यपदेशाद्यधिकरणेषु । तदभावस्येति । उपशान्तत्वाभावस्य । एतेन तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य तत्सिद्धिर्बोधो श्रूयमाणं 'स यदि पितृलोककामो भवती'त्यादिजगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति, अनिवर्तित्वादविद्याया इति पूर्वं प्रकाशे यदुक्तं तदाक्षिप्तम् । एतेनेति विरुद्धधर्माधारत्वेन उपशान्तत्वेन वा । प्रत्यवेति । अवचनेनाविद्यकनेति प्रतिकूलस्थितिः । तत्सिद्धेरिति । उपशान्तत्वसिद्धेः । विरुद्धधर्मासिद्धेः । प्रत्यवेति । आरोपापवादीयधर्माणामाविद्यकत्वमित्येवं प्रतिकूलावस्थानं तस्यावकाशः । अवयवभूतैरिति जीवैः । अवयवत्वे दृष्टान्ताभावमाहुः घटसंघृतमिति । लयाभाव इति । स्वांशयक्षरातिरिक्तलयाभाव एव न. त्वनंशत्वे । नानेति अंशत्वसमर्पकणाम् । पूर्वमिति । अत्रैव पूर्वं श्वेताश्वतरश्रुत्युपन्यासेन । भेदस्येति । पृष्ठथा भेदस्य । भेदोत्र इवार्थो बोध्यः फलाध्यायत्वात् । भाष्योक्तनिरस्तत्वपदपुरस्कारेणाहुः अविद्ययेति । पक्षस्येति सोपाधिजीवपक्षस्य । अपिना भाष्योक्तजीवपुरुषोत्तमाभेदस्य सङ्ग्रहः । लक्षणोति अविद्यारूपभागत्यागलक्षणादोषग्रासेन ।

भाष्यप्रकाशः ।

निरस्तत्वात् । ब्रह्मणि प्रदेशानङ्गीकारेण निष्प्रदेशे तस्मिन्विद्यासम्बन्धाङ्गीकारे सर्वस्य जीवता-
पत्तेश्च तस्याप्यप्रयोजकत्वात् । विकारप्रतिविम्बाभासपक्षणाणामपि, 'नात्माऽश्रुते' रित्यादिसूत्रविचारे
एव निरस्तत्वात् । जीवे ब्रह्मत्वव्यपदेशस्य सुषुप्तिसाक्षिभूतप्राज्ञदृष्टान्तेन गौणतायास्तदुणसारत्वा-
धिकरण एव साधितत्वाच्च । तस्माज्जीवैश्वर्यमपि दुरपोहम् । तदेतदुक्तं, स्यादित्यारभ्य
निरस्तत्वादित्यन्तेन । तथा च अपरस्य ब्रह्मणो गन्तव्यत्वमविद्यावत्तश्च गन्तृत्वं विद्याकृतं तदा
स्याद्यदि भवदुपदर्शितो ब्रह्मणः परापरविभागो वा जीवस्य सर्वात्मना ब्रह्माभेदो वा श्रुति-
स्मृतिस्त्रयतात्पर्यगोचरः स्यात्, स एव तु नास्तीति वृथा बादरिमताग्रहाडम्बर इत्यर्थः । ननु न
वृथा, ब्रह्मणो व्यापकत्वरूपस्य गन्तव्यतावाधकस्यापरिहृतत्वादित्यत आहुः न चेत्यादि ।
तथा च प्रतिबन्धकाभावस्य सहकारितायास्त्वयाप्युपगतत्वाद् यत्रैव प्रारब्धरूपस्य प्रति-
बन्धकस्य यथा यदाभावः, तत्रैव ब्रह्मप्राप्तिरितिगमनस्य प्रारब्धनिवारणार्थत्वाद् ब्रह्मणो
गतत्वेऽपि न गन्तव्यत्वानुपपत्तिरित्यर्थः । ननु भवत्वेवं परब्रह्मणो गन्तव्यत्वानुपपत्तिपरिहारः,
तथापि गतिश्रुतीनां पञ्चाभ्यादिविद्यास्यपि दर्शनात्तासां परविद्याङ्गत्वं नासाधारणम्, अपरविद्यासु
च विषयः सगुण एव, अतस्तदुपासने तत्कृतुन्यायात् सगुणमेव फलं युक्तम्, तथा सति तत्र
गन्तव्ये प्रयुक्तं ब्रह्मपदं सामीप्य एव नेतव्यम्, एवं यत्र लोकपदसमभिव्याहृतं ब्रह्मपदम्, तत्रापि
लोकविशेषणभूतम्, लोकत्वं च कार्यत्वनिघतमिति तत्रापि कार्यस्यैव गन्तव्यता, एवं बहुषु स्थलेषु
कार्यत्वे गन्तव्यस्य सिद्धे परविद्यास्यपि तथाङ्गीकार्यमित्याशयेन यतैः 'क्वचित् पञ्चाधिविद्या'-
मित्यादिनोक्तम्, तत्रोत्तरमाहुः किञ्चेत्यादि । पञ्चाधिविद्यादिष्वप्युपास्यरूपाणां प्राकृतगुण-
रहितत्वमेव । 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवा'दित्यत्र वैदिकपदार्थानां सर्वेषामाधिदैविकत्वेन भग-
वदवयवरूपत्वस्थापनात् । तत एव लोकेऽपि निस्थत्वम् । एवमन्येष्वप्युपास्यरूपेषु द्रष्टव्यम् ।
न चापरासु पुरुषयज्ञादिविद्यासु जघन्यफलोक्तिविरोधः । उपासकस्य सगुणत्वेन तस्य जघन्य-
रश्मिः ।

तस्यापीति अविद्यासम्बन्धस्यापि । जीवत्वव्यवहारे अप्रयोजकत्वात् । तादात्म्यरूपाभेदातिरिक्त-
भेदाभावरूपभेदस्य अयमात्मा ब्रह्मेत्यादौ फले विरुद्धत्वमाहुः जीवे ब्रह्मत्वेति । अपरस्येति सवि-
शेषस्य । परीति । सविशेषब्रह्माङ्गीकारेण परिहृतत्वात् । एवमिति । प्रारब्धाभावे सायुज्यमुपाधिनाशे
सायुज्यवत् । साधनप्राबल्ये साष्टिरलौकिकसामर्थ्यपदवाच्या । भगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु
च । गतीति । स एतान्ब्रह्म गमयतीत्येवंविधानाम् । पञ्चाभ्यादीति । आदिना वैश्वानरविद्या ।
पर्यङ्कविद्या । परविद्येति । चित्तशुद्धिद्वाराङ्गत्वम् । असाधारणमिति । किन्तु परेषां शब्द इवा-
स्माकमावृत्तचक्षुराद्यसाधारणम् । वेदान्तविज्ञानेतिश्रुतिः 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरस्यतत्त्व-
मिच्छ'न्निति श्रुतिश्चोभयत्र । तत्कृतुन्यायोऽग्रिमाधिकरणेति । ब्रह्मपदमिति । 'स एतान्ब्रह्म गमयती'-
त्यत्र ब्रह्मपदम् । सामीप्य इति स्वार्थे ष्यञ् । ब्रह्मसमीपब्रह्मकार्ये । क्वचित्पञ्चाधिविद्यामि-
त्यादीति । शङ्कराचार्यमतोपन्यासे उक्तम् । पञ्चाग्नीति । आदिना पर्यङ्कविद्या वैश्वानरविद्या च ।
प्राकृतगुणेति । तेन विभूतिरूपाणामप्राकृतत्वं बोधितम् । अत एव 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'-
मित्युक्त्वा, 'तमसः परस्ता'दित्यनेनांशेन तमोरूपप्रकृतिपरत्वमुक्तम् । अत एव 'सर्वे जीवाः सर्वे आत्मानो
व्युच्चरन्ती'ति पृथगात्मव्युच्चरणोक्तिरुपनिषदि । लोकेऽपि च । पर्यङ्कस्य वैश्वानरे च यदा तत्तदाविष्टेषु ।
अन्येष्विति । प्रतिमादिषु प्राकृतगुणरहितत्वं द्रष्टव्यम् । पुरुषयज्ञादीति । पुरुषविद्या सहस्रशीर्षेति
प्रसिद्धा । यज्ञविद्या प्राणाग्निहोत्रोपनिषदि । बहुवचनेन स्मार्तविद्याः पौराणविद्याश्च । जघन्येति ।

तत्तारतम्यात् फलतारतम्यम् । यस्तु भगवदनुग्रहेण प्राकृतगुणरहितोऽभूत्, स
निर्गुणब्रह्मविद्यावानित्युच्यते । तादृशस्यैव मुक्तिप्रकारद्वयमुक्तम्, सद्योमुक्ति-

भाष्यप्रकाशः ।

फलमेव कामितमिति तदर्थं तत्र तत्कथनात् । एवं परविद्यास्यपि बोध्यम् । अत उपासकाधि-
कारतारतम्यादेव फलतारतम्यं फलविलम्बश्च । न चोपास्यरूपाणां सर्वेषां निर्गुणत्वे विद्यानामपि
तथात्वात् सगुणब्रह्मविद्यावानिर्गुणब्रह्मविद्यावानिति व्यवहारभेदलोपप्रसङ्गः शङ्कनीयः । यस्तु
भगवदनुग्रहेण प्राकृतगुणरहितोऽभूत्, स निर्गुणब्रह्मविद्यावानित्युच्यते । यस्त-
द्भिन्नः, स सगुणविद्यावानित्युपपत्तेः । एवं सति य आद्यः, तादृशस्यैव सद्योमुक्तिक्रममुक्तिभेदभिन्नं
प्रकारद्वयम् । तत्र प्रारब्धरहितस्य सद्योमुक्तिप्रकारो 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ती'त्यादिनोच्यते ।
तद्वतः क्रममुक्तिप्रकारस्तु 'शतं चैका च पुरुषस्य नाड्यः', 'तेऽचिरभिसम्भवन्ती'त्यादिभिः । न
च निर्गुणब्रह्मविद्यावतः सर्वस्य प्रारब्धशून्यत्वमिति वक्तुं शक्यम् । तथा सति तस्य शरीरराहित्य-
प्रसङ्गेन प्रवचनाद्यनुपपत्त्या ज्ञानमार्गोच्छेदापत्तेः । न च चरमवृत्त्यभावाच्छरीरस्थितिरिति युक्तम् ।
शब्दादपरोक्षवादिनः साक्षात्कारोचरं प्रारब्धातिरिक्तस्य वृत्तिचारम्यहेतोर्वृत्तमशक्यत्वात् ।
अतस्तेनैव गत्युपपत्तिस्तन्निवृत्तिप्रकारबोधनार्थमेव गतिश्रुतिः । अतः परविद्यासु सा प्ररोचनार्था
वा, अनुचिन्तनार्था वेति विकल्प्य तद्वृत्तमप्यसङ्गतमेव । न च, 'ते ब्रह्मलोके त्वि'ति श्रुति-
रश्मिः ।

यथा अपरब्रह्मोपासनस्य तत्सन्निधौ श्रूयमाणं 'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्
पितरः समुत्तिष्ठन्ती'ति तथा जघन्यमेव फलं कामितम्, छान्दोग्ये मधुप्रपाठके 'एतावानस्य
महिमाऽतो न्यायांश्च पुरुषः पादोस्य विश्वा भूतानी'ति पुरुषविद्यायां 'पूर्णाप्रवृत्तिर्नी श्रियं लभते य
एवं वेदे'ति जघन्यफलोक्तिः तस्या विरोधः । प्राणाग्निहोत्रोक्तयज्ञविद्याफलं 'यदि एकैर्नैव जन्मना
जन्तुर्भोक्षं प्राप्नुयादिति भोक्षं च प्राप्नुयादिति भोक्षं च प्राप्नुयादिति मार्गत्रये भोक्षो न जघन्य इति
विभाव्यते, तदा मधुप्रपाठके एव 'पुरुषो वा व यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनमि'-
त्याद्युक्त्वा 'स ह पोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेदेति य एवं वेदे'ति जघन्यफलोक्तिर्ज्ञेया ।
तत्रेति । अपरासु पुरुषयज्ञादिविद्यासु । तत्कथनाज्ज जघन्यफलकथनात् । परविद्यास्थितिः ।
ब्रह्मविद्यासु 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीक'मित्यादिषु प्राणा-
ग्निहोत्रोक्तायां च । फलविलम्ब इति । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इति श्रुत्युक्तः ब्रह्मलोकवास-
कृतः । यस्त्विति भाष्यं विवरीतुमाहुः न चोपास्येति विवृण्वन्ति स्म यस्त्विति ।
भगवदनुग्रहेणेति । व्यापारोऽत्र भक्तिस्तया ज्ञानरूपया प्राकृतगुणास्तमोरूपास्तै रहितोऽभूत् ।
निर्गुणेति । बृहदारण्यके अक्षरब्रह्मणोक्तनिर्गुणब्रह्मविद्यावान् । तद्भिन्न इति । अनुग्रहेण प्राकृत-
गुणरहितो भक्तिमानभूत्, स गुणैर्विरुद्धैः सह विद्यमानस्तस्य विद्या सर्वात्मभावादिः तद्वान् ।
ज्ञानिमात्रप्रकरणं वृत्तम् । तादृशेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म एवं सतीति । न तस्मादिति भाष्यं
विवृण्वन्ति स्म तत्रेति । प्रारब्धरहितस्येति । सद्योमुक्तिप्रागभावक्षणे ध्वस्तप्रारब्धस्य ।
निर्गुणेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म न च निर्गुणेति । चरमेति । प्रारब्धचरमवृत्तिप्रागभावात् ।
शब्दादिति । शङ्करस्य । तेनैवेति प्रारब्धेनैव । गत्युपपत्तीति । आश्चर्येणिति बोध्यम् । श्रुति-
रिति । 'स एतान्ब्रह्म गमयती'ति श्रुतिः । अत इत्यादि । आश्चर्यात् । सेति । परब्रह्मविषया गतिः ।
प्ररोचनार्थेति । ब्रह्मविदः प्ररोचनार्था । एवेति आश्चर्यविधटकत्वात् 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य
लब्धे'ति काठकविरोधापत्तेरेवकारः । ते ब्रह्मेति भाष्यं विवरीतुमाहुः न च त इति । श्रुति-

क्रममुक्तिभेदेन । 'न तस्मात् प्राणा उत्कामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यादिश्रुतिस्तु प्रारब्धरहितविषया । निर्गुणब्रह्मविद्यावतोपि प्रारब्धभोगस्तु त्वयापि वाच्यः, अन्यथा प्रवचनासम्भवेन ज्ञानमार्ग एवोच्छिद्येत । 'ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाल' इति श्रुतिरपि परान्तकाल एव येषां प्रारब्धभोगसमाप्तिस्तद्विषयिणीति मन्तव्यम् । अन्यथा 'वेदान्तविज्ञाने'त्याद्युक्तधर्मविशिष्टानां मुक्तौ विलम्बो नोपपद्येतेति दिक् ॥ १४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

व्याकोपः । येषां परान्तकाल एव प्रारब्धभोगसमाप्तिस्तेषामेव तत्र सर्वपदेन परामर्शात् । तत्र सगुणविद्यावत्परामर्शाङ्गीकारे तु तेषां वेदान्तार्थानभिज्ञत्वाद्दविद्यावत्त्वेनाशुद्धसत्त्वत्वाच्च न पूर्वोक्तस्य 'वेदान्तविज्ञाने'त्यादिविशेषणद्वयस्य बाधः स्यात् । अतो यदत्र तैः प्रतिपादितम्, तत् सर्वं श्रुतिविरुद्धत्वात्सङ्गतम् । किञ्च । तैरपि क्वचिद्गौणः शब्दो दृष्ट इति नैतावता शब्दप्रमाणकेऽर्थे गौणी कल्पना न्याय्या । सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गादिति । 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशा'दिति सूत्रव्याख्याने यदुक्तम्, तदपि विस्मृतम् । अथवा । ईश्वरित्यत्रावतारणे वेदान्तवाक्येभ्य एव युक्त्याभासवाक्याभासावष्टम्भाः सांख्यादिवादिन उच्यन्ते । तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञानाचार्येण वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वप्रदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभासप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्त' इति कथनाल्लक्षणां विरह्य वेदान्तव्याख्यानमाचार्यस्यैव संमतम्, नास्माकमिति बोधितमिति प्रभुचरणैर्दिक्पदप्रयोगेण ज्ञापितम् ॥ १४ ॥

रश्मिः ।

व्याकोप इति । फलविलम्ब उपपत्त्यर्थं प्ररोचनार्था वा अनुचिन्तनार्था वा गतिरित्यत्र दूषणं स्वास्थ्यस्य स्वस्थचितताया विद्यासम्पत्तिनैवाव्यवहितेन स्वसंवेद्येन सिद्धेन प्ररोचनार्था स्वास्थ्यसहितपरब्रह्मविषयगतिः । नाप्यनुचिन्तनार्था । नित्यसिद्धज्ञानस्य कृत्यजन्यत्वात्कृतिरूपावुचिन्तनस्यापेक्षया अभावादिति । तदूषणं ते ब्रह्मलोके त्वित्यंशस्यार्थवादत्वेन स्वार्थे अप्रामाण्यादुक्तम् । इति मन्वानैः श्रुतिव्याकोप उक्तः । कार्यालयसूत्रे तु क्रममुक्तौ विलम्ब्य गतिरविलम्ब्य गतिरित्युभया गती विद्युन्वन्ति स्म येषां परेति । तत्रेति वेदान्तविज्ञानश्रुतौ । सगुणेति । अत्र सगुणपदं मायोपाधिकब्रह्मपरम् । न तु विरुद्धधर्माधारपरम् । वेदान्तार्थानभीति । वेदान्तार्थ आचार्यप्रतिपन्नो ग्राह्यः । अत इति । पूर्वोक्तरीतिः । अत्रेति 'न कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धि'रिति सूत्रेण सह दर्शनसूत्रे । तैः शङ्कराचार्यैः । दिक्पदोपसन्धानेन गच्छतोयिमात्रस्थानिरूपणे परब्रह्मविषया गतिर्यां तत्र सर्वत्र गौणीति स्वोक्तं विस्मृतमिति गौण्या व्याख्यानेऽस्मदुक्तं दिङ्मात्रमित्याशयेनाहुः किञ्चेति । तैरपि शङ्कराचार्यैरपि । यदुक्तमित्यनेन संबध्यते । क्वचिदिति । सोमेन यजेतेत्यादौ गौणः शब्दः सोमेनेति । सोमवतेत्यर्थाद् दृष्टः । गौणीति । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत' इत्यत्र 'यतो वा इमानि भूता'नीत्यत्रात्मशब्दे गौणी यत इति शब्दे च गौणी तस्याः कल्पना अन्याय्या । विस्मृतमिति । 'तन्निष्ठ'स्येति सूत्रोक्ते मुख्ये फल आत्मनि गतिगौणीति वदन्निर्विस्मृतमित्यर्थः । अतो दिङ्मात्रमत्रोक्तं दूषणमिति भावः । आचार्येणेति । भगवता व्यासेन । वाक्याभासेति । निराक्रियन्त इति मुख्यक्रियापेक्षया प्रथमान्तं पदम् । कर्मण उक्तत्वात्प्रथमावहुवचनम् । आचार्यस्य व्यासस्य नास्माकं शङ्कराणां । तेन गच्छतः अग्रिमावस्था गौणीति परब्रह्मणा सर्वकामभोगेच्छवः कान्दिशीकाः तान्प्रति दिग्गेषा । अनया दिशा नित्यसर्वकामभोगः ब्रह्मप्राप्तेरग्रिमावस्थारूपायाः गच्छतो मुख्येति । तेन 'तस्मादस्माभिरेवोक्तपद्धत्या श्रुतिसिद्धया ।

ज्ञात्वा ब्रह्मस्वरूपं तस्यास्यै तद्भजताखिलाः' ॥ १ ॥ इति सिद्धम् ॥ १४ ॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १५ ॥

अपि च । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति सङ्क्षेपेणोक्त्वा, 'तदेषाभ्युक्तेति' तद्विवरिकां ऋचं प्रस्तुत्य, सोक्ता, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां

भाष्यप्रकाशः ।

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १५ ॥ एवं प्रासङ्गिकमतान्तरपरिहारेण जैमिनिमतस्यैव सिद्धान्तत्वमिति दृढीकृत्य प्रकृतं द्रवं पठित्वा व्याचक्षते अपि चेत्यादि । सोक्तेति । ऋगुक्ता । उपक्रमानुरोधेनेति । 'आप्नोति पर'मित्युपक्रमानुरोधेन । तथा च 'ब्रह्म गमयती'-त्यत्र परब्रह्म प्रापयतीत्येवार्थः । यतः परब्रह्मप्राप्तिमेव परमफलत्वेन 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्र श्रावयित्वा, 'सत्यं ज्ञान'मिति तद्विवरणं चिं परेण ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगलक्षणा प्रतिपत्तिरुच्यते इति । अतो हेतोः कार्यरूपे वस्तुमात्रे प्रतिपत्तिः । 'पद गता', पदनं पत्तिः, संसारगतिप्रतिकूलापत्तिः । गतिर्न कापि कार्ये श्रुतेरभिप्रेता, 'प्रजापतेः सभां वेदम प्रपद्य' इत्यत्रापि पूर्वं 'अथ इवे'ति मन्त्रे ब्रह्मलोकस्याकृतत्वं श्रावयित्वा, 'आकाशो वै नामेत्यत्र 'तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मे'ति नित्यस्यैव ब्रह्मणः श्रावणात् । पूर्वकाण्डेपि, 'यन्न दुःखेन सम्भिन्न'मित्यत्रात्मसुखस्यैव स्वर्गत्वेन श्रावणात् । अतोत्रापि ब्रह्मपदेनाक्षरं परब्रह्मैव गन्तव्यत्वेनोच्यत इत्यर्थः । इदमेव च मतं व्यासचरणानां सिद्धान्तीयत्वेनाभिप्रेतम् । एतदव्यवहितमेवाप्रतीकालम्बननयनविचारत् । अन्यथा तु वैपरीत्येन मतद्वयमुक्त्वा तत्र नयनं विचारयेदिति ।

अन्ये तु । 'प्रजापतेः सभां वेदम प्रपद्ये, यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञा'मिति छान्दोग्यशास्त्रात्सिद्धां श्रुतिमुदाहृत्य, नायं कार्यविषयः प्रतिपत्त्यभिसन्धिः सम्प्राप्तिसङ्कल्पः, 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते'ति परब्रह्मण एव प्रकृतत्वात्, 'यशोहं भवामी'ति सर्वात्मत्वानुक्रमणात्, 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश' इति ब्रह्मनामनिर्देशाच्चेति व्याकुर्वन्ति । भास्कराचार्यास्तु 'सगुणब्रह्मविद्याविषयैव गतिर्निर्गुणब्रह्मविदो गतिर्नोपपद्यते, परस्य सर्वगतत्वेन प्राप्तत्वात्; न हि गतविषया गतिरुपपद्यते' इत्येवं शाङ्करं मतमनूय, तदेवं दूषयन्ति । तथाहि । यदि निर्गुणविद्यासु गतिरनुपपन्ना, तर्हि सगुणास्वप्यनुपपत्तिस्तुल्या । तत्रापि सर्वगतस्यैव ब्रह्मण उपास्यत्वात् सर्वगतगुणानामाकाशीयपरममहत्परिमाणपृथक्त्वादिवत् सर्वगतत्वात् । किञ्च, अपहतपाप्मत्वादयः संसारविनिवृत्तिहेतवो यस्य गुणाः, स परमात्मेत्युच्यते, यस्यैते न सन्ति स संसारीति तद्भिन्नस्य परमात्मनः पराभिन्नत्वात् । अथ सत्त्वादिगुण-

रश्मिः ।

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १५ ॥ प्रतिपत्तिरिति । सर्वकामभोगलक्षणा । योगमाहुः पद गताविति धातुपाठे । संसारगतिप्रतिकूलापत्तिर्गतिर्ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगलक्षणा । अत्रापि । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्रेवात्र 'स एतांब्रह्म गमयती'त्यत्रापि । अन्ये त्विति । एकदेशविकृतन्यायेनान्यपदेन अन्याचार्योपादानम् । एवमन्यत्रापि । यशोहमिति । अशुद्ध्यात् । अशुत् इति यशः । अशे युद्धेति युद्ध असुत्प्रत्ययश्च । व्यापकोहं भवामीति सर्वात्मभावः । एवं राज्ञां च मध्ये यशो भवामीति । ब्रह्मक्षत्रविशां सर्वात्मभावः । सम्प्राप्तिसङ्कल्प इति । सङ्कल्पेन लेडादिप्रयोगो नियतः, आधुनिकसङ्कल्पे तथा दर्शनादिति । परब्रह्मण इति । आकाशशस्त्रिणादिति सूत्रे आकाशपदस्य ब्रह्मणि शक्त्युक्तेः । महद्यश इति यशो व्यापकम् । भास्कराचार्यमते अत्रैकदेशविकृतत्वाभावात्पृथक् तन्मतमनुवदन्ति स्म भास्कराचार्यास्त्विति । भेदाभेदादिनाः । तन्नि-

परमे व्योमन् । सोऽस्तुने सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति । अत्रो-
पक्रमानुरोधेन परेणैव ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगलक्षणा प्रतिपत्तिरुच्यते इति

भाष्यप्रकाशः ।

योगादमी गुणा आरोपिताः, न तु स्वाभाविकाः, तदापि तद्वत्तयोपास्यमानं सगुणं ब्रह्म तु नाब्रह्म
भवति । न ह्यारोपितलौहित्यगुणयोगे स्फटिकोऽस्फटिको भवति । न वा स्वाभाविकस्य प्रकाशस्य
प्रत्याख्यानेऽभिरनभिर्भवति । न वा द्रव्यप्रत्याख्याने गुणो नास्ति । वस्तुन उभयात्म-
कत्वात् । 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म,' 'आनन्दो ब्रह्मे'ति श्रुतेः । शतगुणितोत्तरक्रमेणानन्दप्रति-
पादनात् । यदि चैतन्यमात्रं ब्रह्म, तदा आनन्दगुणोपदेशोऽर्थकः स्यात् । न चाकस्मादर्थ-
वादत्वकल्पना युक्ता । यथाश्रुतग्रहणेऽनुपपत्त्यभावात् । अस्थूलादिश्रुतिस्तु प्रपञ्चनिराकरणपरा ।
'स एको ब्रह्मण आनन्द' इति त्वसाधारणो गुणोत्कर्षोपकर्षरहितो व्यपदिष्ट इति । यदि
च श्रुतं नाद्रियते, तदा अपवर्गोप्यर्थवादः किं न भवति । अत एव सर्वशक्तित्वं स्रष्टृत्वमि-
त्यादयः परस्यासाधारणा गुणा न केनचित् प्रतिषेधुं शक्यन्ते । गुणकृतं कार्यकृतं च नानात्वं
यद्दृश्यते, तदस्माकं न दोषाय, प्रत्युत्तालङ्काराय । भिन्नाभिन्नात्मकवस्तुरूपोगमात् ।
अतः सगुणनिर्गुणयोर्भेदस्यानुपपत्त्याद् ब्रह्मैकमेवेति सगुणविधावतोपि गतिरनुपपत्त्या ।
तस्यापि तद्गुणोपपत्तेः । न हि प्राप्तमेव प्राप्तव्यं भवतीति त्वदुक्तेनैव हेतुना गतिश्रुतयो रूपे
प्रवेशयितव्याः । किञ्च । संसारिणोपि स्वरूपतो गतिर्नोपपद्यते । तस्यापि लिङ्गशरीर-
गमनादेव गमनात् ।

ननु संसारी जीवो नाम परमात्मन आभास इति तस्य परिच्छिन्नत्वात् गतिरुपपद्यते
इति चेत् । कौयमाभासो नाम । किं वस्तुभूतोऽथावस्तुभूतः । यदि तावदवस्तुभूतः, तदा
तस्य स्वर्गापवर्गयोरधिकाराभावः, शशविषाणवत् । अथ वस्तुभूतः सर्वगतश्चेत्यभावः । अणु-
परिमाणत्वं मध्यमपरिमाणत्वं च भवता नेष्यते । यच्चाणुत्वं तदौपचारिकमिति लिङ्गगम-
नादेव गमनं पूर्वोक्तमभ्युपगन्तव्यम् । नचास्माभिरियं गतिः कल्पिता । श्रुतयोत्र प्रमाणम् ।
परविद्यासु च गतयो लभ्यन्ते । 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' इति । 'तद्येह
वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते । त एव पुनरावर्तन्ते तथोत्तरेण

रश्मिः ।

अस्येति संसारिभिरस्य । तद्ब्रह्मस्येति । आरोपितगुणवत्तया । प्रत्याख्यायान इति । अस्मादिना
प्रतिकूलाख्याने । नास्तिकमतेनाहुः न वेति । ते हि गुणातिरिक्तं द्रव्यं नेच्छन्ति । तदपि प्रतिषेधन्ति
स्व वस्तुन इति । उभयगुणद्रव्यं तदात्मकत्वात् । विज्ञानमिति । विज्ञानमानन्दौ गुणौ तद्वती
द्रव्ये । 'विज्ञानमानन्द'मित्यत्राशं आद्यच्च । तस्यापीति । सगुणविधावतोपि सगुणभावापत्तेः, आपत्तिः
प्रतिपत्तिः । स्वबुक्तेनेति । व्यापकत्वेन । किं वस्तिवति । अयथाभूत इति पदच्छेदः । तस्येति ।
जीवस्य । अभाव इति । अत्यन्ताभावः । भवनेति । शाङ्करेण । औपचारिकमिति । 'बुद्धेर्गुणे-
नात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्ट' इति । पूर्वोक्तमिति । जीवगमनम् । भवतां
भास्कराणां जीवव्यापकत्वादयं दोष इति तत्राहुः न चास्माभिरिति । श्रुतिप्रमाणवादिभिः । श्रुतय
इति । एकप्रमाणत्वावच्छिन्नाभिन्नबहुत्वावच्छिन्नाः श्रुतय इत्यर्थः । उत्तरेणेति । उत्तरायणेन ।

कार्यरूपे वस्तुमात्रे प्रतिपत्तिर्न कापि श्रुतेरभिप्रेता, अतोऽपि परमेव ब्रह्म-
पदेऽनोच्यते । ऋगर्थस्त्वानन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चित इति नात्रोक्तः ॥ १५ ॥

॥ इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे तृतीयं कार्यं बादरिरित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते, एतद्वै प्राणानामा-
यतनमेतदमृतमगयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनर्वर्तन्ते' इति प्रश्ने, गुण्डके च, 'सूर्यद्वारेण ते
विरजाः प्रयान्ती'ति । कठवल्लीषु च परविधाप्रकरणे, 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्य' इति ।
परविधायामेव चैतरेयके श्रूयते 'असाहोकादुत्क्रम्नामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाम्वा-
प्सृतः समभव'दिति । एवं तत्र तत्र गीतासु चाबुच्यनावृत्ती विभागेनोक्ते । 'अमृतत्वं हि मेजिर'
इति पुराणेषु च । ननु गतिश्रुतौ वाजसनेयके 'इहे'ति विशेषणादिह कल्पेनावृत्तिः कल्पा-
न्तरेऽस्यावृत्तिरिति चेत् । न । 'श्वोभूत' इतिवदनुवादात् । 'यथा राजस्ये ब्रह्मणो ग्रहे महिष्या
ग्रह' इत्येवमादिना 'द्वादश हवींषि प्रत्येकं कर्तव्यानीति विधाय श्वोभूते निर्वपे'दित्युक्तम् ।
तत्रैकस्मिन् कृते पुनरपि श्वोभूत इत्युपतिष्ठते तद्वत् । 'इह कल्प इह कल्प' इति सर्वकल्प-
व्याप्तिराकृतिनिर्देशात् । अपि चेह युगेवान्तरे कल्पे अन्यस्मिन् वेत्यनध्यवसानाद् आकृतिवादो
युक्तः । अर्थवादसमाप्तातानां ग्रहैकत्ववद् वाक्यभेदात् पदानावृत्तिर्विधीयते, युगपत् सर्वकल्पा-
नावृत्तिरेवावतिष्ठते । तत्रास्मिन्नेव कल्पे न कल्पान्तर इति अपरस्मिन्नर्थे विधीयमाने वाक्यभेदो
दुर्निवारः । यथा ग्रहं सम्मार्ष्टीति सम्मार्ष्टे विधीयमाने सर्वग्रहेषु प्राप्तिः । तत्रैकस्येति पुनर्वि-
धीयमाने वाक्यभेदः, तद्वद्वापि अनावृत्तिर्न विधीयते । तदानीमिहेति पदं किंविशेषणं स्यात् ।
तस्मादिहपदमनुवादः । अत एव कल्पानामिहपदं न पठ्यते । तस्मादचिरादिनां गत्वा परमा-
त्मनि लिङ्गप्रलयो न प्रागिति श्रुतिसामर्थ्यान्निधीयते । विद्याकर्माक्षिप्ता च गतिः संसारतरणी
युज्यते । सत्यलोकमतिक्रम्य कारणे ब्रह्मणि सूक्ष्मशरीरस्य कारणात्मना विलयः । तथा

रश्मिः ।

अचिरादिमार्गेणेति वा । अन्विष्येति ल्यबन्तम् । प्रश्न इति । प्रश्नोपनिषदि । विभागेनेति ।
धूममार्गाचिरादिमार्गविभागेन । अस्येति । जीवस्य । भाष्यत्वाच्छ्वोभूत इतिवत् पदं व्याख्यायते ।
यथा राजेति । ग्रह इति । पात्रविशेषे । तत्रेति । निर्वपेदित्युक्ते । तद्वदिति । कल्पान्तरेऽस्या-
नावृत्तिरित्यनुवादेनोपस्थितिः, न तु कल्पान्तरेऽस्यावृत्तिरित्यनुवादेन । आकृतीति । आकृतौ शक्तेः
इहेत्यस्य श्रौतस्यैकत्र शक्तेरनुवादः, नत्वननूदितस्य कल्पान्तरेऽस्यानावृत्तिरित्यस्य समर्पकत्वम् ।
आकृतिवाद इति । एकत्राकृतौ शक्तिं गृहीत्वान्यत्रानुवाद इति वादः । अर्थवादसमाप्तायेति ।
अर्थवादसम्भवादिनि भास्करभाष्ये पाठः । अर्थवादभूतत्वेन ग्रहैकत्वं यथा । पदानावृत्ति-
रिति । कल्पान्तरेऽस्यावृत्तिरित्यत्र । सर्वकल्पेति । सर्वकल्पेष्वनावृत्तिः सर्वकल्पानावृत्तिः । वाक्यभेद
इति । इह कल्पेऽनावृत्तिर्भवति, कल्पान्तरेऽस्यावृत्तिर्भवतीति वाक्ययोर्भेदः 'अर्थकत्वादेकं वाक्यं
साकाङ्गं चेद्भिन्नामे स्या'दिति मीमांसकोक्तवाक्यभेदः । 'एकतिङ्वाक्य'मिति वैयाकरणाः । सम्मार्ग
इति । सम्मार्गं सम्मार्जेन परसवर्णः । तत्रेति । सर्वेषु ग्रहेषु । अनुवाद इति अनुवादार्थम् । विद्या-

१. विधीयमाने ह्यन्तरे । २. अन्यस्मिन्नपि कल्पे विधीयमानावृत्तौ सोपि कश्चोवतिष्ठत इत्यर्थः । ३. कल्पत्व-
रूपजातिनिर्देशादित्यर्थः । ४. विशेषविशेषणत्वाभावेन तव मतेऽन्य विशेषणं स्यात् । तथा चान्य गतसङ्ख्यायाः
प्रविचक्षितत्वेन सर्वकल्पा नामेव प्राप्तिरित्यर्थः ।

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात्

तत्क्रतुश्च ॥ १६ ॥ (४-३-४)

क्रममुक्त्याधिकारिणः प्रारब्धं मुक्त्वाऽमानवेन पुरुषेण प्रापिताः परमेव ब्रह्म प्राप्नुवन्तीति सिद्धम् । तत्रेदं सन्दिश्यते अर्चिरादिलोकप्राप्तिसिद्धिर्मुक्त्याऽपानाविशेष-फलम् । एवं सत्यमानवः पुरुषस्तान् सर्वान् ब्रह्म प्रापयति, उत कांश्चिदेवेति । किमत्र युक्तम्, सर्वानेवेति । यतोर्चिरादिमार्गगतानामन्ते ब्रह्मप्रापणार्थमेव स नियुक्तः, ततोऽन्यथाकरणे हेत्वभावात्तथैव स कर्तेति प्राप्ते, उच्यते । श्रुतौ ब्रह्मत्वेनैव सर्वत्रोपासनाया उक्तत्वादुपास्येषु भगवद्विभूतिरूपत्वेन शुद्धब्रह्म-रूपेष्वप्यतथात्वं ज्ञात्वा श्रुतिर्ब्रह्मत्वनोपासनायाः फलसाधनत्वं वदति, न तूपास्ये ब्रह्मतामपीति मन्वाना य उपासते, ते प्रतीकालम्बना इत्युच्यन्ते । तथा च

भाष्यप्रकाशः ।

चाह, 'परैव्ये सर्व एकीभवन्तीति । 'पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं यन्तीति । यदुक्तं ब्रह्मलोके-ष्विति बहुवचनं नावकल्पत इति । तद्यद्यं ब्रह्मणि सङ्घाभावात् । एकत्वे बहुत्वं च पाशवहुत्ववदेव द्रष्टव्यम् । 'अदितिः पाशान् प्रष्टुमोक्ते ता'निति । तत्रैकस्मिन् पाशे बहुवचनं साधुत्वार्थं प्रयुज्यते । विभक्तेर्हि द्वावर्थौ, सङ्घा कर्मादयश्च । तत्राविबक्षितायामपि सङ्घायां सप्तमी निमित्तमात्रविबक्षयावकल्पते । ब्रह्म सर्वभोगनिमित्तं सर्वप्रपञ्चनिमित्तमिति निमित्तसप्तम्ये-वेत्यदोष इति ।

एवं भास्कराचार्यमतेपि भोगजनकारब्धेनैव गमनम् । ब्रह्मणि भोगस्तु ब्रह्मेच्छयैवेति फलति । तेन सिद्धान्तवदेवार्थः । गन्तुविचारे तु तन्मते जीवस्य व्यापकत्वादुपाधिगमनादेव गमनमिति भेदः ॥ १५ ॥ इति तृतीयं कार्यं बादरिरित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात् तत्क्रतुश्च ॥ १६ ॥ पूर्वाधिकरणसिद्धमनुवदन्तः प्रस्तूयमानभवतारयन्ति क्रमेत्यादि । तत्रेति । सिद्धे परप्राप्ति-रूपेण । सर्वानिति । तदुपासनावतः । पूर्वपक्षग्रन्थः स्पष्टः । सिद्धान्तं व्युत्पादयन्तः घञं व्याकुर्वन्ति उच्यत इत्यादि । अतथात्वं ज्ञात्वेत्यस्यैवार्थः श्रुतिर्ब्रह्मत्वेनेत्यारभ्य, मन्वाना इत्यन्तम् । तथा चातसिस्तत्वेनोपासनं प्रतीकमिति पूर्वं 'न प्रतीक' इति घञे उक्तम्, अतो ये तथोपासते ते तथा, तथा च सत्यपीति, प्रतीकालम्बनत्वे तेषां सत्यपि । तथा च यथा

रश्मिः ।

कर्मैति । पूर्वकाण्डेपि ग्रन्थकरणात्कर्मैति । आहेति श्रुतिराह । पाशवहुत्ववदिति । अदितिः पाशानिति वक्ष्यमाणपाशवहुत्वं तद्वत् । विभक्तेरिति । स्वादेः जातिव्यक्ती इति द्वावर्थौ । सङ्घेति । पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः । द्रव्यजातिसङ्घापरिमाणकारकाणि । तत्रेति । ब्रह्मलोकेष्वित्यत्र । अदोष इति । लोकेष्विति बहुवचनप्रयोगादोषः । ब्रह्मेच्छयैवेति । तन्मते भास्कराचार्यमते । भेद इति सिद्धान्ताद्भेदः ॥ १५ ॥ इति तृतीयं कार्यं बादरिरित्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात् तत्क्रतुश्च ॥ १६ ॥ मन्वाना इत्यन्तमिति । ननु ज्ञात्वेति भावप्रत्ययान्तं मन्वाना इति कर्तृप्रत्ययान्तमिति कथम-तथात्वं ज्ञात्वेत्यस्यैवार्थ इति चेत्प्रकृत्यर्थपर्यन्तमिति अर्थपदात्पूर्वं पूरणीयम् । मन्वाना इत्यत्र ज्ञाना-नुकूलव्यापारवन्त इति प्रकृत्यर्थो ज्ञानम् । तथा चेत्यादि । षडङ्गवेदस्य ज्ञेयत्वेन छन्दोवत्सूत्राणि

सत्यपि वेदविहितत्वेनोपासनायाः कृतत्वेन सफलत्वात् तत्फलत्वेनोपासकाना-मर्चिरादिलोकप्राप्तावपि तान् अमानवः पुरुषो ब्रह्म न प्रापयति, किन्तु शुद्धब्रह्मत्वं ज्ञात्वा य उपासते, तानेव ब्रह्म प्रापयतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । तत्र हेतुमाह उभयथा दोषादिति । वस्तुतो यद् ब्रह्मरूपम्, तत्राब्रह्मत्वनिश्चयः, उपासनार्थं च ब्रह्मत्वेन भावनम्, एवमुभयथाकरणे दोषः सम्पद्यत इति तस्य न ब्रह्मप्राप्तावधिकारोस्तीति युक्तं तदनयनमित्यर्थः । तथा च श्रुतिः । 'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चे'दिति, 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रति-पद्यते, किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणे'ति । एवं ज्ञानमार्गीयव्यवस्था-

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वकाण्डतात्पर्यं ब्रह्मणीत्यज्ञात्वा कर्मण्येव तात्पर्यमवधार्य तात्पर्यभ्रमेण यजतां स्वर्गाद्यन्तरं पुनरावृत्तिः, तथा अत्रापि प्रतीकालम्बनानां तात्पर्यभ्रमेण तथोपासनात्तत्तल्लोकमोगोत्तरमावृत्तिः, अथवा कार्यात्ययावधि तत्र वासः, न तु विधावलात् ततः पूर्वं मुक्तिरिति भगवत् आचार्यस्याशय इत्यर्थः । हेतुं व्याकुर्वन्ति वस्तुत इत्यादि । एतयोर्दोषत्वे मानत्वेन यथायथं श्रुतिद्वयमुदाहरन्ति तथा चेत्यादि । तेनात्रैतावदेव दोषावभिप्रेतावित्यर्थः । घञ्शेषं व्याकुर्वन्तव-तारयन्ति एवं ज्ञानेत्यादि । व्याकुर्वन्ति सर्वमित्यादि । अस्मिन् पक्षे लकारार्थव्यत्यय

रश्मिः ।

भवन्तीत्यभियुक्तोक्तेः सूत्रेष्वपि षडङ्गैरभिधेयनिर्णयादप्रतिकूलस्मरणालम्बनानित्यर्थो भवति । इडिका-वध्युपसर्गं न व्यभिचरत इत्यस्य छन्दसि विकल्पः । पुराणमते तु वक्ष्यमाणगारुडवाक्यादेवतादीनित्यर्थो भवति । तथा च श्रौते मते प्रतिकूलत्वं भ्रमविषयत्वमतसिस्तत्त्वेनोप समीपे स्थित्वा यथायोग्यान्त-र्गतस्मरणस्य करणमित्यर्थः । एकादशशुच्योधिन्त्यां 'उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणमुपासन'मि-त्युक्तम् । तथेति । अप्रतीकालम्बना इत्युच्यन्त इत्यर्थः । तेषामिति । उपासकानाम् । पूर्वकाण्डे-त्यादि । ब्रह्मणीति हरौ । अक्षर इति यावत् । 'वेदे रामायणे चैवे'त्युपक्रम्य 'हरिः सर्वत्र गीयत' इति वाक्यात् । 'अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तम'मिति वाक्याच्च । महानारायणे 'बह्विशिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः स हरिः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वरा'डिति श्रुतेः । तथाप्यत्राभिधा-वृत्तिः, न तात्पर्यमिति ब्रह्मणीत्यस्य स्वःपदास्पदे आत्मसुख इत्यर्थः । स्वर्गपदस्य लोके शक्तिः । स्वःपदास्पदे तात्पर्यमिति । तेन हिरण्यगर्भमोक्षरूपे ब्रह्मणीति जैमिनिमते मोक्षः फलं स्मारितम् । किं च । भक्तेस्तात्पर्यविषयत्वस्य पुरस्तादुक्तत्वेन तद्विषयस्यापि तात्पर्यविषयत्वम् । 'धर्मो यसां मदात्मक' इत्येकादशस्कन्धात् । अभिधा तु हीदमित्यतया धर्मेषु यागसृष्ट्यादिकर्तृत्वेषु न मदात्मके धर्मो इति । कर्मण्येवेति 'कर्मैके तत्र दर्शना'दिति जैमिनिसूत्रे एक इति पदात् कर्मण्येव यागादौ साध्ये तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वरूपं तात्पर्यमवधार्येत्यर्थः । कर्मपदं स्वसाध्ये स्वर्गे लाक्षणिकम्, फलभ्रमेण । स्वर्गादीत्यादिना वृष्टिप्रतिष्ठादि । तथोपासनादिति । प्रतीकत्वेनोपासनात् । तत्रेति । ब्रह्मलोके । तत् इति । ब्रह्मलोकवासात्पूर्वम् । आचार्यस्येति । व्यासस्य । तेनेति । श्रुतिबलेन श्रुतिद्वयेन वा । अवतारयन्तीति । न्यूनतारूपनिग्रहस्थानरूपदोषाभावाय तथेत्यर्थः । तेन तत्क्रतुर्विधा च नयतीति योजना नोक्ता । सर्वमित्यादीति । तस्येति भक्तस्य । एतदिति ।

सुकृत्वा भक्तिमार्गीयस्यापि तामाह तत्कृतुश्चेति । 'सर्वं मद्भक्तियोगेने'ति वाक्यात् तस्योपासनापेक्षेति न प्रतीकादिसम्भावना । तत्र 'कथञ्चित् यदि वाञ्छन्ती'ति वाक्यादिच्छामात्रेण तद्भोगकरणानन्तरं प्राचीनभगवद्भजनलक्षण-कृतुश्च नीयत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु भक्तस्याभानवपुमपेक्षाभावात् स्वयमेव ब्रह्म-लोकान् प्राप्नोतीति ज्ञापनाय प्रथमान्त उक्तः । ननु ब्रह्मणोधिकं न किञ्चिदस्ति । 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च हृदयत' इति श्रुतेः । एवं सति छान्दोग्ये सनत्कुमार-नारदसंवादे 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' इत्यादिना नामवाङ्मनःसङ्कल्पचित्तध्यान-विज्ञानादीनां ब्रह्मत्वेनोपासनमुत्तरोत्तरं पूर्वस्मात् पूर्वस्माद् भूयस्त्वं चोच्यते । अतो न ब्रह्मत्वं सर्वेषामुपास्यानां वक्तुं शक्यमिति चेत् । मैवम् । विभूतिरूपाणां नियत-फलदातृत्वाद् येन रूपेणाल्पफलदानम्, तत्राधिकगुणप्राकट्ये प्रयोजनाभावात् तावन्मात्रगुणप्रकटनम्, येन रूपेण ततोधिकफलदानम्, तत्र ततोधिकगुण-

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यरुच्या प्रकारान्तरमाहुः वस्तुन इत्यादि । तथा च ह्यत्रे नयतीति कर्तरि लट्प्रयोगात् तत्कृतु-रिति प्रथमान्तप्रयोगाच्चैवं ज्ञायते । यो ब्रह्मत्वेनाङ्गोपासनकर्ता, स तत्कृतुर्भक्तः सन् स्वयमेव स्वात्मानं भक्तिबलेन नयतीति न प्रयोगव्यत्ययोपीति । एतेन निबन्धे, 'सूर्यादिरूपवृग्ब्रह्मे'-त्यस्य प्रकाशे भक्तिद्वारा ज्ञानाङ्गत्वं यदङ्गोपासनस्योक्तम्, तत्समर्थितं ज्ञेयम् । उपास्यरूपाणा-मसत्त्वेन ज्ञानस्य तेष्वब्रह्मज्ञानस्य च यदोपत्वमुक्तम्, तत्र शङ्कते ननु ब्रह्मण इत्यादि । अतो न ब्रह्मत्वं सर्वेषामुपास्यानामिति । न्यूनत्वरूपाद् बाधकाद् न ब्रह्मत्वं भूयस्त्विति-रिक्तानामुपास्यानाम् । तथा च तेषां ब्रह्मत्वस्य बाधितत्वात्तेष्वसत्त्वात्ब्रह्मत्वज्ञानयोर्न दोषत्वमिति पूर्वोक्तः छत्रार्थोऽसङ्गत इत्यर्थः । तत्र समादधते मैवमित्यादि । तथा च 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'-मिति श्रुत्या ब्रह्मणोनन्तररूपत्वात्तन्मादिषु रूपेषु लीलाार्थमिच्छया न्यूनाधिकगुणप्राकट्येन न्यूनाधिकभावेपि ब्रह्माभिन्नत्वाद् ब्रह्मणश्चेत्त्वाच्चै रूपैर्न ब्रह्मणः समाभ्यधिकराहित्यहानिः, यथा विस्फुलिङ्गानां न्यूनाधिकभावेन नाशः, यथा च विस्फुलिङ्गानां तथात्वेपि तेषां नाशित्वहानिः, तथेति तेषां ब्रह्मत्यानपायात्तथात्वेज्ञानयोर्दोषत्वमशुष्णमिति पूर्वोक्तं छत्रव्याख्यानं साध्वे-वेत्यर्थः । ननु तेषु किमिति ब्रह्मरूपत्वाग्रहः क्रियते, यथा प्रतिमायां शालग्रामे गुरौ च देव-बुद्धिमात्रेण पूजया फलसिद्धिः, शास्त्रप्रामाण्यात्, तथोपास्यरूपेणैव कुतो नाद्रियत इत्यत-रश्मिः ।

एतस्य समीपतरवाक्योक्तस्य भोगस्य करणानन्तरम् । प्राचीनेत्यादि । भक्त इत्यर्थः । लकारार्थे इति । कर्तरि लकार इति लकारार्थः कर्ता, नयतीत्यत्र तस्य व्यत्ययो नाशः कर्मणि लकारेण नीयत इत्यनेन । भूमव्यतीति । 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'ति परब्रह्मैक-लक्षणात् तद्व्यतिरेक उक्तः । तथात्व इति न्यूनाधिकभावे । तथेतीति । दाष्टान्तिकेपि तथेति । तेषां उपास्यानाम् । शालग्राम इति । शालग्राम शब्दोपि । 'सूर्योमि'रित्येकादशे वाक्यम् । संग्रह इति । किं च द्वितीयाध्याये तर्कपादे कापालिकमतम् । आत्मानो मुक्तिदशायामश्मानो भवन्ति शैली प्रतिमात्मा । 'शिलाबुद्धिर्न कर्तव्ये'तिवाक्यात् । प्रतिमा सच्चिदानन्दरूपत्वप्रति-पादकवाक्याच्च । 'तदश्मसारं हृदय'मिति श्रीभागवते । हृदि अयं हृदयमिति छान्दोग्ये । सप्तम्या

प्रकटनमिति पूर्वस्मादाधिक्यमुच्यते । एवमेव सर्वत्र । नियतफलदानं तु स्वतन्त्रे-च्छत्वाङ्गीकाररूपमिति नानुपपन्नं किञ्चित् । प्रतिमादिष्वावाहनेन सन्निहिते विभूतिरूपे तद्भावनं पूजामार्गे । भक्तिमार्गे तु भक्त्या तत्र प्रकटे तथा । गुरौ तु, 'शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मणी'ति विशेषणवत्त्वेन भगवदावेशात् तत्र तद्भावन-मिति सर्वमवदातम् । अपि च बादरिजैमिनिमतोक्त्यनन्तरं स्वमतोक्त्या तत्समानविषयत्वमत्रापीत्यवगम्यते । तत्र च कार्यब्रह्मलोकप्राप्तिपरब्रह्मप्राप्ति-विषयत्वमुक्तं पूर्वोत्तरपक्षभेदेन । बादरिमते सविशेषस्यैवोपास्यत्वाद्द्विशेषाणां वाविद्यकत्वादुपासनाणां सर्वासां प्रतीकतद्रूपत्वमेव सिध्यति । एवं सति 'अप्रती-कालम्बनान्नयती'ति वदता व्यासेन बादरिमतानुसारिण उपासकस्य न कस्यापि ब्रह्मप्राप्तिरिति ज्ञाप्यते । वस्तुतस्तुपासनायामुपास्यस्वरूपज्ञानस्याप्यङ्गत्वात्-न्मतीयानामुत्करीत्या तदभावेन निरङ्गत्वादादिप्राप्तिरपि न सम्भवति, किं पुन-र्ब्रह्मण इति निगूढाशयो व्यासस्य । एवं सति परप्राप्तावेवोपोद्गलकमुक्तं भवतीति सैव व्यासाभिमतमिति सिद्धम् । ये तु प्रतीकेष्वब्रह्मकृतुत्वं वदन्तः पञ्चाग्निविद्या-यास्तथात्वेपि वचनवलात्तद्वतो ब्रह्मप्राप्तिरिति वदन्ति, तत्रेदमुच्यते । वचनं तु वस्तुसतः पदार्थस्य बोधकम्, न तु कारकम्, अतस्तत्त्वेद् बोधयति तथा

भाष्यप्रकाशः ।

आहुः प्रतिमादिष्वित्यादि । अत्रादिपदेन 'सूर्योमिर्ब्राह्मणा गाव' इत्याद्युक्तानां पूजापदानां संग्रहः । आवाहनेन सन्निधानं च 'अप्स्यौ हृदये सूर्ये' इत्याद्युक्तस्य नित्यसन्निधानस्याप्युप-लक्षकम् । तथा च प्रतिमादिष्वपि शास्त्रप्रामाण्यात् कथञ्चन तत्तद्रूपसन्निधानमेव तत्तत्फल-दानादिप्रयोजकम्, न तु बुद्धिमात्रम्, अतः शास्त्रादेव तथा आग्रह इत्यर्थः । अत्रार्थिद्वय-मतोक्त्यनन्तरं स्वमतकथनस्य तात्पर्यं स्फुटीकुर्वन्ति अपि चेत्यादि । प्रतीकतद्रूपत्वमिति । प्रतीकोपासनरूपत्वम् । एवं सतीत्यादि । ब्रह्मणः प्रतीकालम्बनाप्राप्त्यत्वे अङ्गरूपालम्बनप्राप्त्यत्वे च सति । अप्रतीकालम्बननयनकथनं परप्राप्तावेवोपोद्गलकत्वेन सिद्ध्यतीति सैव तथेत्यर्थः ।

अत्र शाङ्करमतमनुवदन्ति ये त्वित्यादि । तद्वत् इति पञ्चाग्न्युपासकस्य । तद्वपयन्ति तत्रे-त्यादि । तस्मिन् मते वक्ष्यमाणं दूषणमुच्यते । विधिभिन्नं वचनं वस्तुसतः पदार्थस्य बोध-रश्मिः ।

लुक । अयमात्मा । अप्स्वग्राविति । इदं धर्मशास्त्रग्रन्थे कस्मिंश्चिद्विहितं द्रष्टव्यम् । तत्तद्रूप-पेत्यादि । भाष्ये । ननु विभूतिरूपत्वेपि नियतफलदाने अनियतफलदानोपरोधज्ञानन्द-स्वरूपैकरसत्वविरोधस्तु स्यात्, अत आहुः सर्वत्र । नियतेति । तद्भावनमिति स्नेहभावनम् । भक्तयेति । 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इति वाक्याद्भक्त्या प्रकटे । तरतमभावो भक्तौ द्रष्टव्यः । भक्तिमार्गस्य बहुविधत्वेन भावभेदात् । शाब्द इति । शाब्दे परे च ब्रह्मणि निष्णातं गुरुमित्येवं विशेषणवत्त्वेनेत्यर्थः । तद्भावनं भगवद्भावनम् । 'तस्मादात्मज्ञं ह्यन्यैर्दूतिकाम' इति श्रुतेः । बुद्धिमात्रमिति । अत्रह्युपासनादौ तत्तत्फलदानादिप्रयोजकम् । तथाग्रह इति ब्रह्मरूपत्वा-ग्रहः । ऋषिद्वयेति जैमिनिवादरिरूपार्थिद्वयमित्यर्थः । स्वमनेति बादरायण इति सौत्रपदाद् बादरा-यणमतकथनस्य । अपि चेत्यादीति । निगूढेति नितरां गूढा वासना । सैवेति परप्राप्तिरेव ।

‘अप्रतीकालम्बनान्नयती’ति व्यासोक्त्यविरोधाय तत्राप्यप्रतीकत्वमूरीकार्यम्, अन्यथा पञ्चाग्निविद्यानिरूपिकां श्रुतिं पश्यन्नेवं स न वदेत् । न चोत्सर्गिकं पक्षमाश्रित्य तथोक्तमिति वाच्यम् । तस्य बाधकापनोद्यत्वाद्ब्रह्मचनस्य चोक्तन्यायेनाबाधकत्वात् । यत्र वचनस्य बाधकत्वमुच्यते, तत्र बाधबोधकत्वमेव, न तु तथात्वमित्युपेक्षणीयास्ते । ननु मनःप्रभृतीनां शुद्धब्रह्मत्वे मनो ब्रह्मोपास्त इति वदेत्, न तु प्रकारवाचीतिशब्दशिरस्कं ब्रह्मपदम्, अत उपासनाप्रकारावच्छेदकत्वमेव ब्रह्मपदस्य, न तु स्वरूपनिरूपकत्वमिति चेत्, हन्तेदं शब्दार्थानवगम-

भाष्यप्रकाशः ।

कम् । यथा ब्रह्मविदामेति परमित्यादिवाक्यम् । न तु कारकम् । यथा ज्योतिष्टोमादिवाक्यम् । अतस्तत्पञ्चाग्निविद्यासमातिवाहिकवाक्यं चेद् ब्रह्मप्राप्तिं बोधयति, तदैतद् व्यासोक्त्यविरोधाय पञ्चाग्निविद्यायामपि, ‘मूर्धैव सुतेजा’ इत्यादिश्रुतेर्लोकादीनां ब्रह्माङ्गत्वादित्यादिमति सूत्रव्याख्यातरीत्याङ्गविद्यात्वेनाप्रतीकत्वमूरीकार्यम् । अन्यथैतां श्रुतिं पश्यन् व्यास एवं रश्मिः ।

तथेति । परप्राप्तविवेकोद्बलकमुक्तं भवतीत्यर्थः । व्यवहारे वयं भाट्टा इति वदतां शांकराणां मतेनाहुः विधिभिन्नमित्यादि । विधिभिन्नमर्थवादवचनं न स्वार्थं प्रमाणमिति वस्तुसतः पदार्थस्याबोधकमित्यर्थः । परं त्वये अन्वयाभावाद् भाष्ये वस्तुसतः पदार्थस्य बोधकमिति भाष्ये पाठः, वस्तुसतः पदार्थस्य बोधकमिति भाष्यप्रकाशेऽपि पाठः । तथा चार्थवादवचनं विधिभिन्नं ब्रह्मणवद्बोधकमिति स्वमतेऽर्थः । शब्दात्सृष्टिरिति कारकत्वं वाक्यस्य प्राप्तं तन्निषेधन्ति स्म न तिष्ठति । अदर्शनादिति भावः । विध्यर्थवादयोरविशेषात्स्वमतेनाहुः यथा ज्योतिरिति । अतस्तच्चेदिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतस्तत्पञ्चाग्नीति । आतिवाहिकेति । ‘तत्सुखो अमानवः स एनान् ब्रह्म गमयती’ति वाक्यम् । तदैति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तदैतद्व्यासोक्तीति । अप्रतीकालम्बनान्नयतीति व्यासोक्त्यविरोधाय । तत्रापीत्यस्यार्थः पञ्चाग्निविद्यायामपीति । मूर्धैवेति । छन्दोग्ये प्राचीनशाल औपमन्यव इत्यारम्भके प्रपाठकेऽस्ति । वैश्वानरविद्यायामस्ति ‘तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वत्सर्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादाबु एव वेदिलोमानि बहिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोन्वाहायंपचन आस्यमाहवनीय’ इति । अर्थस्तु प्राचीनशालो नामतः उपमन्योरपत्यं औपमन्यवः । सुतेजाः शोमनतेजाः द्यौः शुक्लीलादिसर्वरूपत्वाद्धिवरूप आदित्यः । पृथग्वत्सर्मात्मेति पृथग्मानाविधानि अभिमुखागमनऊर्ध्ववहनानि वर्त्मानि यस्य स एवात्मा स्वभावो यस्य । पृथग्वत्सर्मा धूमादिवत्सर्मा वह्निः स आत्मनि यस्य तयोरिति वा । सर्वगतत्वाद्बहुल आकाशः स सन् देहः आत्मनः शोमनो देहः । रयिः आपः बस्तिः नाभेरधस्तादलाबु-सदृशमधोनालमनेकच्छिद्रं सूत्रभाजनं बस्तिरित्युच्यते । सन्देहः शरीरमध्यभाग इति । पृथिव्येव पादाविति स्पष्टम् । अथ भूमिकापूर्वकमग्निहोत्रं सम्पादयिष्यन्नङ्गविद्यामाह । उर एव वेदिरिति तस्य वैश्वानरस्य भोक्तुर एव वेदिराकारसाम्यात् । लोमानि बहिर्वैद्यामिवास्तीर्णत्वात् । हृदयं गार्हपत्यः मनोऽग्निप्रणयनहेतुत्वसाम्यात् । हृदयाद्धि मनः प्रणीतमिवानन्तरं भवति । मनोन्वाहार्थपचनो दक्षिणाग्निः पचनहेतुत्वसाम्यात् । आस्यमाहवनीयोभिः हूयतेऽस्मिन्नमित्याहवनीयः । मुखेऽप्यन्नं हूयत इति साम्यादिति । तदुक्तेति ग्रन्थोक्तप्रतीकलक्षणभावात् । अन्यथेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म अन्यथैतामिति । एतामिति वैश्वानरविद्यानिरूपिकां साधारणनयनसम्बन्धिनीम् । एवमिति । अप्रतीक-

भाष्यप्रकाशः ।

न वदेत् । न च बाधकापनोद्यस्य नियमस्योत्सर्गत्वेन तत्क्रतुन्याये तं पक्षमाश्रित्य व्यासेनाप्रतीकालम्बननयनगुक्तमित्युद्योद्य पक्षबोधकत्वात् तद्विरोध इति वाच्यम् । औत्सर्गिकपक्षस्य बाधकापनोद्यत्वात् । प्रकृते च तत्क्रतुवाक्यस्य सामान्यतः क्रतुप्रकारफलप्रकारतौल्यनियमबोधकतया पञ्चाग्निवचनस्यापि ब्रह्माङ्गद्वारा ब्रह्मणो ब्रह्मप्राप्तेश्च बोधकत्वाद् विधिभिन्नवचनान्तरन्यायेन तत्क्रतुविशेषरूपतया ब्राह्मणश्रमणन्यायेनाबाधकत्वात् । न च विधिभिन्नवाक्यस्थले बाध्यबाधकभावानादरणे वाक्ययोर्बाध्यबाधकभावप्रसिद्धिविरोधप्रसङ्ग इति शङ्क्यम् । यत्र वचनस्य बाधकत्वमुच्यते, तत्र बाधबोधकत्वमेव, न तु बाधकत्वम् । विधिभिन्नवाक्यस्य कारकत्वाभावात् । न चानिवृत्त्यप्रसङ्गः । बाधबोधादेव तत्सिद्धेः । तस्मात्तन्मते तत्क्रतुश्रुतिबाधकल्पनम्, तत्क्रतुरश्मिः ।

विशेषनयनं न वदेत् । न चोत्सर्गिकमिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म न चेत्यादि । श्रुत्योर्विरोधे विकल्प इति मन्तुकेः । पञ्चाग्निविद्याश्रुतेः साधारणत्वेनैवान् गमयतीति सकलगतिप्रतिपादिकायामुत्सर्गतः । सामान्यतो विशेषो बलीयानिति बाधकापनोद्यस्य नियमस्योत्सर्गत्वं सामान्यन्यायत्वं तेनेत्यर्थः । तेन भाष्ये औत्सर्गिकमित्यत्र स्वार्थं औणादिः प्रत्ययः उत्सर्गेण न भिद्यते इत्यौत्सर्गिकं तं पक्षं तत्क्रतुन्याये आश्रित्य । अप्रतीकालम्बननयनं विशेषबलीयोरुपमुक्तम् । अपोद्येति पञ्चाग्निविद्यास्यगतिवाक्य अपोद्यस्य उत्सर्गपक्षस्य बोधनात् । न तद्विरोध इति पञ्चाग्निविद्यावाक्यात्सामान्यतः प्रतिपादकात् विशेषबलीयसो व्यासवाक्यस्याप्रतीकालम्बननयनस्य विरोधः । औत्सर्गिकपक्षस्येत्यादि । भाष्यीयस्य तस्येत्यस्यार्थः । बाधको बलीयान्विशेषस्तदपनोद्यत्वात् त्वदुक्तरीत्या । तत्क्रतुवाक्यस्येति । तत्क्रतुः स्वयमेव ब्रह्मलोकान्नयतीति वाक्यस्य । सामान्यत इति विशेषालोचनरहितदशायाम् । फलप्रकारः ब्रह्मलोकानित्युक्तः । सूत्रस्य छन्दस्कत्वात्त्रियमपदम् । वचनस्येति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म पञ्चाग्नीत्यादि । सामान्यतो बलीयो विशेषो निरूप्यते । चकारोक्तसमुच्चय इत्यास्येनोक्तसामान्यतो विशेषमाहुः ब्रह्माङ्गैति । ब्रह्मलोकानित्यत्र गोकुलाष्टकोक्तरीत्या ब्रह्मलोकगोकुलास्याङ्गस्य द्वारा ब्रह्मण इत्यर्थः । उक्तन्यायेनेति भाष्यविवरणं विधिभिन्नेत्यादि । अयं न्यायोत्रैव पूर्वमुक्तः प्रकाशे । तत्क्रत्विति ‘स एनान्ब्रह्म गमयती’ति ब्रह्मणः अधोक्षजत्वेन ब्रह्माङ्गद्वारा ब्रह्मणः तथा ब्रह्मप्राप्तेश्च तत्क्रतुविशेषरूपतया ब्राह्मणश्चेच्छ्रमणः श्रमशीलः अनेन न्यायेन तत्क्रतौ सामान्ये विशेषस्य ब्रह्माङ्गद्वारा ब्रह्मसम्बन्धित्वस्य ब्रह्मप्राप्तिसम्बन्धित्वस्य च बोधनेनाबाधकत्वात् । न हि दग्ना जुहोतीति यद्वि गुणं विदधत् यागे यागबाधकं भवति तद्वत् । यत्र वचनस्येति भाष्यं विवरीतुमाहुः न च विधीति । अर्थवादस्थले ‘श्रुत्योर्विरोधे विकल्प’ इति मन्तुकेर्विकल्पादरणेन बाध्यबाधकभावानादरणे । विवृण्वन्ति स्म यत्र वचनस्येति । मन्तुकेपि यत्र वचनस्य बाधकत्वमुच्यते, वचनं बाधकमुच्यते । तत्रेति पयोव्रते न वृतयतीत्यत्र बाधकं वचनमुच्यते पूर्वमीमांसयां अजीर्णिसम्भवे न वृतयेदिति । बाधकत्वमिति तथात्वमित्यस्य भाष्यस्यार्थः । विधिभिन्नस्येति । विधिवाक्यस्य तु कारकत्वम्, विधिप्रयुक्तो अहं करोमीति प्रत्ययात् । न चेत्यादि । कारकत्वाभावेपि बाधबोधनान्तरमजीर्णिसंभवेपि पयोव्रताच्छ्रुतादनिवृत्तेरप्रसङ्गः । अनिवृत्तिप्रसङ्गस्य प्रतियोगित्वस्य विवक्षणात्तदुच्यते । तत्सिद्धेरिति पयोव्रतान्निवृत्तिप्रसङ्गसिद्धेः । उपेक्षणीयत्वे हेतुं वदन्तः सिद्धमाहुः तस्मादिति । बाध्यबाधकभावप्रसिद्धिविरोधप्रसङ्गाभावात् । तत्क्रत्विति । तत्क्रतुश्रुतेः सूत्रीयतत्क्रतुश्रवणस्य निरपेक्षवरूपस्याब्रह्मकतौ पञ्चाग्निविद्यायां बाधकल्पनम् । तत्क्रत्विति । तत्क्रतु-

भाष्यप्रकाशः ।

पञ्चाभिवाक्ययोर्बाध्यबाधकभावकल्पनम्, व्यासे तच्छ्रुत्यविचारापादनम्, पुनरौत्सर्गिकपक्ष-
बोधकतया तद्विचारकल्पनमिति चतस्रः कल्पनाः । असन्मते तु तत्कृतुपञ्चाभिवाक्ययो-
सामान्यविशेषभावेन समानविषयत्वमात्रं कल्पनीयमिति लाघवम्, अतस्तन्मतं गुरुत्वादुपेक्ष-
णीयमित्यर्थः । पञ्चाभ्यादिविधानां ब्रह्मविद्यात्वे शङ्कते ननु मन इत्यादि । तद्व्ययन्ति हन्तेः
दमित्यादि । पूर्वमुक्तमिति । इतिशब्दशिरस्कवाक्यकथनात् पूर्वमुक्तम् । सर्वत्रेति । अत्र-
त्यवाक्यान्तरे प्रकरणान्तरीयवाक्ये च । तथा च तैत्तिरीये, 'येन ब्रह्मोपासते', 'ये प्राणं ब्रह्मो-
पासते', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्', 'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेदे'ति वाक्येषु इतिशब्दशिरस्कताया
अदर्शनात् 'मनो ब्रह्मेत्युपासीते'त्यादावितिशब्दस्य हेत्वर्थतैव युक्त्यर्थः । ननु मनआद्युपासनासु
ब्रह्मकृतुत्वमसङ्गतम्, बृहदारण्यकोपान्तभागे 'अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुः तन्न तथा पृथति वा
अन्नम्, क्रते प्राणात् प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुः, तन्न तथा शुष्यति वै प्राण क्रतेन्नादेते ह वै देवते
एकधा भूयं भूत्वा परमतां गच्छत' इति तयोर्ब्रह्मचनिराकरणात्, पञ्चाभिधिवाक्यामपि पुरुष-
योपयोर्लौकिकयोरेवाभिव्यक्तत्वात्, एवं छान्दोग्ये मनसोप्यन्नमयत्वश्रावणात् तेषु भगव-
द्विभूतित्वस्य वक्तुमशक्यत्वादिति चेत् । मैवम् । बृहदारण्यकवाक्ये भौतिकयोरेवाभ्युपगमः ।

वाक्यं सामान्यं बाध्यम्, पञ्चाभिधिवाक्यान् विशेषरूपं बाधकम्, न तु विशेषबोधकम्, अतः
पञ्चाभिवचनेन विशेषणबाध्यबाधकभावकल्पनम् । समते तु पञ्चाभिवचनस्य तत्कृतुविशेषरूपत्वम् ।
व्यास इति । तच्छ्रुत्याः पञ्चाभिधिवाक्यां 'स एनाम्ब्रह्म गमयती'त्यस्याः विचारापत्तिः, प्रसङ्गेऽ-
विचारितत्वात् । पुनरिति । तथा च तद्भाष्यम् 'तदभावे त्वौत्सर्गिकेण तत्कृतुन्यायेन ब्रह्मकृतुनामेव
तथासिर्नैरेषामिति । ब्रह्मकृतुत्वाभावे त्विति तदभावे त्वित्यस्यार्थः । तथा च पुनरुत्तरसूत्रे ।
तद्विचारेति । प्रासङ्गिकं विशेषविचारं त्यक्त्यौत्सर्गिकविचारकल्पनम् । अग्रिमसूत्रे शङ्करभाष्ये
यत्तदत्रैव चिन्तयन्ति स्म, अग्रिमे विषयान्तरसत्त्वात् । प्रासङ्गिकपञ्चाभ्यादीनां पुरुषोत्तमाप्रापकत्वेपि
ब्रह्मलोकप्रापकत्वात् । पञ्चाभ्यादीति । ब्रह्मविद्यात्व इति ब्रह्मविद्यात्वार्थम् । न त्विति ।
छान्दोग्ये नारदसनत्कुमारसंवादे नवमप्रपाठके 'मनो ब्रह्मेत्युपासते' इति प्रकारवाचीतिशब्दशिरस्कं इति-
शब्दप्रधानं न तु वदेदित्यर्थः । ननु शङ्करभाष्ये नामादिषु च प्रतीकोपासनेषु पूर्वस्मात् पूर्वस्मात्फल-
विशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयतीत्युक्तम्, अत्र तु नामवाची विद्यायार्थमनःप्रभृतीनामित्युक्तं
तत्कृतु इति चेन्न नामवाचीनित्यत्वेन शब्दब्रह्मत्वाद्यर्थविषये तयोरुपयोगाभावात्, स्पष्टत्वाच्च ।
भाष्ये उपासनाप्रकारेति उपासनाप्रकारेषु अवच्छेदकत्वम् । सप्तमी शौण्डैरित्यत्र सप्तमीति
योगविभागात्समासः । अर्थादुपासनाप्रकारे विषयतयावच्छेदकत्वम् । मनस्यब्रह्मणि ब्रह्मेति । मनो
ब्रह्मेति । प्रकृते हन्तेत्यादीति । हन्त इति खेदे । अत्रत्येति छान्दोग्यीयनवमप्रपाठकस्य
'सङ्कल्पो वा व मनसो भूया'नित्यादौ 'चित्तं वा सङ्कल्पाद्भूय' इत्यादौ । 'ध्यानं वा व चित्ताद्भूय'
इत्यादिषु च । प्रकरणान्तरीयवाक्यमुदाहरन्ति स्म तथा च तैत्तिरीय इति । तन्न तथेति ।
तत्तथा न ग्रहीतव्यम् । अन्नं पृथति क्लिषते वै प्राणाधते, प्राणो न क्लिषते इति प्राणो ब्रह्मेत्येक
आहुः । तदपि न तथा न ब्राह्मम्, अन्नाद्ये प्राणः शुष्यति । ब्रह्म तु क्लेदशेषवर्जितम् । एवमेवैकस्य
ब्रह्मत्वानुपपत्तेर् एते एव तु देवते अन्नप्राणलक्षणे एकधाभूयं एकभावं भूत्वा गत्वा परमतां परमत्वं
गच्छतो ब्रह्मत्वं प्राप्नुतः । तयोरिति पृथग्भूतयोः । अन्नमयत्वेति । 'अन्नमयं हि सोम्य मन' इति

विजृम्भितमेव, यतो 'मन उपास्वे'त्युक्त्वा तदुपासनाफलं 'यावन्मनोगतं
तत्रास्य कामचारो भवती'ति वदिष्यंस्तदुपासनाया एतत्फलसाधकत्वे प्रयोजक-
रूपाकाङ्क्षायामाह 'मनो ब्रह्मे'ति । इतिशब्दोऽत्र तदुत्तवाची । तथा च यतो मनो
ब्रह्म, अतो हेतोस्तदुपासनं तादृक्फलसाधकमित्यर्थः । अत एव, 'मनो हि ब्रह्म
मन उपास्वे'ति पूर्वमुक्तम् । सर्वत्रैवमेव ज्ञेयम् ॥ १६ ॥

॥ इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे चतुर्थमप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

स्वीभावशोषणत्मकदोषदर्शनेन ब्रह्मता निराक्रियते, न तु श्रुत्योपास्यत्वेनोक्तयोः । तत्रै-
तयोर्दोषयोः काप्यसिद्धत्वात् । प्रत्युत तैत्तिरीयके, 'अद्यतेति च भूतानी'त्यन्नप्रशंसाश्लोके
प्रसिद्धविरुद्धस्यापृत्वस्य प्राणश्लोके, 'तस्मात् सर्वाद्युपमुच्यते' इति सर्वाद्युपुल्लेख, मनःश्लोके,
'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वा'दिति ब्रह्मानन्दरूपत्वस्य च धर्मस्य श्रावणेन, बृहदारण्यकीये, 'तन्न
तथे'ति वाक्ये तद् अन्नप्राणयोर्ब्रह्मत्वं न तथा, न तदुक्तप्रकारेण, किन्तु श्रुत्युक्तप्रकारेणेत्यर्थस्य
उभयमानत्वाच्च । एवं पञ्चाभिधिवाक्ययोपारुषयोरपि भगवद्विभूतिरूपयोरेवोपास्यत्वं ज्ञेयम् ।
'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः प्रभवन्ति याः । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिते'ति गीता-
वाक्ये तासां तत्तदुत्तराणां मूर्तीनां तत्तत्कारणभावापन्नयोः प्रकृतिपुरुषयोर्मोतापिष्टभावेन
कथनात् । देवकृतेरौन्नहोमस्य तत्रैव युक्तत्वाच्च । 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स' इति
छन्दे तथैव सिद्धत्वात् । अन्तर्गामिब्रह्मणो, 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तित्यादिश्रावणाच्चेति । तस्मा-
न्नासङ्गतिलेश इति दिक् । तेन यत्रोपास्यविशेषणतया ब्रह्मपदमुच्यते, यत्र वा ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलम्,
अन्यद्वा ब्रह्मत्वगमकं तात्पर्यलिङ्गं लभ्यते, तत्र तस्या उपासनाया अप्रतीकत्वमिति बोध्यम् ।

एवमत्र चतुर्भिरधिकरणैः सप्रकारा गच्छद्ब्रह्मविद्यवस्थोक्ता । अत्रे तु प्रासङ्गिकमुच्यते ।
ज्ञानिभक्तयोर्गमने प्रकारविशेषदर्शनेनाकाङ्क्षाविशेषोदयादिति ॥ १६ ॥

इति चतुर्थमप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥ ४ ॥

रश्मिः ।

श्रुतेः । श्रुत्येति बृहदारण्यकश्रुत्या । उक्तयोरिति तैत्तिरीयोक्तयोः । तत्रेति तैत्तिरीये । दोषयोरिति
शोषकेदनयोः । प्रशंसतेति । 'अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते अद्यतेति च भूतानि तस्मादन्नं
तदुच्यते' इति श्लोके । असदुत्कर्षाधायकं गुणवर्णनं प्रशंसा । पूर्वार्थे स्फुटा । उत्तरार्धेऽपदनि-
र्वचनम् । भूतैरद्यते अदन्ति च भूतानीति । यद्वा उत्पत्तिस्थितिसमभिव्याहारादन्नेन भूतानि
अद्यन्ते अन्नं भूतान्यतीति लय उक्तः । तस्माज्जगन्नन्मादिकर्तृत्वात् । अत एव आहुः प्रसिद्धेति ।
प्राणश्लोक इति । 'प्राणं देवा अनुप्राणन्ति, मनुष्याः पशवश्च ये, प्राणो हि भूतानामायुः,
तस्मात्सर्वायुषमुच्यते' इति प्रशंसाश्लोके । मनःश्लोके 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचने'ति प्रशंसाश्लोके । तदुक्तेति मायावाद्युक्तेन प्रकारेण ।
ननु मायावादिश्रुतिविचारं केति चेन्न । 'अनागतमतीतं चे'ति वाक्यात् । असङ्गतीति । मन-
आद्युपासनासु ब्रह्मकृतुत्वासङ्गतिः तस्या लेशः । उपास्यविशेषणेति । ब्रह्माहमस्मीत्यत्र यथा ।
ब्रह्मप्राप्तिरूपमिति । 'ब्रह्मविदामोति पर'मित्यत्र । ब्रह्मत्वगमकमिति । 'सर्वाणि ह वा भूतानि
आकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ती'त्यत्र ब्रह्मत्वगमकं जगन्नन्मादिकर्तृत्वं आकाशपदस्य
ब्रह्मणि तात्पर्यं लिङ्गम् । अप्रतीकत्वमिति । एतेषां शुद्धब्रह्म ज्ञात्वोपासकत्वेन अप्रतीकालम्बन-
त्वात्तेषामुपासनाया अप्रतीकत्वम् ॥ १६ ॥ इति चतुर्थमप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥ ४ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १७ ॥ (४-३-५)

सर्वाण्युपास्यानि रूपाणि ब्रह्मरूपाण्येवेति तदुपासकानां परंप्राप्तिरेवेति सिद्धम् । तत्रेदं चिन्त्यते । ज्ञानमार्गीयाणां भक्तिमार्गीयाणां चाविशेषेणैव परंप्राप्तिः, उत कश्चिद्विशेषोस्तीति । तत्र उभयोरपि ब्रह्मोपासकत्वेनाविशेषेणैव फलं भवतीति प्राप्ते, प्रत्याह विशेषं च श्रुतिर्दर्शयति । तैत्तिरीयके पठ्यते । 'ब्रह्मविदामोति पर'मिति गूढाभिसन्धिना सामान्यत एतावदुक्त्वा, गूढं तमुद्घाटयन्त्यतिगोप्यत्वमस्मिन्नर्थेनुभवैकवेद्यत्वं च ज्ञापयन्त्याह 'तदेवाभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽनुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति । तत् पूर्वोक्तं प्रतिपाद्यत्वेनाविमुखीकृत्यैपर्युक्ता, तदनुभवकर्तृभिरिति शेषः । ब्रह्मविदक्षरब्रह्मविदामोति, सान्निध्यादक्षरमेवा-मोति । एतावान् अर्थो 'यो वेदे'त्यन्तयचोक्तः । अथ 'परमामोती'त्यस्यार्थ उच्यते 'निहित'मित्यादिना । अत एव मध्ये क्रियापदमुभयसम्बन्धित्वज्ञापक-मुक्तम् । तत्प्राप्तिश्च मर्यादापुष्टिभेदेन द्वेषा । तत्रादौ मर्यादायामुच्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

विशेषं च दर्शयति ॥ १७ ॥ पूर्वाधिकरणसिद्धमनुवदन्तः प्रस्तुतमवतारयन्ति सर्वाणीत्यादि । सर्वाणीति । मनआदीनि विभूतिरूपाणि । परंप्राप्तिरिति । यथा कयाचि-त्परम्परया परंप्राप्तिः । तत्रेति । परंप्राप्तौ । पूर्वपक्षार्थस्तु स्फुटः । सिद्धान्तं व्याकर्तुं विशेष-दर्शिकां श्रुतिगुण्यस्य व्याकुर्वन्ति तैत्तिरीयक इत्यादि । सान्निध्यादिति । वेदनसान्नि-ध्यात् । यद् वेद तदेव प्राप्नोति । वेदनशेषं च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'त्यनेनोक्तम् । यस्तादृश-मक्षरं ब्रह्म वेद, सान्निध्यात् तदाप्नोतीत्यर्थः । ननु पूर्वोक्तरीत्यार्थोक्तौ परमिति द्वितीयान्तस्य कुत्रान्वय इत्यत आहुः अथेत्यादि । तथा च मध्ये उक्ताया आमोतीति क्रियायाः कर्मणाप्यन्व-यात् तस्याप्यर्थ उच्यते । नन्वेवं व्याख्याने किं बीजमत आहुः अत एवेत्यादि । यत आमो-तीति क्रियापदं मध्ये उक्तमतो देहलीदीपन्यायेन तस्योभयसम्बन्धित्वमेव बीजमित्यर्थः ।

नन्वेवं व्याख्याने आकाङ्क्षाया अपूरणात् मित्रवाक्यत्वापत्तेः, आमोतीति पदावृत्तेः प्रापत्या क्रिष्टं किमित्याद्रियत इत्यत आहुः तत्प्राप्तिरित्यादि । आदाविति । ब्रह्मविदित्यनेन मर्यादामार्गीयस्योपक्रान्तत्वादादौ मर्यादायामङ्गीकृतस्य 'यो वेदे'त्यनेन ग्रन्थेन व्यवस्योच्यते । रश्मि ।

विशेषं च दर्शयति ॥ १७ ॥ यथा कयाचिदिति । उपासनाभिश्चित्तशुद्धिः, तथा भक्तिः, तद्वद्वोरति प्रसिद्धा परम्परा । अमानवपुरुषं भक्त्यनन्तरं निवेश्यापरा परम्परा । आतिवाहिकसूत्रे यथा विद्याबलात् तत्तल्लोकप्राप्तिः, तथैव ब्रह्मप्राप्तिरपीति न, किन्तु भगवदीयपुरुषानुग्रहेणैवेत्युक्तेः पुरुषानन्तरं तदनुग्रहं निवेश्यापरा ज्ञापिता । उपासनाविषयप्राप्त्युद्देशेन कृतयोपासनयादित्याद्यङ्गप्राप्तिः । अङ्गानां भगवत्स्वरूपात्मकत्वेनैक्यमिति स्वरूपस्यैव फलत्वमुक्तं भवतीत्यपरा'दित्यादिमां. सूत्र उक्ता । तैत्तिरीयक इत्यादीति । मध्य इति परंप्राप्त्यक्षरप्राप्त्योर्मध्ये । वेदेति क्रियापदम् । उभयेति । गुहायां परमे व्योम्नि, सप्तम्या लुक् । निहितं नितरां हितं स्थापितं यो वेदेत्युभयसम्बन्धित्वज्ञापकम् । तत्प्राप्तिरिति । परंप्राप्तिः । त्रिचिकित्सितमिति सन्दिहानं प्रति ।

इहायमाशयो ज्ञेयः । 'नायमात्मा प्रवचनेने'ति श्रुत्या भगवद्भरणातिरिक्त-साधननिरासः क्रियते पुरुषोत्तमप्राप्तौ । एवं सत्यक्षरब्रह्मज्ञानस्य तत्साधनत्वे उच्यमाने तद्विरोधः स्यात् । तेनैवमेतदर्थो निरूप्यते । ज्ञानमार्गीयाणामक्षरज्ञाने-नाक्षरप्राप्तिः, तेषां तदेकपर्यवसायित्वात्, भक्तानामेव पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वात् । तदुक्तं भगवद्गीतासु 'एवं सततयुक्ता य' इति प्रश्ने, 'मय्यावेश्य मनो ये माम्,' 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यम्,' श्रीभागवते च 'मक्त्याहमेकया ग्राह्यः,' 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्येत्युपक्रम्य, 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'-त्यादिना । तथा च ब्रह्मविदं चेद् भगवान् वृणुते, तदा भक्तिरुदेति । तत्प्रचुरभावे सति स्वयं तद्गुदि प्रकटीभविष्णुः स्वस्थानभूतं व्यापिवैकुण्ठं तद्गुहायां हृदयाकाशे प्रकटीकरोति, तत् परमव्योमशब्देनोच्यते । अलौकिकप्रयोगेण तस्यालौकिकत्वं ज्ञाप्यते । यथा स्वस्थापितं वस्त्ववश्यं स्वदर्शनयोग्यं भवति, तथात्र भगवानपीति ज्ञापनाय 'निहित'मित्युक्तम् । तथा च 'परमामोती'ति पदविष्टितिरूपत्वादस्य

भाष्यप्रकाशः ।

तदेव विष्टुष्वन्ति इहायमाशय इत्यादि । इहेति । असिन् व्याख्यानपक्षे । नायमात्मे-त्यादि । अत्र प्रवचनपदं वेदे स्फुटम्, तदत्र वाच्यतासम्बन्धेन तदुक्तसाधनान्युपलक्षयति । मेधा धारणादती बुद्धिः, सा च पुरुषनिष्ठस्वाभाविकसाधनानि श्रुते चागन्तुकानि । एवं भगवद्भरणा-तिरिक्तसाधननिरासः क्रियते इत्यर्थः । एवं सतीति । पुरुषोत्तमप्राप्तिर्वर्णकलम्बत्वे सति । उच्यमान इति । प्राञ्जलतयोच्यमाने । तद्विरोधः स्यादिति । 'नायमात्मे'ति श्रुतिविरोधः स्यात् । नन्वस्त्वेवं निरूपणम्, तथापि पूर्वोक्तदोषाणां तु न परिहार इत्यत आहुः ज्ञानेत्यादि । तदेकपर्यवसायित्वादिति । मुण्डके 'धनुर्गृहीत्वे'ति मन्त्रे, 'लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्मी'ति श्रावणात् तत्कृतुन्यायेन तेषां तदेकपर्यवसानात् । तथा च वाक्यभेदपदावृत्तिश्च नात्र दूषण-मित्यर्थः । नन्वेवमक्षरप्राप्तावपि अक्षरस्य पुरुषोत्तमप्रत्यासन्नत्वात् तत्प्राप्तिरपि कुतो नाद्रियत इत्यत आहुः भक्तानामित्यादि । ननु भवत्वेवम्, तथापि कर्मपेक्षादोषः कथं परिहार्य इत्यत आहुः तथा चेत्यादि । तस्येति । परमव्योमरूपस्याक्षरस्य । अस्येति । निहितमित्यादि-रश्मिः ।

इहायमाशय इत्यादीति । इह व्याख्यानकेशे अयं व्याख्यानकेशनिवर्तकः । तद्विरोधो वरणश्रुतिविरोधः । एवमेतदर्थ इति । द्विष्टो ब्रह्मविदामोति परमिति श्रुत्यर्थः । 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्वधिकः पर' इत्यादिविरोधं परिहर्तुं हेतुमाहुः तत्कृत्विति । अयमप्रतीकालम्बन-सूत्रैकदेशः । यदाक्षरप्राप्तिमुद्दिश्य ज्ञानी, तदा तत्कृतुरक्षरैकपर्यवसायी भवति । यदा तु ज्ञानी चेद्भजते कृष्णम्, तदा तत्कृतुः पुरुषोत्तमैकपर्यवसायीत्येवं तथात्वादक्षरैकपर्यवसायित्वात्कृतुरित्यत्र प्रसिद्धवाचकसामान्यतच्छब्दोपादानादित्यर्थः । शेषमिति । एवं सतततेति 'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वं पर्युपासते, ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमा' इति प्रश्ने, 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते, श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः' इति भिन्नं पद्यम्, 'ये त्वक्षरमनिर्देश्य-मव्यक्तं पर्युपासत' इति भिन्नम् । श्रीभागवत इति एकादशस्कन्धे । अलौकिकेति । लुप्तसप्तम्य-न्तस्य व्योमन्निर्दिशब्दस्य प्रयोगेण । तस्येति व्योम्नः । यस्येति द्वितीयभागस्य । तस्य सद्यो

गुहायां परमे व्योम्नि निहितं यो वेद, स 'नास्य प्राणा उत्क्रामन्तीहैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्युत्तरीत्या परमाप्नोतीत्यर्थः सम्पद्यते । अथ शुद्धपुष्टिमागेंद्रीकृतस्य व्यवस्थामाह, 'सोश्नुत' इत्यादिना । अत्रायमभिसन्धिः । यथा स्वयं प्रकटीभूय लोके लीलां करोति, तथात्यनुग्रहवशात् खान्तःस्थितमपि भक्तं प्रकटीकृत्य तत्त्रोहातिशयेन तद्गुहाः सन् खलीलारसानुभवं कारयतीति स भक्तो ब्रह्मणा परब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह सर्वान् कामानश्नुत इति । चकारादुक्ता श्रुतिः स्मृतयश्च संगृह्यन्ते । एवं सति ज्ञानमार्गीयाणामक्षरप्राप्तिरेव, भक्तानामेव पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ १७ ॥

इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे पञ्चमं विशेषाधिकरणम् ॥ ५ ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्हभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

वाक्यस्य । तथा च यः पूर्वकर्ता उक्तः, तस्यैव वरणेन भक्तिप्राप्तौ भगवद्भामत्वेनाक्षराविर्भावे पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवतीति तेनैव कर्त्राकाङ्क्षापूर्तिरिति न कोपि दोष इत्यर्थः । तथा चैवं विहितं यो वेद, सोश्नुते, अर्थात्तमेवाश्नुते प्राप्नोति । नन्वेतावता व्याख्येयस्य यजुषो विवरणे सिद्धे 'सर्वान् कामा'निति शेषस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः अथेत्यादि । तथा चासिन् पक्षे 'सोश्नुत' इति क्रियापदस्य सम्बन्ध इति बोधनार्थमवतारणे 'सोश्नुत' इत्यपि संगृहीतम् । तथा चार्थ शेषः पुष्टिमार्गीयफलबोधनार्थः । तथा सत्येवं श्रुतियोजना । अत्राश्नुते इति क्रियापदं संयोगपृथक्त्वेन त्रिधा सम्बध्यते । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद, सोश्नुते । साभिध्यात्तादृशभक्षरं ब्रह्मैव प्राप्नोतीत्यर्थः । यः पुनर्वरणसहकृतो गुहायां परमे व्योमन् निहितं परं ब्रह्म पुरुषोत्तमं वेद, सोश्नुते, अर्थात्तं पुरुषोत्तममेवाश्नुते । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुतिवलात् पुरुषोत्तमसायुज्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । यः पुनः पूर्वमक्षरब्रह्मवित् ततस्तन्निहितपुरुषोत्तमवित् पुरुषोत्तमे लीनोऽसम्भावितलीलारसानुभवः स चेदतिक्रमया शुद्धपुष्टिमागें वृतः सन् विपश्चिता ब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह सर्वान् कामानश्नुते । तथा चात्र ब्रह्मविदस्ततो वरणसहकृतस्य ततो भक्तिसहकृतस्य क्रमिकैव व्यवस्था बोध्यते । सौत्रस्य चकारस्य प्रयोजनमाहुः चकारादित्यादि । अतो ज्ञानभक्तिमार्गीययोरुक्तविशेषस्य श्रुत्यैव दर्शनात्तैका व्यवस्था, किन्तुत्तरीतिकविशेषदर्शनाद् विशेषवत्येव सेत्यर्थः सिद्धः । एतेनाहंग्रहोपासकानां सायुज्यम्, पृथग्रहोपासकानां भक्तानामेव परप्राप्तिस्तत्कृतन्यायादिति सिद्धं ज्ञेयम् ।

रश्मिः ।

मुक्तिमाहुः नास्य प्राणेति । इहैव पुरः प्रकटे ब्रह्मणि । हृदि प्रकटे ब्रह्मणि सति तत्प्रभावाद् ब्रह्मैव सन् पुरः प्रकटं ब्रह्माप्येतीति । अश्नुत इति अश्नातीत्यर्थः । उक्तंति अस्याः पूर्वयुक्ता श्रुतिः । निहितं गुहायामित्याद्या श्रुतिः, नायमात्मेति श्रुतिर्वा । स्मृतय इति 'एवं सतत युक्ता' इत्याद्याः, 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्त्वियः सत्यंति यथे'ति, 'निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे' इति च । एवं शेषं स्फुटमित्यर्थः । एतेनेति । ज्ञानिभक्तयोः परप्राप्तौ विशेषविचारेण । ब्रह्माहमस्मीत्यहं-ग्रहोपासना । ब्रह्मण आत्मत्वेन ग्रहः तेनोपासना तत्कट्टणाम्, जीवब्रह्मवादेपि भवति । पृथगिति ।

भाष्यप्रकाशः ।

अन्ये तु अप्रतीकालम्बनसूत्रशेषत्वेनेदं सूत्रमङ्गीकुर्वन्ति । अप्रतीकालम्बनसूत्रस्य चैवमर्थमाहुः । तत्र प्रतीकालम्बनान् वर्जयित्वा ब्रह्मकृतूनब्रह्मकृतैश्च सर्वानन्यान् विकारालम्बनाभयतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । उभयथा अदोपात् । अनियमः सर्वेषामिति तार्तीयिके सूत्रे श्रुतिस्मृतिभ्यां सर्वेषामेव ब्रह्मलोकगत्युपपादनात् । तत्कृतुश्च । अस्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्दृष्टव्यः । 'यो हि ब्रह्मकृतुः स ब्रह्मैश्वर्यमासीदेदितिप्यतं तं यथायथोपासते तदेव भवती'ति श्रुतेः । पञ्चाभिविद्यायां ब्रह्मप्राप्तिश्रावणं त्वाहृत्य वादत्वाद् उत्सर्गवाधकम् । अतस्तदभावे औत्सर्गिकेन तत्कृतुन्यायेन ब्रह्मकृतूनामेव तत्प्राप्तिर्नरेषामिति नाङ्करमतम् । तदसङ्गतमिति प्रागेवोक्तम् ।

भास्कराचार्यास्तु, मनआद्युपासनानां प्रतीकत्वमेवाङ्गीकृत्य तदालम्बनव्यतिरिक्तान् कार्यब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्योपासकान् परब्रह्मोपासकांश्च नयति । तत्र हेतुः । उभयथा दोषात् । तत्रापि हेतुः । तत्कृतुश्चेति । तथाचैकत्वभावनया आत्मकृतुः परमात्मानं प्रति । द्वैतकृतुश्च कार्यं ब्रह्मेति । न च द्वैतोपासकानां कथं कार्यब्रह्मप्राप्तिरिति शङ्क्यम् । पञ्चाभिविद्यायां 'शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवती'ति श्रुतेः । न च 'परं जैमिनि'रिति सूत्रे परब्रह्मण एव ब्रह्मपदार्थत्वेन निश्चितत्वाद् द्वैतोपासनायां तदनङ्गीकारे पूर्वापरविरोध इति शङ्क्यम् । क्रममुक्तिसद्योमुक्तिभेदेन युक्तेर्द्वैविध्याद् द्वैतोपासकानां हिरण्यगर्भप्राप्त्यनन्तरं बहुकालेनोदये परप्राप्तिः, साक्षाद्ब्रह्मोपासकानां तु शीघ्रं रश्मिः ।

श्रीकृष्णः शरणं ममेति शरणमार्गेण ममेति भेदे पृष्ठधाः । एवं भक्तिमार्गेण दासवदासीवद्वा प्रभुनिकटे स्थितौ सत्यां पृथग्रहोपासना भवति तत्कट्टणाम् । तत्कृतुन्यायो विवृतः भक्तज्ञानिसाधारण्येन । अप्रतीकालं द्विसूत्रमधिकरणम् । उभयथेति ब्रह्मकृतूनब्रह्मकृतुभेदेन तयान्भ्युपगमेऽदोषात् । गत्यनुपपत्त्यादिदोषाभावात् । सर्वेषामिति ब्रह्मकृतूनब्रह्मकृतूनाम् । उभयथाभावस्येति । ब्रह्मकृतूनब्रह्मकृतूनयनलक्षणभावस्य । हेतुरिति तत्कृतुर्ब्रह्मकृतुरेवेति हेतुगर्भं विशेषणम्, तत्कृतुत्वाद्यो हि ब्रह्मकृतुः स ब्रह्मैश्वर्यमासीदितिप्यत इत्यर्थः । ब्रह्मकृतोर्नीतस्य प्रापणे श्लेषमाहुः यो हीति । ब्रह्मात्मैश्वर्यं आसीदासादेदिति श्लेषे इष्टिः । यो हि ब्रह्मकृतुः स ब्रह्मात्मैश्वर्यमासादेदिति शङ्कराचार्यभाष्यात् । ब्रह्मात्मैश्वर्यमित्यत्र श्रुतिविरोधं परिहरन्ति स्म पञ्चाङ्गीति । 'स एनाम्ब्रह्म गमयतीत्यनया ब्रह्मप्राप्तिः श्रावणम् । आहृत्येति उक्तवचनधलाद्वादात् । उत्सर्गस्य ब्रह्मात्मैश्वर्यासादनलक्षणस्य बाधकम् । आहृत्य वादाभाव इति तदभाव इत्यस्यार्थः तत्प्राप्तिरिति । ब्रह्मात्मैश्वर्यप्राप्तिः इतरेषां अब्रह्मकृतूनाम् । प्रागेवेति । अत्रैव ये तु प्रतीकत्वब्रह्मकृतुत्वमित्यादि भाष्ये तत्रकाशे च ।

प्रतीकत्वमेवेति । कार्यत्वेन भेदे प्रतीकत्वमवलम्बनवत्त्वमेव । तदालम्बनेति । प्रतीकालम्बनेत्यर्थः । उभयथेति । कार्यब्रह्मपरब्रह्मोपासकभेदेनादोषात् । तत्रापि । दोषाभावेपि हेतुः । तत्कृतुरात्मकृतुः परमात्मानं प्रतिपद्यते । द्वैतोपासकानामिति । द्वैतेनोपासकानाम् । कथमिति । भेदेनाभेदेन वेति प्रश्नः । कार्यजब्रह्मकृतुः कार्यं द्वैतैकत्वभावनया हिरण्यगर्भो भविष्यामीत्येवं प्रवृत्तस्तद्भावमेकत्वे एति द्वैते तत्प्राप्त्यर्थस्य अर्चिमार्गेः पठ्यते । तदाहुः पञ्चाङ्गीति । शुद्धः पूतो व्यापकजीवः कारणत्माना अभेदात् पुण्यलोको हिरण्यगर्भः भवति उत्पद्यते । कार्यत्मानाऽभेदात् । ब्रह्मपदार्थत्वेनेति । कार्यब्रह्मपदार्थत्वेन । तदनङ्गीकार इति । कार्यब्रह्मप्राप्तौ परब्रह्मप्राप्त्यनङ्गीकारे । पूर्वस्य 'परं जैमिनि'रिति सूत्रभाष्यस्य अपरस्य 'अप्रतीकालम्बन'सूत्रभाष्यस्य विरोधः । परप्राप्तिरिति । क्रममुक्तिः । साक्षादिति । परब्रह्मोपासकानाम् । शीघ्रमिति । सहः

भाष्यप्रकाशः ।

तत्प्राप्तिरित्यविरोधादित्याहुः । अत्र मनआद्युपासनानां प्रतीकत्वमनुपादेयम् ।

रामानुजाचार्यास्तु, इतः पूर्वसूत्रे 'अथ इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहुमुखात् प्रमुच्य धृत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानी'ति श्रुत्या सम्भाव्यब्रह्मलोकस्य अकृतत्वश्रावणात् सर्वबन्धविनिर्मुक्तस्य च साक्षाच्छ्रावणात् परब्रह्मलोकस्य नित्यत्वमङ्गीकृत्य, अस्मिन् सूत्रे 'उभयथा चे'ति पाठमङ्गीकृत्य मनआद्युपासनानां पूर्ववदेव प्रतीकत्वं चाङ्गीकृत्य, अप्रतीकालम्बननयनप्रतिज्ञायां हेतुमुभयथादोषमेवं व्याकुर्वते । कार्यब्रह्मोपासकनयनमात्रनियमे 'अस्माच्छरीरात् सद्युत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्ये'त्यादिकाः श्रुतयः कुप्येयुः । परब्रह्मोपासकनयनमात्रनियमे च पञ्चाग्निविदो नयनश्रुतिः कुप्येदित्युभयस्मिन् पक्षे दोषः स्यात् । तस्मादुभयविधाश्रयतीति, तत्कृतुश्चेति भागस्य च, तत्कृतुस्तथोपासीनस्तथैव प्राप्नोतीत्यर्थे इत्याहुः । तेन तन्मतेपि मनआद्युपासनानां प्रतीकत्वमात्रमेवानुपादेयम् ।

तन्मतचरिस्तु तद्देव सूत्रं व्याख्याय, विष्णुद्वेषाद् 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्मे'ति महानारायणोपनिषन्मन्त्रम् 'परात् परतरो ब्रह्मा तत्परात् परतरो हरिः । तत्परात् परतरो हीश' इति शिवसङ्कल्पसूक्तमन्त्रं 'नारायणं परं ब्रह्मे'ति च महोपनिषन्मन्त्रं, 'विश्वाधिको रुद्र' इति श्वेताश्वतरमन्त्रं चोपन्यस्य, त्रिलोचननीलकण्ठादिविशिष्टमुमया शबलितमेव परमेश्वररूपमुवाद् ।

तदसङ्गतम् । महानारायणोपनिषदि अणोरणीयानित्यनुवाके महिमानभीशमित्युक्त्या ईशस्य परमेश्वरविभूतित्वेनैव सिद्धत्वात् । 'ऋतं सत्यं'मिति मन्त्रस्य नारायणानुवाकोक्तोपासनप्रकारबोधनाय रासलीलाश्वभगवत्स्वरूपनिरूपकत्वेन 'नारायणपरं ब्रह्मे'ति मन्त्रस्य च प्रथमान्तरश्चिनः ।

तत्प्राप्तिर्मुक्तिः, सद्योमुक्तिरित्यर्थः । प्रतीकत्वमिति । भाष्योक्तलक्षणम् । अगतो ब्रह्मत्वात् । इतः पूर्वसूत्र इति । द्विस्रष्टाधिकरणात्पूर्वस्मिन् 'न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धि'रिति सूत्रे । अर्थस्तु कार्ये हिरण्यगर्भे न चायं प्रत्यभिसन्धिः 'प्रजापतेः सभां वेदम प्रपद्य' इत्यधिरादिना गतस्यानुसन्धानमपि तु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि यथाहं भवामि ब्राह्मणानामिति तस्याभिसन्धातुः सर्वाविधाविमोक्तपूर्वकसर्वात्मभावाभिसन्धानादिति । अग्रे सर्वाविधाविमोक्तपूर्वकसर्वात्मभावबोधकग्रन्थे अथ इव रोमाणीत्यादिः, तदाहुः अथ इव रोमाणीत्यादि । अथो रोमाणीवाप्रतीकालम्बनः पापमित्यर्थः । विधूय राहुमुखाच्चन्द्र इव पापमुखात्प्रतीकालम्बनः । प्रमुच्य शरीरं धृत्वा अथ इवेत्येव । कृतात्मा कृतः पापशरीराभ्यां रहितः कृत आत्मस्वरूपं येन । स अकृतं कृतमिदं नित्यं ब्रह्मलोकं अभिसम्भवानि अभितः सम्यगसानि । इति प्रत्यभिसन्धिरित्यर्थः । एवं नित्यत्वमङ्गीकृत्येत्यर्थः । अस्मिन्निति । अप्रतीकालम्बनरूपे । पूर्ववदेवेति । अस्मद्भाष्यवत् । तथा च रामानुजाचार्यभाष्यम् । 'ये तु ब्रह्मकार्यान्तरभूतं नामादिकं वस्तु देवदत्तादिषु सिंहादिदृष्टिवद् ब्रह्मदृष्ट्वा केवलं वा तत्तद्भस्तुपासते, न तान्नयति । अतः परं ब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनान्नयती'ति । तत्तद्भस्तु विशिष्टाद्वैतसिद्धम् । अनुपादेयमिति । ब्रह्मात्मकत्वाजगतः । तन्मतेति भगवान्छैवः । तद्देवेति । रामानुजाचार्यवत् । विधिष्विति । आचार्यत्वेपि तामसत्वात्तथा । ऋतं सत्यमिति । शिवलिङ्गमन्त्रेवाच्यम् । रासलीलेति । परब्रह्मत्वं 'सोश्रुते सर्वान् कामा'निति श्रुत्युक्ते इति भावः । किं च । परं ब्रह्म कृष्णः, तस्य महिमा रुद्र इति पदशक्तिरपि न शिवे । तृतीयान्तानां पदानां तदभिमतत्वादिनान्वयः । प्रथमान्तेति । तथा च पुनर्पुंसकत्व-

भाष्यप्रकाशः ।

नारायणपदप्रायपाठसंघट्टत्वेन, 'परात्परतर' इति मन्त्रस्य च सूक्तात्मन्मे 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृते सर्वम्, येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्त्वि'ति मनसस्तथात्वं प्रकृत्य पठिततया तन्माहात्म्यबोधकत्वेन मनसश्चानन्दवल्ल्यां ब्रह्मानन्दात्मकत्वेन सिद्धतया तत्र शिवमाहात्म्यबोधकताया अशक्यवचनत्वेन, 'विश्वाधिक' इति श्वेताश्वतरतृतीयाध्यायमन्त्रस्य च केवलब्रह्मस्वरूपमुपकृत्य पठितत्वेन त्रिलोचनादिवशिष्यस्यानुक्तत्वेन तदभिमतरूपाबोधकत्वेन तदुक्तानां सर्वेषामेव मन्त्राणां तदुक्तार्थानुपपत्त्यर्थकत्वात् । इदं यथा तथा प्रहस्तेषामभिनिपुणतरमुपपादितमिति नात्र प्रपश्यते ।

माध्वास्तु,

'प्रतीकं देह उद्दिष्टो येषां तत्रैव दर्शनम् । न तु व्याप्ततया कापि प्रतीकालम्बनास्तु ते ॥ अप्रतीका देवतास्तु ऋषीणां शतमेव च । राज्ञां च शतमुद्दिष्टं गन्धर्वादिशतं तथा ॥ एतेषुधिकारिणो व्याप्तिदर्शनेऽन्ये न तु क्वचित् । अयोग्यदर्शने यत्नाद्भ्रंशः पूर्वस्य चापि तु ॥ अप्रतीकाश्रया ये हि ते यान्ति परमेव तु । स्वदेहे ब्रह्मदृष्ट्वैव गच्छेद् ब्रह्मसलोकताम् ॥

ब्रह्मणा सह सम्प्राप्ते संहारे परमं पदम्' इति गारुडवाक्यानुपपत्त्यस्य कांश्चित् कार्यं कांश्चित् परं नयति । उभयपक्षोक्तदोषात् । परप्राप्तिपक्षे गत्यनुपपत्त्यादिदोषस्योक्तत्वात् । कार्यप्राप्तिपक्षे च ब्रह्मशब्दाद्युक्तत्वादिदोषाणामुक्तत्वादित्येवमाहुः ।

तत्र गत्यनुपपत्त्यादिदोषाणामदृष्टादिना भाष्ये एव परिहृतत्वादुदासीना वयम् ।

रश्मिः ।

रूपविरुद्धधर्माधारत्वं परब्रह्मलिङ्गमिति । न शिवपरत्वमिति भावः । सूचीकटाहन्यायेनाहुः परात्पर इति । अन्यथा 'नारायणं परं ब्रह्मे'ति मन्त्रात् पूर्वमेव विचारितः स्यात् । येनेदमिति । मनसा वेदशरीरेण जीवपरिगृहीतेन । 'स एष जीव' इति वाक्यात् । आनन्दसृष्टिः । येनेति । वेदशरीरेण । यज्ञस्तायते इति । 'विज्ञानं यज्ञं तनुत' इति श्रुतिः । सप्तहोतेति । सप्तभिश्छन्दोभिरग्निजिह्वाभिर्वा जुहोतीति होता नमूनेष्ट्वष्टृश्चतुहोतृपोत्रिति साधुः । शिवेति । शिवः सङ्कल्पो मनोवृत्तियस्य मनसः । तथात्वमिति । भूतादिकर्तृत्वम् । तन्माहात्म्येति । मनोमाहात्म्यं देवत्वं तस्य बोधकत्वेन । ब्रह्मानन्देति । 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यादिना 'न विभेति कदाचने'त्यन्तया श्रुत्या । प्रहस्त इति तस्य तृतीयवादे । तत्रैवेति । देह एव । एत इति । ऋषिराजगन्धर्वाः । ननु देहे परमात्मदर्शनामपि यत्नेन व्याप्ततया दर्शने अप्रतीकालम्बनत्वे सूत्रोक्तोभयथापदविरोध इति चेत्, तत्राहुः अयोग्येति । व्याप्ततया दर्शने । पूर्वस्येति । देहे दर्शनवतः । ब्रह्मसलोकतामिति । हिरण्यगर्भसमानलोकताम् । कार्यमिति । कार्यब्रह्म । उभयपक्षेति । उभययोः पक्षयोः उक्तयोरदोषात् । गत्यनुपपत्त्यादीति । आदिना गतेर्गौणत्वम् । ब्रह्मशब्देति । 'स एनान् ब्रह्म गमयती'त्यत्र कार्यं ब्रह्म ब्रह्मशब्दार्थ इति ब्रह्मशब्दस्यामुख्यत्वं गौणत्वम्, आदिना गत्यमुख्यत्वमित्युक्ता दोषाः तेषामभावात् । एवं स्वमते उभयथा अदोषादिति पदच्छेदे सिद्धान्तभाष्यविरोधः स्यात्, तदर्थं उभयथा दोषादित्यस्यैव व्याख्यातस्य प्रयोजनाभावमाहुः तत्र गत्यनुपपेति । अदृष्टादिनेति । आदिना इच्छा । भाष्ये

भाष्यप्रकाशः ।

विशेषदर्शनसूत्रे च, 'यावन्नाश्रो गतं तत्रास्य कामचारो भवती'त्यादिश्रुतिर्नामादिप्राण-पर्यन्तेषु प्रतीकोपासनेषु फलविशेषं च दर्शयतीति प्रतीकालम्बनान् वर्जयित्वा नयतीति सिद्धमिति शाङ्करभास्कररामानुजाचार्या आहुः । तच्च मनोनामाद्युपासनानां प्रतीकतानिराकरणेन फलविशेषभवनस्य च भगवदिच्छया भगवद्विभूतित्वात् साधनेनैव निरस्तम् ।

यत्तु शैवो विष्णुलोकापेक्षया शिवलोके विशेषं दर्शयतीत्याह । तदपि प्रहस्ते निपुणतया दूषितमिति ततोवधेयम् ।

माध्वास्तु, 'अन्तःप्रकाशाः बहिःप्रकाशाः सर्वप्रकाशाः देवा वा सर्वप्रकाशा ऋषयोऽन्तः-प्रकाशा मानुषा एव बहिःप्रकाशा' इति काचिच्चतुर्वेदशिखाश्रुतिविशेषं दर्शयतीत्याहुः । तत्रापि श्रुतेरप्रसिद्धत्वादुदासीना वयम् ॥ १७ ॥ इति पञ्चमं विशेषाधिकरणम् ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यप्रकाशे चतुर्थो-
ध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ४ ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

अणुभाष्ये पूर्वाधिकरणे भाष्यप्रकाशे चाधिकरणसमाप्तौ । साधनेनेति । अग्रतीक्ष्णलम्बनसूत्रे साधनेन । विशेषमिति । अन्तःप्रकाशादियु देवाद्यधिकारिविशेषम् ॥ १७ ॥ इति पञ्चमं विशेषा-धिकरणम् ॥ ५ ॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण
सम्पूर्णवेत्त्रा विठ्ठलरायजिज्ञात्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता
कृते भाष्यप्रकाशस्य रश्मौ चतुर्थाध्यायस्य
तृतीयः पादः सम्पूर्णतामगमत् ॥ ३ ॥

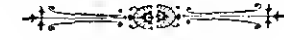
श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

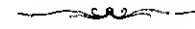
श्रीमदाचार्यचरणकमलभ्यो नमः ।

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिवृंहितम् ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।



चतुर्थः पादः ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥ (४-४-१)

'ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रम्य 'सोऽश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति तैत्तिरीयके पठ्यते । तत्रेदं सन्दिह्यते किमन्तःस्थित एवाश्रुते, उत पुनर्जन्म प्राप्येति । तत्रान्त्यस्त्वनुपपन्नः । 'न स पुनरावर्तते' 'निषासिह न पुनरावृत्तिरस्ती'त्यादिश्रुतिविरोधात् कर्माभावाच्चेति प्राप्ते,

भाष्यप्रकाशः ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥ द्वितीये पादे सद्योमुक्तिरूपमुक्त्योः प्रकारो दर्शितः, तदनु तृतीये क्रममुक्तौ प्राप्पस्वरूपं प्राप्तिप्रकारं च दर्शयित्वा समाप्तौ ज्ञानमार्गीय-भक्तिमार्गीययोः सद्योमुक्तावप्यक्षरप्राप्तिपुरुषोत्तमप्राप्तिरूपः फले विशेषोस्तीति दर्शितम् । इदानीं तत्पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपं फलं कथमनुभवतीत्यतस्तत्प्रकारः, कीदृशं च पुरुषोत्तमस्य स्वरूपमित्य-स्तत्प्रकारश्चेत्येतदस्मिन् पादे विचार्यत इत्याशयेन सूत्रमुपन्यस्य विचारमारभन्ते ब्रह्मविदि-त्यादि । तत्रेदं सन्दिह्यत इति । यद्यन्तःस्थितोऽश्रुते, तदा 'स' इति भोगस्वातन्त्र्यबोधकप्रथमा-विभक्त्यनुपपत्तिः । ब्रह्मणि लये मेदाभावाद् । यदि बहिर्भूत्वा तदा आवृत्त्यापत्त्या परप्राप्ते-र्भूत्कित्त्वमङ्ग इत्युभयथापि दोषात् 'अश्रुत' इति विवरणं सन्दिह्यत इत्यर्थः ।

पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । तथा च ब्रह्मलोकसम्पत्तौ यत्र पुनरावृत्त्यभावः, तत्र साक्षा-द्ब्रह्मप्राप्तानां कुतस्तत्सम्भावेत्यपुनरावृत्तिश्रुतिविरोधापेक्षया विभक्त्यर्थमात्रबाधस्य स्वल्पदोषत्वा-रश्मिः ।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥ कथमनुभवतीति । सफलसाग्निमावस्थायाम् पादार्यरूपायाम् फलतावच्छेदकं पुरुषोत्तमत्वं कथं केन प्रकारेणानन्दाविष्टपुरुषोत्तमत्वप्रकारेणोत्स्वरूपस्यैव फलत्वात्पुरुषोत्तमत्वेन फलं पुरुषोत्तममुत 'न तदश्रुति कश्चन, न तदश्रुति कश्चने'ति श्रुत्या तद्भोगनिषेधात्सुधासंवलितत्वेन रूपेण तमनुभवतीत्यर्थः । भेदाभावादिति । फलप्रकरणेऽपि तादात्म्या-नुक्त्या 'ते तु ब्रह्महृदं नीता ममाः कृष्णेन चोद्धृता' इति प्रकारः सूचितः । तथेति । प्रतिवदतीत्यर्थः ।

प्रतिवदति । सम्पद्य ब्रह्म सम्पद्यापि स्थानस्य जीवस्य प्रभोरत्यनुग्रहवशात् स्वरूपात्मकभजनानन्ददित्सायां तत्कृत आविर्भावो भवत्येव । आविर्भावस्य भगवदधीनत्वज्ञापनायास्य तत्र कर्तृत्वं नोक्तम् । ननुक्तं 'न स पुनरावर्तत' इत्यादिश्रुतिविरोधः कर्माभावश्च बाधक इत्यत आह स्वनेनेति । स्वशब्दोऽत्र भगवद्वाची । तथा च भगवत्स्वरूपषलेनैवाविर्भावइत्यर्थः । एवं सत्युक्तश्रुतिर्मर्यादामार्गविषयिणीतिविरोध इति भावः । तेषामिह प्रपञ्चे न पुनरावृत्तिरस्तीति हि श्रुतिराह । लीलायाः प्रपञ्चा-

भाष्यप्रकाशः ।
दन्तरित्येव युक्तमिति प्राप्तौ तथेत्यर्थः । सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति सम्पद्येत्यादि । ब्रह्म सम्पद्येति । द्वितीयपादोक्तरीत्या वागादीनां प्राणानां ब्रह्मणि लयीत्तरं, 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्या ब्रह्मणा सहैकीभावं प्राप्य । आविर्भाव इति । स्वस्य ब्रह्मभिन्नतयानुभवविषयत्वयोग्यता । अस्य तत्र कर्तृत्वं नोक्तमिति । जीवस्याविर्भावे कर्तृत्वं नोक्तम् । स्वनेनेति पदमवतार्य व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । भगवत्स्वरूपषलेनैवाविर्भाव इति । छान्दोग्ये भूमविद्यायां 'तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण' इत्याद्युपक्रम्य, 'आत्मत आविर्भावतिरोभावात्मात्मतोऽन्न'मित्यादिश्रावणात्तस्य ब्रह्मसम्पन्नस्यापि ब्रह्मस्वरूपषलेनैवाविर्भावः । एवं हेत्वन्तरकथनेन कर्माभावात्मकमाविर्भावबाधकं परिहृतम् । एतेनैवापुनरावृत्तिश्रुतिविरोधोपि परिहृत इत्याहुः एवं सतीत्यादि । न विरोध इति । विषयभेदान्न विरोधः । ननु तर्हि पुष्टिमार्गस्य मर्यादामार्गापेक्षया जघन्यत्वापत्तिरित्यत आहुः तेषामिहेत्यादि । यद्यपि 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुताविह नेति विशेषो न श्रूयते, तथापि पञ्चाधिविद्यायामक्षिपुरुषविद्यायां च 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ती'ति, 'इमं मानवमावर्तनावर्तन्त' इति च यथायथं श्रावणादस्मिन् लौकिके; प्रपञ्चे पुनरावृत्त्यभावमाह, न तु नित्यायां भगवद्ब्रह्मलीलायामपीति श्रुतिविरोधाभावाच्च पुष्टिमार्गं कथमनावृत्तिसिद्धिरित्यतो हेतुं वदती-
रश्मिः ।

ब्रह्मवेदेति । आरण्ये सह वै पञ्चायामस्ति । ब्रह्मवेदेति । शारीरकब्राह्मणेस्ति । ब्रह्मवेद अक्षरब्रह्मवित् । ब्रह्म परं ब्रह्म भक्त्या भक्त्या तदैक्यं प्राप्नोति । मतान्तरे आवरणभङ्गद्वारा ब्रह्माक्षरमेव भवति । आत्मकामः आत्मभक्तिमान् ब्रह्मैव सन् साधनैर्जावन्मुक्तः सन् 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्थेत तत्त्वविदित्युक्ता 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त' इति भाष्योक्तगीतायाः 'मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति रित्येकादशे मुक्तिलक्षणम्, तल्लक्षितः । मतान्तरे वेदान्तविज्ञानेन । अकामो निष्कामः आसकाम आत्मकाम इत्युक्तरूप ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति प्राप्नोति । देहाद्यावरणविच्छेदापेक्षयाप्येती-वेत्युपचर्यते । नित्यप्राप्तत्वादेवेत्यर्थः । ब्रह्मणेति । परब्रह्मणा । भाष्ये प्रभोरत्यनुग्रहेति । अनुग्रहेण भक्त्या पुरुषोत्तमप्राप्तिर्जातैव, पुनरनुग्रहो व्यर्थ इत्यन्तिशब्दः । 'भजतां भगवान्मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्य न भक्तियोग'मित्येवमभक्तिभरणमुक्तम् । स्वरूपेत्यादिनाऽदेयभक्तिरूपमानन्दफल-सहितमुक्तम् । इच्छाधीनत्वज्ञापनाय दित्साशब्दः । ब्रह्म भिन्नतयेति । भेदेपि तादात्म्यरूपाभेदोस्त्येवेति न स्वगतं द्वैतम् । लक्षणान्तु विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमेव । हेत्वन्तरेति । हेतुः शब्दादिति । तदन्यो हेतुः स्वनेनेति । हेतो तृतीयेति । तस्य कथनेन । परिहृतमिति । वेदं कर्मणो जगज्जन्मादिकर्तृत्वं गुरुत्वमीश्वरत्वं चेति, 'आत्मतः प्राण' इत्यत्रात्मपदवाच्यत्वात्तस्य चोक्तत्वात्परिहृतम् । एतेनैवेति । स्वने पदेनैव । एवं सतीत्यादीति । उक्तेति । 'न स पुनरावर्तत' इति श्रुतिः । विषयभेदादिति । पुष्टिमर्यादाविषयभेदात् । तर्हीति । पुष्टिमार्गस्यावृत्तिविशिष्टत्वकाले । मर्यादेति । अनावृत्ति-

तीतत्वात् तत्राविर्भावस्य निषेधाविषयत्वात्पि न विरोधः । अत्र प्रमाणाकाङ्क्षायामाह शब्दादिति । 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुतिः पुरुषोत्तमेन सह सर्वकामभोगं वदति । स च न विग्रहं विना सम्भवतीति श्रुतिषलादेव तथा मन्तव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

हेत्वन्तरमाह ।

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

अत्रोपक्रमे 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति वाक्येन परप्राप्तिलक्षणां मुक्तिं प्रतिज्ञाय हि तद्विवृतिरेव 'सोऽश्नुते' इत्यादिना क्रियते । तेन पुष्टिमार्गीयमुक्तिरूपत्वमेव नस्याशनस्य सिध्यति, अतोऽपि हेतोस्तदाविर्भावस्य न लौकिकत्वम्, न चावृत्तिरूपत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

त्याशयेन अवतारयन्ति अत्रेत्यादि । व्याकुर्वन्ति सोऽश्नुत इत्यादि । तथा च पुरुषोत्तमे अक्षरापेक्षया परत्वस्य मुण्डके श्रावितत्वादक्षरे भगवद्भामत्वस्यापि तत्र श्रावणात् तैत्तिरीये प्रजारूपत्वस्यापि श्रावणात्तस्य लीलास्थानतायामत्रोक्तं भोगोऽक्षरे सिध्यति । भोगश्च विग्रह-मन्तरेणानुपपद्यमानो विग्रहमाक्षिपतीति भोगबोधकवाक्यरूपः शब्द एवात्र तदाविर्भावे प्रमाणमित्यर्थः ॥ १ ॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥ सूत्रभवतारयन्ति हेत्वन्तरमाहेति । ननु ब्रह्मसम्पत्तिरेव मुक्तिरिति सम्पन्नो मुक्तः, आविर्भावस्तु विभागे सति व्युत्थारणाद् भवति । तथा सति सुष्ट्यादाविव बन्ध एव सम्भावित इति कथमाविर्भावस्य मुक्तिकोटौ प्रवेश इत्याकाङ्क्षायां अत्र भगवतः सकाशाद्विभक्त्य भो जीवस्याविर्भावस्तस्यलौकिकत्वेऽनावृत्तिरूपत्वे चैतत्प्रकरणोक्तं हेत्वन्तरमाहेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति अत्रेत्यादि । परप्राप्तिलक्षणाभिनि । ब्रह्मविदः परप्राप्ति-लक्षणाम् । तथा च प्रतिज्ञानादुक्तवाक्ये मुक्तेः प्रतिज्ञानाद् यस्याविर्भावः प्रतिपिपादयिषितः, स मुक्त इति सूत्रयोजना । तथा सति तस्याविर्भावस्य न लौकिकत्वम्, न चावृत्ति-रूपत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

रश्मिः ।

साधकमर्यादामार्गापेक्षया । अत्रेति । इह लोके एवानावृत्तिसिद्धिरित्यर्थः । मुण्डक इति । 'स वेदै-तत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् उपासते यत्र पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमतिवर्तन्ति धीराः ॥' इत्यत्र यत्रेत्यस्य परमे ब्रह्मणि धाम्नीत्यर्थात् । 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः पर' इत्यत्र वा । परपदघटितत्वात् । पूर्वधामत्वश्रावणे । तैत्तिरीय इति । महानारायणोपनिषदि । 'अजायमानो बहुधा विजायत' इति श्रुतेः । पूर्वैकवाक्यतया प्रजारूपः पुरुषः ॥ १ ॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥ हेत्वन्तरमिति । शब्दाद्धेतोरन्यत् । आप्नेति परमिति प्रतिज्ञारूपं हेतुम् ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

ननु परस्य ब्रह्मणो निर्गुणत्वात् कामभोगस्य गुणसाध्यत्वात् 'सह ब्रह्मणे' त्यत्र ब्रह्मपदं सगुणतत्परम्, अतो न तस्य मुक्तिरूपत्वमित्यत आह । अत्र ब्रह्मपदेन आत्मा व्यापको मायातद्गुणसम्बन्धरहितो यः स एवोच्यते । कुतः प्रकरणात् । 'ब्रह्मविदामोति पर'मित्युपक्रम्य तत्पाठाद् गुणातीतस्यैतत्प्रकरण-मिति तदेवात्र ब्रह्मशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्वित्यादि । तस्येति । ब्रह्मणा सह भोगस्य । व्याकुर्वन्ति अत्र ब्रह्मेत्यादि । तदेवेति । परपदेनोक्तं गुणातीतमेव । तथा च कार्य-कथने जगत्कारणत्वेन स एव परिचायितव्य इति व्यापकत्वेपि विरुद्धधर्माश्रयत्वाद्यथा सृष्ट्यादिकं स करोति, तथा तं भजनानन्ददानायाविर्भाव्य भोगमपि कारयतीति न तेन कार्येण तस्यावि-र्भावस्य मुक्तिकोटिगत्वमङ्ग इत्यर्थः ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥ ब्रह्मणा सहेति । अस्य स्वरूपेण व्यवस्थितिरूपत्वम् । निवेदितात्मनो भगवद्विचिकीर्षोविषयस्य स्वरूपव्यवस्थितिवत्त्वात् । एवं च 'स्वरूपं द्विविधं चैव सगुणं निर्गुणं तथे'तिगोपाल-तापिनीये स्वरूपमुद्दिश्य सगुणत्वं विधाय विरुद्धधर्माधारत्वाय तथा स्वरूपप्रकारेण निर्गुणत्वमित्युक्तम् । अत एव बृहद्ब्रह्मसंहितायां 'नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत । सगुणं ब्रह्म सर्वदेवं वस्तुञ्जलिर्न तेषु नः । ब्रह्मेति पठ्यतेस्माभिर्ब्रह्मं निर्गुणं परम् ॥ १ ॥ वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ॥ आनन्दमात्रमिति यद्दन्तीह पुराविदस्तद्रूपं दर्शयाम्साकं यदि देवो वरो हि नः ॥ श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वं लोकं प्रकृतोः परम् ॥ केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यग'मित्याद्युक्त्वा 'दृष्टो मदीयो लोकोऽयं यतो नास्ति परं वरम्' ॥ इति सगुणनिर्गुणाभेद उक्तः । ब्रह्मत्वब्रह्मसम्बन्धावगाहिज्ञानमात्मेत्यात्मैत्युक्तम् । य इतिपदेन भाष्ये जगज्जन्मादिकर्तृत्वयुक्तः 'गौणश्चेत्त्रात्मशब्दा'दिति सूत्रोक्तश्चेत्युक्तस्तदभिप्रायेण सिद्धमाहुः । तथा चेति । कार्यमाविर्भावयुक्तं तस्य मुक्तस्य कथने । विरुद्धेति तेन व्यापकत्व-विरुद्धसुधासंबलितत्वरूपादित्यर्थः । कार्येणेति । मुक्तरूपेण । तथा चाथर्वणे । गुण्डके 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः पर' इति चतुर्थवेदोपनिषदां प्रथमे । सर्वाथर्ववेदार्थनिर्णायके परत्वेन ब्रह्मोपादानम् । ऋग्वेदोपनिषद्यपि 'देवस्तुर्धो विभुः स्मृत' इत्यत्र व्यापकत्वेन । त्रिर्वायुस्तस्य भवनस्थानम् । तुर्य इति फले परोक्षवादेन तुरीयत्वेन परब्रह्मोपादानम् । यजुर्वेदे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायु'रिति, तैत्तिरीये आद्यस्याकाशस्य जन्मकृदुक्तः, स परः, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे'त्यत्र शेषपष्ठध्वनीकारात् पर उक्तोक्षर-वैकुण्ठयुक्तः । सामवेदे छान्दोग्यनवमोपदेशे सत्यपदमुक्तम् । तदुपलक्षकम् । ज्ञानानन्तानन्दानामिति य उक्तः । एवं द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायोक्तार्थं स्थितिव्याकृता ॥ ३ ॥

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

ननु 'ब्रह्मविदामोति पर'मिति भिन्नं वाक्यम्, ऋग्भिन्ना, अतो नैकं प्रकरणमिति सगुणमेव तत्र ब्रह्मपदेनोच्यत इत्याशङ्क्य, प्रतिवदति । पूर्ववाक्येन सममविभागेनैवेयं ऋक् पठिता, न तु विभागेन । कुतः । दृष्टत्वात् । 'ब्रह्मवि' दिति वाक्यानन्तरं तत्पूर्वोक्तमर्थं प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्यैवर्गुक्तेति श्रुति-ईश्यते । 'तदेषामभ्युक्ते'ति । तेन पूर्ववाक्योक्तार्थमधिकृत्यैवर्गुच्यत इति गुणातीत-मेष तदत्र वाच्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे प्रथमं सम्पत्त्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥ (४-४-२)

पूर्वेण मुक्तो जीवो भगवदनुग्रहातिशयेच्छातो बहिराविर्भूतो गुणातीतेन पुरुषोत्तमेनैव सह सर्वान् कामानश्नुत इति सिद्धम् । अथ तत्रैवेदं विचार्यते । आविर्भूतो जीवः प्राकृतेन शरीरेण भुङ्क्त, उताप्राकृतेनेति । तत्र भोगस्य लौकिकत्वे तदायतनस्यापि तादृशेनैव भवितव्यमिति मन्वानं प्रस्थाह ।

भाष्यप्रकाशः ।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥ अवतारयन्ति नन्वित्यादि । अत इति । वाक्यार्थोः परस्परपेक्षाबोधकपदाभावात् । व्याकुर्वन्ति पूर्ववाक्येनेत्यादि । अर्थस्तु स्पष्टः । तथा च वाक्य-ार्थोभ्ये तादृक्पदाभावेपि क्रमप्रयोजनबोधके मध्यमवाक्येऽपेक्षाबोधकपदसत्त्वात्तथेत्यर्थः ॥ ४ ॥

इति प्रथमं सम्पत्त्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥ अत्र पूर्वसूत्रद्वये भगवत्त्वेन विग्रहेण जीवस्य परप्राप्तिरूपो भोगः सिद्धः । अग्रिमसूत्रद्वये भगवत्त्वं परमपुरुषत्वं सिद्धम् । तत्र पूर्व-सूत्रद्वये यो विग्रहः सिद्धः, तं पूर्वं विचारयतीत्याशयेन पूर्वसूत्रद्वयसिद्धमर्थमनुवदन्तः सूत्रमक-तारयन्ति पूर्वैणेत्यादि । पूर्वैणेति । आद्यसूत्रद्वयेन । अथ तत्सिद्धयुत्तरं तस्मिन्नेव वाक्यायै रश्मिः ।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥ नन्वित्यादीति । अत्रेति । भिन्नायां विवरणार्थं । पूर्ववाक्येनेति । ब्रह्मविदामोतिपरमिति वाक्येन । तत्रेति । पूर्ववाक्ये । तदत्रेति । तद् ब्रह्म अत्र विवरणार्थं । मध्यमेति । तदेषामभ्युक्तेति द्वयोर्मध्यमवाक्ये । अपेक्षेति । तत्तत्पदमुक्तार्थम् । तथेति । गुणातीतमेव तदत्रवाच्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

इति प्रथमं सम्पत्त्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥ अत्रेति । चतुःसूत्रेधिकरणे । आद्यसूत्रेति । पर्याप्तिरूपभोगप्रतिपादकत्वेन रूपेण यत्पूर्वसूत्रद्वयं तेन । अथेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म । अथ तदिति । आनन्तर्यमथशब्दार्थ इत्याहुः । सिद्ध्युत्तरमिति । ब्रह्मणोऽस्यादीति । ब्रह्म

ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तानश्नुत इति जैमिनिराचार्यो मनुते । तत्र हेतुः, उपन्यासादिभ्य इति । 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति ब्रह्मविदः परप्राप्तिं प्रतिज्ञाय तदर्थस्यैवोपन्यासोऽग्रिमयर्चा क्रियते, 'सोऽश्नुत' इत्यादिना । तथा च परप्राप्तेर्मुक्तिरूपत्वात् पुष्टिमार्गीयायास्तस्या एवरूपत्वाद्ब्रह्मणः पुरुषोत्तमाय-तनरूपत्वात्तदात्मकमेव शरीरं तस्य वक्तुमुचितम्, न तु प्राकृतम् । एतद्बोधनायै-चाग्रेऽन्नमयादीनि विभूतिरूपाण्युक्तानि । भक्तशरीरे प्रतीयमानानामर्थानां

भाष्यप्रकाशः ।

वक्ष्यमाणविचार आरभ्यते इत्यर्थः । पूर्वपक्षार्थः स्फुटः । सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति ब्राह्मेणेत्यादि । ब्रह्मसम्बन्धिनेत्यस्य विवरणं ब्रह्मणेत्यादि शरीरेणेत्यन्तम् । उपन्यासादिभ्य इति । उप समीपे न्यासः कथनं विवरणमिति यावत् रा आदिर्येषाम्, तद्गुणसंविज्ञानः, ते उप-न्यासादयस्तेभ्यः । तदेतद्विवृण्वन्ति ब्रह्मविदित्यादि । एवरूपत्वादिति । सर्वकामाशन-रूपत्वात् । ननु ब्रह्मभावं विना मुक्त्यभावाज्जाने च तस्मिन् व्यापकत्वादिवदानन्दाविर्भाववच्च पूर्वसिद्धाकारस्याप्याविर्भाव उपन्यासश्चुतेरप्युपपत्तौ भोगार्थं ब्राह्मशरीरस्याङ्गीकारो न प्रामाणिक इत्यत आहुः एतदित्यादि । शरीरस्याक्षरात्मकत्वबोधनायैव ऋगुक्तोपन्यासानन्तरमन्नमयादीनि विभूतिरूपाणि पुरुषविधत्वेन ब्रह्मत्वेनोपासत्वेन चोक्तानि । तस्य फलं भक्तशरीरे प्रतीयमानानामर्थानां पृथिव्यादीनां गन्धादीनां च विभूतिरूपत्वेन ब्रह्मात्मकत्वं तेन कथनेन

रश्मिः ।

सम्पादयतीति ब्राह्मं शरीरम् । अन्येभ्योपीति ङः । ग्राह्यदिति । नितरां क्षेपः विवरणस्यैवेतिभावः । तद्गुणेति । उपन्यासादिभ्य आक्षिप्तेन ब्राह्मेण शरीरेण पुरुषोत्तमेनैव सर्वान्कामानश्नुत इति सूत्रार्थादाक्षेपे विशेष्यान्वयिन्नुपन्यासस्याप्यन्वयाद्धेतुत्वेन विशेष्यान्वयन्वयित्वरूपतद्गुणसंविज्ञान-लक्षणादिना तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । त इति । विवरणार्थं परप्राप्तिलक्षणार्थस्योपन्यासः । आदिपदोक्तं ब्रह्मणो निर्गुणत्वं विवरणविवरणविभागश्च उपन्यासप्रतिपादक 'मुक्त' इति सूत्रादग्रिमसूत्रद्वयाचोक्तास्ते उपन्यासब्रह्मनिर्गुणत्वविवरणविवरणविभाग इत्यर्थः । यद्वात्रायमुप-लक्षितोर्थः ते उपन्यासाऽन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया इत्यर्थः । ब्रह्मविदिति । ब्रह्मविदित्यादीति वक्तव्ये तत्पर्यायोपन्यासोऽयम् । तेन शरीरप्राप्तेरित्यादिभाष्यस्य आक्षेपलभ्यत्वेपि शरीरप्राप्तेः मुक्तौ रूपं यस्या इत्येवं मुक्तिरूपत्वं तस्मादित्यर्थः । पूर्वसिद्धेति । 'अग्रिमप्राप्तः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः । कर्मजानि शरीराणि तथैवाकृतयो नृप' इति वाक्यात् सूक्ष्मस्य । उपन्यासश्चुतेर्ब्रह्म-विदाप्नोतीति श्रुतेः । ब्रह्मशरीरस्येति । सच्चिदानन्दात्मकस्य । उक्तानीति । ब्रह्मविदप्रपाठके । भक्तशरीर इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्य फलमिति । ब्रह्मात्मकत्वमिति । जगतो ब्रह्मात्मकत्वेपि पुनर्ब्रह्मात्मकत्वविधानमलौकिकेपि देहे 'आश्चर्यो वक्ते'ति काठकाष्ट्यव्यादीनां तन्मात्राणां गन्धादीनां कथनम् । आश्चर्यं आश्चर्यवान् आश्चर्यशब्दादर्शआद्यच् । 'आश्चर्यवत्पश्यति

विभूतिरूपत्वेन ब्रह्मात्मकत्वं तेन साधितं भवति । इदमेवादिपदेन बहुवचनेन च ज्ञाप्यते एतदानन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितम्, अतो नात्र पुनरुच्यते । यत्र कर्म-वादी जैमिनिरिव मनुते, तत्रान्येषामेवमङ्गीकारे किमाश्चर्यमिति ज्ञापनाय तन्मतोपन्यासः कृतः ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

साधितं भवति । इदं श्रौतमुपपादनमेव आदिपदबहुवचनाभ्यां ज्ञाप्यत इत्यर्थः । प्रपञ्चित-मिति । 'तन्निरूपकस्यापि तदुच्यते' इत्यनेन वर्णकान्तरेण च प्रपञ्चितम् । तथा चाग्रेऽ-न्नमयादिनिरूपणवलादेवमुच्यते, अतः सृष्ट्यादौ यो भगवदाकारस्तिरोहितः, तस्यैवैवाविर्भावेपि दित्सितफलानुभवयोग्यरूपेणाविर्भावादुक्तप्रकारकस्थूलरूपस्यैवाविर्भावप्राप्तामणिक इति भावः । इदमेव 'स्वरूपेणावतारेणे'ति साधेन पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थ उक्तम् । एवञ्च जीवस्य व्यापकत्वादिषु भगवद्दर्मेऽनानन्दे चाविर्भूते सच्चिदानन्दात्मके देहेऽक्षरात्मके सम्पन्ने यो लीलारसानुभवः, स निरुपम इति, स एव सेवाफले, 'महान् भोगः प्रथमे विशते सदे'त्यनेनोक्त इति ज्ञेयम् । ननु मात्रवर्णिकसूत्रेऽन्नमयप्राणमययोर्ब्रह्माभ्यन्तरलौकिकव्यव-हारकारणत्वेन लोकत्वं मनोमयस्य च वेदत्वं तद्ब्राह्मे प्रत्यपादीति विभूतिरूपत्वादिकथनं तद्विरुद्धमिति चेत् । न । श्रुतौ परस्मादानन्दरूपात् सृष्टिः प्रकान्तेति सा सृष्टिरतिरोहितान-न्दा भवति । कारणस्य समन्वयात् । कार्यत्वाच्चेपत्तिरोभावोपि । अन्यथा व्यवहारमङ्गेन लीलामा असिद्धेः । एवं सति तादृश्यां सृष्टौ तत्तद्व्यवहारकारणीभूतस्य विभूतिरूपस्यैवौ-चित्येन तल्लौकिकवैदिकव्यवहारे कारणपदेन तस्यैव सूचनाविरोधात् । मतकथनप्रयोजनमाहु-र्यत्रेत्यादि ॥ ५ ॥

रश्मिः ।

कश्चिदेनमाश्चर्यवद्दति तथैव चान्य' इति गीता । इदमेवेति भाष्यविवरणम् । इदं श्रौतमिति । आदिपदेति । सौत्राथ्याम् । एवमुच्यते इति । ब्रह्मशरीरं स्थूलमुच्यते । भगवदाकारेति । मुक्तस्य भगवता दत्त आकारः तिरोहितः । उक्तप्रकारकेति । भक्तशरीर इत्यादिभाष्योक्त-प्रकारकस्थूलरूपस्य । आश्चर्यमुक्तमेव । पुष्टिप्रवाहेति । ननु पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थस्य बादरायण-मतानुसारित्वाजैमिनिमतानुसन्धानं कुत इति चेत् । वेदाविरुद्धमतत्वात् । 'जैमिनीये च वैयासे न विरोधोस्ति कश्चने'ति वाक्यात् । वेदविरोधो नास्तीत्यर्थः । सच्चिदिति । आनन्दोऽत्र गणितानन्दः अक्षरात्मक इति विशेषणात् । सेवाफल इति । आशङ्कासमाधाने पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थवत् । प्रकान्तेति । 'आनन्दाद्भेव खल्विमानि भूतानि जायन्त' इति । कारणस्येति । अतिरो-हितानन्दस्य सच्चिदात्मितरोहितानन्दस्य । आनन्दमीमांसानुकारकलीलानुरोधात्फलेप्याहुः कार्यत्वादिति । ईषत्तिरोभावेऽपि समन्वयादिति पूर्वेण सम्बन्धः । व्यवहारेति । कार्य-कारणव्यवहारमङ्गेनेत्यर्थः । तादृश्यामिति । नित्यलीलास्थायां शब्दसृष्टौ । लौकिकेति । मात्र-वर्णिकसूत्रोक्तलौकिकवैदिकव्यवहारे । कारणेति । ब्राह्मेणेत्यत्र हेतौ तृतीयया ब्राह्मेणेत्यपदेन । यद्वा मात्रवर्णिकसूत्रैकारणपदेन । तस्यैवेति । विभूतिरूपस्यैव कार्यत्वेन सूचनेनाविरोधत्वात् । यत्रेत्यादि । अन्येषामिति । बादरिकाशकृत्सादीनाम् ॥ ५ ॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

‘स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मा-
ऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन’ इति श्रुतौ घनपदेन ज्ञानात्मकविग्रहात्मत्वं
ब्रह्मणो बोध्यते, अन्यथा न वदेत्, प्रयोजनाभावात् । तथा च तादृशेन सह
भोगकर्त्रा तादृशेनैव भाव्यमिति, चिति विद्रूपे ब्रह्मणि, तन्मात्रेण चिन्मात्रेण
रूपेण कामान् भुङ्क्ते, न तु विग्रहेण । श्रुतौ जीवस्य तथात्वस्यानुक्तेः । पूर्णा-
नन्दत्वाद्भगवत्स्तत्सम्बन्धेन तदानन्दाननुभवतीत्यर्थः सम्पद्यते । चिदात्मत्वं
जीवस्य यतो नैसर्गिकमित्यौडुलोमिराचार्यो मनुते ‘अशरीरं वा वे’तिश्रुतिरेता-
दृशान्यविषयिणीति ज्ञेयम् । मुक्तिदशायां तदनुभवस्य भगवदिच्छाविषयत्वा-
भावात् तथा । तथा चैतदेतज्जातीयकानन्दानुभवोऽस्य भवत्विति भगवदिच्छैव
श्रुतौ कामशब्देनोच्यते ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

चिति तन्मात्रेण तदात्मत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥ व्याकुर्वन्ति स इत्यादि । न
वदेदिति । घनपदं न वदेत् । तथात्वस्येति । विग्रहवत्त्वस्य ।

अन्ये तु चितितन्मात्रेणेत्येकं पदमङ्गीकुर्वन्तश्चिन्मात्रेणाविर्भवतीत्यर्थमाहुः । तन्मते
इन्द्रप्रत्ययान्तस्य चितिपदस्य धातौ शक्तेस्तदर्थे लाक्षणिकत्वं तत्पदव्यर्थता च ।

भास्कराचार्यास्तु चैतन्यसन्मात्रेणेत्यर्थमाहुः । तन्मते तत्पदवैयर्थ्यं न भवतीति पूर्वा-
पेक्षया तत्सम्यगिति बोध्यम् ।

नन्वशरीरस्य प्रियाप्रियभोगः श्रुत्या निषिध्यते, न तु सशरीरस्य, ‘न वै सशरीरस्य सतः
प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ती’ति श्रुतेस्तस्य का गतिरित्यत आहुः अशरीरमित्यादि । ‘अशरीरं वा व
सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत’ इति श्रुतिस्तु प्रियपदस्याप्रियपदसममिव्याहान्नादेतादृशान्यविष-
यिणी एतादृशाद्भगवदानन्दानन्दो यो दुःखसम्भिन्न आनन्दस्तद्विषयिणीति न तद्विरोध इत्यर्थः ।
तत्र हेतुमाहुः मुक्तीत्यादि । तदनुभवस्येति । दुःखसम्भिन्नसुखानुभवस्य । तर्हि सुखे वैजात्या-
भावात् ‘कामानि’ति बहुवचनस्य का गतिरित्यत आहुः तथा चेत्यादि । तथा च तादृमि-
च्छानुभवे तदिच्छाविषयस्यानन्दस्याप्यनुभवश्चिन्मात्रेणैव रूपेण, न तु तत्र विग्रहस्याप्यपेक्षेति
औडुलोमेर्मतमित्यर्थः । एतेन चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठ’इत्यादि स्मारितं ज्ञेयम् ॥६॥

रश्मिः ।

चिति तन्मात्रेण तदात्मत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥ इन्द्रप्रत्ययान्तस्येति ।
इन्द्रप्रत्ययान्तस्य धातुनिर्देश इति सूत्रविहितेकप्रत्ययान्तस्य । तदर्थं इति । धात्वर्थं संज्ञाने । चितौ संज्ञाने
संज्ञाने धात्वर्थः । दुःखसम्भिन्नेति । दुःखमिश्रः । भाष्ये । तथेति । एतादृशान्यविषयिणी ।
कामानिति । ‘सोऽभुते सर्वान्कामा’मिति श्रुतौ । तादृमिति । कर्मपदवाच्येच्छानुभवे । इच्छावानह-
मित्याकारके । इच्छायाः सविषयत्वनियमादाहुः तदिच्छेति । अनुभव इति आनन्दविषयकेच्छावा-
नहमिति । चिन्मात्रेणेति । एवकारोप्यर्थे । अपिर्गर्हायाम् । सच्चिदानन्दत्वाद्ब्रह्मणः अंशद्वयत्यागाद्
गर्हा । व्यासपृथीतत्वाद्गर्हितस्य प्रयोजनामाहुः एतेन चैत्यस्येति । प्रकृते द्वादशस्कन्धीयम् । तथा च
भगवत्स्मारकैकदेशे तन्मतमिति भावः ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

परमाचार्यो बादरायणस्तु नैवं मनुते । ‘ब्रह्मविदाप्नोति पर’मित्यस्योपन्यास
एवमपि विग्रहवत्त्वेनापि कृतो यतः । तथाहि । ‘यो वेद निहितं गुहाया’मित्यत्र
गुहाया उक्तत्वात्तस्या विग्रह एव सम्भवात् । किञ्च । प्रथमान्तोपस्थितत्वेन
‘प्राप्नोती’त्युक्त्या च ब्रह्मविदः परप्राप्ती स्वातन्त्र्यं ज्ञाप्यते । तदेव ‘ब्रह्मणा सह’ेति

भाष्यप्रकाशः ।

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥ सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति
परमेत्यादि । एवमिति । औडुलोम्युक्तीत्या । उपन्यासादिति हेतुं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मेत्यादि ।
तथा च यदि तन्मात्रेणैव भोगः श्रुत्यभिप्रेतः स्यात्, तदा विग्रहवत्त्वेनोपन्यासो न क्रियेत ।
यत एवमतो न चिन्मात्रमते साधीय इत्यर्थः । नन्वत्र विग्रहाश्रवणात् कथं तथोपन्यासोऽ-
ङ्गीक्रियत इत्यतस्तदुपपादयन्ति तथाहीत्यादि । तस्या इति । गुहायाः । तथा चात्र ब्रह्म-
वित्पदेनापरोक्षब्रह्मज्ञानवानुच्यते, तस्याशरीरत्वे तद्व्याख्यानभूतर्कपूर्वार्थे गुहापदं न वदेत् ।
न च तत्र साधनदशापन्नस्यैव विग्रह उच्यत इति वाच्यम् । ‘यथाकृतुरसिन् लोके पुरुषो भवति
तथेतः प्रेत्येव भवती’तिवदवस्थाभेदगमकपदाद्यभावात् । ‘वेदे’ति ‘अश्रुत’ इति च समान-
कालबोधकपदविरोधापातात् कामभोगस्य विग्रहतत्त्वात्तदभावे, ‘सोऽश्रुत’ इत्यादिनोक्तस्य
फलस्य विरोधापत्तेश्च । अतो गुहापदव्याकोपात्तदुक्तो भक्तविग्रहाभावपक्षोऽसङ्गत इत्यर्थः ।
उत्तरार्थमादाय युक्त्यन्तरमाहुः किञ्च प्रथमेत्यादि । तथा औडुलोमिमते कामपदव्याकोपाऽ-
रश्मिः ।

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥ ब्रह्मेत्यादीति ।
परा इति । यतदोर्नित्यसम्बन्धात्तस्मादुपन्यासादित्यर्थः । विग्रहवत्त्वसाक्षेपलभ्यत्वात्साष्टत्वात्सष्टयन्ति
स्म तथाहीत्यादि । अतो विग्रहवत्त्वमाक्षिप्यत इति भावः । तथा चात्रेति । अत्र श्रुतौ ।
ब्रह्मवित्पद इति सम्यन्तम् । अपरोक्षब्रह्मज्ञानवानुच्यत इति नशब्दान्वयः । तस्य शरीरत्व इति ।
तस्य ब्रह्मविदः । ‘तस्यैव आत्मा वृणुते तनुं स्वा’मिति पाठे वृणुतेः प्रकाशार्थत्वाभावात्तस्य वृत्तभक्तस्य
एष आत्मनोप्यात्मा तं स्वां स्वीयां तनुं तनुत्वेन वृणुते सम्भजते इत्यर्थाच्छरीरत्वे । न वदेदिति ।
शरीरे नित्यलीलायां निहितत्वादधिकरणान्तरं न वदेत् । तस्याशरीरत्व इति पाठे अतो
ब्रह्मवित्पदेऽपरोक्षज्ञानवानुच्यत इति भावः । तत्रेति । ‘ब्रह्मविदाप्नोति पर’ मित्यादिश्रुतौ । एवेति ।
फलदशायोगव्यवच्छेदक एवकारः । अवस्थाभेदेति । जीवदवस्थामरणावस्थाभेदगमके भवति
प्रेत्यपदे दृष्टान्ते तद्दार्ष्टान्तिके साधनदशाफलदशाभेदबोधकपदाद्यभावात् । आदिना वाच्यम् ।
समानकालेति । वर्तमानकालत्वेन समानकालस्य बोधकरदयोर्विरोधस्यापातात् । विरोधापातस्तु
साधनदशापन्नस्यैव ब्रह्मविदो ग्रहणे भवति । तदुक्त इति । औडुलोम्युक्तः । उत्तरार्थमिति ।
अनुत्तरार्थं सोऽश्रुत इत्यादि । युक्त्यन्तरमिति । युक्तिर्विग्रहवत्त्वे । यदि विग्रहो न स्याद्दोक्तिर्न
स्यादिति । अन्या युक्तिः । यदि विग्रहो न स्यात्कामा न स्युरिति । इदं युक्त्यन्तरम् । किञ्च ।
प्रथमेत्यादीति । प्रथमान्तं ब्रह्मवित्पदं तेनोपस्थितत्वम् । ब्रह्मविदोर्थस्य तेनेत्यर्थः । स्वातन्त्र्यमिति ।
स्वतन्त्रः कर्तेति सूत्रात् । तदेवेति । स्वातन्त्र्यमेव ब्रह्मणा सह स कर्ता स्वतन्त्रः । पूर्वोक्त इति
विवरणच्युपन्यस्तम् । तेनेत्यादि । तेन सहार्थकतृतीयान्तब्रह्मपदेन स इत्युक्तभक्तवाचकपदान्वयन-

पदेनोपन्यस्तम् । तेन ब्रह्मणोपि तत्समानक्रियावत्त्वं ज्ञाप्यते, परन्त्वप्राधान्येन । तथा च भक्तस्यैव कामा वक्तुमुचिताः, ते च न विग्रहं विना सम्भवन्ति । किञ्च । 'विपश्चिने'ति विशेषणेन विविधं पदयच्चिद्रूपत्वमुच्यते । कामभोगोक्तिप्रस्ताव एतदुक्त्या तदुपयोग्येव सर्वं वाच्यम् । एवं सति भक्तविविधभावान् पश्यति, स्वयं भोगचतुरश्रेत्युक्तं भवति । एतेनापि भक्तविग्रहः सिध्यति । ननु विग्रहस्यागन्तुकत्वेन लौकिकत्वाद्लौकिकेन ब्रह्मणा भोगो विरुद्ध इत्यत आह पूर्वभावादिति । भक्तप्राप्तेः पूर्वमेव भगवद्विस्तितभोगानुरूपविग्रहाणां सत्त्वान्न विरोधः । किञ्च । उक्तश्रुतिसूत्रैः पुरुषोत्तमेन सह भक्तस्य कामभोगो निरूपितः । स यावताऽर्थेन विना नोपपद्यते, तावान्न स श्रुत्यभिमत इति मन्तव्यम् । तथा च ब्रह्मसम्बन्धयोग्यानि शरीराणि नित्यानि सन्त्येव । यथानुग्रहो यस्मिन् जीवे, स तादृशं तदाविद्य भगवदानन्दमश्नुत इति सर्वमवदातम् ॥ ७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

निवृत्तेस्तदयुक्तमित्यर्थं । विपश्चित्पदेनापि तत् साधयन्ति किञ्चेत्यादि । एतेनेति । भक्तविग्रहाभावेऽनुपपद्यमानेन भोगचतुरश्रेणोपपद्यमानेन । हेत्वन्तरमवतारयन्ति नन्वित्यादि । व्याकुर्वन्ति भक्तेत्यादि । भक्तप्राप्तेरिति । भक्तस्य भगवत्प्राप्तेः । न विरोध इति । आगन्तुकत्वलौकिकत्वाम्यां कृतोपि चिन्मानस्वब्राह्मशरीरवत्त्वयोर्विरोधो न । तथा चैतैर्हेतुभिर्विग्रहवत्त्वस्याविरोधं मन्यत इत्यर्थः । सिद्धमाहुः किञ्चेत्यादि । सन्त्येवेति । पुत्तलिकावद्भगवन्मन्दिरे भगवद्दर्मात्मकानि सन्त्येव । आविश्येति । अयं मम देह इत्यभिमानं कृत्वा । तथा च श्रुतार्थापत्तिसिद्धत्वात्तत्र सन्देह इत्यर्थः ।

ननु द्वय एतद्वोधकपदाभावादेतस्यैतद्विषयवाक्यत्वं कथमवगन्तुं शक्यत इति चेत् ।

रश्मिः ।

क्रियान्वयिना ब्रह्मणोऽपि भक्तसमानाशनक्रियावत्त्वं ज्ञाप्यते । अप्राधान्येनेति । 'सहयुक्तेऽप्रधान' इति पाणिनिसूत्रात् । सिद्धमाहुस्तथा चेति । औद्दलोमिमतेऽयुक्ते योग्यं तमाहुः तथा चेति । विग्रहं विना कामपदव्याकोपानिवृत्तौरौद्दलोमिमतमयुक्तम् । तत्साधयन्तीति । शरीरं साधयन्ति । किञ्चेत्यादीति । स्वयमिति । तेन 'सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुना'त्वित्यत्र सूर्ये विपश्चित्वं भगवदीयं बोध्यम् । हेत्वन्तरमिति । हेतुरुपन्यासः हेत्वन्तरं पूर्वभावः । भक्तस्येति । रसान्तःपाती भक्तोऽपि भगवानिति सामर्थ्यसत्त्वान्न समासात्पत्तिः । विरोधो नेति । आगन्तुकत्वेन चिन्मात्रत्वस्य लौकिकत्वेन ब्राह्मशरीरवत्त्वस्य यः सहानवस्थानलक्षणो विरोधः स न । तथा चैतैरिति । एते जैमिनिप्रभृतयः बादरायणश्च हेतुभिरुपन्यासादियुक्तयुपन्यासपूर्वभावैः । मन्यन्त इति । बादरायणो मन्यतेऽन्ये मन्यन्त इति वचनविपरिणामेनान्वयः । किञ्चेत्यादीति । स इति । सोऽर्थः । तदिति । शरीरम् । अश्रुते अश्रातीत्यर्थः । सर्वमिति । सगुणत्वेपि निर्युणत्वम् । लीलायामात्मगुणाः सत्त्वादय इति सर्वं पूर्वोक्तं निर्दोषमित्यर्थः । सिद्धमाहुः तथा चेति । आक्षेप्यविग्रहे सिद्धे सति । ब्रह्मविच्छ्रुतौ श्रुतो यः कामभोगो गुहा चार्थस्तस्यापत्तिरापादनम् । यदि विग्रहा न स्युः कामभोगो गुहा च श्रुतो न स्याद् यतः श्रूयतेतो विग्रहा इति श्रुतार्थापत्तिसिद्धत्वात्तत्राप्राकृतशरीरे सन्देहः । प्राकृतेन शरीरेण युक्तः उताप्राकृतेनेति सन्देहो नेत्यर्थः । श्रुतार्थापत्तिरुक्ता पूर्वम् । एतद्वोधकेति ।

भाष्यप्रकाशः

अर्थबलादिति वदामः । तथाहि । अस्मिन् चरणे मुक्तस्य फलानुभवप्रकार उच्यते । मुक्तिस्तु न यावद्दुःखात्यन्ताभावमात्ररूपा, अपि तु निरवधिसुखात्मकब्रह्मप्राप्तिरूपा, तल्लोकादिप्राप्तिरूपा च । तैत्तिरीयोपनिषदि 'ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतामाप्नोती'ति श्रुतौ द्वयोः श्रावणात् । पुराणेषु 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युते'ति प्रकारभेदकथनाच्च । सा च यथाधिकारं सद्यः, क्रमेण वा भवति । तत्र सद्योमुक्तावात्मकाम एवाधिकारी । 'अथाकामधमानो सोऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो भवति न तस्मात् प्राणा उत्कामान्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुतेः । तादृशस्य ब्रह्मानुभवप्रकारश्चाग्रे । 'यदा सर्वे प्रशुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्लोक उक्तः । स्वप्रतिज्ञानुरोधाद्याज्ञवत्त्वेन सत्यं न विवृतः । सोऽत्र 'ब्रह्मविदामोती'त्यस्य विवरणं च व्यक्तीक्रियते । अशनप्रकारस्य विपरणात् । अतः स चेदत्र न विचार्येत, तदा शास्त्रे न्यूनतैवापद्येत । विचारिते च तस्मिन् मुक्तौ निःसम्बोधताया निवृत्तेः सर्वास्वापि तादृशत्वमर्थादेव सेत्स्यतीति बुध्यस्व ।

रश्मिः ।

ब्रह्मविदामोति परमित्यादिवाक्यबोधकपदाभावात् । एतस्योक्तश्रुतिवाक्यस्य एतदधिकरणविषयवाक्यत्वम् । यावदिति । एकविंशतिदुःखानामोक्ष इति नैयायिकाः । निरवधीति । गणितानन्दनिवृत्त्यर्थं निरवधीति सुखविशेषणम् । सुखं च ब्रह्मविशेषणम् । ब्रह्मप्राप्तिर्भोक्ष इति 'ब्रह्मविदामोति पर'मित्यत्र स्पष्टा । सायुज्यमित्यादि । सायुज्यं ब्रह्मप्राप्तिः संयोगरूपा ब्रह्मजीवयोर्द्रव्यत्वात् । ज्ञानरूपगुणत्वे तृभयोर्योगमात्रम् । सलोकतामिति । ब्रह्मलोकप्राप्त्या भवति ब्रह्मसमानलोकता । इत्यतस्तल्लोकताप्रकारभेदः । एवं स्वरूपेण व्यवस्थितिर्मुक्तिरित्येकादशस्कन्धे । सायुज्यं सलोकतेति । आत्मलाभवत्स्वरूपेण व्यवस्थिती भवतः । तल्लोकादीत्यत्रादिशब्दार्थमाहुः पुराणोपीति । प्रकारेति । सालोक्यं तल्लोकप्राप्तिप्रकारेषु भेदः प्रकारः । एवं सामीप्यसारूप्ये अपि तल्लोकप्राप्तिप्रकारेषु भेदो प्रकारौ । साष्टैरलौकिकसामर्थ्यं परिशेषात् । एकत्वं सायुज्यप्रकारेषु ऐक्यमोक्षब्रह्मप्राप्तिरूपेषु भेदः प्रकारस्तेषां कथनाच्च । आत्मकाम इति । उपनिषदि शरीरकब्राह्मणे आत्मकाम आत्मकाम इति पाठः । सोऽश्नुत इति । सम्यग्भाति ब्रह्मानुभवं करोति । ब्रह्म गौणीभावेन कर्माभूतं बृहत्त्वादिगुणविशिष्टं सुखदुःखसाक्षात्कारविषयं करोतीत्यर्थः । स्वप्रतिज्ञेति । याज्ञवल्क्यप्रतिज्ञाऽथाकामयमान इति तदुरोधात् । व्यक्तीति । सामान्यप्रकारस्य विशेषप्रकाराकाङ्क्षात्वात्तथा । अशनप्रकारस्य विशेषस्य विवरणात् । स चेदिति । सम्भ्रुत इति सामान्यसमशनप्रकारस्योक्तत्वात् सविशेषप्रकारश्चेद् अत्र फलाध्याये । शास्त्रे मीमांसारूपोपाङ्गशास्त्रे सन्दिग्धश्रुतिसन्देहवारके । तस्मिन् विशेषे प्रकारे । निःसम्बोधताया इति । निष्कान्ता सम्बोधाग्निःसम्बोधा तत्ताया निवृत्तेः ब्रह्मणा सहाहं सर्वकामानभ्रामीति सम्बोधात् । किम्पुनः स्थलान् जाप्रति सूक्ष्मान् स्वप्ने सुषुप्तौ आनन्दमात्रान् कामानश्रातीति । 'लोकवत्तु लीलाकैवत्यमि'ति सूत्रात् । सर्वास्वपीति । मुक्तिश्चपि । तादृशत्वमिति । सम्बोधत्वम् । इति बुध्यस्वेति । इति हेतोरेतस्यैतद् विषयवाक्यत्वं बुध्यस्व । तेनैतद्ब्रह्म निःसम्बोधा । अत्र मण्डूकोपनिषद्विरोधमाशङ्क्य निषेधन्ति स्म न च निःसमिति । तथा च श्रुतिः ।

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरैर्व्यापिभिर्न्याप्य लोकान् ।

भुक्त्वा भोगान्स्वविद्यान् पुनरपि धिषणोद्भासितान् कामजन्यान् ॥

भाष्यप्रकाशः ।

न च निःसम्बोधा युक्तिरिति युक्तम् । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्यत्र ब्रह्मभावोत्तरमेव युक्तेः श्रावणात् । ब्रह्मणश्च विरुद्धधर्माश्रयताया उभयलिङ्गाद्यधिकरणेष्वेव निर्णयेन निर्विशेषवादस्य प्रागेव निरस्तत्वात् । ये पुनः प्रजापतिवाक्यस्थां 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य खेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति श्रुतिं विषयवाक्यत्वेन आद्रियन्ते, तेषामपि तस्यास्तथात्वं सन्दिग्धमेव । यत्र उपसम्पत्तिपदाभावात्, केवलस्य सम्पद्येति पदस्य 'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति सति सम्पद्य न चिदुः सति सम्पद्यामह' इति सुषुप्तिविषये श्रावणात् । अत उपसम्पत्तिवाक्यस्य विषयत्वेनादरणमर्थबलादेवेति वक्तव्यम् । तथा सति तौल्याच्च पर्यनुयोगावकाशः । किञ्च 'खेने'ति पदस्यापि ब्रह्मवाचकत्वमेव मुख्यम् । 'स्वमपीतो भवती'-त्यादौ तथा सिद्धत्वात् । अतस्तत्रापि तथा । किञ्च । नायं नियमो यद्विषयवाक्यं सौत्र-
रक्षिः ।

पीत्वा सर्वान् विशेषान् स्वपिति मधुरभुग्भायया मोहयन्नो ।

मायासङ्ख्यात्तुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तत्रतोसि ॥ इति

उपक्रमज्ज्ञानमार्गीयेयम् । पुनरपीत्यादिना जाग्रदवस्थामनु स्वामिकीं तामाहुर्मण्डूकाः । विषणा बुद्धिः । स्वापावस्थामाहुः पीत्वेति । स्वपिति स्वापं करोति । मधुरभुक्-भानन्दसुक् । तुरीयावस्थामाहुः माययेति । नोस्मान् मण्डूकान् । मायया त्रिगुणरूपया सङ्ख्यायते सम्प्रकथ्यते तन् मायासङ्ग्रहम् । न तु सत्यम् । सोऽहं । नत इति । जात्यपेक्षयैकवचनम् । ज्ञानैकत्वादेकवचनं वा । ब्रह्मैव सन् ब्रह्मभावं गतः सन् । ब्रह्मभावोत्तरमेवेति । न तु तूष्णीम् । एवमप्यनुवादेन युक्तिर्निःसम्बोधेति चेत्त्राहुः ब्रह्मणश्चेति । निर्विशेषेति । निःसम्बोधयुक्तिसमर्पकस्य । प्रागेवेति । उभयलिङ्गाद्यधिकरणेष्वेव । श्रुत्यविरोधस्तु अग्रेतनश्रुत्यन्तरान् । श्रुत्यन्तरं तु ।

यो विश्वात्मा विविधविषयान्माय्य भोगान् स्वविद्वान् ।

पश्चात्स्वान्यान् स्वमतिविभवान् ज्योतिषा खेन सूक्ष्मान् ॥

सर्वानेतान् पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा ।

हित्वा सर्वान् विशेषान् विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः ॥ इति

भक्तिमार्गीयेयम् । मायाऽश्रवणेन विश्वादीनां नित्यत्वस्फोरणात् । विश्वात्मना स्वविद्यभोग-मुक्त्वा जाग्रति स्वप्ने 'अत्रात्मा स्वयंज्योतिर्भवती'ति श्रुतेः । खेन ज्योतिषा स्वामिकान् पश्चात्स्वान्यान् पश्चात्स्वान् यान् पश्चात्स्वानन्यान् प्राप्य भोगान् । सुषुप्तौ सर्वानेतानिति । स्थापयित्वा प्राज्ञः न किञ्चन संवेत्तीत्युत्तरेणान्वयः । न इति । मण्डूकान् । मण्डूकोपनिषत्त्वादन्येषामलोभाच्च । अत्र मायाऽश्रावणाच्छ्रुत्यन्तरत्वम् । अत्रापि निःसम्बोधमुक्त्यभाव उक्तः । 'नात्मानं नापरञ्चैव न सत्यं चापि नानृतम् । प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत् सर्वदृक् सदा ॥ निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रसुरव्ययः । अद्वैतः सर्वमूतानां देवस्तुर्यो विशुः स्मृत' इति ॥ तत्सर्वदृक्पदेन सर्वविषयकज्ञानोक्तेः । भक्तिमार्गस्य काचित्कत्वादग्रे 'मायायात्रमिदं विश्वमद्वैतं परमार्थत' इति विश्वस्य मायामात्रत्वमुक्तम् । भक्तावाग्रहे तु । मायामात्र-इन्द्रियमात्रम् । वैराग्यार्थमनृतं वेत्यर्थः । ये पुनरिति । शाङ्करादयः । श्रुतिस्तु छान्दोग्यसमासावस्ति । तथात्वमिति । विषयवाक्यत्वम् । उपसम्पत्तीति । भावप्रत्ययान्तत्वेन पर्यायत्वम् । श्रावणादिति । छान्दोग्ये तथा । ब्रह्मेति । हेतुभूतब्रह्मवाचकत्वम् । तत्रापि तथेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

पदानुरूपमेव ग्राह्यमिति । 'अत्ता चराचरग्रहणा'दित्यादौ तथा दर्शनाभावात् । अतोऽर्थमादाय विषयवाक्यग्रहणं नानुचितमिति दिक् ॥

यत्तु शाङ्कराचार्याः, सम्पद्याविर्भावाधिकरणं त्रिसूत्रमङ्गीकृत्य, प्रथमसूत्रे 'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य खेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति छान्दोग्ये इन्द्रप्रजापतिसंवादस्थां श्रुतिं विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्य, किं देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विवागन्तुकेन केनचिद्विशेषेण अभिनिष्पद्यते, उतात्ममात्रेणेति संशये, मोक्षस्याफलत्वप्रसिद्धेः 'अभिनिष्पद्यत' इत्युत्पत्तिपर्यायभूतशब्दप्रयोगादात्मनश्च सर्वदा विद्यमानत्वेनाभिनिष्पत्तेर्वक्तुमशक्यत्वाद्यागन्तु-केनेति पूर्वपक्षमुक्त्वा, केवलेनैवात्मना आविर्भवति, न धर्मान्तरेण । कुतः । खेन रूपेणाभि-निष्पद्यत इति स्वशब्दात् । अन्यथा 'खेने'ति विशेषणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न चात्मीयवाची स्वशब्द इति युक्तम् । तस्य रूपान्तरेपि तुल्यत्वेनात्र विशेषतस्तत्कथनस्य वैयर्थ्यानपायात् । अतः 'खेने'ति विशेषणसार्थक्यार्थं केवलेनावतिष्ठत इति सिद्धान्तं व्याख्याय, पूर्वावस्थासिद्धि-च स्वरूपानपायसाम्ये तत्र को विशेष इति शङ्कायां द्वितीये सूत्रे सर्वबन्धविनिर्मुक्तत्वरूपो विशेषः । पूर्वं जाग्रदाद्यवस्थासु, 'अन्धो भवती'ति, 'रोदितीवे'ति, 'विनाशमेवापीतो भवती'-त्यवस्थात्रयकालुष्यकथनेन बन्धाविमोक्तबोधनात् । तस्य युक्तत्वं च 'एतं त्वेव ते भूयोऽनु-व्याख्यास्यामी'त्यवस्थात्रयविहीनस्यात्मनो व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञातस्याशरीरत्वाद्युपन्यासपूर्वकं 'खेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इत्युपसंहारात् । आख्यायिकोपक्रमे चापहतपाप्मेत्यादिशुक्लात्म-विषयप्रतिज्ञानादिति व्याख्याय, तृतीयसूत्रे 'परं ज्योतिरुपसम्पद्ये'त्यनेन ज्योतिःसम्पत्तेरुक्त-त्वाज्योतिषश्च प्राकृतत्वात् सम्पत्तौ कथमस्य युक्तत्वमिति शङ्कायां 'परं' 'ज्योति'रिति पदाभ्यां 'तदेवा ज्योतिषां ज्योति'रिति श्रुत्यन्तराज्योतिःशब्देन परं ब्रह्मैवोच्यते, न तु प्राकृतमत-स्तत्सम्पत्तौ न युक्तत्वमङ्गः । आत्मन एव प्रकरणदर्शनादित्याहुः । ततोऽविभागेन दृष्टत्वा-दित्येकसूत्रमधिकरणान्तरमङ्गीकृत्य, किं युक्तः परमेश्वराद्भेदेनावतिष्ठते, उताभेदेनेति शङ्का-यामविभक्त एवावतिष्ठत इति सिद्धान्तमिति । ततो 'ब्रह्मणे'त्यादित्रिसूत्रमधिकरणमङ्गीकृत्य, पूर्वाधिकरणे यदात्मरूपेण खेनाऽनागन्तुकेनावतिष्ठत इत्युक्तम्, तत् कीदृशमिति चिन्तायां जैमिनिस्तावद् यद् ब्राह्मं रूपम्, 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प'इत्यनेन प्रागुक्तम्, तथा सर्वेश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं च तेन रूपेणाभिनिष्पद्यत
रक्षिः ।

खेनेति पदेऽपि तौल्यम् । तथेति । 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोमे भवत ओदनः मृत्युर्यसोपसेचनं क इत्या वेद यत्र स' इति काठकस्थस्य विषयवाक्यस्य सौत्रपदानुरूपत्वदर्शनाभावात् । न चात्मीयेति । तदा आत्मीयेन केनचिद्विशेषेणेति खेन रूपेणेत्यस्यार्थः । तस्येत्यादि । तस्यात्मीयत्वस्य रूपान्तरेषु मोक्षेऽविबक्षितेषु तत्कथनस्येति । आत्मीयवाचिनः खेनेत्यस्य कथनस्य । इह चेति । मोक्षावस्थायां च । अपायो नाशः । अत्रेति । मुक्तौ । रोदितीवेति । स्वप्ने रोदितीव देवदत्तो न तु रोदितीति । स्वापे नाशमेवापीतोपि गतः । कालुष्यमशुद्धत्वम् । एतमिति । अवस्थात्रयविहीनम् । तत्सम्पत्तौ ज्योतिःसम्पत्तौ । तदिति । रूपम् । प्रागुक्तमिति । दहर-विद्यायां प्रजापतिवाक्याद्विषयात्पूर्वमुक्तं छान्दोग्ये । तथेति । यथा प्रागुक्तं ब्राह्मं रूपम् । तथा

भाष्यप्रकाशः ।

इति मन्यते । तत्र हेतुरपहतपाप्मेत्यादिनोक्त उपन्यासः, आदिपदसङ्गृहीतं 'स तत्र पर्येती'-
त्यादिनोक्तं च । औडुलोमिस्तु-यद्यप्यपहतपाप्मादयः, अभेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते, तथापि
शब्दविकल्पजा एवैते इति पाप्मादिनिवृत्तिमात्रं तत्र गम्यते । चैतन्यमेव तस्यात्मनः स्वरूप-
मिति तन्मात्रेणैव रूपाभिनिष्पत्तिर्द्युक्ता । 'एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽनाद्यः कृत्स्नः
प्रज्ञानघन एवेत्यादिश्रुत्यनुग्रहात् । सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते,
सत्याः कामा अस्येति, तथाप्युपाधिसम्बन्धाधीनत्वात्तेषां न चैतन्यवत् स्वरूपत्वसम्भवः ।
अनेकाकारत्वप्रतिषेधात् । प्रतिषिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वं, 'न स्थानतोऽपि परस्वो-
भयलिङ्ग'मित्यत्र । अत एव जल्यणादिसङ्कीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थम् । आत्म-
रतिरित्यादिवत् । न हि मुख्यान्येव रतिक्रीडामिथुनान्यात्मनिमित्तानि शक्यन्ते वर्णयितुम् ।
द्वितीयविषयत्वात्तेषाम् । तस्मात्तस्मात्प्रपञ्चेन प्रसभेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाभिनिष्पद्यत इति
वादरायणस्त्वाचार्य एवमपि पारमार्थिके चैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमे व्यवहारापेक्षया पूर्वस्य पूर्व-
स्याप्युपन्यासादिभ्योऽजगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं मन्यते इत्येवं व्याचरत्युः ।

तत्रेदमवधेयम् । छान्दोग्य इन्द्रप्रजापतिसंवादे, य आत्मा वेद्यत्वेन प्रकृतः, स दहर-
विद्योपास एव, देवासुरैरनुबुध्यमाने प्रजापतिवाक्ये तस्यैवापहतपाप्मत्वादिगुणकस्य प्रत्यभि-
ज्ञानात् । इन्द्रविरोचनाभ्यामपि तस्यैव विवित्सया तथानुवादात् । अतः प्रजापतिरपि तमेव
सर्वेषु पर्यायेषु बोधयति 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत' इत्यादिना । परं त्विन्द्रविरोचनौ
रश्मिः ।

सर्वेश्वरत्वमित्यादि द्रष्टव्यम् । अभेदेनेति । विशेष्यविशेषणयोरभेदान्वयो नीलो रूपमित्यादौ
दृष्टमिति भावः । शब्दविकल्पेति । दर्शनेन देवदत्ते पाप्मवति पाप्मवच्छब्दवाच्येऽपहतपाप्मशब्द-
प्रवृत्तौ अपहतशब्दवाच्यत्वमिति । पाप्मवच्छब्दे विकल्पो जातोऽत एतादृशशब्दविकल्पजा एवैते
शब्दाः । तत्रेति देवदत्तादौ । द्वितीयेति । सप्रपञ्चविषयत्वात् । निरस्तोऽशेषप्रपञ्चो यस्मिन् ।
पूर्वस्य पूर्वस्येति । पूर्वभावादिति सौत्रपदार्योऽयम् । अप्रत्याख्यानादिति, मावात् । ब्रह्मणो
मुक्तात्मनः सप्रपञ्चत्वनिःप्रपञ्चत्वयोरविरोधं मन्यते । य आत्मैति । 'य आत्मापहतपाप्मा विजर'
इत्यादिना । 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य' इति श्रुतेर्वेद्यत्वेन प्रकृतः । देवासुरैरिति । 'तद्धोभये
देवा अनुबुधुधिर' इत्यादिना । प्रजापतिवाक्ये इति । 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स
सर्वाश्च लोकानाम्प्रोति सर्वाङ्कामान्यस्तमनुविद्य विजानातीतीह प्रजापतिरुवाचे'ति वाक्ये ।
तस्यैवेति । दहरविद्योपासस्यैव । अष्टमप्रपाठकस्यत्वाद्दहरविद्योपास्येलेवकारः । इन्द्रप्रजापति-
संवादास्यापि अष्टमप्रपाठकस्यत्वम् । तत्तेदन्ताप्रकारकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं, तस्यैव दहरोपास्यस्यैव
विवित्सयेति । वेत्तुमिच्छा विवित्सा तथा । तथेति । तेन प्रकारेण । 'तौ होचतुर्य
आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्सुर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यवतो वाचो वेदयन्ते
तमिच्छन्ताववास्त'मित्यनुवादात्सिद्धस्य कथनात् । टीकायां सत्यवतो वाचो वचनं वेदयन्ते शिष्टा इति वाच
इत्यत्र वच इति पाठः शिष्टा इति कर्तुरप्याहारः । अवास्तमिति । आवां अवास्वेति लङ्गतम-
पुरुषे वक्तव्येऽवास्तमिति मध्यमपुरुषाभिधानं युवां वचनप्रजापती अवास्तमिति प्रजापतिवचना-
नुरुपेणमात्रम् । वस् निवासे । भ्वा. प. अनि. विकरणव्यत्ययः, शपः लृङ् । लङ् । तमेवेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

परप्राप्तिं पुरुषार्थत्वेनावगत्य तदर्थं न प्रष्टुं प्रवृत्तौ, किन्त्वपहतपाप्मादिगुणकात्मज्ञानेन सर्व-
कामप्राप्ताद्यर्थम्, अतस्तदधिकारं हीनमवगत्य चित्तशुद्ध्यर्थं तप उपदिदेश, श्लिष्टप्रयोगेण
चोक्तवान् । तत्र प्रथमे पर्याये 'दृश्यत' इत्यनेनार्थमेव दर्शनमभिप्रेतम् । तदेवोपपादितं 'अन्तर
उपपत्ते'रित्यत्र । परमिन्द्रेण न बुद्धमिति देहमात्मानं बुद्ध्वा भयं ददर्श, 'अस्मिन्नन्वेऽन्वो भव-
तीत्यादि । एवं दृश्यस्याज्ञाने पुनस्तप उपदिश्य, द्वितीयेऽपि पर्याये स्वप्नसृष्टिकर्तारमुपदिदेश,
'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरती'ति । अत्रापि 'एतं त्वेवं भूयोऽनुव्याख्यास्यामी'त्येवच्छब्देन
स्वप्नद्विस्थस्यैव परामर्शात् । न त्विन्द्रबुद्धिस्थस्य । इन्द्रेण देहस्यैव पूर्वं बुद्धत्वादिति । परं त्विन्द्रेण
द्वितीयेपि पर्याये स न बुद्धः, किन्तु देहाद्भिन्नो जीव एव स्वप्नदृष्टोपदिश्यत इति बुद्धम् । स
यद्यपि बाह्योपाधिदोषात् दुष्यति, तथाप्यान्तरदोषाद् दुष्यतीति पुनस्तृतीये पर्याये समागत्य
भयमुक्तवान् । तदा सुषुप्त्यधिकरणभूतं तमेव 'यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसभः स्वप्नं न
रश्मिः ।

दहरविद्योपासमेव । अन्यथा प्रकान्तविरोध इत्येवकारः । अवगम्येति । स सर्वाश्च लोकाना-
मोतीति श्रुतेरवगत्य । अपहतपाप्मेत्यादीति । आप्नोति सर्वाश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य
विजानातीति श्रुतेस्तथा । तप उपेति । वसापराणि द्वात्रिंशत् वर्षाणि इति स हापराणि द्वात्रिंशत् वर्षा-
ण्युवासेति । श्लिष्टेति । निवासार्थकवसतेः प्रयोगः श्लिष्टः इष्टाकरणेन निवासे सन्तापः श्लिष्यते इति
तेन तप उक्तवान् । लौकिकं दर्शनं कृतो नेत्यत आहुः तदेवेति यदि स्वप्नदृष्टोपदिश्यत इति वि-
क्षितं न स्यात्तदान्तरपदं सूत्रे न ब्रूयात् । आर्षेज्ञानविषयत्वाद्दन्तरस्येति भावः । देहमात्मानमिति ।
'तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव' इति श्रुतेर्बुद्ध्वा । तौ इन्द्रविरोचनौ । भगवः
भगवन् द्विरप्यगर्भः आत्मानं देहम् । भयं ददर्शेति । अयं 'हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श ययैव
स्वयमस्मिच्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतः' इत्याद्युक्त्वा 'एवमेवायमस्मिन्नन्वेऽन्वो भवती'त्यादि अग्रे
'अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेव नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति स समित्पाणिः पुनर्याये'ति श्रुतिः । अय-
मिति । उदशरावे देहदर्शनानन्तरं साध्वलङ्कृतमुवसनदेहस्योदशरावे दर्शनानन्तरं शरीरान्तर्बुद्ध
आत्मा । अस्मिन्नन्ध इति शरीरेन्द्रे आत्मान्धः । अनु एष आत्मा । अत्र भोग्यमिति । छाया-
त्मदर्शने भोग्यं फलम् । समित्पाणिरिन्द्रः ब्रह्मचर्यं वस्तुं पुनर्याय आगतवान् । एवं दृश्यस्येति ।
भोग्यत्वेन दृश्यस्यात्मनोऽज्ञाने । 'वसापराणि द्वात्रिंशत् वर्षाणी'ति श्रुतेः पुनस्तप उपदिश्य ।
द्वितीयेति । 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येव आत्मेति होवाचैतदमृतमभयं ब्रह्मे'ति द्वितीये पर्याये ।
अत्रापीति । अत्रापिऽस्य बुद्धिस्थस्येत्वेनान्वयः । स्वप्नद्विस्थस्येति । अन्तर्विद्यमानस्य । इन्द्र-
बुद्धिस्थस्य परप्राप्तिपुरुषार्थस्य । बाह्योपाधीति । देहस्यान्धममृक्त्वरूपदोषेभ्यः एकत्वम-
विवक्षितम् । आन्तरेति । अविषककामकोपाधिदोषात् । अत्राप्येकत्वमविवक्षितम् । पुनस्तृतीय
इति । पुनः समागत्य भयमुक्तवान् इत्यन्वयः । द्वितीयपर्याये एव सहाप्राप्यैव देवानेतद्भयं दद-
र्शेत्यादिना समागत्य भयमुक्तवानित्यर्थः । तृतीयपर्याये तदा सुषुप्त्यधिकरणभूतमित्यादिरन्वयः ।
सुषुप्तिश्चापश्चात्सुषुप्ती । अल्पात्तरं पूर्वमित्यपशब्दस्य पूर्वनिपातः । अयमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्त
इति श्रुतावधिधिकरणभूतमत्र उक्तम् । प्राण आपोमयः 'आपोमयः प्राण' इतिश्रुतेः । तेन लिङ्ग-
शरीरोपादानमत्र । तेन प्राणस्य जीवाधेयत्वेपि लिङ्गरूपस्याधारत्वेन सूचितमप्यु आधारत्वमत्र ज्ञेयम् ।
अभूत्त्वालिङ्गसाधारत्वेनापापामाधारत्वं वा । तदा सुषुप्त्यधिकरणभूतमित्येव वा पाठः । तमेवेति

भाष्यप्रकाशः ।

विजानातीत्येवमुपदिदेश । तत्रापि सुषुप्त्यधिकरणभूतं परमात्मानं न ज्ञातवान्, किन्तु सुषुप्त्यवस्थाकं शरीरमेव ज्ञात्वा, तत्राप्यज्ञानरूपं मयं 'विनाशमेवापीतो भवती'त्यन्तेन प्रदर्शयेन्द्रः पुनरुपससाद । तदा प्रजापतिस्तमेव सञ्जुद्धिस्थमुपदेष्टव्यत्वेनोपक्षिप्य इन्द्रेणावगतस्य जीवस्य सर्वकामभोगयोग्यं स्वरूपं तत्सम्पत्त्या भवतीति वक्तुं 'मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीर'मित्यादिना शरीरस्य दुःखदत्वम्, अशरीराणां वाय्वादीनां परं ज्योतिरूपसम्पन्नानां स्वरूपप्राप्तिरस्ति ।

सञ्जुद्धिस्थमेव । यत्र एतत्सुप्त इति तृतीयपर्यायारम्भः । कचित्युस्तके तद्यत्रैतत्सुप्त इत्यादि पाठः । समस्तः सम्यगस्तः स्वरूपे । समस्तमिति पाठे प्रायुक्तार्थं स्वप्रविशेषणम् । सम्प्रसन्नः आनन्दशुक् । सुषुप्त्यधिकरणभूतमिति । सुषुप्तिस्तु अकामो भगवान् । एवमकामरूपसुषुप्त्यधिकरणभूतं परमात्मानमित्यर्थः । अत्र श्रुतिः । 'स ज्ञान्तद्दयः प्रवव्राज । सहाप्राप्यैव देवाने-तद्भयं दर्शय नाहं स्वल्पमेव'सम्प्रत्यात्मानं जानाम्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवतीति ॥ स इन्द्रः । भयमेवाहुः । नाहमित्यादिना । नो एवेमानि भूतानि जानन्ति । विनाशमेवेति । एवकार इवार्थे । अ इवेति पठ्येदात् । विनाशमिव अपीतः प्राप्तो भवति । सुषुप्तौ ज्ञानाभावादात्मा नष्ट इवेति भावः । उपक्षिप्येति । 'नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति स समित्याणिः पुनरेयाय त'ह प्रजापतिस्त्वाच मघवन्ञान्तद्दयः प्राव्राजीः किमेवेच्छन्तुनरागम इति स होवाच नाहं स्वल्पं भगव एव'सम्प्रत्यात्मानं जानाम्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेव मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्दसापराणि पञ्चवर्षाणीति स ह्यपराणि पञ्चवर्षाण्युवाच तान्येकशत'सम्पेदुरेतत्तदाहुरेकशत'ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ऋषचर्यमुवास तस्मै होवाचे'त्यनयोपक्षिप्य । स इन्द्रः । नो एवान्यत्रेति । एतस्यैव भूयोनुव्याख्याने हेतुरयम् । एतस्मादन्यत्र परमात्मनि नो एव सञ्जुद्धिस्थत्वम् । एकशतमिति । तानि इन्द्रऋषचर्यवर्षाणि एकीकृतानि एकाधिकशतं सम्पेदुः प्राप्तानि । द्वात्रिंशत्सङ्ख्या त्रिगुणीकृता षण्णवतिः पञ्चसङ्ख्या तत्र चेदेकाधिकशतं भवति । अस्याः सङ्ख्यायाः श्रुतिः । स्वमुखेनैवेतिहत्वं विद्यास्तुत्यर्थमाहुः । एतच्चदाहुरिति । यदेतद्भुक्तं तदेतदाहुः शिष्टाः । इन्द्रेणावगतस्येति । परमात्मरूपस्य । मामेवोपास्तेति परमात्मनः स्वात्मरूपस्वेन्द्रप्रतर्दनसंवाद उपदेशात् । तत्सम्पन्थेति । शरीरसम्पत्त्या । इत्यादिनेति । मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्रं सृष्टुनातं तदस्याद्यतस्य शरीरस्याशरीरसात्मनोविष्टानमातो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यामित्यादिशब्दार्थः । अविष्टानं भोगाविष्टानम् । अशरीर आत्मा आत्तः । काम्यामित्यत आह प्रियाप्रियाभ्यामिति । प्रियाप्रियाभ्यां आत्तो व्याप्तः । असशरीरस्य प्रियाप्रिये सम्भवतः । प्रियः प्रीतिविषयः संयोगे, अप्रीतिविषयो विप्रयोगे । एवं चासशरीर आत्मविशेषः । अकारो विष्णुः सशरीरः सन् प्रियाप्रियाभ्यां सुखदुःखाभ्यां आतो व्याप्तो वै प्रसिद्धम् । तथा च इत्यादिना शरीरस्य दुःखदत्वमित्यस्य प्रकाशस्य सुखदत्वोपलक्षकत्वादात्मविशेषमादायोक्तरीत्या शरीरस्य सुखदुःखदत्वम् । तदपि आत्मविशेषाय संयोगविप्रयोगदत्वम् । न च शरीरस्य दुःखदत्वमेवेति भाष्यविरोधः । श्रुत्या भाष्येऽप्युपलक्षणादुःखदत्वमित्यंशे । अशरीराणामिति । न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्यशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतो-शरीरो वासुरं विद्युत्सतनयिषुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशास्तमुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्त एवमेवैव सम्प्रसादोस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन

भाष्यप्रकाशः ।

दृष्टान्तेनस्यापि स्वव्याख्यातं परं ज्योतिरूपसम्पन्नस्य स्वरूपाभिनिष्पत्तिम्, 'एवमेवैव सम्प्रसाद' इत्यादिनोक्त्वा परस्य ज्योतिषः स्वरूपमाह 'स उत्तमः पुरुष' इति । योऽयं गीतायां 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्व्यः परमात्मेत्युदाहृत' इत्यादिश्लोकद्वयेन कृतनिर्वचनः । अतः परस्युपसम्पन्नस्य तल्लोके भोगं वक्तुं तत्र परमात्मनो भोगमाह 'स तत्र पर्येती'त्यादिना । तथा च 'देहेन्द्रियासुहीनानां तैक्कुण्ठपुरवासिना'मिति सम्प्रसक्त-धात्तादृशानां सालोक्यादिचतुष्टयं प्राप्तानां भगवत्प्रसादरूपस्तद्दत्तो भोगो निराबाधः । अत्र विद्योपक्रमे तेषां तदर्थमेवोपासना प्रवृत्तेरुक्तत्वात् । नन्वेवं स्वरूपं प्राप्तस्य तत्र भोगोपि मनसस्तु पूर्वस्यैव तत्र सन्वात्तेन प्राक्तनदेहस्मरणे तदीयदुःखास्यापि स्मरणात् सुखभोगोऽपि दुःखसम्भिन्न एव स्यादित्यतस्तदभावाप्याह 'नोपजन'स्मरभिद'शरीर'मिति । उप आत्मसमीपे अविद्याकामकर्मभिर्जायते इत्युपजनं इदं प्राक्तनं शरीरं न स्मरति, अतस्तदस्मरणाच्च दुःखसम्भेद इत्यर्थः । नन्वस्मरणं शरीरस्य कृतं, स्वरूप आकार-सङ्काचेपि भोगसाधनभूतानामिन्द्रियाणामभावाद्भोगेपि कथमित्याशङ्काद्वयनिवृत्त्यर्थमाह 'स यथा प्रयोग्य' इत्यादि । 'अथ यत्रैतदाकाश'मित्यादि च । यथा प्रकर्षेण भोगोऽश्वादि-चरणे आसमन्ताच्चरणसाधने रथादौ तस्य गमनादिसाधनाय युक्तः, एवमयं पञ्चसिद्धिरूपः प्राणोऽस्मिन् शरीरे तद्यात्रासाधनाय युक्तः । तथा च मुक्तौ तस्य लये तद्विद्युक्तस्य शरीरस्याप्रयोजकत्वादस्मरणमित्यर्थः । इन्द्रियाभावेपि भोगमुपपादयति 'अथ यत्रैत्यादि । यत्र शरीरदेशे एतदाकाशमनुविषणं नेत्रकनीनिकोपलक्षितमाकाशमनुगतं चक्षुःशब्दवाच्यम् । तत्र स चाक्षु-रश्मिः ।

रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुष इति । सम्प्रसादः जीवः । अस्यापि स्वव्याख्यातमिति । सम्प्रसादस्यापि स्वेन श्रुत्या व्याख्यातं परं ज्योतिरित्यर्थः । सम्प्रदान्तं व्याख्येयं स्वेन रूपेणेत्यादि व्याख्या-नम् । परं ज्योतिःस्वरूपमिति । परांशत्वात्परत्वं ज्योतिश्चित् । परस्येति । अंशिनः परस्य । परम-मिति । परो भीयते ज्ञायतेनेनेति परमभक्षरम् । इत्यादिनेति । 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजन'स्मरतीद'शरीर'स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्तः एवमेवायमस्मिच्छरीरे प्राणो युक्त' इति श्रुतिः । जक्षन् भक्षन् नोपजनमिति स्थूल शरीरं न स्मरति । स्त्रीपुंसयोरन्योन्यसमागमाजायत इत्युपजनम् । यद्वा उप आत्मसमीप्येन जायत इत्युपजनम् । प्रयुज्यत इति प्रयोग्यः अश्वादिः । यथा आचरणे आचरति गच्छत्सनेनेत्याचरणो रयादित्स्मि-न्युक्तः । एवं यथादृष्टान्तमेव । अस्मिन् स्थूलशरीरेऽयं प्राणो लिङ्गात्मा । तदुपाधिकः प्राज्ञः रथित्वेन युक्तः ईश्वरेण नियुक्तो वर्तेत इत्यर्थः । भगवत्प्रसादेति । 'त्वयोपयुक्तसगण्यवासोलङ्कारचर्चिताः उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयमही'ति वाक्यात् । गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययोत्र । अत्र विद्येति । छान्दोग्येऽक्षिपुरुषविद्यायां क्रमे तेषां देवासुराणाम् । तदर्थं भोगार्थम् । उक्तत्वादिति । तद्दोभये देवा असुरा इत्यादिनोक्तत्वान् । पूर्वस्यैवेति । 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निष्कर्मसे'ति शरीर इति वाक्यात् । तद्यात्रेति । शरीरयात्रासाधनाय । 'अहमेत-द्राणमवष्टभ्य विधारयामी'त्युक्तेः प्राणस्य । तस्येति । मुख्यप्राणस्य लये । अप्रयोजकत्वात् । दर्शना-विषयत्वात् । अनुभवे न संस्कारः तदुद्बोधे स्मरणात् । आहार्यज्ञानमविवक्षितं कादाचित्कम् । अथ यत्रेत्यादीति । अथ यत्रैतदाकाशमनुविषणं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरिति श्रुतिः । नेत्रकनीनिकेति । नेत्रस्य कनीनिका कृष्णतारा तयोप समीपे छिद्रेणाकाशकार्येण लक्षितं ज्ञातं करण-

भाष्यप्रकाशः ।

पञ्चक्षुषि विद्यमान आत्मा दर्शनाय रूपग्रहणार्थं चक्षुश्चक्षुरिन्द्रियरूपम्, एवं यो जिघ्राणीति गन्धग्रहणाय स घ्राणम्, एवं व्याहरणाय वाक्, श्रवणाय श्रोत्रं, मननाय मन इति । एतेषु अस्य जीवात्मनो दैवं चक्षुर्मनः सर्वकार्यप्रयोजकम् । तथा च मुक्तस्य देहेन्द्रियाद्यभावेऽपि मनसः सत्त्वात् तस्य दैवत्वेनापूर्वत्वात्तेन दैवेन चक्षुषा मनोरूपेण ब्रह्मलोकस्थान् कामान् पश्यन् रमत इति सुखेन भोगसम्पत्तिरित्यर्थः । एवं सर्वमुपपाद्यैतदुपासनाफलं निगमयन्नुपसंहरति 'तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते' इत्यारभ्य 'प्रजापतिरुवाचे'त्यन्तेन । तथा चात्र परमात्मन एव प्रकृतत्वात् 'एवं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामी'ति प्रतिज्ञाया अपि परमात्मपरतया तद्विरुद्धमिन्द्रज्ञानमनुसृत्य जीवपरमात्मनोभेदाभावेन व्याख्यानमनुचितम् । जीवात्मनः परमात्माभेदस्य तादात्म्यरूपत्वेनैव पूर्वं सिद्धतयाभ्युपगमैकशरणत्वाच्च । तेनाख्यायिकोपक्रमेऽप्यपहतपाप्मत्वादिरूपेण परस्वैव प्रतिज्ञानम्, जीवस्तु मुक्तौ प्राप्तस्वरूपस्तथा भवतीति ब्राह्मलौकिककाम-
रश्मिः ।

भाकारां अनु पश्चात्क्षीकृत्य गतं उपलब्धम्, कृष्णताराग्रवर्ति चक्षुःशब्दवाच्यम् । आत्मेति । केनोपनिषदुक्तः । 'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुषि पश्यन्ति तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिद-
मुपासते' इति श्रुतिः । स चाक्षुषः स प्रकृतः शरीरः चक्षुषि भवतीति चाक्षुष इति टीकायां तदा वेदान्तपरिभाषाप्रक्रिया । पूर्वोक्तार्थोत्र ब्राह्मः । दर्शनायेत्युक्तेराधिदैविकमात्रविवक्षणात् । न तु भोगाश्रयपुरुषापेक्षा । एवं च इति । पूर्वोक्तरत्या 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमिति' श्रुतिः । एवं च्येति । 'अथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वा'गिति श्रुतिः । श्रवणायेति । 'अथ यो वेदेद ५ शृण्वानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्र'मिति श्रुतिः । शृण्वानीति टीकायाम् । मननायेति । अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मन इति श्रुतिः । 'अस्य दैवं चक्षुः स वा एष तेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामानामोति सर्वैश्च कामानिति' श्रुतिः । अस्या अर्थमाहुः । एतेष्विति । सर्वकार्य इति ज्ञानरूपे प्रयोजकम् । आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन ततः प्रत्यक्षमिति नैयायिकप्रक्रिया । किं पुनर्'मीया मनः सृजती'ति सप्तमस्कन्धे सद्भासनाप्रकरणे । एतदुपासनेति । अक्षिपुरुषोपासनाफलम् । सर्वलोकाप्तिः सर्वकामाप्तिः । तं वा एतमिति । 'तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते । तस्मादेषां सर्वे लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाश्च लोकान् सर्वाश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापति-
रुवाचे'ति श्रुतिः । एवं सर्वमुपपाद्य सम्पाद्याविर्भावसूत्रे य एष सम्प्रसाद इत्यादौ विषयवाक्ये केव-
लेनैवात्मनाविर्भवतीत्युक्तम् । तथाख्यानमुपक्रमविरुद्धमनुचितमित्याहुः । तथा च्येति । उपक्रमो-
क्तापहतपाप्मत्वादेरपि सत्यकामत्वादिवस्वरूपेणैव धर्मत्वे न तु शब्दविकल्पजत्वे च धर्मान्तरेणाविर्भावे च । इन्द्रज्ञानमिति । मामेवात्मानं जानीहीतीन्द्रप्रतर्दनसंवादस्थमनुसृत्य ब्रह्मप्राप्त्यवगममैन्द्र-
मननुसृत्य । हेत्वन्तरमाहुः जीवात्मन इति । जीवस्येन्द्रस्य । परमात्मन अभेदो यो वर्तते स न-
भेदाभावरूपः निःसम्बोधमुक्तेरभावात् । किन्तु ससम्बोधरूपमुक्तेरुपादानात्तादात्म्यरूपत्वेनेत्यर्थः । पूर्वमिति । अत्रैव । अभ्युपगमेति । भेदाभावरूपाभेदस्य । आख्यायिकेति । तद्धोमये देवा इत्यारम्भाख्यायिका तस्या उपक्रमे य आत्मापहतपाप्मेत्यादिरूपे । ननु अपहतपाप्मपदेन जीवोपक्रमोस्तु अभेदात् । पाप्मरूपप्रतियोगिनो ब्रह्मण्यभावाच्चैत्यत आहुः जीवस्त्विति । अपहतपाप्मत्वं ब्रह्मणि

१. कामानामोति यस्तमिति पाठान्तरम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

भोगयोग्यत्वात्तथोच्यते । एवं सति 'अविभागेन दृष्टत्वा'दिति सूत्रेऽविभागः सोऽप्यविभक्तः, प्राश्यामिव भोगमात्रसाम्यादेव, न त्वभेदात् । अत एव काठके 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमे'ति मुक्तस्वरूपनिरूपणपरे वाक्ये तादृगिति पदेन साम्यमेवोक्तम्, न त्वभेदः, तथा सति तदेवेति ब्रूयात् । एवं नदीसमुद्र-
निदर्शनेऽपि भेदस्यान्याज्ञेयत्वाय नदीनां नामरूपत्यागकथनं द्रष्टव्यम् । एवं 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मासी'त्यादावपि ब्रह्मणः सर्वरूपत्वादांशांशिभावेनैव तादात्म्यमभिप्रेत्य जीवस्यापि ब्रह्माभेद उच्यते, न त्वभेद इत्यभिप्रायेणेत्यवगन्तव्यम् । एवं 'यत्र नान्यत् पश्यती'त्यनेनोक्तो भूमा-
न्यदर्शनाभावोऽप्यंशांशिभावावगमादेवोपपन्नतरः । 'न तु द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्त'मि-
त्यत्रापि विभागाभावादेव द्वितीयदर्शनाभावो द्रष्टव्यः । इदं च तत्र तत्र बहुधोपपादितमिति नात्राधिकमुच्यते । अतो यदुक्तं भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति खे महिम्नी'ति । 'आत्परितरिात्मक्रीड' इत्यादिदर्शनादित्युक्तम्, तदप्यप्रयोजकम् । भेद-
रश्मिः ।

न प्रतियोगिसोपेक्षाभावरूपम् । अखण्डशब्दार्थत्वात् । एकात्मा जीवस्तु मुक्तौ आवरणमङ्गेन साधनैर्वा स पाप्मानं निहत्य प्राप्तस्वरूपः तथानामापहतपाप्मा भवतीति ब्राह्मण देहेन लौकिकैः कामै-
रक्षरात्मकत्वेन जीवस्य भोग्यत्वाच्चोपक्रमेऽपहतपाप्मत्वेनोच्यत इत्यर्थः । योऽविभागः अविभक्त एवावतिष्ठत इति सिद्धान्तियः । न त्विति । निःसम्बोधमोक्षरूपफलाभावेन ससम्बोधमोक्षे भेदा-
भावरूपमोक्षाभावात् । तादृगिति । तमेवेमं पश्यन्ति जना इति तादृक् । तदेवेति तादृगेव भवतीत्यत्र तदेव भवतीति ब्रूयात् । पूर्वोक्तं दृषित्वान्यदपि भाष्यीयं दृषयन्ति स्म एवं नदीति । नदी यमुनागङ्गादिरूपा समुद्रः क्षीरोदारिरूपः । तयोर्भेदः प्रसिद्धः नदीनामरूपत्यागः । न तु प्रवाह-
रूपस्वरूपत्यागस्तस्य कथनम् । 'ता नाविदन्मन्यनुपङ्गवद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् । यथा समाधौ मुनयोऽपि नद्यो नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे' इत्यादौ द्रष्टव्यम् । तादात्म्यमिति । ब्रह्मत्वेन तादा-
त्म्यम् । घटत्वेन घटतादात्म्यवत् । पटो नेति न प्रतीतिः । न त्विति । ननु तर्हि तत्त्वमिति व्युत्पत्ति-
मङ्ग इति चेन्न । फलाध्याये तस्या अमुख्यत्वात् । अत्र श्रुतिं प्रमाणयन्ति स्म । एवमिति । भूमा-
न्येति । भूमान्यस्य दर्शनस्याभावः । अंशांशिभावो भेदप्रत्ययप्रयोजकः । तादृशाभेदो यत्र नान्यत्पश्य-
तीत्युक्तो न भेदाभावरूपोऽपि तु तादात्म्यरूपः । उपपन्नेति । तमपप्रत्ययान्तं नोक्तम् । 'युक्तयः सन्ति सर्वत्रे'ति वाक्यात् । इत्यत्रापि । बृहदारण्यकेऽपि ज्योतिर्ब्राह्मणे तत्र तत्रेति । प्रथमाध्याये तृतीयपादे सुषुप्त्यधिकरणे द्विसूत्रे । लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे तृतीयाध्यायस्य तृतीयपादे । बहुधेति । स्वपरनयैर्बहुधा । भेद इति । ज्योतिरुपसम्पद्ये भेदनिर्देश इति । ज्योतिरुपसम्पद्येति कर्तृकर्म-
निर्देशाद्भेदनिर्देशः । विपरीतलक्षणयाऽभेदोप्युपचर्यत इत्यर्थः । खे महिम्नीत्यत्राध्यायनिर्देशाद्भेद-
निर्देशः । आत्मनि रतिर्यस्य, आत्मनि क्रीडा यस्यात्मना मिथुनं यत्येतत्रापि भेदनिर्देशः । तथा च खे महिम्नीति भेदनिर्देशस्याभेदोपचारकस्य दर्शनात् । तथात्परितरित्यादेर्भेदनिर्देशस्याभेदोपचार-
कस्य दर्शनादित्यर्थः । भेदविरुद्धेति । अभेद इत्यत्र विरोधो नञर्थः षट्सु नञर्थेषु । भावप्रधानो भेदविरुद्धशब्दः । भेदविरुद्धत्वं भेदविरोधः भेदविरुद्धा सम्पत् भेदविरुद्धसम्पत् तस्याः तादात्म्येन तदात्मनो भावेन ब्रह्मत्वादिना रूप्यते व्यवहियत इति तादात्म्यरूपस्तस्य अभेदस्य ।

१. सादृश्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

विरुद्धसम्पदस्तादात्म्यरूपस्याभेदस्याङ्गीकारेणैव दोषनिवृत्तौ उपचारेण तत्र व्याख्यानानुचितत्वात् । न चांशोशिभावेन नानात्वापस्या, 'नेह नानास्तीति' विरोधः शङ्क्यः । ऐच्छिकनानात्वस्य स्वरूपैक्याद्यथाधकत्वादिति प्रागेवोक्तत्वादिति । एवमौडलोमिसूत्रव्याख्यानेऽप्यसङ्गतत्वं द्रष्टव्यम् । औडलोमिना अपहृतपाप्मत्वादीनां धर्माणां शब्दविकल्पजत्वस्य कुत्राप्यनुक्तत्वेन तथापादयितुमशकत्वात् । न च चैतन्यमात्रत्वकथनादेव धर्मनिवृत्तिरिति वाच्यम् । स्वरूपमात्रकथनेपि धर्मानिवृत्तेर्मध्यन्दिने नमोमण्डले सूर्य एवास्तीत्यादिलौकिकवाक्येपि प्रभाकरादिमत एव प्रतिपादनेनादर्शनात् । श्रुतावपि 'एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽब्राह्मः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' इत्यादिपि अकृत्स्नत्वबुद्ध्युत्पादकधर्माकारसत्तामास्थायैव तेषां धर्म्यनतिरिक्तत्वबोधनाय तस्य प्रज्ञानघनत्वकृत्स्नत्वयोर्बोधनात् । अन्यथा तयोः पदयोः सैन्यवदृष्टान्तस्य च वैयर्थ्यापत्तेर्दुर्वारत्वात् । अत एव सत्यकामादयोऽपि वास्तवा एव, नौपाधिकाः । न चानेकाकारत्वसम्भवो दोषः । न स्थानतोऽपीत्यधिकरणे ब्रह्मणो विरुद्धधर्माधारत्वस्यैव प्रतिपादनात् । अतो न स्वकृततत्त्वव्याख्यानुसरणेनौडलोमिसूत्रव्याख्यानं युक्तम् । तस्य व्यासमतत्वाच्चेति । एवं बादरायणसूत्रेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्य पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं मन्यते बादरायण इति व्याख्यातम् । तत्रापि व्यवहारापेक्षयेति यदुक्तम्, तदभ्युपगमैकशरणमेव । सूत्रे पूर्वभावपदेन प्राकालिकसत्तामात्रस्यैव बोधनेन व्यवहारापेक्षाया रक्षितः ।

दोषेति । ज्योतिरूपसम्पद्येति कर्तृकर्मव्यपदेशाद्देहिर्देहिरूपो यो दोषस्तस्य निवृत्तौ । कर्तृकर्मणो ज्योतिःसम्पदादयोर्भेदनिर्देशो दोषो त्वैक्यलक्षणसायुज्ये वक्तव्ये । स तु ऐक्यलक्षणसायुज्ये वक्तव्ये तस्य तादात्म्यरूपत्वेऽङ्गीकृते नास्तीति व्यर्थो भेदस्याभेद उपचार इत्येवम् । निवृत्तौ स्वरूपैक्यादिति । आदिनैकरसत्वम् । प्रागेवेति । जन्मादिसूत्रे । औडलोमिनेति । तथापादयितुमित्यनेन आपादयितुमित्यनेनान्वयः । धर्मानिवृत्तेरिति अदर्शनादित्यनेनान्वेति । केत्यत आहुः मध्यन्दिन इत्यादि । आदिना मध्यरात्रौ चन्द्र एवास्तीति । ननु मेधादीनामपि सत्त्वात्कथमेवकारो दीयत इत्यतः करणमाहुः प्रभाकरादीति । आदिना भट्टभास्करमतेऽपि कथमित्यत आहुः प्रतिपादनेनेति । प्रतिपादनं तु साध्यपरवेदातिरिक्तसार्थवादत्वात् । चाक्षुषज्ञानस्यापि प्रातिपदिकार्थं मन्त्रम्यां देवतायां चक्षुरादिप्रवृत्तेरभावात् । अकृत्स्नत्वेति । अकृत्स्नत्वबुद्ध्युत्पादका धर्माः अनन्तरत्वाद्वास्तवे तत्प्रतियोगिनी अनन्तरत्ववास्तवे च । साकारत्वाद्ब्रह्मणो धर्माणामाकारसत्ता । तेषामिति । धर्माणाम् । तस्येति । आत्मनः । विरुद्धधर्मेति । एवकारेण 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्ग'मित्यत्रानेकाकारत्वप्रतिषेधपरोक्तस्य योगस्तस्य व्यवच्छेदः क्रियते । न स्वकृतेति । चैतन्यमात्रेणैव रूपेणाभिनिष्पत्तियुक्तेति कृता औडलोमिसूत्रव्याख्या । तस्या अनुसरणेनेत्यर्थः । व्यासमतेति । अरूपवत्सूत्रोक्तव्यासैकदेशिमतत्वात् । यद्वा भवदुक्तव्यासमतत्वात् । पूर्वस्य पूर्वस्येति । य आत्माऽपहृतपाप्मेत्यादिना सत्यकामः सत्यसङ्कल्प इत्येवमन्तेनोपन्यासेन पूर्वस्यापहृतपाप्मत्वस्य विजरत्वव्यवहारापेक्षया तथा विमृत्युत्वव्यवहारापेक्षया पूर्वस्य विजरत्वस्येत्येवं पूर्वस्य पूर्वस्येत्यर्थः । उपन्यासेति । आदिना स तत्र पर्येति जज्ञान् क्रीडन् रममाण इति श्रुत्युक्तधर्मसङ्ग्रहः । इदमेव ब्राह्मस्यैश्वर्यं रूपं तस्य । अविरोधमिति । ब्रह्मणो युक्तात्मनः सप्रपञ्चत्वनिःप्रपञ्चत्वयोरविरोधम् । अत्र इति । स उत्तमः पुरुष इत्यस्याग्रे । प्राकालिकेति । प्राकालपूर्वस्यार्थः सम्बन्धविशिष्टः

भाष्यप्रकाशः ।

अनुपलम्भादिति । एवं सति यदौडलोमिमतमनुत्पद्युक्तस्य मनसा सर्वान् ब्राह्मलौकिकान् कामान् पश्यतोपि विभागेनादर्शनात् सुषुप्ताविधापश्यत्त्वं सर्वैकत्वात् द्वितीयाभावेन व्याख्यातं ह्यन्दोग्यभाष्ये, तदपि प्रकृतविरुद्धम् । 'रमत' इति रमणस्याग्रे कथनात् । न च तत्र 'रमत' इत्यस्य मुख्यार्थो नाभिप्रेत इति वाच्यम् । मानाभावात् । उपक्रमे इन्द्रादेः सर्वलोकसर्वकामप्राप्त्योरेवाभिसंहितत्वकथनेन तद्विरोधाच्च । अतोऽविभागेन दर्शनं शारीरब्राह्मणोक्तायाः सुषुप्तिश्रुतेरेवार्थः, न तु क्रमशुक्तिमार्गप्राप्तब्रह्मलोकमुखप्राप्तिबोधिकाया एतच्छ्रुतेरित्यवधेयम् । न च द्वितीये मैत्रेयीब्राह्मणेपि 'न हि द्रष्टुं दृष्टे' रित्याद्यविभक्तदर्शनश्रुतेर्विद्यमानत्वात्तस्याश्च युक्तविषयत्वादत्र तथाङ्गीकारे को दोष इति वाच्यम् । विषयभेदात् । तत्र हि, 'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीति' ब्रह्मणि जीवस्य लयनिरूपणेन तथा निश्चयात् । अत एव शारीरब्राह्मणे, 'अथाकामयमान' इत्युपक्रम्य, 'अत्र ब्रह्म समश्रुत' इत्यन्तेनाकामयमानस्यात्मनो ब्रह्मणि लय उक्त इति सायुज्यविषयं मैत्रेयीब्राह्मणवाक्यम् । अतस्तदादायात्र कामवत्प्रकरणे तथापादनं प्रकृतविरुद्धमेवेति दिक् ।

भास्कराचार्यास्तु, सम्पद्याविर्भावसूत्रे इन्द्रप्रजापतिसंवादास्यामेव श्रुतिं विषयत्वेनोपन्यस्य, सर्वाणि सूत्राणि पूर्ववदेव व्याख्याय, जीवब्रह्मणोरौपाधिकभेदः, पारमार्थिकं त्वैक्यमिति स्वीयं सिद्धान्तं चोक्त्वा, जीवस्य ब्रह्माविभागेन स्थितिं चाङ्गीकृत्य, जैमिनीयमतं च पूर्ववदेव व्याख्याय, औडलोमिसूत्रे एवमाहुः । तथाहि । चैतन्यसन्मात्रेणाभिनिष्पद्यत इत्यौडलोमिर्मन्यते स । कुतः । तदात्मकत्वात् । चैतन्यात्मकं सत्तात्मकं च ब्रह्म । तथा च श्रुतिः, 'एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽब्राह्मः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' इति । तथा, 'सत्त्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति सत्यकामादीनां तु विकल्पमात्रत्वादतत्स्वरूपतेति मन्यते । 'सुषुप्तवशिःसम्बोधो मोक्ष' रश्मिः ।

प्राकालिका सत्ता भावपदार्थः भू सत्तायामिति धातुपाठात् तन्मात्रस्य । एवकारेण व्यवहारापेक्षायोग्यवच्छेदः क्रियते । रमत इतीति । रमत इति रममाण इति शब्देन रमणस्याग्रे कथनादित्यर्थः प्रतिभाति । पुस्तके रमत इति पदाभावात् । तत्र रमत इति । रममाण इति श्रौतशब्दस्य रमत इत्यस्य विग्रहस्य । नाभिप्रेत इति । ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्य धर्मत्वात् । किन्तु गौणार्थः उत्तमः पुरुष इत्यत्र सर्वकामान्पश्यतोऽपि विभागेनादर्शनात्सुषुप्ताविधापश्यत्वरूपः । अविभागेन दर्शनं वा गौणार्थः । एतच्छ्रुतेरिति । स तत्र पर्येतीत्यादिश्रुतेः । द्वितीय इति । उभयत्रार्थभेदाभावाय विशेषणम् । कामवदिति । परप्राप्तिप्रकरणे । तथापादनमिति । उत्तमः पुरुष इत्युत्पन्नन्तरं स तत्र पर्येतीत्यत्र रमणस्य मुख्यार्थः स्याद्ब्राह्मस्यैश्वर्यस्य धर्मः स्यादतो गौणार्थ इत्यापादनम् । प्रकृतेति । उपक्रान्तार्थविरुद्धम् । मनसैतान्कामानाप्नोति सर्वाश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविष विज्ञानातीत्युपसंहारादेवकारः । औपाधिकेति । मायोपाधिः । तत्कृतो भेदः प्रातीतिकः ब्रह्म जीवो नेति प्रतीतिः । स्वीयं भेदाभेदरूपम् एवं वा अर इति । प्रज्ञानघनोस्तीति क्रियापदं विभक्त्युत्पत्त्यर्थमावश्यकमिति चैतन्यात्मकं सत्तात्मकं च । सत्त्वं ज्ञानमिति अनन्तत्वादानन्दविशेषणं सद्धर्मरूपम् । सत्यकामादीनामिति सत्यकामस्यादय अपहृतपाप्मादयोपि यासां ताः । सत्यकामवादिष्यसत्यसङ्कल्पस्य स सत्यकादिः सत्यकामादयश्च सत्यकादिश्च सत्यकामादयस्तेषाम् । सुषुप्तवदिति पृथक्पन्नादिति । विकल्पमात्रत्वादिति कदाचित्सत्यकामादयः कदाचिदसत्यकामत्वादयः । साङ्गमिति

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यौडुलोमेरभिप्रायः साङ्ख्यवैशेषिकादीनामिव । इदानीन्तना अपि केचिदेतदेवं दर्शनं प्रतिपन्ना इति । बादरायणसूत्रं त्वेवं व्याकुर्वन्ति । तथाहि । एवमपि चैतन्यमात्रत्वेपि पूर्वस्याप्यैश्वर्यरूपस्य भावात् । कथम् । उपन्यासात् पूर्वोक्तेन जैमिनीयेन हेतुना उभयेषां वेदवाक्यानां प्रामाण्याविशेषात् । असाधारणत्वाच्चापहतपाप्मादिगुणानां व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तस्वभावत्वादविरोधं भगवान् बादरायणः परिनिश्चिकाय । न च गुणगुणिनोरेकत्वानेकत्वविरोधः । यथाग्निरेकः सप्तजिह्वः प्रकाशवानूर्ध्वज्वलन उष्ण इति न नानात्वम्, यथा च उद्यदिनकर एकं किरणजालमवनिमण्डले प्रथयन्नानेको भवतीति ।

अत्र वैशेषिकाः प्राहुः ससम्बोधो मोक्षो नोपपद्यते सर्वज्ञत्वादिगुणयुक्तः । दुःखनिवृत्तिमात्रं मोक्षः । आनन्दादिशब्दाश्च दुःखनिवृत्तिमात्रावलम्बनाः । यदि च सुखे रागेण प्रवर्तेत, ततो बन्ध एव स्यात् । गुणस्य बन्धहेतुत्वात् । शरीरेन्द्रियमनसां निवृत्तौ विज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावात् । युक्तो निःसंज्ञः पाषाणकल्पोऽवतिष्ठते ।

साङ्ख्याः पुनश्चैतन्यस्वभाव आत्मा, तस्य द्रष्टुः स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानमसम्प्रज्ञातयोगनिष्पत्तौ मोक्ष इति मन्यन्ते ।

तत्राऽभिधीयते । यत्त्वावदुक्तं रागो बन्धहेतुरिति । तदयुक्तम् । शास्त्रादयं विभागो भव्यते । यथा स्वदारगमनं नाधर्माय, तथा विषयविषयो रागो बन्धहेतुः, निरतिशयानन्दब्रह्मविषयो युक्तये । न चानन्दशब्दो दुःखाभाववचनः । शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेण उत्कर्षापकर्षौ प्रतिपाद्य निरतिशयस्य ब्रह्मानन्दस्योपदेशात् । न चाभावस्य निरुपाख्यस्योत्कर्षापकर्षौ । लोकेपि दुःखतारतम्यं सुखतारतम्यं च परस्परविलक्षणं प्रत्यक्षेणानुभूयते । तस्मान्मुक्तः कारणात्मानमास्तद्वदेव सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वात्मापि भवतीति जैमिनिवादरायणयोरभिप्रायः । ततो ये वेदवाङ्मना वैशेषिकाः साङ्ख्यास्तत्पक्षाऽवलम्बित्वा, ते सर्वेऽपसिद्धान्तिनः, तर्कभङ्गाशरणत्वादिति । यदि च विज्ञानमात्रं ब्रह्म, तदानन्दपदमनर्थकम् । न हि चैतन्यमात्रमानन्दः । दुःखावस्थायामपि चैतन्यानुवृत्तिदर्शनात् । न च दुःखनिवृत्तिमात्रमानन्दशब्दार्थ इति युक्तम् । तस्मात् स्वयं संबिदितमेव सुखं सर्वदा युक्तस्याभ्युपेयमिति ।

रश्मिः ।

वैशेषिका नैयायिकविशेषाः । आदिना मायावादिनः तदनुसारिणः दर्शनं शास्त्रं ज्ञानं वा । आभावादितिपदच्छेदः । ऐश्वर्यरूपस्याभावादित्यत्र । हेतुनेति । ब्राह्मणेत्यनेन सधर्मप्रतिपादकेन । व्यतिरिक्तेति । 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति सूत्रात् । परिनिश्चिकायेति । चिद्रूपे चयने परिनिःपूर्वकः, लिङ्ग । एकत्वेति । धर्माणां धर्म्यभेदपक्षे । सप्तजिह्व इति । 'सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः' इति श्रुतेः । रागेणेति । अपहतपाप्मत्वादिधर्मै रागेण । एवेति । लोके तथादर्शनादेवकारः । तस्येति । जीवात्मनः । असम्प्रज्ञातेति । असम्प्रज्ञातसमाधिनिष्पत्तौ । न सम्प्रज्ञातं स्वरूपं यत्र योगसूत्रमत्र । 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा । तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । तदेवाध्यायमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि'रिति सूत्रत्रयम् । निरतिशयेति । निरतिशयानन्दो ब्रह्म यदि भक्तिविषयः । प्रतिपाद्येति । तैत्तिरीये आनन्दमीमांसायां प्रतिपाद्यः उपदेशादिति । 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यत्र 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुत्येकवाक्यतयोपदेशात् । निरुपाख्यस्येति । द्वितीयाध्यायतर्कपादे नास्तिकमतोक्तौ । लोकेपीति । परविलक्षणं चैत्यन्वयः । इति युक्तमिति । 'दुःखाभावं सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मत'मिति वाक्यविरोधात् । स्वयं संबिदि-

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र पूर्वेषां सूत्राणां शङ्कराचार्यवदेतैर्योऽर्थ उक्तः, स तु तदुत्तरेणैव दत्तोत्तरः । शेषं त्वविरुद्धत्वादनुमन्यामहे ।

रामानुजाचार्यास्तु—परं ब्रह्मोपासीनानामात्मानं च प्रकृतिवियुक्तब्रह्मात्मकमुपासीनानामचिरिदिमागंगापुनरावृत्तिलक्षणा गतिरुक्ता । इदानीं युक्तानामैश्वर्यप्रकारं चिन्तयितुमारभत इति पादद्वयार्थमुक्त्वा, सम्प्रदायिर्भावस्ये चान्दोग्यस्यप्रजापतिवाक्यगां तामेव श्रुतिं विषयत्वेनोपन्यस्य, पूर्वोक्तवदेव सर्वं सिद्धान्तपर्यन्तमुक्त्वा, अविभागेन दृष्टत्वादिति द्वितीयेऽधिकरणे, किमयं प्रत्यगात्मा स्वात्मानं परमात्मनः पृथग्भूतमनुभवति, उत तत्प्रकारतया तदविभक्तमिति संशये, 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मणोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे चिधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति,' 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यां युक्तस्य परेण साहित्यसाम्यसाधर्म्यप्रतिपादनात् पृथग्भूतमेवानुभवतीति प्राप्ते, अनेन सूत्रेण परस्माद् ब्रह्मणोऽविभागेन स्वात्मानं युक्तोऽनुभवतीति प्रतिपाद्यते । तत्र हेतुर्दृष्टत्वादिति । 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य याथातथ्येन स्वात्मनो दृष्टत्वात् । स्वात्मनः स्वरूपं हि, 'तत्त्वमसि,' 'अयमात्मा ब्रह्म,' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्,' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'त्यादिसामानाधिकरण्यनिर्देशैः 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्,' 'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनाना'मित्यादिश्रुतिभिः परमात्मात्मकं तच्छरीरतया तत्प्रकारभूतमिति काशकृत्स्नसूत्रे सिद्धम् । अतोऽविभागेन 'अहं ब्रह्माऽस्मी'त्येवानुभवाच्चैर्वाक्यैः साम्यसाधर्म्यच्यपदेशो ब्रह्मप्रकारभूतस्यैव प्रत्यगात्मनः स्वरूपं 'तत्त्वम'मिति श्रुतिः प्रतिपादयति । सहश्रुतिस्त्वेवंभूतस्य प्रत्यगात्मनः प्रकारिणा ब्रह्मणा सह तद्गुणानुभवं प्रतिपादयतीति न कश्चिद्विरोधः । 'सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः,' 'अधिकं तु भेदनिर्देशा'दित्यादेश्च न विरोध इति ब्राह्मदेहेन जीवस्य तत्र भोगं परमात्मसङ्कल्पात् कर्मानधीनत्वभगवत्सृष्टपदार्थैरेव तद्भोगं स्वसृष्टपदार्थैश्च लीलारसभोगादिकमङ्गीकुर्वन्ति । तत् सिद्धान्तादविरुद्धमित्युपादेयम् ।

रश्मिः ।

तमिति । इदं पाषाणकल्पस्य युक्तस्यापि ज्ञेयम् । सतः पाषाणकल्पस्थानन्दजनकत्वात् । अत्रेति भास्करान्चार्यमते ।

परं ब्रह्मेति परं ब्रह्म मायारूपाचिद्विशिष्टं तस्योपासीनानां विशिष्टत्वनिरूपकाणां चिन्ताम् । आत्मानं विशिष्टं प्रकृतिरचितद्वियुक्तम् । उपासीनानामिति चिन्ताम् । विशिष्टाद्वैतं मतम् । ऐश्वर्येति । ईश्वरत्वं यज्ञातं तस्य प्रकारम् । तत्प्रकारेति । ईश्वरत्वप्रकारतया श्रुतिस्मृतिभ्यामिति । द्वित्वमविवक्षितम् । श्रुतिस्मृतिभ्य इत्यर्थः । रामानुजभाष्ये तु इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्य इति पाठः । तथा च लेखकदोषाद् द्विवचनमत्र । साहित्येति । यथाक्रमं त्रिषु वाक्येषु बोध्यम् । इत्यादि सामानाधिकरण्येति । सामानाधिकरण्यं, भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्यकार्यप्रतिपादकत्वम् । तत् तत्त्वमित्यत्र 'अयमात्मैत्यत्र' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं'मित्यत्र सर्वमिदं ब्रह्मेत्यत्र सामानाधिकरण्यनिर्देशास्तैः । अन्तर्यामिब्राह्मणे परमात्मशरीरतया परमात्मप्रकारभूतम् । आत्मशरीरः परमात्मेति । तत्त्वमिति साम्यश्रुतिः । न विरोध इति । अधिकसूत्रोक्ते ब्रह्मणो जगत आधिक्येपि सङ्कल्पसूत्रोक्तपरमात्मसङ्कल्पाद्भोग इति न विरोध इति हेतोः । तत्रेति । चिदचिद्विशिष्टे । कर्मानधीति । कर्मानधीनत्वेन रूपेण यो भगवान् जीवीयकर्माननुरोधी भगवानित्युक्तम् । तेन सृष्टेः पदार्थैः तद्भोगं जीवकर्मकं भोगम् । स्वसृष्टेति । आत्मसृष्टपदार्थैः । ली-

सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

एवं परप्राप्तिः केषाञ्चिदेव भवति । तत्र हेत्वपेक्षायामाह । भजनानन्दं दातुं यमेव सङ्कल्पविषयीकरोति, स एवैवं प्राप्नोतीति भगवत्सङ्कल्प एव तत्र हेतुः । तत्र प्रमाणमाह । तच्छ्रुतेः 'नायमात्मे' त्युपक्रम्य, 'यमेवैव वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतिः श्रूयते, अतः स एवात्र हेतुः । श्रुतौ प्रवचनादिनिषेधः कृत इत्यत्राप्येवकार उक्तः । चकारान्ताज्जनितैवेतदनुरूपा परमार्तिः संयुज्यते ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

शैवस्तु-तन्मतस्यैव चैरः शैवीः श्रुतिस्मृतीरूपन्यस्य स्वं मतं ततो भिनत्ति । तत्र शिवपदस्य नारायणादिपदवत् परब्रह्मवाचकताया वाराहपुराणे उक्तत्वात् स्वरूपभेदकत्वाभावे कोपि न विरोधः । रूपभेदकत्वे तु नृसिंहपूर्वतापिनीयोक्तादिरित्या तत्रोत्कर्षविश्रान्त्यभावस्य प्रहस्ताख्ये वादे निपुणतरश्रुपपादितत्वात् तस्मिन् परत्वमिति न तदर्थमधिकं किञ्चिदुच्यते ।

माध्वास्तु-कर्मनाशाख्यं फलं प्रथमपादे, देवानां मोक्ष उक्तान्तिश्च द्वितीयपादे फलम्, मार्गो गम्यं च तृतीये पादे फलम् । एवं त्रयं पूर्वमुक्त्वा चतुर्थेऽख्येन सह परं ब्रह्म प्राप्तानां यस्तत्र योगः क्रमप्राप्तः, तमत्र पादे वदतीति पादार्थमुक्त्वा, 'सम्पद्याविर्भाव' इत्यत्र 'सम्पद्याविहाये'ति पाठमङ्गीकुर्वन्तोऽविभागस्यपर्यन्तं प्रतिस्त्रयमधिकरणभेदमङ्गीकुर्वन्तः प्रथमे युक्तस्य ब्रह्मानतिक्रमेण भोगम्, द्वितीये ब्रह्मप्राप्तस्य युक्तत्वम्, तृतीये युक्तप्राप्त्यस्य परस्य ज्योतिषः परमात्मत्वम्, चतुर्थे च ब्रह्मप्राप्तिं सायुज्यादिरूपायुक्त्वा, तेषां ब्रह्मयुक्तपहिष्ठभोगमोक्तत्वं प्रतिपादयन्ति । 'नाज्ञेणे'ति त्रिसूत्रेऽधिकरणे च चिन्मात्रदेहानां भगवत्सायुज्यं प्राप्तानां ब्रह्माङ्गातुष्टीतैः स्वाङ्गैर्भोगं प्रतिपादयन्ति । तत्रोदासीना वयम् ॥ ७ ॥

सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥ सूत्रमवतारयन्ति एवं परेत्यादि । व्याकुर्वन्ति भजनेत्यादि । स एवेति । वरणरूपः सङ्कल्पः । अत्रापीति । सूत्रेपि ॥ ८ ॥

रश्मिः ।

लारसेति । आदिना ससम्बोधो मोक्षस्तम् । शैव इति । भगवान् शैवः । नृसिंहेति । आदिनाय-
वेशिर आदिस्तत्र ज्ञानेन भक्तेति शिवविशेषणात्तदुक्तरीत्या । भजनीये उक्तर्षविश्रान्त्या । तत्र शिवे ।
वाद् इति द्वितीये वादे । तस्मिञ्चित् शिवे । तदर्थमिति शिवमतनिवृत्तये । अनतिक्रमेणेत्य-
विहायेत्यस्यार्थः । तेषामिति । मुक्तानाम् । ब्रह्माङ्गेति । ब्रह्माङ्गं कारणं कारणमनु पश्चात् कार्या-
णीव गृहीतैः स्वाङ्गैः मुक्तानामङ्गैः । उदासीना इति । पूर्वव्याख्यानम् ॥ ७ ॥

सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥ भाष्ये । वरणं सङ्कल्पः । वृद्धं सम्भक्तौ । तथा च ।
प्रमेयबलं सङ्कल्पः । हृष्टं सामर्थ्यं । बलं सामर्थ्यम् । सामर्थ्येन वरणमिति सङ्कल्पकार्ये सङ्कल्पपदं
लाक्षणिकम् । बलं भक्तिरिति भाष्यम् । सङ्कल्पविषयो भक्तः विषयविषयिभावः । फलकर्मणोः
सम्बन्धः तदनुकूलो व्यापारो भगवच्छिष्टः । एतद्यमेव सङ्कल्पविषयं करोतीति भाष्येणोक्तम् । एवं च
पुष्टिभक्तिजगत्सदावेशे पूर्वसूत्रोक्ते सङ्कल्पो हेतुः । तत्र चतुर्षु आद्य आतोधिकारी । तदुक्तं 'विरहा-
तुरात्मे'त्युद्धववाक्यं तृतीयस्कन्धे । 'ममार्तायाः सखे दृश्यं सन्निधि'मिति पञ्चाध्याय्याम् । तदेत-
दाहुः । चकारादिति । अनुक्तसमुच्चयार्थकात् । वरणजनितैव । एवकारेण लौकिकविषयालब्धिज-
नितत्वयोगव्यवच्छेदः क्रियते । तदनुकूलमिति । भगवदानन्दानुरूपानुरूपा न तु तूष्णीं दुःखरूपा
तस्या निषेधात् । 'नोत दुःखता'मिति श्रुतौ । दुःखतां दुःखसत्तां पश्यतीत्यन्वयः । परमार्तिरधिकारः ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

यतो हेतोः साधनं फलं चोक्तरीत्या स्वयमेव, नान्योऽतो हेतोस्तेषां हृदि साधनत्वेन फलत्वेन प्रभुरेव स्फुरति, नान्यः, तेनानन्यास्ते । तेषामेवाधिपतिः पुरुषोत्तमः । अन्यत्राधिपत्यं विभूतिरूपैः करोति, अतः 'सर्वस्याधिपति'रिति-
श्रुतिरपि तदभिप्रायेणैवेति भावः । चकारात्, 'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'ति भगवद्वाक्यं सङ्गृह्यते । अन्यथा सर्वज्ञस्याकुण्ठितज्ञानशक्तेरेवं कथनमयुक्तं स्यात् । अतः पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गोऽद्विलक्षणः, तत्र विश्वासश्च तथेति सिद्धम् ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥ व्याकुर्वन्ति यत इत्यादि । यतो हेतोः पुष्टिमार्गी-
याणां वरणादिरूपं साधनं स्वस्वरूपात्मकं फलं च स्वयमेवातस्तथेत्यर्थः । 'सर्वस्य वशी'त्यादि-
श्रुतिविरोधपरिहारायाहुः । अन्यत्रेत्यादि । शेषं स्फुटम् । विश्वासस्तथेति । अनुग्रहैकसाध्यः ।

अत्रान्ये युक्तसङ्कल्पं व्याकुर्वन्ति । 'अनन्याधिपति'रित्यत्र च जीवस्य स्वाधीनताम् ।
तद्यदि, 'सर्वस्य वशी सर्वशेषानः सर्वस्याधिपति'रिति श्रुतिं नीपक्षध्यात्तदोपादेयम्, अन्यथा
तूषेक्ष्यम् ॥ ९ ॥

रश्मिः ।

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥ साधनमिति । आदिना सङ्कल्पो वरणजनकः ।
स्वस्वरूपेति । वृतस्य भक्तस्य शरीरात्मनोरभेदात्तस्यैव आत्मा वृणुते ततुं स्वा'मित्यत्र लभ्यविवरणे
वृत्तनिवेशात् स्वस्वरूपं स्वं आत्मा तस्य स्वरूपं वृत्तभक्तनिष्ठं वरणादि तत् आत्मनि शरीरे लभ्यविवरण-
शरीरे यस्य साधनस्य तत्स्वस्वरूपात्मकम् । फलं लभ्यपदोक्तम् । तथेति । पूर्वसूत्रोक्तरीत्या
स्वयमेवेत्यादिः । अनन्या इति । न अन्यत् फलमिन्नं साधनादि हृदि येषां ते अनन्याः । तादा-
त्म्याधिपत्यमुक्तम् । भेद आधिपत्यमाहुरित्याशयेनाहुः सर्वस्येति । विरोधस्तु मुक्तौ भेदाभावात्
प्रशासनस्य भेदाधीनत्वात् । अन्यत्रेत्यादीति । मायाभेदविशिष्टे जगति । विभूतीति । ब्रह्मा-
दिभिः । तदभीति । विभूत्यभिप्रायेण । पुरुषोत्तमस्य भक्तैः सह निगूढभावकरणातिरिक्तस्वश्रीडायावा-
देवकारस्तद्योगं व्यवच्छिनत्ति । अनुग्रहेति । विश्वासस्य पुष्ट्यन्तर्गतत्वात्तथा । युक्तसङ्कल्पेति ।
दहरविद्यायां 'अथ य इहात्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येताः सत्यान् कामाः स्तेषां सर्वेषु कामचारो भवती'ति ।
आत्मानुवेदिनो मुक्तास्तेषां सङ्कल्पा अव्यवहितोत्तरश्रुतिषु 'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्
पितरः समुत्तिष्ठन्ती'त्यादिषु । एकत्वमविवक्षितम् । स्वाधीनतामिति । नान्योधिपतियस्येति ।
अत एवेत्यसावन्ध्यसङ्कल्पादेवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अभावं वादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

मुक्तोऽपि जीवः पुष्टिमागेंऽङ्गीकृतो भगवदत्तं विग्रहं प्राप्य भजनानन्दं प्राप्नोतीति सिद्धम् । अत्र प्रत्यवतिष्ठते । वादरिराचार्यो मुक्तस्य देहाद्यभावं मनुते । तत्र हेतुराह ह्येवमिति । ब्रह्मविदो हि मुक्तिरुच्यते । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तद्वितर इतरं पश्यती'त्याद्युक्त्वा, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्ये' दित्यादिना द्वितीयज्ञाननिषेधमाह ब्रह्मविदः श्रुतिः । तथा च तस्य कामभोगवार्ता दूरतरेति, तदाक्षेप्यदेहोपि तथा ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिराचार्यस्तु मुक्तस्य पुंसो देहादेर्भावं सत्तां मन्यते । तत्र हेतुः विकल्पेत्यादि । 'ब्रह्मविदाप्रोति पर'मिति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्य तत्प्राप्तिसाधनत्वमुच्यते । 'नायमात्मे'ति श्रुत्या तु वरणमात्रप्राप्यत्वम् । 'सोऽश्नुत' इत्यादिना च परप्राप्त्युप गसः क्रियते । 'इहैव समवनीयन्ते' 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येती'ति च पठ्यते । एवं सति मिथो विरोधे तद्भावायोक्तव्याख्यानरीत्या ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षरब्रह्मप्राप्तिः, पुष्टिमागेंऽङ्गीकृतस्य तु 'सोऽश्नुत' इत्यनेनोक्ता परप्राप्तिरिति व्यवस्थितविकल्प एव श्रुत्यभिमत इति ज्ञायते । तेन, 'नायमात्मे'ति

भाष्यप्रकाशः ।

अभावं वादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥ अत्रेत्यादि । अस्मिन्नर्थे निःसम्बोधनिरानन्दमुक्तिवादी प्रत्यवतिष्ठत इत्यर्थः । तत्र हेतुः । वादरिरित्यादि । शेषं स्फुटम् ॥ १० ॥

एतन्मते कामाशनबोधकश्रुत्यादयः पूर्वकक्षाविश्रान्ताः जैमिनिस्तु पूर्वकक्षाविश्रान्तौ मानाभावात् ब्रह्मविद्वृत्तान्तकथनस्योभयत्र तुल्यत्वान्मार्गभेदेनाधिकारिभेदमङ्गीकृत्योभयव्यवस्थामाह ।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥ विकल्पामननादिति । विरुद्धाः कल्पाः पक्षाः विकल्पाः श्रुतिपूज्यमानाः, तेषां आमननात् आसमन्तान्मननाद् विचारात् । तथा च ज्ञानप्राप्यत्वविरुद्धं वरणैकलभ्यत्वं कामाशनविरुद्धश्राप्यय इति साधनयोः फलस्वरूपयोश्च मिथो विरुद्धत्वे सति तद्भावायाधिकारिभेद आस्थेय इति ज्ञानमात्रात् साधनात् ब्रह्मभावे तत्र लयः,

रश्मिः ।

अभावं वादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥ निःसम्बोधेति । अर्थबलाच्छब्दोप्यन्यथा नेय इति मत्वेदशो भवति । भाष्ये । तथेति दूरतरः ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥ एवं सतीति भाष्यं विवृण्वन्ति । इति

श्रुतिः परप्राप्तिविषयिणी । 'इहैवे' त्यादिश्रुतिस्तु मर्यादामार्गीयविषयिणीति मन्तव्यम् । एवं सति पुष्टिमागेंऽङ्गीकृतस्य भोगसाधनात्मकविग्रहवत्त्वं निष्प्रत्यूहं सिध्यति । 'तत् केन कं पश्ये' दित्यादिना तु ब्रह्मज्ञानसामयिकी व्यवस्थामाह, न तु तदुत्तरकालीनपरप्राप्तिसामयिकीमिति किमनुपपन्नम् ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनप्रयोजकं शरीरं शरीरत्वस्य भूतजन्यत्वव्याप्यत्वात्तद्भावेनाशरीररूपम्, तद्भोगायतनत्वेन शरीररूपमपीति वादरायण आचार्यो मन्यते । अत्र हेतुः, अत इति । तथाविधश्रुतेरित्यर्थः । तथाहि । 'भूमैव विजिज्ञासितव्य' इत्युक्त्वा, तत्स्वरूपमाह 'यो वै भूमा तत्सुख'मित्युपक्रम्य,

भाष्यप्रकाशः ।

वरणसहकृतात् तद्भावं स्वाधीनतया स्वरूपानुभावात्मक इति श्रुत्यभिप्रेतस्य व्यवस्थितविकल्पस्य सम्यग्विचारात् तथेत्यर्थः । शेषं स्फुटम् ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः ॥ १२ ॥ भगवान् व्यासस्तु जैमिन्युक्तव्यवस्थां वादयुक्तं द्वैतदर्शननिषेधं चाङ्गीकृत्य जैमिन्युक्तात् कञ्चिद्विशेषमाहेत्याशयेन सूत्रं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मणा सहेत्यादि । एवमधिकारिभेदमार्गभेदाभ्यां मुक्तस्य देहसत्तायास्तद्भावस्य च प्राप्तिं यस्य शरीरं प्राप्तम्, तत् कीदृशमित्यपेक्षायां तच्छरीरं उभयविधम्, केनचिद्धर्मेण शरीररूपम्, केनचिद्धर्मान्तरेण अशरीररूपमित्येवं द्विविधमिति वादरायण आचार्यो मन्यत इत्यर्थः । हेतुबोधिका श्रुतिः कुप्रास्तीत्याकाङ्क्षायामाहुः तथाहीत्यादि । तथा तत्प्रकारकं हि यतो हेतोः, 'भूमैव विजिज्ञासितव्य' इत्याद्युक्त्वा तस्य शरीरस्य स्वरूपमाह । तथा च छान्दोग्ये भूमविद्यायामस्तीत्यर्थः । ननु तत्र भूम्नः स्वरूपमुच्यते, न शरीरस्वेत्यत आहुः यो वा इत्यादि । सत्यं भूम्नः स्वरूपमुच्यते, तथापि तस्य सुखरूपत्वमुपक्रम्याग्रे सुखरूपतया तदुच्यते, इत्येवं रश्मिः ।

साधनयोरित्यादि । वरणसहकृतादिति । अनुग्रहजपुष्टिभक्तिरूपात्साधनात् । 'वशे कुर्वन्ति मां भक्तये'ति वाक्यादाहुः । स्वाधीनतयेति । तथा च एवमपि उपन्यासादिति सूत्रभाष्यं भगवदानन्दमश्रुत इति । तथेति । ज्ञायत इत्यर्थः । शेषमिति । तेन नायमात्मेत्यादि भाष्यं स्फुटम् । तथाहि । मर्यादामार्गीयविषयिणीति । मर्यादामार्गीयसद्योमुक्तिविषयिणी । ब्रह्मज्ञानसामयिकीमिति । गीताष्टादशाध्यायोक्तसात्त्विकज्ञानसामयिकीमिति ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः ॥ १२ ॥ ब्रह्मणा सहेत्यादीति । भूतजन्यत्वेति । भूतजन्यं शरीरत्वात् । देवदत्तशरीरवत् । तद्भावेन भूतजन्यत्वाभावेन । तदिति भिन्नं पदम् । एवमधीति । वादरिर्तार्थी अधिकारी । जैमिनिरातोधिकारीत्यधिकारिभेदः । अधिकारभेदे तत्कृतो मार्गभेदः ताभ्याम् । केनचिदिति । भोगायतनत्वेन धर्मेणेत्यर्थः । केनचिदिति । भूतजन्यत्वाभावेन धर्मान्तरेण । अशरीररूपमित्यत्राभावज्ञानं शरीररूपप्रतियोगिज्ञानाधीनमिति भाष्यविपरीतकमः । भाष्यं तु सूत्रे अनुरूपद्वीत्यदोषः । सूत्रयोरनुशरीराभावः । द्वितीये तु शरीराभावाभावरूपं शरीरमित्यदोषः । तदुच्यते । भूमस्वरूपमुच्यते इत्येवं

अत्र उच्यते 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे'त्यनेन केवलभावविषयत्वं पुरुषोत्तमलक्षणमुक्त्वा केवलभाववतो भक्तस्य विप्रयोग-सामयिकी व्यवस्थामाह 'स पश्चात् स उपरिधात् स पश्चात् स पुरस्तात्' इत्यादिना । ततः, 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजान' इति पूर्वावस्थामन्वय, संयोगव्यवस्थामाह 'आत्मरतिरात्मकीड आत्ममिथुन आत्मानन्द' इति चाक्येन, 'सोऽद्भुत' इति श्रुतिसंवादिनमर्थमुक्त्वा, भक्तस्वरूपमाह 'तस्य ह वा एतस्यैव पश्यत एवं मन्वानस्यैव विजानत आत्मतः प्राण' इत्युपक्रम्य, 'आत्मत एवेदं सर्व'मिति । तेनाशरीरत्वं सिध्यति । अल्पप्रयोगेणाश्रित्यादेश पुरुषोत्तमात् प्राणाद्याविर्भाव उच्यते । अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी । पूर्वं चिरहृदशायां प्राणादयो भगवत्त्वेष सीना आसन्, ततस्तत्प्राकृत्ये तत एव प्राणादयोपि सम्पन्ना इति तत्प्राप्तेर्निमित्तत्वम् यतो, विभूतिरूपाणां अपि पुरुषोत्तमे लयो नानुपपन्नः ।

भाष्यप्रकाशः ।

गृहीत्वा विभजन्ते । यत्र नान्यदित्यादि, सर्वमितीत्यन्तम् । तथा चात्र नित्यनिरवधि-सुखात्मकं भूमानमुपक्रम्य तस्माद् भूम्न आत्मनः सकाशात् प्राणादिसर्वान्तानां देहान्तःस्थाना-माविर्भाव उक्तः । तेन तस्य भूताजन्यत्वादशरीरत्वम् । 'आत्मरति' इत्यादिना भोगस्योक्त-त्वात्प्राप्ततत्वेन शरीरत्वमतस्तथेत्यर्थः । ननु ब्रह्मणः सकाशादेव तैत्तिरीयादावपि स्पष्टरुक्त-त्वात् कौञ्च विशेष इत्यत आहुः अल्पयेत्यादि । अत्रेति । 'आत्मत' इति शब्दे । तथा च तत्राकाशवाद्यादिभावापन्नात् सोच्यते, अत्र तु भूम्नरूपादेवेति विशेष इत्यर्थः । नन्वत्र भक्त-स्यैव व्यवस्थोच्यत इत्यत्र किं गमकमत आहुः पूर्वमित्यादि । तथा च यत इदमवस्थाद्वयं क्रमेणोक्त्वा भगवद्दर्शनोत्तरं प्राणाद्याविर्भावं वदतीति भगवत्प्राप्त्यनन्तरभावित्वकथनमेव तद्वक्तव्यमित्यर्थः । नन्वानन्दमयाधिकरणे विषयश्रुतौ एवंविदो भक्तस्य एतल्लोकत्यागः, 'असा-
रधिः ।

गृहीत्वैति । इत्थेवं शरीरपर्यन्तं गृहीत्वा । विभजन्त इति विभागं कुर्वते । शब्दार्थान् । तद्वैति । वृत्तभक्तस्य । तथेत्यर्थ इति । शरीरस्य स्वरूपमुच्यत इत्यर्थः । तेनाशरीरत्वं सिध्यतीति भाष्ये शरीरत्वमप्युपलक्षणविधया ज्ञेयम् । आत्मरतिरित्यादि वक्ष्यमाणभाष्यं त्वनुवादकमिति भावः । तैत्तिरीयादाविति । छान्दोग्यमादिशब्देन । 'सदेव सौम्येदमग्र आसी'दिति । आत्मत इति शब्द इति । आत्मानं प्राप्य प्राणादयो भवन्तीत्यर्थः । भूम्नरूपादिति । तेन सदेवेत्तत्राप्यानन्दा-नुत्तःस्ततोऽपि विशेषः । पूर्वमित्यादीति । भगवति लीत्वा प्राणादयः प्रकटन्तीत्यर्थः । ततस्त-त्प्राकृत्य इति । भक्तेच्छातः । आत्मनः प्राकृत्ये सति । तत एव आत्मत एव प्राणादयोऽपि शरीरे सम्पन्ना आक्षिपे । तदप्राप्तः भगवति लयरूपायाः । निमित्तत्वमिति । 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' इति भीतायास्तथा । ततः किमित्यत आहुः । तथा चेत्यादि । यस्य भगवतो विद्महेण लयाल्पप्राप्त्यनन्तरभावित्वकथनं मुक्तस्य तदेव भक्तस्य व्यवस्थाया गमकमित्यर्थः । तथा च छान्दोग्यश्रुतिः मधुब्राह्मणे । 'तद्यत्प्रथमममृतं तद्रसव उपजीवन्त्यग्निना मुलेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति तदेवामृतं दृष्ट्वा नृप्यन्ति त एतदेव रूपमभिसेविशन्त्येतस्माद्राद्रादुच्यन्ती'ति । वसवः सर्वोत्त-मावन्तः अधिरूपाः मुञ्चं आचार्याः सर्वात्मभाववन्तः इति । तथा चोक्तभाष्येपि भक्त इत्यर्थः । विषय-

भाष्यप्रकाशः ।

ल्लोकात् प्रेत्ये'त्यनेनोक्तः, सोऽत्र 'वाङ्मनसी'त्यादिना, 'सोऽप्यदे तदुपगमादिभ्य' इत्यन्तेन व्युत्पादितः । या पुनस्तदत्र 'एतमन्नमयमात्मानमुपसङ्गामती'त्यादिना विभूतिरूपाणां प्राप्ति-रुक्ता फलानुभवोपयोगिनी, सात्र सम्पदाविर्भावादिश्रुत्याभ्यामुक्त्वा, 'ब्राह्मणे'त्यादि'द्वादशा-ह'श्रुतान्तैर्व्युत्पाद्यते । फलानुभवस्त्वतिविगाढभावेन सर्वात्मभावे सत्येव भवतीति तद्वोध-नार्थं या पूर्वं चिरहृदशा, सा तत्र ब्रह्मविस्मयापठकश्रुतौ 'यतो वाचो निवर्तन्' इत्यारभ्य, 'उभे द्वेषेप एते आत्मानं स्पृणुत' इत्यन्तेन भृगुप्रपाठके च, 'तदस्य तावेन' इत्यारभ्य, 'अहं विश्वं
रधिः ।

श्रुताविति । 'को ह्येवान्यात्का प्राण्य'दिति श्रुतौ । इत्यन्तेन सूत्रमन्वेन व्युत्पादितः । तदत्र इति । विषयश्रुत्ये तैत्तिरीये । फलानुभवेति । 'अलौकिको महान् भोगः प्रथमे विद्यते सदे'ति सेवा-फलमन्योक्तं फलं तदनुभवोपयोगिनी । अनिधिगादेति । विद्मे भवति । 'प्राथम्यविकल्पेण प्रायः प्राणान्कर्षणे'त्यत्रातिशृङ्खलादिगाढः 'त भाष्ये'ति वाक्योक्तो भावो विदुः संकटेशः अल्प-वदितोत्तरप्राप्तिसाधनत्वात् । सर्वात्मभावः सर्वात्मभावो भावः । या पूर्वमिति । भाष्ये पूर्वं चिरहृदशायामित्यादिनोक्ता । सा तत्रेति । तैत्तिरीये उपसंहारे अर्थनिर्माणके अस्माच्छोकात्वेत्य एत-मन्नमयमात्मानमुपसङ्गामती'त्यादि विभूतिप्राप्त्यनन्तरं तत्सङ्गच्छोक्तं तदप्येव श्रोतौ भवतीत्यनयोक्तव्यं प्रत्यक्षप्राप्तकश्रुतावुच्यते । 'उभे द्वेषेप एते' इति । गन्तव्यमागम्यज्ञानमागम्यो गमकान्तां विशेष-तोऽनुग्रहवन्तौ । सामान्ये ननुमकं श्रुतौ । स्पृणुतं प्रीणीतः । एकवचने आत्मम् । ज्ञानी भक्तः स्पृणुत इत्येकवचनम् । स्पृ प्रीती । ननु सर्वात्मभावो भक्तिमार्ग इति उभे इति कथमिति चेन्न । ज्ञानेन भक्तेति श्रुतेः शिवे ज्ञानिति 'अहं मनुरभवं सूर्यश्रे'ति श्रुतेः सर्वात्मभावदर्शनात् । ननु ज्ञानी तैत्तिरीये कुञ्जेति चेन्न । उभे द्वेषे इत्यस्याः पूर्वश्रुतौ 'एतदह वा न तपति किमहंसाधु नाकरवं किमहं पापमकरव'मिति । 'ह एव विद्वानेते आत्मानं स्पृणुत' इत्यस्यां विद्वानित्यनेन ज्ञान्युक्तः । एते तात्वयर्थभक्तोऽपि विद्वानित्यस्यार्थः अतो द्विवचनम् । स्पृणुतं स्पृणुते । भृगुप्रपाठके चेत्सादीति । पूर्वम् 'एतत्साम गायत्रास्ते' इत्यत्र किमेतत्साम समत्वाद्ब्रह्मैव साम सर्वात्मन्यरूपं गायन् । कथम् । हा ३३३ अदो इत्यस्मिन्नर्थेऽत्यन्तविस्मयव्यापनार्थः । मार्गत्रय आश्चर्यमिति वास्तव्यम् । कथमद्वैत आत्मा निरञ्जनः स्र उपाधिः ब्रह्मा भक्त्युपाधिः मार्गत्रयेऽपि सन् । अहमेवात्रम् । मार्गत्रये भक्ति-मार्गप्राधान्यायात्रस्य त्रिरुक्तिः । 'पृथिवी वा अन्न'मिति श्रुतेः । पृथ्वी भार्यो स्त्रीभावे तदभेदः उक्तः । अहमेवात्रमिति । तत एव ज्ञानमार्गप्यन्यद्विहायात्राभेदेः । कर्ममार्गं हिरण्यगर्भमुक्तौ पृथिव्यभेदः जगदाश्रयत्वादुभयोर्गणः । 'कर्मणो ह्यपि चोद्भव्यं चोद्भव्यं च विकर्मणः । अकर्मणश्च चोद्भव्यं गहना कर्मणो गति'रिति कर्मज्ञो ब्रह्मा उच्यते नान्यः । यद्वा कर्मणा चित्तशुद्धौ भक्त्या मोक्षो ब्रह्मणः । पुनर्विस्मयः । भक्तिमार्गी सर्वात्मभावत्वात् नात्रमति । उक्तमशुवाङ्मणश्रुतेः । ज्ञानी तु सर्वं ब्रह्मात्मकं पश्यन्नाति किन्त्वानन्दो मुनकीति मन्यते । कर्ममार्गी तु न मुनक्ति । 'पयोव्रतेन व्रतयतीति' श्रुतेः । ज्ञानं क्रियेति पञ्चरात्र इति पूर्वपञ्चातीति वा । किञ्चाहमेव श्लोककृत् । अत्रान्नादयोः सङ्घातकर्ता त्रिरुक्तिर्विस्मयव्यापनार्थः । श्लोकसङ्घाते । 'अहमस्मि प्रथमजा कृतसेत्वादि' । अहमस्मि भवामि प्रथमजा सोऽर्धाप्रथमोत्पन्नः नित्यक्रीडास्यः । नित्यक्रीडाया द्विविधाः । सनातनाः कृत्रि-माश्च तत्र नित्यक्रीडास्थाः कृत्रिमा इमे इत्याह । कृतस्येति । कृतस्य सत्यस्य मूर्तामूर्तस्यास्र जगतः

‘आत्मरतिरित्यादिना, ‘सोऽश्नुत’ इत्यनेन च शरीरत्वम् । जैमिनिरप्यत एव ‘ब्राह्मणे’ति मनुते । एकस्य विरुद्धो भयधर्मवत्त्वममन्वानं प्रति वैदिकं दृष्टान्तमाह द्वादशाहवदिति । ‘यः कामयेत प्रजायेयेति स द्वादशरात्रेण यजेते’ति चोदनया ‘द्विरात्रेण यजेते’ त्यादिवन्नियतकर्तृकत्वेनाहीनत्वं गम्यते द्वादशाहस्य । ‘द्वादशाहसृष्टिकामा उपेयुः । य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ती’ति श्रुत्या च सत्रत्वं बहुकर्तृकस्य गम्यते । एवमेव द्वादशाहशरीरेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मभिरश्नुत इति सत्रतुल्यत्वम् । वस्तुतो भगवद्विभूतिरूपत्वेन ब्रह्मात्मत्वेनैकरूपत्वम्, अतो द्वादशाहवहुभयविधम् । सत्रे प्रत्येकं चेतनानां यजमानानां फलभागित्ववद्वापि तादृग्भक्तदेहादीनामपि ब्रह्मात्मकत्वात् । चेतनत्वमेवेत्यप्यनेन

भाष्यप्रकाशः ।

भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतीरित्यन्तेनोक्ता । तथा सति यस्तादृशः स आनन्दमयं ब्रह्मस्वरूपमात्मादेशोक्तप्रकारेणाहङ्कारादेशोक्तप्रकारेण वानुभवतीति सिध्यति, अतो विभूतिरूपाणां प्राणादीनां लयाङ्गीकारोऽनुपपन्न इत्यत आहुः विभूतीत्यादि । अहङ्कारादेशे आत्मादेशे च सर्वस्मिन् स्वाभेदस्यात्माभेदस्य च भानोक्त्या लयस्यार्थादेव बोधितत्वात् । अथ तत्र तेषां भक्तानां पार्थक्येन प्राणायामावनेवाभिप्रेतम्, न सर्वात्मना लय इत्युच्यते, तदापि तस्यां दशायां ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनरूपस्य ‘आत्मरतिरित्यादिनोक्तस्यानुभवस्याभावात् फलतः-रश्मिः ।

देवेभ्यश्च पूर्वम् । तेन नित्यलीलातुकूलजगत्कर्तृस्थः कृत्रिमः । ऋताऽस्येत्यत्र भुतोकारः । अमृतस्य नाभा इति । नाभौ मध्ये मुख्ये वा तत्संस्थम् । अमृतत्वं प्राप्तानां ‘ई’ आश्चर्यं । यद्वा नाभा ई नाभिमध्यं तत्संस्थममृतत्वं प्राप्तानाम् । रासस्थसुधाप्राप्तानाम् । समानवासुप्राप्तानां वा । समानस्य नाभिसंस्थितत्वात् । ‘समानो नाभिसंस्थित’ इति वाक्यात् । आचार्यपूजनं नित्य-क्रीडायामाह । यो मा ददाति स इदेव माऽश्वा हेति । यः कश्चिदाचार्यः मां अन्नं अर्थार्थिभ्यो ददाति । अन्नात्मना ब्रवीति कथाद्वारा । यथा ‘आत्मना प्रथमा क्रीडे’ति पञ्चाध्याय्याम् । स इत् इत्थं एवमविनष्टं यथाभूतं मा मां वाह अचतीत्यर्थः । अधुगतिपूजनयोः ‘अच’ इत्येके । अहमन्नमन्नमद-न्तमाप्तीति । यः पुनरन्यो मामदत्वार्थिभ्यः काले प्राप्तेन्नमभितोऽदन्तं अहमन्नमेव सम्प्रत्यक्षि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतीरिति । अहं विश्वं समस्तं भुवनमभ्यभवाम् । अभिपरेणेश्वरेण । सुवर्णम् सुवरादित्यो नकार उपमार्थः । आदित्य इव सकृद्धिभातमस्मदीयज्योतिःप्रकाशः । प्रकृतमनुसरामः । तादृश इति । विरहदशायां प्राप्तभूमः । भगवति लीनः पुनः प्रकटः सभूमचर-मवृत्त्यानुभवतीत्याहुः । आत्मादेशोक्तेति । आत्मा ब्रह्म तत्पदवाच्यः । अयं व्यष्टिप्रकारः सपुष्टि-प्रकारमाहुः । अहङ्कारादेशोक्तेति । भक्तसंवलित आत्मेति पुष्टिफलम् । चकारोऽनुक्तसमुच्चये । आत्मादेशोक्तप्रकारेण च । लयाङ्गीकार इति । प्राणादयो भगवत्येव लीना इत्युक्तभाष्योक्तलया-ङ्गीकारः । स्वाभेदस्येति जीवाभेदस्य । अथातोहङ्कारादेश इत्युपक्रमादात्मधर्माणामुपरिष्ठा-त्वादीनामहङ्कारेणाध्यासक इति । अत्र बोध्यम् । तादात्म्यरूपाद्वैतात् । लयस्यार्थादेवेति । लयमन्तराऽभेदानासम्भवात्तथा । फलाध्याये तादात्म्यरूपाभेदविवक्षणादाहुः । अथ तत्रेति । तस्यामिति । पूर्वोक्तायां दशायां विरहदशायामिति यावत् । अभावादिति । प्राणा-दीनां लयेनाभावात् । तौल्यमिति । सर्वात्मना लयेन तौल्यम् । ‘आन्तरन्तु परं फल’मिति सुबो

भाष्यप्रकाशः ।

तौल्यमेव । वस्तुतस्तु तदग्रे ‘तस्य ह वा एतस्ये’त्यादिना आत्मतः प्राणादीनामाविर्भावश्रावणात्तद-न्यथानुपपत्त्यैव लयाङ्गीकारः, अतो नानुपपन्न इत्यर्थः । एवमशरीरत्वबोधिकां श्रुतिं व्याख्याय शरीरत्वसाधिकां श्रुतिमाहुः आत्मरतिरित्यादि । तेन तैत्तिरीयसमाप्तौ यां दशोक्ता, सा फलानुभवस्य प्रथमावस्थेति बोधितम् । स्वोक्ते पूर्वसूत्रसम्मतिमाहुः जैमिनिरित्यादि । एवं हेतुं व्युत्पाद्य दृष्टान्तं व्युत्पादयन्ति एकस्येत्यादि । दार्ष्टान्तिके योजयन्ति एवमेवेत्यादि । तेन, ‘ब्रह्मभावात् भक्तानां गृह एव विशिष्यत’ इति साधितम् । तथा च भक्तानामेव भोगरूपकार्य-बलेन सत्रतुल्यत्वम्, अन्येषां तु तदभावादहीनतुल्यत्वमिति भक्ताभक्तव्यवस्थाबोधनादभक्तस्य बादरेः पूर्वकक्षाविश्रान्तत्वात्तदुक्तमपि युक्तम् । जैमिनेस्तु सर्वत्र दृष्ट्या उत्तरकक्षाविश्रान्तत्वा-त्तदुक्तमपि युक्तमिति तस्य तस्य तथात्वबोधनायैव स्वमतकथनमित्यर्थः । मर्यादाभार्याया अपि भगवच्छोक एतादृशदेहेनैव यथाधिकारं चतुर्विधमुक्तिभाजस्तदुच्यन्ति । ज्ञापनेनापि पूर्वोक्तं साध-रश्मिः ।

धिन्याम् । तस्यां दशायां ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनस्यात्परतिरित्यादिनोक्तस्यानुभवस्य सूक्ष्मरूपै-र्भावात्तौल्यं नैत्यस्या वस्तुतस्तु पक्षमाहुः । वस्तुनस्त्विति । तदग्र इति । अहङ्कारादेशस्याग्रे । तदन्यथेति । आविर्भावो लीनस्येत्यादिर्भावान्यथानुपपत्त्या । अन्यथानुपपत्तिरत्र पूर्वमीमांसोक्ता प्रस्थानरत्नाकरेङ्गीकृता ग्राह्या । अनुपपन्न इति । लयाङ्गीकारो नानुपपन्नः । तैत्तिरीयेति । साभगायनेन । यादृशोक्तेति । यादृश्युक्तेत्यपि । प्रथमावस्थेति । भूमविद्यारूपा । स्वोक्त इति । गोस्वाम्युक्ते आचार्योक्ते वा भाष्ये ब्राह्मणेति पूर्वसूत्रसम्मतिमाहुः । हेतुमिति । अत इति सौत्रं हेतुम् । तथा च चादरायण उभयविधं शरीरमतः भाष्योपपादनादिति सुप्रार्थः । एकस्येत्यादीति । विहितोभयधर्मौ शरीराशरीरत्वे । आहेति । व्यासो भगवान् । नियनेति । एककर्तृकत्वेन । एकत्वविवक्षणात् । उपेयुरिति । उप समीपे ईयुः गच्छेयुः कुर्युः आधिदैविकं प्रकटमीयुः । आधि-भौतिकं कुर्युः । उपयन्ति उपगच्छन्ति कुर्वन्ति । सत्रत्वमिति सत्रत्वमुक्तमिति । बहुकर्तृकस्य द्वादशाहीनस्य । बहुकर्तृकत्वं सत्रत्वमिति सत्रलक्षणात् । एवमेवेत्यादीति । पादौ गुल्फौ जङ्घे स्तनौ करौ शिरः हृदिदिदि द्वादशाङ्गशरीरे । आत्मा जीवः । एकरूपत्वमिति । तादात्म्यरूपा-भेदादेकरूपत्वम् । उभयेति । शरीराशरीरत्वे विधेयस्य शरीरस्य तदुभयविधं शरीरम् । तेनेति । श्रीभागवते एकादशे सप्तदशेध्याये ब्रह्मचर्यगृहस्थाश्रमाभ्यामध्यायं समाप्याष्टादशध्याये आश्रम-द्वयमुक्तम् । तस्मादाश्रमद्वयं गार्हस्थ्यं सत्यासथ मुख्यावितरौ गौणौ । एवं च तेनेत्यस्य द्वयोरश्रमयो-मुख्यत्वेन तत्रापि ज्ञानिनो भक्तत्वेन ब्रह्मभावाद्भक्तविशेषत्वेनेत्यर्थः । ब्रह्मभावाद् भूमविधा-विधानन्दानुभवत्पूर्वोक्तात् साधनरूपात् तिरोहितस्याविर्भावे ब्रह्मभावः । सत्यासाश्रमाद्वा । गृहाणां बन्धकत्वाद्भक्तानामिति विशेषणम् । ‘मद्गतायातयामानां न बन्धाय गृहा मता’ इति वाक्या-दृहस्य पुंस्त्वं स्मार्तम् । विशिष्यत इति । यथानुग्रहो यस्मिन् जीवे स तादृशं तदाविश्य भगव-दानन्दमश्नुत इति । एवमप्युपन्याससूत्रभाष्यात् । एवं पुष्टिमार्गीयाणां फलकथनेन स्युतेर्मर्यादा-मार्गीयशरीरस्य शरीराशरीरत्वे आहुः । मर्यादेति । एतादृशेनेति । अक्षरात्मकेन । परंलेश विशेषः । ज्ञानिनो लोके मर्यादाभक्तास्तु चरणात्मकेऽक्षर इति । कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहार इत्यत्राप्युक्तम् । अत एव गीतायां मुक्तौ पारिभाषिकत्यागसत्यासौ गृहस्थस्यापि सम्भवतः ब्रह्मचर्यं च । चतुर्विधेति । सालोक्यसाष्टिसामीप्यसारूप्यरूपचतुर्विधमुक्तिभाजः । सायुज्यसाष्टिसामीप्यानि

१. यादृशोक्तेति रश्मौ ।

२४ अ० सू० २०

दृष्टान्तेन ज्ञान्यति । अत एव श्रीभागवते 'देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुर-
वासिनामिति गीयते ॥ १२ ॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे द्वितीयं ब्राह्मणेत्वधिकरणम् ॥ २ ॥

तत्त्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥ (४-४-३)

अथेदं चिन्त्यते । भगवत्स्वरूपे प्राकृतशरीर इवावस्था दृश्यन्ते तत्कालीनैः

भाष्यप्रकाशः ।

यितुमाहुः अत एवेत्यादि । तथा च यत्र जयविजयादीनामप्येवम्, तत्र पुष्टिमागीयस्य का
वार्तैत्यर्थः । एवं प्रसङ्गेन भगवच्छोकप्राप्तिरूपं फलमुक्तमिति ज्ञेयम् ।

अन्ये तु बादरिसूत्रे, 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमत' इति श्रुतौ 'मनसे'ति विशेषनिर्देश-
बलान्मुक्तस्य देहेन्द्रियाद्यभावम्, जैमिनिषूत्रे च 'स एकधा भवती'त्यादिविकल्पामननादेहेन्द्रिय-
सद्भावम्, बादरायणसूत्रे, उभयश्रुत्यनुरोधान्मुक्तस्य सङ्कल्पेन कदाचित्तदभावं कदाचित्सद्भावं
च व्याकुरुष्विति । तत्र मुक्तसङ्कल्पो यदि परमेश्वरसङ्कल्पानुसारी, तदा तद्भावापरभूतः, यदि तद्वि-
रुद्धः, तदा अकिञ्चित्करत्वादप्रयोजक इति ध्येयम् ॥ १२ ॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणेत्वधि-
करणम् ॥ २ ॥

तत्त्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥ एवमत्र फलानुभवप्रकारमध्ये देहरूपः प्रकारो
विचारितः । अथ 'आत्मा प्रकरणा'दित्यादिसूत्रद्वयोक्तस्य फलस्य प्रकारं विचारयतीत्याशयेना-
धिकरणमवतारयन्ति अथेत्यादि । एवमष्टय्या पूर्वसूत्रद्वयोक्तदेहरूपनिरूपणोत्तरं इवमग्रिम-
सूत्रद्वयोक्तं भगवत्स्वरूपमनेन प्रकारेण विचार्यते । यद्यपि गुणोपसंहारे भगवतो निर्दोषत्वम्,
रश्मिः ।

सेवाफलत्वे नित्यलीलायामप्याविर्भवन्ति सेवाफलग्रन्थोक्तानि । अत एवेत्यादीति । शरीरस्यो-
भयविधत्वादेव । 'देहेन्द्रियासुहीनानां'मित्यशरीरत्वं शरीरस्य पुरवासिनामिति शरीरत्वम् । जयेति ।
आदिनाऽऽनन्दादयः । एवमिति । शरीराणां शरीरत्वाशरीरत्वे । जयविजययोर्वैकुण्ठात्पातस्तु प्रक्षोप-
निषद्यस्ति । पितृयाणेन याताः पुनरावर्तन्ते इति सुधोधिण्यां तृतीयस्य स्पष्टम् । प्रसङ्गेनेति ।
ब्रह्मप्राप्तिरूपेण स्मृतं भगवच्छोकप्राप्तिरूपं फलं उपेक्षानर्हमिति स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्ग-
त्वेन । स एकधेति । छान्दोग्ये भूमविद्यास्था । तदभावं शरीराभावम् । तत्सद्भावं शरीर-
सद्भावम् । परमेश्वरेति । मायोपाधिकसङ्कल्पानुसारी तद्भावापरभूतः सगुणव्यापारः सगुणो न तु
मुक्तनिर्गुणस्य । अकिञ्चित्कर इति । आविद्यकत्वादिति भावः । मुक्तनिष्ठाविद्ययोपमर्द्योपमर्दक-
भावो न परेषाम् । विद्ययाऽविद्यानाशात् । मुक्तसङ्कल्पो मायिकोन्येषामाचार्याणामिति न न्यूनता
ग्रन्थे । भास्करभाष्ये मनसैतानिति श्रुतिरस्ति, रामानुजभाष्ये तु नास्ति । 'न ह वा सशरीरस्य
सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ती'त्यस्ति । सैतच्छ्रुतेरुपलक्षिकेति ज्ञेयम् । एवमन्यभाष्येषुम् ॥ १२ ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणेत्वधिकरणम् ॥ २ ॥

तत्त्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥ फलस्येति । ब्रह्मणा विपश्चितेत्युक्तस्य गुणाती-
तस्य ब्रह्मरूपस्य । अष्टसूत्रेति । ब्राह्मणेत्याद्यष्टसूत्र्या । पूर्वसूत्रेति । 'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्'
'मुक्तः प्रतिज्ञाना'दिति पूर्वसूत्रद्वयेत्यर्थः । अग्रिमिति । 'आत्मा प्रकरणात्' । 'अविभागेन दृष्टत्वा'दित्य-

पुम्भिरिति कथमप्राकृतत्वमुपपद्यत इति तत्रोपपत्तिमाह । तद्दर्शनस्य वास्तव-
वस्तुविषयकत्वव्यवच्छेदेन पूर्वपक्षव्युदासाय तुशब्दः । तत् प्राकृततुल्यतादर्शनं
अभावे तथात्वस्याभाव एव भवति, न तु तत्र प्राकृता भर्माः सन्ति । नन्ववि-
द्यमानानामर्थानां कथं दर्शनमुपपद्यत इत्यत आह सन्ध्यवदिति । स्वप्ने यथा वासना-
वशादविद्यमानानामप्यर्थानां दर्शनं भवति, तथा भगवद्विच्छावशात् तत्रापि
प्राकृततुल्यत्वदर्शनस्योपपत्तेर्न प्राकृतत्वं तत्र ज्ञेयमित्यर्थः । तथा च श्रुतिः ।
'सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्तुभे स्थाने पश्यतीदं च

भाष्यप्रकाशः

वेद्याद्यधिकरणे, अनन्तगुणपूर्णत्वादिकं च, 'व्याप्तेश्च समञ्जसं'मित्यवान्तराधिकरणे विचारितम्,
तथापि तदेव स्वरूपं फलरूपमिति तत्र न विचारितम् । साधनप्रकरणत्वात् । अतः फलरूपमन्य-
द्भविष्यतीत्याशङ्कानिरासाय तदेवात्र फलमिति बोधनार्थमवसरसङ्गत्या पुनः परामृश्यते । तथा
चात्र फलत्वेन प्रतिपाद्यमानं भगवत्स्वरूपं प्रकृतिसम्बन्धविशिष्टम्, न वेति संशयः । अवस्था-
दर्शनादाद्यमिति पूर्वपक्षः । तद्दर्शनस्य भ्रान्तत्वान्नेति सिद्धान्त इत्याशयेन सूत्रमवतारयन्ति भग-
रश्मिः ।

ग्रिमसूत्रद्वयोक्तम् । अवस्थेति । कृष्णावतारे भीष्मप्रसङ्गे रुधिरक्षतादिप्राकृतवात्यपौगण्डाद्यवस्थादर्श-
नात् ॥ भाष्ये । आहेति । छान्दोग्यीयश्वेतकेतूपाख्यानस्य द्वितीयोपदेशप्रकारेण व्यास आहेत्यर्थः ॥
प्रकृते ॥ तद्दर्शनस्येत्यादीति । उक्तप्राकृतधर्माणां दर्शनस्य । तथान्वस्येति । प्राकृतत्वस्य ।
सन्ध्यं तृतीयमिति । 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं चेति
सन्ध्यं तृतीयमिति' इति । अर्थस्तु तस्य वै प्रसिद्धस्यैतस्य प्रकृतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने
भवतो न न्यूनैः । के ते इदं च प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानं जन्मैकं द्वितीयं तु परलोक एव स्थानम् ।
परलोकस्थानं भावि जन्म । एतयोः सन्धौ भवं सन्ध्यं तृतीयं त्रयाणां पूर्णं स्वप्नस्थानम् । तस्मिन्
सन्ध्ये स्वप्नस्थाने तिष्ठन् वर्तमानः सन्नित् च परलोकस्थानं चेत्येते उभे स्थाने पश्यति । किमाश्रितः
केन विधिना परलोकं पश्यतीत्यत आह । अथेति । यथाक्रमः आक्रमत्यनेनेत्याक्रमः, आश्रयोऽवष्टम्भः
विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञालक्षणः । यादृश आक्रमो यस्य सोयं यथाक्रमोयं पुरुषः परलोकस्थाने प्रतिपत्तव्ये
निमित्ते यादृशेनाक्रमेण संयुक्तो भवति । तमाक्रमं बीजभूतमाक्रम्यावष्टम्भोभयान्याप्पनः पापफलानि
दुःखानि आनन्दांश्च धर्मफलभूतान् सुखविशेषान् पश्यत्येवंप्रकारेण । धर्मादेवताप्रसादाद्धान्ये वयसि
यदिहासम्भाव्यमानं पश्यति स्वप्ने तत्पारलौकिकमेवेत्यर्थः । स खल्व्वात्मा बाह्यैर्ज्योतिर्भिरसंस्पृष्टः
स्वयमेव यथा ज्योतिर्भवति, तथेदं स्वयंज्योतिर्गुं साक्षादवष्टम्भेनाह स इति । स प्रकृत आत्मा यत्र
यस्मिन् काले प्रखपिति प्रकर्षेण स्वप्नमुभवति तदा किमाश्रयः केन प्रकारेण च स्वयं प्रतिपद्यते
इत्याकाङ्क्षायामाह । अस्येति । दृष्टस्य जागरितलक्षणस्य देहस्य । कथमभूतस्य । सर्वा भूतभौतिक-
मात्रा अध्यात्मादिविभागयुक्ताः अस्य संसर्गकारणभूता विद्यन्ते इति सर्वान् तस्य सर्वावतो मात्रामयं
वासनात्मकमुपादाय गृहीत्वा स्वयमात्मैव अनादित्यादिर्जाग्रद्देहं विहृत्य निःसम्बोधमापाद्य स्वयमेव
स्वकर्मानुसारि स्वज्योतिषाऽऽलुप्तहृत् स्वभावेन निर्मितं वस्तु विषयीकुर्वन् प्रखपिति । अत्रास्यां स्वापावस्था-
यामयं पुरुष आत्मा स्वयमेव ज्योतिर्भवति । तदादित्यादेरभावादिन्द्रियाणां चोपसंहृतत्वान्मनसश्च
विषयाकारेणैवोपक्षयात् । यद्वा परलोकदर्शनार्थं करणत्वेन सद्ब्रह्मादिति परिशेषादित्यर्थः । ननु स्वप्नेपि

परलोकस्थानं च । अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति । स यत्रायं प्रखपितीत्युपक्रम्य, 'स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रखपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति, न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्तीत्यादिरूपा । एवमेव भगवानामुराणां प्राकृतगुणे तमस्यैव दुःखात्मके लयं चिकीर्षुः स्वस्मिन् प्राकृतत्वबुद्धिसंपादनाय तादृशीमिव लीलां दर्शयति, अतो न प्राकृतत्वशङ्कागन्धोऽप्यत्र । अत एव भगवतोक्तं, 'मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयका' इत्युपक्रम्य, 'ततो यान्त्वधमां गतिमिति । तेषामामुरत्वेन मुक्त्यनधिकारित्वात् तथाकरणम् । अतः सुष्टूक्तं सन्ध्यवदुपपत्तेरिति ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

लौकिकवद्भासमाने लीलापदार्थे यद्दर्शनं भक्तानाम्, तत् तु भावे विषये विद्यमाने सति भवति । अत्र दृष्टान्तमाह । जाग्रद्वत् । यथा मोहाभाववतः पुंसः सत एवार्थस्य दर्शनं तथेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

वदित्यादि । तत्रेति । प्राकृतावस्थादर्शने । व्याकुर्वन्ति तद्दर्शनस्येत्यादि । श्रुतिस्तु बृहदारण्यके ज्योतिर्ब्रह्मणे । दार्ष्टान्तिके योजयन्ति एवमित्यादि । अभ्यसूयका इति । गुणेषु दोषारोपकाः । इयमेवोपपत्तिर्ब्रह्माण्डपुराणेऽप्युक्ता, शिवसत्त्वविषेकेऽभूदिता । तथाहि । 'निर्दोषश्चेत् कथं विष्णुर्मनुष्येषु प्रजायते । चिन्ताश्रमव्रणाज्ञानदुःखयुग्मस्यते कथम् । एवं मे संशयो ब्रह्मन् हृदि शल्य इवार्पित' इति नारदग्रन्थे 'स्त्रीपुंमलानुपङ्गात्मा देहो नास्य विजायते । किन्तु निर्दोषश्चेत्तन्यसुखनित्यां स्वकां तनुम् । प्रकाशयति सैवेयं जनिर्विष्णोर्न चापरा । तथाप्यसुरमोहार्थं परेषां च क्वचित् क्वचित् । दुःखाज्ञानश्रमादींश्च दर्शयेच्छुद्धसद्गुणः । कत्रणादि क चाज्ञानं स्वतश्चाचिन्त्यसद्गुणे । दोर्लभ्याञ्चैव मोक्षस्य दर्शयेत्तानजो हरिः । कृष्णो ह्यत्यक्तदेहोपि त्यक्तदेहस्य देहवत् । लोकानां दर्शयामास स्वरूपसदृशाकृतिम्' इति ब्रह्मणोक्तम् ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥ एवं दोषदर्शने उपपत्तिमुक्त्वा गुणदर्शने उपपत्तिमाहेत्याशयेन सूत्रमुपन्यस्य व्याकुर्वन्ति लौकिकवदित्यादि । अत्र पूर्वसूत्रात् 'उपपत्तेरिति पदमनुवर्तते । अर्थस्तु स्पष्टः । तथा च गुणोपसंहारपादे, 'व्याप्तेश्च समञ्जसम्', 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे' इति सूत्रद्वये रश्मिः ।

सर्वस्यादित्यदेर्दृश्यमानत्वात्कथं परिशेषात्स्वयंज्योतिर्बुद्धिरित्याशङ्कायां तस्य सर्वस्य वासनानिमित्तत्वादित्याह । नेति । तत्र स्वप्ने रथाः प्रसिद्धाः रथैर्युज्यन्त इति रथयोगाः अश्वाद्यः पन्थानो मार्गा न भवन्तीति प्रत्येकं नजाभिसम्बध्यते न सन्ति । अथो अपि रथान् रथयोगान्पथः सृजते वासनात्मकान् मायिकान् । तादृशीमिति । व्रणक्षतादिभिलौकिकीमिव लीलां छान्दोग्ये द्वितीयोपदेशोक्तां मधुरूपदशविधधर्मरूपाम् । प्रकृतमनुसरामः । तथाकरणमिति । असत्त्वेन व्रणादीनां करणम् । स्वरूपेति । स्वरूपमहशीमाकृतिं त्यक्तदेहस्य देहवद्दर्शयामास ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥ गुणोपसंहारेति । तृतीयाध्याये तृतीये पादे । दोषेति । व्रणादिदर्शने । गुणेति । 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्भ्रुतोदके । तान्वान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत'

एताभ्यां सूत्राभ्यामेतदुक्तं भवति । 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुत्या भक्तकामपूरणाय भगवाँल्लीलां करोतीति गम्यते । यद्दर्शनश्रवणस्पर्शभक्तानां दुःखं भवति, तादृशीमपि तां करोतीति श्रूयते । यथा सौभयुद्धे मोहवचनानि, हस्तादायुधच्युतिः, प्रभासीयलीला च । उक्तरीत्या, 'सोऽश्नुते' इति श्रुत्या परब्रह्मत्वमवगम्यते । उक्तलीलया तद्वैपरीत्यं च । एवं सत्येकस्या वास्तवत्वम्, अन्यस्या अवास्तवत्वं वाच्यम् । 'ते ते धामान्युद्गमसि' 'विष्णोः कर्माणि पश्यत', 'तद्विष्णोः परमं पदम्', 'तद्विप्रासो विपान्यव' इत्यादिश्रुतिभिः, 'सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशाम्भुवम् । विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं

भाष्यप्रकाशः ।

'व्यापकस्य स्वरूपस्यैव भगवतो भक्तानां तत्तद्रसानुभावनाय तथा तथा मायापसारणेन तत्तत्परिमाणोपपत्त्येन बाल्यपौगण्डाद्यनुभावेनात् तेषां विद्यमानानामेवार्थानामनुभव' इत्युपपादनात्तथोपपत्तेरित्यर्थः ।

एवं सूत्रद्वयं व्याख्याय सूत्रद्वयोक्तिप्रयोजनमाहुः एताभ्यामित्यादि ।

रश्मिः ।

इति गीतावाक्यात्कृष्णाश्रये गधुनीव पृथगग्राह्याः दृष्टानुसारिणः सर्वत आकृष्टाः गुणास्तेषां दर्शने । यथा-काशशरीरं ब्रह्मेत्युक्तस्य कृष्णाश्रये यावन्तो धर्माः दृष्टानुसारिणः तज्जन्यत्वेनापृथग्भूताः सर्वतः शास्त्रेभ्य आकृष्टाः मया दृष्टाः योगेश्वरे कृपया प्रकटास्तेन दर्शिताः । पित्तलघण्टागोलकः निर्दण्डः सन्धिः छिद्रे कृष्णा दोरकाः सूक्ष्मा बहवः । तत्र मन्त्रौ । ॐसच्चिदालिङ्गनप्रसू ॐसच्चिदालिङ्गनप्रसो इति । ताभ्यां घण्टागोलके दण्डप्रामणेन गोलकः घोषवान् सूत्रे प्रोतमणिगणशब्दवैश्व । समस्यया तदभाववान् घण्टागोलकः । अत्र गीतावाक्यात्सर्वेषु वेदेषु ब्रह्मोपनिषदि घण्टागोलकः । तैत्तिरीये आकाशशरीरं ब्रह्मेत्यतो घोषः । 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इवे'त्यत्र सूत्रे प्रोतमणिगणशब्दः समस्या आचार्यशास्त्रे 'आत्मा यावत्प्रपन्नोभूतावद्वै रमते हति । सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्ते हरिश्च स' इत्यत्र प्रपत्तितदभावौ । 'मन्त्रस्यापि विधानत' इति भक्तिमार्गे मन्त्रावपि । दण्ड औषधिविचारूपः कालकर्मस्वभावाः सत्त्वरजस्तमांसि च योज्यानि तृतीयस्कन्धे प्रसिद्धानि ॥१॥ वेदे शास्त्रे 'कृष्णाजिनं ब्रह्मे'ति संहिता । 'स सर्पानघृजते'ति संहिता, आत्मनेति ज्ञेयम् । कृष्णाजिनं ब्रह्म भवतीत्यर्थः । कालकर्मादिकं योज्यम् ॥२॥ 'स बयांस्यमृजते'ति संहिता । वंशपात्रे इत्यत्र वेदे वंशपात्रमत्र योज्यम् ॥३॥ औषधिविद्या तत्र 'तासां मे पौरुषी प्रिये'ति श्रीभागवते स देहो योज्यः क्रियाधर्मो योज्यः । रामेण बाणेन हतो गृग इति दृष्टं मया ॥ ४ ॥ लौकिकवदित्यादीति । अत्रापि 'यावानर्थ उदपाने' इति द्रष्टव्यम् । तेन 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिपत्स्यैर्दोर्भिरस्यत्रधर्म'मिति दशमस्कन्धलीलोपसंहारश्लोकोक्तो यावानर्थोत्र लौकिकवत्सिध्यति । बाल्येति । बाल्यपौगण्डादिलोकवद्वाद्याणि । न तु प्राकृतानि । तस्यानुभावेनात् । तथोपपत्तेरिति । स्वाभाविकधर्मोपपत्तेः । भाष्ये । भक्तकामेति । स इति प्रथमया स्वातन्त्र्याद्भक्तस्येति भावः । तां करोतीति । स्वस्मिन्ननुवृत्तिवृत्त्ये । 'विपदः सन्तु नः शश्वत्' इति पृथावाक्यात् । उक्तरीत्येति । 'समान एव चाभेदा'दिति सूत्रादारभ्येयदवध्यवतारकविपयरीत्येत्यर्थः । उक्तेति । अत्रैवोक्तया भक्तदुःखदया । तद्वैपरीत्यं प्राकृतत्वम् ।

पदम् । विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् । विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति
पतिं विश्वस्यात्मेभ्यः शाश्वतं शिवमच्युतमित्यादिभिश्च शुद्धब्रह्मणास्तद्विपरीत-
दर्शनेऽवश्यं हेतुर्वाच्यः । स त्वासुरव्यामोहनमेवेति पूर्वसूत्रेणोपपादितः ।
भक्तेभ्यः स्वरूपानन्ददानाय 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति न्यायेन या लीलाः
करोति, यथा रिङ्गणादिलीला भगवतो नैसर्गिकधर्मरूपानन्दात्मकत्वेन विद्यमाना
एव, ता भक्ताः पश्यन्तीति द्वितीयसूत्रेणोक्तम् । अत एव लीलाया अनेकरूपत्वाद्
ब्रह्मणश्च श्रुतौ सैन्धवदृष्टान्तेनैकरसत्वनिरूपणाच्छुद्धब्रह्मधर्मत्वं न सम्भवतीति
शङ्कानिरासाय 'कैवल्य'मित्युक्तम् । 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेत्यादिश्रुतिषु
याऽन्यधर्मराहित्यलक्षणा केवलतोक्ता, सा लीलात्मिकैव, लीलाविशिष्टमेव शुद्धं
परं ब्रह्म, न कदाचित् तद्रहितमित्यर्थः पर्यवस्यति । तेन स्वरूपात्मकत्वं लीलायाः
पर्यवस्यति तेन च नित्यत्वम् । एतद् विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम् । अथवा । लीलैव
कैवल्यम्, जीवानां मुक्तिरूपम् । तत्र प्रवेशः परमा मुक्तिरिति यावदित्यर्थः ॥ १४ ॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे तृतीयं तत्त्वभावाधिकरणम् ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यादिभिश्चेति । लीलानां भगवतश्च नित्यत्वं शुद्धब्रह्मत्वं चावगम्यत इति शेषः ।

अत्र, 'ते त' इतिश्रुतिरग्रे व्याख्येया । 'विष्णोः कर्माणीत्यादयस्तु विद्वन्मण्डने सम्य-
ग्व्याख्याताः । ताश्च पूर्वकाण्डस्था इत्यतः 'सहस्रशीर्ष'मिति तैत्तिरीयाणां महानारायणोपनिषत्स्था-
नुवाकीया उक्ताः । एवं द्विविधा लीलास्तासां नित्यत्वं च प्रामाणिकमिति प्रतिपाद्य पूर्वसूत्र-
प्रयोजनं स्फुटीकुर्वन्ति । शुद्धेत्यादि । तथा च तदर्थानां लीलानां आसुरव्यामोहकत्वेनैव रूपेण
नित्यत्वम्, न तु प्रतीयमानन रूपेणेत्यर्थः । द्वितीयस्थार्थमाहुः 'भक्तेभ्य इत्यादि । एवं द्विती-
यस्य तात्पर्यमुक्त्वा लीलानां स्वरूपात्मकत्वं निगमयितुं लीलाकैवल्यस्यार्थं स्फुटमनुवदन्ति अत
एवेत्यादि । एतस्य सूत्रार्थस्योपपादनसापेक्षत्वात् प्रकारान्तरेणार्थमाहुः । अथवेत्यादि । एवं
फलरूपस्य भगवतः स्वरूपं सूत्रद्वयेन विचारितम् ।

रश्मिः ।

एवं द्विधेति । आरोपितानारोपितभेदेन द्विधापि सप्रतियोगिनीत्वाप्रतियोगिनीत्वाभ्यां चतुर्धा ।
प्रामाणिकमिति । फलाध्याये फलश्रुत्या प्रमाणेन प्रतिपाद्यत इति प्रामाणिकम् । शैषिकप्रत्ययः ।
अत एवेत्यादीति । सैन्धवेति । सैन्धवदृष्टान्तेन ब्रह्मण एकरसत्वं भैत्रेयीब्राह्मणे तेन श्वेत-
केतुपाख्यानेप्येकरसत्वरूपापनाय षष्ठोपदेशः । विद्वन्मण्डन इति । नित्यक्रीडावादे । 'रसो वै स'
इति श्रुतेर्देशरससामग्री यावती तावत्प्रत्येकरसरूपमेकमिति तथा । भक्तिमार्तण्डे सुवर्णसूत्रेण सह
नित्यलीलावादः सङ्गृहीतः । उपपादनेति । तथाहि । शुद्धब्रह्मेत्यादि पूर्वभाष्ये । शुद्धब्रह्मेति ।
धर्मरहितं ब्रह्म । तद्धर्मलीला इति न सम्भवति । तदर्थं लीलासु कैवल्यविधिः । धर्मरहितः केवल
इति शास्त्रदृष्टिः कार्यो । अग्रे या केवलतोक्ता सा लीलात्मिकैवेत्युक्तम् । तत्र केवलता सत्यत्वाद्या-
त्मिका नेत्यत्रोपपत्तिः केति । तेनेत्यादि । तेन केवलतारूपत्वेन । तस्याः स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपत्वेन
स्वरूपात्मकत्वं लीलायाः पर्यवस्यतीति प्रकाशाश्रयवत्सूत्रं प्रवर्तते न वेति सन्देहः ।
अत्रोपपादनम् । उपपत्तिः केत्यत्र विनिगमनाविरहात्केवलतायाः सत्यत्वाद्यात्मकत्ववलीलात्मकत्वं
किं न स्यादिति । सूत्रप्रवृत्तिसन्देहे त्वधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्दानिरिति न्यायात्तसन्देहेनिवृत्तिः ।
एवमुपपादनसापेक्षत्वात् । अथवेत्यादीति । मुक्तिरूपमिति । न त्वीश्वरो मुक्तिरूपो न तद्धर्म-

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र सर्वेपि पूर्वसूत्रे, तन्वभाव इति पाठमङ्गीकृत्यैवं व्याकुर्वन्ति । 'सङ्कल्पादेवे'ति सूत्रे
पित्रादिसमुत्थानमुक्तसङ्कल्पादुक्तम् । स एव सङ्कल्पो द्वादशाहसूत्रेऽतःशब्देन परामृश्यते । तेन
मुक्तो द्वादशाहवदशरीरः संशरीरश्च सिध्यति । तत्राशरीरस्य पो भोगः, स तन्वभावेपि ब्रह्मसूत्रै-
रेव पदार्थैः सन्ध्यवत् स्वाप्तिकपदार्थभोगवत् सिध्यति । तनुसद्भावपक्षे तु लीलार्थमीश्वरेण सृष्टै-
र्मुक्तेन वा स्वसङ्कल्पादेव सृष्टैर्जाग्रद्वत् बहिर्भुङ्क्ते इति ।

तन्नासाकं रोचते । 'एवमप्युपन्यासा'दिति सूत्रेऽपहतपाप्मादिसत्यसङ्कल्पान्तानां धर्मानां
मुक्तेऽप्यङ्गीकारेण तत्सङ्कल्पादेव तदनुरूपभोगोपपत्तेर्विशेषतस्तदुपपादनप्रयोजनाभावेनैतत्सूत्र-
द्वयस्यानतिप्रयोजनत्वप्रसङ्गात् । अथ सूत्रे तथा पाठ इति तदनुरोधेन तथा व्याख्यायामित्यु-
च्यते, तदा तु सूत्रे 'तन्वभाव' इत्यत्र तनुशब्दस्याभावशब्देन समासेऽनचि चेति वैकल्पिकं
नकारस्य द्वित्वं, तथा तत् तु अभाव इति पदच्छेदेपि, यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वेति
नकारद्वित्वमिति तत्त्वभावपदस्य सैद्धान्तिकोऽर्थ एव युक्तः । द्वित्वाभावश्चेत्, तदा 'तन्व-
भाव' इत्यत्र सप्तमीसप्तमङ्गीकृत्य भगवत्तनां तदभाव इत्यर्थो वक्तव्यः । भगवता स्वस्वरूप
आसुराणामन्यथाभानस्य कारणेन तद्भानस्यावश्यमुपपादनीयत्वात् । अन्यथा आसुरदृष्टेषु
सत्यत्वबुद्धौ देवानां मोक्षप्रतिबन्धापत्तेरिति । तदेतत् प्रागेव ब्रह्माण्डवाक्योपन्यासपूर्वकं
विचारितमित्युपरम्यते ।

ये मायावादिनो मोक्षे भोगं नाङ्गीकुर्वन्ति, तान् प्रति भास्कराचार्यैरेवं दूषणमुच्यते ।
ससम्बोधं मोक्षं श्रुतिसिद्धमाश्रित्याचार्येणायं विभागो दर्शितः श्रोतृणामनुग्रहाय, न नास्तिक्य-
मवलम्ब्य भ्रान्त्या वा सूत्राणामन्यथार्थत्वं कल्पनीयम् । श्रुतीनां नार्थवादत्वम् । सर्वत्रार्थवादत्व-
प्रसङ्गात् । निःसम्बोधे तु मोक्षे न प्रेक्षापूर्वकारी प्रवर्तते । संसारावस्थायां तावदेवलोकादिषु
पर्यायेण सुखतारतम्यं लभते, मुक्तः पुनः सुपुत्रवन्न किञ्चित् । स्वरूपचैतन्यं तु विद्यमानमप्य-
सत्सममेव । न हि तच्चैतन्यान्तरेण संवेद्यते । तस्यैवाभावात् । न च स्वचैतन्यतः संविदस्तु चैत-
न्यव्यतिरिक्तसंविद्यनभ्युपगमात् । अभ्युपगमे च भेदप्रसङ्गान्मायावादहानिः स्यादेव । ससंबोधे

रश्मिः ।

रूपलीला इति चेन्न । ईश्वरस्याधोक्षजत्वेनेदमित्यतया मुक्तिशब्दाभिधाप्रवृत्तेर्भाष्ये लीलैव कैवल्यं
मुक्तिरूपमित्युक्तम् । 'भक्त्या मामभिजानातीति वाक्यादधोक्षजत्वेपि मोक्षत्वमिदमित्यतया
भवति ज्ञातम् । तथाप्यन्यशिष्याधिकारेणोक्तं लीलानां मुक्तिरूपत्वम् । मुक्तिलीलावैचित्र्यमाहुः ।
तत्र प्रवेश इति । ब्रजभक्तभावेन सेवायाः फलं नित्यलीलाप्रवेशः इत्यर्थः । समशरीर इति ।
पित्रादिसमशरीरः । तथा पाठ इति । तन्वभाव इति पाठे । सैद्धान्तिकेति । नापि तत्त्वत्वे तत्त्व-
भाव इत्यस्यार्थः । पूर्वापरभाष्यासङ्गत्यापत्तेः । त्वान्तात्त्वप्रत्ययाभाववत् तत्त्वभाव इति विग्रहवाक्यं
न स्यात् । तद्भाव इति । मुक्ततन्वभावः । तद्भानस्येति । शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे तत्स्वरूपगोपनायं
शुद्धमुक्तदेहभानस्य । असुरेति । देहादिषु । मोक्षप्रतिबन्धेति । 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा
प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पाप'मिति श्रुतेः । पापसम्भवान् मोक्षप्रतिबन्धापत्तेः । पापाभावस्य मोक्ष-
कारणत्वात् । प्रागेवेति । तत्त्वभावसूत्रे । प्रेक्षेति । युक्तिः । युक्तिः पूर्वा यस्येति युक्तिपूर्वः कारः
करणमस्यास्तीति युक्तपूर्वकारी । लभत इति । आनन्दमीमांसया लभते । चैतन्यव्यतिरिक्तेति ।

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ॥ १५ ॥ (४-४-४)

ननु पूर्णज्ञानक्रियाशक्तिमता ब्रह्मणा तुल्यभावेन तत्रापि प्रधानभावं प्राप्य कामभोगकरणसंपूर्णज्ञानक्रियावतो भक्तस्यानुपपन्नमित्याशङ्कायां तत्रोपपत्तिमाह । न हि तदा नैसर्गिकज्ञानक्रियाभ्यां तथा भोक्तुं शक्तो भवति, किन्तु भगवांस्तस्मिन्नाविशति यदा, तदायमपि तथैव भवतीति सर्वमुपपद्यते । एतदेवाह प्रदीपवदिति । यथा प्राचीनः प्रकृष्टो दीपः स्नेहयुक्तायां वर्त्यामर्वाचीनायामाविष्टः स्वसमानकार्यक्षमांतां करोति, स्नेहाधीनस्थितिश्च भवति स्वयम्, तथात्राप्यर्थः । अत्र प्रमाणमाह । तथाहि दर्शयति श्रुतिः । 'भर्ता सन् भ्रियमाणो विभर्ति, एको देवो बहुधा निविष्ट' इति । 'सर्वान् कामानित्युक्तत्वात् यस्य कामस्य भोगो यथा निवेशे सति भवति तत्र तथा तदा निवेश इति बहुधा निवेश उक्तः । अयं निवेशो नान्तर्यामित्वेन, तस्यैकधैव प्रवेशात् । निसर्गतः सर्वेषां जीवानां भगवान् भवत्येव प्रभुर्यद्यपि, तथापि यं स्वीयत्वेन वृणुते, तस्य विवाहितः पतिरिव भर्ता सन्, वरणजस्नेहातिशयेन भक्तेनापि भ्रियमाणः सन्, स इव स्वयमपि तं स्वस्मिन् विभर्ति । अत एव स्नेहराहित्येनायोगोलकादिकं विहाय प्रदीपं दृष्टान्त-

भाष्यप्रकाशः ।

पुनर्मौक्षे सर्वमुत्पन्नं सलक्षणं बोधस्य रूपम् । मनः सर्वज्ञं सर्वशक्तिभिन्नाभिन्नरूपं हि । तेनास्तु तदवगतिर्नातोऽन्यथेति ॥ १४ ॥

इति तृतीयं तत्त्वभावाधिकरणम् ॥ ३ ॥

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ॥ १५ ॥ एवमधिकरणत्रयेण फलप्राप्त्युपकरणं फलस्वरूपं च विचार्य फलानुभवोपकरणं विचारयति । तत्र भगवद्भोगरूपोऽनुभवो जीवस्य सम्भवति, न वेति संशयः । भक्तस्य स्वतोऽसामर्थ्यं भोगश्रुतिश्च संशयबीजम् । तदेतन्मनसि-कृत्य स्रष्टव्यतारयन्ति नन्वित्यादि । व्याकुर्वन्ति नहीत्यादि । नैसर्गिकज्ञानक्रियाभ्यामिति । युक्तो भगवत्कृपयाभिव्यक्ताभ्यां 'हानौ तूपायने'ति सूत्रे व्युत्पादिताभ्यां जैवाभ्यां ताभ्याम् । 'भर्ता स'भितिश्रुतिस्तु तैत्तिरीयारण्यके पुरुषसूक्तोत्तरनारायणानन्तरं भर्तृसूक्ता-रम्भेऽस्ति । एवं तां विवृण्वन्ति । सर्वान् कामानित्यारभ्य गतिष्विदतीत्यन्तम् । ननु भर्तृसूक्ते

रश्मिः ।

चैतन्यव्यतिरिक्तायाः संवित्तेरन्युपगमात् । रूपमिति । विषयः । भिन्नाभिन्नेति । कारणात्मनाऽ-भिन्नं कार्यात्मना भिन्नम् । यथा सुवर्णं कटकं न । कटकं सुवर्णमिति प्रतीतिः । तेनास्त्विति । मनसा बोधविषया गतिरस्तु न मनसोऽन्यथाऽन्यप्रकारेणेत्यर्थः । तेनैतेषां मते न निःसम्बोधो मोक्षः स्वमते त्वधिकारिभेदे नास्तीति बोध्यम् ॥ १४ ॥

इति तृतीयं तत्त्वभावाधिकरणम् ॥ ३ ॥

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥ फलप्राप्त्युपकरणमिति । देहादिकम् । सम्पदाविर्भावब्रह्मणेत्यधिकरणयोः । तत्त्वभावाधिकरणे । फलस्वरूपं भगवान् तत्प्राप्तिः, नित्यत्वं प्रवेशश्च । फलानुभवोपकरणम्, अलौकिकसामर्थ्यम् । संशयेति । प्रथमकोटौ प्रथमं बीजं द्वितीयसां द्वितीयम् । नन्वित्यादीति । पूर्णज्ञानेति । सोऽश्रुत इत्यत्र विपश्चितेति पदार्थः । प्रधानेति । सह ब्रह्मणेत्यप्रधानतृतीयसा भक्तस्य प्रधानभावं प्राप्येत्यर्थः । प्राचीन इति । प्राचीनायां

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिदृष्टितम् ।

मुक्तयान् व्यासः । अत एव देवपदमुक्तम् । स्वरूपानन्ददानाद्भावोद्दीपनात् पूतनादिमुक्तिदानेन स्वमाहात्म्यद्योतनाद्वैकुण्ठादिस्थितेश्च । तदुक्तं निरुक्ते 'दिवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा यो देव' इति । किञ्च । भक्तानां कामभोजनार्थं क्रीडाकरणात्, क्रीडायामेव जयेच्छाकरणात्, भक्तैः सह व्यवहारकरणात्, भक्तेषु स्वमाहात्म्येच्छाद्योतनात्, 'न पारयेऽहम्', 'न त्वाहशीं प्रणयिनी'मित्यादिभिः स्तुतिकरणात्, भक्तप्रपत्तिदर्शनेन कालीयदमनादौ मोद-करणात्, तेष्वेव भक्तिमदकरणात्, ते स्वमेपि प्रियमेव पश्यन्तीति स्वप्नकरणात्, तेषां कान्तिकरणादिच्छाकरणाद्वा, तन्निकटे गमनादपि देवः । तदुक्तं धातुपाठे 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिष्विति । एवं सति युक्तमेव तेषां तथात्वमिति हि शब्देनाह ॥ १५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तदग्रिमानुवाकेषु च प्रभासीयलीलैव प्रायशः प्रतीयते, किं बहुना, एतद्व्युत्तरार्धेपि 'यदा भारं तन्द्रयते, स भर्तुं निधाय भारं पुनरस्तमेती'ति भारवहनालस्यं भारसत्त्यागोऽस्तगमनं चोच्यते । अग्रे च, 'तमेव मृत्युममृतमाहु'रित्यादि । तत् कथमत्रैवं व्याख्यातमिति चेत् । उच्यते । पूर्व हि पुरुषसूक्ते सृष्टिलोकात् । तत् उत्तरनारायणे स्थितिलोकात् । तत्र, 'हीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या'चित्यनेन भोगलीलां ह्यच्येत्वा 'इष्टं मनिषाण, अमुं मनिषाण, सर्वं मनिषाणे'तिवाक्यत्रये ऐहिकामुष्मिकमिष्टं ब्रह्मविद्धिः प्रार्थितम् । ततो भर्तृसूक्तारम्भे इयमृगिति पूर्वग्रन्थे उत्तरग्रन्थे चैयमुपयुज्यते इति पूर्वसम्बद्धार्थं व्याख्यातः । तृतीयस्कन्धे तु 'भर्तुः पादावनुसार'मित्य-शोक्ता । अतस्तोत्तरग्रन्थसम्बद्धोऽर्थ इति मया चिद्वन्मण्डनच्यारुयाने प्रभासलीलाप्रसङ्गे उत्तरग्रन्थानुसारेण व्याख्यातेति न दोषः । नन्वत्र युक्तस्य यानि 'विधा भवति पञ्चधे'त्या-दिनोक्तानि शरीराणि सृजन्ते, तानि सात्मकानि निरात्मकानि वेति संशये, निरात्मकानि सृष्ट्या, यथा प्रदीप एकोऽनेकभावं विकारशक्तियोगादापद्यते, तथा युक्त एकोऽप्यनेकशरीरा-ण्यैश्वर्ययोगादाविगतीत्युच्यते, न तु पूर्वोक्तोऽर्थ इति शङ्कायामाहुः अत एवेत्यादि । यत्

रश्मिः ।

वर्षां प्रविश्योर्ध्वञ्चलनोपेक्षितः । गतिष्विदतीत्यन्तमिति । समस्तात्पदाद्भुतम् । एवं सतीत्या-दीति । श्रुत्या बहुधा निवेशे सति । तेषामिति भक्तानाम् । तथात्वमिति । स्वरूपानन्दादि-दानादिभिः क्रीडाकरणादिभिश्च हेतुभिः, बहुधा भगवत्प्रविष्टत्वम् । भारवहनेति । स यदा भारं भर्तुं तन्द्रयत इति भारवहनालस्यं भारश्च निधाय भारमित्यत्र भारं निधायेति । भारत्यागः । अस्तमेतीत्यस्तगमनम् । तमेवेति । प्रभासीयलीलाकर्तारम् । एवमिति । भोगलीलापरत्वेन । पुरुषसूक्त इति । द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां स्फुटमिदम् । प्रार्थितमिति । मनिषाणेत्यत्र मनसः ईषा मनीषा तामिवाचरतीति मनीषति प्रार्थनायां लोड मध्यमपुरुषः । इष्टविषयिणी मनीषां कुरु । इष्टमैहिकम् । अमुं आमुष्मिकम् । सर्वमिष्टं प्रार्थितम् । न दोष इति । अत्रेति ।

ननु 'अस्थूलमनण्वहृत्स्व'मित्याद्यन्तरं पठ्यते 'न तदद्भोति कश्चन न तदद्भोति कश्चने'ति उक्तश्रुतौ च ब्रह्मणा सह जीवस्य भोग उच्यते । तथा च सगुणनिर्गुणभेदेन विषयभेदोऽवहयं वाच्यो विरोधपरिहारापेक्षत उत्तरं पठति ।

स्वाप्ययसम्पत्प्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

इहायमाशयः । 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय' इत्याद्यधिकरणः 'परास्य शक्तिर्विधिवैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'त्यादिश्रुतिभिन्नं प्राकृता एव धर्मा निषिध्यन्ते, ब्रह्मण्यप्राकृता एव बोध्यन्ते, अन्यथा तद्बोधनमेव न स्वाक्षिपेधकवाक्य एव तद्बोधनमपि न स्यात्, 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासन' इत्यादिरूपम्, अतोऽचिन्त्यानन्तशक्तेर्भगवतः का वा कार्याऽक्षमता,

भाष्यप्रकाशः ।

उक्त एवाधोऽभिप्रेतः, अत एवायं पठान्त उक्तः, नायोगोलकादेरतस्तथेत्यर्थः । भर्तृभूक्तश्रुतावयमेवार्थोऽभिप्रेत इत्यत्र गमकमाहुः आन एव देवेत्यादि । तथा च देवपदार्थोऽस्यमेवात्र गमकमित्यर्थः । सौम्यस्य हिशब्दस्यार्थमाहुः एवं सतीत्यादि । तेन यदा भगवान् जीवस्य स्वदेहे देहे स्वेन सह सर्वभोगकामभोगं कारयितुमिच्छति, तदा स्वयमपि तदनुगुणप्रकारेण तस्मिन् देहे आविष्टतीति तादृश आवेष्ट एव भोगोपकरणम् । गुणगानपृहकार्यादिदशायां तु यथासम्भवं वा रामानुजभास्कराचार्याभ्यामुक्तव्यवस्थोक्तः, सेवाभिमतैत्यर्थान् बोधितम् ॥ १५ ॥

स्वाप्ययसम्पत्प्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥ सूत्रमवतारयन्ति नन्यस्थूलेत्यादि । श्रुतावधोतीत्यस्य विकरणव्यवस्थेन अशनमेवार्थ इति पूर्वं व्याख्यासम् । अतोऽत्र भोग उच्यते इत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति इहायमिःत्यादि । निषेधिका श्रुतिरिति । भोगनिषेधिका, 'न तदद्भोती'ति श्रुतिः । अन्यतरापेक्षमित्येतदग्रे, आविष्कृतमाविष्करणं भगवत्प्राकृत्यमिति यावत् । हि यतो हेतोरतो युक्तम् एतावतीं युक्त्याऽध्या । दहराधिकरणे एतस्त्वोपपन्नासे आविष्कृतपदस्य भगवदाविर्भावार्थकाया अङ्गीकृतत्वात् ।

रश्मिः ।

छान्दोग्ये भूमविद्यायाम् भाष्यीयायां । अतस्तथेति । पठान्तानुरोधार्थोक्तोर्थे इत्यर्थः । देवपदेति । देवपदार्थस्याप्यसं सामस्यस्यम् । अत्रेति । अस्मिन्सैदान्तिकेर्षे ॥ १५ ॥

स्वाप्ययसम्पत्प्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥ श्रुताविति । न तदद्भोतीत्यादिश्रुतौ तदिति कर्तुं अग्रे तदिति कर्म । विकरणेति । 'आ' विकरणे 'धु' विकरणमिति आविकरणव्यत्ययेन । पूर्वमिति । आनन्दमयाधिकरणे । भाष्ये । उक्तश्रुताविति । सोऽश्रुत इति श्रुतौ ॥ प्रकृते ॥ अत्रेति । सोऽश्रुत इति श्रुतौ ॥ भाष्ये ॥ ज्ञानबलेति । प्रायपाठद्वलं भक्तिः । तथा च भाष्ये बलं भक्तिरिति । अग्न्येति । अप्राकृतानां यथेऽप्राकृतबोधनमेव 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इत्यादिश्रुतिमिर्न स्यात् । निषेधिकेति । अस्थूलमनण्वित्यादिनिषेधकवाक्यसन्निधावेवाक्षरब्राह्मणेऽक्षरे प्रशासनबोधनमपि न स्यादित्यर्थः । तथा । 'अथात आदेशो नेति नेती'ति निषेधवाक्ये तद्बोधनं मूर्तामूर्तबोधनं न ह्येतस्मादिति नैत्यव्यत्ययमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यमिति श्रुत्य न स्यादित्यर्थः । श्रुत्यर्थस्तु । नहि एतस्मात् इति न इति अन्यत् त्वं इति प्राणा वै सत्यं तेषां एव

पया प्राकृतान् गुणानुरीकृत्यान्, अतो निर्गुणमेव सदा सर्वत्र भगवद्रूपमिति मन्तव्यम् । एवं सति, 'तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सध्वन्तो न विन्देभुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अद्भुर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' इति छान्दोग्यश्रुतेः प्रस्थापदशायां न कश्चित् ब्रह्माश्रान्ति, तत्र न कश्चनेति तद्विषयिणी निषेधिका श्रुतिः, 'ब्रह्मविद्याभोति परमिति श्रुत्युक्तपरब्रह्मप्राप्तिदशाविषयिणी भोगबोधिका सेति न विरोधगन्धोपि । एतदेवाह । स्वाप्ययः प्रस्थापः, 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षन्' इति श्रुतेः । सम्पत्तिः ब्रह्मसम्पत्तिरुक्तरीत्या युष्टिमागोयो मोक्षः । एतयोरन्यतरापेक्षामुभयश्रुत्युक्तमित्यर्थः । भगवत्कर्तृकभोगस्य लीलारूपत्वात् तस्याश्च, 'लोकवस्तु लीलार्कव्यवस्थ'मित्यत्र मुक्तिस्त्वेन निरूपणात् तत्प्राप्तः सम्पद्रूपत्वं युक्ततरमिति हिशब्दार्थः ॥ १६ ॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे चतुर्थं प्रदीपवदित्त्वधिकरणम् ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तथा चात्रेदे सम्पद्यते । आद्ये प्रकारे यद्यपि, 'तद्यथा विषया स्त्रिये'त्यादिना सम्पत्तिर्विज्ञो ब्रह्मकृतो जीवस्योक्तः, तथापि, 'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर'मिति ज्ञानाभावशेषदेवैकेत इत्यस्थूलादिश्रुतौ सकलप्रापश्रिकयर्माभावकथने प्रापश्रिकर्माभावाऽप्युक्तः । द्वितीयप्रकारे तु ज्ञानसद्भावाद् भोग इति विरोधभावात् स्वरूपं सगुणनिर्गुणभेदकमनमममममममित्यर्थः । तद्विभिनमपितुं हिशब्दस्यार्थमाहुः भगवत्कर्तृकत्वादि । एवमनेनापि प्रकारेण फलस्वरूपमेव विचारितं भवति ।

रश्मिः ।

सत्यम् । इति पदानि । एतस्माद्भवणो नहि उक्तो भावो व्यतिरिक्तो नहि एव च । मूर्तत्वात्तत्त्वाभाव एतस्मादन्य इत्युक्तम् । अन्यत्, निषिद्धान्तर्गतान् क्रयान् परिमिति । अधिकं लत्, इत्यर्थः । अधिकं तु मेदनिर्देशादिति सूत्रात् । किं तस्यं नाभैकदेश इत्यत आहुः । प्राणा वै सत्यमिति तेषां प्राणानां सम्यन्धि एव गूढ आत्मा सत्यमिति । प्राकृतानिति । ताममप्रकरणयो तु द्वितीयस्कन्धोक्तत्वेगुणानुरीकृत्य सुबोधितोति ज्ञेयम् । निर्गुणमेवेति । एतत्कारणं सगुणव्यवच्छेदः क्रियते । मायया दर्शितानां मिथ्यात्वादन्येषां धर्माणामभेदात् । सर्वत्रेति । अन्तर्गामिन्नाद्येऽपि । आभासोक्तं विरोधं परिहरन्ति स्म । एवं सतीति । गुणोदीकारं विनापि कार्यक्षमत्वं सति । छान्दोग्येति । दहरविद्यास्यायाः । अर्थस्तु, तत् तत्र विषयानामेवात्मावे दृशन्तः । यथा हिरण्यनिधिं निहितं भूमेरधस्ताज्जिष्ममक्षेत्रज्ञाः निधिक्षेवानविज्ञाः निधेरारि उपरि सध्वन्तोऽपि निधिं न विन्देयुः । दाष्टान्तिकमाह । एवमेव यथा पठान्तमेव । सर्वा अविषयान्तः अद्भुतः प्रत्यहम् सुगुणिकोऽहं, एतद् हार्दाकशाख्यं ब्रह्मैव लोकं ब्रह्मणो लोकं वा 'अद्भुतं प्रत्यहं वेदानां स्थानमुत्तम'मिति वाक्यत्वं यन्त्योपि प्राशुवन्त्योपि न विन्दन्ति न उपान्ते इति । विन्दन्तीत्यत्र परस्मैपदं छान्दसम् । प्रकृते अस्थूलति । अक्षरब्राह्मणेऽस्ति । भाष्ये । स्वमपीतो भवतीति । स्वं अपि गतो भवतीत्यर्थः । सम्पत्तौर्गन्त्रयसाधारण्यात् व्यवच्छिन्नमिति । उक्तरीत्येति । द्वादशाहस्यभाष्योक्तरीत्या । प्रकृते । भवतीति । आविष्कृतं भवति । आन्य इति । गुणो । द्वितीय इति । सम्पत्तौ 'भगवत्कर्तृकत्वादीति । युक्ततरमिति । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रौतव्यः' इति श्रुतेः । 'मिथितं हृदय-

भाष्यप्रकाशः ।

शाङ्करास्तु, युक्तस्यानेकशरीरावेशलक्षणैश्वर्याभ्युपगमे, 'तत् केन कं विजानीया'दित्यादिश्रुतिविरोधशङ्कायां, 'तत्केन कम्', 'सलिल एक'इत्यादौ यद्विशेषविज्ञानवारणं तद् सुषुप्तिकैवल्यवास्ययोरन्यतरापेक्षम् । कुतः । आविष्कृतं हि यतो हेतोस्तत्रैव तदधिकारवशादाविष्कृतम्, 'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यती'त्यनेन । 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दित्यनेन च प्रकटीकृतः । इदं तु सगुणविद्याविपाकस्थानं स्वर्गादिवदवस्थान्तरम्, यत्रैतदैश्वर्यमुपवर्ण्यते, अतो न दोष इत्येवं ब्रह्मार्थबाहुः । तेषामियं सम्प्रपवस्थातो हीनावस्येत्यभिप्रायः ।

तदेतदन्वये न क्षमन्ते । तथाहुर्भास्कराचार्या रामानुजाचार्याश्च अत्र सम्पत्तिपदेन 'वाङ् मनसि सम्पद्यत' इत्यादिनोक्ता मरणावस्था परामृश्यते । अतः सुषुप्तौ मरणावस्थायां च विशेषविज्ञानवारणम् । 'यत्र सुप्तः', 'एतेभ्यो भूतेभ्यः' इति श्रुतिभ्यां यतस्तत्रैव तदधिकारवशादाविष्कृतम् । तेन शरीरेन्द्रियविषयनिबन्धनं यद्विशेषविज्ञानं तदेव वार्यते, न तु परं भावं प्राप्तस्य विद्याकर्मसामर्थ्यात् सर्वविषयं सामान्यज्ञानमाविर्भूतं तत्र वार्यत इत्यदोषः । यत् इन्द्रप्रजापतिसंवादे एव सुषुप्तौ निःसम्बोधत्वमुक्त्वा, अग्रे भूक्तमधिकृत्य, स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोक' इति सर्वज्ञत्वकथनादिति । अस्मन्मते

रश्मिः ।

ग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशया' इति श्रुतेश्च भगवदीयत्वेपि युक्तशब्दात्तमपू न कृतः । लीलायां मुक्तिवै-
ऽपि विविधभावाभावात् । स्वाप्ययस्वाम्योक्तभोगाभावमालोच्यते । एवमनेनेति । स्वाप्ययस्वाम्य-
द्योतकप्रकारेणापि । 'अरूपवदेव ही'तियुगोक्तैकदेशिमते मुक्तिफलस्वरूपं विचारितं भवति । न्यूनताव्य-
निग्रहस्थानप्रहाणादेवकारः । न तु तदतिरिक्तं विचारितमिति । केन कमिति । केनेन्द्रियेण कं विषयं
पश्येदिति केन कं पश्येदित्यस्यार्थः । 'सलिल एको द्रष्टेति' श्रुतिः । विशेषेणेन्द्रियविषयरूपेण
यद्विज्ञानं तस्य वारणम् । हिर्हेतावित्याशयेनाहुः । यतो हेतोरेति । तत्रैवेति । स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्य-
तरस्मिन्नेव । न त्वन्यत्र । यत्र सुप्त इति यस्यामवस्थायां सुप्तः । यत्र त्वस्येति । यत्र सम्पत्तौ त्वस्य
भूतसमुत्थितस्य । सगुणविपाकेति । अनेकशरीरावेशे ऐश्वर्यधर्मे सति निर्गुणत्वं भविष्यतीति नि-
र्गुणत्वप्रागभावविषयिप्रतीतिर्भवतीति सगुणविपाकस्थानम् । वृद्धिस्थानमपक्षयस्थानम् । तदनु । न
दोष इति । युक्तस्यानेकशरीरावेशप्रतिपादिकायाः स एकधेत्यादिश्रुतेस्तत्केन कमित्यादिश्रुतेश्च न
विरोधरूपो दोष इत्यर्थः । तेषामियमिति । शाङ्कराणामियं सगुणविपाकावस्था । तत्रैवेति ।
स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरस्मिन्नेव । न तु परमिति । शरीरेन्द्रियविषयनिबन्धनकरहितकं विशेषविज्ञानं
सर्वज्ञत्वलक्षणं भावम् । वार्यत इति । तत्केन कमित्यादिश्रुत्या । अदोष इति । श्रुतिविरोधरूपो
दोषो न । यदिति । अव्ययम् । यत् इत्यर्थः । इन्द्रेति । छान्दोग्येऽन्ते वर्तते । स वा एष इति
मुक्तः । चक्षुषेति । करणत्वे कामानिति कर्मत्वेन भेद उक्तः । य एते इति ये एते कामा ब्रह्मलोके
सङ्कल्पमात्रेण लभ्यास्तान् सर्वान्कामान्यद्यन्निति सर्वज्ञत्वकथनम् । शाङ्करोक्तेति 'ते तु ब्रह्मदे-
नीता मन्नाः कृष्णेन चोद्धृता' इति पञ्चाध्याय्यां सुबोधिनी । एताभ्यां श्रुतिभ्यां 'न तदभाती'ति

जगद्ध्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥ (४-४-३)

ब्रह्मणा सह भोगकरणं लौकिकव्यापारयुतम्, उत नेति संशये, तद्युतमिति पूर्वः पक्षः, तथा सति मुक्तिव्यभङ्गात् पूर्वोक्तमनुपपन्नमिति प्राप्ते, आह जगदित्यादि । पूर्वोक्तस्य जगत्सम्बन्धी लौकिको यो व्यापारः कायवाङ्मनसां तद्वर्जं तद्रहितं भोगकरणम् । तत्र हेतू आह प्रकरणादसंनिहितत्वाच्चेति । 'ब्रह्मविदामेति पर'मित्युपक्रमेण मुक्तिप्रकरणात् तत्र लौकिकव्यापारोऽसम्भावितः । किञ्च,

भाष्यप्रकाशः ।

त्वेतावान् विशेषः । शाङ्करोक्तयुक्तावस्था प्रथमा कक्षा । एताभ्यामुक्तावस्था तु मध्यमकक्षा । भोगे भगवत्साहित्याभावादिति ॥ १६ ॥

इति चतुर्थं प्रदीपवदित्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

जगद्ध्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥ एवं भोगोपकरणं विचार्य भोगप्रकारं विचारयितुमधिकरणान्तरमारमत इत्याशयेन विषयसंशयपूर्वपक्षान् वदन्तोऽधिक-
रणमवतारयन्ति ब्रह्मणा सहेत्यादि । संशयबीजं तु भोगे लौकिकव्यापारयुक्तत्वस्य लोके दर्शनम् । एतस्य भोगस्य सायुज्ययुक्त्युत्तरभाषित्वं च ज्ञेयम् । सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति पूर्वोक्तस्येत्यादि । पूर्वोक्तस्येति । प्राप्तसायुज्यस्य पुष्टिभक्तकायवाङ्मनसामित्यत्र टजभावः समाप्तान्तस्थानित्यत्वेन वैकल्पिकत्वाच्चेयः । असंनिहितत्वं व्याकुर्वन्ति किञ्चेत्यादि ।

रश्मिः ।

'तत्केन कं पश्ये'दिति च श्रुती । मध्यमावस्था । सर्वोत्समावावस्था । भोग इति । अन्तर्भोगस्य विरहे सत्त्वेपि षड्भोगे भगवत्साहित्याभावात् । सोऽशुत इति मुख्या कक्षा ॥ १६ ॥

इति चतुर्थं प्रदीपाधिकरणम् ॥ ४ ॥

जगद्ध्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥ भोगोपकरणमिति । प्रदीपव-
दावेशरूपं स्वाप्ययरूपं च । भोगप्रकारं भोगे लौकिकव्यापारसाहित्यम् । ज्ञेयमिति यथाक्रमं ज्ञेयम् । टजभाव इति सूत्राद्वाच्यं न प्राप्तस्तथापि इन्द्राद्युदपहान्तादित्यत्र समाहारे बाहुलकात्प्राप्तस्य टषोऽ-
भावः । अन्यथा वा द्रष्टव्यः । भाष्ये । वर्जमिति । णमुलन्तम् । प्रकृते । किञ्चेत्यादीति । द्वितीयस्कन्धे
नवमाध्याये 'एतन्मतं ममातिष्ठ परमेण समाधिने'ति वाक्यस्य भगवदाज्ञयैतन्मतेऽवस्थितिः कर्तव्येति
सुबोधिन्यां तन्मतवाक्यानि । तदीयानि भवन्त्यत्र । 'न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुरिति 'प्रवर्तते
यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रम' इति । आदिना मृत्युः । 'मृत्युरस्मादपैती'ति
वाक्यात् । एतन्मतीषश्रुतयः । 'कालस्वभावो नियतियदृच्छे'त्युक्तौ तेषां चिन्त्यत्वं श्वेताश्वतरे उक्तम् ।
'स ईक्षाश्च' इति श्रुतौ मायास्थल ईक्षाश्रायणात्तत्र मायाभावः । बृहदारण्यके 'ते होतुः क तु सोभ्यो
न इत्यमसक्तेत्ययमासेन्तरिति । सोऽयास आङ्गिरसोऽज्ञानाऽहि रसः । सा वा एषा देवता दर्नामा
दूरं दृष्ट्वा मृत्युर्भवति य एवं वेदे'त्यत्रासन्यदेवताया दूरं मृत्युरुक्तोऽस्तत्र तदभावः । श्रुत्यर्थस्तु ते
देवाः इ उचुः । असक्तेति प्रजापतिरूपेण भवने पाप्मशत्रुपरामर्शं च असक्त संयोजितवान् ।
आसेन्तः आसे मुखे य आकाशस्तस्मिन्नन्तरे वर्तते । इत्यध्यवसितवन्तो वागादयः परस्परं
वदन्तः अनयाख्यायिकया गुणद्वयं सिद्धमित्याह । सोयासेति । यस्मादेवं वागादयः

लीलायाः कालमायाद्यतीतत्वेन प्राकृतं जगत् दूरतरमितोपि हेतोर्न तत्सम्भवः । कदाचिद्भोके लीलाप्रकटनेच्छायां तदधिष्ठानत्वयोग्ये मथुरादिदेशेऽतिशुद्धे गोलके चक्षुरिन्द्रियमिव स्थापयित्वा लीलां करोति । तदापि लीलामध्यपातिनां न लौकिकव्यापारसम्भवः । न हि चक्षुरिन्द्रियं गोलकार्यं करोति । न वा तन्नाशे नश्यति । एतत्सर्वं, 'दिवीव चक्षुरातत'मिति श्रुतिव्याख्याने विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम् । किञ्च । छान्दोग्ये, 'भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इत्युक्त्वा, भूमौ लक्षणमाह 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यत् विजानाति स भूमे'ति । अत्र 'नान्यद्विजानाती'त्येतावतैव चारिताध्यैपि यदिन्द्रियव्यापारो

भाष्यप्रकाशः ।

एतेनाक्षरब्रह्मण्येव सम्भोगो बोधितः । 'निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नम' इति द्वितीयस्कन्धे तथा सिद्धत्वात् । तर्हि, 'ते ते धामानी'त्यादिश्रुतिषु भूमौ भोगः कथमुच्यत इत्यत आहुः कदाचिदित्यादि । कदाचिदिति । जगदुद्दिष्टेष्वसरे । स्थापयित्वेति । अक्षरं स्थापयित्वा । तथा च तस्मात्तथोच्यत इत्यर्थः । नन्वेवमक्षरस्य भूमौ प्रकटने तत्र स्थितानां भक्तानां भूमिसम्बन्धजगुणदोषसंसर्गलौकिकव्यापारप्रसङ्गो दुर्वार इत्यत आहुः तदापीत्यादि । ननु प्रमाणाभावे दृष्टान्तमात्रस्याकिञ्चित्करत्वात् भक्तानां लौकिकव्यापार-
राहित्यसिद्धिरित्यत आहुः एतदित्यादि । प्रपञ्चितमिति । 'चक्षु'रिति द्वितीयैकवचनान्तं पदमित्यादिना प्रपञ्चितम् । तस्मिन् व्याख्याने आग्रहवाद इति शङ्का स्यादिति तदर्थं भूम-
विद्याश्रुतिमुदाहरन्ति किञ्च, छान्दोग्य इत्यादि । इन्द्रियव्यापार इति । पश्यतिशृणोति-
रदिमः ।

प्राणभासेन्तरिति ध्याजहुः तस्मात्स आसन्यः अयास आङ्गिरसः । आसे इत्ययासः अव्ययीभावः पुंस्त्वं छान्दसम् । आङ्गिरसः अङ्गिरा ऋषिः तत्सम्बन्धी । यद्वा अङ्गानि यस्य सन्ति स अङ्गी । वा अङ्गी आङ्गी । आङ्गी चासौ रसः आङ्गिरसः । कार्यकरणानामात्मा । तत्र हेतुर्हि यस्मात्कार्यकरणानां रसस्तस्मादाङ्गिरसः इत्यर्थः । सा वेति । प्राणरूपा । अस्या इति पञ्चम्यन्तम् । देवतायाः इति । एवं लीलायाः कालमायाद्यतीतत्वेनेत्यर्थः । न तत्सम्भव इति । जगद्व्यापारसंभवो न । उच्यत इति । 'यत्र गावो मृरिशृङ्गा' इतिपदैरुच्यते । जगदिति । भक्तियोगवितानेन जगदुद्धारार्थम् । इच्छाकाले । 'भक्तियोगवितानार्थ'मिति श्यावाक्यात् । 'यदा यदा हि धर्मस्येति गीताप्रपञ्चः । भक्तियोगवितानस्य धर्मत्वात् । भाष्ये तदधीति । तच्छब्दो ब्रह्मवाची न तु परामर्शकः । तथा च रसरूपाधिष्ठानत्वयोग्ये गोलके चक्षुरिन्द्रियमिवेति दृष्टान्तः । अक्षरं स्थापयित्वेत्यर्थः स्थापयित्वेत्यस्यार्थः । ननु मथुरादिदेशानामक्षरात्मकत्वं स्वभावत एवेति पुनराक्षरस्थापनस्य किं प्रयोजनमिति चेन्न । अक्षरानन्दात्मकलक्ष्मीं स्थापयित्वेत्यर्थात् । नन्द-
यशोदादौ स्वस्वातन्त्रैर्लक्ष्म्यान्न्दाः प्रतिबध्यन्ते । अन्यथा सोश्रुत इत्यत्र विपश्चित्यदविरोधापत्तेः । प्रकृते । तस्मादिति । लक्ष्मीरूपाक्षरस्थापनात् । तथोच्यत इति । भूमौ भोग उच्यते । तदा-
पीत्यादीति । चक्षुरिन्द्रियमिति । कृष्णताराग्रवर्ति । केनोपनिषदधिकारिणे व्यक्त्येति द्योतितम् । तन्नाश इति । गोलकनाशे नश्यतीन्द्रियम् । किंतु पश्यत्यचक्षुरिति श्रुतेस्तत्र गच्छति । प्रपञ्चित-
मिति । गोस्वामिभिः । प्रपञ्चितमित्याचार्यार्पणज्ञानमुक्तम् । गोस्वामिभाष्यमिदमिति पक्षे स्पष्टम् ।

निविद्धः, तत्राप्यन्यविषयकः, तेन भगवद्विषयकः स सिद्धो भवतीति जग-
द्व्यापारराहित्यं सिद्धम् । तत्र तेन भगवत एव स्वतन्त्रफलत्वमुक्तं भवति । नहि
सुखस्यान्यत् प्रयोजनमस्ति ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्योक्तेः ॥ १८ ॥

नन्वेतत्प्रकरण एव छान्दोग्ये पठ्यते 'सर्वं ह पश्यती'ति सर्वविषयक-

भाष्यप्रकाशः ।

भ्यामुक्तः सः । तथा चासां श्रुतौ लौकिकव्यापारराहित्यस्य सिद्धत्वात्तत्र तथा व्याख्याने ना-
ग्रहवाद इत्यर्थः । अत्र यत्पारिशेष्यात्सिद्धं तस्य फलमाहुः तेनेत्यादि । तत्र हेतुः न हीत्यादि ।
न हि भूमविद्यायां प्रतिपाद्यमानस्य भूमरूपस्य सुखस्य फलत्वातिरिक्तमन्यत् प्रयोजनं कथन-
स्यास्ति तस्मात् तथेत्यर्थः ।

यत्तु भाष्यान्तरेऽस्मिन् सूत्रे ब्रह्मसायुज्यं ब्रह्मसाम्यं वा प्राप्तस्य जीवसैश्वर्यादिकं जग-
त्सृष्टिव्यापाररहितमेव भवतीति विचारितम् । तदस्माकं मतम्, 'नेतरोऽनुपपत्ते'रित्यामन्द-
मयाधिकरण एव साधितमिति न काचिन्न्यूनतेति बोधितम् ।

यत्तु निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वस्यैव ब्रह्मलक्षणत्वाद् 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति श्रुत्या जीवस्य
ब्रह्मभावे बोधिते तस्यापि तदभेदाजगद्व्यापारोऽस्तु, तथा सतीदं सूत्रमन्तरमुक्तिविषयमिति
कथितम् । तदसङ्गतम् । वेदस्तुतौ 'सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतये'ति जीवे तादृशनिवृत्त-
भावस्य ब्रह्मविदसम्मत्तत्वकथनेन तादृशजगत्कर्तृत्वादेरपि निरासबोधनादतः सायुज्येपि तदभावः
सूत्रकाराभिमत इति ज्ञेयम् । तथा च यथा भूमिसम्बन्धिनो मथुरादिदेशस्य लौकिकत्वम्, तत्र
स्थापितस्य चालौकिकत्वम्, तथा तत्र स्थितानां लौकिकदेहे निविष्टत्वाद्यौकिकत्वम्, तद-
न्तःस्थापितानां तदेहानामेव लीलास्थानामलौकिकत्वम् । तेन लौकिकालौकिकोभयकार्यकरणं
तादृशतादृशतच्चज्ञानविषयत्वं नानुपपन्नम्, नापि लीलासाङ्कर्यप्रसङ्गः । चक्षुरिन्द्रियदृष्टान्तेनैवो-
पपादितत्वादित्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्योक्तेः ॥ १८ ॥ सूत्रं व्याकुर्वन्ति । नन्वि-
रदिमः ।

तथा च गोस्वामिभिः प्रपञ्चितमित्यर्थः । तत्र तथेति । विद्वन्मण्डने । 'दिवीव चक्षुरातत'मिति
श्रुतेस्तथावर्णकभेदेन व्याख्यानम् । भाष्ये । तत्रेत्यस्य निलकीडायमित्यर्थः । प्रकृते । अत्र
यदिति । पूर्वसन्दर्भे गौणसुख्यन्यायेन यत्सिद्धं कस्माद्धेतोरित्यत आहुः । पारिशेष्यादिति । अक्ष-
रात्प्रातिपरप्रातिनिललीलाप्रवेशभगवद्भोगभगवत्सुरसत्त्वेनैकोपि भगवत एव मुख्यत्वेन पारिशेष्या-
दित्यर्थः । तेनेत्यादीति । पूर्वसन्दर्भेण । सर्वात्मभावकथनेनेति वा । भगवत एवेति । भूमौपि
भूमत्वेन भगवत्त्वेन शक्तिः सर्वात्मभावे तु सर्वात्मभावत्वेनेति सर्वात्मभावस्थायियोग्यवच्छेदक एवकारः ।
ननु सूत्र एकलक्षणत्वेन कथमेवकार इति चेत्तत्राहुः । तत्र हेतुरिति । सर्वात्मभावस्थायिव्यवच्छेदे-
हेतुः । फलत्वातिरिक्तमिति । साधनत्वेपि 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्य त्वं पुरुषोत्तमे'ति वाक्य-
साफल्याय स्वयंप्रकाशत्वाय च फलत्वातिरिक्तमन्यत् स्तुत्यादिप्रयोजनमित्यर्थः । तस्मात्तथेति ।
भगवत एव स्वतन्त्रफलत्वमित्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्योक्तेः ॥ १८ ॥ नान्यत्पश्यतीति ।

प्रत्यक्षमुपदिश्यत इत्यन्यविषयकव्यापारराहित्यं नोपपद्यत इत्याशङ्क्य, समाधत्ते आधिकारिकेत्यादिना ।

अत्रेदमुच्यते । 'सोऽश्रुते', 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मित्यादिभिर्नित्यलीला-मध्यपातित्वं तस्योच्यते । 'नान्यत् पश्यती'त्यादिश्रुतिवशाज् जगद्ध्यापारवर्जं भोगकरणं पूर्वसूत्रेणोक्तम् ।

अथेवं विचार्यते । 'नान्यत् पश्यती'ति प्रकरण एव 'सर्वं ह पश्यती'ति सर्वविषयकं दर्शनमुच्यते, तत् कथं पूर्वोक्तमुपपद्यत इति । किञ्च । एकस्यैव

भाष्यप्रकाशः ।

त्यादि । ननु भूमविद्यास्य, 'नान्यत् पश्यती'त्यादिवाक्यस्य बलेन भक्तस्याक्षरे ब्रह्मणि जगद्ध्यापाररहितो भोग इति यदुक्तम्, तन्नोपपद्यते । यत एतत्प्रकरण एव छान्दोग्ये भक्तस्य जगद्ध्यापारः पश्यते । स को वेत्यत आहुः 'सर्वं ह पश्यः पश्यती'ति । जगद्विषयकप्रत्यक्षरूपः स इत्यतस्तथेत्याशङ्क्य समाधत्त इत्यर्थः ।

समाधानांशान्याख्यानाय हेत्वंशस्फुरणे तेनाशङ्कान्तरस्यापि निवृत्तिमालोच्य तमप्यर्थं संग्रहीतुं प्रकारान्तरेणावतारयन्ति अत्रेदमित्यादि । अत्र अवतरणग्रन्थे, इदं वक्ष्यमाणमधिकमुच्यते, न तु तावन्मात्रमित्यर्थः । किं तदित्याकाङ्क्षायां आक्षेप्यं विषयमाहुः सोऽश्रुत इत्यादि । तस्येति । भक्तस्य । एवं विषयमनूद्य तत्र विचारः क्रियत इत्याहुः अत्रेत्यादि । अत्रासिन् सूत्रे इदमुक्ताभ्यां श्रुतिभ्यां सूत्राभ्यां च यदुक्तम्, तद्विचार्यत इत्यर्थः । विचार-माहुः नान्यदित्यादि । अत्र, नान्यदित्यारम्भ पूर्वोक्तमुपपद्यत इत्यन्तेन पूर्वोक्तैवाशङ्कानूदिता । सोऽश्रुत इत्यादिविषयिणीं द्वितीयामाहुः किञ्चेत्यादि । 'सोऽश्रुते', 'स वा एव

रक्षिः ।

तेन नान्यन्वृणोति नान्यत्वशयतीत्युक्तभाष्येण यथालिखितपाठो न कर्तव्य इति सूचितं तदत्र स्फुटीकृतम् । आहुरिति । मान्यत्वाद्बहुवचनम् । तेन 'अधीहि भगव इति होपससाद् सनत्कुमारं नारद' इति । श्रुतिविरोधो न । सर्वं ह इति । अनेनापि प्रकाशेन यथालिखितपाठो व्यावर्तितः । शिष्याभिप्रायं वा । सनत्कुमारा नारदं प्रत्याहुरित्यर्थः । ग्रन्थकर्तुर्भक्तिं सूचयति । तथेति । अन्य-विषयकव्यापारराहित्यं नोपपद्यत इति आशङ्क्येत्यर्थः । हेत्वंशेति । आधिकारिकमण्डलस्योक्तेरिति हेत्वंशस्फुरणे । तेनेति । हेत्वंशेन । आशङ्कान्तरस्य । आशङ्का सर्वविषयकदर्शनवचनेन जगद्ध्यापार-वर्जं कथयति तस्याः शङ्कायाः अन्यत् स एकधेत्यादौ जीवानेकत्वं न सम्भवतीति तत्र लीलायां नित्यत्वासिद्धिरूपमाशङ्कान्तरं तस्य । तमर्थमिति । शङ्कान्तरविषयमर्थम् । प्रकारान्तरेणेति । प्रकारः सङ्क्षेपेणोक्तसूत्रार्थः तस्मादन्यद् विस्तरेण सूत्रव्याख्यानं तेन । अक्षतारयन्तीति । भाष्यस्वभावतारयन्तीति । स्वपदवर्णनात् । 'सूत्रार्थो वर्णयते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः । स्वपदानि च वर्णयन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदु'रिति भाष्यलक्षणात् । अवतरणग्रन्थ इति । विस्तरेण सूत्रे व्याख्यातव्य इति शेषः । उच्यत इति । विस्तारायोज्यते । तावन्मात्रं उक्तमात्रमवतरणम् । किं तदिति । वक्ष्यमाणमधिकम् । आक्षेपुं योग्यं पूर्वपक्षिणा । विषयमिति । उक्तान्यां श्रुतिभ्यां सूत्राभ्यां च यदुक्तं तत् । यदुक्तमिति । विषयम् । पूर्वोक्तैवेति । सङ्क्षेपेण सूत्रव्याख्यानायोक्ता । द्वितीयमिति । पूर्वोक्तायां सङ्क्षेपेण सूत्रव्याख्यानायोक्तायां आशङ्कायां विस्तारायाधिकशङ्काम् ।

भक्तस्य देशकालभेदेन क्रियमाणानेकलीलासम्बन्धित्वं भवति । तत्र लीला-नित्यतायां न घटते । यतस्तत्देशकालसम्बन्धिनी सा नित्या । एवं सत्येकस्या-भेकरूपत्वं जीवस्य न सम्भवतीति तत्रित्यत्वमपि न सिध्यतीति ।

भाष्यप्रकाशः ।

एवं पश्यन् 'सर्वं ह पश्यः पश्यती'त्यादिश्रुती श्रीभागवतादिषु च एकत्वकथनेन भक्ताना-भेकस्यैव रूपस्य प्रत्यक्षोपदेशादेकस्यैव भक्तस्य देशकालभेदेन क्रियमाणानेकलीला-सम्बन्धित्वमुक्तं भवति । तत्र लीलानित्यतायां न घटते । यतस्तद्देशकालसम्बन्धिनी तत्तद्विशेषणविशिष्टैव नित्या च्वंसाद्यप्रतियोगिनी । एवं देशकालभक्तविशिष्टाया लीलाया रक्षिः ।

प्रत्यक्षोपदेशादिति । प्रत्यक्षव्यासात्प्रदेशकालस्यादिति कर्मधारयः । सर्वविषयकप्रत्यक्षे रूपस्य विषय-तयान्वयासम्भवात् । श्रीभागवतादिष्विति । 'निवेदितात्मा विचिकीर्षितो म' इत्यत्र भक्तस्य एकत्व-कथनेन । आदिना गीतायां 'ज्ञानिनामपि सर्वेषां भदतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान्मज्जते यो मां स मे युक्ततमो मत' इति 'अद्यै जुष्टे निर्वपामी'ति संहिता । यदा 'भक्त्या माभिमज्जानाति यावान्य-ध्यास्मि तत्त्वतः' इत्यत्र भक्तस्यैकत्वकथनेन एकस्यैव रूपस्य यत्सर्वविषयकं प्रत्यक्षं तस्योपदेशात् । आदिना गीतायां 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते'त्यत्र तथा । एवमन्यत्र । 'सोऽश्रुत' इत्यत्र सर्व-कामान् जानातीच्छति यततेऽश्रुतीति एकस्यैव रूपस्य सर्वकामविषयकं प्रत्यक्षं तस्योपदेशात् । 'स वा एवं पश्य'त्रित्यत्र एवमात्मादेशमहङ्कारादेशं पश्यन्नित्यर्थादात्मविषयकमहङ्कारविषयकं यत्प्रत्यक्षं तस्यो-पदेशात् । 'सर्वं ह पश्यः पश्यती'त्यत्र सर्वविषयकं प्रत्यक्षं तस्योपदेशादित्यर्थो यद्यपि सम्भवति तथापि, रूपस्य प्रत्यक्षोपदेशादित्यत्र रूपस्य विषयितया प्रत्यक्षरूपैकदेशे रूपान्वयो भाति स विरुद्धः रूपस्याऽप्रत्यक्षात्किन्तु सर्वकामादीनामतः प्रत्यक्षश्चासौ उपदेशस्तस्मादिति कर्मधारयोत्र व्याख्येयः । एवं विस्तरपक्षे सौत्राशङ्काग्रन्थं व्याख्याय हेतुभाष्यं व्याकुर्वन्ति स्म । एकस्यैव भक्तस्येति । 'तदेजति तत्रैज-ती'ति निःप्रतियोगिनी क्रीडा स्फुटा । ब्रह्मणो विरुद्धमश्रयत्वात् । सप्रतियोगिनी तु क्रीडा भक्तसम्बन्धि-नीति तत्राशङ्कते । एकस्यैव भक्तस्येति । पुष्टिफले भक्तस्यावश्यकत्वं भक्तसंवलितो भगवान्पुष्टिर्भागे फलति यतः । देशो वृन्दावनादिः । कालः श्वस्त्वद्दृष्ट आयास्य इत्यादिवाक्येषु श्वः ह्यः वर्तमानश्च । क्रियमाणानेकेति । दशमस्कन्धप्रसिद्धाः क्रियमाणानेकलीलास्तासाम् । क्रियमाणा अनेकलीला-सम्बन्धित्वं इति पाठे संहिताया अविबक्षणाच्च समासे 'अकः सर्वेण दीर्घं' इत्यस्य प्राप्तिः । आलस्याद्वा-ऽसन्धिः । रभसाद्वा । उक्तं भवतीति । सोऽश्रुत इत्यादिश्रुतिषु भागवतादिवाक्येषु चोक्तं भवति । तच्चेति । भाष्यविवरणम् । तच्चेत्यादि । तच्चेति क्रियमाणानेकलीलासम्बन्धित्वम् । न घटत इति । भक्तं प्रत्येकस्या लीलायास्त्रिषणावस्थायिन्या अनुवृत्तेरनित्यत्वादिति भावः । भक्तोऽनेकलीलामनोरथः । अयं मात्मत आविर्भावतिरोभावा'विति श्रुतावाविर्भावाद्यर्थ उत्पत्तिविनाशौ मन्यते । यत इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । यत इत्यादि । तत्तद्देशकालेति । यथाचार्येषु वृन्दावनादिदेशे, एकादश्यां महानिधि काले, साक्षाद्भगवत्प्रवचनलीला निरोधरूपा तत्तत्सम्बन्धिन्ध्याचार्यसम्बन्धिनी । सम्बन्धश्च स्वस्वामिभायः । 'इति श्रीकृष्णदासस्य ब्रह्मस्य हितं वचः । चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां ब्रजे'दिति वाक्यात् तत्तद्विशेषणविशिष्टा विशेषणं यथा । लीला त्रिषणावस्थायिन्यनित्या सती यथासम्भवं कर्तुरनित्यत्वं सम्पादयेत्तत्र प्रन्वाचार्यसम्बन्धिनीक्रीडाविशेषणं, वर्तमानप्रन्वाचार्य-सम्बन्धिनी क्रीडा । वर्तमानत्वं 'आचार्यं मां विजानीया'दिति वाक्यात् । 'नित्यो नित्याना'मिति

तत्रोच्यते । श्रुतौ सर्वपदेन न जगदुच्यते, किन्तु यस्यां यस्यां लीलया

भाष्यप्रकाशः ।

नित्यत्वे सति देशकालयोरन्यान्यत्वं भक्तस्याप्यनेकरूपत्वं वाच्यम् । तथातुक्तत्वाजीवस्य न सम्भवतीति । एवं विशेषणविघटने तस्या लीलया नित्यत्वमपि न सिध्यतीत्यतो न घटत इत्यर्थः । प्रत्यक्षोपदेशादित्यत्र प्रथमपक्षे पृथीतत्पुरुषो द्वितीयपक्षे च कर्मधारयो ज्ञेयः । एवमाशङ्क्यां द्वेषा व्याख्याय समाधानांशं व्याकुर्वन्ति तत्रोच्यत इत्यादि । तथा-

परिमः ।

च । स्वरूपतः सम्बन्धनित्यत्वमप्येतेन विशेषणेनापास्तम् । प्रमाणाभावस्तु प्रमाणसिद्धवर्तमानप्रमाणाचार्यसम्बन्धिनीक्रीडेति विशेषणात् । अन्यानि विशेषणानि विद्वन्मण्डनसुवर्णसूत्रमिश्रीभावेन कर्तव्यानि । भक्तिमार्तण्डे तु स्पष्टीकृतानि मत्कृते । एवं गोपालतापिनीये 'वैष्णवादनशीलाये'ति श्रुतेर्गोपीमाधवसम्बन्धिनीक्रीडाविशेषणम् । वर्तमानगोपीमाधवसम्बन्धिनी क्रीडा । वर्तमानत्वं निरोपस्कन्धलीलासमाप्तिश्लोकात् स च 'जयति जननिवासो देवक्रीडन्मवादी यदुवरपरिवर्तवैदोभिर-साम्भर्मम् । शिरचरवृजिनमः सुस्मितश्रीमुखेन द्रजपुरवनितानां वर्षयन् कामदेव'मित्यत्र जयतीति वर्तमानप्रयोगात्तथा । असन् वर्षयन्निति च । लीला विश्रणावस्थापिन्यनिला सती यथासंभवं कर्तुरनित्यत्वं सम्पादयेदिति दोषे विशेषणमुक्तम् । गोपीमाधवयोर्विशेषणं वर्तमानेति विशेषणम् । स्वरूपतः सम्बन्धनित्यत्वदोषोप्येतेन विशेषणेनापास्तः । प्रमाणाभावस्वरूपसूत्रीयदोषस्तु प्रमाण-सिद्धवर्तमानगोपीमाधवसम्बन्धिनी क्रीडेति विशेषणाद्भास्तः । शेषं पूर्ववत् । नित्येति । पूर्वं दोषत्रयं वारितं 'जयति जननिवास' इति श्लोकोपन्यासेन । अन्ये पञ्चविंशतिर्दोषाः विद्वन्मण्डनसुवर्ण-सूत्रभक्तिमार्तण्डेषु वारितास्तोऽप्येवेषया वारणीयाश्च विस्तरमिया न लिख्यन्ते । ध्वंसादीति । आत्मनि लीला ध्वस्ताः आत्मनि लीला भविष्यन्ति आत्मनि लीला न सन्तीति संसर्गाभावास्ते-पामप्रतियोगिनीत्वाद् ध्वंसाद्यप्रतियोगिनीत्वेन ध्वंसाद्यप्रतियोगिनी । अन्योन्याभावस्तु भेदाभाव-रूपद्वैताभावादस्ति । परन्तु इत्यर्थः स गीतायां स्वर्गो निवेशोक्तस्तस्य भेदस्य स्वरूपे निवेशादुक्तेः । तादात्म्याद्वैतसत्त्वाच्च । एवं सतीत्यादिभाष्यविवरणम् । एवं देशकालेति । अन्धान्यत्ववदिति । वीप्सा । देशोन्यः कालोन्य इति । अनेकरूपत्वमिति । अथमन्योन्यमन्य इति । 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधे'त्यादिश्रुतेः । अनुक्तत्वादिति । जन्यत्वापत्या पादरिमतेन शब्दान्ययानयनेनानुक्त-प्रायत्वात् । अर्थवादकः शब्द इति । यद्वा सोश्रुत इन्द्रादिष्वेकस्यैव भक्तस्योक्तत्वात् । इतीति व्याख्येयम् । तस्य व्याख्यानं एवं विशेषणविघटन इति । बादरिमतेन जीवस्थानेकरूपत्वविशेषण-विघटने । तस्या इति । अनेकजीवकर्तृकाया इत्यर्थः । अपिना भगवत्सम्बन्धित्वम् । न सिध्यतीति । क्रियायत्किञ्चनावस्थायित्वेनानित्यत्वाच्च सिध्यतीत्यर्थः । न घटत इति । क्रियमाणानेकलीलासम्बन्धित्वं न घटते । एकभक्तसम्बन्धिनी लीला एका । कर्मधारय इति । सर्वविषयकं दर्शनं न पश्यविषयकमिति न पश्यस्य प्रत्यक्षविषयतयान्वयः सूत्रे सम्भवत्यतः प्रत्यक्षशासी विषय इति कर्मधारय इत्यर्थ उक्तः । आशङ्क्यामिति । 'प्रत्यक्षोपदेशादिति चे'दिति सौमशाशङ्क्याम् । द्वेषेति । सङ्क्षेपविस्तरप्रकारेण वर्णितत्पुरुषकर्मधारयप्रकारेण च । तत्रोच्यत इत्यादीति । सर्वपदेनेति । सङ्क्षेपपक्षे 'सर्वेह पश्यः पश्यती'त्यत्र सर्वपदेन । विस्तरपक्षे सोश्रुत इत्यत्र 'सोश्रुते सर्वान् कामा'नित्यत्र सर्वपदेन । 'स वा एव एवं पश्य'न्नित्यत्र सर्वपदं नास्ति तयाप्येवमित्यस्यात्मादेशप्रकारेणेत्यर्थादपस्तादादिदेशप्रभेद-भिन्नात्सा सर्वोपि ब्राह्म इति सर्वपदेनार्थिकेन । 'सर्वे हि पश्यः पश्यती'त्यत्र सर्वपदेन एकत्वस्य श्रुतौ भक्ते-

देशकालभेदेन क्रियमाणायामधिकृतो य एको भक्तः, तस्यैव तावन्ति रूपाणि सन्ति तान्याधिकारिकाणीत्युच्यन्ते । तेषां मण्डलं समूहस्तत्र स्थितवस्तुमात्रमुच्यत इति नानुपपन्नं किञ्चित् । अत एवाग्रे पठ्यते 'सर्वमाप्नोति सर्वेश' इति, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति । सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः । शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशति'रिति । यथा मण्डलवर्तियु पुंसु नैकस्य प्राथम्येन प्राधान्यं वक्तुं शक्यम्, तथैतेष्वपि रूपेष्विति ज्ञापनाय मण्डलपदमुक्तम् ॥ १८ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आधिकारोऽत्र भक्तानां लीलानुभवयोग्यतासम्बन्धाधिकारिकं तेषां मण्डलं समूहस्तत्र यच्चिष्ठति तस्योक्तेः कथनाच्छ्रुतौ तथोच्यत इति नानुपपन्नं किञ्चित् । श्रौतस्य दर्शनविषयवाचकस्य सर्वपदस्य सङ्क्षिप्तवृत्तिकत्वात्तद्विषयकदर्शनेऽपि भोगस्य जगद्व्यापारहितत्वं नानुपपन्नम् । तथा, 'सोऽश्रुत' इत्यादावेकवचनस्य भक्तस्वरूपविषयकत्वात् स भक्तस्तच्चदेशतत्कालभेदेन क्रियमाणा लीलाः आधिकारिकदेहसमूहस्यः पश्यतीति तत्तद्विशेषणविशिष्टानां लीलानां तद-नुपपिदुर्भक्तस्य च नित्यत्वं नानुपपन्नमित्यर्थः । ननु सर्वपदार्थसङ्कोचे भक्तरूपवाहुल्ये च किं मानमित्यत आहुः अत एवेत्यादि । अत्र इति । 'सर्वेह पश्यः पश्यती'त्यस्याम् । तथा च 'सर्वमाप्नोती'ति वाक्ये सर्वः प्रकारैः सर्वप्राप्तिभावणात् 'एवं पश्यती'ति वाक्यस्यसर्वपदेन विव-श्रितप्रहणस्यैव युक्तत्वात् । तथा 'स एकधे'ति वाक्ये भक्तस्य बहुधाभवनभावणात्, 'सोऽश्रुत' इत्यादावपि बहुभी रूपैर्भोगरूपस्य लीलानुभवस्य युक्तत्वादिति । ननु मण्डलपदेन चक्राकारेण परिणतः समूह उच्यते, न तु सामान्यसमूहः, अतः कथमेवमुच्यत इत्यतो मण्डलपदस्य तात्प-र्यमाहुः यथेत्यादि । तथा चैतज्ज्ञापनाय मण्डलपदम्, न तु समूहस्य चक्राकारेण परिणते-ज्ञापनायेत्यर्थः ॥ १८ ॥

परिमः ।

विश्रणादाहुः । एको भक्त इति । तावन्तीति । फलसाधनयोरैकाधिकरणनियमात् । तत्सम्बन्धा-धिकारिकमिति । तत्सम्बन्धि आधाराधेयभावसम्बन्धोऽस्तीति तत्सम्बन्धि । गिनिः । तथा च 'तत्र भव' इति स्यादङ्क । कथनादिति । सङ्क्षेपपक्षे । 'सर्वेह पश्यः पश्यती'ति श्रुतौ । विस्तरपक्षे 'सोश्रुते', 'स वा एवं पश्यन्', 'सर्वेह पश्यः पश्यती'ति श्रुतियु भागवतादिषु च 'भवत्या मामभिजानाती'-स्यादिषु कथनात् । उच्यत इति । नानुपपन्नं किञ्चिदिति भाष्यविवरणम् । श्रुतौ तथोन्यत इत्यादि । श्रुताविति । 'सर्वेह पश्यः पश्यती'ति श्रुतौ । उपलक्षणमेतत् सोश्रुत इत्यादिश्रुतीनाम् । विवृतं व्याकुर्वन्ति स्म । श्रौतस्य दर्शनेति । सङ्क्षिप्तवृत्तेति आधिकारिकमण्डलस्ये तथा । तद्विशेष्येति सर्वविषयस्य दर्शनेऽपि । उक्तोपलक्षणविषय आहुः । तथा सोऽश्रुत इत्यादाविति । विस्तरपक्षे श्रुतय इति पृथग्विचारः । आधिकारिकदेहसमूहस्य इति । उदाहरणं तु बहुवी-कत्वानन्तरं नारददर्शितस्य रूपस्य कार्यम् । यथा विश्वामित्रस्य गोः । तत्तद्विशेषणेति । अष्टाविंश-विशेषणेषु तत्तद्विशेषणविशिष्टानां लीलानाम् । पश्यतीत्यस्याम् इति इतिशब्दः प्रकारवाची पृथ्या लुक् पश्यतीति प्रकारो विशेषणं सर्वमाप्नोति सर्वेश इत्यत्र तस्य प्रकारस्याप्ये । पश्यतीत्यस्या अत्र इति पाठो वा । कथमेवमिति केन प्रकारेण तत्स्यो जीवभक्त उच्यते ॥ १८ ॥

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

नन्वेवं सति 'श्वस्त्वद्ब्रह्ममायास्य' इति प्रभुणोक्तैः तदाशया तस्स्थितिर्नोप-
पद्यते । नित्यत्वाङ्गीलायास्तस्य कालस्य तदागमनस्य च तदाधि वर्तमानत्वात् ।
तथा प्रभुक्तिरपि नोपपद्यत इत्याशङ्क्य समापत्ते । इह भगवद्गीला प्रकृतिः,
तद्विरुद्धोऽर्थो विकार इत्युच्यते । तत्र न वर्तते तज्ज्ञानं तादृशं च भवति ।

भाष्यप्रकाशः ।

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥ १९ ॥ एवं श्रुतिविरोधं परिहृत्य लौकिक-
विरोधं परिहरतीत्याशयेन ह्यश्वस्त्वद्ब्रह्ममायास्य इति नन्वेवं सतीत्यादि । एवं सतीति तत्तच्छीला-
तत्तद्देशतत्कालतत्तद्भूतदेवानां नित्यत्वे सति व्याकुर्वन्ति इहेत्यादि । इहेति मग-
त्सम्बन्धार्थविचारे, भगवद्गीला प्रकृतिः, रसात्मककृत्वगुणवत्त्वात्, अनुकृत्यधिकरण-
सिद्धकारणत्वाद्वा । तद्विरुद्धोऽर्थो लौकिकः, स हि विकार इत्युच्यते तत्प्रतिकृतिभूत-
यत्किञ्चिद्वृणवत्त्वात् । कार्यत्वाद्वा । तत्र लौकिके विकारभूतेऽर्थे न वर्तते, तत् ब्रह्मणा
सह भोगकरणमत आधिकारिकमण्डलस्य सर्वं तदन्तःपातिज्ञानं च विकारावर्ति तादृशं
तत्समानाकारं च भवति अत एवेतः पूर्वं 'आत्मत आशा आत्मत आधिर्भावतिरोभावा'
वित्यादि श्रावितमन्यथा तन्न वदेत् । तदेतदत्र सर्वं चकारेण स्रज्यते । तथा च, 'स एकया
भवती'ति श्रुतिबलेनैकस्य भक्तस्य यान्यनेकानि रूपाण्यङ्गीकृतानि, तानि योगिकायव्युहवन्न
नानादेशवर्तीनि, किन्तु यथैकशिखेव भगवत्स्वरूपे विद्यमानानि प्रभुभाविभूद्गुणवत्त्वात् सत्कार्यं
रश्मिः ।

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह ॥ १९ ॥ लौकिकेति 'लोकवसु लील-
कैवल्यमि'ति सूत्रालौकिकवत्प्रतीयमानधर्मविरोधं परिहरतीत्यर्थः । तत्तच्छीलेति । पूर्वसूत्र उपपादि-
तम् । पूर्वतन्ने यत्र सकलाङ्गोपदेशः सा प्रकृतिरिति प्रकृतिलक्षणादाहुः । रसात्मकेति ।
उत्तरतन्नेविचारेण प्रकृतिलक्षणमाहुः । अनुकृतीति । सर्वानुकरणार्थं कारणं तेजसः । 'न
तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेखिलम् । यच्चन्द्रमसि
यन्नामो तत्तेजो विद्धि मामक'मिति च सार्धवाक्ये । तत्त्वाद्देत्यर्थः । तथा च प्रकृतिः स्वरूपम् ।
'प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्व' इत्यत्र तथाव्याख्यानात् । तद्विरुद्ध इति भाष्यविवरणम् । तद्वि-
रुद्ध इत्यादि । लौकिक इति लौकिकवत् । विकारत्वस्य त्रिषु सत्त्वात्सामान्ये नपुंसकम् । विकारजान-
माहुः । तत्प्रतिकृतीति तस्याः प्रकृतेः प्रतिकृतिभूतम् । तद्गुणवत्त्वात् प्रकृतिगुणवत्त्वात् । कार्य-
त्वाच्चेति प्रकृतेरेव । तत्र न वर्तत इति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । तत्र लौकिकेति । किं न वर्तत
इत्याकाङ्क्षायां तज्ज्ञानमित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म । तद्ब्रह्मणेति । तज्ज्ञानमित्यतस्तत्तदनुवृत्तिरत्र
ज्ञेया । तदन्तःपातीति तस्याधिकारिकमण्डलस्य सर्वस्यान्तःपाति तदन्तःपाति । तादृशमित्यस्यार्थः ।
तत्समानाकारमिति लौकिकविकारसमानाकारं लोकवदित्यर्थः । अत एवेति लौकिकविकार-
समानाकारत्वादेव । इतः पूर्वमिति । 'सर्वं ह पश्यः पश्यती'त्यादि श्रुतेः पूर्वम् । श्रावितमिति ।
लौकिकविकारसमानाकारमाशादिकं श्रावितम् । अन्यथेति । आधिकारिकमण्डलस्यज्ञानाशादेर्लौकिक-
विकारसमानाकारत्वाभावे लौकिकत्वे च नित्यलीलायां तज्ज्ञानाशादिकम् । तदेतदिति । तज्ज्ञानं
तादृशमित्यादि भाष्योक्तम् । यत्स्वरूपमित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । तथा चेत्यादि तादात्म्या-

यत्स्वरूपं प्रति तथा वदति, तस्य स्वगोहे तदा भगवत्स्थितिज्ञानं न भवतीत्यर्थः ।
उपलक्षणं चैतत्, अतो यद्देशकालविशिष्टा यादृशी या लीला, तस्यास्तादृश्या एव
तच्छीलामध्यपातिनो भक्तस्य ज्ञानं, नान्यविषयकमिति ज्ञेयम् । अत एव द्वितीय-
स्यापि, 'मह्यं पूर्वमुक्तमासीत्तेनागत' इत्येव ज्ञानं भवति । तदेव हि रसोऽयः,
अतो रसस्वरूपमध्यपातित्वाङ्गीलाया रसस्य च भगवदात्मकत्वाङ्गणवद्रूपत्वेन
सर्वमुपपद्यते लीलयाम् । अत्र प्रमाणमाह तथाहि स्थितिमाहेति । 'सर्वमा-
प्नोति सर्वश' इति श्रुतिरेकस्यैव भक्तस्य सर्वशः सर्वैः प्रकारैः सर्वलीलारस-
माप्नोतीति वदन्त्युक्तरील्यैव लीलयां स्थितिमाहेत्यर्थः । अतो वस्त्वेवेदमलौकिक-
मीदृशमिति मन्तव्यं वैदिकैरिति भावः । अलौकिकेऽर्थे लौकिकरीत्यनुसरणं न
युक्तम्, किन्त्वलौकिकरीत्यनुसरणमेव युक्तमिति हिंशब्देन द्योत्यते । एतेन 'रसो
वै स' इति श्रुतेर्लीलाविशिष्ट एव प्रभुस्तथेति तादृश एव परमफलमिति श्रापितं
भवति ॥ १९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

प्रकटीभवन्त्यपि न स्वरूपाद्भिन्नतया प्रतीयन्ते तथा भक्तशरीराण्यप्येकशिखेव वर्तमानानि तत्स-
त्कार्ये बहिर्भवन्ति । एवं सति यत्स्वरूपं प्रति, 'श्वस्त्वद्ब्रह्ममायास्य' इति वदति, तस्य स्वगोहे
प्रथमदिने भगवत्स्थितिज्ञानं न भवति, तस्य विरहानुभवविद्युत् रूपं बहिर्भवति, पूर्वोक्तं
चान्तः । ततो द्वितीयदिने पूर्वोक्तं बहिर्भवति विरहानुभवविद्युत् चान्तस्तयोरन्तर्भावबहिर्भावौ
तेन न ज्ञायेते, एकमेव समनुभवतीत्येवं लीलारसालत्वात् दिश्यान्नेण प्रदर्श्यते । वस्तुतस्तु
यथा नित्यव्यापकशब्दवादिजैमिनीयमते व्यञ्जकस्य वायोर्ध्वनेर्वा अभावेन न वर्णात्मकशब्दस्य
सर्वत्र सदा ज्ञानम्, यथा च नित्यव्यापकत्ववादिक्काणादादिमते स्वदेहादन्यत्र तद्गुणिलाम-
स्थानभूतदेहाभावेन न स्वात्मज्ञानम्, तथात्र जीवादेव्यञ्जकभगवदिच्छाभावेन न भगवत्स्थि-
त्यादिज्ञानं भवतीत्यर्थः । एवं सूत्रैकदेशं व्याख्याय तेनानुक्तस्यान्यस्यापि तथा सिद्धिमाहुः
उपलक्षणमित्यादि । तथा च 'अचिन्त्याः खलु ये भावास्तांस्तर्केण प्रसाधयेत् । प्रकृतिभ्यः
परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षण'मिति भक्त्यपुराणवाक्यात् । अत एव श्रुतिमूलकतर्कादपि सर्वं
सुखमित्यर्थः । उपपादनप्रकारस्य प्रामाणिकत्वाय सूत्रशेषमवतारयन्ति अत्रेत्यादि । सिद्धिमाहुः
अत इत्यादि । तथा च 'नेषा तर्केणे'ति श्रुतेः, 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजये'दिति
स्मृतेश्च श्रुत्यनुसारेणैव निर्णयमिति सिद्धेस्तथेत्यर्थः ॥ १९ ॥

रश्मिः ।

द्रक्ते स्वरूपपदमाहुः । यत्स्वरूपं प्रतीति । अन्यत्रेति अन्यदेहादौ । तद्गुप्तीति जीव-
वृत्तिलामस्थानेत्यादिः । नेति स्वगुहादौ न । तेनेति । सौत्रचकारेण । तथा सिद्धिमिति ।
चकारेण यथासिद्धिस्तथा तामाहुः । अत एवेति । तर्केणेत्यस्य मीमांसायुततर्केणेत्यर्थदेव ।
अत्रेत्यादीति । सर्वैः प्रकारैरिति । अलौकिकेयं लौकिकी व्युत्पत्तिर्न कृता सर्वान्ददातीति किन्तु
सर्वे प्रकाराः सर्वश इति व्युत्पत्तिः कृता । तथा चोक्तम् । 'इत्थं लौकिकशब्दानां प्रक्रिया इह
दर्शिते'ति सिद्धान्तकौमुदीसमाप्तौ । उक्तरील्येति अस्मिन् सूत्रे उक्तरील्य । तथेत्यर्थ इति ।
वस्त्वेवेदमलौकिकमीदृशमिति मन्तव्यं वैदिकैरित्यर्थः । ननु तथापि युक्तिस्तु काचिद्भक्त-
व्येति चेदत्रे वक्ष्यते । भाष्ये । प्रभुस्तथेति प्रभुः प्रकृतः ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

न च लौकिकयुक्तिविरोधोऽत्र बाधकत्वेन मन्तव्यः, किन्तु साधकत्वेन यतः प्रत्यक्षानुमाने श्रुतिस्मृती अपि लौकिकयुक्त्यप्रसारेणालौकिके भगवत्सम्बन्धिन्यर्थेऽन्यथाभावनं निषेधति, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' । 'परास्य शक्तिर्विधेयव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' । 'अलौकिकास्तु ये भावा न ताँस्तर्केण योजयेत्' । श्रीभागवते च 'न हि विरोध उभयं भगवत्परिगणित-शुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्क-शास्त्रकलिलान्तःकरणाशयदुरवग्रहवादिनां विधादानवसर' इत्यादिवाक्यैर-चिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वेन भगवत्स्वरूपस्यैव परमफलत्वं प्रदर्शयते । किञ्च । 'ता वां वास्तून्मुदमसि गमध्वे यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुगुणायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरी'ति ऋग्वेदे पठ्यते । किञ्चित्पाठभेदेन यजुःशा-खायामपि । ता तानि वास्तूनि वां गोपीमाधवयोः सम्बन्धीनि गमध्वे प्रसाद-

भाष्यप्रकाशः ।

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥ भगवत्सम्बन्धिपदार्थानां युक्तवगम्यत्वरूपं पूर्वो-क्तमर्थमेव इदीकर्तुं घटान्तरं पठतीत्याशयेन घटं व्याकुर्वन्ति न चेत्यादि । भाष्यमत्र निगदव्या-ख्यातम् । अत्र 'नैषा तर्केण'ति काठकश्रुतेर्जीवप्रश्नोत्तरवर्तित्वेन तथा भगवत्सम्बन्धिनामर्थानां तर्कागोचरत्वसाधनं न युक्तमित्याशङ्क्य, ब्रह्मप्रकरणशाखाः 'परास्य शक्ति'रिति द्वितीयस्याः श्वेताश्वतरश्रुतेरुपन्यासः । 'अलौकिकास्त्वित्यस्याः स्मृतेः प्रसिद्धत्वेन विषयान्तरे चारि-ताध्यमाशङ्क्य, श्रीभागवतपद्युक्तन्धीयस्य 'न हि विरोध'इति वाक्यस्योपन्यासः । एवमेतैः प्रमाणैर्ललाया अलौकिकत्वं निगमित्या तन्मुखेनापि भगवतः फलत्वनिगमनाय किञ्चेत्या-दिना शाखाद्वयस्यश्रुत्युपन्यासः । ऋग्वेदशाखास्यश्रुतेर्यास्केन धर्मकिरणपरताया निर्वचनत् तदर्थ-अमनिरासाय यजुःशाखापाठस्मरणम् । तेन यास्कोक्तस्य शृङ्गादिपदनिरुक्तमात्रार्थत्वम्, न तु रश्मिः ।

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥ निगदेति । श्रुतिस्मृती इति । 'तं त्वौपनि-षद'मिति श्रुत्याधोक्षजे प्रत्यक्षादेरसङ्गमादेवं व्याख्यातम् । ननु तर्हि स्मृतेरप्यौपनिषदत्वाभावात्स्मृतिर्न व्याख्यानमिति चेन्न । गीतास्मृतिषु इति श्रीमद्भगवद्गीतासुपनिषत्सिद्धि उपनिषत्प्रयोगादुप-निषत्त्वात् । ब्रह्मण आर्षमिति प्रत्यक्षमूलत्वाज्जन्मजनकभावसम्बन्धो लक्षणा प्रत्यक्षपदस्य श्रुतौ । अनुमीयते उत्सन्नप्रच्छन्नवेदशाखा येन तदनुमानं स्मृतिरिति वेदान्ते योगमात्रादरणात् । एवं निगदेन भाष्यव्यक्तवचनेन व्याख्यातं व्याख्यातप्रायम् । बहुवाक्योपन्यासे गौरवं मन्यमानास्त-स्वारस्यमाहुः । अत्र नैवेति । विषयान्तरेति विषयोऽधोक्षजः । ततोऽन्यद् विषयो नटादौ प्रसिद्धं तद्विषयान्तरं तस्मिन् । शास्त्राद्वयेति । ऋग्वेद आश्वलायनशाखा । एवं यजुःशाखापि । यास्केनेति निरुक्तवक्रुषिणा । सूयेंति । गावः किरणा उच्यन्त इत्येवं व्याख्याताः । तदर्थेति सूर्यकिरणार्थमनिरासाय । यजुःशाखेति किञ्चित्पाठभेदेनेत्यादि भाष्येण तथा । पाठभेदस्तु भूरीत्यृग्वेदे । भूरिति यजुःशाखायाम् । यास्कोक्तस्येति निर्वचनस्य । शृङ्गादीति । शृङ्गादि ।

त्वेन प्राप्तमुदमसि कामयामहे । तानि कानीत्याकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिसुद्धाटयति, यत्र श्रीगोकुले गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा हरुप्रभृतयो वसन्तीति शेषः । ग्राम्या-रण्यपशुपलक्षणार्थमुभयोरेव ग्रहणम् । अत्राह भूमावेव तदुगुणायस्य बहुगीय-मानस्य वृष्णः भक्तेषु कामान् वर्षतीति वृषा तस्य पदं स्थानं वैकुण्ठम् ततोऽपि परममधिकम्, अत्र विचित्रलीलाकरणात् । भूरि यमुनापुलिननिकुञ्ज-गोवर्धनादिरूपत्वेन बहुरूपम् । तथा च तत्रत्यानि तानि कामयामह इति वाक्यार्थः सम्पद्यते । एतेन लीलासम्बन्धिवस्तूनां यत्र फलत्वेन प्रार्थनम्, तत्र तल्लीलाकर्तुः परमफलत्वे किं वाच्यमित्याशयो ज्ञाप्यते । 'अथ ह वा व तव महिमाऽमृतसमुद्रविषुषा सकृलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन वि-स्मारितदृष्टश्रुतसुखलेशाभासाः परमभागवता' इति श्रीभागवते । एतेनापि कैमुतिकन्यायेन प्रभोरेव स्वतः पुरुषार्थत्वं ज्ञाप्यते । फलप्रकरणत्वात्तदेवाचार्य-तात्पर्यविषय इति ज्ञायते ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

इतोपि हेतोः पुरुषोत्तमस्वरूपमेव परमं फलमिति ज्ञायते । यतः, 'सोऽ-

भाष्यप्रकाशः ।

तत्तात्पर्यकत्वम् । ऋजो विष्णुसक्तस्यत्वात्, तैत्तिरीयपाठे च विष्णुपदादग्रेपि 'विष्णोः कर्माणि पश्यते'त्यादिमन्त्रदर्शनाच्च । एतदुपपद्यमानैव, 'अथ ह वा वे'ति श्रीभागवतवचनोपन्यास इति । शेषं स्फुटम् ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥ घटप्रभवतारयन्ति इतोपीत्यादि । इतोपीति । रश्मिः ।

निरुक्तमात्रोयं यस्य तत्त्वम् । तत्तात्पर्येति । निरुक्ततात्पर्यकत्वम् । सूर्यमिधावृत्तिसत्त्वेन तात्पर्यवृत्त्यभावात् । विष्णुपदादिति । वृष्ण इति पदस्थले तथा । एतदिति । उक्तकैमुतिकन्यायो-पपद्यमाने स्फुटमिति । गूढाभिसन्धिमिति गोकुलेन गूढस्य संवृतस्य वैकुण्ठसामिसन्धि अभितः सन्धि भग्नसङ्घनमुद्धाटयतीत्यर्थः । अयमर्थः । मर्यादामार्गीयस्य हृदि व्यापिवैकुण्ठे प्रकटस्य बहिराविर्भावे तत्र प्रवेशः सद्योमुक्तिः । तदुक्तम् । 'भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्ग-वासिनम् । वैकुण्ठं स्वर्गवासिनमिति' वीप्सा, मार्गद्वयग्रहणार्थम् । कर्ममार्गेण हिरण्यवर्मातिरिक्तस्य मुक्त्यभावात् । एवं च भूमावित्यनेन श्रीगोकुलमपि प्राप्नोति । पुष्टौ तु मर्यादातो विपरीता गतिः यतः प्रमेयषलेनैव पुष्टिस्थानां सर्वं तत्र 'अह्वधापृतं निशि शयानमतिश्रमेण'त्युक्त्वा 'लोके विकुण्ठसुपनेष्यति गोकुलं स्व'मिति विकुण्ठे श्रीगोकुलनयनम् । एवं च पुष्टिमार्गानुसारेण वैकुण्ठे गोकुलमिति गूढस्य पुष्टिमार्गीयप्राप्यगोकुलस्य अभितः सन्धि भग्नस्य अत्यन्तानुग्रहं विना आमर्दितस्य सन्धि सङ्घन-मनधिकारेपि कश्चिदुद्दिश्योद्धाटयन्तीति । उभयोरिति गोभूरिशृङ्गायोः । भूमाविति । मर्यादामार्गे श्रीगोकुलमपि । 'भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनम्' इति श्रुतेः । पुष्टिप्रकरणादाहुः । ततोपि परममिति । कैमुतिकन्यायेनेति पाठः । तदेवेति । ऋषेव परं लीलाकर्तुं । एवं शेषं स्फुटमित्यर्थः ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥ भाष्ये । पुरुषोत्तमस्वरूपमिति रसात्मकमिति

इनुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति श्रुती भक्तसाम्यमुच्यते । तत्र पुरुषोत्तम एव सम्भवति । यतः सख्यं दत्त्वा तत्कृतात्मनिवेदनमङ्गीकुर्वन्नतिकरुणः स्वस्वरूपानन्दमनुभावयैस्तं प्रधानीकरोति । अन्यथा भक्तोऽनुभितुं न शक्नुयाद् युक्तं चैतत् । प्राप्तं फलं स्वाधीनं भवत्येव, अन्यथा फलत्वमेव न स्यात् । तथा चास्माच्छिञ्जावपि प्रभोरेव परमफलत्वं सिध्यति । 'न तत्समश्चाभ्याधिकश्च दृश्यत' इति श्रुतिविरोधपरिहाराय मात्रपदम् । न चात्र कामभोगस्य फलत्वं शङ्कनीयम् । 'आप्नोति पर'मित्येतद्व्याकृतिरूपत्वात् स्वरूपानुभवरूपत्वाद् भोगस्य । अनुभूयमानस्यैव हि सुखस्य लोके पुरुषार्थत्वोक्तेः ॥ २१ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

'मात्रं कात्स्न्यैऽवधारणे' । भोगमात्रे भोगे एव यत् साम्यम्, भक्तेन सह तौल्यम्, अस्मां श्रुतौ सहपदेन श्राव्यते, तस्माच्छिञ्जादपि । तद् व्याकुर्वन्ति यत इत्यादि । पुरुषोत्तम एवेत्येवकारेणाधरं व्यावर्त्यते । तत्र हेतुः यतः सख्यमित्यादि । नन्वत्र कामानामेव प्राप्तेरुक्तत्वात्तद्भोगस्यैव फलत्वमस्त्विति चेत् तत्राहुः न चेत्यादि । 'आप्नोति पर'मित्येतद्व्याकृतिरूपत्वादिति । 'आप्नोति पर'मिति यद्वाक्यं तद्व्याख्यानरूपत्वात् । ननु यदि भगवत एव फलत्वम्, तदा कामानामाशनं किमिति विवरणत्वेनोच्यत इत्यत आहुः स्वरूपेत्यादि । तत्र युक्तिमाहुः अनुभूयमानस्येत्यादि । तथा च फलत्वव्युत्पादनार्थं तत्, न तु फलत्वार्थमित्यर्थः । एवमनया पञ्चदश्या भोगप्रकारविचारोपि भगवतः परमफलत्वबोधनायैवेति ज्ञापितम् । इदमेवाचार्यैः पुष्टि-

रश्मिः ।

ज्ञेयम् । प्रकृते । अस्यामिति 'सोऽश्रुत' इत्यस्याम् । तौल्यमिति । ब्रह्मणो गौणत्वेऽपि क्रियद्रौण्यं किन्तु साम्यमिति भावः । तद्व्याकुर्वन्तीति तत् तस्मात् तद्युक्तमर्थं हृदिकृत्य सृष्टं व्याकुर्वन्तीत्यर्थः । व्यावर्त्यते इति ब्रह्माहमस्मीत्यक्षरसाम्यस्य जीवन्मुक्ते सिद्धत्वेन फले तदनुपयोगाद्वावर्त्यते इत्यर्थः । तत्र हेतुरिति साम्ये हेतुः । नक्षरव्यावर्तनापेक्षया समग्रस्य प्रधानत्वात् । यतः सख्यमित्यादीति । सख्यं दत्त्वेति सम्पद्याविर्भावाधिकरणेन सम्पद्याविर्भावात्समानशीलव्यसनवत्त्वरूपं सख्यं सिद्धयति । रासेष्टधाविर्भावात् । अत्र षड्धर्मैः क्रियमाणलीलासु षड्धर्मा भक्ता अधिकारिण इति सख्यं नातुपपन्नम् । सख्यात्मनिवेदने पुष्टिश्रुतीनां नाभिप्रेते इति प्रमरगीते 'मृगयुरिव कपीन्द्र'मित्यस्य सुबोधिन्यामस्तीति न तदर्थं भक्तसाधनमत उक्तं दत्त्वेति । ब्राह्मेण्यधिकरणेन देहा उक्ताः तेषां निवेदनं श्रुतिरूपाणामङ्गीकुर्वन्, आत्मानो देहाः तेषां निवेदनम् । आत्मीयानां तत्राभावात् । सालोक्यमुक्तिश्चेत्सा तु उक्तभक्तिद्वये श्रुतेस्तात्पर्याभावेपि ददात्यङ्गीकरोत्येतोतिकरुणः । स्वस्वरूपेति । प्रदीपाधिकरणे सामर्थ्यमुक्तमतः स्वरूपानन्दमनुभावयन्नित्यादिः । स्वस्य स्वरूपं भक्तदेहित्वेनाङ्गीकृत्य तदानन्दमित्यादिः । अत्र 'तस्यैव आत्मा वृणुते तनुं स्वा'मिति श्रुतिरनुसन्धेया । भवत्येवेति । साधनानां जीवाधीनत्वादिति भावः । 'भक्त्या त्वाद्यो द्वितीयस्तु तदभावाद्भरो सदे'ति भक्तिभावात्तदभावाः साधनानि । भगवतः सर्ववशित्वाद्यन्तायोगं मत्वाऽयन्तायोगव्यवच्छेदकैवकार उक्तः । क्रियासङ्गतैवकारोयन्तायोगव्यवच्छेदकः । नीलं सरोजं भवत्येवत्यत्रेव । तद्भोगस्येति कामभोगस्य । फलस्येति रसात्मकस्य । तदिति ब्रह्मणा सह

१. तौल्यम् ।

एवं भगवतः स्वतः पुरुषार्थरूपत्वमुक्त्वा कर्मफलभोगानन्तरमाप्तिसिद्ध्याप्यावृत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कानिरासापोत्तरं पठति ।

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

प्रवाहमर्यादायां पुष्टिफलविचारे 'भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि । गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवे'दित्यनेनोक्तं ज्ञेयम् ॥ २१ ॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥ सूत्रमवतारयन्ति एवमित्यादि । रश्मिः ।

भोगकरणम् । तदित्यव्ययं वा तत्कामभोगः । न चानुभूयमानसुखस्य पुरुषार्थत्वे सुषुप्तिस्वरूपसुखसाक्षात्कारादिना ईश्वरादेः पुरुषार्थत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम् । इष्टापत्तेः । तत्तदुपासकान्प्रति तत्तद्भक्तान्प्रति तत्तदीश्वरादेः पुरुषार्थत्वादिति । 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे'ति वाक्याद्भ्रमः सर्वात्मभावरूपस्य पुरुषार्थत्वं भक्तिमार्तण्डे उपसमाप्त्युक्तमेवेति शुभम् । गुणस्वरूपेति । गुणाः ऐश्वर्यादयः स्वरूपं साक्षान्मन्मथरूपं पञ्चाध्याय्याम् । एवंप्रकारेण स्वरूपान्तरेणापि तेषां वैदिकानां अत्र कायिकानां पौष्टिकानां फलं भवेदित्यर्थः ॥ २१ ॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥ एवमित्यादीति । स्वत इति साध्यत्वभिन्नसिद्धत्वतः । स्वशब्द आत्मीयवाची । आत्मवाचकत्वेऽपि न क्षतिः । तादात्म्यायेदात् । उक्तचेति । ननु विकारावर्तिसूत्रभाष्ये 'अतो वस्त्वेवेदमलौकिकमीदृशमिति मन्तव्य'मित्युक्तम् । इयदवधि तदेवोक्तम् । परन्तु युक्तिस्तु काचन वक्तव्येति चेदुच्यते । उक्तरूपे तादात्म्यरूपमद्वैतम् । भेदाभावरूपसाद्वैतस्य स्वरूपेऽभावाद् 'अविभक्तं च मूर्तेषु विभक्तमिव च क्षित'मित्यस्य स्वरूपनिरूपणे उक्तत्वाद् गीतायां तदत्रावतार्यते फलस्य स्वरूपत्वात् । ननु लीला हि द्वेषा । सप्रतियोगिनी निःप्रतियोगिनी च तत्र निःप्रतियोगिनी 'तदेजति तन्नैजती'त्यनया श्रुत्योक्ता विरुद्धधर्माश्रये स्पष्टा भगवति, सप्रतियोगिनी तु अद्वैते कथं सम्भवेद् यतस्तत्र नन्दयशोदागोपीगोपाः प्रतियोगिनस्ते कथं ज्ञानस्वरूप एकीभवेयुरिति चेदुच्यते । 'आत्ममायायुते राजन् परस्यानुभवात्मनः । न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाज्ञसे'ति सिद्धान्तवाक्ये द्वितीयस्कन्धे मायासम्बन्धः प्रतियोग्यात्मदेहार्थमुक्तस्तन्वायेन श्रुतौ भक्तेच्छया नित्यलीलायां देहसम्बन्धः, 'स ईश्वरश्चक्र' इति श्रुतौ मायास्थले ईश्वराश्रयणात् । न चेयं भगवदीयेच्छा न भक्तेच्छेति वाच्यम् । भक्तभगवतोरैक्याद् ब्रह्महृदनीतत्वेन ब्रह्मत्वात् सर्वस्य लीलास्थपदार्थस्य । एवं चावस्थाश्रयपक्षे सुषुप्तिस्वकामरूपो भगवानतस्त्वङ्गकेच्छा न सम्भवति किन्तु 'मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृग्'ित्युक्तदृग्पि निर्विषया । नैयायिकास्तु ज्ञानं सविषयकमेवेति सुषुप्तौ स्वरूपस्य विषयत्ववतुरीये त्रिषु सन्तते सायुज्ये प्राप्तजीवमनोरथकेनाविर्भूतानां नन्दादिप्रतियोगिनामात्मत्वेन तादृग्दृग्निषयत्वेन दृशो न निर्विषयत्वम् । तथा च यथा घटानां न परस्परं भेदः तादात्म्यात्तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताया अभावात्तथा भगवन्नन्दयशोदादीनामपि न परस्परं भेदः तादात्म्यात्तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताया अभावात् । शास्त्रदृष्ट्यात्मत्वेन तादात्म्याद्वैतसम्भवात् । सा चाद्वैते 'एकमेवाद्वितीय'मिति श्रुतिविषयत्वेन तर्कसम्भवाद्युक्तिः । तथा चोक्तरीतिर्न स्यात्तदा वस्त्वेवेदमलौकिकमीदृशं न स्यादिति युक्तिः सिद्धा । मेन इति वाक्यीयदृग्निषयनन्दादीनां तादात्म्यात्तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितारि । प्रकृतमनुसरामः । अत्राप्यावृत्तिरिति स्वर्गसुखवन्निरूपितफलेऽपि ।

२० अ० सू० २०

अनावृत्तिर्भक्तानां ज्ञानिनां चोच्यते । तत्र मानं शब्दः । स च 'तयो-
र्ध्वमायसमृतत्वमेति', 'न तेषां पुनरावृत्तिः', 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवभावतं
नावर्तन्ते', 'ब्रह्मलोकमभिस्तप्यन्ते', 'न च पुनरावर्तते' इत्यादिरूपस्तु ज्ञानिनां
तामाह । न हि भक्तानां नाड्यादिप्रयुक्तसमृतत्वम् । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य
योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद्विद्', इत्यादि-
वाक्येभ्यः । किन्तु 'यमेवे'ति श्रुतेर्वरणमात्रलभ्यः पुरुषोत्तमः । एवं सति 'ब्रह्म-
विद्यामोति पर'मिति श्रुतं विरोधपरिहारपूर्वकोक्तन्यायानुरीत्या भक्तस्य परं

भाष्यप्रकाशः ।

व्याकुर्वन्ति अनावृत्तिरित्यादि । ननुक्तः शब्दो ज्ञानिनामेव तामाहेत्यत्र गमकमाहुः न
हीत्यादि । काठके ज्ञानं प्रस्तुत्य, 'यदा सर्वे प्रक्ष्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः' इति वैराग्यं
चोच्यते, ततः 'श्रुतं चेत्तच्च इदस्य नाड्य' इत्यनेनोत्क्रमस्योक्तत्वात्, बृहदारण्यके शारीर-
ब्राह्मणेपि तथात्वादन्वयापि तथैवेति नाड्योर्भगतिहेतुभूतयोर्ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तस्य श्रेयस्कर-
त्वाभावेऽप्योक्तं तत्कार्यभूतनाडीगतिप्रयुक्तममृतं न शक्यं वक्तुम्, अतो ज्ञानिनामेव तेन
शब्देन तदुच्यत इत्यर्थः । तद्वि भक्तस्यानावृत्तिः कुतोऽवगन्तव्येत्यत आहुः किन्त्वित्यादि ।
किन्तु 'यमेवे'ति श्रुतेर्वरणलभ्यः पुरुषोत्तमो भक्तानाममृतत्वम् । स च 'अक्षरात् परतः परं
इति श्रुतेः 'यस्मात् क्षरमतीतोऽह'मिति गीतावाक्याच्चाक्षरात् परः । एवं वरणलभ्यस्यात्मनोऽ-
क्षरात् परत्वे सति 'ब्रह्मविद्यामोति पर'मिति श्रुतेर्विरोधपरिहारपूर्वकं यद्व्याख्यानं वरणसाहित्ये
सर्वकामाशनरूपो ब्रह्मस्वरूपानन्दानुभवाः वरणसाहित्याभावे तु लोकत्वेनाक्षरप्राप्तिं तदानन्दा-
नुभवोऽक्षरसायुज्यं वा यथाऽधिकारमिति पूर्वमुक्तम्, तद्रीत्या अक्षराधिष्ठातारं पुरुषोत्तमं परं ब्रह्म
वरणेन प्राप्तस्य भक्तस्य निर्दोषत्वादावृत्तिहेतूनामविद्याकामवर्मणामभावान् प्रपञ्चेऽनावृत्तिः सम्भ-
वति । तथा चात्र परशब्दे प्राप्यसाक्षरात् परत्वप्रकाशनसामर्थ्याच्छिद्वादानावृत्तिर्भक्तानामव-
रदिः ।

अनावृत्तिरित्यादीति । तयोर्ध्वमिति तथा नाड्या । एतेन प्रतिपद्यमाना इति एतेनार्चि-
रादिमार्गेण । ननुक्त इति ननुराशङ्कयाम् । उक्तः शब्दो ज्ञानिनामेव तामाहेत्यत्र असां
ननु आशङ्कयाम् । गमकमाहुरिति योजना । यदा । ननुक्तः शब्दो ज्ञानिनामेव तामाहेत्यत्र किं
गमकमतो गमकमाहुरिति शेषपरणम् । शेषस्तु किं गमकमत इति । तत्कार्येति ज्ञानवैराग्यकार्यभूत-
नाडीगतिप्रयुक्तममृतत्वम् । नन्वमृतमित्येवास्तवस्य किं प्रयोजनमिति चेन्न । तादात्म्याद्भवत्रि-
ष्टामृतत्ववद्भक्तानाममृतत्वमविरुद्धम् । तदुच्यत इति अमृतत्वमुच्यते । तामाहेत्युक्तां तां तु
अप्ये विचारयिष्यन्ति । यदा तदित्यव्ययम् । मान्यत इत्यर्थः । पुरुषोत्तम इति कस्याञ्चिर्लीलायां
भक्तगौणे एव सः । आशयमुक्तम् । स चेति परतः परस्साक्षरात्परतः । अक्षरात्पर इति ।
परतोऽक्षरात्परः । एवं सतीति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म । एवं वरणेति तूष्णीकम् । भाष्येऽनावृत्तौ
ित्वभाव उक्तः । प्रमाणपुरःसरं तमाहुः तथा चात्रेति । अत्र 'ब्रह्मविद्यामोति परमि'ति श्रुतौ शब्दा-
दिति हेतोः स्वाक्षिप्तनिर्दोषत्वहेतुना निर्दोषत्वसागावृत्तौ हेतुत्वमुक्तम् । शब्दादिति हेतोर्विशेषाच्च
आक्षरानावृत्तौ हेतुत्वं किन्तु परम्परयेत्याशयेन तदपि हेतुत्वं शब्दसामर्थ्याभावे न भवतीति
पूर्वसूत्रवासनया लिङ्गेहेतौ निवेशितः । शब्दादिति सौत्रं हेतुं त्यजन्तं इदिकृत्याहुः परशब्द

ब्रह्म प्राप्तस्य निर्दोषत्वादावृत्तिहेत्वभावात् प्रपञ्चेऽनावृत्तिः सम्भवति । तादृशं
प्रतीश्वरेच्छापि न तथा भवितुमर्हति । 'ये दारागारपुत्रासप्रमाणान् वित्तमिभं
परम् । द्वित्वा मां शरणं धाताः कथं तांस्यक्तुमुत्सह' इति भगवद्वाक्यात् पर-
प्राप्तिरूपत्वाच्च भोगस्य न नाशसम्भावना । किञ्च यत्रैकस्यैव भक्तस्य दशकाल-
भेदेनानेकविधलीलासम्बन्धित्वेपि तत्तल्लीलासम्बन्धित्वमनन्धरमुच्यते, तत्र
सर्वथा तदभावः कथं वक्तुं शक्यो ब्रह्मणापि । अपरश्च । कालसाध्यो हि नश्वरः
स्यात् । न हि पुरुषोत्तमे कालः प्रभवितुं शक्नोति । 'न यत्र कालोऽनिमिषां परः
प्रभु' इत्यादिवाक्येभ्यः । तथा च ज्ञानमार्गीयभक्तिमार्गीययोरनावृत्तौ तुल्यत्वेपि
फलप्राप्तौ धैर्यक्षण्यात् पूर्ववाक्येन भक्तानामादानावृत्तिम्, उत्तरवाक्येन ज्ञानि-
नामिति ज्ञापते । न च फलप्रकरणान्तेऽनावृत्त्युक्तेः संसाराभाव एव जीवस्य
परमं फलमित्याचार्याभिप्रायो ज्ञापत इति वाच्यम् । ब्रह्मविदः परप्राप्तिं फलत्वे-
नोत्तवा तस्वरूपस्य सर्वकामभोगत्वेन श्रुत्या निरूपयन्तात् । स च स्वसाधिकारा-
नुसारेण निवेशितार्थाङ्गीकाररूप एवेति ज्ञेयम् । तेन स एव परमं फलम् । अना-
वृत्तिस्त्वार्थिकी, परन्त्वावृत्तौ सम्भवत्यां परमफलत्वं नोपपद्यत इति ज्ञानदुर्ष-
लशङ्कानिरासायैयमुक्ता ।

भाष्यप्रकाशः ।

गन्तव्येत्यर्थः । ननुभयव्यामोहस्यैव भक्त्यामोहसापि कचिदकृत्यानादृशेच्छया कदाचिदावृत्तिः
स्यादिति शङ्कयामाहुः तादृशं प्रतीत्यादि । तथा च ये सर्वात्मभावप्रपत्तिरहिता उक्तभोगा-
त्मकस्वरूपानुभवरहिताश्च तान् प्रत्येव तथेच्छेति, नात्र तत्सम्भावनापीत्यर्थः । समूलकापमा-
वृत्तिशङ्कानिवृत्त्यर्थं कैमुतिकेनापि तदभावं साधयन्ति किञ्चेत्यादि । ननु लीलायां दशकाल-
सम्बन्धस्य पूर्वमुक्तत्वाल्लीलानित्यत्वोपपादनमात्रेण कथं शङ्कयाः समूलकार्पं निवृत्तिरित्यतस्तत्र
कालस्यासामर्थ्यं प्रमाणमाहुः अपरं चेत्यादि । एवं लीलायाः स्वरूपानुभवस्य च नित्यत्वमुपपाद्य
सिद्धमाहुः तथा चेत्यादि । ज्ञानमार्गीयफलसोत्कर्षमाशङ्क्य समादधते न चेत्यादि, इयमुक्तत्व-
न्तम् । स चेति भोगश्च । स एवेति उक्तरीत्यानुभूयमानः पुरुषोत्तम एव । आर्थिकीति ।
परप्रकाशनसामर्थ्याच्छिद्वात्परप्राप्तिरूपवाक्यार्थवलेन प्राप्ता । तथा च श्रुत्या समर्पितायाः परप्राप्ते-
रेव मुख्यत्वाच्चत्रैवाचार्याभिप्रायः न तु लिङ्गिक्यामनावृत्तावित्यर्थः । यद्यपि द्विरुक्तिः समाप्ति-
परिमः ।

इत्यादि । लिङ्गं शब्दस्य सामर्थ्यमिति पूर्वतरे । तादृशंति भक्त्यामोहेच्छया । सर्वात्मभा-
वेति । सर्वात्मभावेन शरणरहिताः । तथेच्छा व्यामोहेच्छा । नात्र तदिति नात्र भक्तिमार्गे तस्या
आवृत्तेः सम्भावना । तथा च भाष्ये । तांस्यक्तुमुत्सह इत्यस्य तान् भक्तान् लक्तुं आवर्तितुं
उत्सह इत्यर्थः । अपि तु नेति काकुः । समूलकापमिति, सूर्यन्यकारान्तम्, कष हिंसायाम् ।
आ. ९. से. 'निमूलसमूलयोः कष' इति सूत्रेण णमुद्धः समूलकार्पं कषति, कर्मणीत्येव, कर्मणी-
त्युपपद इत्यर्थः, द्वीपिनं समूलकपमावं हिनस्तीत्यर्थः । प्रकृते तु समूलकापमावृत्तिशङ्कानिवृत्त्यर्थम् ।
भाष्ये । तदभाव इति अनन्धरं लीलाभावः । प्रकृते । तदभावमिति आवृत्त्यभावम् ।
तथा चेत्यादि । पूर्ववाक्येनेति अनावृत्तिः शब्दादिति पूर्ववाक्येन । उत्तररेणेति द्वितीयेन
तेन । ज्ञापत इति कर्ममार्गेण ब्रह्ममुक्तावप्येकदेशविकृतन्यायेनावृत्तिरेवेति ज्ञापत इत्युक्तम् ।
उक्तरीत्येति प्रदीपाधिकरणोक्तरीत्या । लिङ्गिक्यामिति लिङ्गिन्याम्, परप्रकाशनसामर्थ्यं

पुष्टिमार्गीयभक्तविशेषप्रवर्तकनिवर्तकवेणुशब्दाद्भगवन्निकटगतावऽनावृत्तिः । पूर्वेषोक्ता, मर्यादाभार्गीयाणां वेदरूपाच्छब्दात्तदुक्तसाधनादनावृत्तिं द्वितीयेनेत्यपि तात्पर्यविषयः श्लिष्टोऽर्थो ज्ञेयः । तथा सति परमफलमग्रे स्वत एव भावीति भाव इत्यलं विस्तरेण ॥ २२ ॥

इति चतुर्थ्याध्याये चतुर्थपादे पञ्चमं जगद्ध्यापाराधिकरणम् ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

बोधनार्था, तथापि तत्र श्लेषेणार्थान्तरमपि बोध्यत इत्याहुः पुष्टीत्यादि । 'वाच्यनसि दर्शनाच्छब्दात्वे'ति सूत्रे तथा साधितत्वात्तथैत्यर्थः । एवमाचार्याशयः पुष्टिमार्गीयफलस्यैव मुख्यत्व इति साधितम् । एवमत्र पादे 'ब्रह्मविदामोति परं गतिं श्रुत्युक्तं ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति श्रुत्युक्तं च फलं सपरिकरं विचारितम् ।

शङ्कराचार्यास्तु, सगुणब्रह्मोपासनात् सहैव मनसेश्वरसायुज्यं प्राप्तानां किं सावग्रहमैश्वर्यं भवति, उत निरवग्रहमिति संशये, 'आमोति स्वाराज्य'मिति 'सर्वेऽसौ देवा बलिमावहन्ती'ति 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'त्यादिश्रुतिभ्यो निरङ्कुशमैश्वर्यं भवतीति प्राप्तम् । तत्र जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाणिमाद्यैश्वर्यं भवतीति साङ्कुशमेव तत् । जगद्ध्यापारस्तु रश्मिः ।

लिङ्गं यद्यपि शब्दे तथापि कार्यतासम्बन्धेनानावृत्तावपीति लिङ्गिन्यायानावृत्तावित्युक्तम् । द्विरुक्तिः समाप्त्यर्थेति । विरहसामयिकी परमतभाषाप्येकदेशिमते पुष्टी न प्रतिबन्धिकेति अमरगीतवचमाहुः पुष्टीति । भक्तविशेषोत्र 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' इत्येकदेशिमतश्रद्धालुः श्रुतिरूपान्तर्गत-वेणुशब्दोत्र साधारणो ज्ञेयो न त्वसाधारणः । एकदेशिमतश्रुतिरूपत्वात् । भगवन्निकटगतावृत्तिं सामीप्यसप्तमी भगवन्निकटगतिसप्तमी ब्रह्मलोकेऽवान्तरस्थितिरनावृत्तिः । भाष्य उक्तं तदविरोधायाहुः यद्यपीति । श्लेषेणेति तात्पर्येण । पुष्टीत्यादीति । अनावृत्तिरिति आवृत्तिहेत्वभावादानावृत्तिः । यतो भगवानेवैवं सम्पादयति । 'नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तु-न्मजाम्यभीषामनुवृत्तिवृत्तय' इति भगवद्वाक्यात् । अनुवृत्तिः सेवा सा चानेकधा धातुनामने-कार्यत्वे षिबु सेवायामिति धातुपाठो मानमतः प्रेमपूर्वकानुवृत्तिरत्र । पूर्वणेति अनावृत्तिः शब्दादित्यनेन । द्वितीयेनेति द्वितीयेनानावृत्तिः शब्दादित्यनेन भगवान्प्याप्त आहेत्यर्थः । श्लिष्ट इति अभिषेयार्थेनालिङ्गितस्तात्पर्यार्थः । परमफलमिति । 'ज्ञात्वात्मानमबोधक्षज'मिति अमरगीतवाक्यात् । 'आन्तरं तु परं फल'मिति सुबोधिन्याम् । 'तदध्यासोऽपि सिध्यती'ति निरोध-लक्षणग्रन्थे । 'सच्चिदानन्दता तत्' इति च तत्रैव । अत्रावतारावतारिसाङ्कर्यं न दोषाय । 'समान एवं चाभेदा'दिति सूत्रात् । सुबोधिन्यां च 'नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्वव'दिति । अलं विस्तरेणेति विस्तरः अष्टविंशदोषास्तदुद्धारश्च तेनालम् । निषेधेऽलम् । विस्तरेण कथनस्य निषेधः गौरवप्रसङ्गा-दित्यर्थः । ब्रह्मैवेति । हृदि प्रकटे ब्रह्मणि जीवो ब्रह्मैव सन् बहिःप्रकटेऽपि गतो भवति सद्यो-मुक्तो भवतीत्यर्थः । विचारितमिति । सन्दिग्धत्वादिति भावः । यद्यपि 'आचार्यं मां विजानीया-न्नावमन्येत कर्हिचि'दिति मतान्तराक्षेपो न युक्तस्तथापि ब्राह्मणगल्पभिधानादाहुः शङ्कराचार्या-स्त्विति । तथा चैकादशे वाक्यम् 'नैतदेवं यथाऽथ त्वं यदहं वन्मि तत्तथा । एवं विवदतां हेतुः शक्तयो मे दुरत्याः' इति । सावग्रहमिति साङ्कुशम् । निरवग्रहं निरङ्कुशम् । तदित्यैश्वर्यं

भाष्यप्रकाशः ।

नित्यसिद्धस्यैश्वरस्येति सिद्धान्तीक्रियते । तत्र हेतुः प्रकरणमितरेषामसिद्धितत्वं च । यत्र हि 'सदेव सोम्येदमग्र' इत्यादौ जगद्ध्यापारः श्रूयते, तत्र परमेश्वर एव प्रकृतः, नेतरेषां सभि-जानम्, तस्मात् । न च 'आमोति स्वाराज्य'मिति प्रत्यक्षोपदेशविरोधः । एतदग्रे 'आमोति मनसस्पति'मित्यनेन आधिकारिको यः सवितुमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थित ईश्वरः पूर्व-सिद्धः सर्वमनसां पतिस्तत्राप्तिश्रावणात्तदायत्तैव स्वाराज्यप्राप्तिरिति बोधनात् तदग्रे, 'वाक्-पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः एतत्ततो भवती'ति फलस्य तत एव श्रावणात् । एवं सूत्रद्वयं व्याख्याय विकारावर्तिस्त्रे त्वेवं वदन्ति । परमेश्वररूपं विकारावर्तिं च । 'तावानस्य सदिभा ततो ज्यायांश्च पूरुष'इत्याभ्यायो यतस्तस्य परमेश्वरस्य द्विरूपां स्थितिमाह । तच्च निर्विकारं रूपं विकारालम्बना न प्राप्नुवन्ति । अतत्क्रतुत्वात् । अतो यथा द्विरूपं परमेश्वरे निर्गुणं रूप-मनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्ते । एवं सगुणेपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रहाय एवावतिष्ठन्त इति । अग्रिमसूत्रे च 'न तत्र स्यो भाती'ति प्रत्यक्षा श्रुतिः 'न तद्भासयते स्ये' इति गीता-स्मृतिश्च परमेश्वरस्य विकारावर्तित्वं दर्शयतः । तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्ध-मित्यभिप्राय इति । अग्रे तु भोगमात्रसाम्येनैश्वर्यस्य सावग्रहत्वं व्याख्याय, तेन सातिशयत्वे प्राप्ते शब्दादनावृत्तिं व्याहृत्य, सम्यग्दर्शनानां विध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धेवा-नावृत्तिः, तदाश्रयणेनैव सगुणशरीराणामनावृत्तिसिद्धेरिति कैमुतिकमुक्त्वा समापयन्ति ।

तन्मते विकारावर्त्यादिष्वद्वयमनतिप्रयोजनम् । जीवस्य सावग्रहैश्वर्यसाधने रूपद्वय-बोधकयोस्तदोरनुपयोगात् । न च दृष्टान्तार्थमुपयोगः । विकारावर्तिनोऽप्राप्तौ अतत्क्रतुत्वस्य हेतोरिवात्र सावग्रहैश्वर्यं हेतोरकथनेन दृष्टान्तमात्रस्याप्रयोजकत्वात् । न च वाचस्पतिना निरव-रश्मिः ।

वदन्तीति क्रियापदम् । सिद्धान्तीयत इति सिद्धान्त इवाचर्यते शङ्कराचार्यैरित्यर्थः । सिद्धान्तीक्रियत इति वा पाठः । इतरेषामिति प्रकृत्यादीनाम् । प्रत्यक्षोपदेशसूत्रार्थमाहुः । स्वाराज्यमिति निरङ्कुशं स्वाराज्यं परमेश्वरवत् । पूर्वसिद्ध इति अन्तस्तादृशोपदेशाधिकरणसिद्धः । तत् इति विशेषायतनस्थितेश्वरात् । अतत्क्रत्विति । अतत्क्रतुत्वात्तेषाम् । अतत्क्रतुत्वाभा-दिति पाठश्च । तेषां विकारालम्बनानां विकारोपासकानां तत्क्रतुत्वस्य निर्विकारक्रतुत्वस्याभावात् । द्वितीयपाठे तस्य विकारस्य क्रतुः तत्क्रतुः तत्क्रतोबोधः तत्क्रतुबाधः न तत्क्रतुबाधः अतत्क्रतुबाधः तस्मादित्यर्थः तत्क्रतुबाधाभावात् । एवं सगुण इति यथा सगुणे स्थितं निर्गुणं विकारालम्बना अनवाप्य विकारालम्बना एवावतिष्ठन्ते एवं सगुण इत्यादि । तच्चेति सगुणे ब्रह्मणि विकारावर्तिं च निर्गुणं स्वरूपमस्ति तत् । समापयन्तीत्यधिकरणं समापयन्ति । जीवस्येति । जीवस्य सगुणो-पासनात् सहैव मनसेश्वरसायुज्यं प्राप्तस्य । निरङ्कुशैश्वर्यासाधनेन सावग्रहस्यास्वतन्त्रसाधिमाद्यैश्वर्यसाधने रूपद्वयं सगुणे ब्रह्मणि निर्गुणं ब्रह्मेति रूपद्वयम् । तस्य बोधकयोर्द्वया सगुणब्रह्मस्य निर्गुण-ब्रह्माप्राप्तिः सगुणब्रह्मोपासकस्येति दृष्टान्तः । दार्ष्टान्तिकस्तु, तथा सगुणोपासकस्य सगुणब्रह्मस्य-निरवग्रहजगद्ध्यापारसहिताणिमाद्यैश्वर्याप्राप्तिरिति सावग्रहाणिमाद्यैश्वर्यसाधनार्थम् । तयो रिति सूत्रयोः । दृष्टान्तार्थमिति उक्तरीत्या । विकारावर्तिन इति विकारः कार्यं तदवर्तिनो निर्गुणस्य । न विकारावर्तिनः क्रतुत्वं निश्चयत्वमध्यवसायित्वं यस्मिन् सगुणब्रह्मोपासने तस्मात् । अत्र सावग्रहैश्वर्यं इति निरवग्रहैश्वर्यप्राप्ती हेतोरकथनेनेत्युक्तौ निरवग्रहैश्वर्यप्राप्तिप्रसङ्ग इति सावग्रहै-

भाष्यप्रकाशः ।

ग्रहत्वस्योपासनविध्यगोचरत्वादुपासके तदक्रतुत्वस्य समर्थिततया अतत्क्रतुत्वस्यैव तत्रापि हेतुत्व-
मुक्तप्रायमेवेति वाच्यम् । 'मनोमयः प्राणशरीर' इति हार्दोपासनवाक्ये 'सर्वकर्म'ति विशेषणस्य
सर्वं विश्वं तेनेश्वरेण क्रियत इति जगत्सर्वं कर्मास्य 'स सर्वकर्मा स हि सर्वस्य कर्ते'तिश्रुतेरित्येवं
शङ्कराचार्यैरेव व्याख्याततया निरवग्रहत्वस्य विध्यगोचरताया वक्तुमशक्यत्वात् । न चोपासनासु
पुरुषस्य विध्यधीनत्वेनास्वातन्त्र्यात् फलदशायां तथात्वमिति युक्तम् । पूर्वोक्तव्याधर्मस्य तदानी-
द्युपगमे बद्धत्वस्यापि तदा प्राप्त्यापस्या मुक्तिविद्युवस्यैवापनेः । यच्च स्वातन्त्र्ये प्रातिभत्वप्रस-
ङ्गादित्युक्तम्, तत्र नवनवोच्छ्वासशालिनी बुद्धिः प्रतिभा, तत्सम्बन्धित्वमिति यदि, तदा
तु 'स यदि पितृलोककामो भवती'त्यादिना नवनवबुद्धीनां श्रुत्यैव सूचनात्तत्प्रातिभत्वे
स्वातन्त्र्यस्य दुरपोहताया एव सिद्धेः । तथा च

युक्तिभिरतिशिथिलाभिः समाद्धानो हृदान् दोषान् ।

वाचस्पतिरपि भाष्यव्याख्याव्याजेन दूषणं वक्ति । इत्येव सिद्धम् ।

न चैवं सिद्धान्तेपि मनोमयवाक्योक्तोपासकस्य तथात्वापस्या जगद्ध्यापारापचिरिति शङ्क-
रश्मिः ।

श्रयं इत्युक्तम् । दृष्टान्तमात्रस्येति । यथा निर्गुणब्रह्माप्राप्तिस्तथा न स्वतन्त्राणिमाद्यैश्वर्याप्राप्तिरिति
दृष्टान्तमात्रस्याप्रयोजकत्वम् । श्यामे मित्रातनयदृष्टान्तेन मित्रातनयान्तरे श्यामत्वप्रसाधने यथा
तथेत्यर्थः । निरवग्रहत्वस्येति सगुणब्रह्मधर्मस्य । सगुणब्रह्मोपासने तद्वर्त्मन्तरा कथमुपासके तत्क्र-
तुत्वाभावस्य सोऽक्रतुत्वस्येति तदक्रतुरुपासकः तस्य भावस्तदक्रतुत्वं तस्य सिद्धिरत आहुः । सम-
र्थिततयेति । तत्रापि सावग्रहैश्वर्येपि । सर्वमिति । विश्वमिति व्याख्यानम् । क्रियत इति ।
तेन क्रियत इति कर्मेतिप्रत्यय इति बोधितम् । स सर्वकर्मेति स निरङ्कुशसर्वकर्मेति ज्ञातव्यम् । एवं
निरवग्रहत्वनिरङ्कुशत्वमेतदुपासनविधिगोचरम् । तथा सर्वस्य कर्तेत्यत्र निरङ्कुशकर्तृत्वविशिष्टः कर्ता ।
व्याख्याततयेति निरवग्रहत्वस्योपासनविधिगोचरतया व्याख्याततया । निरवग्रहत्वस्येति
निरङ्कुशत्वस्य । 'स क्रतुं कुर्वति मनोमयः प्राणशरीर' इति छान्दोग्यीयविधेरगोचरतायाः ।
नन्वगोचरतायाः वक्तुं शक्यत्वं क्रतोर्विधिविषयत्वेन निरङ्कुशत्वस्याविषयत्वादिति चेन्न । हार्दोपास-
नवाच्य इति कथनात् लिङ्गमात्रार्थं विवक्षणं किन्तु विधिवाक्यार्थविवक्षणात् । तथा च गीता
'करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्घट्ट' इति । 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः । सलि-
ङ्गानाश्रमास्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इति श्रीभागवते । अनपेक्षकस्य विधिगोचरत्व एव तन्निषेध
इति । विध्यधीनत्वं विधिं विनाऽप्रवृत्तेः पुरुषस्य । फलदशायामिति अविधिगोचरजीवन्मुक्त-
दशायाम् । तथात्वमविध्यगोचरत्वम् । पूर्वोक्तस्येति मुक्तिपूर्वावस्था जीवन्मुक्तावस्था तस्याः
धर्मो विध्यगोचरत्वं तस्य । तदानीमिति जीवन्मुक्तिकाले । मुक्तिविद्युवस्येति बद्धत्वभोजक-
कर्मान्तरानबद्धत्वमिति मुक्तिप्रतिबन्धककर्मापत्या तथा । स्वातन्त्र्य इति जीवस्याणिमाद्यैश्वर्ये
स्वातन्त्र्ये निरवग्रहत्वे । सूचनादिति । स इत्यादीनां स सोभिषेयार्थः । दूषणं वक्तीति
सावग्रहैश्वर्यं हेतोः कथनेन दूषणमिव वक्तीत्यर्थः । एतावत्पर्यन्तं साधारणं जगज्जन्मादिकर्तृत्वमादाय
जगद्ध्यापाराहिल्यं विचारितम् । अधुना छान्दोग्यीयवाक्ये जगज्जन्मादिकं जगद्ध्यापाराहिल्येन सहैव
विद्यमानं विचारयन्ति स्म न चैवमित्यादिना । मनोमयवाक्य इति छान्दोग्ये 'सर्वं खल्विदं
ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' इत्येकं वाक्यम् । एकतिङ् वाक्यमिति वैयाकरणाः । 'अथैकत्वा-

भाष्यप्रकाशः ।

नीयम् । 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत' इति श्रुत्या तादृशस्य फलस्य ततो व्यभिचारणात् । 'यथा
क्रतु'रिति पुरुषविशेषणबोधके पदे प्रकारांशे पुरुषाधिकारस्यापि निविष्टत्वात् समत्वाद्याकाङ्क्षायाश्च,
'तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं क' इति, 'उपति ह वै स तं योऽस्मात् पूर्वं बुभूषती'ति श्रुतिभ्यां
निषिद्धत्वेन तादृशोपासनेऽधिकारस्य निवृत्तेश्च । न चायमेव समाधिः शाङ्करेपि मतेऽस्त्विति
वाच्यम् । तन्मते निर्गुणस्य रूपस्य सर्वाभ्यधिकत्वेन सगुणेऽभ्यधिकराहित्याभावेनाधिकसाहित्ये
प्राप्ते उक्तरीत्या समसाहित्यस्यापि वक्तुं शक्यतया तद्वाहित्यस्यापि दुरुपपादत्वेनैतच्छ्रुतिविषयता-
यास्तत्र वक्तुमशक्यत्वात् । समाभ्यधिकनिषेधावधिकतया निर्गुणबोधकत्वे च सगुणे समसाहित्यस्यै-
रश्मिः ।

देकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यादिति द्वितीयाध्यायसूत्रे पूर्वमीमांसायां वाक्यलक्षणम् । 'अथ
खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती'ति द्वितीयं वाक्यम् ।
'स क्रतुं कुर्वति'ति तृतीयम् । अत्रे 'मनोमयः प्राणशरीर' इत्यादि क्रतुस्वरूपम् । तत्र मनोमय-
वाक्योक्तोपासकस्येत्यर्थः । तथात्वापरस्येति ब्रह्मणो मननोपदेशे मननरूपोपासनायां सर्वकर्मेति-
विशेषणस्यापि सत्त्वेन जीवन्मुक्तदशायां संशयाभावरूपे फले स्वातन्त्र्यापत्या इत्यर्थः । जगद्ध्यापारेति
जगद्ध्यापारो जगज्जन्मादिकर्तृत्वलक्षणस्तस्यापत्तिः । स्वातन्त्र्ये निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वस्य नियतत्वात् ।
'स्वतन्त्रः कर्ते'ति पाणिनीयसूत्रादित्यर्थः । तादृशस्येति जगद्ध्यापारहितस्य 'यस्य स्यादद्वा न
विचिकित्सास्ति' इति तत्रोक्तश्रुत्युक्तसंशयाभावरूपस्य फलस्य । तत इति समाभ्यधिकजगद्ध्या-
पारसहितप्रपञ्चाव्यभिचारणात् । व्यभिचारोत्र समाभ्यधिकफलवत्त्वाभावाभावस्य । जगद्ध्यापारसहित-
प्रपञ्चत्वासमानाधिकरण्यं व्यभिचारस्तादृशफले । 'यथा क्रतुरस्मिन्लोके पुरुषो भवति तथेतः
प्रेत्ये'ति छान्दोग्ये । प्रकारांश इति थाल् प्रत्ययार्थः प्रकारस्तदंशे । अधिकारस्यापि प्रकारत्वान्
निविष्टत्वं तस्मात् । समत्वादीति । आदिनाधिकत्वम् । स्पर्धितुमिति स्पर्धं सङ्घर्षं ।
सङ्घर्षः पराभिभवेच्छा पराभवेष्टुम् । क इति न कोपीति । समत्वाकाङ्क्षाया निषिद्धत्वम् ।
उपति उप् दाहे दहति । स आत्मा । बुभूषतीति भवितुमिच्छतीति बुभूषति भू सत्ता-
यामिच्छार्थं सन् सनि द्वित्वम् । अनयाधिक्याकाङ्क्षाया निषिद्धत्वम् । आधिक्यं पूर्वत्वम् ।
'मद्भक्तपूजाभ्यधिके'त्यात्राधिक्यं प्राथम्यमिति व्याख्यानात् । तादृशेति मनोमयवाक्योक्ते ब्रह्मणो
मननोपदेशे मननरूपोपासने । अधिकारस्येति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपा-
सीते'त्युक्ते सर्वजगतो ब्रह्मत्वेनोपासने स्पष्टनिरवग्रहोपासनाधिकारस्य । अथमेव समाधिरिति
यथाक्रतुरिति पुरुषविशेषणबोधके पदे प्रकारांशे पुरुषाधिकारस्यापि निविष्टत्वात्निर्गुणफलप्राप्तिः
सगुणोपासकस्य सावग्रहाणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिश्च न निरवग्रहैश्वर्यप्राप्तिरिति समाधिरेव । शाङ्करेपि मते
सगुणोपासकस्य न निर्गुणप्राप्तिः, सगुणप्राप्तावपि न निरवग्रहाणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः किन्तु सावग्रहाणि-
माद्यैश्वर्यप्राप्तिरित्यस्मिन्मते । उक्तरीत्येति अव्यवहितोक्तरीत्या । तथाहि । निर्गुणस्य रूपस्य
सर्वासाम्येन सगुणे साम्यराहित्याभावेन समसाहित्ये प्राप्ते इति रीत्या । तद्वाहित्यस्येति समाभ्य-
धिकराहित्यस्य एतच्छ्रुतीति 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च'ति श्रुतिविषयतायाः । तत्र शाङ्करे मते ।
समाभ्यधिकेति समाभ्यधिकयोनिषेधस्तस्यावधिकतया श्रुतेर्निर्गुणस्य बोधकत्वे च । समसा-
हित्यस्येति श्रुतौ तदित्यव्ययं लुप्तपञ्चमीकम्, निर्गुणाद् अवधेः समाभ्यधिकनिषेधेऽधिकधर्मा-
देर्भौतिकत्वेनाधिक्यभाहिल्याप्राप्त्या समसाहित्यस्यैत्यर्थः । विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत इति नैया-

भाष्यप्रकाशः ।

वापनेश्च । अधिकारविचारेणातत्कतुत्वसाधने च निरवग्रहतायाः प्राप्तेरेवाभावेन स्वातन्त्र्य-
शङ्काया एवानुदयात् स्वातन्त्र्ये प्रातिभत्वप्रसङ्गस्यैवाभावादिति दिक् ।

भास्कराचार्यास्तु, सिद्धान्ते 'अविभागेन दृष्टत्वा'दित्यारभ्य परमकारणे सायुज्यं
गतानां निरवधिकमैश्वर्यमिति स्थितम् । ये पुनर्वेदान्ते द्वैतवादिनो मन्यन्ते, मुक्ताः पृथगवति-
ष्ठन्त इति, तन्मतप्रभ्युपगम्य, सावधिकमैश्वर्यं तेषामपि प्रतिपादयितुं जगद्ध्यापारवर्जाधिकरण-
मारभत इत्युक्त्वा, जगद्ध्यापारादिद्वयं पूर्ववदेव व्याख्याय, विकारावर्तिष्वत्रे, पारमेश्वरं पुनरैश्वर्यं
नित्यसिद्धं विकारावर्ति, स्वमहिमप्रतिष्ठत्वात्, 'तावानस्य महिमे'ति श्रुतेः । कार्यब्रह्मलोकवर्तिनां
मुक्तानां 'सङ्कल्पादेवे'ति श्रुतेः । 'तदैरम्मदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवन' इति बहुविधमैश्वर्यं
प्रकीर्त्य तत्रेश्वरायत्तमित्युपपन्नम् । 'दर्शयत' इति श्रुते, परस्य ज्योतिषो विकारावर्तित्वं विकार-
रात्रुग्राहकत्वं च 'न तत्र सूर्यो भाती'त्यादिश्रुतिस्मृती दर्शयत इत्युक्तवन्तः ।

तन्मते विकारावर्त्यादिद्वययोर्द्वयमपि न वैश्वर्यम्, तथापि दहरविद्योक्तब्रह्मलोकस्य
कार्यत्वं यदङ्गीकृतमेतैरन्यैश्च तच्चिन्त्यम् । तत्कार्यत्वबोधकप्रमाणानुपलम्भात् । न च प्रभु-
विमितं हिरण्यमिति वैश्वविशेषणे विमितमितिपदे निर्मितत्वकथनादेकदेशस्य कार्यत्वे सर्वस्य
तथात्वं शङ्क्यम् । विमितपदस्य विशेषण मितं ज्ञातमित्यर्थकतयापि नेतुं शक्यत्वेन ततो निर्णया-
भावात् । नापि, 'तृतीयस्यामितो दिवी'ति ब्रह्माण्डान्तर्वर्तित्वश्रावणाचक्राशे एतन्नाशकार्य-
त्वमिति वाच्यम् । 'नास्य जरयैतज्जीर्यती'त्यादिना आत्मरूपताबोधनेनास्याः शङ्कायाः प्रागेव
निरस्तत्वात् । न च तदन्यदेव, नेदमिति वाच्यम् । एकप्रकरणगतत्वेन पूर्वं 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुर'-
रश्मिः ।

यिकोदधोपात् । आपत्तिस्तु न तत्सम इति निषेधाद्बोधा । अधिकारेति यत्र यसाधिकारस्तस्य
तत्कतुत्वं अन्यस्यातत्कतुत्वस्य साधने । निरवग्रहताया इति निरङ्कुशतायाः । स्वातन्त्र्येति
निरङ्कुशतायाः । इत्युक्त्वेति भेदाभेदवादादित्युक्त्वा । सङ्कल्पादिति छान्दोग्ये 'स यदि
पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती'ति दहरविद्यायाम् । ऐरमिति
इराया वारिणः सम्बन्धि न शुष्कम् । 'इरा वारिसुराभूमिभारतीषु प्रयुज्यत' इति विश्वः ।
इराञ्च तन्मय ऐरः मण्डस्तेन पूर्णमैरं सरः मदीयं तदुपयोगिनां हर्षोत्पादकमिति टीकायाम् ।
सोमसवन इति सोमं सूत इति सोमसवनः । नन्द्यादित्वाह्युः । सोमं स्रवतीति सोमसवन इति
टीकायाम् । 'सवनं यजने स्नाने सोमनिर्दलनेऽपि चे'ति विश्वः । तेन स्रवतीत्यस्य निर्दलतीत्यर्थः ।
दल विशरणे भ्वा. प. से. । तत्रेति छान्दोग्ये । ईश्वरायत्तमिति ऐश्वर्यम् । 'आत्मानमनुविष
व्रजन्ती'ति पूर्वश्रुत्या स यदीत्यत्र स इत्यस्यात्मानुविदित्यर्थात् । न वैश्वर्यमिति दृष्टान्तार्थत्वाभावात्
वैश्वर्यमित्यर्थः । एकदेशस्येति हिरण्यमयस्य । तथात्वं कार्यत्वम् । तृतीयस्यामिति छान्दोग्ये
'अथ यदिद'मित्यारम्भके प्रपाठकेऽस्ति । इतो मूलोकादारभ्यान्तरिक्षं चापेक्ष्य तृतीयस्यां तृतीयत्वेन
व्यवस्थितायां दिवि ध्रुलोकस्थे ब्रह्मलोके अश्वेत्यादिरस्ति । प्रागेवेति दहराधिकरणे । 'जगद्-
व्यापारवर्जा'धिकरणे । तृतीयचरणे 'कार्यं बादरि'रित्यधिकरणे च । न च तदिति छान्दोग्यीयं दहर-
विद्योक्तम् । नेदमिति न 'तृतीयस्यामितो दिवी'त्यनया ध्रुलोकम् । तथा च 'नास्य जरये'त्यादिहेतुना
तृतीयस्यामित्युक्ते नाशनिवृत्तिरिति भावः । एकप्रकरणेति मन्दाधिकारिप्रकरणगतत्वेन टीकायां स्पष्टम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

मित्यनेनोक्तस्य ब्रह्मपुरस्य, 'तदरश्मि इ वै ष्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोक' इत्यादिना परिकरपूर्वकं
तत्प्रपञ्चनस्यैव भासमानतया भेदस्य वक्तुमशक्यत्वात् । उपचिह्नितं चैतद् वाराहे चातुर्मासमाहात्म्ये
चतुर्देशाध्याये क्षीरसमुद्रं प्रकृत्य ।

'तन्मध्ये मम लोकस्तु परितो बलयाकृतिः ।
योजनानां तु लक्षाणि विंशतिस्तस्य विस्तृतिः ।
श्वेतद्वीप इति ख्यातः प्रलयेपि न नश्यति' ॥

इत्युक्त्वा, तत्र श्रीभृदुर्गात्मकभागत्रयं तत्परिमाणं संस्थां चोक्त्वा, तत्र भृदुर्गाभागयो-
स्तस्थानां चावान्तरप्रलये नाशाभावमुक्त्वा,

'तस्मिन् स्थाने लयं याते प्रविशन्त्युदरे मम' ।

इति ब्रह्मणो लये भृदुर्गाभागस्थानां स्वोदरे स्थितिमुक्त्वा

'श्रीभागो संस्थिता ये तु न तेषां प्रलये भयम् ।

शाश्वतः स तु मे लोको न नश्येद् ब्रह्मणो लये ॥

मुक्त्वा एव तु मां तत्र वीक्षन्ते सर्वदेव तु ।

कल्पान्तप्रभवो बह्विर्जलं वा भूमिदुर्गयोः ॥

भागो न स्पृशते तौ हि चक्रेण परिरक्षितौ ।

तत्रस्थास्तु जनाः सर्वे मोदन्ते सर्वदेव तु ॥

कल्पान्तप्रभवां बाधां न ते जानन्ति जातुचित् ।

श्वेतद्वीपादधस्तात् पृथ्वी तिष्ठति पीठवत् ॥

सृष्टौ स्पृशति तद्वीपं प्रलये तु विद्युज्यते ।

मम शक्तैव स द्वीपः सदा तिष्ठति शाश्वतः ॥

भूमिश्रीभागयोर्मध्ये लक्षयोजनविस्तृतः ।

अरनामा सुधाम्भोधिर्भुक्तामुक्तनिषेवितः ॥

अर्थं तस्य तु भूभागः श्रीभागस्यार्धमेव च ।

लक्षयोजनमध्ये तु द्वीपाकारोऽस्ति तत्तटम् ॥

दशयोजनसाहस्रं विस्तृतिस्तस्य कीर्तिता ।

अर्धनाशो भवेत्तस्य प्रलये च पुनः पुनः ॥

अर्धो भागस्तु मुक्तानां क्रीडास्थानं न नश्यति ।

दुर्गाश्रीभागयोर्मध्ये ष्यनामामृतसागरः ॥

रश्मिः ।

तदरश्मि इति अरश्मि ष्यश्च इ वै प्रसिद्धौ अर्णवौ समुद्रौ वर्तेते इत्यर्थः । तदिति
पूर्वान्वयि । ब्रह्मचर्यमेव तदित्यर्थः । इत्यादिनेति आदिना 'तृतीयस्यामितो दिवि'
'तदैरम्मदीयं सर' इत्यादि । तत्प्रपञ्चनस्येति 'एतत्सत्यं ब्रह्मपुर'मित्यनयोक्तब्रह्मपुरप्रपञ्चनस्य ।
भेदस्येति 'तृतीयस्यामितो दिवी'त्युक्तस्य ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिनो 'नास्य जरये'त्यनयोक्तस्य सत्यब्रह्मपुरस्य
च भेदस्य । तन्मध्ये इति क्षीरसमुद्रमध्ये । बलयेति बलयवद्भुलाकृतिः । योजनं
चतुःकोशी । 'योजनं तु चतुःकोश्यां योगे च परमात्मनी'ति विश्वः । विंशतिर्लक्षाणि अशी-
तिलक्षकोशपरिमिता विस्तृतिः । कल्पान्तः ब्रह्मदिनान्तः । दृशेति चत्वारिंशत्सहस्रकोशपरिमिता ।

भाष्यप्रकाशः ।

तस्याप्येवं विभागोऽस्ति नित्यानित्यविभेदतः ।

अरण्याख्यौ सुधासिन्धू धूमलोकप्रयेपि च ॥

वर्तेते मम भक्तानां क्रीडायै सर्वकामदौ ।

इति लोकत्रयं तु वैकुण्ठानन्तासनश्चेतद्वीपमेदेन तत्रैवोक्तम् ।

तेषु छान्दोग्योक्तो वैकुण्ठाख्यो ज्ञेयः । 'तृतीयस्यामितो दिवी'ति विशेषणेन उच्चत्यत्व-
बोधनादिति । अतः स लोको न कार्यः, किन्तु नित्य एवेति निश्चयः । लोकस्य ब्रह्मरूपत्वादेव
च न. तत्प्रभोरपि स्वप्रतिष्ठत्वहानिरिति सर्वमनवद्यम् ।

रामानुजाचार्यास्तु, मुक्तस्यैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादिपरमपुरुषासाधारणम्, उत तद्रहितं
केवलपरमपुरुषानुभवविषयमिति संशये, जगदीश्वरत्वमपीति पूर्वः पक्षः । 'निरञ्जनः परमं
साम्यमुपैती'ति श्रुतेर्मुक्तस्य सङ्कल्पत्वश्रुतेश्च । तत्र सिद्धान्तस्तु जगद्भाषारवर्जं मुक्तैश्वर्यं निरस्त-
निखिलतिरोधानस्य मुक्तस्य निर्व्याजब्रह्मानुभवरूपमैश्वर्यम् । तत्र हेतुः 'प्रकरणा'दित्यादि ।
अर्थस्तु पूर्ववदेव । श्रुतयः परं बह्व्य उपन्यस्ताः । अग्रिमसूत्रे च, 'स स्वराद् भवती'-
त्यादिभिर्जगन्भियमनरूपं व्यापारमाशङ्क्य, 'आधिकारिकमण्डलस्योक्ते'रित्यस्य अधिकारे नियुक्ता
ये हिरण्यगर्भादयो मण्डलं तेषां लोकाः तत्स्या भोगा मुक्तस्याकर्मवश्यस्य भवन्तीत्ययमर्थः
'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती'त्यादिनोच्यते । तथा च कर्माप्रतिहताज्ञानो मुक्तो
विकारिलोकान् ब्रह्मभूताननुभवतीत्यनेन वाक्येनोच्यते, न जगद्भाषार इत्युक्त्वा, अग्रिमसूत्रेषु
मुक्तस्य सत्यसङ्कल्पत्वं परमपुरुषसाम्यं च परमपुरुषासाधारणनिखिलजगन्भियमनश्रुत्यानुगुण्येन
वर्णनीयमिति साधयन्ति । तेन तन्मतं सिद्धान्ताद् अचिरुद्भूतमित्युपरम्यते ।

तन्मतचौरस्तु, रामानुजाचार्यवदेव सूत्राणि व्याख्याय शिवलोकस्य सर्वतः परत्वं पर-
ब्रह्मणः शिवाकारत्वं चोक्तवान् । तच्च तदुपन्यसेन्द्रप्रजापतिसंवादाश्रुतेरपि विरुध्यते । तत्र
'स उत्तमः पुरुष' इत्यनेन परज्योतिषः पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपादनात् । अत्रे च 'श्यामाच्छबलं
रश्मिः ।

धूमेति धूमादिमार्गप्राप्यलोकत्रयेपि । जगत्सृष्ट्यादीति ऐश्वर्यविशेषणम् । परमपुरुषेति सर्वेश्वरत्वम् ।
तद्रहितमिति परमपुरुषासाधारण्यरहितं सर्वेश्वरत्वरहितमित्यर्थः । केवलं परमपुरुषसंसर्गजम् । परम-
पुरुषेति साधारणमित्यर्थः । केवलपरमपुरुषेत्यादिसमस्तपाठोऽपि । सङ्कल्पत्वेति सत्यसङ्कल्पत्वश्रुते-
रित्यर्थः । सत्यसङ्कल्पत्वश्रुतेश्चेति रामानुजभाष्यात् । अग्रिमिति प्रत्यक्षोपदेशसूत्रे । व्यापारमिति
प्रत्यक्षोपदेशादित्यनेनोक्तप्रत्यक्षोपदिष्टम् । मण्डलं तेषामिति तेषां मण्डलं लोका इत्यर्थः ।
अनेन वाक्येनेति 'स स्वराद् भवती'ति वाक्येन । जगद्भाषार इति जगज्जनादिकर्तृत्वलक्षणः ।
अग्रिमसूत्रेष्विति चतुर्थे । मुक्तस्येति तदीयं भाष्यकमिदम् । त्रिसृच्यन्ते परमपुरुषसाम्यं
सत्यसङ्कल्पत्वमिति पाठो भाष्येऽत्र तु विपरीत इति प्रकाशो भाष्यमिनेतीदं व्याख्यानं भाष्यकमित्युक्तम् ।
अग्रेनावृत्तिसूत्रम् । परमेति कतिपयगुणैर्बोधयम् । तेन जगद्भाषारवर्जमेव मुक्तैश्वर्यमीश्वरायत्तं च ।
साधयन्तीति त्रिसृच्यामेव साधयन्ति । चतुर्थे तु सूत्रे ईश्वरस्य स्वात्प्येपि न तत्सङ्कल्पाद्भक्तावृत्तिमाहुः
सिद्धान्तादचिरुद्भूतमिति । तथा च तैरेवोक्तम् 'ब्रह्माभेदोपासनाज्ज्ञानतो वा ब्रह्मात्मैक्येऽप्यङ्गता-
मत्यजन्तः । यस्यैश्वर्यादासते यन्नियम्यास्तं श्रीकृष्णं देवदेवं नमामी'ति भेदाभेदवादे भेद इव
शब्दार्थोत्र । तन्मतैति भगवान्छैवाचार्यः । इन्द्रप्रजापतीति छान्दोग्ये समाप्तिकेति । अत्रे

भाष्यप्रकाशः ।

'पद्ये' इत्यादिना श्यामवर्णश्रावणात् । लोकोपि ततः पूर्वं दहरविद्योक्त एव सन्निहितः । स
शारण्याख्यार्णवद्वयव्याप्तौ वाराहपुराणवाक्यैर्भगवत्लोकत्वेन निश्चितः । अथर्वशिरःशिखाद्याश्च
विद्याः भगवद्विद्यानां न तुल्याः । 'अथर्वशिरःशिखाध्यायिशतमेकमेकेन भ्रमराजजापकेन तत्
भम'मिति नृसिंहपूर्वतापनीये श्रावणात् । अतस्तत्प्रतिष्ठत्यस्य रूपस्य न भगवत्तुल्यत्वम् । वेद्यो-
त्कर्षत एव विद्योत्कर्षसिद्धेरिति । एतत् सर्वं पूर्वमपि किञ्चिदुक्तं प्रहस्ताख्ये वादे च मया
निपुणतरस्युपपादितमिति न पुनः प्रपञ्च्यते ।

माध्वास्तु, जगद्भाषारसूत्रे, 'सर्वान् कामानात्वा अमृतः समभव'दिति काश्चन श्रुतिं
लेखित्वा, तस्या जीवप्रकरणगतत्वाजीवानां जगज्जननादिसामर्थ्यविदूरत्वात् सृष्ट्यादिभ्योऽ-
न्यानेव कामानामोतीत्युक्त्वा, 'स्वाधिकानन्दसम्प्राप्तौ सृष्ट्यादिव्यापृतिष्वपि । मुक्तानां नैव
ज्ञानमः स्यादन्यान् कामास्तु भुञ्जते । तद्योग्यता नैव तेषां कदाचित् कापि विद्यते । न चायोग्यं
विमुक्तोपि प्राप्नुयात् च कामये'दिति वाराहवचनं लिखन्ति । अग्रिमसूत्रे च, 'सर्वेसै देवा
बलिमात्रहन्ती'ति श्रुत्या ब्रह्मविदि जगदैश्वर्यमस्तीत्याशङ्क्य, तत्र आधिकारिकमण्डलस्य आधि-
कारिकसमूहाधिपतिर्ब्रह्मा, तत्रोच्यत इत्युक्त्वा, 'आत्मेत्येवं परं देवमुपास्यं हरिमव्ययम् ।
केचिदत्रैव मुच्यन्ते नोत्क्रामन्ति कदाचन । अत्रैव च स्थितिस्तेषामन्तरिक्षे च केचन । केचित्
स्वर्गे महर्लोकं जने तपसि चापरे । केचित् सत्ये महाज्ञाना गच्छन्ति क्षीरसागरम् । तत्रापि
क्रमयोगेन ज्ञानाधिक्यात् समीपगाः । सालोक्यं स्वस्वरूपत्वं सामीप्यं योग एव च । इमाभारभ्य
रश्मिः ।

चेति छान्दोग्ये दहरादिविद्याङ्गभूतजपादिविधानार्थं मन्त्रोयम् । श्यामाच्छबलं आकाशशबल-
माकाशशरीरं ब्रह्मलोकं प्रपद्ये गच्छामि । शबलाच्छयाममिति व्यतिहारः । इत्यादिनेत्यादिना 'अश्व
इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुख्यात्प्रयुच्य धृत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भ-
वाम्यभिसम्भवामीति'ति । अर्थस्तु तत्रास्मिन्ननेकदृष्टान्तेनाह अश्व इवेति । यथा अश्वो रोमाणि
विधूय कम्पनेन श्रमं पार्श्वदि च रोमतोपनीय निर्मलः सन्, चन्द्र इवेति यथा राहुग्रस्तश्चन्द्रो
राहोर्मुख्यात्प्रयुच्य भास्वरो भवति विद्यमानस्वरूपो भवत्येवमुपासको ह शरीरं धृत्वा इहैव ध्यानेन
कृतात्मा कृतकृत्यः सन् अहमकृतं ब्रह्मलोकं नित्यं अभि अभितः मार्गभेदेन सम्भवामि प्राप्नोमि ।
द्विरुक्तिः कर्माभिप्राया । ज्ञानिनामक्षरे लयात् नित्यब्रह्मलोकप्राप्तिः । इतिशब्दो ध्यातुर्ध्यानसमाप्त्यर्थः ।
अभ्यासो मन्त्रसमाप्त्यर्थोपि । आकाशशरीरं कथं ब्रह्मलोक इत्याकाङ्क्षायामग्र आह छान्दोग्य एव
'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते'त्यादिना लोकप्रयोजकत्वमाकाशस्योक्तम् । अरण्याख्येति
अरश्च प्यश्च अरण्या, अत्याक्षरं पूर्वमित्यस्य छन्दसि विकल्पः, तौ आख्या यस्पर्णवद्वयस्य तेन
व्याप्तः । विद्या इति शिवविद्याः । भगवद्विद्यानामिति भगवद्विद्याभिरित्यर्थः । कर्मादीनामपि
सम्बन्धसामान्यविवक्षायां षष्ठ्येवेति । पूर्वमिति द्वितीयाधिकरणे 'एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावाद-
विरोधं बादरायण' इति सूत्रभाष्ये । समभवदिति उपासको भक्तो वा । तद्योग्यतेति
सृष्ट्यादिव्यापृतिरयोग्यता । सर्वेऽस्मा इति अस्यै नित्यक्रीडासुक्ताय ब्रह्मणे । इत्याशाङ्क्येति
प्रत्यक्षोपदेशा'दिति सूत्रशेनाशङ्क्य । तपसीति तपोलोके । मुच्यन्त इति सद्योमुक्तिं
कुर्वते । नोत्क्रामन्तीति देहेभ्यो नोत्क्रामन्ति । अत्रेति भूलोके । क्रमयोगेनेति क्रमगाने-
नेत्यपि पाठः । योग एवेति 'भक्त्या प्रसन्ने तु हरौ तं योगेनैव योजये'दित्युक्तम् । इमामिति

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वत्र यावत्सु क्षीरसागरम् । पुरुषोऽनन्तशयनः श्रीमन्नारायणाभिधः । मानुषा वर्णभेदेन तथैवाश्रमभेदतः । क्षितिपा मनुष्यगन्धर्वा देवाश्च पितरश्चराः । आजानजाः कर्मजाश्च तास्विकाश्च शचीपतिः । रुद्रो ब्रह्मेति क्रमशस्तेषु चैवोत्तमोत्तमाः । नित्यानन्दे च भोगे च ज्ञानै-
श्वर्यगुणेषु च । सर्वे शतगुणोद्रिक्ताः पूर्वस्मादुत्तरोत्तरम् । पूज्यन्ते चावरैस्ते तु सर्वपूज्यश्चतु-
र्मुखः । स्वजगद्वापृतिस्तेषां पूर्ववत् समुदीरिता । सयुजः परमात्मानं प्रविश्य च बहिर्गताः ।
चिद्रूपान् प्राकृतांश्चापि विना भोगांस्तु कांश्चन । भुञ्जते मुक्तिरेवं ते विस्पष्टं समुदाहृते'ति
गारुडवाक्यानि लिखन्ति ।

तेन तन्मते मुक्तानां मुक्तेश्च तारतम्यं सिध्यति ।

विकारावर्तिघ्ने च 'स्वाधिकारेण वर्तन्ते देवा मुक्तावपि स्फुटम् । बलिं हरन्ति
मुक्ताय विरक्ष्याय च पूर्ववत् । सन्नद्धकास्तु ते देवा विष्णवेऽत्र विशेषतः । न विका-
राधिकारास्तु मुक्तानामन्य एव तु । विकाराधिकृता ज्ञेया ये नियुक्तास्तु विष्णुने'ति वाराह-
वचनं लिखन्ति ।

तेन तन्मते मनुष्यादीनां चतुर्मुखान्तानां स्वस्वव्यापारकरणं तत्राधिकारश्च सिध्यति ।

कश्चित्तु, मुक्तौ तारतम्यमस्ति, न वेति सन्देहे तारतम्ये प्रमाणाभावात्तदङ्गीकरणे च
'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतिविरोधान्मुक्तेः स्वर्गसंसारसाम्यापत्तेर्मुक्तानां स्वसाम्य-
धिकदर्शनं दुःखेष्वोदिससङ्गाच्च न मुक्तेस्तारतम्यमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तस्तु तैत्तिरीये, 'सैषा-
नन्दस्य मीमांसा भवति ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः
श्रोत्रियस्य चाऽकामहतस्य'त्यादिश्रुत्या मनुष्यगन्धर्वप्रभृतिब्रह्मान्तानां श्रोत्रियत्वमकामहतत्वं
च श्रावितम् । वाजसनेयके च, 'अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानजानां देवा-
नामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत' इत्यादिश्रुत्याजानजानारभ्य ब्रह्मलोकस्थानन्दपर्यन्त-
मकामहतत्वमवृजिनत्वं च श्रावितम् । अकामहतत्वं च कामकृतोपद्रवरहितत्वम्, न त्वका-
मत्वं हतशब्दवैयर्थ्यात् । अवृजिनत्वं च पापरहितत्वं दुःखरहितत्वं वा । अवृजिनत्वाकामहत-
रश्मिः ।

भूमिम् । यावत्सु वस्तुषु । क्षीरसागरं लक्षीकृत्य । चिरंराः पुराणाः । शचीपतिरिन्द्रः । स्वजग-
दिति तृणारणिमणिन्यायेन तत्तद्ब्रह्माण्डान्तरेष्वियं बोध्या । पूर्ववदिति ब्रह्मवत् । ते समुदीरिताः ।
सयुज इति सह युनक्तीति सयुक् जसि सयुजः । चिद्रूपान् रौद्रान् । वेदः शिवः शिवो
वेद' इति श्रुतेः । सदानन्दः कृष्णः चिच्छब्दः 'नामचिद्विक्तेने'त्युग्वेदश्रुतेः । प्राकृतान्मायि-
कान् मानसान् 'माया मनः सृजती'ति श्रीभागवतात् । विनायोगे द्वितीया मानसान्प्राकृतान्
भोगान् विना । त इति । अर्थो गरुडपुराणाज्ज्ञातव्यः । पूर्ववदिति चतुर्थ्यन्ताहतिः । ब्रह्मवत् ।
'विकारावर्ति च' इति सूत्रार्थः । न विकाराधीति ते न विकारावर्तिनः किन्तु मुक्तानां मध्येन्ये
तरतममुक्तिं प्राप्ता एवेत्यर्थः । 'तथाहि स्थितिमाहे'ति सूत्रार्थः विकाराधीति । नियुक्ता इति
आज्ञाद्वारा वैधे नियुक्ताः । कश्चित्त्विति माध्वा इत्येव । सिद्धान्तस्थिति वदन्तीत्युपेक्ष्यः ।
श्रोत्रियत्वमिति श्रोत्रियश्चन्दोधीते यः सः । अवृजिनत्वेति मुक्तलिङ्गत्वमित्येनान्वयः ।

भाष्यप्रकाशः ।

त्वयाश्च 'यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृषी'ति श्रुत्या, 'स हि मुक्तोऽकामहत' इति ब्रह्माण्ड-
वाक्येन च मुक्तलिङ्गत्वम् । न चैतयोरपरोक्षज्ञानलिङ्गत्वमिति शङ्क्यम् । प्रारब्धपापतत्कार्य-
दुःखयोस्तस्मिन्पि सत्त्वात् । श्रोत्रियत्वमपि मुक्तसैव मुख्यम् । 'प्राप्तश्रुतिफलत्वात् श्रोत्रियाः
प्राप्तमोक्षिणः । ते एव चाप्तकामत्वात् तथाऽकामहता मता' इति भारतोक्तेः । एवं सत्येतेषां
मुक्तलिङ्गत्वम् । एवं सत्येतयोः श्रुत्योरुत्तरोत्तरमानन्दाधिक्यकथनं मुक्तितारतम्ये पर्यवस्यति ।
किञ्च 'अक्ष्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वाऽसमा बभूवु'रित्यादितैत्तिरीयश्रुतौ मनोवेगे
सर्वेषामसाम्यकथनात्, 'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः स दुर्लभः प्रशान्तात्मा
कोटिष्वपि महामुने' इति श्रीभागवतवाक्ये, 'मुमुक्षोरमुमुक्षुस्तु परो ह्येकान्तभक्तिमा'निति
पुराणान्तरवाक्ये, 'अन्ये त्वेवभजानन्त' इति, 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा' इति गीतावाक्ये च
साधनतारतम्येन फलतारतम्यप्रतिपादनात्, 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'ति
वाक्ये चाल्पभक्तिसाध्यमुक्तितोऽधिकभक्तिसाध्यमुक्तेराधिक्यप्रतिपादनात्, अस्मदादिमुक्तभोगो,
मुक्तचतुर्मुखभोगान्निर्गुणः, अस्मदादिभोगत्वात्, संसारस्थास्मदादिभोगवदित्यनुमानादपि मुक्तौ
तारतम्यमेव पर्यवस्यतीति प्रमाणाभावरूपो हेतुरसिद्धः । दुःखाभावसत्यकामत्वादिना सर-
सागरयोरिव स्वयंग्यानन्दपूर्त्या च मुक्तानां ब्रह्मसाम्ये साम्यश्रुत्युपपत्तेस्तद्विरोधरूपो हेतुरप्यसिद्धः ।
बहुजन्मभिर्गतदोषत्वे ब्रह्मापसेक्षाद् द्वेषेष्यादिप्रसम्भावनाया एवाभाव इति सोऽप्यसिद्धः । अतो
मुक्तितारतम्यं निष्प्रत्यूहमिति वदन्ति ।

तत्र यदि मुक्तेस्तारतम्यम्, तदापि मुक्तिं प्रति तत्तदुपासनाया भक्तेर्वा तदनुरूपाया एव
कारणत्वमिति तत्क्रतुन्यायादेव तारतम्यक्रमादिरिति किमनेन विचारेणेति प्रकृतानुपयोगा-
त्तदनुचिन्तनप्रयोजनस्याप्यनुपलब्धेश्च तत्र वयमुदासीनाः ।

प्रकृतमनुसरामः । अत्रैतत् सिद्धम् । ज्ञानमार्गीयाणां तद्रीत्याऽदृश्यत्वादिगुणका-
क्षरोपासने तत्क्रतुन्यायेन तादृशेऽक्षरे 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येती'तिश्रुत्युक्तो लयः । अक्षरस्य,
रश्मिः ।

एतयोरिति अवृजिनत्वाकामहतत्वयोः । तस्मिन्निति ज्ञानिनि । प्राप्तमोक्षिणो मुक्ताः । एतेषा-
मिति श्रोत्रियत्वाकामहतत्वावृजिनत्वानाम् । एतयोरिति तैत्तिरीयवाजसनेयकयोः । सर्वेषामिति
अक्ष्वन्तां कर्णवतां सखीनाम् । अन्ये त्वेवमिति 'ज्ञात्वान्येभ्य उपासत' इति द्वितीयचरणः ।
प्रमाणाभावेति इमे हेतवः कश्चित्त्वित्यादिनोक्ताः । असिद्ध इति मुक्तिः तारतम्याभाववती
तारतम्ये प्रमाणाभावाच्छ्रुतिविरोधाद् दुःखेष्वोदिससङ्गाच्च जनकवद् व्यतिरेके जयविजयवत् । मुक्ति-
स्तारतम्यवती प्रमाणसत्त्वाच्छ्रुतिविरोधाभावाद् दुःखेष्वोदिससङ्गाभावात्तुक्तभक्तवद् व्यतिरेके ज्ञानिवद्
इति सप्रतिपक्षत्वेऽपि स्वरूपासिद्धः । सिद्धान्तवाक्यैः श्रुति स्वरूपासिद्धिबोधात् । द्वितीये
हेतुसम्बन्धविचारमाहुः दुःखाभावेति । सोपीति दुःखेष्वोदिससङ्गरूपो हेतुरपि ।

तत्क्रतुन्यायेनेति अप्रतीकालम्बनसूत्रोक्तेन । तादृश इति ज्ञानिनामक्षरत्वेनोपस्थितेऽक्षरे ।
ब्रह्मैव सन्निति सामीप्यमुक्त्या ब्रह्मैव सन् बहिःप्रकटे निर्विशति सद्योमुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थे
भक्तिमार्गे, ज्ञानेनाविधानिवृत्तौ सायुज्याद्ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीत्युपचर्यते । यद्वा । मुक्तः सन्
भक्तिलाभे ब्रह्माप्येति परब्रह्मसामीप्यमप्येति गच्छति ज्ञानीत्यर्थः । अक्षरत्वेनोपस्थितिमुक्त्या

भाष्यप्रकाशः ।

‘तद्धाम परमं ममे’ति वाक्योक्तभगवद्भामत्वज्ञानपूर्वकं नित्यभगवच्छोकत्वेन भगवदभिन्नत्वेन दहराद्युक्तरीत्योपासने यथाधिकारं सालोक्यादिचतुष्टयप्राप्तिः । आदित्याद्युपासनानामज्ञोपासनात्वात् पञ्चाभ्युपासनाया अपि तत्रैव प्रवेशस्योपपादितत्वादिचिरादिक्रमेण गत्वाऽमानवेन पुरुषेण भगवच्छोकप्राप्तिरैश्वर्यादिभोगश्च । उपासनायां मर्यादाभक्तिसाहित्ये तु वैकुण्ठादिलोकेषु भगवत्सेवकत्वमधिकम् । तदा रात्राऽनुजभाष्योक्तरीत्या भगवदनुभवः । तत्रापि भक्तेरुत्कर्षे तु भगवच्चरणे कौस्तुभादौ वा प्रवेशेन भगवत्सायुज्यम् । अनुग्रहविशेषेण पुष्टिभक्तौ तु, ‘भक्त्या मामभिजानाती’त्युक्तरीत्या स्वस्मिन् प्रवेश्य भूमविद्योक्तरीत्या पुनः प्रथममाविर्भाव्य भजनानन्दा-नुभावेन ‘सोऽश्रुत’ इति श्रुत्युक्तरीतिकं भोगं कारयतीति ॥ २२ ॥

इति पञ्चमं जगद्ध्यापाराधिकरणम् ॥ ५ ॥

रक्षितः ।

भक्तिमार्गोऽक्षरस्य भगवद्भामत्वेनोपस्थितौ या मुक्तिस्तामाहुः । अक्षरस्येति । नित्यभगवच्छोके-
त्वेनेति न त्वक्षरत्वेन । दहरादीति तत्रापि पूर्वोक्तरीत्या । आदिनात्मबोधोपनिषत् ।
तट्टीका मयापि कृता । सालोक्यादीति सालोक्यानन्तरमक्षरात्मकदेहे साष्टिः भगवत्समाना ऋष्टिः
गतिरलौकिकसामर्थ्यम्, तथा सामीप्यम्, ततः सारूप्यमलकादिषु लयः । सालोक्यमुक्ति-
विशेषत्वात् । एतच्चानावृत्तिः शब्दादानावृत्तिः शब्दादिति सौत्रवीप्सया स्युतम् । चतुर्णां पादानां
विचारितार्थानाहुः आदित्याद्युपासनानामिति । उपपादितत्वादिति तत्रैव भाष्यप्रकाश
उपपादितत्वात् । एवं प्रथमपादविचारितार्थमुक्त्वा द्वितीयपादविचारितार्थमाहुः अचिरादि-
क्रमेणेति । तृतीयपादविचारितार्थमाहुः अमानवेनेति । चतुर्थपादविचारितार्थमाहुः
उपासनायामिति । उपासनयाधिदैविकचित्तशुद्ध्या जाताया मर्यादायाः साहित्ये तु सा च
वेदोक्तातिविस्तरे तु स्कन्दपुराणीयचातुर्भोग्यमाहात्म्योक्ता विस्तृता । विस्तृतायामभ्यन्तरीकारे
श्रीभागवतैकादशस्कन्धैकोनविंशोक्ता श्रुतात्मनिवेदने श्रवणादिसरणिरूपा । श्रीकृष्णः शरणं
मम’ इति शरणमश्रुत्वा ज्ञानमार्गं सकामे, ब्रह्माहमस्मीति मध्वत् । भक्तिमार्गोऽभेदाभावादक्षरस्य
चाभावात् सच्चिदानन्दः श्रीकृष्णः ममाक्षरात्मकस्य सेवकस्य स्वामी शरणं रक्षिता इत्यनुसन्धानं
कर्तव्यम् । तदुक्तम् ‘तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम । वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव
मे मति’रिति परमार्थविदाचार्यैः । तत्रापीत्यादि मर्यादाभक्तावपि । उत्कटत्वे व्यसनात्मकत्वे ।
भगवच्चरणे इति मर्यादापुरुषोत्तमचरणे इति साधनभक्तिविचारेणोक्तं भक्त्यात्मकचरण-
प्रवेशेनेति । जीवविचारेण त्वाहुः कौस्तुभादौ वा । जीवस्य तत्त्वमसं मणिमस्य कण्ठ’
इति वाक्यात् । आदिना चैद्यज्योतिषो मुक्तिस्थलम् । ‘वृत्रदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविश’दिति
वृत्रमुक्तिस्थानं च । ‘यतो वाच’ इति श्रुत्या पुष्टिस्थस्याविषयत्वाद् वाग्विषयो व्याख्यातः । ‘अक्षरं
ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम्’ इति वाक्यात् । वासुदेवस्याक्षरत्वं वेदप्रतिपाद्यत्वात् । ‘वासुदेवः
परं ब्रह्म एष लन्दसि पठ्यत’ इति ज्योतिर्ग्रन्थवाक्यात् । पुरुषोत्तमस्तु भक्तैः सह निगूढभावकरणं
करोति । तस्य स्वरूपाम्कहास्यचरणादौ वा । पुरुषोत्तमविचारेण त्वाहुः अनुग्रहेति ।
स्वस्मिन्निति चरणे कौस्तुभादौ वा प्रवेश्य । भूमविद्येति छान्दोग्ये नारदसनत्कुमारसंवादेऽस्ति ।
पुनरिति । ‘तस्य वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत
आशे’त्यादिना तथा । भोगाक्षेप्याविर्भावदिरिति चेत्तर्हि पुनःपदेनाक्षेप्याविर्भावतिरोभावापेक्षया पुनः
प्रथमाविर्भाव उच्यत इत्यदोषः ॥ २२ ॥ इति पञ्चमं जगद्ध्यापाराधिकरणम् ॥ ५ ॥

जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम् ।
तदन्यदिति ये प्राहुरासुरास्तानहो बुधाः ॥ १ ॥

नानामतध्वान्तविनाशनक्षमो
वेदान्तहृत्पद्मविकासने पटुः ।
आविष्कृतोऽयं भुवि भाष्यभास्करो
मुधा बुधा धावत नान्यवर्त्मसु ॥ २ ॥
पुरन्दरमदोङ्गवप्रचुरवृष्टिसम्पीडित-
स्वकीधवरगोकुलावनपराधणो लीलया ।
स्मितामृतसुवृष्टिभिः परिपुपोष तान् यो गिरिं
दधार च स एव हि श्रुतिशिरस्सु संराजते ॥ ३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

एवं सर्वं शास्त्रं व्याख्याय स्वीयशिक्षार्थं सङ्क्षेपेण तदर्थमुपदिशन्ति जानीतेत्यादि । तद-
न्यदिति । तत् परमं तत्त्वम् । अन्यत् यावद्दर्मशून्यम् ॥ १ ॥
भाष्यविभावनार्थमुपदिशन्ति नानेत्यादि ॥ २ ॥
अत्रोक्तस्य फलस्य भगवत्कृपाधीनत्वाद्भगवतः कृपालुत्वं स्वीयरक्षकत्वेन स्फुटीकृतं
पुरन्दरेत्यादि । हिंहेतौ ॥ ३ ॥

रक्षितः ।

शास्त्रमिति उपाङ्गमीमांसाशास्त्रम् । भवयवेभ्यपि शास्त्रत्वमविरुद्धम् । पद्म शास्त्राणि । सङ्क्षेपे-
णेति सन्दिग्धवाक्यानां भीमांसाविषयत्वादिस्तरे बुद्ध्यानिवेशाच्च सङ्क्षेपेण शास्त्रार्थम् । जानीतेत्यादीति ।
फलाध्याये प्रतिपादितं सन्दिग्धफलमुपदिशन्ति आज्ञापयन्ति यथा स्वमार्गीयः स्वार्थान्न नश्येत् ।
आचार्याज्ञोत्सङ्गं महापराध इति । तत् परमं तत्त्वम् । अन्यत् यशोदोत्सङ्गलालितादन्यत् भिन्नं
यावद्दर्मशून्यम् । हे बुधा आसुरान् तामसान् अभिन्ने भिन्नत्वबुद्धीन् तान् जानीतेत्युपदेशः ॥ १ ॥
नानेत्यादीति । नानामतानि अन्यभाष्यायाणि ज्ञेयानि । नानामतैध्वान्तः सूत्रार्थप्रकाशस्तस्य विनाशने
क्षमः समर्थः । भावे ल्युट् विनाशन इत्यत्र, क्षम इत्यत्र पचाद्यच् । वेदान्तेति । उपनिष-
त्सिद्धान्तविकाशने । भाष्येति अणुभाष्यभास्करः । नामैकदेशग्रहणम् । भास्करपदेन ब्रह्मज्ञाने-
धिकारि अणुभाष्यमिति द्योतितम् । धावतेति । भाष्यविभावनार्थमुपदेशः आज्ञा । फलानन्तरं भाष्य-
विभावनोक्त्या ज्ञापयन्ति । आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव भाष्येण विचिन्तयेदिति । तदुक्तं सिद्धान्त-
मुक्तावल्यां ‘तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः । आत्मानन्द समुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तये’-
दिति ॥ २ ॥ भगवत्कृपेति । कृपा प्रथमचतुर्थचरणे ‘सूक्ष्मं तु तदर्हत्वा’दिति सूत्रभाष्ये महतः परं
निवेशिता । ‘कृपाविष्टः साधनं’ भगवान् तत्कृपा ‘तदन्तरप्रतिपत्ता’वित्याद्युक्तसाधने ब्रह्मात्मके परम्परया
वर्तत इत्यशयेन कृपालुत्वम् । भगवत्कृपया भाष्यं कृतमिति । ‘इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना
कृत’मिति न्यायेन । ‘दत्त्वाज्ञां च कृपावलोकनपटु’रिति प्रथमसुबोधिन्याम् । पुष्टिमार्गीयत्वेन
स्वेषामाहुः स्वीयरक्षकत्वेनेति । गिरिं दधारेति पदतात्पर्यार्थः । पदद्वयार्थानुसन्धाने
धीजमग्रे वाच्यम् । पुरन्दरेत्यादीति । स्मितामृतेति स्मितं श्रीरामचन्द्रः हास्यरूपत्वाद्,
अमृतमानन्दः तयोः सुवृष्टिभिः दानेन । तान् पुष्टभक्तान् । गिरिं दधारेति । ननु गोपाल-

श्रीकृष्णकृपयैवायं सिद्धान्तो हृदि भासते ।
तेनाधिकं बरीवर्ति न वक्तव्यं हरेर्नृणाम् ॥ ४ ॥
भाष्यपुष्पाञ्जलिः श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे ।
निवेदितस्तेन तुष्टा भवन्तु मयि ते सदा ॥ ५ ॥

इति श्रीमद्वेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥
समाप्तश्चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

भाष्यविभावनयार्थस्फुरणेपि भगवत्कृपाया एव कारणत्वम्, न पाण्डित्यादेरित्याशयेनाहुः
श्रीकृष्णेत्यादि ॥ ४ ॥

गुणोपसंहारपादमारभ्य सार्धाध्यायस्य स्वयं करणात्तदाचार्येषु निवेदयन्तः समाप्तौ मङ्गलं
कर्तव्यमिति शिष्टाचारं च शिक्षयन्त आचार्याणां प्रसादमाशासते भाष्येत्यादि । अर्थस्तु श्लोकानां
स्फुट इति शुभम् ॥ ५ ॥

क्रीडन् श्रीबालकृष्णः परमकरुणया मन्मनः प्रेरयित्वा
भाष्यार्थं योऽतिगूढं प्रकटितमकरोत् सम्प्रदाये निवृत्ते ।
तं नित्याकुण्ठशक्तिं वृत्तनिखिलनिजाज्ञानसंसारहारं
स्मृत्वा स्मृत्योपकारं प्रमुदितमुदितः स्वप्रभुं सन्नमामि ॥ १ ॥

रश्मिः ।

तापिनीये 'गोपिकानयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने' इति नमनं फलात्मकस्योत्तवा यद्यपि गिरिधराय
चेति साधनरूपमुक्तम् । तथापि 'नमः प्रणतपालाये'त्यस्यानुक्तौ बीजं स्वरूपमर्यादां परित्यज्य भक्त-
मनोरथपूरकत्वेनोपकारस्मरणम् । पादसेवनवत् । श्रुतिशिरःस्विति वेदान्तेषु । 'ऋचां मूर्धानं
यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोथर्वणां मुण्डमुण्ड'मिति वाक्यात् । संराजत इत्यपि श्रद्धाविशेषात् ।
प्रथमं पादसेवनं पश्चादन्याङ्गसेवनमिति ॥३॥ श्रीकृष्णेत्यादीति । तेन सिद्धान्तेनाधिकं बरीवर्ति
तथापि हरेर्नृणां नृभिर्न वक्तव्यम् । यत एतावतैव परमार्थसिद्धेऽधिकवचने गौरवादिति भावः ॥४॥
निवेदयन्त इति यत्करोषीति स्मृतेः । कर्तव्यमिति ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते कृतमङ्गलानि
शास्त्राणि प्रथन्त इति सदाचारात्कर्तव्यम् । प्रसादमिति तोषम् तेन 'अलौकिको हि वेदायो
न युक्त्या प्रतिपद्यते । तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात्परमात्मनः' इति श्रुत्युक्तसाधनसम्पत्तिम् ।
स्फुट इति । श्रीमदाचार्येति श्रीमन्त आचार्याः श्रीमदाचार्याः व्यासचरणाः । आचार्यभाष्यपक्षे ।
श्रीमद्रोस्वामिभाष्यपक्षे श्रीमदाचार्याः श्रीवल्लभाचार्या इति सर्वं शुभम् ॥ ५ ॥

स्वयं मङ्गलश्लोकान्निबध्नन्ति स्म श्रीहृदयित्यादिना । प्रकृतिजातिः । 'ब्रह्मैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियति-
युता स्रग्धराकीर्तितेयम्' । बालश्रासौ कृष्णः सदानन्दः 'नैश्विन्यं वाचि पूर्वव'दिति सुषोभिन्वा 'समान
एवं चाभेदा'दिति सूत्रेणावतारिवदवतारेपि मङ्गलघटकत्वेपि स्वसेव्यस्वरूपनमनात्मकमपि मङ्गलमिदम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

मायावादादिवादैर्व्यवहितमिव तं ब्रह्मवादं प्रकाश्य
श्रीमत्कृष्णाङ्गया तद्रतिपथं उदितो दैवजीवावनार्थम् ।
यैस्तान् श्रीकृष्णरूपान् प्रथितगुणगणान् श्रीमदाचार्यवर्षान्
ध्यायं ध्यायं नमामि स्वहितमवहितस्तत्कृपादृष्टिदृष्ट्या ॥ २ ॥
श्रीविद्वलेशाङ्घ्रिसरोजप्रभं नमामि यैर्दासजनावनाय ।
पुष्टिप्रकारः श्रुतिगूढ आविष्कृतो निरस्तोन्मदमायिवादः ॥ ३ ॥

रश्मिः ।

भाष्योक्तबालत्वात् तस्य तुरीयत्वात् सोभिभेदिति श्रुतिलिङ्गात् । तदुक्तम् 'ब्रजे स बालको भूत्वा क्रीडते
पुरुषोत्तम' इति श्रुतेः । किञ्च एकादशस्कन्धविशाध्याये 'यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विधया ।
मदचोपासनाभिर्वा नान्यैर्योगं स्मरेन्मनः' इति वाक्ये ईश्वरवाक्ये मदचोपासनाया वाग्यस्मारकत्व-
पर्यवसानात् । यथा 'शङ्खचक्रं मृदा यस्तु कुर्यात्तप्तायसेन वा । स शूद्रवद्विद्विष्यार्थः सर्वस्वाङ्घ्रि-
कर्मणः' इत्यत्र तप्तायसे निषेधपर्यवसानं तद्वत् । न च तप्तायसेन शङ्खचक्रादिकृतौ निषेधपर्य-
वसानमिति वाच्यम् । निषेधोस्तु तत्पर्यवसानं तु दुर्घटमिति । एवं स्वसेव्यस्वरूपेन्यत्रापि बोध्यम् ।
अतिगूढमिति 'गूढं ब्रह्मणि वाच्यम्' इति तृतीयस्कन्धात् सोश्रुते सर्वान्कामानित्यतिगूढम् ।
निवृत्त इति ननु 'तदुक्तमपि दुर्वाधं सुर्वाधं स्याद्यथा तथा । तन्नामाष्टोत्तरशतं प्रवक्ष्याम्यखिलाष-
ह'दिति तच्छरणानां कथं सम्प्रदायनिवृत्तिरिति चेन्न, श्रवणादिसरणिरूपसाधनसत्त्वेपि निःसन्देह-
साधननिवृत्तेः निःसन्देहसाधनसहिते सम्प्रदाये निवृत्त इत्यर्थः । विशेषणनिवृत्तिरत्र सिद्धी ध्वस्त
इत्यत्र शिक्षामात्रध्वंसे शिक्षिनि ध्वस्त इति प्रयोगवत् । समन्यवापदेशेन नित्याकुण्ठशक्तिर्न
सिध्यति । अविरोधोपदेशेन वृत्तानां निखिलानां निजानामज्ञानेन, अत्र सेवासंसारोऽज्ञानमपि निषिद्धम् ।
यः संसारोऽहन्ताममतात्मकः सेवासम्बन्धशून्यः तस्य हरमेव हारम् । साधनोपदेशेन उपकारं
स्मृत्वा । फलोपदेशेन प्रमुदितमुदितः स्वप्रभुमात्मसहितं श्रीमदाचार्यं सप्तस्वरूपिणम् ॥१॥ इत्ये-
केन श्लोकेन मङ्गलासिद्धौ प्रचुरतरविघ्ननिवारणाय श्लोकान्तराण्याहुः । मायावादादीति । आदिना
सप्तवादा अन्ये । शङ्करभास्करमाध्वविज्ञानेन्द्रभिधुरामानुजशैबनिम्बार्काचार्यप्रणीताः । इचेति । इव
वर्तमानम् । प्रकाशयेति भगवदाज्ञया मृष्ट्यर्थं भगवत्सङ्कोपने शङ्कराचार्यादिभिः कृतं भगवदाज्ञया
यदा रामानुजमाध्वाभ्यां भगवत्सङ्कोपनेऽवृत्ते स्वयं मुखारविन्दरूप आविर्भूय 'नृप स्वात्मैव बलम' इति
वल्लभाचार्यः, भगवत्सङ्कोपननिवारकं ब्रह्मवादं प्रकाशयेत्यर्थः । रतिपथमिति भक्तिमार्गे 'श्रद्धा
रतिर्भक्तिरनुकमिष्यती'ति वाक्ये भक्तिरुक्ता सा त्वानन्दधर्मो न मार्गः । मार्गत्वार्थमन्यसम्मेलने प्राप्ते
भूमौ श्रद्धा तस्यां प्रेमलक्षणभक्तिसम्बन्धे आध्यात्मिकरतिपथं यथा भवति तथोदितः स्वहितं अग्नि-
रूपम् । 'नास्ति वह्निसमं मित्रं' इति वाक्यात् । तत्कृपादृष्टिर्ज्ञानेन्द्रियं तद्दृष्ट्या तत्सम्पादितज्ञानैः ।
प्रकृतिजातिः । स्रग्धराञ्छन्दः ॥२॥ 'आत्मा वै पुत्रनामासी'ति प्रसूनमनेनैव श्रीगोपीनाथजिन्नमसिद्धौ
श्रीगोस्वामिनो नमन्ति श्रीविद्वलेशेति । उपजातिः । शार्दूलविक्रीडितं ऋन्दः । पुष्टिप्रकार
इति । यद्यपि विद्वन्मण्डने मर्यादायामेव स्वयमित्युक्तम् । भक्तिर्हंसे च भक्तिमार्गः श्रवणादिसरणिरूप
इत्युक्तम् । तथापि गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय इति ज्ञापितम् । श्रुतिगूढ इति । 'तत्त्वा यामि
ब्रह्मणा बन्धमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः । अद्देडमानो वरुणेह बोध्युरुशस मा न आयुः प्रमो-

१ रसमावेकत्र रतिपथमिति क्रियाविशेषणमन्यत्र रतिपथ उदित इति पाठद्वयमाहृतम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

श्रीविद्वलेशपादाब्जप्रसादवरलामतः ।
 प्रकाशमणुभाष्यस्य वितन्वन् पुरुषोत्तमः ॥ ४ ॥
 तदीयचरणद्वन्द्वे निवेद्य कुसुमाञ्जलिम् ।
 तदीयदाखलाभाय प्रसादममिवाञ्छति ॥ ५ ॥
 यदत्र सदसद्वापि जीवबुद्ध्या मयोदितम् ।
 तत् क्षमन्त्वपराधं मे कृपया दीनवत्सलाः ॥ ६ ॥
 प्रलयजलद्वष्टेर्गोत्रजस्यावनाय
 स्वमृदुकरनखाग्रन्यस्तगोवर्धनाद्रिः ।
 वदनविधुमयूखैर्नेत्रतापं निजाना-
 मपनयतु हृदीशः स्थापयन् पादपद्मम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यचरणान्त्वचन्द्रनिरस्तहृदयध्वान्तस्य श्रीपीताम्बरा-
 त्मजस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे चतुर्था-
 ध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥ ४ ॥
 समाप्तोऽयमध्यायः सम्पूर्णश्चायं भाष्यप्रकाशः ।

रश्मिः ।

पी'रित्यत्र गूढः । श्रुत्यर्थस्तु तत् तस्मात् त्वा त्वां यामि पद्भ्यां सेवे ब्रह्मणा हिरण्यगर्भेण वन्द्यमानः
 अमः सुः, वन्द्यमानम् । मानसीसेवापूर्वैः । मानसीसेवां ब्रह्मा प्रत्यहं करोतीति यजमानो दैशिक-
 स्तत् तच्छब्दार्थमाशास्ते हविभिः मदन्नोपासनासम्बन्धिभिः अहेडमानोऽनादरकर्ता न छन्दसः
 अनात्मनिवेदीति । न अनादरकारयिता । आत्मनिवेदनं गुरुणानादरेण कार्यत इति । हे वरुण
 इह मूमौ बोधी ज्ञानी उरु बहु शंसमानः कथकः आयुरन्नं प्रमोषीः चोरय । मा क्लेदय । वर्णलोपः ।
 यद्वा शंस त्वं कथय नोऽस्माकं आयुर्मां प्रमोषीरिति । 'नायमात्मा प्रवचनेने'ति श्रुतौ गूढः ।
 येन आविष्कृतः । निरस्तेति निरस्त उन्मदमायिवादः येन स निरस्तोन्मदमायिवादो
 भवतीत्येव ॥ ३ ॥ श्रीविद्वलेशेति । अनुष्टुप्जातिच्छन्दस्तु वितानं वितानमाभ्यां यदन्यत्पदाभ्यां
 समानिकाप्रमाणिकाभ्यां अन्यत् तद्वत् वितानं नाम, स्तुतो विद्युन्मालादिस्योखिलेभ्यो यदतिरिक्त-
 मनुष्टुप् वृत्तं तदेव वितानं वृत्तं बोध्यम् । पितृदेवो भवेति श्रुतेर्गोस्वामिमात्रो विषयः । यद्वा
 श्रीविद्वलेशाश्च पादा आचार्यपादाश्च अब्जश्चन्द्रः तुरीयश्च श्रीविद्वलेशपादाब्जाः तयोस्तेषां
 वा प्रसादवरः ग्रन्थकरणप्रतिभा तस्य लाभतः ॥ ४ ॥ तदीयेति । तदीयदास्येति । कीर्तनमक्तेः
 श्रेष्ठत्वेपि रतिपथ उदित इति कथनात्पथि स्थित्यर्थमुक्तम् । 'भवाम दास्य' इति पञ्चाध्यायीवाक्यात् ।
 प्रसादमिति । प्रसादं दास्यफलम् । 'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाये'ति वाक्यात् । 'भक्तिं
 लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यत' इति । तेषु प्रसादे स्ववाञ्छोक्ता । वाञ्छि इच्छायां स्वा. प. से.
 अनुष्टुप्जातिः छन्दस्तु वितानम् । उक्तलक्षणम् ॥ ५ ॥ यदत्रेति । अत्रेति भाष्यप्रकाशे । जीवबुद्धेति
 जीवन्मुक्तजीवबुद्ध्या । क्षमन्त्विति । आचार्यादयः बालास्तद्वंशीया वा । ग्रहणधारणापटुर्बालः
 न तु स्तनन्धयः ॥ ६ ॥ प्रलयजलदेति । अतिशकरीजातिः । छन्दस्तु मालिनी । 'ननमयययुतेयं
 मालिनी मोगिलोकैः' । स्वमृदुकरेति । विद्वन्मण्डनानुसारेण । यतु 'इत्युक्तैकेन हस्तेन कृत्वा
 गोवर्धनाचलम् । दधार लीलया कृष्णदन्त्राकमिव बालक' इति वाक्ये स्वमृदुकराग्रन्यस्तगोवर्धना-

रश्मिः ।

द्विरुक्तसत्र नखगुणो विहितः । धदनं विधुश्चन्द्रः तस्य अयूखैः किरणैः । नेत्रतापं नेत्राभ्यां
 दृष्टानामन्यथाकरणेन शब्दबलविचारकाणामस्माकं यो नेत्राभ्यां तापः तमीशः हृदि पादपद्मं
 स्थापयन्नपनयत्वित्यर्थः । उपकारस्मरणेन पादसेवायुक्तम् ॥ ७ ॥ इति

श्रीविद्वलेशपादाब्जप्रसादवरलामतः ।
 रश्मि प्रकाशे व्यतनोत्सचमत्कृतिमीश्वरः ॥ १ ॥
 पौनःपुन्यं च रभसो भ्रमादिः क्रोडया कृतः ।
 सोढव्यः कृपया सद्भिर्गूढत्वात्सेश्वरादपि ॥ २ ॥
 ब्रह्मज्ञः कृतकृत्यश्च हृदीश्वरज्ञ एव च ।
 कृतार्थश्च प्रमाणज्ञस्तत्कृतिं ज्ञानुपैश्यत ॥ ३ ॥
 एतेनास्मत्कुलपतिः श्रीगोपीजनवल्लभः ।
 श्रीमदाचार्यवर्यश्च नित्यलीलास्थतजनः ॥ ४ ॥
 भीतो भवतु ज्ञात्वा मामाचार्यकुलसम्भवम् ।
 श्रीदामोदरजित्पुत्रौ द्वौ श्रीविद्वलरायजित् ॥ ५ ॥
 श्रीगिरिधारिजिज्ञैव तत्पुत्रो (श्री)रघुनाथजित् ।
 श्रीगोविन्दरायजित् तत्पुत्रो (श्री)विद्वलरायजित् ॥ ६ ॥
 श्रीगोकुलोत्सवो भ्राता श्रीगोपेश्वरजिदहम् ।
 तत्पुत्रस्तु प्रकाशेस्मिन्नरश्मि तु वितनोमि ह ॥ ७ ॥

इति श्रीविद्वलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीदामोदरजिज्ञाश्रीयेण
 श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण सम्पूर्णवेत्त्रा विद्वलरायजिज्ञाश्रीय-
 गोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता कृते भाष्यप्रकाशस्य
 रश्मौ चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः
 सम्पूर्णतामगमत् ॥ ४ ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयमध्यायः । समाप्तश्च रश्मिः । सेवानवसरे दैवीजीववाचनार्थमयं ग्रन्थः स्वयं गोपेश्वरेण
 लिखितः श्रीगोवर्धननाथद्वारे । श्रीस्तु । मिति चैत्रशुक्लत्रयोदशी । संवत् १८९७ । मङ्गलवारे । लेख-
 कपाठकयोर्दीर्घायुः । मङ्गलमस्तु । एतावतो ग्रन्थस्य श्लोकसङ्ख्या ८४२४ अष्टसहस्रचतुःशतचतुर्विंश ।
 अध्यायचतुष्टयस्य श्लोकसङ्ख्या ४२६६६ द्विचत्वारिंशत्सहस्रपदशतषट्षष्टिः ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु.

परिशिष्टम् ।

श्रीगोपेश्वरजिह्विष्टसप्ततिपत्राणि भावनाप्रयादिकं संकल्प्य रश्मौ शोधपत्रेषु निवेशितानि, अनुपलब्धपत्रसहादते तान्यत्र मुच्यन्ते ।

प्रतिमादिष्वावाहनेन सन्निहिते विभूतिरूपे तद्भावनं पूजामार्गं । भक्ति-
मार्गं तु भक्त्या तत्र प्रकटे तथा । (भाष्यम् । अ० ४ पा० ३ अ० ४ सू० १६) ।

यथा पूर्वकाण्डतात्पर्यं ब्रह्मणीत्यज्ञात्वा कर्मण्येव तात्पर्यमवधार्य तात्पर्यभ्रमेण यजतां स्वर्गाद्यनन्तरं पुनरावृत्तिः, तथात्रापि प्रतीकालम्बनानां तात्पर्यभ्रमेण तथोपासनात् तत्तल्लोक-
भोगोचरमावृत्तिः । * अवतारयन्ति एवं ज्ञानेत्यादि । * आवाहनेन सन्निधानं च 'अप्स्रमौ हृदये सूर्य' इत्याद्युक्तस्य नित्यसन्निधानस्याप्युपलक्षकम् । तथा च प्रतिमादिष्वपि शास्त्रप्रामाण्यात् कथञ्चन तत्तद्रूपसन्निधानमेव तत्तत्फलदानादिप्रयोजकं, न तु बुद्धिमात्रम् । (प्रकाशः) ।

अप्रतीकालम्बनान् तथा चेत्यादि । षडङ्गवेदस्य ज्ञेयत्वेन लन्दोवत्सूत्राणि भवन्ती-
त्यभियुक्तोक्तेः सूत्रेष्वपि षडङ्गनाभिधेयनिर्णयादप्रतिकूलस्मरणालम्बनानित्यर्थो भवति, पुराणमते तु वक्ष्यमाणगारुडवाक्याद् देवतादीनित्यर्थो भवति । तथा च श्रौते मते प्रतिकूलत्वं भ्रमविषयत्वमतस्मिन् तत्त्वं तेनोप समीपे स्थित्वा यथायोग्यान्तर्गतस्मरणस्य करणमित्यर्थः । पूर्वकाण्डेत्यादि । भक्तेस्तात्पर्य-
विषयत्वस्य पुरस्तादुक्तत्वेन तद्विषयस्यापि तात्पर्यविषयत्वम्, 'धर्मो यस्यां मदात्मकः' इत्येकादश-
स्कन्धात् । अभिधा तु हीदमित्यतया धर्मेषु सृष्ट्यादिकर्तृत्वेपु 'ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती सन्दिशेते परस्थिते' इति भाष्यात्, न मदात्मके धर्म इति, तथा च 'वेदासौ रामकृष्णयो'रिति श्रुतेः रामकृष्ण-
सम्बन्धी सृष्ट्यादिकर्तृत्वादिर्वैदार्थ इत्यर्थः । सुबोधिन्युक्तपद्मभोगेष्वपि शक्तिः । अवतारयन्तीति । न्यूनतारूपनिग्रहस्थानरूपदोषाभावाय तथेत्यर्थः । अप्स्रमौचित्यादि । इदं पाक्यं स्पृश्यर्थसारे विष्णोः, 'अप्स्रमौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च । शालिग्रामे च चक्राङ्के परे मुद्रासु देवताः । नित्यं सन्ति हिरण्ये च ब्राह्मणेपु च गोषु च' इति ।

तत्तद्रूपेत्यादि । अत्र समासः श्रीप्रभूणां श्रीमद्गोपीनीयजितां व्रजराजजितां वा श्लोकानां ग्रन्थे प्रभुध्यानपद्यावतारसेवकदेवीभाग्याभिनन्दनपद्यभजनानन्दानुभवप्रतिबन्धकत्वभातकर्मपरित्यागवत्त्वान-
सन्ध्याजपहोमब्रह्मयज्ञतर्पणाभ्यवहारपानजीवनप्रकारः, ततः श्रीकृष्णसेवार्थत्वानालौकिकमधनजपनाम-
प्रशसाप्रातःकृष्णनमनसन्ध्याहोमब्रह्मयज्ञगौणकालिकलौकिकवैदिककर्माभ्यवहारपानतत्फलस्त्वोच्छिष्टदान-
विधितद्ग्रहणप्रतिमाभावनास्वरूपवर्णनशृङ्गारस्वरूपवर्णनोत्सवभावनासेवाविधिसेवाश्लोकपश्चात्तल्लोकस-
म्बुद्धिपूर्वकनिमग्नयमुनाजिञ्जरणमार्गत्रयोदशश्लोकनिरूपके भक्तिमार्गीयरूपसन्निधानस्य फलदाना-
वेच्छ । तथा हि । तदर्थं पूर्वं व्यसनरूपभक्तेः भक्तिमार्गं तु भक्त्या तत्र प्रकट इति वक्ष्यमाण-
भाष्यात्सन्निधानकारणीमृताया जन्या विविधा भावा निरूप्यन्ते गोस्वामिभिः सौन्दर्यमित्यादिना । सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितं स्त्रीशूद्रभावात्मकं पुरुषश्च पुनस्तदन्तरगतं प्रावीविशत्स्वप्रिये ॥

संश्लिष्टाद्युभयोर्वर्मा रसमयः कृष्णो हि तत्साक्षिकं रूपं तन्नितयात्मकं परममिष्येयं सदा वल्लभम् ॥१॥

यद्यद्वल्लभाष्टकादौ रूपं निरूपितं तदेव बुद्धिप्रवेशसौकर्यापत्रोपनिबद्धं निरूपितं, 'मद्रक्त-
पूजाम्यधिका', 'आचार्य मां विजानीयात्', 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादिवाक्येभ्यः । आदौ

१ 'अष्टसप्ततिपत्राणि शोभितानि । ब्रह्मनिरूपणमदृशणीयं केनापि' इति ग्रन्थप्रणेतुराह्ना श्रीदत्ताक्षरेण लिखितानि

वस्तुनिर्देशात्मकमङ्गलार्थमत्र पुष्टिरूपं स्वयं ज्योतीरूपं ध्यानविषयत्वेनोक्तं भविष्यति । परं विशेष्यम् । एतद्दीकायामपि ज्ञेयम् । परमभिध्येयमिति परं विशेष्यम् । कथंभूतं परं तद्विद्ययात्मकमुभयं साक्षिकं रूपं चेति त्रितयात्मकम् । कथंभूतं साक्षिकं रूपं ब्रह्मभं अत्यन्तानुग्रहभाजनरूपम् । ब्रह्मज्ञान-संवरणेन भातीति तं ब्रह्मभम् । सदा ब्रह्मभं नाम यस्येति वा । 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं'मित्यन्यत्रेति ज्ञापनाय । कथंभूतं तदुभयं रसमयो बभौ हीति । कस्यां सत्यामिति चेन्न; उभयोः संसृष्टौ सत्याम् । कथं रसमयत्वमित्यत आहुः कृष्ण इति । कृष्णो हि प्राचीविशत् । किम् । 'तदेव कदाचित्पर-मसौन्दर्यं स्वगतं (प्रकटं) करिष्यामीति साकारं प्रादुर्भूतं सच्छ्रीकृष्ण' इत्यादिनिबन्धाद्युक्तदिशा साक्षात्प-ष्ठिरसामृतप्रेप्सुब्रजवररत्नकदम्बेषु खलावण्यामृतदित्सयानिर्वचनीयानन्दरसमयः श्रीकृष्णः प्रादुर्भवेति सौन्दर्यम् । कथंभूतं सौन्दर्यम्, निजस्य स्वस्य हृद्गतं मनोगतं, पुनः कथंभूतं, स्त्रीगुणभावा-त्मकम् । अस्ति भावद्वयं भगवति, पुम्भावः स्त्रीभावश्चेति । एवमेव श्रीमुख्यस्वामिन्यामपि भावद्वयम् । तदुक्तं 'यथा हि सर्वभावात्मा कृष्णः सापि च तादृशी' इति श्रीहरिरायैः । ब्रह्मत्वे सर्वभावात्मत्वं 'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति' श्रुतिभ्याम् । यद्यपि द्वितीया श्रीयमुनाजित्तत्त्वपरा तथापि तत्पौराणं मतं, श्रौते मते ब्रह्मानन्दत्वं यत्र तत्र श्रुतिप्रवृत्तिः । पुनः कथंभूतं प्रकटितं, रसाभासप्रसक्तिः पुद्गले स्त्रीद्वये चात उभाभ्यां प्रयत्नं स्थितं रूपद्वयं प्रकटितं स्वेच्छया । तद्भावद्वयं श्रीमदाचार्यवर्यस्वरूपम् । तृतीयं साक्षिकं रूपं अनुभवित् । तथा च 'द्वौ सुपणौ भवत' इति गोपालतापनीय उक्तौ तावैतौ भवतः । कथंभूतं पुरुषम् । चः समुच्चये । पुनस्तदन्तरगतं स्वामि-न्यन्तगतं भगवद्रूपं स्त्रियाः पूर्वमुक्तत्वात् । केति चेन्न, स्वप्रिये । कदेति चेन्न, सदा । तादृशं रूपं ध्येयम् । 'अधिश्चकार तत्त्वार्थदीपं भागवते मह'दित्यभिरूपभावा भक्तिजन्या भक्तिः स्मरणदिरूपा अत्र । अत्र विरहाभिः स्वयंज्योतीरूपः स्वप्रिये यदरसलज्जानात्मकं तत्रानन्तमानन्दं ब्रह्म पूर्णानन्दरूपं स्वगतभक्तविरहशामकं स्वगतसंयोगश्रीमदाचार्यगतविप्रयोगात्मकं यच्छ्रीकृष्णः प्राचीविशत्तत्र विरहोभिः ज्योतिर्भिः हृद्दर्शनीभिः पूर्णानन्दोप्यानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपैः सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियवि-वर्जितश्चातो दर्शनाभिरूपः श्रीमदाचार्यसुखभेदः । गर्भोपनिषदि 'दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोती'ति श्रुतिः । त्रिविधात्मस्वात्मोपनिषदुक्तं द्वयमुक्तम् । तृतीयो हि परमात्मन्तरात्मबाह्यात्मसु बाह्यात्मा । गर्भोपनिषदुक्तेषु द्वयमुक्तम् । तृतीये ज्ञानाभिदर्शनामिकोष्ठाभिषु कोष्ठाभिस्तद्रूप इतरतु विरहाभिकारणं, तेन कारणविशिष्टो विरहाभिर्बाजं वृक्षविशिष्टमिव । तथा च भाष्यम् 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाद्' इत्यधिकरणस्य ध्यानादिसमाध्यन्तरूपनिर्दिध्यासनरूपं मनसि सर्वतो निवृत्तव्यापारे स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवरूपं ब्रह्म, इदमेव ब्रह्मज्ञानमिति, स्वयं प्रकाशत्वाद्ब्रह्मैव ब्रह्मज्ञानम् । मनसा तज्जनेपि तथा मनसः सत्यज्ञानात्मकत्वेनाक्षरब्रह्मत्वात् । अत एवाधिकरणसप्तम्यन्तं मनःपदमुक्तम् । 'स मानसीन आत्मे'ति-श्रुतावप्येवम् । एवं सति 'यतो वाच' इत्यस्यां पुष्टिश्रुतौ 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यनेनाप्युक्तम् । पुष्टिजीवस्य तु ब्रह्मोपनिषदि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुध' इति । 'सूक्ष्मं प्रमाणातश्चे'ति सूत्रभाष्ये उदाहृता पुष्टिश्रुतिः । एतन्नर्थं ध्यानविषयत्वेनोक्तमितरतु ऋतेऽर्थं प्रतीयमानत्वान्माया शरीरादि । यतु 'आचार्यैत्यवपुषा स्वर्गति

१ विप्रयोगप्रधानेच्छयाविर्भूतम् । अन्तर्विप्रयोगे बहिःसंयोगे आत्मिर्भावार्थाकारात् सुबोधिन्यादेः । २ कर्मदम् । ३ सूक्ष्मात्मा । ४ परमात्मा ज्ञानाभिरूपः तत्र परमात्मा आत्मोपनिषदुक्तो ज्ञानाभिः गर्भोपनिषदि । ५ परमत्वनेनेतिदर्शनं सूक्ष्मात्मा गर्भोपनिषदुक्तः । ६ अन्तर्गामी । ७ आत्मोपनिषदि आत्मत्रैविष्याद् गर्भोपनिषदभिः त्रैविष्यादेतन्नयम् । अत्र तीत्यभिः ।

व्यनक्तीत्यत्र वपुस्तदिदं, यद'प्याचार्यं मां विजानीया'त्तदपि वपुरात्मा चेदम् । अत्र श्रुतिसूत्रगीताः प्रभूत्सवे वक्तव्याः ।

एवं श्रीमदाचार्यध्यानमुक्त्वा मूलस्वरूपादेरे निरूपणीयतया समानयुक्तोक्तावताररूप-गोविन्दभजनकर्त्रीध्यानमाहुः अहो इति ।

अहो भाग्यवती देवी यशोदा नन्दगेहिनी ।

गोविन्दमङ्गमारोप्य मुखं चुम्बति सादरम् ॥ २ ॥

'स्त्रीद्वारा पुरुषे भवे'दिति सुबोधिन्यां भगवदाश्रयत्वेन स्त्रिया निरूपणम्, मुक्तिपरमानन्दान्यां भजनयोग्यता, 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदा' इति सुबोधिनीकारिकातः । भाग्यवती मुक्तित्वात्, देवी मातृत्वेर्ज्ञाकारात्, तदेवनादिकर्त्री यशोदा । सुबोधिन्यां द्रष्टव्यमेतत् प्रयोजनम् । नन्दः परमानन्दः पुष्टौ निरुद्धत्वात् अतस्तद्देहं निर्गुणम् । गोविन्दमिति एकादशसुबोधिन्यां 'मन्येऽ-कुतश्चि'दित्यादिकविवाक्ये गोविन्दभजनम् । सुखमित्यादि भक्तिरसप्राप्ती । व्यभिचारिभावोयम् । ज्ञानकर्ममार्गसाधारण्यात् । लोकोतरानुभवैकवेद्यापरिमितानन्दवतीत्याहो आश्चर्यम् । आनुमानिकाधि-करणेऽत्र श्रुतिः, 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशा'दिति सूत्रं, गीता 'जन्म कर्म च मे दिव्यमि'ति ।

'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति श्रुतेर्जीतब्रह्मज्ञानाः पञ्चभिः श्लोकैः समविधस्नानेषु पञ्चानां नियतत्वेन मध्वस्नानस्नानयोः मध्वस्नानकाले पद्मस्नानमिच्छन्तो व्यसनार्थस्थायां स्नानाद्यभावमिच्छन्ति स्म श्रीराध इत्यादिना ।

श्रीराधे प्रियतमहृत्सङ्गमसद्भातहासरुक्तरलैः ।

भवदीयैः स्नानं मे भूयात्सततं न पाथोभिः ॥ १ ॥

आशीर्लिङ्घटितवाक्याभ्यामिच्छा प्रतीयते 'एकोदं बहु भूयास'मित्यत्र यथा । इयमेव मुख्या-शीरिति । ब्राह्मणकरोरितैरभोभिस्तद्भासस्वतरलाह्वानकैः स्नानं पञ्चरात्रोक्तप्रकारेण । अत्रेदं ज्ञेयम् । सर्वोत्तममार्गं यथा ब्रह्मभावं गतस्यान्यथाकर्तव्या (आश्रमधर्माः) इति दृष्टान्तो भजनानन्दानुभवे प्रयोदशगुणविषये वर्णाश्रमाचारधर्मत्यागे । तत्रेदं वक्तव्यं तृतीयाध्याये चतुर्थचरणे 'अन्तरा चापि तु तद्दृष्टे'रिति सूत्रे पुरुषोत्तमदृष्टेः पुंसोन्तरा फलसिद्धौ व्यवधानरूपा आश्रमधर्माः । 'एतद्द स्म वै ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्मायं लोक' इति श्रुतेः । तत्र दृष्टान्तानुरोधेनान्यथा निरूपणं प्राप्नोति ब्रह्मभावात्पूर्वं भजनानन्दात्पश्चात् । अत्रापि ब्रह्मभूतो भक्ति लभेदिति स्वरूपवर्णने वक्ष्यमाणत्वाद्ब्रह्मभावं गतस्याप्यन्यथा निरूप्यन्ते पुष्टौ, अत्र श्रुत्यादि । 'रहस्यं श्रीराधेत्यखिलनिगमानामिव धन'मिति । आधर्वणानां पुरुषबोधिन्यां 'सुपुतौ नीलग्नीः सिद्धा स्वप्ने सिद्धा च रुक्मिणी । लीलायां राधिका सिद्धा नातः साधनपद्धति'रिति, 'यैरयं चन्द्रमसि स्वधाभिस्तां धारासो अनुदशा यजन्ते' 'राधोर्गुता अमृतस्य पत्नी'रिति, 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति, 'क्रिया सा राधिका देवी'ति च स्तोत्रादौ । फलाध्याये नित्यलीलासूत्रे यत्र 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति श्रुतिः, गीतायां च 'यद्वाद्भित्तमितमत्सत्वं श्रीमद्वर्जितमेव वा । तत्तदेवावगन्तुं त्वं मम तेजोऽशम्भवम्' इति । अत्रैकमेवा-द्वितीयं ब्रह्मेत्येकत्र ब्रह्मणि 'स्वामिन्यो गुरव' इति वाक्याद्गुरुपसत्त्वा वक्ष्यमाणमिति श्रीराध इति आत्मत्रिते विहायोक्तं, तथोक्तं तृतीयाध्यायसूत्रीयार्थसूचितदृष्टान्तानुरोधे, श्रुतौ तावच्छान्दोग्ये पञ्चमे प्रपाठके तृतीये वा मधुविद्यायां 'तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यभिना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति

१ समान एवभावेदादिति सूत्रम् । २ उपलक्षणं भजनानन्दप्रतिबन्धावस्थायाः । ३ न पाथोभिर्भूयादिति द्वितीयं वाक्यम् । ४ तृतीयसूत्रे वाक्यमस्ति । ५ राधा उ गुणां गुरोर् च गतिहिंसयोर्विवाहिरात्मनेपदी सेद् ऐदित्वात्वादेनेद ।

न पिबन्त्येते देवा अमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्तीतिवत् कृष्णे व्यसनिन इच्छन्ति । तथा हि प्रथमममृतं रोहितरूपवदमृतं, प्रकृते इयुक् । तत्राभिसुखमप्राप्तय आचार्याः स्वामिन्यो वा गुरुत्वात् । उपजीवन-व्याकरणं 'न वै देवा' इत्यादिना समानमुपयय । 'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेरित्यप्रायमर्थः स्पष्टः । प्रियतमहृत्सङ्गमसञ्ज्ञानहासरुक्तरलेर्भवदीयैर्मै स्नानं भूयात् दृग्गोचरैः स्नानाभावजा-तृप्तिविरहो भूयादिति भावः । तत्राभिसुखा वसवोत्राचार्यमुखाः स्वामिन्युपाया वा कृष्णे व्यसनिनः । न चेदमप्रयोजकम् । वेदविरुद्धकरणिणां पापण्डित्वेनाप्रापि पापण्डित्वापत्त्या तत्परिहारकस्यास्य प्रयोजकत्वात् । भक्तिहंसेपि स्वयमुक्तं 'आधुनिकानामुपदेष्टृणामपि खेहाभावेपि तन्मूलभूतानां प्राचामाचार्याणां तद्वत्त्वेन भगवदनुग्रहीतत्वेन सर्वोपपत्तेरिति । यद्वा । 'एवं सति भक्तिमार्गीयमन्त्रप्रकारेषु स्नेह एव नियामकः स्नेहवतां कर्मणि विधिवत्, तद्रहितानां तु तद्रुक्ता उपदेश एव, स च वेदाविरुद्ध एव इति' ज्ञेयमिति । × ×

+ संज्ञाः स्युरिति भूवादयो धातव इति सूत्रस्य । गोविन्दनामस्तोत्रे स्वयं श्रीविठ्ठलेश्वराः 'शशस्त्रि-यासितापाङ्गध्यानावस्थितचेतसे । प्राप्ततन्निजरूपाय गोविन्दाय नमो नमः,' इति ।

भाषेत्यादि ।

भाषात्मकत्वात्तद्रूपं गुणातीतं सदैव हि ।

ध्येयं तद्रूपभावेन शुद्धैर्जीवैर्न भ्रान्त्यथा ॥ १५ ॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्मे'ति सर्वोपनिषच्छ्रुतेष्वनुष्वंशेषु त्रयोशा 'अग्राह्य'मित्यादिश्रुतौ ग्राह्य-भिन्नप्राह्यसदृशादिभाषाश्राद्धात्मका अपि तुर्यांशस्तु देव आनन्दात्मा स प्रेधाभावस्तदित्यम् । भावो हि श्रीकृष्णगोपिकारसंयोगभावः, स च सत्ता । भक्तिभावः शृङ्गारभावश्च । भू सत्तायां भावे घञन्तमतः सत्तार्थः । भक्तिरहस्यभजनमित्यादिश्रुतेर्भाषो भक्तिः । विभावादिभिरभिव्यक्तः स्थायिभावश्च रत्यात्मा । तद्रूपस्य सत्ताभावात्मकत्वं तद्रूपतां प्राप्तमिति पूर्वोक्तं कादाचित्कम् । भक्तिभावात्मकत्वं च साधनाध्या-यस्य तृतीये पाद उपपन्नसूत्रे स भगवानेव लक्षणमसाधारणो धर्मो यस्य स तलक्षण उद्भटभक्तिभावः, स एव पुरुषार्थः, स्वतन्त्रपुरुषार्थरूप इति भाष्यम् । अत्र भगवान् लक्षणेन उद्भटभक्तिभाव इति चेत् 'सर्वोभेदा-दन्यत्रेम' इति सूत्रे 'रसो वै स' इति श्रुत्या 'सर्वरस' इति श्रुत्या च सर्वरसात्मकत्वं ब्रह्मणो निर्णीतमिति भाष्यमस्तु । भक्तिरसो गुरुदेवादिषु रतिः । 'स्फुटं चमत्कारतया वत्सलं च रसं विदु'रिति रससर्वस्वकारः । अयं भावः । आत्मा सार्वदिकं रूपं यस्य स तथोक्तः । भगवान् गोपिकादिभक्ताश्च आलम्बनविभावाः, खेहा-नुकूलसङ्कीर्तनाद्युद्दीपनविभावाः । अनुभावाः मन्दिरोद्यानादयः (खेहीया विविधाश्रेष्ठाः) । सञ्चारिणो वैराग्यप-रितोषादयः । पूर्वोक्ता रतिः स्थायिभावः । 'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशला' इति फलप्रकरणे राजसीनां वाक्यात् । यद्वा तत्रैव सात्त्विकीनां वाक्यं 'यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरित्यादि । ततश्चानुवृत्तिः सेवा स्थायी भावः । 'चेतस्तत्प्रवर्णं सेवे'ति सिद्धान्तमुक्तावल्याः चेतस्तत्प्रवर्णं सेवा, सा च भक्तिः, भक्तिश्रोपपन्नसूत्रे 'भक्ति-रहस्यभजनं तदिहासुखफलभोगनैराशयेनामुष्मिन् मनःकल्पन'मितिगोपालतापिन्युक्तलक्षणा । मनःकल्पनं च मनःसङ्गमनं 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये, मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गामसोम्बुधौ, लक्षणं भक्तियोगस्ये'ति श्रीकपिलवाक्यात् । मनसो गतिरावेगः स स्थायिभावः त्रयस्त्रिंशत्सञ्चारिभावेष्वस्य गणना । काव्यप्रकाशे सञ्चारिणः स्थायित्वमपि । तत्र निर्वेदस्य शान्तरसे स्थायित्वमिव । उदाहरणं तु 'ता नाविद'-न्नित्यादिमानसीसेवायाम् । सैवानन्दधर्मरूपता तु भक्त्युत्कर्षवादे । एवमानन्दरूपस्य तनुविचजसेवानन्तरं

१ इतः परं सप्तपत्राणि नोपलभ्यानि, + अष्टमस्यादिमे संज्ञाः स्युरित्यादिनात्रोपक्रम्यते ।

भवनात् । अक्षरात्मके हृदये मानसीनस्यात्मनः । तत्र च भक्तेर्भवनात् । कामादिति सूत्रे माहात्म्य-ज्ञानसुतेश्वरत्वेन प्रभौ निरुपधिस्नेहात्मिका विहितेति भक्तिविशेषणादुदाहरणोक्ता सा । माहात्म्यज्ञानं तनुवितजा सेवा च सञ्चारिभावास्तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थोभेदज्ञानं 'अन्तरा'सूत्रे मत्तानामदेयम् । अत्र सेवालक्षणस्य विस्तारिकायां टीकायां रतिलक्षणत्वेपि मनःप्रवणता रतिरित्युक्त्या मनःप्रवणता रतिः, चेतः-प्रवणता सेवा, तथा च विभावाद्यभिव्यक्तमनश्चेतःप्रवणता सेवा । अत्र व्यभिचारिणो महावाक्यार्थोभेद-ज्ञानस्य सुपुसिप्रतिमस्य चेतसा ग्रहात् सुषुप्तिश्रित्तप्राप्त्या । चित्तं त्वात्मानमेव सुषुप्तौ पश्यत्यन्यदा तु लीनमिति प्रस्थानरत्नाकरात् । 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने'त्यत्र प्रथमस्य तृतीयपादे सुषुप्तिस्त्वकामरूपो भगवान् इति भाष्यम् । एवं चाकामरूपः कामरूपश्च भगवान् भक्तिशृङ्गाररसयोरालम्बनविभाव इति स्पष्टो भेदः । अस्यार्थस्य व्यभिचारिभावत्वं व्यतिहारसूत्र उपपादितम् । यद्वा 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चे'ति सूत्रे भक्तिमार्गी इत्यादिभाष्यादात्मेत्युपगमनं कटकछापचाराः साक्षात्कृता भवन्तीति सेवाप्रकरणाद्युक्तदिशा ग्राहणं चेति चेतोमात्रप्रवणता विवक्षितात्मातिरिक्तविषयाभावात् ।

तथा च श्रुतयः 'सत्पुण्डरीकनयन'मित्याद्याः अत्र 'सत्पुण्डरीकनयनं मेधाभं वैशुताम्बरम् । द्विभुज'मित्यन्तमालम्बनविभावः । 'गानमुद्राद्य'मितिपाठे उद्दीपनविभावः । ककाराद्यनुकूलो यत्नस्त-त्सम्बन्धिनी मुद्रा वेणुवादनसामयिकी मुद्रा तथाद्यम् । 'वनमालिनमीश्वरं गोपगोपाङ्गनावीत'मित्य-त्रापि खेहानुकूलश्रेष्ठा बोध्याः । 'गोपगोपाङ्गनावीतमि'त्यत्र गोपाङ्गनावीतमुद्दीपनविभावः । किञ्च 'सुरद्रुमतलाश्रय'मित्यत्र सुरद्रुम उद्दीपनम् । सुरद्रुमो वेदार्थः स्वधर्मत्वेन स्फुट इति निर्धर्मकत्वव्यावृत्तिः । 'निर्धर्मको वा भिन्नो वा निरोधं कुरुते यदि, तदा निरोधो व्यर्थः स्यादिति कारिकायाः । 'दिव्यालङ्कारणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यग'मित्युक्त्यालम्बनविभावाः । 'कालिन्दीजलकलोलसङ्गिरामरुतसेवित'मित्यत्र कालिन्दीयुक्त-मारुती सञ्चारिणी 'चिन्तयैश्वरता कृष्ण'मित्यत्र चिन्तनं सञ्चारिभावः । 'मुक्तो भवति संसृते'रितीत्यत्रा-धिकारिणो वैराग्यं सञ्चारिभावो ध्वन्यते । द्वितीयपक्षे उक्तावेगस्य सेवारूपस्य विस्तारिकायां राजगजवर्षादिभिरुपपत्तेः सरस्वतीतीर्थटीकायामभिरामादिभिरुत्पत्तेरुक्तेः महाराजोपचारकरणं राजा प्रतिमादिर्गजः वर्षं बाल्यं वय आदि एतदादिविभावादिः अभिरामादिर्वा । स च प्रथमपक्षवद्वितीयेषु ज्ञेयः । भक्तिरसस्य द्वौ भेदौ संयोगो विप्रयोगश्च तत्र संयोगश्चक्षुर्योगः परस्परसंज्ञापाद्यनेकभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येकविध एव गण्यते अभिलाषविरहेष्यां प्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधो विप्रयोगः ।

ननु मनःप्रवणता रतिः कामः, सोपि ब्रह्मात्मनिष्ठतया भक्तेच्छाविषय इति हि आत्मातिरिक्त-विषयाभावात् सुषुप्तिवत् स्नेहोस्तु चेतःप्रवणतात्मकत्वात् । चेतसो मनोभेदत्वात् । अन्यथा सुषुप्ति-वदग्रहणदशायां 'मनसैवानुद्रष्टव्य' इतिश्रुते 'भक्तिरहस्यभजनं तदिहासुत्र फलभोगनैराशयेनामुष्मिन् मनः-कल्पन'मिति श्रुतेश्च या मनःप्रवणता तस्या अपलापप्रसङ्गः, सुषुप्तिस्तुल्यत्वेन तस्यात्मनश्चेतःप्रवणविषयत्वा-दिति चेद्दृढम् । भवता विस्तारिकोक्तमनःप्रवणतात्मकलौकिकरत्या सह भक्तिरत्याः साम्यमुच्यते, तच्चु सर्षपेण स्वर्णाचलस्येव । यतः शृङ्गारे रतिः स्थायी भाव आवेगस्तु व्यभिचारीति कथमनयोः साम्यमिति, ननु कथमावेगः स्थायी भवति भक्तिरसचरमकवृत्तिरूपत्वाद् इति चेत्, सत्यं, विभावाद्युत्तरकालीनखेहा-त्मकस्यायिभावसामयिकलक्षणश्रुत्युक्तमनःकल्पनात्मकस्वावेगस्यापि सम्भवात्समादाय स्थायित्वोपपत्तेः । संयोगनैकेषां चक्षुःसंयोगपरस्परसंज्ञापाद्यनेकभेदत्वात्वेनैकविधत्वात् संयो-गस्यैकविधत्वम् । न च प्रथममुक्तप्रायस्य 'ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तयेदम् । यथा समाधौ मुनयोन्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे' इत्यत्र दृष्टान्तप्रतिमस्य दार्ष्टान्तिकस्य स्थायिस्नेहान्तर्भावोऽनुपपत्तिरिति वाच्यम् । तर्हि पूर्णत्वापूर्णत्वान्यां धर्मान्यां रसत्वस्थायित्वप्रयोजकान्यां

दृष्टान्तोक्तधर्मस्य पूर्णत्वस्योपपत्तेः स्नेहस्य चरमवृत्तित्वेऽपि रसत्वमिति । इत्यत्र स्यापिनः स्नेहस्य विभावान्तर्गतालम्बनविभावः कारणमुद्दीपनविभावश्च तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादिति विस्तारिकायामनुभावाः कार्यमसति स्नेहे तदभावात् । सञ्चारिणो निर्वेदादयः सहकारिकारणानि न तत्कार्याणि । तेन विनापि सम्भवेन व्यभिचारात् । न चाकारणानि तदुत्तरत्वान्नैयत्यात् । किन्तु स्वसामग्र्या प्रादुर्भवन्ति सन्ति स्नेहस्योपवासकानि भवन्ति । सामग्रीसम्पातेन स्नेहेन स्यापिना सहचरणात् सहचारीणि । सहकारीणि तु स्नेहस्यैव रूपस्य । तत्र तद्विचित्रस्मितरुदितकार्याजननायोगेन सामग्रीवैचित्र्यापादकानि । स्नेहो लक्षणश्रुत्युक्तः स्यापिभावः । ननु 'तत्सिद्धौ तनुवित्तजे'ति सिद्धान्तमुक्तावल्यां तत्सिद्ध्या इतिपदात् तनुवित्तजे सेवे, 'माहात्म्यज्ञानपूर्वेस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नै चान्यथे'ति पञ्चरात्रानुमाहात्म्यज्ञानं च कारणानि । सञ्चारिभावस्तु सहकारिकारणमिति सञ्चारिभावे कुत एतेषां निवेश इति चेत्सत्यम् । भक्तिर्हंसे नवधाम्नीनां कर्मज्ञानभक्तिभार्गेषु प्रवेशकथनात्सञ्चारिभावत्वमविवादं; महावाक्यार्थस्य भक्तिभार्गेऽसञ्चारः पूर्वमुक्तः, यद्यपि यस्मात्कर्मादिभ्यो ज्ञानमेव पुरुषार्थसाधनमतस्तज्ज्ञानाय विचारोधिक्रियत इति जिज्ञासाधिकरणभाष्ये महावाक्यार्थमपि ज्ञानपदेन सङ्गृहीतम्, तथापि शाब्दार्थज्ञानं महावाक्यार्थज्ञानं विचारफलमित्येतावदेव, न तु रतिपर्यन्तानुधावनं भागवतमतत्वात् । 'भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेत्' इति भागवतम् । तथा च 'प्रदानवत्सूत्रोक्तं 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्युक्तवरणं कारणं, स्नेहचरमवृत्त्यात्मकसर्वात्मभाव इति भक्तिहेतूपपादितभक्तिकारणमनुग्रहस्वावदुद्दीपनविभावो भक्तनिष्ठो येन केनापि सम्बन्धेन भवतु । भगवदनुग्रहीतोयं यतो भक्तो भक्तिमनुभवतीति प्रत्ययात् । 'आनसी सा परा मते'त्युक्तसेवायामपि मुद्दीपनविभावरूपाऽनुग्रहस्य मुख्यकारणत्वमिति, तथा च भाष्यं 'विद्यैव तु निर्धारणादि'ति सूत्रस्य किन्तु 'भगवदनुग्रहेण भक्तसङ्गेन च भक्तौ सत्यामिती'ति साधनाध्याये । अनुग्रहः स्तभाव इति तृतीयस्कन्धसुबोधिन्याम् । अनुग्रहो धर्मान्तरमिति भक्तिहेतौ । उभयेषां मतं पन्थाश्च तल्लक्षणं च विस्तारिकायाम् । चेतस्तर्यवर्णनः कल्पनं भक्तिप्रेमस्नेहप्रियत्वं च पर्यायाः । कृष्णगोपिकयोः परस्परस्नेहो भगवत्प्रियालम्बनविभावे । तत्र निरुपधिप्रियत्वस्य समन्वयाध्याये ब्रह्मधर्मतां निर्णिनाय भगवान् व्यासः । ननु तथापि मनःकल्पनं मनःप्रवर्णं तत्र रतिरेव पुराणं च सङ्गृहीतं भविष्यतीति चेन्न, अभिलाषप्रतियोगिभेदात्प्रापकभेदादधिकरणभेदाच्च । तदुक्तं भक्त्युत्कर्षवादे 'मुक्तैरप्यभिलाषितामल्यन्तानुग्रहात्प्राप्याम् । आनन्दधर्मभूतां रसरूपां नौमि हरिभक्ति'मिति । तत्र तु कामाभिलाषिणः प्रतियोगिनः, कर्मप्रापकं मनोधिकरणमिति ।

एवं स्नेहरूपा रतिर्व्याकृता । कामरूपा द्वितीया रतिः लक्ष्मीकलानिधयोः । नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीरान्धिशायिनम्, लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम्' इति ह्याचार्योक्तेः । ननु सत्तायां योगो भावशब्दस्य तात्पर्यं रतौ । 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्त इति । द्वितीयायां रतौ केतिचेन्न आधिभौतिके योग आध्यात्मिकाधिदैविकयोरेकत्वात्तात्पर्यवृत्तिरिति । अञ्जित इत्यस्य न व्यञ्जित इत्यर्थः किन्तु तात्पर्यविषयीकृत इत्यर्थः । वृत्तेर्नैविध्यादित्युपपादितमारम्भे रम्भेः । एकदेशविकृतन्यायेनाधिदैविकस्याध्यात्मिकानन्यात्वात् तत्प्रपञ्चस्य भावशब्दतात्पर्यवृत्तिविषयत्वे बाधकाभावात् । ब्रह्मस्वरूपे लौकिकयुक्तभावस्य भूषणत्वाच्च । प्रकृतमनुसर्यते । तथा च विभावाद्यैरभिव्यक्ता रतिः पूर्णा शृङ्गाररसः । रसत्वं च । ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्नलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसस्तत्त्वम् ।

१ प्रकर्षणं वनं भक्तिः प्रवर्णं, वनं संभक्तौ धातुः ।

प्रकृतमनुसर्यतेऽधुना, तद्रूपम्, सत्युण्डीकनयनमित्याद्युक्तं गोपालतापिनीये किन्तद्रूपमिति प्रश्न एतदुत्तराद् व्याकृताश्चैताः श्रुतयः प्राक् ह्यनुक्रमशः । गुणातीतं गीतायाम् 'नान्यं गुणेषुः कर्तारं यदा द्रष्टुमिच्छति । गुणेषुश्च परं वेत्ति मद्भावं सोधिगच्छती'ति । यदा 'निर्गुणं गुणभोक्तुं चे'ति निर्गुणं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'त्युक्तं गुणभोक्तुं, 'आनन्दमात्रमिति गन्तव्यं हीह पुराविदः' इति वाक्योक्तमेतद्रूपद्वयम् । हि निश्चयेन सदैवेत्याहुः सदैव हीति । अयमर्थः । नात्र ज्ञानविषयं ब्रह्मोच्यते, ज्ञानं च फलात्मकं 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' ब्रह्मविदामोति परं 'तमेव विदित्वा तिसृषुमेती'त्यादिश्रुतिस्युक्तम् । ततश्च तृतीयाध्यायस्य 'अम्बुवदग्रहण, य'धिकरणोक्तं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितं न भवति । किन्तु प्रवेशानन्तरमल्यन्तानुग्रहे पुष्टिभक्तौ सत्यां भक्तेच्छयोद्गतं रूपं तच्चैच्छिकं न तु सदैव हीति । अत्रोच्यन्ते श्रुतिगीतासूत्राणि । तद्रूपमित्यत्र 'तानि परे तथा ह्याह' । 'ता वां वास्तूनि' । 'श्रीमद्विजितमेव वा तत्तदेवागच्छ त्वं मम तेजोशंसंभवम्' । अत्रास्फुटं गीताविस्तरे श्रीभागवते 'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थं त्यक्तदैहिकाः । ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थं तान् विभर्म्यह' मित्युपक्रम्य 'धारयन्त्यतिक्रम्येण प्रायः प्राणान् कथञ्चन' इति श्रीप्रभुवचनमेतत्फलाध्याये 'स्मर्यते चे'ति सूत्र उक्तम् । समाधिभाषाद्वितीयस्कन्धवैकुण्ठदर्शनवाक्यानि । गुणातीतमित्यत्र 'तानि पर' इति सूत्र एव प्रकृतिकालाघतीत इति वैकुण्ठविशेषणम् । तानीत्येव सूत्रम् । गीतोक्ता । तथापि भक्तैच्छिकं रूपमिति स दोषस्तदवस्थ एवेति चे 'दविभागो वचना'दिति सूत्रे एतेनापि लीलानित्यत्वं सिद्ध्यति एतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमिति भाष्यादोषो निर्गच्छतु । विद्वन्मण्डने नित्यलीलावादे प्रपञ्चितमित्यर्थः । किञ्चिदुच्यते स्वपुङ्खा ब्रह्मसम्मत इति पाठः । अत्र नपुंसकत्वं पुंस्त्वं चोक्तं श्रुतौ व्याहरत्यासमिति च व्याख्यातश्लोक उभययुक्तम् । अन्यत्र श्रुतोरसं सर्वरस इत्यत्र नपुंसकत्वं पुंस्त्वं च रसविलक्षणत्वं रसत्वं चोक्तम् । 'निर्गुणश्च यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरित्यत्र निर्गुणत्वसंगुणत्वे चोक्ते । अत्रोच्यते तृतीयद्वितीयपादे 'वृद्धिहासभावत्वमन्तर्भावाद्बुभयसामञ्जसादेवम्' 'दर्शनाच्चे'ति सूत्रद्वये । अत्र पूर्वसूत्रे एवं परमार्थतो विरोधः परिहृतः यथाकाशस्य वृद्धिहासभावत्वं करकादिष्वन्तर्भावात्तथैवोभयसामञ्जसाद्विद्वत्त्वात्पत्त्वयोरेकाधिकरण्येन ग्रामाणिकादरणीयत्वात् । ब्रह्मणोप्येवं शरीरादिप्रवेशाद्द्विहासभावत्वमिति तथा च प्रकृतोपि 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे'ति श्रुत्योक्तायां स्वाभाविक्यां शक्तौ निवेशे नपुंसकत्वम् । 'को ह्येवान्या'दित्युक्त आनन्दे प्रवेशे तु पुंस्त्वम् । एवमुभयोरेकाधिकरण्येन ग्रामाणिकादरणीयत्वम्, द्वितीयस्मिन् सूत्रे च भगवति सर्वे विरुद्धधर्मा दृश्यन्ते 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम व्याघातात्' तादृशमेव तद्वस्त्वित्यध्यवसाय इत्युक्तम् । स्पष्टौ प्रकृते पुंस्त्वं नपुंसकत्वं च विरुद्धौ धर्मौ रसारसत्वे च । निर्गुणत्वसर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वानि विरुद्धधर्माः । प्रकृतोपपादकं भाष्यम् । इति हीति निश्चयनैतद्रूपं सदैवेति । नूनं सत्यज्ञानादिरूपं गुणातीतं ब्रजभक्तवृन्दप्राप्तं च गुणातीतं तद्वच्चहचतुष्टयरूपं छान्दोग्योक्तपरदेवतादिरूपं च गुणातीतं तथा वाराहपुराणोक्तं श्रीभूमिस्थितं च प्राकृतप्रलये तत्राशाभावकथनात् । रस शब्दे इति पक्षेऽपि तादृशमेवेति । सर्वरसमिति श्रुतेः । ध्येयमित्यादि शुद्धेः पापरहितैः मर्यादाभक्त्यधिकारिभिः 'गतेरर्थवत्त्व'मिति सूत्रेऽस्मिन् मार्गे श्रवणादिभिः पापक्षये प्रेमोत्पत्तिस्ततो मुक्तिरिति भाष्याजीवैः भगवद्रूपसेवार्थं स्पष्टैः पुष्टैः पुष्टिप्रवाहभर्यादायामुक्तैस्तद्रूपभावेन तद्रूपत्वेन व्येयतावच्छेदकरूपेण त्वतलौ विहाय भावपदोपसन्दानात्तद्रूपश्चासौ भावश्चेति विगृह्य भावप्रधानं निर्देशं चास्याय तद्रूपभावत्वेन ध्येयं भावनौत्कट्यदशायां व्यभिचारिभावात्मकसततस्मृतिरूपं ध्यानं तद्विषयं कार्यम् । 'तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्यो विमुक्तः सर्वलोकतः । आत्मानन्दसमुद्रस्य कृष्णमेव विचिन्तयेत्' इति सिद्धान्तमुक्तावली 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधन'मित्येवं स्वयमुक्तस्यावान्तरब्रह्मबोधनलक्षण-

फलवतः प्रत्याज्ञां करोति तत्र चिन्तनमुक्तविधम् । अत्रात्मानन्दो ब्रजरत्नात्मक इति श्रीविठ्ठलनाथ-
दीक्षितगोस्वामिटीकायामतोत्रात्मानन्दः स पूर्वोक्तः तथा च भावो भक्तिर्भूया 'आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह
पुराविद' इत्युक्त आत्मनि सत्यज्ञानानन्तानन्दे स्वरूपलक्षणाक्रान्ते यस्य 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति
श्रुत्युक्तस्य तद्भावात्मकं तस्य भावस्तदात्मकत्वं तस्माद् इति भावात्मकत्वादित्यस्यार्थः । भावात्मकस्य
भक्तान् प्रत्येव ज्ञापनात् । अत्र व्याख्यायमानग्रन्थेऽपि 'सर्वत्र पश्यद्भिः पुरुषोत्तम'मित्यत्र सर्वत्रपदम् ।
एकादश एकोनविंशत्याध्याये 'लघुस्वमार्गवक्ता चे'ति पुरुषोत्तमसहस्रनाम्नि स्तोत्रे लघुस्वमार्गवक्तृत्वेनोक्तस्य
श्रीकृष्णस्य वाक्यभूते 'सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया । परिपश्यन्नुपरमे'दिति सर्वपदम् ।
तदपि सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र निमग्नितत्राक्षणवाचकसर्वपदवद् एतेन ब्रजरत्नपदरहितेन
सामान्येन ग्रन्थेन भक्तिमार्गस्य निर्गुणत्वं समर्थितम् । स्वाधिकारे तु श्रीगोस्वाम्युक्तो विशेषोपीति ।
'अकार ऐश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्यशृङ्गारादिवाचकपदानुकर्षकः 'स्वोरमो लुक्' तथा च ऐश्वर्य-
वीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्यशृङ्गारश्चकारार्थध्वेयमित्येनान्वेति । एवञ्च तद्रूपमैश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवै-
राग्यशृङ्गारमपि ध्वेयमिति सिद्धम् । अन्यथा नेति अन्यथापदात्पृतीयया लुक् अन्येन प्रकारेण
तद्रूपभावान्येनैश्वर्यत्वाद्येन च प्रकारेण न ध्वेयम् । अयं भावः 'योन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा
प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चैरेणात्मापहारिणे'ति श्रुतेस्तद्रूपभावाद्यतिरिक्तेन न प्रतिपदनम् ।
अनेन प्रकारेण तु प्रतिपदनं गोपालतापिनीये श्रूयते ब्राह्मणस्य तथाहि 'मुनयो ह वै ब्राह्मणमूलुः
कः परमो देव' इत्यादि तस्योत्तरं 'तदुवाच ब्राह्मणः श्रीकृष्णो वै परमं दैवत'मित्याद्यभिधाय 'गोपवेश-
मभ्रामं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्' तदिह श्लोका भवन्ति 'सत्पुण्डरीकनयनं मेधामं वैद्युताम्बरम् । द्विभुजं
मानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् । गोपगोपाङ्गनाधीत'मित्यादि । तद्रूपप्रश्नोत्तरम् 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः'
इति ब्राह्मणपदच्युत्पत्तिः । एवमैश्वर्यभावादि बोध्यं श्रुतिषु हीति 'तदोषधिविद्यायां वैराग्यमित्येवं सप्ता-
ष्टकेषु बोध्यं' नवाध्यायमुक्तं च । एवं ध्वेयमित्यनेन स्मृतिविषयं वस्तुक्तमत्र स्मृतिस्तु सिद्धान्तमुक्ता-
वल्यां संसारदुःखनिवृत्तिर्ब्रह्मबोधनलक्षणा तदुचित्तजसेवावान्तरफलत्वेन निर्दिष्टा ततः सेवाफलस्य-
ग्रन्थे सेवायाः फलत्रयमुक्तं तेषु तदीयत्वं भगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिज्वित्येवमुक्तं मुख्यमिति ।
तत्साधनमाहुः लीलेत्यादि ।

लीलारूपैश्च तस्सेव्यं तदीयत्वाय सर्वदा ।

एतत्संसेवनाद् ब्रह्मभूतो भक्तिं लभेत्पुनः ॥ १६ ॥

लीलासैश्वर्यवीर्ययशःश्रीज्ञानवैराग्यशृङ्गाररूपाणि, रूपाणि द्वारकानाथजित्पुत्रगोविन्दजिकृत-
भावनोक्तशकटभङ्गनौत्थानिकलीलादिषु वात्सल्यादिरूपाणि रूपाणि च येषां तैः रूपैः श्रीनवनीत-
प्रियजिञ्जीमथुरानाथजिञ्जीविठ्ठलनाथजिञ्जीद्वारकानाथजिञ्जीगोकुलनाथजिञ्जीगोकुलचन्दमोजिञ्जीम-
दनमोहनजिञ्जीबालकृष्णजिदादिरूपैः । चकारेण धर्मरूपेण श्रीगोवर्द्धननाथजिद्रूपेण तद्रहस्येवम् ।
तनुवित्तजसेवाविषयं कार्यं तदहंत्वात् । सेवाविषये ब्रह्मणस्तावद्रूपत्वे साधनाध्यायतृतीयचरणे
'आनन्दादयः प्रधानस्ये'ति सूत्रं स्पष्टत्वाय । पूर्णानन्दैश्वर्यादयः प्रधानस्य धर्मिणः श्रीगोवर्द्धन-
नाथस्य ब्रह्मणो धर्मा इति भाष्यकम् । श्रुतयस्तु सर्ववेदान्तप्रत्ययसूत्रेऽथर्वणोपनिषत्स्या 'गोप-
वेशमभ्रामं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्' तदिहश्लोका भवन्ति 'सत्पुण्डरीकनयन'मित्याद्याः ध्वनिताश्रेयास्तत्रैव
भाष्ये 'कचिद्रोकुलवृन्दाकाननसञ्चरद्रोपरूप'मित्यादौ कचित्पदस्य शक्तिः गोपालतापिनीये ध्वनिरुक्ताः

श्रुतिषु । गीता तावत् त्रयोदशेऽध्याये ज्ञेयं प्रस्तुत्य 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुख' मित्यादि
'सर्वेन्द्रियगुणाभास'मित्यादि च । अत्रैश्वर्यादयो भगवत्पदसमानाधिकरणज्ञेयगोपवेशपदाभ्यामुन्नेयाः ।
तल्लक्षणानि गुणप्रकरणस्य सुबोधिन्यामत्रे च प्रपञ्चनीयानि । सेवायां तावद् । 'गतेरर्थवत्त्वमुमयथान्यथा हि
विरोध' इति सूत्रे । अत्र सूत्रेऽस्मिन् मार्गे श्रवणादिभिः पापक्षये प्रेमोत्पत्तिस्ततो मुक्तिरिति भाष्यात् ।
सहकार्यन्तरविधिपक्षेण तृतीयं 'तद्वतो विध्यादिव'दिति वा सूत्रम् । 'सर्वथापि त एवोभयलिङ्गा'-
दिति साधनाध्यायस्य वा सूत्रम् । ननु सेवात्र दास्यकं तत्कथमत्र श्रवणादिषु प्रायस्य 'तत्सिद्धौ तनु-
वित्तजे'त्यत्रार्हतीति चेन्मैवं 'आत्मेति तूपयच्छन्ति ग्राहयन्ति चे'ति सूत्रस्य भक्तिमार्गेऽङ्गीकृतास्तु साक्षा-
त्पक्षे पुरुषोत्तमे तद्भजनार्थं उप समीपं गच्छन्तीत्यर्थः एवं श्लेषोक्तिरियमिति ज्ञायते । 'सम्प्रदायानु-
वृत्तिरपि भगवद्विहितेतेतादृशाः स्वयं येन मार्गेण फलं प्राप्तास्तं मार्गमन्यानपि ग्राहयन्त्युपदेशै'रिति
भाष्यात् । अत्र श्रुतिः 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' इति श्रवणादि-
भिर्देशेनभाह तत्र प्रेमद्वारेति ग्राहयति । आचार्यास्तु 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धौ तनुवित्तजे'ति दास्यकं
ग्राहयन्ति । अयमप्युपदेशः उपदेशैरिति बहुवचनात्तदुक्तं फलप्रकरणे श्रुतिरूपाभिः 'भवाम दास्य'
इति । ननु कथमेवमुपदेशो यावता गोपालतापिनीये एव पञ्चपदमष्टादशार्णमभ्रस्वरूपमुक्त्वा पठ्यते
'भक्तिरहस्यभजनम्' इत्यादि ततश्च पञ्चपदजपस्य तत्सिद्धौ ह्युपदेशोस्त्वथवाप्रे 'ते होचुरुपासनमेतस्य
परमात्मनो गोविन्दसाखिलाधारिणो ब्रह्म'ति प्रश्नोत्तरीभूतोपासनवाचकवाक्येभ्य उपासनोपदेशो-
स्त्विति चेन्न 'उपपन्न' इत्यादिसूत्रेऽष्टादशार्णमभ्रोपासकस्य युमुक्षोः सकाशाद्रहस्यभजनकर्तृवोपपन्न
उपपत्तियुक्त इति भाष्येणोपासनामार्गीयस्य पञ्चपदजपस्योपासनस्य चान्यमार्गीयत्वात् । नन्वन्यमार्गी-
यस्यापि भक्तिमार्गान्तापातित्वेन भक्तिमार्गीयत्वं भविष्यतीति चेन्न भक्तिमार्गीयसाक्षाद्गुणलक्षण-
फलातिरिक्तमुक्तिफलत्वेन तदन्तःपातित्वस्यासम्भवात् । तदुक्तं 'तल्लक्षणार्थोपलब्धे'रित्यनेन । श्रुतिस्त्वा-
वत् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इति 'अनियम' इति सूत्रभाष्योक्त-
दिशात्रापि नवधाभक्तीनामुपलक्षणम् । गीता तावद् भक्तियोगाध्याये द्वादशे 'ये तु सर्वाणि कर्माणि
मयि सन्नयस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते । तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार-
सागरात् । भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येवात ऊर्ध्वं न संशय' इति । 'सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्चे'त्यादयस्तु तृतीयसूत्रपक्षे
एवमवान्तरफले ध्यानं साधनं तस्त्वेन सेवासुपपाद्य तस्या इतरं भक्तितो मुख्यं फलमाहुः तदीयत्वायेति
मानसीसेवाया इत्यर्थः । तदुक्तमुपपन्न इति सूत्रभाष्यप्रकाशेऽमुष्यात्मनः कल्पनमिति स्वपाठं भक्ति-
रहस्यभजनमित्यत्रोरीकृत्यामुष्यात्मनो वस्तुत एतदीयस्य जीवस्य कल्पनं तदीयत्वसमर्थनमन्तर्बहिःसेवया
तद्वृत्तिकरणम् । कृपू सामर्थ्य इति धातुपाठात् । पूर्वलिखितपाठे त्वन्येमुष्मिन् कृष्णाख्ये ब्रह्मणि मनसः
सङ्कल्पनं प्रेरणा तन्मयत्वमिति चार्थं वदन्तीति । मानसीसेवायां गीता 'मय्येव मन आधत्स्व मयि
बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः' इति । सूत्रं तु 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषा'-
दिति । अत्रैकाग्रता ग्राहकचित्तधारा । यद्वा । साधनाध्यायतृतीयपादस्य 'अतस्त्रितरङ्गायो लिङ्गाभे'ति
सूत्रं तदीयत्वमेव ज्याय इत्यर्थ इति भाष्यम् । श्रुतिस्तु 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' । स्मृतयो ह्युक्ताः । अन्या
अपि 'अदोष्टा सर्वभूतानां नैत्रः करुण एव च । निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ सन्तुष्टः
सततं योगी यतात्मा हृदिनिश्चयः । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्रक्तः स मे प्रियः' इति । अत्र सिद्धान्तमुक्ता-
वलीस्य 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्ति'रिति सेवावान्तरफलघटनात् । अहन्ताममतात्मको हि संसारः ।

तज्जन्मदुःखस्य 'निर्ममो निरहङ्कार' इत्यनेन निवृत्तिकथनात् । 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति गीताविस्तारश्रीभागवतम् । सर्वदेति सेव्यमित्यनेनान्वेति । 'कृष्णसेवा सदा कार्येति' सिद्धान्तमुक्ता-
वलीवाक्यात् । सर्वदा सेव्यमित्युक्तं तत्र सेव्ये स्वरूपे प्रथमाध्यायद्वितीयपादस्याहश्यत्वाधिकरणो-
क्ताक्षराभेदपक्षेऽक्षरसंसेवनमादाय तत्फलमुक्तफलातिरिक्तब्रह्मभावो भवति तेनाक्षरसंसेवनात्मकज्ञानेना-
विद्यानिवृत्तिद्वारा जीवीयानन्दस्य प्राकट्यात् । तदुक्तं साधनाध्यायतृतीयचरणेऽक्षरधियामिति सूत्रे ।
एतादृशस्य ब्रह्मभूतस्याविर्भूतानन्दांशरूपस्य भक्तिलाममनुवदन्ति स्म एतदित्यादिना । ब्रह्मभूत
आविर्भूतानन्दांशः एतत्संसेवनात् समीपतरवर्तिदास्यकरूपाङ्गत्वं तदीयत्वलक्षणं मानसी-
सेवारूपां प्रेमलक्षणां लभेदित्यनुवादः पूर्वोक्तस्यार्थस्य लभेतेत्यर्थः । अनुदात्तेतआत्मनेपदानित्यत्वा-
त्परस्मैपदं लभेदिति । ब्रह्मभावानन्तरं मयोदाभक्तावक्षरधियामित्यादि सूत्रं 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'-
मिति श्रुतिः । ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा न शोचति न काङ्क्षति, समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते
परा'मिति गीता । पूर्वोक्तमर्यादाभक्तिफलं पुरुषोत्तमप्रवेश इत्यक्षरधियामित्यादिसूत्रे स्थितं तन्नोक्तं
पुष्टिपद्धतिवेनासाः परिपाठ्याः, तथा सति मर्यादापद्धतिरवान्तरभूता स्यात्तन्निवृत्त्यै तादृशस्या-
प्राप्तमर्यादाफलस्यात्यन्तानुग्रहे सति पुनर्ललाप्रवेशसाधनीभूतपुष्टिभक्तिलाभमाहुः पुनरिति अत्य-
न्तानुग्रहे सतीति शेषः । तस्मिन् सति पुनर्भक्तिं पुष्टिभक्तिं लब्ध्वेत्युत्तरश्लोकेन्ययः । पुष्टिभ-
क्तिरत्यन्तानुग्रहैकसाध्या 'गतेरर्थवत्त्व'सूत्रे निर्दिष्टा, तद्गहितानामपि 'स्वरूपपथेन स्वप्रापणं पुष्टि'
रित्युच्यते इति । पुष्टिमागंऽङ्गीकृतेस्त्वत्यन्तानुग्रहसाध्यत्वादिति । पुष्टिभक्तेः फलमाहुः ।

भक्तिं लब्ध्वा च विद्वान्ते कृष्णलीलास्वसंशयम् ।

नातः परतरं किञ्चित्प्राप्यमस्तीह कर्हिचित् ॥ १७ ॥

गीताविचारे तु लीलास्वरूपैश्च तस्सेव्यम् । अष्टादशे 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'
इति वाक्यात् । तदीयत्वाय । 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां
सद्भ्यासेनाधिगच्छति' इति वाक्यात् । नैष्कर्म्यसिद्धिः गोपालतापिनीये 'भक्तिरस्य भजनं तदिहागुत्र फल-
भोगनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्य'मिति । सर्वदा श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मा-
त्स्वनुष्ठितात् 'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्,
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' इति वाक्याभ्याम् । एतत्संसेवनादिति एतत्समीपतरवर्ति
एतस्य वा संसेवनं विवेकधैर्याश्रयैरन्तःकरणप्रबोधेन च सेवनम् । तस्मात् 'सिद्धिं प्राप्ते यथा ब्रह्म
तथाप्नोति निबोध मे । समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा । बुद्ध्या विशुद्धया युक्ते धृत्यात्मानं
नियम्य चे'त्यत्र विशुद्धा बुद्धिः 'विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'त्युक्तान्तःकरणप्रबोधग्रन्थोक्ता
च । धृतिः 'त्रिदुःखसहनं धैर्यमायुतेः सधेतः सदे' ति वाक्योक्ता । 'धृत्या यथा धारयते मनःप्राणेन्द्रिय-
क्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्यः धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी'ति वाक्यात् । आत्मानं बुद्धिम् ।
अग्रे 'शब्दादीन् विषयास्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च । विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः' इत्यत्र प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकभगवदासक्तिमुक्त्वाऽऽश्रय-
रक्षणार्थमाहुः 'अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पत'
इति । 'अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः' इति शान्तः । एतत्संसेवनाद् ब्रह्मभूतः । 'ब्रह्मभूतः
प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षती'ति 'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' इति वाक्यादाहुः भक्तिं
लभेत्पुनरिति । अत्र सूत्रं 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यत' इति । श्रुतिस्त्वावत् 'सोश्रुते सर्वान्

कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते'ति । गीता तावत् 'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय'मिति ज्ञेयनिरूपणे प्रयोदशेध्याये ।
'सूक्ष्मं तु प्रमाणतश्च तथोपलब्धे'रिति सूत्रे पुष्टिमागीयं तत्त्वं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयमित्यर्थ इति भाष्यम् ।
नापि सर्वथा दुर्ज्ञेयम् । 'तानि परे तथा ब्राह्मे'ति सूत्रे श्रीगोकुले तानि वस्तूनि सन्तीत्युक्तेः । सर्व-
सामर्थ्यसहितस्य सर्वत्रैवाखिलार्थकृत ईश्वरस्यात्यन्तानुग्रहेण प्राप्तया भक्त्या कृष्णलीलासु प्रवेशोत्
उक्तमसंशयमिति । स्वभावतो दुष्टस्य जीवस्य जगत्कारणकारणे तत्रापि लीलानिविष्टे प्रवेशो
भविष्यति न वेति संशयो भवत्येव तदभावोऽसंशयः क्रियाविशेषणत्वात्तदुपसक्तत्वम् । सगुणं ब्रह्म सर्व-
मित्याशङ्क्य परिहरन्ति स्म । नात् इत्यादि, अतो न सगुणं पूर्वमुपपादितत्वात् । अत्र सूत्रं तृतीया-
ध्यायद्वितीयपादे 'परमतः सेतुन्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्य' इति सूत्रेणातो देशकालवस्तुस्वरूपापरि-
च्छेदाच्चतुर्विधपरिच्छेदरहितमन्यत्किञ्चिदस्तीति प्रतिपत्तव्यमित्येवं प्राप्ते 'सामान्यात्वि'ति । श्रुतिस्त्वावत्
'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति । गीता 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' इति ।

साकारव्यापकं रूपमुपसंहरन्ति स्म एतद्रूपमित्यादि ।

एतद्रूपं समास्थाय श्रीवल्लभसुनिश्चितम् ।

सात्त्विकैर्भगवद्भक्तैः स्थेयं कृत्वा हृदं मनः ॥ १८ ॥

समीपतरवर्तिब्रह्मरूप उक्तप्रकारेण सम्यङ्निमित्तपूर्वकं आसमन्तार्थं शब्दे शङ्कराहिलेन
स्थापयित्वा स्वमनसीति शेषः । श्रीबृहद्भेत्यादि । भाष्यसमाप्तौ

'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलाहितम् । तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः' ॥

'नानामतध्वान्तविनाशनश्चमो वेदान्तसिद्धान्तविकाशने पटुः ।

आविष्कृतोयं भुवि भाष्यमास्करो मुधा मुधा धावत नान्यवर्त्मसु' इति ॥

निबन्धे शास्त्रार्थसमाप्तौ

'अर्थोयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यै रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः ।

अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः निर्णायते सहृदयं हरिणा सदैव' ॥

श्रीभागवतार्थसमाप्तौ च

'श्रीमद्भगवतं समस्तनिगमन्यायैकतत्त्वात्मकम्

नानाप्रान्तितमःकपाटपिहितं सत्पुष्टये सर्वथा ।

नाभूदित्यवगत्य निश्चितपदैरुदीसदीपाकृति

श्रीमद्भागवतप्रदीपमधुना चक्रे मुदा बहमः ॥'

दशमपूर्वाधेसमाप्तौ

'इत्येवं भगवलीला कृष्णविश्रवासदायिनी । निरूपितातियत्नेन कृष्णपादाम्बुजाश्रया' इति ।

अत उक्तं श्रीवल्लभैः सुनिश्चितमिति सूत्रश्रुतिगीताभिर्भाव्यशास्त्रार्थनिबन्धश्रीभागवतप्रदीप-
दशमपूर्वाधीदिव्यिति शेषः । सात्त्विकैरिति । इदं विशेषणं 'सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः ।
भवान्तसम्भवा देवात्तेषामर्थे निरूप्यते' इति निबन्धात् । हृदं मनः कृत्वा स्थेयमिति मनसश्चलत्वेन
'लोके तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतस्तमः' इत्यत्रानादरेऽन्यत्र कामेऽन्यत्र 'जीवाः स्वभावतो दुष्टा' इति
तेषामन्यत्र सङ्कल्पे किञ्च बहुध्वाचार्येषु सत्सु किमेतत्सुभणितमुतान्यैराचार्यैः सुभणितमित्येवमत्र
विकिञ्चित्सायां च सत्यामहदं मनो भवति तद्व्यावृत्त्यर्थं हृदमिति विशेषणम् । हृदत्वं च मनसो मनसि
मीमांसाविनिर्णयरूपं 'असन्दिग्धोपि वेदार्थः स्थूणाखननवन्मतः । मीमांसाविनिर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु
ततो द्वय' मिति भाष्यात् । मीमांसाविनिर्णयश्च मनसि । 'कामः सङ्कल्पो विकिञ्चित्सेत्यारम्य धीर्भीरिलेतेत्सर्व

मन एव' इति श्रुतेः । मीमांसानिर्णयवतो निबन्धस्य 'लोक' इत्यादिवाक्यस्यापि प्रसङ्गादर्शनेन तत्र फलवैमुख्यस्मारणान्मायावादादितः कामनिवृत्तिस्तस्य । 'जीवाः स्वभावतो दुष्टाः' तेषां दोषाणां 'श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्धयती'ति वाक्यान्मीमांसानिर्णयवतः श्रवणावावश्यकमिति निवृत्त्यान्यत्र सङ्कल्पनिवृत्तिः । 'विप्रतिषेधे पर'मिति सूत्रेण श्रीमदाचार्यमणितं सुमणितमिति निश्चयः । सर्वेभ्य आचार्येभ्यः एषां परत्वात् । तथा च तस्यैव सूत्रस्य वृत्तिः 'तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्या'दिति । अत एव कस्याञ्चित् काञ्चित्प्रति वचनं पूर्वं गृहे जातः समापातः पश्चात्प्रतिस्त्वावुभौ दृष्ट्वा क्रमे सन्दिहाना 'स्मर सखि पाणिनिस्त्वं विप्रतिषेधे परं कार्यं' मिति । एवं विद्वद्युक्तिमुपगच्छतो मीमांसानिर्णयवतो विचिकित्सानिवृत्तिः । अतः पर'मेतत्सर्वं प्रयत्नेन गृहस्यस्य प्रकीर्तित'मिति निबन्ध-सेवाप्रकरणीयवाक्यादात्र गृहिणोपसंहाराधिकरणाद् गृहस्यस्य भक्तिवर्द्धिनीनवरत्नश्रीमद्भागवतरीत्या प्रथमदलानुभवः कर्तव्यः ।

एतावतापि रूपमर्धभृङ्गलमिति भक्ते रसस्य विरहरूपं द्वितीयं दलमनुभवितव्यमित्याहुः । श्रीकृष्णेत्यादि ।

श्रीकृष्णविरहानन्दानुभवाय विशेषतः ।

श्रुत्युक्तरीत्या सर्वत्र पश्यद्भिः पुरुषोत्तमम् ॥ १९ ॥

अत्र सञ्चासनर्णयः 'विरहानुभवार्थं तु सर्वत्यागः प्रशस्यते' इति निरोधलक्षणग्रन्थोक्तरीत्या श्लेषम् । अत्रो'द्धरेतःसु च शब्दे ही'ति सूत्रे षष्ठ्यदितिरिक्तसङ्गस्य भगवद्विस्मारकत्वेनावश्य-त्याज्यत्वेन श्रुत्या कथनादिति भाष्येण यस्याधिकारिणः सञ्चासस्य भगवत्सङ्गिसङ्गार्थत्वमवदत् । ततो विशिष्टाधिकारिणः स्फूर्तिमाहुः विशेषत इति विशेषात् पूर्वस्माद्विशेषात् । 'बहिस्तुभयथापि स्युते-राचाराचे'ति सूत्रोक्तादित्यर्थः । अतो हेतोः श्रुत्युक्तरीत्या सर्वत्र पुरुषोत्तमं पश्यद्भिः श्लेषं न तु सत्सङ्गमात्रार्थं सञ्चासं कृत्वा श्लेषपुपासनामार्गीयत्वात् 'सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां व उपा-सिता'इत्येकादशस्कन्धवाक्यात् । अत्र सूत्रं साधनाध्यायीयं 'लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि षठीयस्तदपी'ति 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' 'स एवावस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेद'सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवावस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादात्मा (पुरस्तादहं) दक्षिणतोहमुत्तरतोहमेवेद'सर्वमित्यथात् आत्मादेश एवात्मेवावस्तादात्मा-परिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मेवेद'सर्वमिति' श्रुती । गीता तावत्तुरी-याश्रमीणस्य विरहाधिकारात्सञ्चासयोगाध्यायीया ग्रहीष्यते 'कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् । अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तेते विदितात्मना'मिति । अभितो ब्रह्मनिर्वाणकस्य भक्तस्य सर्वात्मभावोऽनुभवीयतेऽतो विदितात्मनामित्यस्य सर्वैरिन्द्रियैरनुबुत्त्या यतचेतसां विदितात्मनामित्यर्थः । आत्मपदार्थश्च न गौणः किन्तु मुख्य एव । सर्वात्मभावस्य स्वरूपं पूर्वोक्तभूमश्रुत्योक्तम् । द्वितीयश्रुत्या तु तद्धतां स्फूर्तय इति गीतायामपि तथा । अथ पदकृत्यम् । श्रीकृष्णयोर्विरह इति श्रीकृष्णयोः परस्परं विरहस्तयोर्भक्तानां विरहः । भक्तानामपि गुरुभक्तिरावश्यकीति भक्तिरसेपि श्रीरालम्बनम् । अत्र पञ्चाङ्गविप्रलम्बे द्वितीयाङ्गस्य विरहस्य ग्रहणं देवैक्येपि गुर्वादिपारतन्त्र्यं विरहलक्षणम् । 'तादृशस्य विशिष्टरहो विरह' इति सुबोधिन्मुक्तलक्षणलक्षितत्वेनानन्दरूपत्वं 'प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरादि'ति फलाध्यायसूत्रे दुःखतानिवारणात् प्रवासशापेभ्योभिलाषाणां दुःखरूपत्वेनाविवक्षितत्वमाहुरानन्देति विरहेणानन्दस्तस्य स्वस्वरूपस्यानुभवस्तस्या इत्यर्थः । वस्तुतस्तु विप्रलम्ब इति वक्तव्ये विरहपदोपादानं भागवतमतस्य

परम्पराप्राप्तत्वेन तत्र च 'विरहातुरात्मे'त्युद्धवचनात्तदनुरोधेन । 'नोद्धवोष्वपि मञ्चल'इति वाक्यादङ्गमपि विरहो विप्रलम्बपर्यायः । उक्तश्रीकृष्णविरहेत्यादिप्रयोजनाय कुत इत्यत आहुः विरोधत इति 'बहिस्तुभयथे'ति सूत्रोक्ताद्विरहानुभवरूपाद्विशेषात् । तादृशानुभवाय श्लेषमित्यन्वयः । स्थितौ प्रकारकाङ्क्षायां कर्तृविशेषणम् । श्रुत्युक्तरीत्या सर्वत्र पुरुषोत्तमं पश्यद्भि'रिति । उक्तश्रुत्या उक्तासर्वात्मभावास्तत्सूत्रेणैवैवमुक्ता या रीतिस्तया सर्वत्रापश्चादादिदेशे आत्मादेशे निर्दिष्टे उत्तमं पुरुषमप्यरादुत्तमम् । पश्यद्भि'रियात् आत्मादेश इत्यादिश्रुत्युक्तसर्वात्मभावजस्फूर्तिविषयं कुर्वद्भिः । नेदं साधनसाध्यं किन्तु भगवत्प्रदानेन सिद्धयति । तदुक्तं 'प्रदानवदेवे'ति सूत्रे । सर्वात्मभावस्वरूपं निरोधलक्षणग्रन्थोक्तं यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिनोक्तं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे निपुणतममुदीरितम् । 'विधैव तु निर्द्धारणा'दितिसूत्रे सर्वात्मभावो विद्या । 'नातः परतरो मत्रो नातः परतरः स्ववः । नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्पर'मिति निरोधलक्षणग्रन्थान्ते ।

सिद्धमाहुः । अनयेत्यादि

अनया पुष्टिपद्धत्या ससूत्रश्रुतिगीतया ।

ज्ञात्वानन्दमयत्वं हि भजनीयो ब्रजाधिपः ॥ २० ॥

अनया प्रत्यक्षगया पुष्टिपर्यन्ता पद्धतिः पुष्टिपद्धतिः मध्यमपदलोपी समासो न तु मर्यादानन्तरं तत्फलं प्रदर्शयोरता पद्धतिः तथा पद्धत्या । सूत्राणि च श्रुत्यश्च गीता च सूत्रश्रुतिगीताः सूत्रश्रुतिगी-ताभिः सहेति ससूत्रश्रुतिगीता तथा, सहस्य सादेशः ताश्चोदाहृताः ताश्च निबन्धे 'वेदाः श्रीकृष्ण-वाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि । समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टय'मिति चकारो जैमिनिःसूत्राणि सङ्गृह्णाति । पुष्टिपद्धत्या भजनीयः । किं कृत्वानन्दमयाधिकरणादानन्दमयत्वं ज्ञात्वा । हि निम्नोपमर्थः 'एवं निश्चरचातुर्वैवर्किः सङ्घिज्ञेजाधिपे । आनन्दमयतानन्दसन्द्दोहाभावाभावे' इति श्रीकात् । अत्र सूत्रं 'आनन्दमयोभ्यासात्' श्रुतिस्तावत् 'को ह्यवान्यास्कः प्राणयाघ्रैष आकाश आनन्दो न स्यादेव ह्यवानन्दयाती'ति । गीतात्रयोदशोऽध्याये 'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते' इति । अत्राकाशरूपानन्ददृष्टान्तः । सौक्ष्मा पुष्टिमागीया तत्त्वता सापि दृष्टान्ते दृष्टान्तोक्तौ धर्मो दाष्टान्तिकेपि । यद्वा 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रवि'रिति तत्रैव । 'आनन्दमानन्दमयोवसान' इति श्रीभागवते आनन्दमयत्वस्याच्युतत्ववद्भजनी-यतावच्छेदकत्वम् । तदर्थमत्रानन्दमयत्वज्ञानस्योक्तिः । ब्रजाधिप इति । अत्र सूत्रं 'अत एव चानन्याधिपतिरिति फलाध्यायतुरीयपादे । श्रुतिः 'सर्वस्याधिपति'रिति । गीताविस्तारः 'मदन्यसे न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'ति भागवतम् ।

स्वरूपवर्णनमुपसङ्गहः इतीत्यादिना ।

इति स्वरूपसर्वत्वं धारयेद्यः समाहितः ।

स बुद्धानन्दरूपं तु मुच्यते सर्वसंशयात् ॥ २१ ॥

इति उक्तप्रकारेण ब्राह्मरूपस्य सर्वं आत्मात्मीयज्ञातिधनरूपं ब्रह्म वृत्तभक्तसर्वात्मभावनन्दादि-गोधनादिसमाहितैकत्रमनाः सम्यगासमन्तादात्मनो हितो हितकारी यो धारयेत् मननेन ततः पतन-प्रतिबन्धकध्यापारात्मकधृतिं कुर्यात्स आनन्दरूपं बुद्ध्वा सर्वसंशयास्तु मुच्यते 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स'इति श्रुत्युक्तो गन्तुः संशयस्तु वर्तेत एव । मतं ब्रह्ममतं ब्रह्म वेति । पूर्वोक्ता श्रुतिः सुबोधिण्यां 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतिः समानार्थेति प्रोक्तप्रायं 'आसामहो' इत्यत्र ।

सर्वे संशयास्तु उक्तप्रकारं ब्रह्मान्यप्रकारं वा सर्वात्मभावः साधनं ज्ञानादि वा शब्दप्रत्यक्षानुमानोप-
मानानि प्रमाणं 'वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि, समाधिभाषा व्यासस्य' प्रमाणं वा
फलं वा भगवान् वाऽविद्यानिवृत्तिर्वा । आचार्या इमेऽन्ये वात्मानः । इति स्वरूपवर्णनम् ।

स्वरूपस्वरूपं प्रस्तोतुं मङ्गलं स्मरन्ति । जयतीत्यादिना ।

'जयत्याचार्यपादाब्जरेणुर्यह्लाभतः स्वयम् ।

तुरीयं पुरुषार्थं हि प्रीतः कृष्णः प्रयच्छति ॥ १ ॥

यद्रेणुलाभतः यो यस्य चरणरेणुं वाञ्छति स तद्भवति तद्योग्यो वा भवतीति वा । तथा च
यथाऽऽचार्येभ्यः पुष्टिमर्यादाभक्तिमार्गीयमोक्षं प्रयच्छति मोक्षदातृत्वेपि प्रीतस्तत्रापि कृष्णः सदानन्दो
न तु विभूतिरूपस्तत्रापि स्वयं न तु धर्मरूपेण तथास्मभ्यमपि मोक्षं दास्यति प्रीतः कृष्णः स्वयम् ।
किञ्च ते यथाऽऽदेयदानदक्षास्तथा वयमपि भविष्याम इति भावः । स्पष्टं चेदम् 'आसामहो चरणरेणु-
खुषामहं स्या'मित्यत्र सुबोधिन्याम् । 'अनुव्रजामहं नित्यं पुयेत्येवङ्गिरेणुमि'रित्येकादशचतुर्दशे पापा-
भावे चरणरेणुः कारणमुक्तमेवं च चरणरेणुलाभतः पापाभावः ततः प्रीत इति मर्यादोक्ता । पापाभावस्य
भक्तिकारणत्वात् ।

संस्कृतदेहे तुरीयपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं साधनमाहुः शब्देत्यादि ।

शब्दार्थयोर्नित्यता तद्भक्तिरात्यन्तिकी हरौ ।

उदेति श्रीवल्लभेतिनामोच्चारणमात्रतः ॥ २ ॥

श्रीवल्लभेतिनाम प्रतिपादकं श्रीश्चं श्रीश्चं श्रीश्चं श्रीश्चं श्रीश्चं श्रीश्चं श्रियः पद । पदश्रीयुक्ताः
वल्लभाः श्रीवल्लभास्तेषां नाम श्रीवल्लभेतिनाम प्रतिपादकं प्रतिपादकं प्रियस्वरूपश्रीवल्लभत्वविशि-
ष्टम् । एतयोः शब्दार्थयोर्नित्यता तद्बहुच्चारणमात्रतो'अनियमः सर्वासा'मिति सूत्रप्रमाणेनात्यन्तिकी
भक्तिरुदेति । केति चेन्न हरौ । हरिमनो ब्रह्म 'मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त' इति प्रथम-
चरणं प्रतिमा रूपमपीति तत्रेत्यर्थः । यद्वा जिज्ञासाधिकरणोक्तनिर्गुणब्रह्मणः सकाशाजगदिति प्रथमचरणं
प्रतिमा रूपमपीति तत्रेत्यर्थः । मानसीसेवारूपात्यन्तिकी भक्तिः । तथा च पञ्चामिविद्यासंस्कृतदेहेभ्य इव
चरणरेणुसंस्कृतदेहेभ्यः आत्यन्तिक्या भक्त्या तुरीयं पुरुषार्थं स्वयं प्रयच्छतीत्युक्तम् ।

तुरीयं पुरुषार्थं स्वयमुक्तं प्रपञ्चयामासुः आनन्देत्यादिना ।

'आनन्दमयतानन्दसन्दोहो यत्प्रवेशतः ।

आनन्दरूपे भवति स वै श्रीवल्लभः प्रभुः ॥ ३ ॥

यद् येभ्यः उक्तगुरूपसत्यादिमुखद्वारानन्दमयता जीवानां भवति 'आनन्दरूपे प्रवेशतः
आनन्दस्य सन्दोहः समूहो भवति जीवीयसच्चिदानन्देष्वानन्दरूपे भवति स श्रीवल्लभः प्रभुः
समर्थ इत्यर्थः ।

त्रिषु साकारव्यापकं निरूप्य तद्रूपं निरूपयाम्भुतुः सिद्धित्वादिना ।

सिद्धिदा यादृशी प्रोक्ता जीवानां सेवना कृता ।

तादृशी स्वीयशिक्षार्थं दर्शयामास वाक्पतिः ॥ ४ ॥

सिद्धिदा एकादशपञ्चदशाध्याये प्रोक्ता । न चैकोनत्रिंशदाध्यायोक्तेति कुतो नोक्तमिति
शङ्काम् । भाष्ये गोपालतापिनीयश्रुतिप्रोलेखा'द्वक्तिरस्य भजनमिति श्रुत्युक्तां मुख्यां ग्रहीतुं सिद्धिदे-

१. उत्पद्यते । २. आचार्येभ्यः ।

त्याद्युक्तेः । सा पश्चान्मानसिकसाधनत्वाद्भक्त्येदानीं संसारदुःखनिवृत्तिबोधोपनमानसीसेवारूप-
सिद्धिदा सिद्धान्तमुक्तावस्थां यादृशी प्रोक्ता तस्याः साधनभूतायाः कायिकीत्वात् तावत्तद्विषयीयत्वं
प्रतिभाषाहुः षड्गुणैरित्यादि ।

षड्गुणैः सहितो धर्मी कृष्णः सेव्यः परः प्रभुः ।

गुणाश्च भगवद्रूपाः रूपलीलाविभेदतः ॥ ५ ॥

षड्गुणैः सहितो धर्मीति । अत्र 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'ति सूत्रम् । 'गोपवेशमभ्रामं तरुणं
कल्पद्रुमाश्रितं तदिह श्लोका भवन्ति सत्पुण्डरीकनयनं'मित्यादिश्रुतिः । इयमस्मिन् सर्ववेदान्त-
प्रत्ययाधिकरणेस्ति, राजविद्याराजगुह्ययोगाध्याये 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते । एकत्वेन
पृथक्त्वेने'ति तथा 'बहुधा विश्वतोमुखमि'ति गीता । कृष्णः सदानन्दः परः पुरुषोक्षरात्परः प्रभुः
सर्वसामर्थ्यसहितः । 'सर्वसामर्थ्यसहित' इतिकृष्णाश्रयात् । गुणाश्च पूर्णानन्दैश्वर्यवीर्यीयदयः । भगव-
द्रूपा इति । सेव्या इत्यन्वयः । 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति सूत्रम् । 'गोपवेश'मित्यादिश्रुतिः । 'सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म' 'अरसं सर्वरसो निर्गुणः सर्वशक्ति'रिति श्रुतयः । शक्तयो
हि पूर्णानन्दैश्वर्यवीर्ययज्ञःश्रीज्ञानवैराग्याण्यपि । 'निर्गुणं गणभोक्तुं चे'ति 'ज्योतिषामपि तज्योति'रिति
'सर्वतः पाणिपादं तत्', इति 'सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय'मिति, 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जित'मिति,
'निर्गुणं गुणभोक्तुं चे'ति यथायोग्यं श्रुतिपदानुकूला गीता । रूपलीलाविभेदत इति तज्ज्ञात्वेत्यने-
नान्वयः । रूपाणि श्रीपञ्चकयुक्तगोवर्धनाधीशैश्वर्यरूपादिरूपाणि । स्त्रीलाः 'तदेजति तन्नैजति तदूरे
तद्भक्तिके' इत्यादिश्रुत्युक्ता निष्प्रतियोगिन्यः ।

सप्रतियोगिन्यो बाललीलाधः । तज्ज्ञात्वेत्यादि ।

तज्ज्ञात्वा सेवनाकार्येणैवंरूपविभेदतः ।

सेवयामास बागीशो बहुरूपाणि वै हरेः ॥ ६ ॥

तद्ब्रह्म सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाधिकरणोक्तरीत्या प्रथमपादमपीति ज्ञात्वा । किञ्च 'सर्वं खल्विदं
ब्रह्म तज्जलानिति शान्तं उपासीते'तिश्रुत्या च ज्ञात्वा । 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूपे'ति विश्वप्रदर्शनाध्याये
गीतया च ज्ञात्वा । सेवना कार्येति हेतौरेवं वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः । तद्रूपं निरूप्यते । प्रतिमाया
जगन्नित्यत्वेन नित्यत्वात् कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्षणं प्राप्नोति । तथा च घटः कपालद्वयं संयोगसहितमस्ति
कार्यं कारणं च । अत्रामिन्ननिमित्तोपादानो घटः । एवं जगत्कार्यमभिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्मामिन्नं पटवच्च ।
'कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्षणं पटतन्तुवत्' इति वाक्यात् । तत्रापि साकारब्रह्मणः 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं
विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति तैत्तिरीयोक्तं भावेन रूपम् । 'नवाम्बुदानीकमनोहराय प्रसन्नराजीव-
विलोचनाय । वेणुखनामोदितमोकुलाय नमोस्तु गोपीजनवल्लभाय' इत्युक्तं तरुणं प्रादेशमात्रं वा
जगदन्तर्गतप्रतिकृतिरिति तद्रूपम् । 'कटकाद्युपचाराः साक्षात्कृता भवन्ती'ति निबन्धटीकायाः । न
तु 'सदंशेन जडा अपि' इति निबन्धादयोगोलके वह्निरिव ह्युक्तं रूपं व्यासम् । भक्तभावेन पूर्वं सदंश-
त्वेपि कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्षणानन्तरं तिरोहितज्ञानानन्दाविर्भावाङ्गीकारेण सदंशमात्रत्वाभावात् ।
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति छान्दोग्ये नृसिंहतापिनीये च 'सच्चिदानन्दात्मकमिदं सर्वमि'ति च । तथा च
भाष्यम् 'भक्तिमार्गे तु भक्त्या तत्र प्रकट' इति भक्तभावेन पूर्वोक्तदिशा न्यूनेन अन्यथा ततो न्यूनेन
ततोन्वयेति बोध्यम् । अग्रे स्पष्टम् ।

शिक्षायां हरिःॐ ॐ शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वयमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुक्मः । नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासीति सप्तमित्रादीनुत्त्वा नमो ब्रह्मण इत्येकत्वपूर्वकं वन्दनभक्तिरुक्ता । निमिदा खेहने, मेघतीति मित्रः 'अमिचिमिदिशसिम्यः क्रः' इति क्रन् । म्रियते वृणोति वा, वृञ् वरणे, 'कृवृदारिम्य उनन' । इयति अर्थमा, 'श्रुक्षन्पूषन्' इति निपातितः अर्थमा सूर्यः साम वा । इन्दति 'ऋत्रेन्द्रे'त्यादिना रन् । बृहतां पतिः 'तद्बृहतो'रिति सुदतलोपौ । विष्ट व्याप्तौ वेवेष्टि 'विशेःकिचे'ति नुः । उरु क्रमो यस्य ।

एवमेकस्य रूपलीलाविभेदतो ज्ञानमाहुः ।

गोवर्धनाधीशरूपं मूलरूपानुकारतः ।

शरणीयं च सेव्यं च भक्तिमार्गानुसारतः ॥ ७ ॥

मूलरूपं ब्रह्मरूपं देवरूपं तुरीयं तत्त्वं तदनुकरणतः अनुकूल्यधिकरणे 'सर्वोपि पदार्थस्तमेवानु- करोति सूर्य रश्मय इव छाया पुरुषमिवैवं तुरीयं देवं गोवर्धनाधीशरूपमनुकरोतीति तदनुकारः । कर्म- प्युपपदे घञ् । ततस्तसिद्ध । अत्र मूलरूपे सूत्रं 'पुरुषाश्मवदिति चेतथापि,' 'अद्वयत्वादिगुणको धर्मोक्ते'रिति । श्रुतिस्तावत् । 'यत्तदद्वयमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विशुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्गतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा' इति । 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । उत्तमः पुरुषस्त्वन्व्यः परमात्मैत्युदाहृत' इति 'यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' इति गीता । शरणीयमिति । शरणमार्गो निषन्धे 'जगन्नाथे विष्टलेषु श्रीरङ्गे वैष्टेऽथवा, यत्र पूजाप्रवाहः सात्तत्र तिष्ठेत् तत्परः' इत्यत्र स्वाशयप्रकाशनद्वारा स्थितिरूपः । तद्विषयीकार्यम् । सेव्यमिति व्याकृतमिदं पदम् । भक्तिमार्गो ह्युत्सवादिनिरूपणे वक्ष्यते तदनुसारस्तदनुसरणं तस्मात् ।

शब्दात्मको भगवान् निषन्धे भावनान्तरे चास्ति । प्रथमद्वितीयस्कन्धौ चरणी, तृतीयचतुर्थौ जह्ने, ऊरू, श्रीहस्तः, स्तनभागौ, हृदयम्, शिरः वामश्रीहस्तः क्रमेण ।

अथ पीठकभावना । भगवतो भागवतस्य रूपं 'उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युते'ति निषन्धाद्भक्ताकारणाश्रयो भगवान् रसमर्यादया भावनीयः । 'तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्य' इति वाक्यात् । 'सर्वरस' इति श्रुतेश्च । तत्र रसो भक्तिः स च 'विभावातुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति'रिति तत्रादालम्बनोक्तावप्युद्दीपने किञ्चिद्भक्तव्यमपि चानुभावसंचारिभावा वक्तव्याः । तत्र विहगो मुनिः 'प्रायो वताम्ब विहगा मुनय' इति, सोनुभावः भक्तिमनुभावयतीति । द्वितीयविहगोपि । मेघः कालो लीलाकुलः उदीपनश्रेष्ठरूपत्वात् । शेषः सङ्कर्षणः शय्यादिरूपः । आलम्बन- विभावः व्यूहत्वात् । आकार्यभक्तो हि 'सर्वं सर्वमयमि'ति श्रुतेः शेषो द्वितीयः शेषपत्नी । श्री- गोवर्धनस्यास्त्रयो भक्ता धर्मार्थकामास्त्रयो विभावा आलम्बनविभावाः । गावो गोकुललोकबोधिका उदीपनविभावाः । श्रीनृसिंहोऽक्षरः 'प्रमुत्सेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भव' इति निषन्धालोक- बीजम् । भगवानक्षरस्य उत्तमः पुरुषः । अधो यमुनाजित् । अन्यच्छ्रीगोवर्धनजिद्धरिदासवर्यः तदुक्तं नित्यलीलावादे विद्वन्मण्डने यावती रसमर्यादा तावन्तोर्था मगवद्रूप मन्तव्याः अयमेको भक्तिरसः । शब्दात्मको भगवान् इतिपक्षे 'उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युत् । दक्षिणेन करेणासौ मुष्टीकृत्य मनांसि नः । वामं करं समुद्धृत्य निहृते पश्य चानुरीमि'ति ॥ १३ ॥ सार्ध-

पद्योक्ताकारणार्थमेव निकुञ्जमन्दिरद्वारे स्थितोस्तीति पीठिकाभावना । अथ शब्दार्थयोरौत्सुकिक- सम्बन्धाद्भक्ष्यमाणरीत्या षड्धर्मादिभावनास्तया रीत्या समष्टिभावनायामपि कृतायां 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवाद' इति पद्यसङ्गृहीतनित्यलीलावादोक्तलीलाभावनायामपि विद्वन्मण्ड- नोक्तदिशा सिद्धायां धर्मनिरूपणात्म्यरूपधर्मस्फूर्तेर्भूले उक्तत्वाच्छब्दार्थरसरूपघृषो रूपे वेणुमीतम् । अत्र प्रमेयप्रकरणं षड्गुणयुक्तस्वरूपवर्णनेन धर्मनिरूपणमिति सुभयरूपरसभावनायां परिवर्त्यते । वेणुगीतारम्भे 'सगोगोपालकोच्युत' इति । 'अच्युतं पादपद्मैकरूप'मित्यत्राच्युतत्वं भजनीयतावच्छेदकं रूपमुक्तं, सोच्युतः सगोगोपालकः गोगोपालाः पीठकस्थाः । किञ्च 'इत्थं शर- त्स्वच्छजल'मिति वृन्दावनविशेषणत्पीठकस्था श्रीयमुनाजित् । निकुञ्जरूपवृन्दावनद्वारे स्थितो भक्ता- कारणार्थमिति शब्दात्मको भगवान् इति पक्षे पीठिकाभावना । उपलब्धानां माला स्वरूपे वर्तते चूतप्रवालश्लोकोक्ता । तस्याः स्वरूपं योगमाया । गोपालतापिनीये श्रुतिः 'कण्ठं तु निर्गुणं प्रोक्तं माल्यन्ते आघयाजया । माला निगद्यते ब्रह्मंस्तव पुत्रैस्तु मानसै'रिति । आघा मायाजा तथा माल्यन्ते माल्यते । कीर्तिमयी सा । कीर्तिमयी वनमालामिति 'बर्हापीड'श्लोकसुषोधिण्याः । 'वृन्दा- वनं सखि भुव' इत्यत्र 'अद्वैतान्वपरतान्यसमस्तसत्त्व'मिति वृन्दावनविशेषणान्निकुञ्जमन्दिरद्वारे तेन गोवर्धनाधीशपदसमानता । अर्थपक्षे रसरूपा विभावाः । 'धन्याः स्म मूढमतय'इत्यादिश्लोके धर्मोपा- भैश्वर्यादीनां निरूपणम् । तदग्रे स्फुटिष्यति । 'कृष्णं निरीक्ष्ये'त्यत्रापसरसां स्वरूपं तासां भावने सत्युपयुज्यते । 'गावश्च कृष्णमुखनिर्गते'त्यनेन पीठिकास्थगवां स्वरूपम् । 'प्रायो वताम्ब विहगा' इत्यनेन शुक्लमयूरस्वरूपम् । 'नषस्तदे'त्यत्र श्रीयमुनाजित्स्वरूपम् । 'दृष्टातप' इत्यनेन कन्दराया मेघत्वेन भावने तरस्वरूपमुक्तम् । 'पूर्णाः पुलिन्य' इत्यनेन भक्तब्रह्मस्य पुलिन्दीत्वेन भावने तस्वरूपमुक्तम् । 'हन्तायमद्रि'रित्यनेन सम्पूर्णपीठिकायाः स्वरूपम् । 'गागोपकै'रित्यनेन श्रीगोवर्धने पुलिन्दीषु च कृषोपपतिः । इत्थमर्थपक्षे विभावाः । ननु शब्देनैव निर्वाहेऽर्थस्य द्वितीयतया 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मे'ति श्रुतिविरोध इति चेत् । शब्दसुष्टेरर्थस्यापि शब्दात्मकत्वात् । किञ्च ब्रह्मणो विरुद्धधर्माधारत्वेन शब्दः पुंस्त्वविशिष्टः ब्रह्मार्थरूपं नपुंसकत्वविशिष्टम् । तथा च श्रुतिः 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवधं निरञ्जन'मिति । पद्यपुराणे तु 'निष्कलो निष्क्रियः शान्तो निरवधो निरञ्जन'इति । एतेन छन्दसं नपुंसकत्वं श्रुताविति ज्ञायते । तेन पुंस्त्वनपुंसकत्वविशिष्टं विरुद्धधर्माधारे ब्रह्मरूपमिति । इति पीठिकाभावना समाप्ता ।

अथ गुणप्रकरणे यत्तन् 'निर्धर्मको वा मित्रो वा निरोधं कुरुते यदि । तदा व्यर्थं समस्तं स्या'दिति षड्गुणवर्णनमाहुः कृष्ण इत्यादि ।

कृष्णः स्वैश्वर्यरूपेण प्रकटो बाललीलया ।

नवनीतादिचौर्येण स सेव्यस्तत्प्रभावतः ॥ ८ ॥

समष्टिरूपेण सेवितोपि व्यष्ट्या धर्मरूपेण । एवं धर्मरूपस्य सेवायां श्रीनवनीतप्रियजित् दुग्धस्य सर्वप्रतिष्ठाभूतस्य तत्त्वं नवनीतम् । 'पयसि सर्वं प्रतिष्ठित'मिति संहिताश्रुतेः । तदपि शुद्धम् । नवनीते तेजोरूपघृतस्य सत्त्वात् । 'तेजो वै घृत'मिति श्रुतेः स आश्रयः । 'सर्वमनुमप्रियते'ति बृहदारण्य- कात् । भक्तिविशेषाधिकारिणां भक्तानामिच्छातः 'अचलत्वं चापेक्ष्ये'ति सूत्रोक्तायाः । कृष्णः सदानन्दः स्वैश्वर्यरूपेण प्रकटो भवति । तदा बाललीलया युतो भवति । नव- नीतादिचौर्येण रूपेण प्रतिभारूपं च भवति । आदिना रोत्यादि । इदमुक्तं भवति ।

नवनीतचौर्यं शक्यतावच्छेदकं नवनीतचौर्यविशिष्टनवनीतचोरे शक्तिः । यद्यप्यष्टमी तिथिः रोहिणी-
नक्षत्रं वृषराशिरिति न नवनीतचोरपदप्रवृत्तिनिमित्तं नवनीतचौर्यं, तथापि ह्यनुकृतेर्नवनीतचौर्यं
शक्यतावच्छेदकं बोध्यम् । सर्वकर्मकर्तृत्वमष्टमीतिथिजातस्य भवतीति चौरकर्मकर्तृत्वमपीति वा,
अत एवैकादशसुबोधिन्यां 'मूर्त्याभिमतया स्वये'त्यस्य प्रकारसहस्रमध्ये नवनीतचौर्यादिरूपेषु स्वभावो
नियामक इति । प्रसिद्धं तु नवनीतप्रियजित्त्वं शक्यतावच्छेदकम् । एवं चोत्सवाध्याये ऐश्वर्य-
निरूपके या बाललीला तथा नवमेध्याये ज्ञाननिरूपके नवनीतादिचौर्यं तेन च प्रमाणप्रकरणीयाः सर्वा
लीलाः प्रसिद्धाः श्रीनवनीतप्रियजितीत्युक्तम्, 'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालित'मिति भाष्यात् ।
ननु मूलरूपानुकारत एव सेव्यो मुख्यत्वादित्याकाङ्क्षायामाहुः प्रतिविधानम् । स सेव्य इत्यादि ।
भवेदेतदेवं यदि धर्मित्वेनैव भक्तिविषयः स्वारिकन्तु ऐश्वर्यादिरूपा धर्मा अपि नवनीतचौर्यादि-
रूपैस्तस्य मूलरूपस्य प्रभावः प्रकृत्यो भावो धर्मस्तस्माद्धेतोः स नवनीतचोररूप ऐश्वर्यधर्मोपि
सेव्यः । अन्यथा 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दित्यत्र निरूपितो भगवतो धर्मोभेदो माहात्म्यं जीवा-
त्म्यैक्यं च ज्ञापयनं स्नेहमात्रपर्यवसायी स्यात्, एवं तु स्नेहेन धर्मोनुवृत्त्याख्यसेवापर्यवसायीति सिद्धा-
न्तमुक्तावलीस्य 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति वाक्यानुगुण्यमेव गुणः । कृष्णो भगवान् । भगवानिव भगो
अपि सेव्या इति । अन्यथा युगलमीते 'कृष्णे वनं यात'इत्युक्ते सति तल्लीलाः प्रगायन्त्य इति
वक्तव्ये 'कृष्णलीलाः प्रगायन्त्या' इत्युक्तौ कृष्णपदं व्यर्थं सत् किञ्चिज्ज्ञापयति कृष्ण इव कृष्णलीला इति
ह्यतिप्रयोजनको ग्रन्थः स्यात् । भगो लीलावत् । धर्मो त्वरसः, सर्वरसोयं त्वैश्वर्यधर्मोद्धतरसः ।

ऐश्वर्यलक्षणम् । ईश्वरस्य भाव ऐश्वर्यमित्यत्र प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारस्य महात्मन ईश्वरेण
सह भेदसम्बन्धस्याव्युत्पन्नत्वेनालौकिकविषय एव युक्त्यगोचरेऽभेदसंसर्ग आस्तीयते, 'प्रकाशाश्र-
यवद्वा तेजस्त्वा'दिति सूत्रभाष्योक्तरीत्या । आस्थिते च प्रकृतिप्रत्ययार्थाभेदे ऐश्वर्यमालम्बनविभावः ।
तद्गुणातिशया नवनीतचौर्यादय उदीपनविभावाः । स्वकीर्तनाश्रुपातादयोनुभावाः । तनुजवित्त-
जसेवामाहात्म्यज्ञानवैराग्यगतिधृतिदृष्ट्यादयो व्यभिचारिभावाः । देवादिविषयो विस्मयः स्थायिभावः ।
अत्राधिकारिणो राजसा नराः, 'मलानामशनि'रित्यत्र सुबोधिन्यां स्पष्टम् । वासस्त्यरसो धर्मो
इत्येवमुक्तं वासस्त्यरसो वा । अथ परिमाणम् । वैश्वानराधिकरणे गोवर्धनाधीशरूपं मूलरूपानु-
कारत इति तरुणमिति गोपालतापिनीयश्रुत्युक्तस्वरुणाकारः स्पष्ट एव नो प्रोच्यते । तत्रापि 'सुखित्त-
हस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युते'ति भागवतार्थनिबन्धोक्तः श्रीमदाचार्यभाषितत्वात् । स चातिरसरूपे
यद्वा पुरुषोत्तमयोगाध्याये 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन मारते'ति गीता । अत्र गीतार्थां सर्वभावेन
मां भजतीत्यनेन । पूर्वा... भगवदर्थधर्मितनुभावरूपमत्र नवतनुस्वनिवेशो परिवृडाष्टकटीकायाम् ।
ऐश्वर्यरूपं तु बाललीलापदसमभिव्याहारान्न तरुणमिति प्रादेशमात्रं प्रोच्यते । तथा च तत्रैव माध्यम् ।
'शब्दादिभ्योन्तःप्रतिष्ठाना'दित्यादिसूत्रे विरुद्धधर्माणां तत्तद्धर्मोपत्तिरित्यैश्वर्यमेव भगवतो वर्णितमिति
'आमनन्ति चैन'मिति सूत्रे तस्मात्प्रादेशमात्रो व्यापक इति वैश्वानरो भगवानेवेति सिद्धमिति च ।
तस्मात्प्रादेशमात्रो व्यापक इति भाष्ये व्यापकत्वात् 'आनन्दादयः प्रधानस्य' इति सूत्रे लीलापदार्थास्तु
ब्रह्मधर्मत्वेन व्यापका उच्यन्ते । व्यापकस्य धर्मिणो अनागन्तुकधर्मस्य व्यापकत्वनियमादिति भाष्यम् ।
तेन ऐश्वर्यादीनां ऐश्वर्यादय एव तेषामपीति न भावनीयं पूर्वसूत्रे प्रतिषेधात् । गुणप्रकरणनिबन्धे ।
ऐश्वर्यादिलक्षणानि । कर्तृभक्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वरः । 'येनैतावत्कृतं सर्वं स कृष्णो
भगवान्परः । इति दर्शयितुं षड्भिरध्यायैः षड्गणस्यैव षड्गणप्रयोजनं देवकीवसुदेवादीनामन्त-

र्षहिरानन्ददानं ज्ञानादिना पुत्रादिभ्यश्चातस्तादृशानामन्तर्बहिर्ज्ञानं पुत्रादिभ्य आनन्दान् यः प्रयच्छति ।
स ईश्वरः स एवैश्वर्यम् वेशुगीते च 'ईश्वरः पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदा । निरुपाधिकमैश्वर्यं
वर्णयन्ति मनीषिणः' इति 'धन्याः स्म मूढमतय' 'इत्यस्य सुबोधिन्यां, तथा अन्यान्यपि ।
बाललीलायां स्पष्टं तु ह्युत्सवाध्याये आनन्ददानं स्वेन पुत्रेण बहिरानन्ददानमैश्वर्यकार्यम् ।
तथा ग्रामीणानां मूढानां पूजनं चोत्सवाध्यायनिरूपितबालकस्य श्रीनवनीतरायजितः स्मर्यते ।
तद्व्ये साकारव्यापकत्वमग्रे शृङ्गारस्वरूपे वर्णयते । परं धर्मिणि अतो धर्मे ऐश्वर्यरूपे ।
अत्रैवं भक्त्या प्रकटे सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणोक्तरीत्या सर्वे धर्मा उपसंहर्तव्याः । तेन धर्मो
न निर्धर्मकः नापि भिन्नो निरोधं कुरुत इति सिद्धम् । अत्र अन्यथाकर्तुं समर्थत्वं ज्ञेयम्,
अन्यद्वा ज्ञेयम् । अत्र श्रुतिः 'ब्रजे स बालको भूत्वा क्रीडते पुरुषोत्तम' इति, 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं
विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति, 'मूर्त्याभिमतया स्वये'ति श्रीभागवतैकादशे, गीता 'यद्यद्विभूति-
मदि'ति, सूत्रं 'अन्तस्तद्धर्मोपदेश'दिति, सूत्राणां न्यायरूपत्वात् प्रतिकृतावपि प्रवृत्तिः, तथापि
श्रीगोवर्धननाथजिदन्तर्गतानां धर्मिणां...वादिना...तर्यादीनामित्याशङ्क्यामत्र सूत्रं 'सर्वाभेदादन्यत्रेभ'
इति । श्रुतिस्तु सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणविषयवाक्यं 'सत्पुण्डरीकनयन'मित्याषा 'रसो वै स' इति
श्रुतिश्च । गीता तावत् साधनाध्यायस्य श्रुतिसूत्रयोरियम् । 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचा-
रिणी'ति श्लेषश्लेषज्ञाध्याये साधननिरूपिका ।

वीर्यरूपेणेति ।

वीर्यरूपेण मधुरां गत्वा भक्ताधिर्मर्दनम् ।

कृत्वा गतः स्वप्रिययालिङ्गितो भक्तापहृत् ॥ ९ ॥

एवं 'अचलत्वं चापेक्ष्ये'ति सूत्रोक्ताया आधुनिकनित्यलीलाप्रविष्टमत्केच्छातो वीर्यरूपेण
प्रकटो भवति । सर्वरस इति श्रुतेर्वीरस्य गोवर्धनेशस्य भावो भवति । तदा राजसप्रकरणीयमधुरागमना-
दिलीलायुतो भवति । भक्तापहृत्त्वेन टिप्पण्युक्तमधुरसदनत्वेन रूपेण प्रतिमा रूपं च भवति ।
अत्र भक्तापहृत्त्वं मधुसदनत्वरूपं शक्यतावच्छेदकम् । प्रसिद्धं मधुरेशजित्त्वं शक्यतावच्छेदकम् ।
गुणाश्च यथासम्भवमुपसंहर्तव्या एव । अतः प्रिययालिङ्गितः । प्रिया कुञ्जा । स सेव्य इत्यन्वयः ।
राजसप्रकरणीयपञ्चत्वारिंशाध्याये वैराग्यनिरूपणं न वीर्यनिरूपणं अतः कुञ्जारूपया प्रियया वीर्यरूपे-
णालिङ्गित इति सङ्गतं न भवति । तथैव मधुरां गत्वेति मधुरागमनं राजसप्रकरणीयाष्टत्रिंशाध्याये ।
'अथापराद्धे भगवान्कृष्णः सङ्घर्षणान्वितः । मधुरां प्राविशद्रोपैर्द्विदक्षुः परिवारित' इति वाक्यात् ।
अष्टत्रिंशाध्याये च वैराग्यनिरूपणं, न वीर्यनिरूपणम् । अग्रिमाध्याये धर्मिनिरूपणं, न वीर्यनिरूप-
णम् । तदग्रिमाध्याये चैश्वर्यनिरूपणं, न वीर्यनिरूपणम् । एकचत्वारिंशाध्याये च भक्ताधिर्मर्दनं,
महादिवधस्य कृतत्वेन दर्शनाद्वीर्यनिरूपणम् । अक्षरात्मकत्वेन स्त्रीरूपजीवेषु । अग्रिमाध्याये च
मातापितृबन्धविमोचनोपसेनराज्यदानादेर्विशोषकत्वेन यशोनिरूपणं, न वीर्यस्य निरूपणम् ।
अग्रिमाध्याये श्रीनिरूपणं, न वीर्यनिरूपणम् । अग्रिमाध्याये ज्ञाननिरूपणं, न वीर्यनिरूपणम् ।
पञ्चचत्वारिंशे च 'सानङ्गतसुकचयोऽरसस्तथाक्ष्णोर्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रजो मृजन्ती । दोर्म्यां स्तना-
न्तरगतं परिरम्य कान्तमानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घताप'मिति वाक्याद्भक्तायाः कुञ्जायास्तापहृत् ।

अन्यच्च मथुरां गत्वा वीर्यरूपेण भक्ताधिर्मर्दनं कृत्वा सान्दीपनिगुरुं गोपिकाश्च पुत्रद्वारा भ्रमर-
गीतोक्तज्ञानद्वारा च सान्त्वयित्वा पुनर्मथुरां गत इत्यर्थः । तत्रापि वीर्यरूपेण भक्ताधिर्मर्दनातिरिक्त-
लीलाकरणादीर्यरूपेण मथुरां गत्वेत्यादि सङ्गतं न भवति यद्यपि तथापि 'श्लोकं रूपं रसात्स्य'मिति
नैयायिकानां सामानाधिकरण्येन रूपे गुणे एकत्वसङ्ख्या तथा पृथक्त्वरूपो गुणो यथा तथा वैराग्यादिना
भक्ताधिर्मर्दनातिरिक्तं सर्वमुपपद्यताम् । वीर्यलक्षणम् । 'वीर्यं मे दुश्चरं तप' इति वाक्यात्तपः ।
तत्रावेधम् । 'बुद्धिवीर्यं क्रियावीर्यं क्रिया च द्विविधा मते'त्यस्यां कारिकायां बुद्धिवीर्यं बुद्धिरूप-
तत्त्वान्तरकृतिः सा सुमद्राप्रसङ्गे लोकदोषेण सर्वदा कन्यात्वेनैव स्थितेर्युक्तत्वादुत्पन्नायाः सुमद्राया-
श्रौयायार्जुनाय दानकृतिः । अस्याः कृतेः स्थितिलीलायामन्तर्भाव उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनात् ।
वैकुण्ठस्य सुमद्रारूपस्येच्छाशक्त्या विजयाच्च स्थितिलीलारूपा कृतिः । तथा च युगलगीतसुबो-
धिनी । वीर्याणि जगत्कर्तृत्वादिरूपाणीति । क्रियावीर्यं तु जनकश्रुतदेषगृहयोरैकेनैव रूपेण
गमनकृतिः । यद्यप्यन्यथा कर्तुं सामर्थ्यरूपमैश्वर्यमिदं तथापि ह्यन्यथा कर्तुमित्यंशे क्रियावीर्यमत्र
कर्तुं कृतिरिति पर्यायः । तुमुनो भावे विधानात् । सामर्थ्यं चैकीभावलक्षणं व्यपेक्षालक्षणं वा ।
अन्यथा वैषम्यनैर्घुण्ये स्याताम् । एवं चैकीभावरूपसङ्ख्या ऐश्वर्यम् । कृतिः कर्म वीर्यमिति भेदः ।
वेणुगीते च 'वीर्यं देवेषु तत्रापि स्त्रीषु तत्रापि कामतः, सान्निध्ये पुरुषाणां च मूर्च्छं तेन ततो
महत्' । अत्रापि तत्तन्मर्यादया पालनकर्तृत्वरूपा कृतिर्वीर्यं बोध्यम् । कृतिपदं विहाय वीर्यपद-
मुपात्तं तत्प्रयोजनं देवेष्वित्यादिनोक्तम् । अत्र वीर्यपदं मुख्यम् । अन्यत्र गौणं यथा पूतनामार-
णलक्षणवीर्यं एवमग्रेपि सर्वत्रैतादृशविषये बोध्यम् । वीरसस्य विभावार्थः । सर्वसामर्थ्यसहितः
आलम्बनविभावो श्रुतिः । भक्तानां वीररसभावनमनुचितमिति सर्वसामर्थ्यसहित इति विशेषणम् ।
वीरप्रकृतिकम्पनिरोधार्यं वा लीला, तदा विशेषणं न देयम् । उदीपनं महाभलकुचलयापीड-
हननम्, 'लीलयेशो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृ'दिति चाणूरवाक्यात् । बालकिशोरोपेक्षणं कृष्णं
प्रति स्पर्धां चानुभावो । 'न बालो न किशोरस्त्व'मिति चाणूरवाक्यात् । गजादपि बलिष्ठत्वस्मरणं
व्यभिचारिभावः । 'तस्मान्नवद्भ्यां बलिभिर्याद्वर्धं नानयोत्र वै' इति वाक्याद् उत्साहः स्थायी भावः ।
परिमाणं तु 'समो मशकेन समो नागेने'त्यादि श्रुत्युक्तम् । प्रादेशमात्रं वा तावतोपि प्रादेशस्य
सम्भवादवतारादौ । श्रुतिः 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ता'दिति महा-
नारायणोपनिषत्स्था । सूत्रम् 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशा'दिति । न्यायरूपत्वात्, गीता, 'यद्यद्विमृतिमत्सत्त्वं
श्रीमद्भूजितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजो'शसम्ममव'मिति । तथापि श्रीगोवर्धननाथजिदन्त-
र्गतानां सेवादि न तत्प्रभूतानामैश्वर्यादीनामित्याशङ्क्याम् । सूत्रादिकं पूर्वोक्तं सर्वाभेदादित्यादि ।
गुणोपसंहारक्रेते तु श्रुतिरन्या । गोपालतापिनीये 'शङ्खचक्रगदापद्मवनमालावृतस्तु वा' इति । अत्र
दक्षिणभागमारभ्य शङ्खपद्मगदाचक्राणि बिभ्रन्मधुसूदनो भवति ।

अत्र प्रमेयप्रकरणीयलीलाप्रसिद्धेति भावनायां द्वारकानाथजित्तुजगोविन्दजिह्वातायामस्ति तदा
कालियदमनक्रियया स्त्रीगोपालवशीकरणादीर्यम्भवति परं मथुरां गत्वेत्यादिविरोधाद्गुणोपसंहारेण
योज्यमत्र एवं सर्वत्र । मूलरूपस्येश्वरस्य धर्मैश्वर्यादिचरित्रं प्रमेयप्रकरणीयं योज्यमत्र ।

१-ज्ञानद्वारेत्युक्तत्वात्ज्ञानरूपेण गतः । २-शक्यं सामर्थ्यं प्रपञ्चे अत्राकत्वभानात् । ३-प्रपञ्चे कृतप्रयत्नापेक्षः ।
४-एकीभावेन एको भगवालीलास्थपदाथश्वेति प्रतीत्या रूप्यते न्यवहित इत्येकत्वमिति तद्व्या सङ्गा ।

यशोरूपेणेति ।

यशोरूपेण भक्तातिं हृतवान्स्वप्रयासतः ।

सर्वशक्तियुतः प्रेम्णा स सेव्यो विद्वलेश्वरः ॥ १० ॥

अश्रुते अश भोजने, अशर्देवने युद चेत्यसुन् यशः । पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तानामिच्छतो यशोरूपेण
प्रकटो भवति । यशोरूपेण प्रेम्णो ज्ञापकविरहात्मकशब्दात्मकस्य योजनेन सात्त्विकभगवद्भक्तानामार्तिः
गीतोक्ताधिकाररूपा 'चतुर्विधा भजन्ते मा'मिति फलप्रकरणीयद्वितीयाध्यायोक्ता । तस्य यशोनिरूपकत्वात्
तृतीयेध्यायेपि । तत्र च भक्तानामवस्थाद्वये द्वितीयावस्थानुपचिते विरहानुभवो अतो भक्तानामार्तिः ।
तामार्तिं स्वप्रयासतः स्वस्य प्रेम्णा ज्ञापक इत्याद्युक्तः प्रयासः प्रयत्नः प्रमेयबलं ततः सर्वासु शक्तिषु
ब्रजवनितासु हृदि युतो मिश्रितः । विरहे आन्तरत्वाद्विद्वलेश्वरस्य । तादृशः सन्नार्तिं हृतवान् । 'आन्तरं तु
परं फल'मिति सुबोधिण्याः परत्वावच्छिन्ने फले ये विविधा भावा उत्पद्यन्ते न ते सङ्गमे इति । एतच्छा-
पितं नयनमुद्रणेन विरहेन्तर्भावे ज्ञानाभावात् । अतोत्र संयुक्तो रतिपतिः वियुक्तस्त्वभिरूप इति । स
विद्वलेश्वरः प्रेम्णा हर्षभावेन सेव्यः । 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथास्त्रितः भावः प्रोक्त',
इति काव्यप्रकाशात् । अत्र विद्वलेश्वरत्वं शक्यतावच्छेदकम् । अत्र यशोरूपविद्वलेश्वर आलम्बनं मन्दि-
रोत्सवादिकमुदीपनम् । हर्षकारणत्वात् । अश्रुपातादयोनुभावाः हर्षकार्यत्वात् । वैराग्यतनुचित्त-
सेवादिसञ्चारिभावाः । हर्षः स्थायी भावः । विस्तारिकायां हर्षस्योत्सवादिभिरुत्पत्तिकथनात् ।
उदीपनेपि श्रुत्सवादिकमुपात्तम् । प्रेम्णः सञ्चारिणोस्य हर्षस्य स्थायीभावत्वं शान्तरसे निर्वेदवत् ।
अस्य दुःखात्मकत्वापि सुखरूपत्वं रसस्यापरिमितलोकोत्तरानन्दरूपत्वेन तदन्तर्गतदुःखस्यापि सुख-
रूपत्वम् । नखक्षतकृतदुःखस्येव अत्र प्रेमपदमावृत्तं तच्च स्थाश्रयानन्दे आक्षिणिकम् । अतोत्र प्रेमपदेन
हर्षो रसः । श्रीकृष्णगोपिकाप्रोत्सेयादिना वक्ष्यते । वैश्वानराधिकरणोक्तं प्रादेशमात्रं परिमाणम् ।
निबन्धे लौकिकालौकिककर्तृत्वम् । वेणुगीते यशोलक्षणम् । 'समपादाम्बुजं सूक्ष्मं कटिलमं भुजद्वयम् ।
किरीटिनं लसदक्रं विद्वलेशमहं भज' इति शङ्खचूडहननेन स वैराग्ययुतः शङ्खयुतः । मूलरूपनिष्ठं
वैराग्यं अपि यशोरूपेपि प्रत्येति । एकं रूपमितिवत् । पीठं तु सर्वात्मभाववद्भक्तद्वयम् । निर्गुणे
भगवद्रूपे मूढानां सात्त्विकभगवद्भक्तानां प्रत्यक्षासक्तिवारणं विधाय ज्ञानभक्त्यात्मकं स्वधर्मं तेषु
योजयित्वा तज्ज्ञापकविरहात्मकं शब्दात्मकं च योजयित्वा मनसो निवेशनं यत्तत्करणत्वं यशस्त्वं
अष्टविंशतितत्त्वसम्मिते नाम्नि यशसीत्यादिगुणप्रकरणे श्रुतिगीताध्याये कारिकासु लक्षणं वेणुगीती-
यलक्षणसंमेलनेन । तदुक्तं वेणुगीते । 'यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणात् । स्वधर्मं
योजयेत्तेषु तदा भवति नान्यथे'ति । अत्र प्रयोगः । ब्रह्म यशसा, मूढानां भक्तानां प्रत्यक्षासक्तिवार-
णज्ञानभक्तियोजनोभयद्वारा निर्गुणे भगवद्रूपे मनोनिवेशनं कारयतीति । 'यशः कीर्तिः समाश्वा च
स्त्वः स्तोत्रं स्तुतिर्भुति'रित्यमरः । आचारोत्कीर्षायाकगुणवर्णनं स्तुतिः । एतदेवाचारोत्कीर्षायाकस-
र्वजनाह्लादकगुणवत्त्वम् । गुणवद्गुणवर्णनम् तत्त्वं स्तुतित्वं यशस्त्वमपि । विदा ज्ञानेन अत्र शून्यान्
उत्पन्नगृह्णाति यः स्वयं स विद्वलः कथ्यते ब्रह्मैः स ईश्वरो विद्वलेश्वरः पुष्टिरूपमिदम् । शङ्खपद्म-
मदानपश्रिया जुष्टमिति मर्यादारूपम् ।

विरह इत्यादि ।

विरहे भावितप्रेम्णा प्रियया द्वारिकास्थितः ।

मार्गतोङ्गीकृतः सेव्यः श्रियया द्वारिकेश्वरः ॥ ११ ॥

१-निर्गताः प्रकृतिगुणा यस्मात् । निखञ्जीरस्ये । २. प्रिया वा इति पाठः ।

उत्तरार्धे एकत्रिंशत्तयाये अष्टाविंशो वा स्पष्टोः । तत्र निर्गुणः कृष्णः गुणत्रयाभावः कृष्णश्चेति । त्रिविधमक्तदुःखहर्ता समष्टिव्यष्टिभेदेन इति । यद्वा द्वारिकास्थितः उत्तरार्धप्रथमाध्याये । प्रिया रुक्मिणी तया तद्विरेह भावितः पञ्चाशत्तमे आगतो रुक्मिण्याङ्गीकृतः श्रिययेति । अत्र पञ्चाशत्तमे श्रीरूपरुक्मिणीनिरूपणेन श्रीनिरूपणादिति भावः । श्रिया वा इति पाठः । श्रयति हरिमिति श्रीः किञ्चचीति किञ्चदीर्घौ । यद्वा प्रकृतिपुरुषौ रामकृष्णौ अतो योगेन बन्धूनां द्वारिकास्थापने मनसापि द्वारिकास्थितः प्रियया प्रकृत्या रामरूपया प्रेम्णा विरहाय भावितो मन्त्रितः मनसा आगतः अङ्गीकृतो विरहार्थं बहिर्गमनम् । श्रियेति पूर्ववत् । पद्मगदाचक्रशङ्खाश्वत्थु श्रीहस्तेषु माधवष्टिपण्युक्तदिशा गदाचक्रे दक्षिणयोरञ्जशङ्खौ वामयोर्धारयन् भवति अत इदं रूपान्तरम् । शङ्खगदायुदायुधमिति वाक्ये शङ्खगदे आदी ययोस्ते शङ्खगदादिनी पद्मचक्रे उदायुधे यस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । शङ्खपत्रे दक्षिणे गदाचक्रे वामयोर्धारयन् कृष्णो भवति एवमेतानि धारयति यदा शङ्खचक्रगदापद्मक्रमेण कृष्णो भवति तदा तानि हस्तेषु धारयन् वर्तते । यदा शङ्खाञ्जचक्रगदा धारयन् नारायणो भवति इतिवत् शङ्खगदयोः आदिनी चक्रपत्रे उदायुधे यस्येति विगृह्य वामपरावृत्तः क्रमः । शङ्खचक्रगदापद्मविराजितमथुराजन्मलीलो वनमालीति प्राप्तम् । श्रीलक्षणं निबन्धे 'हरिरेव श्रियं भुङ्क्ते श्रियं नान्यस्तु कश्चन' इति हरिभोग्यत्वम् । 'श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदी'ति वेणुगीते । आश्रयत्वाञ्छ्रीधर्मः । परिमाणं प्रादेशमात्रम्, तावत्प्रदेशस्य वामनावतारादौ सम्भवात् । रसस्तु शृङ्गारः । 'रुक्मिणीरमणः कामपिते'ति पुरुषोत्तमसहस्रनाम्नः । भक्तिरसे तु कामो दिदृक्षा-मात्रं श्रुतिस्तु 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूप'मिति अनन्तरूपेषु तावत् प्रादेशमात्रं रूपम् । 'अन्तस्तद-गोपदेशा'दिति सूत्रम् । प्रतिकृतेः सूर्यत्वाभावेपि सूत्राणां न्यायरूपत्वेन प्रतिकृतावपि प्रवृत्तेः । गीता 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽसम्भवं'मिति ।

ज्ञानं क्रमप्राप्तं निरूपयितुमादौ गोकुलचन्द्रमसं निरूपयन्ति कदाचिदित्यादि ।

कदाचित् यमुनातीरे ज्ञानरूपेण वेणुना ।

प्रियामाकारयन्सेव्यस्त्रिमङ्गो गोकुलाधिपः ॥ १२ ॥

अत्र ज्ञानस्वरूपं निरूप्यते, अतो ज्ञाननिरूपके युगलगीते कदाचित् युगलैर्गीतकाले । यमुनातीरे 'तर्हि मद्गतयः सरितो वै' इति वाक्यात् । ज्ञानरूपेण इति । अत्रापि मूलरूपगुणाः पूर्णानन्दैश्वर्योदयः सामानाधिकरण्येन उपसंहर्तव्या नान्ये तु गुणाः । गुणोपसंहारपादोक्तरीत्या मत्केच्छया ज्ञानरूपेण प्रकटो भवति । अभेदे प्रकृत्यादिभ्यः उपसङ्ख्यानमिति वार्तिकेन तृतीयया । ज्ञानाभिन्न-गोकुलाधिप इत्यन्वयः । त्रिमङ्गलस्यो मङ्गाः कटिप्रीवाचरणेषु यस्य सः । गोकुलाधिप इति । 'श्रीमद्गोकुलपालक' इति गोकुलाष्टकात् अन्यथा नन्दगोकुले तदीयजनैर्न गीतो भवेत् । युगलगीते 'वामबाहुकृतवामकपोलः' अत्र तु दक्षिणबाहुगतदक्षिणकपोलः । वामपरावृत्तो देवस्त्रीणाम् । स्त्रीणां पुरुषाणां च दक्षिणपरावृत्तो भावोद्बोधको वेणुना इति श्रीगोकुलचन्द्रमा इति प्रसिद्धः । आकार-यन्सेव्य इति । 'हन्त चित्रनचला' इत्यत्र हन्त अबला इति सम्बोधनं गत्वा दर्शनाभावायेति सुबोधिन्याः आकारयन् न तु सर्वशक्तिसंयुक्तः । अत्र शक्यतावच्छेदकं गोकुलाधिपत्वम्, प्रसिद्धं गोकुलचन्द्रमस्त्वम् । अथ ज्ञानलक्षणम् । क्षमालिङ्गेन स्वभावपरावृत्तिलिङ्गेन च माहात्म्यज्ञानं ज्ञानोत्कर्षश्च सारम् । ज्ञानवान् क्षमावत्त्वाद् भृगूपाख्याने कृष्णवज् ज्ञानोत्कर्षवान् स्वभावपरावृत्तेः

वेणुगीते 'नद्यस्तदा तदुपधार्ये'ति छन्द उक्तनदीवत् इति । गुणप्रकरणे कारिका 'ततः परन्तु ज्ञानस्य निर्णयो हरिमेधसः क्षमा तस्योत्तमं लिङ्गं कृष्ण एव प्रतिष्ठिते'ति 'ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात् स्वभाव-विजयो यदि, हरेश्वरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनादि'ति ज्ञानलक्षणं वेणुगीते । एवं च भृगूपाख्याने यथा क्षमा तथात्रात्मारामत्वलक्षणस्वभावपरावृत्तावपि ज्ञानोत्कर्षः प्रतीयते । भावस्तु स्मृतिः । उक्तकाव्यप्रकाशात् । रसो भविष्यति शृङ्गाररससंचारिभाववैराग्यवत् । अत्र ऐश्वर्यादीनां पाठक्रमादिव क्षणेन ज्ञानरूपः स्मरणविषयः श्रीगोकुलेन्दुरालम्बनं सदृशाद्यचिन्ताद्युदीपनं वेणु-नादप्रभावो देहविस्मरणं नृत्यमोहादि, 'वृन्दावनं सखि भुव' इत्यत्र 'कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सव-चाक्ष्वेश'मित्यत्र च निरूपितोऽनुभावः । वैराग्यसेवादयः सञ्चारिणः । स्मृतिः स्थायिभावः । परिमाणं पूर्वोक्तं सेव्य इति पदात्सूत्रादिकं च पूर्वोक्तम् ।

वैराग्यमाहुः । स्वीयेति ।

स्वीयचिद्वेषिवैराग्यलीलयाधारयद्भिरिम् ॥

तद्रूपेणार्तिहृत्सेव्यः प्रभुर्गोवर्धनेश्वरः ॥ १३ ॥

स्वीया गोकुलस्यास्तद्विद्वेषीन्द्रादिस्तत्र वैराग्यं विषयवैतृष्यसंज्ञं नित्यलीलाप्रवेश इन्द्रादिविषय-तृष्णा त्याक्तभावाय वैराग्याय साधनप्रकरणे चतुर्विंशत्तयाये कृतापराधेपीन्डे प्रसादान्मदत्याजनं लिङ्गं तेन दोषदूरीकरणरूपा लीला तया हेतुभूतया लीलया कृत्वा द्वाविंशोक्तायामेकं रूपमितिवच्छ्रियां मुख्यतया प्रतीतायां श्रीगोवर्धनगिरिमधारयदतो वैराग्यरूपाभिन्नो गोवर्धनेश्वरो 'भक्तार्तिहृत्प्रभुः सेव्य इति भावः । गोवर्धनयुत ईश्वरः श्रीगोवर्धनमन्वयाकर्तुं समर्थः गोवर्धनेश्वरः गोवर्धनस्य ईश्वरः इति विग्रहे षष्ठी संयोगसम्बन्धे इति युतपदेनोक्तं, न तु मध्यमपदलोपिसमासः वैराग्यरूपेण प्रकटे ईश्वरत्वं एकं रूपमितिवत्प्रत्येयति । त्रयोविंशे 'यः सप्तहायन' इत्यत्र वेणुं वादयन्निति सुबोधिन्या वेणुवादकः एकत्र करे शङ्खः । भेद्यतत्त्वापहारेण निर्वीयो भेषाः कृताः । 'अपां तत्त्वं दरवर' इति वाक्यात् । आधिदैविकसम्बन्धेनेन्द्रदत्तजलपानं कृतमिति भावनायाम् । गोवर्धनेश्वरत्वं शक्य-तावच्छेदकम् । भावस्तु मतिः । रसो भविष्यति । श्रीमद्गोवर्धनेश्वर आलम्बनम् । गुरूपसत्तिशास्त्रा-र्थोपदेशाद्युदीपनम् । सेवाद्यनुभावः । शमदमेहासुषुफलभोगनैराश्रयमुमुक्षुत्वानि सञ्चारीणि । गुरु-पसत्तिः शास्त्रार्थोपदेशमन्त्राचैरर्थनिर्धारालम्कमतिः स्थायिभावः । ननु वैराग्यं स्थायिभावः तत्प्रसङ्गा-दिति चेत्सत्यम् । एकं रूपमिति यत्प्रत्येयति वैराग्यस्य धर्मरूपत्वात् । परिमाणं प्रादेशमात्रम् । त्रिमङ्ग इत्यनुवर्तनीयम् । पीठं त्वक्षरात्मकं वर्तुलम् । वैराग्यलक्षणं पूर्वोक्तम् । अत्राप्युत्कर्षो वेणुगीते 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्विदि । मत्तया च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिते'ति । तादृशत्वं सखित्वम् । तदुक्तं गुणप्रकरणे—'कृष्णो विरक्तः किं वाच्यस्तत्संभवात्स्त्रियोऽपि हि । कामैकरसपूर्णाश्च विरक्ताः सर्वथा मता'इति । अत्र मत्तया हरेरपि हरयोत्र हि स्त्रियः सख्यश्चेति कामैकरसपूर्णासु सर्वथा वैराग्यं विषयवैतृष्यलक्षणम् । सूत्रादिकं पूर्वोक्तम् ।

अन्यत्रोभयोः स्वरूपयोर्ज्ञानवैराग्यवैपरीत्यं देवपदेन शृङ्गाररसत्वेन तुरीयं तत्त्वं निरूपितम् । परंयतो वाच' इति श्रुतेस्तदेकप्राधान्यं संदिग्धमिति धर्मत्वेन शृङ्गारमाहुः । मदनमित्यादि ॥

मदनं कामरूपेण स्त्रीभावाद्भाषितो हरिः ॥

मोहयन्मूलरूपेणावतीर्णः सेव्य एव सः ॥ १४ ॥

भावितो दैन्येनोत्पादितो हरिः शौरिः श्रीभावान् शृङ्गारभावान् हेलालीलादिहावजनकान् मोहयन् तेषां वैचित्र्यं कुर्वाणो हि कामरूपेण साक्षान्मन्मथमन्मथरूपेण कामाधिदैविकरूपेण श्रीनिरूपके श्रीप्राधान्येनावतीर्ण एकोनत्रिंशत्तथायाये यः स एव धर्मिनिरूपके त्रिंशत्तथायाये 'तत्रातिशुभमे ताभिर्मन्वान्' इति वाक्ये श्रीलक्षणञ्चरूप एव मूलरूपेणानन्दरूपेण त्रिंशत्तथायाये 'योगेश्वरेण कृष्णेने'ति कृष्णपदान्मदनं मोहयन्नित्येवभवतीर्णो धर्मां सेव्यो न सन्देह इत्यर्थः । 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाम्या'मिति व्याससूत्रात् । 'यतो वाच' इत्यस्या उत्तरार्धे 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति श्रुतेः । अन्यथा शोक एवावतिष्ठेदिति भावः । मदनं मोहयन्निति त्रिंशत्तथायायसन्दर्भयमिति मदनमोहनजित्त्वं शक्यतावच्छेदकं न तु श्रीभावमोहनजित्त्वम् श्रीभावान्मोहयन्नित्यस्य वाक्यस्यैकोनत्रिंशत्तथायायसन्दर्भयत्वात् । अत्र माव उक्तकाम्यप्रकाशाद् रसो भवत्येव । श्रीमदनमोहनजिदालम्बनं स्वामिन्यौ च । उद्दीपनं मंदिरोगानादि अनुभावोश्रुपातादिः । संचारिणो वैराग्यादयस्त्रयस्त्रिंशत् । रतिः स्थायी भावः । परिमाणमत्रापि प्रादेशमात्रम् । त्रिभङ्ग इत्यत्राप्यनुवर्तनीयम् । तासां द्वयोः स्वामिन्योर्भेद्य एकं स्वरूपं त्रिंशत्तथायाये वर्तते एव । गोकुलाधीशजित्यप्ययं उभयस्वामिनीमध्यस्थत्वरूपो गुण उपसंहर्तव्यः । धर्मिलक्षणं तु साधनाध्यायद्वितीयचरणेस्तेषोभयव्यपदेशाधिकरणेऽतस्तेपि विरुद्धाः सर्वे गुणा उपसंहार्याः । एकं रूपमितिवदपि ज्ञेयाः । सूत्रादिकं पूर्वोक्तम् । षट्सौसंगिकेषु स्वरूपेषु तेषु चान्यरूपेषु गुणोपसंहारैरनेकलीला अतिदिशन्ति स्म । एवमित्यादिना ।

एवंविधानेकलीलारूपैस्तद्भावभाविताः ।

सेवयेदन्वया तु स्यादपरार्धो न तत्फलम् ॥ १५ ॥

षट्सु स्वरूपेषु प्रथमं श्रीबालकृष्णजित्स्वरूपम् । एवंविधा एवमुक्तपरामर्शे ऐश्वर्यादिम्यस्तत्कारणलिङ्गज्ञापिका लीला उक्तास्तत्परामर्शेन विधाः प्रकारा यासां ता अनेका लीला अर्थात्तत्सदृशो लीलाः यथा प्रमाणप्रकरणयोस्तथाध्यायप्रतिपाद्या ऐश्वर्यज्ञापकनन्दाद्युत्सवलीला तत्सदृशी प्रपञ्चविस्तृतिपूर्वकमगवदासक्तिजनकत्वेन महापुरुषकर्तृत्वेन भवनाशकत्वेन च वीर्यलीला पूतनामारणलक्षणा । एवं यशःश्रीज्ञानवैराग्यधर्मिणां लिङ्गभूताः कारणभूता ज्ञापिकाश्च या लीलास्वामी रूप्यन्ते क्रियन्ते लिङ्गन्ते ज्ञाप्यन्ते ये वीर्यादयस्त्वरूपैः कृत्वा तासां भूतीनां भावैरुक्तै रससंयोगभावविस्मयभाववीरद्वेषस्थितिज्ञानशृङ्गारभावैश्च भावित उद्बुद्धसंस्कारादिभिर्भावनास्मरणं तद्युक्तः यथायोग्यं पूर्वोक्ता गोवर्धनाधीशादिभूतीः षडौत्सङ्गिकमूर्तीभ्यान्वामूर्तीश्च सेवयेदित्याज्ञा विधिराज्ञा । अन्यथान्यैः प्रकारैः सेवने तु "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथाप्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरिणात्मापहारिणे"ति श्रुत्युक्त आत्मापहारलक्षणो दोषरूपोपराधः स्यात्तु सेवाफलमित्यर्थः । तत्र उत्सङ्गे य कथ्यते स औत्सङ्गिकः श्रीबालकृष्णजित् । शैविकः प्रत्ययः । यशोलीला प्रसिद्धा शकटमञ्जने यशोनिरूपके सप्तमाध्याये नात्र हि फलप्रकरणे । 'यशोरूपेण कृष्णोत्र प्रकटो बाललीलया । नवनीतादिचौर्येण स सेव्यस्तत्प्रभावतः' ॥ १ ॥ व्याख्यातम् ॥ गोविन्दजित्कृतभावानायामपि यशोलीला पूर्वोक्ताञ्जोररीकृता । शेषं यशो निरूपणवत् । षट्सौत्सङ्गिकेषु भावनायां भावना उदिताः । तथाहि श्रीनटवरजिति यशोलीला नृणावर्तमङ्गरूपा सप्तमाध्याये यशोनिरूपके । 'यशोरूपेण कृष्णोत्र प्रकटो बाललीलया । नवनीतादिचौर्येण स सेव्यस्तत्प्रभावतः' । व्याकृतम् । श्रीनवनीतप्रियजित्पार्श्वे श्रीमदनमोहनजित् श्रीबालकृष्णजित् स्तस्तत्र । 'मदनं कामरूपेण श्रीभावान्भावितो हरिः । मोहयन्मूलरूपेणावतीर्णः

सेव्य एव मः' । निरूपितम् । अत्र जृम्भालीलेति भावनायां यशोनिरूपके सप्तमाध्यायेऽस्ति । 'यशोरूपेण कृष्णोऽत्र प्रकटो बाललीलया । नवनीतादिचौर्येण स सेव्यस्तत्प्रभावतः' । अत्र श्रीबालकृष्णजिति जृम्भालीला सत्त्वशुद्धिलीला च । जृम्भालीलाभावने 'यशोरूप' इत्यादिकारिका । सत्त्वशुद्धिलीलानाम धौर्त्यादिलीला अष्टमाध्यायोक्ता श्रीरूपा । 'स्वश्रीरूपेण श्रीकृष्णः प्रकटो बाललीलया । नवनीतादिचौर्येण स सेव्यस्तत्प्रभावतः' । श्रीनिरूपणे उक्तप्रायम् । गोकुलचन्द्रमोजित्पार्श्वे श्रीबालकृष्णजित्युत्सवलीला प्रसिद्धा ज्ञानरूपा । 'एकदा भाण्डस्फोटेन रञ्जुन्यूनतयापि हि । ब्रह्मत्वबोधनाख्यं हि ज्ञानं कुर्वन् स सेव्य उ' । ज्ञाननिरूपणे पूर्वं स्फुटम् । श्रीमदनमोहनजिति नलकूबरमणिश्रीबोद्धारलीला प्रसिद्धा । 'दामोदरेण' 'परमविक्रमितातिवैपस्कन्धप्रवालविटपा'वितिपदान्यां वीर्यरूपा । 'वीर्यरूपेण यमलार्जुनौ गवाधिमर्दनम् । कृत्वा च मोचितौ चैव तद्रूपं सेव्यमेव च' । वीर्यनिरूपणे स्पष्टम् । भावनायामप्येवम् । बालस्यात्र मदनमोहनकीडानुकरणं न मदनमोहनत्वम् । इति तद्रूपनिरूपणम् ।

त्रिषु साकारव्यापकं तद्रूपं च निरूप्य तत्र स्थितं निरूपयितुं यद्यपि तत्र स्थिता अन्येप्यङ्गतादिरसाः पूर्वमुक्तास्तथापि शृङ्गाररसेनैवान्ये रसतां भजन्त इत्यावश्यकमन्येषु रसेषु रसताजनकं शृङ्गारमङ्गीकुर्वन्तः शृङ्गारेणाविहितभक्त्यात्मकेन यथा ब्रह्मत्वेन खेहः पुष्टो भवति न तथाऽविहितेन चारमत्येन मत्या वा भवतीति गुरुभूताभिर्वजसीमन्तिनीभिराद्यतम्, अक्षराभिन्नोऽक्षरे प्रतिष्ठित इति अदृश्यत्वाधिकरणेऽक्षरस्यापि ब्रह्मत्वं पुरुषस्यापि तयोः परापरभावः अभेदश्च, एतादृश एव हि ब्रह्मवाद इति माध्यान्तादृशं शृङ्गारं निरूपयामभूतुः प्रतिज्ञापूर्वकं मङ्गलाचरणपूर्वकं चाज्ञानां गीतामविदुषां स्वविद्यसम्भवात् शृङ्गारस्वरूपम् । कन्दर्पेत्यादि ।

कन्दर्पकोटिलावर्णनं नत्वा गोपीजनप्रियम् ।

शृङ्गाररसरूपं हि यादृक् तादृक् निरूप्यते ॥ १ ॥

मनु पुरःस्फूर्तिकं ब्रह्मत्वं तत्र स्थितं रूपं न लक्तुं योग्यमतः कुतः शृङ्गारङ्गीकार इति चेच्छुभु । ब्रह्मत्वं सत्यत्वादिरूपं शृङ्गारे पर्यवस्यति, श्रीभागवतमते सत्यं परं धीमहीति ब्रह्मणि वेदार्थविस्तारकसति साधौ सत्यपदप्रयोगात्मकं लक्ष्मीस्तथा एकादशे 'आसीञ्ज्ञानमयो ह्यर्थ एकमेवानिकल्पित'मिति ज्ञानं ब्रह्म तथाऽऽशने सङ्कर्षणः शेषस्वरूपोऽनन्त इत्यर्थे उक्त एता.....वत्त्वं ब्रह्मदादत्त्वं.....द्वितीय....धन....नित्यस्य लीलावर्णने ; ननु शृङ्गारः कामस्तुतीयशास्त्रप्रतिपाद्यः कथं तुरीयरूपे तुरीयशास्त्रप्रतिपाद्ये कामपुरुषार्थ इति चेन्न 'भगवानेव हि फलं' सायुज्यं मोक्ष आनन्दोभूतमिति पर्यायाः । सायुज्यं च युनक्तीति युक् सह युक् सयुक् सयुजो भावः सायुज्यम् । 'सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फल'मिति निबन्धात् । 'मगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु अलौकिकसामर्थ्यं च' पुष्टौ फलम्, तत्र वास्तविकाणुत्पत्तिविशिष्टानामक्षरात्मकानां जीवानां ब्रह्मणि योगस्तूर्णांमुतानन्दपदवाच्यत्वमपि सायुज्यपदवाच्यत्वेति कोप्यानन्द इति संशये गीता प्रवर्तते 'मम योनिर्वद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यह'मिति मर्यादामार्गीयमोक्षे मर्यादिकं गर्माधानमवसीयत इत्येवम् । अत एव 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जित'मिति क्षेत्रक्षेत्रज्ञाध्याय एव ब्रह्मस्वरूपम् । पुष्टिमार्गीयफलतोस्तु 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति श्रुत्या स्फुट एवागन्दो रसात्मेति द्वादशाध्याये

'तं गोरजश्चरितकुन्तले'त्यत्र धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां धर्मोदिसहितानामेव मोक्ष इत्येकवाक्यतन्त्रं शृङ्गाररसो निरूपित इति च सुबोधिनीटिप्पण्यां स्फुटयं 'अतः शृङ्गारस्वरूपं निरूप्यत' इति प्रतिज्ञा । श्रुतिरूपाणां ब्रजसीमन्तिनीनामत्र शृङ्गार एव मनोरथान्तप्राप्तेः 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रिति वाक्यात् । आनन्दमात्रं पुराविदामिदं रूपमत एव वेणुगीतसुबोधिन्यां 'कृष्णं निरीक्ष्ये'त्यत्र 'तत्कणितवेणुविचित्रगीत'मित्यस्य व्याख्याने गीतं शृङ्गारान्तर्गतमिति विचित्रमिति विशेषणन शृङ्गार एव सर्वरसा इति नाट्यशास्त्रसिद्धान्त इति विचित्रमद्भुतरसवत् । किञ्च अन्यस्य रसत्वमेव न मन्यन्ते यथा महान्तः सुवर्णाभरणान्येवोपकरणानि कुर्वन्तीति सुबोधिन्यां भावनोक्ताः सर्वत्र शृङ्गारभावना । तथा हि

श्रीगोवर्धनाधीशेषु भक्तमनोरथेन तामसप्रकरणीयफलप्रकरणोक्तपूर्णानन्दैश्वर्यादयः प्रधाने भावेलिमाः 'उत्तिष्ठसहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युते'ति भक्तमनोरथपूरकं रूपमालम्बनविभावः शृङ्गारे शान्तरसे च । ननु कुतः शृङ्गार इति बृहदारण्यके ज्योतिर्ब्राह्मणे तद्वाच्यस्यै'तदात्मकाममासकाममकाम-
मरूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं शरीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तर'मिति अत्र प्रियस्त्रीदृष्टान्तशरीरात्मप्राज्ञरूपजीव-
दार्ष्टान्तिकयोर्दर्शनात् । इदं प्रथमाध्यायतृतीयपादान्ते 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने'त्यधिकरण उक्तम् । आचार्यमार्गे तु अन्यत्सर्वं भक्तमनोरथहेतुकं भक्तिरसरूपम् । तत्रालम्बनमुक्तम् । उदीपनविभावस्त-
च्छेष्टा, अनुभावः भगवता समं संलापादिः, स च भगवच्छय्यादिरूपशेषः पीठस्थः यद्यपि चतुर्भिव्युहै-
रेकोत्रालम्बनविभावस्तथापि रामः.....पि कृष्णावतारे स दृष्टः अनिष्टशङ्कायाः रसान्तःपातिनो
व्यभिचारिभावाः हरिदासनिष्ठाः नृसिंहोऽक्षरावतारः योऽदृश्यत्वाद्यधिकरणे पुरुषोत्तमाधिकरणं
तत्रोक्तभिन्नाक्षरशरणारविन्ददौ मुक्तभक्तौ मयूरो मुक्तजीवः, शुकश्च भक्तः त्रयोपि ब्रजभक्तानां
पुंभावगताः । मेघश्लेषारूपः कालः महिषी.....क्षे उपवेदादि ऋग्यजुर्मगोभ्यः.....पश्चाद्दजा गावो
महिष्यश्चे'त्यत्र कीर्तनाद् द्वितीयः शेषश्च, भावनीया गावः ऋचः शङ्खश्वेतमुनाजित्त्यान्तःकरणीया इति ।

श्रीनवनीतप्रियजित्सु गुसरसप्रकारो बालभाव एव । निरावृत्तस्वरूपं रसाधायकमिति कटिवस्त्राणि नो धारणीयानि । वासुदेवव्यूहकार्यस्य मनोरथान्तदान आवश्यकत्वात् । 'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम् । तदन्यदिति ये प्रादुरासुरांस्तानहो बुधा' इत्यादि ।

श्रीमथुरेशजित्सु मुजाचतुष्टयं स्नानन्ददानं वासुदेवव्यूहस्य सायुज्यदातुः सर्वात्तकीडा पूर्वोक्तश्च व्यूहस्तत्सहिता गोपीजनानां भक्तत्वं.....गोचारणं कृत्वा ब्रजे यदागच्छति तदा भक्तानां स्वमुखासृतपानं कारयति यत्तत् । द्वितीया स्नानन्ददाने प्रति-
बन्धनिवारणं विरहजतापस्योपशमनम् । तृतीया स्वसेवाकारणं मार्गं सन्ध्याभोगस्य स्वीकरणम् । चतुर्थी आधिदैविकभावस्य परम्परोद्बोधनं वने चतुर्दशरसानां या लीला कृता सा, प्रत्येकरसानां स्थायिभावान् प्रकटीकृत्य ब्रजभक्तासुदोषितेति ।

श्रीमद्विठ्ठलनाथजित्सु तामसप्रकरणीयफलप्रकरणद्वितीयाध्यायोक्तलीला प्रसिद्धा तत्र वीर्योक्ते मोक्षप्रसङ्गाद्वासुदेवप्रसङ्गात् वासुदेवचरित्रं बोध्यम् ।

श्रीद्वारकानाथजित्सु

'मूवल्लीसंज्ञयादौ सहचरि निकरे वर्जयित्वा स्वकीयाम्
पश्चादागत्य तूष्णीमथ नयनयुगं स्वप्रियाया निमील्य ।

कोसलीत्येतद्वचनमसकृद्रेणुना भाषमाणः

पातु क्रीडारसपरिचयस्त्वां चतुर्बाहुस्त्वै'रिति ।

श्रीगोकुलाधीशजित्सु साधनप्रकरणीयकृषिपत्नीप्रसङ्गः ।

श्रीगोकुलचन्द्रमोजित्सु फलप्रकरणीयचतुर्थीध्यायोक्तलीला ।

श्रीगदनमोहनजित्सु फलप्रकरणीयप्रथमाध्यायोक्तलीला भावनीया एवं षडसु औत्स-
ङ्गिकेषु गुणोपसंहारेण शृङ्गारलीला भावयितव्या । अष्टस्वरूपाणि धर्मिरूपाणीति भावनायां आनन्द-
मनःशरीरजीवशरीरक्रियाप्राणानङ्गाः क्रमश इति केचित् ।

प्रकृतमुच्यते । कन्दर्पकोटेलीवण्यं सम्मोगशृङ्गारो यस्य तं लवणा त्विदं लवणैव लवण्यम् ।
स्वार्थं ध्यञ् । 'लवणा त्विषी'ति विश्वः । शृङ्गारनिरूपणे विघ्नस्य ध्वंसाय यः कश्चिच्छृङ्गारस्तद्विशिष्ट-
रूपस्य मङ्गले कर्तव्यं उपादानमुचितमिति विशेषणम् । परकीयास्वेव रस इति विशेष्यमीदृक् ॥ १ ॥

स्वच्छ इत्यादि ।

स्वच्छो मरकतश्यामः स्त्रीपुरुभावात्मकः पटुः ।

अनन्यपरतश्च रसः शृङ्गार उच्यते ॥ २ ॥

स्वच्छः श्यामरूपेऽयोग्यश्यामरहितो न शुचिर्नाप्युज्वलः । तेन शृङ्गारपदोपादानेपि न
पुनरुक्तिः । 'शृङ्गारः शुचिरुज्वलः' इत्यमरः । मरकतमणिवच्छ्यामः । अत्र सुबोधिनी तृतीये
षड्विशेषेऽध्याये यद्विदुरित्यत्र 'श्यामश्च गुणः शृङ्गारात्मको भवती'ति । भावत्रयाभिव्यक्तः स्थायी श्याम
इति प्रमं वारयामासुः । स्त्रीति स्त्रीपुरुषो भाव आलम्बनविभाव आत्मा स्वरूपं यस्य आलम्बन-
विभावो मरकतश्याम इत्यर्थः । पटुश्चतुरः । न परतश्च इति वक्तव्येऽन्यपदसंवलितपदेन स्वैतरपरो
व्युदस्यते नित्यलीलायां स्वात्मकपरेषां तत्र इति हृदयम् । रस इति । रस आस्वादाने । शृङ्गारः
शृङ्गं प्राधान्यं इत्यति स शृङ्गारः । कर्मण्यण् । शृङ्गो भावाङ्कुरः । अनन्यं परं तत्तश्च शृङ्गारो
रस इत्यर्थः ॥ २ ॥

गाढेत्यादि ।

गाढत्वाद्गुणपक्त्वाच्च ब्रह्मत्वाच्छ्याम उच्यते ।

शृङ्गारः श्यामो गाढत्वाद्गुणवद् व्यापकत्वाच्चीरूपनीलाकाशवत् नीरूपो 'नील आकाश'
इति प्रथानरत्नाकरे प्रमेयप्रकरणे उपपादितम् । ब्रह्मत्वादानन्दवदित्यनुमानत्रयम् । न च गाढत्वं
शुभ्रप्राणादादी, व्यापकत्वं मनआदौ, ब्रह्मत्वं स्वयंप्रकाशादाविति साध्याभावबद्धत्वात्साधारणा हेतव
इति वाच्यम् । हेतूनां श्यामसमानाधिकरणश्यामत्वसमानाधिकरणान्यतरेण विशेषणीयत्वात् । न चैवमपि
पक्षे हेत्वसिद्धिः विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानस्य कारणत्वेन विशेषणीभूतश्यामाज्ञानप्रयुक्तश्यामसमाना-
धिकरणगाढत्वाद्यज्ञानादिति वाच्यम् । श्यामसमानाधिकरणश्यामत्वसमानाधिकरणेत्यास्यां श्यामे-
तरासमानाधिकरणश्यामत्वेतरासमानाधिकरणयोर्विवक्षितत्वात् । भवति च पक्षे श्यामेतराशैत्वात्स-
मानाधिकरणगाढत्वं जलरूपदृष्टान्ते यथा तथा श्यामेतरदुःखासमानाधिकरणगाढत्वं यथा श्यामे-
तराश्यामत्वात्समानाधिकरणव्यापकत्वमाकाशरूपदृष्टान्ते तथा पक्षेऽपि ।

यथा च श्यामेतरानाह्लादकत्वात्समानाधिकरणब्रह्मत्वमानन्दरूपदृष्टान्ते तथा पक्षेपीति परगमन
प्रणाडी रसस्याद्गुः सार्धेन स्त्रीति ।

श्रीपुंमेमविहारात्मगाथानन्दविभावतः ॥ ३ ॥

प्रादुर्भवति कृष्णात्मा हृदि भावाङ्कुरात्मकः ।

अनिर्वाच्यानन्दरूपानन्दानुभवसाक्षिकः ॥ ४ ॥

स्वगतो रसो भवति यदा रामसीतादयः परस्परानुरागे परस्परं कारणानि तदन्वयव्यतिरेकानु-
विधानात् । कटाक्षादयः कारणानि । असति रत्यादौ तदभावात् । लज्जाहास्यादीनि सहकारीणि
न तत्कार्याणि । तेन विनापि सम्भवेन व्यभिचारात् । न वा कारणानि तदुत्तरस्वाङ्गैयत्यात् । किन्तु
स्वसामग्र्या प्रादुर्भवन्ति सन्ति रत्यादेरुपवासकानि भवन्ति । सामग्रीसंपातेन रत्यादेरेव रूपस्य तत्र तद्वि-
चित्रस्मितरुदितकार्यजननायोगेन सामग्रीवैचित्र्यापादकानि । अत्र विभावादिभिरमिव्यक्तः स्थायिभावो
रसः । अयं शृङ्गमियतीति शृङ्गारः । शृङ्गो भावाङ्कुरः । अनन्यं परं तत्तत्रः शृङ्गमियतीति शृङ्गारो रस
इति । तथाहि सामाजिकानां सामाजिकरत्यादिवासनाया उद्बोधो हि रसः तस्याश्च रामादयो न
कारणानि असन्निहितत्वात् । कटाक्षादीन्यपि न कार्याणि व्यधिकरणत्वात् । तेषामालम्बननिष्ठत्वात् ।
एवं सहकारिणामपि सामाजिकेष्वभावात् । किं तु तैर्भावनायाः प्रवर्तके सामाजिके बाह्यविषयेभ्यो
व्यावृत्ते मनसि ज्ञानसुखात्मको रत्यादिः स्वयं प्रकाशते ज्ञानोपनीता विभावादयोपि तद्विषया इति
समुद्दालम्बनरूपता । विभावनमनुभावनं सहकरणं च तस्य तस्य व्यापारासौश्च रत्यादेरीषत्स्फुटतरः
स्फुटतमश्च प्रकाशः विभावनमनादिसामाजिकवासनान्तर्लीनरत्यादेर्वासनाया बहिःकरणम् । अनुभावनं
तथाभूतस्य रत्यादेरास्वादाङ्कुरयोग्यतानयनम् । सहकरणं तथाभूतस्य तस्यास्वादाङ्कुरप्रादुर्भावनम् ।
इत्थं व्यापारवैलक्षण्यादित एव कारणादयो विभावादिव्यपदेशात्स्थापिभावो रसः ।

प्रकृतमुच्यते । प्रकृते तु रामसीतावलङ्कमीकलानिधयोः श्रीपुंसोः 'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या
सद्विषयः सत्यति यथा' इति वाक्यात्प्रेमा । अयं शृङ्गार इति काव्यप्रकाशादौ । कथं शृङ्गारमात्रेण
वशीभवेत् । शृङ्गारोऽपि भक्ताभावात्कस्येच्छया भवेत् । तेन प्रेम्णा प्रेमा शृङ्गारः । गौण्य
प्रेमपदवाच्यः । 'शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वल' इत्यनेन शृङ्गारनामानि श्रीणीति । यः प्रेमपदवाच्यः प्रेमा
स प्रेमा च प्रेमा च प्रेमाणौ सरूपैकशेषः विहिताविहितमक्तिरूपौ ताभ्यां ये विहारास्तत्र प्रेम्णो-
वस्थाद्वयं संयोगविप्रयोगात्मकं तत्रापि विरहे सर्वोपमर्द इति न विहाराः संयोगे परं नवरत्नमागवत-
भक्तिवाङ्मनीप्रोक्तं भवति सद्यसे च निरोधलक्षणग्रन्थोक्तं च भवति नोपदेशनं भक्तिमार्गस्य भग-
वत्सन्निधाने भगवदतिरिक्तस्यानुचितम् । किञ्च 'समुद्दिजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः' इत्यत्र टिप्पण्यां
ज्ञानमार्गीयसामग्र्या भक्तिमार्गसामग्री बलीयसीति निरूपणाद्भक्तिमार्गसामग्रीपूर्वकशृङ्गारविहाराः
'कपटोस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छत्र कैतवे' इत्यादि 'मह उद्धव उत्सव' इत्यन्तामरोक्ता नाट्यवर्गे त
आत्मनि वाच्यत्वेन यस्यास्तादृशी गाथा 'तददोषा' विल्याद्युक्तलक्षणकाव्यवन् निरोधप्रतिपादकदशम-
स्कन्धीया शब्दारिम्भिका तज्जा ये आनन्दाः श्रवणरूपभजनानन्दाः विषयानन्दविलक्षणाः प्रेम्णा
शुद्धानां व्यासाभिमारुतानामतिदुर्लभानां नारायणपराणाभवस्थानुकृतिलक्षणनाट्यवतां मुक्तानां मुमुक्षूणां
चानन्दाः स्वधर्मप्रेमरूपलोहसम्पृक्ताः श्रवणद्वारान्तःप्रविष्टाः तेषां विभावा आलम्बनविभावा मुक्तमुमु-
क्ष्वादिरूपा भक्त्या तद्रूपा जाता इति उदीपनविभावरूपा अप्यालम्बनविभावा जातास्तादृशाः । अत्र
विभावव्यञ्जनावृत्तिः । तेषामानन्दानां विभावतः । विशिष्टो भावः प्रेमा विभाव आलम्बनोदीपनरूपश्च
तत्र प्रादुर्भवति कृष्णात्मेति कृष्णवदितकार्यस्य शृङ्गारस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्रेम्णो विभावत इति

पदवाच्याद् हृद्यानन्दः कृष्णात्मा सदानन्दसविकल्पकज्ञानरूपः तावती मायां दूरीकृत्य प्रादुर्भवति
तत्र आत्मस्वरूपं यस्य शृङ्गारस्य । प्रकृते पूर्वोक्तोऽयमेव विभावेन व्यञ्जनया विभावपदवाच्यमुक्त-
मुमुक्षुरूपोदीपनविभावरूपभक्तानां मनोन्तर्लीनरत्यादेरीषत्प्रकाशः अनुभावेनेनानुभावपदवाच्यकटाक्ष-
भुजक्षेपादिभिः स्फुटतरं प्रकाशमाहुः । भावेति अनुभावनं तथाभूतस्य रत्यादेरास्वादाङ्कुरयोग्यता-
नयनमनेन व्यापारेणानुभवपदवाच्यकटाक्षभुजक्षेपादिभिः भक्तानां मनोन्तर्लीनरत्यादेः भावा अङ्कुरा
आत्मनि यस्य शृङ्गारस्य, यद्वा स्फुटतरः प्रकाशः । इत्थं च कृष्णात्मकस्य भावैरनुभावैर्येष्टाङ्कुरं
स्वाधरूपाङ्कुरं आत्मा स्वरूपं विभावात्मकं यस्य । समासान्तः कप् । भावपदं प्रेमाणमन्तरेण न
किञ्चिल्लालास्यमित्यसुचत् । उद्यानाद्युदीपनविभावानुवादवत् सञ्चारिणामनुवादः । सहकरणेन
व्यापारेण तथाभूतस्य रसास्वादाङ्कुरप्रादुर्भावनरूपेण सहकारिपदवाच्यवैराग्यग्लानिशङ्कालस्यदैन्य-
चिन्तास्मृतिघृतिम्रीडाचपलताहर्षवेगजडतागर्वविषादौत्सुक्यमतिवितर्कादिभ्यो रत्यादिसामग्रीवैचित्र्या-
पादकैः स्फुटतमः प्रकाशो भक्तानां मनोन्तर्लीनरत्यादेः कृष्णात्मकस्य । तदर्थं विशेषणमाहुः अनि-
रिति । 'यतो वाच' इति श्रुत्युक्तोऽनिर्वाच्यानन्दपदेन रूप्यते यः स आनन्दस्तस्यानुभवः
साक्षी ज्ञानज्ञेयानामविर्भावतिरोभावज्ञानात् स्वयमेवमाविर्भावतिरोभावहीनः स्वयंज्योतिः स साक्षी-
त्युच्यत इति श्रुतेः स्वयं ज्योतीरूपो यस्य कृष्णात्मकस्य स तथोक्तः । समासान्तः कप् । श्रुतिः ।
'समाना चासृत्पुष्कमादमृतत्वं चानुषोष्य' इत्यधिकरणे सूत्राणि च । 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ
त्वं पुरुषोत्तम' इति गीता । 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विष्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्त-
मेषूत्तमेषु लोकेष्विति श्रुतिः । 'ज्योतिश्चरणाभिधानादि'ति सूत्रम् । काव्यप्रकाशेपि 'लौकिकप्रत्यक्षा-
दिप्रमाणतादृश्यावबोधशालिपरिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिभितेरयोगि-
संवेदनविलक्षणलोकौत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्ययोप्यभिधीयतामिति सार्धश्लोकेनोक्तं स्वरूप-
मभ्यर्हितत्वाच्छ्रुतीनां 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा यशुरिति वाक्यात् । गुर्व्यस्वास्तु दशधा श्रीपुरुष-
भेदेन विंशतिधाऽतो भक्तमनोरथा अपि विंशतिष्वेयन्येषामप्यधिकारः मनोरथान्तप्राप्तिश्च ॥ ३ ॥ ४ ॥

एवं प्रेमा निरूपितः स न शृङ्गारः । संज्ञाभेदात् । संज्ञाभेदाद्भेदो हि पूर्वतन्त्रसिद्धः । शृङ्गार
इत्यन्ये । परं रसत्वेन प्रेमा विवक्षितः । रसत्वं च शृङ्गारमन्तरेणान्येषु नास्तीति शृङ्गारनिरूपणं
प्रतिज्ञातम् । स चापुष्टो रसाभास इति तत्त्वोपकावाहुः । भावाभासेत्यादि ।

भावाभासरसाभासो पोषकौ तस्य सम्मतौ ।

रसाभासभावाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः । 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता' इति
काव्यप्रकाशात् । न च रस एव रसाभासः सकलकारणकारणे अनौचित्यप्रवर्तितत्वादिति वाच्यम् ।
अनौचित्यप्रवर्तकानामनधिकारात् । साधनचतुष्टयस्य शमदमवैराग्यमुमुक्षुत्वरूपस्य ज्ञानद्वारा भक्त्यु-
पयोगः 'शमदमाद्युपेतः स्या'दित्यादिसूत्रभाष्य उक्तत्वाच्च । तथा च वैराग्योत्कर्षः शृङ्गारप्रव-
र्तकानां न वैराग्यमात्रं 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदी'ति वेणुगीतकारिकायाः । 'कामादीतरत्र
तत्र चायतनादिष्य' इति सूत्रे भाष्ये कामस्याविहितभक्तित्वेन निरूपणात् । रसाभासभावाभासा
यद्यपि भावं निरूप्य रसं निरूप्य क्रमप्राप्तास्तदाभासा लक्षणीया इति वदन्ति सरस्वतीतीर्थास्तथापि
श्रुतमवसाचिव्यात्पोषकाः क्रमप्राप्ता इत्युक्तं सम्मतविति ।

पुष्टस्य तस्य रसावस्थाद्वयं पोष्यत्वायाप्याहुः । संयोग इत्यादि ।

संयोगो विरहश्चापि तस्यावस्थाद्वयं मतम् ॥ ५ ॥

तस्य पुष्टसस्य ॥ ५ ॥

अवस्थेत्यादि ।

अवस्थाद्वयपूर्णो हि स्वकार्यकरणक्षमः ।

अवस्थाद्वयेन पूर्णः पोषकैर्व्यभिचारिभिश्चोपलक्षणविधया पूर्णः । स्वकार्य रसकार्य आनन्दः सकलबन्धनाशरूपं वा स्वात्मकार्यं 'हृद्रोगमाश्वपहिनोत्वचिरेण धीर' इति वाक्यात् । 'मिथते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति श्रुतेः । एवं सम्भोगविप्रलम्भौ लक्षयित्वा तत्पोषकौ भावाभासरसाभासौ लक्षयाम्बभूवुः । भावो-
द्बोधमिति ।

भावोद्बोधं विना भावसम्पत्त्यर्थं तु या कृतिः ॥ ६ ॥

हास्यस्पर्शादिरूपा हि भावाभासः स उच्यते ।

रसोद्गमक्रिया काचिद्ब्याजवाक्यादिसंयुता ।

करोत्यानन्दमन्तर्हि रसाभासः स उच्यते ॥ ७ ॥

श्लोकद्वयेन त्वन्यत्र विरहे रसाभासभावाभासौ श्लोकद्वयेनोदाहृताविलम्बित्वाद्युदाह्रियेते परं संयोगे । विरहे तु ते एवोदाहृत्ये । रतिहासक्रोधादीनां भावानामुद्बोधो रसत्वेन बोधो भावोद्बोधः तं विना रसता या सञ्जातेति यावत् । भावः प्रेमलक्षणा भक्तिः तत्सम्पत्त्यर्थं तु या कृतिः । का सेत्यत आहुः । हास्येति । हासो हास्यरसस्य स्थायी संयोगे सञ्चारी । यद्यपि सम्भोगस्य परस्परालिङ्गनपरिचुम्बनाद्यनेकभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते इति हास्यमपि सम्भोगस्तथापि मुख्यवृत्त्यादरेण सम्यग्योगो गृह्यत इत्यादिपदेनापि संयुक्तपदार्थो गृहीष्यत इति परम्परासंयुक्तहास्यं सञ्चार्येव । स्पर्शापि न संयोगः । परम्परासंयोगात्मकस्पर्शस्य विवक्षितत्वेन सञ्चार्येव । तस्मात् हास्यं 'रागादिवैकृताच्चैतोविकासो हासः' स्वार्थं व्यञ्ज् हास्यम् । स्पर्शः । धेतःपतन-प्रतिबन्धकव्यापाररूपा घृतिः । तदुक्तं 'सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्घृतिरव्यग्रभोगकृ'दिति विस्तारिकायाम् । ननु घृतिः सञ्चारिणी पोषिका भवतु । हास्यं तु स्थायिभावः कथं पोषकमिति चेन् मैवम् । 'स्थायी भावो रसः स्मृत' इत्यस्य विस्तारिकायां रतिहासक्रोधादीनां स्थायिनामपि करुणशृङ्गारवीरादिषु सञ्चारित्वं स्वीकृतं तेष्वस्थिरत्वाद् इत्यादिकृतीनां भावोद्बोधं विना भावसम्पत्त्यर्थत्वादीश्वरे सकल-कारणकारणेऽनौचित्यप्रवृत्तत्वेन भावाभासत्वम् ॥ ६३ ॥

एवं च हास्यस्पर्शादीत्यत्रादिपदेन ब्रजभक्तानामिव परिचयलक्षणो भावोऽपि 'तौ विना भावा-
भास एव । रसोद्गमेत्यादि । रसः पूर्वोक्तः तस्योद्गमाय क्रिया सा पूर्वोक्तानुभावान्तर्गता नियता, तामाहुः काचिदिति । न चात्र भावाभावः । 'अवदददतां श्रेष्ठो वाचः पेयैर्विमोहयन्नि'ति वाक्यात् । एवं भगवतोपि व्याजवाक्यादि तत्संयुता क्रिया काचिद्बोधा । न तु छुदीपनवैचित्र्यापादिका । तस्याः स्वरूपं व्याजवाक्यादिसंयुतेति । आदिपदेन निगुह्यवस्त्वादि । अन्तरानन्दं करोतीति पूर्वानन्दभिन्नं करोतीत्यालम्बननिष्ठाकर्त्री तस्या व्याजवाक्यादिसंयुताया बह्वानन्दानां विषयस्य शृङ्गारस्य प्रवृत्तेः स रसाभास उच्यत इत्यर्थः । कर्तृबहुविषयशृङ्गारप्रवृत्तेराभासत्वमिति तद्विदः । भावोद्बोधं विना इति पूर्वश्लोकोक्तमनुष्यते एव तेन तादृशभक्तेच्छया प्रवर्तितस्यानन्दसंयो-
गस्य रसाभासत्वमनौचित्यप्रवर्तितत्वादिति भावः । व्याजवाक्यादेः सञ्चारित्वं औत्सुक्येन्तर्भावाद् गर्वरूपत्वाद् अवहित्वाद्वा । तथाहि । 'व्याजोक्तिरुच्यतेऽनौच्यवस्तुरूपनिगूहनम्' । उच्चित्रत्वम-

१. अभावसम्पत्त्यर्थं भावोद्बोधो विना ।

स्फुटस्य प्रकाशः स्फुटम् । निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रतिभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नयते सा व्याजोक्तिः । उदाहरणम् ।

शैलेन्द्रप्रतिपद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोऽस-

द्रोमाञ्चादिविसंभुलाखिलविधिव्यासङ्गमङ्गाकुलः ।

हा शैल्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्युचिवात्सस्मितं

शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टो हरः पातु व' इति ।

अत्र पुलकवेषु सात्त्विकरूपतया प्रयुतौ शैलकारणतया प्रकाशितत्वादपलापिसरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयत इति । एतादृशव्याजवाक्यादि 'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्, नित्यमिषे पति-
पुतादिभिरातिदैः कि'मिति ज्ञानवतीनां दास्यमक्तीच्छ्रानां मनोज्ञात्मानं प्रति स्फुटदास्यस्यास्फुटं प्रका-
शकानां गोपीनां 'त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्य'मित्यनेन । यद्वा
तस्याग्रे प्रिययोगात् 'कितव योवितः कस्यजेन्निसि' इत्यनेन व्यपदेशेनापह्नयत इति कुर्वन्ति हीत्याद्येव
ऽसोद्गमत्वादि 'दोहं हित्वा समुत्सुका' इति वाक्यात् पूर्वं सम्भ्रमोपि द्येतद्वाक्यादनुमीयते तत्संयुता
रक्तकार्यकारित्वेन च सम्बन्धेन क्रिया काचिदौत्सुक्यसम्बद्धा तस्याः कार्यत्वेन सम्बद्धमुच्छ्वासादि
'श्वसनेन शुष्यद्विम्बाधराणी'ति वाक्यात् । तदुक्तं 'कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमैः । तत्रो-
च्छ्वासत्वात्प्रासाहत्तापत्वेद्विभ्रमा' इति काव्यप्रदीपे । विस्तारिकाकृत्वौत्कण्ठ्यमिति पपाठ । कालाक्षम-
त्वमित्यौत्सुक्यलक्षणं सम्भ्रमलक्षणं विस्तारिकायां 'अत्रिगः सम्भ्रमो राजगजवर्षादिसम्भव' इति । तथा
तादृशव्याजवाक्यादिमधुपेलादिनिन्दारूपव्यपदेशेनापह्नयता तत्संयुता एककार्यकारित्वेन च सम्बन्धेन
रसोद्गमक्रिया गर्वसम्बद्धा तस्याः कार्यत्वेन सम्बद्धमसूयादि तदुक्तं 'निन्दादितः परावज्ञा
गर्वोऽसूयादिकृद्भे'दिति विप्रयोगे 'निन्दादितः परावज्ञे'ति गर्वलक्षणम् । तथा तादृशव्याजवाक्यादि
'त्वत्सुन्दरे'त्यादि तत्संयुता रसोद्गमक्रियाऽवहित्वात्सम्बद्धा लज्जाधैर्हर्षाभाकारगोपनमवहित्वात् ।
अत्र कामभावेन प्रेमाकारगोपनम् । आकारगोपनं च 'व्यापारान्तरसङ्घट्टनानमनादय' इति
काव्यप्रदीपे । न च त्वत्सुन्दरस्मितेत्यादिकामभावेन प्रेम्णोरव्यभिचारित्वमात्रं क्रियते 'मयि
चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'ति गीतातः । न तु प्रेमाकारगोपनमिति शङ्कम् । 'अनावि-
ष्कुर्वन्नन्वयादि'ति तार्तीयसूत्रे 'भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैवाभिवृद्धिस्वभावकत्वादाश्रयभैरेव
लोके स्वं भगवद्भावमनाविष्कुर्वन्भजेत'इति भाष्यात् । न च कामभावोऽस्वधर्म इति शङ्कं 'यस्य-
त्यपलसुहृदा'मित्यत्र स्वधर्मत्वस्योपपादनात् । करोत्यानन्दमन्तर्हि'ति भावसन्धिवारणाय भावसन्धौ
हर्षस्वावेगविरुद्धत्वात् । अतो रसाभास उच्यत इत्यर्थः । उभयमन्यत्र काव्यप्रकाशादौ ।
अचिरुद्गरसाभासः ।

'स्तुभः कं वामाक्षि क्षणमपि विना ये न रमसे

विलेभे कः प्राणान् रणमस्वमुखे यं सृगयसे ।

सुलभे को जातः शशिसुखि यमालिङ्गसि बलात्

तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ध्यायसि तु यम्' ।

अत्रानेककामुकविषयो हि पञ्चविधविप्रलम्भान्तर्गताभिलाषो हि पतिव्रतानामनुचितः ।
भावाभासः ।

‘राकासुषाकरमुखी तरलायताक्षी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गा ।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्री तत्स्त्रीकृतिव्यतिकरे क इहाम्युपायः’ ।

इति रावणवाक्यं सीतासन्धिकरणे । अत्र चिन्तानौचित्यप्रवर्तिता । औत्सुक्यमौत्कण्ठ्यं विस्तारिकायां ‘औत्कण्ठ्यं वाञ्छतः प्रासौ कालक्षेपासहिष्णुते’ति लक्षणं यथा

‘आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्देष्टवन्तमात्यः ।

बद्धं न सम्भावितं एव तावत् करेण रुद्धोपि हि केशपाश’ इत्यत्र ।

सम्भ्रमोदाहरणं यथा ।

‘अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोनवेश्य भरताग्रजो यतः ।

क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दशमुदप्रतारकाम्,’ इति ।

गर्वोदाहरणम् ।

‘धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ।

यद्वाणसिद्धं मन्त्रेण मम तत्केन सेत्स्यति’ इत्यत्र ।

अवहित्योदाहरणम् ।

‘एवंवादिनि देवर्षी पार्श्वे पितुरधोमुखी ।

लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती’ इति ।

भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शश्वता च न रसरूपेण भावादतिरिक्तरूपेणोपयुक्तेति ग्रन्थान्तरा-
देव ज्ञेया । यथा भावसन्धिः ।

‘उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः

तत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः ।

वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय-

ज्ञानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरस्पर्शी रुणद्धसन्धतः’ इति ।

अत्रावेगहर्षयोः सन्धिः तथाहि रामस्य वचनं उद्विक्तस्य तपसः पराक्रमस्य च निधिभूतस्य परशुरामस्यागमनात् तत्सम्पर्कप्रियत्वं वीरसाधिक्यं चैकतो मां कर्षतः । अनेनावेगाख्यो भाव उदीरितः । एष सीतापरिरम्भश्च अन्यतो मां रुणद्धि । कीदृशः मुहुश्चैतन्यमामीलयन्नित्यादि अनेन हर्षाख्यो भावः इति प्रकृतोपयोगादुदाहृतः भावस्थितिरपि । अङ्गित्वमतिशयचमत्काराधायकत्वे सति तत्र । ‘न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत’ इति श्रुतेरङ्गित्वासम्भवाद्भावशान्त्यादेः ।

‘स्वेदः स्तम्भोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।

वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकः मताः’ ।

इत्युक्ताः सात्त्विकभावा अनुभावेन्तर्भूताः ॥ ७ ॥

‘रसो वै सः’ ‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म’ इति श्रुतिभ्यां एकमेव पूर्वोक्तं सर्वं ब्रह्म चासंलक्ष्यक्रमत्वं सामान्यं चाश्रित्येति साकारव्यापकस्य रूपस्य ‘लीलारूपैश्च तत्सेव्य’मित्यनेन सेवोक्ता तद्रूपस्य ‘बहुजैः सहितो धर्मी कृष्णः सेव्य’ इत्यनेन सेवोक्ता तत्र स्थितस्यान्तर्यामिणो मर्यादायां पुष्टौ तु ‘प्रदीपवदावेश’ इति सूत्रेऽयं प्रवेशो नान्तर्यामित्वेन तस्यैकधैव प्रवेशादित्यनेन निषेधः । किं तु बहुधा सन्निवेश इति बहुधानिविष्टस्य मर्तुर्दृढविश्वासतो भजन्नित्यनेन सेवा वक्ष्यमाणा तस्याः फलमवान्तरं प्रेमरूपा मानसी सेवा तस्याः सिद्धिं कुर्यादित्याहुः । श्रीकृष्णेत्यादि ।

श्रीकृष्णगोपिकाप्रौढविलासकथयोद्गतम् ।

रससंयोगभावं हि श्रीकृष्णे साधयेद् ध्रुवम् ॥ ८ ॥

श्रिया सहितस्य सदानन्दस्य द्वाविद्याकलाः वैराग्यसाङ्ख्ययोगतपोभक्तिरूपास्तार्सा च ये प्रौढाः प्रौढत्वं च सकलदर्शनार्थज्ञानपूर्वकनिर्गुणभक्तिमार्गगूढार्थज्ञानवत्त्वमिति शब्दरत्नात्सिद्धति तादृश येन केनापि सम्बन्धेन विलासास्तेषां कथया गोपालतापिन्यादिदशमस्कन्धादिनिरूपितया प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकमगवदासक्तिरूपयोद्गतं ‘भक्तिरहस्यभजनं तदिहागुणफलभोगनैराशयेनामुष्मिन्मनःकल्पनं’ ता नाविदन्मन्यनुपङ्गवद्धयिय’ इति निरूपितमानसीसेवारूपं रससंयोगभावं रसेन विहिताविहितप्रेमशृङ्गारादिना संयोगभावं सायुज्यमिव वर्तमानं श्रीकृष्णे कृष्णाश्रयं साधयेत्सिद्धं कुर्यात् । कदाचिन्मतिस्त्रारिभावप्रधाना ‘यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्गे’त्यादिवाक्यं व्याहरन्त्यो गुरवः प्रौढाः कुर्वन्तीति हीत्युक्तम् । ‘तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः । आत्मानन्दसमुद्रस्य कृष्णमेव विचिन्तये’दिति सिद्धान्तमुक्त्वावत्यां ‘तानि परे तथा द्वाहे’ति सूत्रे ‘ता वां वास्तूनी’ति श्रुतौ ‘सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जित’मिति गीतायां यद्रूपं निरूपितं तदिदं ध्रुवं रूपमित्याहुः ध्रुवमिति शाश्वतम् । ‘ध्रुवं तु निश्चिते तर्के निश्चले शाश्वतेऽन्यवदि’ति विश्वः । तदुक्तं सर्वनिर्णयाभासे ‘यत्र योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरैः । व्याख्यास्वाध्यायसङ्ग्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि’ ‘तस्मात्स्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम् । प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च । मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् । याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतो भयम्’ इत्येकादशसर्वसं भगवान् स्वयमुक्तवानिति । श्रुत्यन्यसाधारणम् ।

तत्तत्क्षेति ।

तत्तत्क्षेति तत्र वृद्धो निमेषायन्तरायकम् ।

विरहं साधयित्वा च पुष्टः स्यात् स्वस्वरूपतः ॥ ९ ॥

प्रेमशृङ्गारादिभावानन्तरं रससंयोगभावसिद्धानन्तरं चेति क्रमवाचकस्य तत्र इति पदसार्थः । अतितरं वृद्ध इति । तृतीयाध्यायोपान्त्ये ‘अनाविष्कुर्वन्नन्यादि’ति सूत्रभाष्यं ‘गुप्तसौभाग्यिष्टि-
स्वभावकत्वादि’ति । तर्हि गोपनकरणप्रतिपादकस्य ‘आश्रमधर्मैरेवेति माध्यस्य विरोध इति चेन्मर्यादायां प्रेमशृङ्गारादीत्यत्रादिपदेनोक्तत्वाच्च विरोधगन्धः । रसोतितरं वृद्धः निमेषाद्यपि ब्रह्मदर्शनादौ अन्तरायं यस्मात् तादृशं विरहं साधयित्वा तत्र तत्र तनुवित्तजसेवादिसञ्चारिभावान्साधयित्वा पुष्टः, सञ्चारिणां पोषकत्वात् । स्वस्य निर्विकल्पकज्ञानस्य ब्रह्मणो यत्स्वमात्मा तस्य रूपं विशिष्टज्ञानमव्ययीभूतं ततः सार्वविभक्तिकस्तसिः प्रथमान्तं पदम् । स्वस्वरूपात्मा सन् स्यादित्यर्थः । आश्रमधर्मैर्वृद्धो भवति रसः, वात्सल्यादिभिरितिवृद्धः, शृङ्गारेणातितरं वृद्धः अतितरं तु केन वृद्धो भवतीतीश्वरो वेति । ‘यस्मात्’ मित्यादिश्रुतेः ।

ननु सकलकारणकारणेऽविद्यावच्छिन्नजीवस्य सेवाधर्मयोग्यता तथा च भाष्यं मुक्तोपसृप्येति सूत्रस्य तेन शरीराद्यध्यासविशिष्टं न ब्रह्मणि योजनीयमितीत्याशङ्क्याहुः एवं चेति ।

एवं चेत्पुष्टतामेति भावात्मा स रसस्तदा ।

श्रीकृष्णभजने धोग्यं कुर्याज्जीवं निवेदितम् ॥ १० ॥

एवमित्युक्तरामार्शे विरहसंयोगवांश्वेद्यदि तदोभयसञ्चारिभिवैराग्यादिभिः पुष्टतामेति चेत्

यदीति भाग्यवशेन अत्र निदर्शनमुक्तं शाण्डिल्यविरिणा 'संयोगे वियोगवृत्तिः प्रेमे'ति सूत्रेण एवं 'वियोगे संयोगवर्तनमपी'ति तद्भाष्ये । निवेदितमिति 'सख्यानन्तरमात्मनिवेदन'मिति सुबोधिन्यां पाठक्रमः 'आत्मानिवेदनो हि भजनाहो नेतर' इति नवरत्नटीकायामथेकम् । धृतकृताभ्यामात्मनिवेदन-विशेषितत्वात् । सुबोधिन्यां कृतात्मनिवेदिनः । आद्ये स्तुते रसप्रमेयवलेन पुष्टिमक्तौ, साधनवलेन मर्षादाभक्तौ योग्यं जीवं कुर्यात् । द्वितीये आत्मभदशायां 'धर्मेण परमपनुदती'ति श्रुतेः प्राणाभावद्वारा मर्षादाभक्तौ योग्यं जीवं कुर्यात् । तदुक्तं 'इदीपवदावेशस्तथा हि दशैयती'ति सूत्रभाष्ये । 'ननु पूर्णज्ञानक्रियाशक्तिमता ब्रह्मणा तु स्वभावेन तत्रापि प्रधानभावं प्राप्य कामभोगकरणपूर्णज्ञानक्रियावतो भक्तस्यानुपपन्नमित्याशङ्क्यां तत्रोपपत्तिमाह'ति, अत्र तु स्वभावेनेति सख्यं, प्रधानभायमिति आत्मनिवे-दनम्, 'भोगमात्रसाध्यलिङ्गाच्च'ति सूत्रे स्पष्टमिदम् । आत्मनिवेदनानन्तरं विचिकीर्षितो जीवः । 'निवेदितारमा विचिकीर्षितो म' इति वाक्यम् । श्रुतिस्तु 'मर्ता सन् प्रियमाणो विमर्ती'ति । द्वितीयपक्षे तु भजने 'तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलित्व्यती'ति निबन्धाद्ययासङ्ख्यं देहाध्यासेन्द्रि-याध्यासान्तःकरणध्यासानां आलोचनवैराग्यसाध्यानिवृत्तिमचीकृत्पन्नाचार्याः 'योगयोगे तथा प्रेमे'त्यनेन वारिकाशेन प्रेमयोगाभ्यां प्राणाध्यासरूपविस्मृयोर्निवृत्तिम् । सिद्धान्तरहस्ये 'ब्रह्मसम्बन्धकरणत्वेनैवां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्हि' इति आत्मनिवेदनस्य योग्यकरणकारणतोक्तम् ।

कृष्ण इत्यादि ।

कृष्णे निवेदनास्त्रीयः कृतकृत्यो भवेदिह ।

अतः सर्वात्मना कुर्याद्विधित्वेन निवेदनम् ॥ ११ ॥

'इद्वै समवनीयन्ते प्राणा' इति श्रुतेरितः । अतो जीवस्य योग्यत्वात् । सर्वात्मना सर्वपशु-पुत्रेन्द्रियादियुक्तेनात्मनान्तःकरणेन सह जीवः कुर्यात् । अथवा 'यस्मिन्नकृते न कोपि पुरुषार्थः सिध्यति तत्सर्वार्थना कृतमात्मनिवेदनं' सुबोधिन्यामयमर्थः यतः कृतकृत्यताफलमुक्तमतः सर्वेषां पृथ्व्यसेजोवाय्वाकाशप्रकृतिपुरुषमहत्तत्त्वाहङ्काराणां मध्येऽग्रानां श्रुतित्वादीनामात्मा पुरुषान्तर्गतपुरुषः परा काष्ठा तेन हेतुना विधित्वेन आत्मनिवेदनं कुर्यात् । तथा चोक्तं गीतायां 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारते'त्युक्त्वा 'एतद्ब्रह्मा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारत' इति । विधित्वेनेति । विधिर्यथः 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यादौ लिङ्गार्थः । वाक्यं तु तेन विधिवाक्यश्च्यते, एवं विधित्वमाज्ञानिष्ठमपि आज्ञापटितार्थरूपात्मनिवेदन उच्यते एवमेव पूर्वमीमांसकानां व्यवहारः । 'इमे विदेहा अयमहमस्मी'ति बृहदारण्यके अनकात्मनिवेदनवाक्यम् । 'इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् । दारान्नुतान् गृहान् प्रणान् यस्परस्मै निवेदनम्' इत्येकादशे वाक्यम् । अत्र शिक्षेदित्यनेनानुकृष्टेनान्वयात्परस्मै इष्टाद्यभिन्नं निवेदनं यत् तत्कर्मकाशिक्षातुकूलकृतिविधयिण्या आज्ञायाः प्रतीतिः । अत्र पदार्थसमूहरूपवाक्यार्थकदेशाज्ञानुकूलत्वसु सुखसंवेदनरूपा रतिश्चेतस्त-त्प्रवणात्प्रमाणसमीक्षायां रूपभावरूपाङ्कारमित्यतीति शृङ्गारलक्षणवाक्योक्तस्योपुभावात्मकत्वं जीवानां अक्षरत्वादस्यैव भावाङ्कारार्थः । यदा भावैरनुभावरित्यादिना पूर्वमुक्तो यः स तथानिष्ठं विधित्वमात्म-निवेदने आरोप्यते । छत्रिणो यान्तीतिवत् । अथवा विधीयते यत् स विधिः 'उपसर्गं घोः किं'रात्म-निवेदनं पूर्वश्रुतिस्मृत्योरत्रात्मनिवेदनशिक्षावाचकलिङ्गादि विधीयते इति प्रत्ययात् । अत्र सूत्रं साधनाभ्याये 'अनियमः सर्वोसामविरोधः शब्दानुमानाभ्या'मिति । श्रुतिस्तु 'परं ब्रह्म एतद् यो

धारयति रसति भजति ध्यायत' इत्यादि । गीताविस्तारस्तु 'किञ्चलेन हि भावेन गोप्यो गावः स्वगा मृगाः । येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुत्ससा' । गीता तु त्रयोदशोऽध्याये 'मयि चानन्य-योगेन भक्तिरन्यमिचारिणी' । सुबोधिन्यामभ्याये 'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत' इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मथानप । एतद्बुद्ध्या बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारते'ति च ।

भक्तिमार्गविवयं निष्कर्षन्तः फलाय साधननिष्कर्षणाहुः शृङ्ग इति द्वयेन ।

शृङ्गो भावाङ्कारः प्रोक्तः शृङ्गारस्तद्गतो रसः ।

स वै कृष्णात्मको ज्ञेयः श्रुतिवाक्यानुसारतः ॥ १२ ॥

समर्प्य तत्र सर्वं हि हृदयिश्चासतो भजन् ।

ऐहिके पारलोके च चिन्तां त्यक्त्वा सुखी भव ॥ १३ ॥

भावाङ्कारः चेतस्तत्प्रवणाख्यो भावः प्रेमा तस्याङ्कार आस्वादयोग्यः शृङ्गः प्रभुत्वाद् भगवत्प्रापकत्वात् । ज्ञानसाक्षरब्रह्मप्रापकत्वात् 'शृङ्गं प्रभुत्वे शिखरे चिह्ने' इति विश्वः । प्रोक्तः ब्राह्मणेन भगवता प्रोक्तः श्रीयुक्तैः प्रोक्तः ब्रह्मभक्तैः प्रोक्तः । भक्तिरहस्यभजनमित्यादिगोपालतापनीये । 'तस्माद्भारत सर्वोत्तमा भगवानिति' द्वितीयस्कन्धे 'कुर्वन्ति हि स्वयि रति'मिति फलप्रकरणे प्रोक्तः । तदतः प्रेमास्वादगतः रस आनन्दमयः शृङ्गार इत्यर्थः । शृङ्गं भावाङ्कारमित्यतीति शृङ्गार इति व्युत्पत्तेः । शृङ्गश्च शृङ्गश्च शृङ्गौ तौ इवतीति शृङ्गार इति व्युत्पत्तिरपि शृङ्गारपदस्य । यदा शृङ्गगतः शृङ्गाः शृङ्गशृङ्गाः शृङ्गः शृङ्गारः इति प्रयोगप्रथम् । न तु भावास्यादयोग्यता सः, चेतसि भावास्वादो भगवद्गतः स्वधर्मीयतभावाङ्कारमाश्रयतया स्वीकुर्वन् तदतः विपर्ययतया मानसीसेवां शृङ्गारः स्वीकुर्वन् विपर्ययत्वेन तदतः वा । वै निश्चयेन, तद्गतो यतः कृष्णात्मकः । ननु कथं प्रेमप्रियताहार्दस्नेहपदान्य-प्रवत्य शृङ्गारपदप्रवृत्तिरिति चेत्सत्यम् । वेदान्ते योगमात्राश्रयणाद् भक्तिमार्गस्य सुबोधिन्यां शृङ्गत्वाच्च लक्षणप्रसङ्गाच्च । अत्र हेतुः श्रुतीत्यादि 'को द्वेषान्धात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्या'दिति । अत्र मरणोपस्थितिमन्तरा प्राण्यादित्यस्याप्रवृत्तेः विरहः कः प्राण्यात्मकः । किञ्च 'स मानसीन आत्मा जनानां सर्वोत्मे'ति वाक्यानि, 'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्' 'भक्त्याहमेकया प्राज्ञः' 'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या' 'कामाद्रोप्य' इत्यादीनि । अत्र भक्तिमानसीसेवा । कामो दिदृक्षा । तत्र तन्निमित्तं तत्फलकमिति यावद् गृह्णीतसंहाराधिकरणोक्तरीत्या इन्द्रियादिकं सर्वं समर्प्य सर्वात्मभावं कृतेति यावद् 'दृढं कृत्वा मन' इत्यत्र दृढपदार्थ उक्तः दृढत्वात् विश्वासश्च निश्चयात्मकः 'रक्षतीत्येव विश्वास' इति पञ्चरत्नात् तथा कापट्याभावः । ततो भजन् । एतदत्रोक्तं भवति । 'सदा सर्वात्मभावेन भजनीयो ब्रह्मविपः । स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः कापि कदाचने'ति चतुःश्लोकयामुक्तम् । सर्वदा सर्वभावेनेति पाठः । चिन्तां पश्चात्पारुष्यान्तःकरणप्रबोधोक्ताम् । किञ्च । चिन्तां सञ्चारिभावरूपात् । यथा 'चिन्तामापुर्दुर्लभ्याम्' । यदा । 'राकासुधाकरसुखी'त्यत्र सीतायाः परवधूत्वात्तत्स्थविपयिणी चिन्ताऽनौचित्यप्रवर्तिता रावणस्य । एवं जीवस्यान्यदेवभज-नविपर्ययिणी चिन्ता 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरन्यमिचारिणी'ति क्षेत्रक्षेत्रज्ञनिरूपणाध्यायीयगीतायां अनौचित्यप्रवर्तिता नवरत्नोक्तरीत्या वा चिन्तां त्यक्त्वा सुखी भव भजानानन्दवान्भवेत्याज्ञा । दुःखाभावे तु किं वक्तव्यमिति भावः । सर्वात्मभावेन भजनं विद्या । 'विद्यैव तु निर्धारणादि'ति सूत्रात् । सर्वात्मभावस्य विद्यात्वे लिङ्गभूयस्त्वाधिकारगुणशृणो । सनत्कुमानारदसंवादरञ्जन्दोग्यस्यः श्रुतिरूपः । गीता 'श्रमानित्वमदम्भित्वम्' इत्यादि 'अज्ञानं यदतो न्यये'त्यन्तम् । अत्र गृह्णीतसंहारा-

धिकरणरूपसूत्राणि । विषयवाक्यं श्रुतिः । 'आचार्यकुलाद्देवमधीत्य गुरोः कर्माभिधेयैर्गामिसमावृत्त कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्वावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' इति । गीता पुरोक्ता । इति शृङ्गारखरूपम् ।

पूर्वं गृह्णिषोपसंहाराधिकरणविषयवाक्ये आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्येत्युक्तमपुनरावृत्ति-
मोक्षार्थम् । इदमात्मनि सर्वेन्द्रियप्रतिष्ठापनं ब्रह्मवादे त्वेवम् । उक्तपरामर्शस्तु एकादशे एकोन-
त्रिंशद्यायेस्ति । 'एतत्ते कथितः सर्वो ब्रह्मवादस्य सद्ब्रह्म' इति वाक्यात्तत्रत्यानि पद्यानि प्रस्तूयन्ते ।

श्रीभगवानुवाच ।

कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।

मथ्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्मनोरतिः ॥

देशान्पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।

देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥

पृथक्सत्रेण वा मर्षं पर्वयात्रामहोत्सवान् ।

कारयेच्छत्यगीताद्यैर्भहारजविभूतिभिः ॥

एतदेव 'समर्प्य तत्र सर्वं ही'त्यादिनोक्तं तत्र नित्योत्सवसेवयोस्तत्सवाः प्रोच्यन्त इत्याहुः
उत्सवा इति । उत्सवाः प्रोच्यन्त इत्यर्थः । महोत्सवमभ्यर्द्धितत्वादाहुः प्रथमं जन्मेत्यादि ।
जन्माष्टम्युच्यत इत्यर्थः पूर्वग्रन्थेन तद्रूपं तत्र च स्थितं साकारव्यापकं च ब्रह्मज्ञानमभूत् ततो
भगवदाविर्भावानुकूला भक्तेच्छा या जाता तथा विज्ञापनात्मकं यत्तमाहुः येनेत्यादीति विज्ञाप्ये-
त्यन्तम् । येनेति ।

येन दुःखेन गोपीनां यशोदानन्दयोस्तथा ।

प्रकटोभून्निरोधार्थं तथा मयि कृपां कुरु ॥ १ ॥

अत्र 'चतुर्विधा भजन्ते मां जना' इति गीतायासुक्तेषु चतुर्षु आर्तोधिकारी यो भगवत्प्राप्ति-
विरहमसहमानः । ज्ञानी तु सर्वोत्तमभाववान् 'तस्माद्भास्त्वधिकः परः' अधिकारः, उत्तमोत्तमः सः । इति
विज्ञाप्येति वक्ष्यमाणत्वात् । आर्तस्य विवेकाभावात् । 'प्रार्थिते वा ततः किं स्या'दित्यस्य विवेकधैर्यो-
श्रयस्यस्य विवेकबोधकस्य न विरोधः । किञ्च । भगवदाविर्भावे भक्तानां दुःखस्य हेतुत्वेन भक्तिमार्गी-
रम्भदशायामपि विरहानुभवकर्तृफलदशां भावयित्वा स्वस्मिन्दुःखारोपं कृत्वा निरोधस्य पदवीं
पियासेत् । भक्तिवर्धिनीनवरत्नश्रीभगवतोक्तमारम्भदशयां क्रियते इति पुरुषोत्तमप्रतिष्ठानाम्नो
ग्रन्थादुच्यते । फलदशयां सन्न्यासनिर्णयोक्तकरणवासरे निरोधलक्षणोक्तं क्रियत इति श्रीबलभा-
चार्यग्रन्थसङ्ग्रहायां पाठानुक्रममाहुः । पूर्वश्लोकार्थः स्फुटः 'उमयो रोधसो'रिति वाक्याद्गोप्यादीनामपि
रोधोधिकरणकत्वात् । यद्वा । बृहद्ब्रह्मपुराणे पुराविदां ब्रह्म यत्तदज्ञानजं दुःखं, यशोदानन्दरोधोभुवि
विश्वेश्वरे हरौ, भक्त्यभावजं दुःखम् । तद्दशमस्कन्धाष्टमाध्याय उक्तम् । अयमर्थः । येन ब्रह्मज्ञातं
तजेन दुःखेन प्रयोजकेनानुमोदनेन हेतुना तथा । 'अन्तस्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृत'
इति गीतातत्त्वेन निर्गुणत्वेन परत्वेन वाञ्छनोर्गोचरातीतत्वेनानन्दमात्रत्वेन प्रकारेण गोपीनां
निरोधार्थं प्रकटोभूत् । येन दुर्गतिरकरपरमभक्त्यभावजेन दुःखेन प्रयोजकेन ब्रह्मादेशसत्य-

करणेन हेतुना तथा तेन नन्दयशोदयोर्धालकत्वेन प्रीतिकारकत्वेन प्रकारेण निरोधार्थं प्रकटोभूत् ।
तथा यथाधिकारं तेन पूर्वोक्तप्रकरणैव कृपां प्रथमस्य चतुर्थचरणस्यानुमानिकाधिकरणोक्तम-
व्यक्तपदवाच्यां अव्यक्तपदस्याक्षरवाचकत्वे तु तूष्णीं कृपां विज्ञानहेतुभूतां कुरु इत्याशीरपीष्टां वा
कृपामधीष्टः सत्कारपूर्वकी व्यापार इति सिद्धान्तकौमुद्याम् । तेन कृपाविषयिणीच्छा कर्तव्या न तु
पुष्टिनिरोधविषयिणी गोपीनन्दादिवत् । तेषां पुष्टिमार्गीयत्वादसम्पदादीनां मर्यादानामार्गीयत्वात् ।
कृपया विज्ञानं विज्ञानेनेच्छया निरोधः ।

नीत्यादि ।

निवेदितात्मभावेन महतां कृपया तथा ।

देहि स्वानन्दरूपं स्वदास्यं श्रीपुरुषोत्तम ॥ २ ॥

निवेदितो जीवस्तस्यात्मभावो 'विधैव तु निर्धारणादि'ति सूत्रभाष्योक्तरीत्या जीवस्य तन्-
करणेन, भावपदेन भगवान् भावसंपृक्तः जीववत् 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति वाक्यात् । महतां
कृपा पूर्वोक्तातिरिक्तापि वरणहेतुभूता तथा निवेदितजीवस्यात्मभावरूपप्रकारेणावृत्तया अनेनानुमानिका-
धिकरणोक्तेन योग्यं शरीरं तदधिकरणोक्तमुपलक्षितम् । देहीति दानमधीष्टम् । परसाधनानां देशादी-
नामसाधकत्वात् । सर्वोत्तमभावव्यतिरिक्तस्य दानायोगात् । 'प्रदानयदेवे'ति सूत्रात् । स्वानन्दरूपं
धर्मशास्त्रे पञ्चदशसु दासेषु नाराधमत्वेनोक्तस्य भक्तिशास्त्रे 'तवास्मीति च यो वदेत् । अमयं सर्वभूतेभ्यो
ददाम्येतद्गतं हरे'रित्यभयरूपमोक्षसाधनत्वेनोक्तत्वेन निरूपितस्य तवाहमित्युपगतस्यानन्देन रूप-
स्वरूपं भवति तादृशानन्दव्याप्यर्थं स्वानन्दरूपमिति स्वीयानन्दरूपं भजनानन्दरूपमिति यावत् ।
स्वदास्यं न तु विभूत्यादेः दास्यमपि, प्रकटसत्त्वं तिरोहितचिदानन्दं जगद्गत्, तत्रप्रकटानन्दं
तिरोहितचिन्तस्त्वं देहि । तदपि सर्वभावेन निर्गुणभक्तिमार्गीयत्वाद्वाहुः । श्रीपुरुषोत्तमेति ।
पुरुषोत्तमयोगाध्याये 'यो मामेवमसंभूदो जानाति पुरुषोत्तमम् । स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भार-
ते'त्यत्र भजतीति भक्तिमार्गः । एवमिति उक्तपरामर्शे, तृतीयाया लुक् । उक्त'पूर्वमूलमधःशास्त्र'मि-
त्यादिना वेदविदोश्चत्थमेनमित्यादिना असङ्गश्लेणे द्वैधीकृत्य 'ततः पदं तत्परिमार्गीतव्यं यस्मिन् गता
न निवर्तन्ति भूयः । तमेव चार्थं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'ति श्लोकोक्ता पुनरावृत्ति-
स्थानमार्गणं तत्परामर्शेन सिद्धान्तयुक्ताव्युक्तेन पुरुषोत्तमं जानाति स सर्ववित् सर्वभावेन मां भजति
श्रिया सहितमिति ।

हरे इति ।

हरे करुणया कृष्ण मदर्थं प्रकटो भव ।

अहं यथा निरोधस्य पदवीं चाभ्यसंशयम् ॥ ३ ॥

'यो यस्य तस्य दैवत'मिति वचनात् सम्बोधनं हरे इति । करुणयेति 'कृपाविष्टः साधन'मिति
भाष्यम् । निरोधपदव्याः साधनमत्र श्रीभगवान् कृपाविष्टः । अन्वेति कामचारानुज्ञायां लोद । ननु
किमर्था कामार्था प्राकट्यविषयिणी कामचारानुज्ञा यतो निरोधलक्षणग्रन्थोक्तसाधनैर्निरोधो भवि-
ष्यतीत्यत आहुः पदवीमिति । यथाचार्याणां निरोधस्य पदवी तथा ममापीति कामचारानुज्ञेति
भावः । मग निरोधः समजनि न वा पदव्या असज्जननाद् इत्येवं संशयस्तस्याभावे यथा भवति
तथा चाभि प्राप्नोमि ।

इतीति ।

इति विज्ञाप्य श्रीकृष्णमूर्त्यग्रे प्राञ्जलिः स्थितः ।

यशोदानन्दगोगोपीगोपसङ्गसमन्वितम् ॥ ४ ॥

ब्रजं भावनया सिद्धं कृत्वा हृदि विभावयेत् ।

स्वार्थं प्रकटितं कृष्णमानन्दाकारमुत्तमम् ॥ ५ ॥

इति विज्ञाप्य आर्तसाशयविज्ञापना, विरहस्य 'अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरि' रिति वाक्यादिवैकाभावो न दोषावह इति पूर्वमुक्तम् । इदं विज्ञापनं अर्धरात्रे श्लोकसायाश्रयाशनन्तरम्, स्वार्थं प्रकटितमिति भूतप्रयोगात् । न च प्रकटितमित्यत्र पुरुषोत्तमप्रतिष्ठासामयिकं भूतं प्राकृत्यं वृद्धिम इति वाच्यम् । कृत्वेति तत्रान्तकर्तुः जन्माष्टमीदिनपुरुषोत्तमभातुकस्य प्रकटितकर्मभावना-कर्तृत्वात् । पुरुषोत्तमप्रतिष्ठासामयिकभूतप्राकृत्यं जन्माष्टम्यदिनपुरुषोत्तमभातुककर्तृकत्वात् । तस्मात्प्रकृत्यग्रहणायोगात् । 'अत्र कटकाद्युपचाराः साक्षात्कृता भवन्ती'ति सेवाप्रकरणटीका-याम् । तादृशस्तु संयोगमक्तिः सुप्रसिद्धैव साध्यर्थवृत्त्या कथं पुरुषोत्तमाविर्भावं साधुयादतो द्वितीय-सर्पदलमाहुर्हृदि भावनाख्यम् । यशोदेव्यादि । ननु क्वपि विरहे संयोगोपि सुखिर एवेति कथं भावनाख्यं द्वितीयदलं संयोगावस्थावामिति चेन्न । विरहावस्थावामेव हृदि प्राकृत्यमिति नियमो नास्ति । 'ध्यानञ्चे'ति सूत्रे भाष्ये 'भावनौत्कृत्यदशायां व्यभिचारिभावात्मकसततस्मृतिरूपध्याना-दपि हृदि प्रकृतः सद्भासीनो भवतीत्यर्थः । 'तेन शैथिल्यं भवती'ति भाष्यात् । न च 'भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते' इति सद्भासननिर्णयप्राधान्यतीकृत्यं विरह एवेति वाच्यम् । 'आत्मानन्दसमुद्रस्यं कृष्णोऽयं विचिन्तये'दिति सिद्धन्तमुक्तावल्यां संयोगमक्तिसञ्चारिण उपदेशात् । अतोऽयं संयोगेपि संयोगसञ्चारिणः सुवचस्वम् । अत्र देवकीवसुदेवादिसमन्वितं ब्रजं सिद्धं कृत्वेति नोक्तम्, पुराणास्तुक्तमपि । कृष्णोपनिषदि 'यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी' । 'देवकी प्रभविद्या' 'निगमो वसुदेव' इति श्रुतिभ्यस्तस्वरूपाभ्युत्तवावतीर्णस्य क्रीडावने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सह' इति यतो नन्दादिभिरवाहं श्रुतिः । ननु जन्माष्टमीसिसमाख्याप्राप्त्या-जन्मनो वसुदेवशब्दाद्विज्ञापनवाक्येषु यशोदानन्देत्यादिवाक्ये च देवकीवसुदेवसुखेखनेन सन्दर्भं विरचयन्तु गोपगोपीसुरोत्सखेन क्रीडाशब्देऽन्यत्र भवतु न तु जन्माष्टम्यामिति चेन्न । जन्माष्टमीसिसमाख्याया प्राप्त्यापि, पुराणान्तरेण प्राप्तापि भागवते मते जन्मनो गोप्यत्वेन वसुदेवशब्द-जन्मार्थमुत्सखेनसम्भवात् । 'जन्म गोप्यं भगवत' इति प्रथमस्कन्धात् । जन्माष्टमीसिसमाख्याया भागवते मते 'वासुदेवस्त्वयैवाविर्भूत इति सिद्धान्त' इति सुशोभिण्या कन्दशब्दक्रीडाशब्दपि सम्भवात् । हृदि कृष्णं भावयेदित्यन्वयः । सदानन्दम् । जन्माष्टम्यां भावनतः प्रकटितमिति विशेषणम् । तदपि 'परिष्ठापय साधुता'मिति गीतातः । स्वार्थं स्वीयार्थम् । 'तदपि विनाशाय च हृष्टताम् । धर्मसंस्था-पनार्थाय सम्भवामि युगे युगे' इति वाक्यात्सङ्घर्षणानिरुद्धकार्यार्थं न, किन्तु 'भक्तियोगवितानार्थ'मिति गीताविस्ताराद् भक्तियोगवितानार्थमानन्दकारम्, तदप्युत्तमं कार्योख्यानाधिकरणोक्तम्, न तु विषयानन्दाकारम् ।

तत इति ।

ततः संपूजयेद्भक्त्या यथात्मोपचारकैः ।

संयोगसेवायां दासभक्तित्वेन दासान्तर्गतानि भक्तिवर्धिनीवरत्नश्रीभागवतानुवचतार्थन्ते, तत्र

सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या निवृत्तसर्वदोषभक्तिमार्गायो भक्तिवर्धिन्युदितरीत्या सम्पूजयेत् । भक्तिवर्धि-न्युक्तपूजायां सम्पूज्यं श्रवणादिपूर्वकत्वमेव 'पूजया श्रवणादिभि'रिति भक्तिवर्धिनीवाक्यात् । भक्तिपूर्वकत्वे भक्तयेति वक्ष्यमाणं पुनरुक्तं स्यात् । बालकृष्णजितामासनम् । १ । सङ्कल्पः । २ । कुङ्कुमाक्षतम् । ३ । भक्तिमार्गीयोपचारा मुख्या इति कुङ्कुमतिलकं अश्रुतानि च तुलसी । ४ । पञ्चामृतस्नानम् । ५ । अर्घ्यम् । ६ । चन्दनम् । ७ । स्नानम् । ८ । अङ्गवस्त्रम् । ९ । भगवते पीताम्बरम् । १० । श्रीबालकृष्णजिते पीताम्बरम् । ११ । अत्राशङ्का आयुनिका रक्ताम्बरं कुतः समर्पयन्तीति नेयमाशङ्का कार्या 'पीताम्बरधरः सखी'ति वाक्यस्य तामसप्रकरणीयत्वेन लौकिक-गुण्यत्वम् । तदुक्तं तामसप्रकरणादी 'लौकिकं तामसे गुण्य'मिति । तेन पीताम्बरपदेन रक्ताम्बर-मुच्यते इति ज्ञापनय पीताम्बरपदपुरस्कारेण रक्ताम्बरग्रहणम् । प्रमाणं पीताम्बरपदं लौकिकी भाषा तस्मात्प्रतिष्ठायायां 'भावस्तत्राप्यस्मदीय' इत्यलौकिकभावसहकारिकारेण अर्थान्तरे शक्तमगत्या । भगवते गुह्या । १२ । माला । १३ । चन्दनम् । १४ । चन्दनार्कः (चोवा) । १५ । चन्दन-चूर्णम् । १६ । श्रीबालकृष्णजिते गुह्या । १७ । माला । १८ । चन्दनम् । १९ । चन्दनार्कः । २० । चन्दनचूर्णम् । २१ । भगवते धूपम् । २२ । दीपः । २३ । जलपात्रे । २४ । नैवेद्यम् । २५ । अर्घ्यम् । २६ । तुलसी । २७ । शङ्कोदकम् । २८ । आच-मनम् । २९ । सुखवस्त्रम् । ३० । ताम्बूलीताम्बूलम् । ३१ । वेणुः । ३२ । नीराजनम् । ३३ । प्रयत्नशुद्धुपचाराः साधुताः साधवः सधुताः । भक्तिमार्गीनुसारेणोपचारा मुख्या इत्यधिकोपचारा न दुष्टाः । 'अपि चेत्सुदुराचारे भजते यागन्यभाक् । साधुरेव स गन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः' इति वाक्यात् 'पत्रं पुष्पं फलं तोय'मिति वाक्यात् । अत उक्तं भक्तयेति । संयोगसेवायां स्थितवतो भक्तिवर्धिनीपूजादिता भक्तिवर्धिनीश्रवणाद्युच्यते । श्रीभागवतं च लघु-स्वमार्गे 'देवासुरमनुष्येषु मद्भक्त्या चरितानि' 'कारयेत् मद्भक्त्याऽत्राभ्युत्सवान्' 'कारयेदित्युक्तम् । तत्र महोत्सवस्मरणभक्त्यर्थं नन्दमहोत्सवश्रवणाद्युच्यते, श्रवणादीनि तदानीं भगवतो वक्ष्यमाणान्यपेक्षितानि, तानि समर्प्यन्ते, अथवा 'यद्यदिष्टम'मिति वाक्यात् स्वैष्टतमानि समर्प्यन्ते इति दास्यकरूपता । 'देहि स्नानन्दरूपं स्वदास्य'मिति विज्ञापनावाक्यात् । अतः पूर्वं प्रेक्ष्यार्थं सम्पूजयन्तु ततो जलपात्रताम्बूलनैवेद्यक्रीडनकानि भक्तिमार्गीनुसारेण समर्पणीयानि । भक्तिवर्धिनीपक्षे लीला-स्मरणविषयं समर्पितं सर्वम् । 'प्रेक्ष्यार्थं शयन'मिति वाक्यात् । यद्यपि 'लोकवसु लीलाकैवल्य'मिति व्याससूत्रात् पूर्वोक्तं न समर्पयेत् कोपि, तथापि सर्वसामर्थ्यसदित्याय बालमुकुन्दाय 'यद्यदिष्ट'मिति वाक्यात् 'पत्रं पुष्पं'मिति गीतायाश्च समर्पणीयानि । 'अनाप्रहृष्य सर्वत्र धर्मोपमाग्रदर्शन'मिति वाक्यादन्याप्रेहण समर्पणीयानि वा जलपात्रताम्बूलनैवेद्यानि । 'अनाद्यन्तं विचित्राणि वादित्राणि महोत्सव' इति वाक्यात् नन्दमहोत्सवे 'मद्भक्त्या चरितानी'ति वाक्यादेवैषु भगवद्भक्ता नन्दादयस्तेषां चरितानीति नागिनयः प्राप्नोति तथाप्युपासनाशेषभक्तौ 'जन्म कर्म चाग्निनयन्मुहु'मिति वाक्यादभितः सर्वतोभिनयः प्राप्नोत्येव एवं च 'नन्दस्त्वात्मज उत्सखे' इत्यादि श्रीभागवतोत्सवाप्यायोक्तं सर्वमभिनयेयम् यथाशक्तिभावनात्रयं उत्तमाधिकार्याधिकारिकम् । तथा हि । स्वरूपभावना भगवतो निःप्रतियोगिकर्मणश्च लीलारूपस्य । श्रीडाभावना सप्रतियोगिलीलायाः स्मरणम् । भावभावनं नन्दादिदुःखहर्त्रां प्रेरितस्य नन्दादिप्रीत्यनुकूलसोदस्य भावनः 'तदेजति तत्रैजति' वने वृन्दावने क्रीडन्

गोपगोपीसुरैः सह' इति 'यद्वाचानम्युदितं येन वागभ्युद्यत' इति यथाक्रमं श्रुतयः । अथ नन्दादीनां भावना नन्दमहोत्सवे स्वरूपभावना 'सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' इति भाषापरिच्छेदकारिकाया आनन्दसदृशं संपाद्य भावना । श्रीहार्मिकावनगत्यादि, ब्रह्मणा सह श्रीहार्मावना वा । भावः सर्वात्मभावः सेवारूपस्तस्य भावना यथा श्रिया युक्तोहं तथा मत्तो मम म्रियः 'भद्रक्ताचरितानि च' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां मध्याधिकारे 'भगवद्भूमिनिष्ठातः स्वस्मिन् तद्भूमिशालिता' । एवंविधवाक्यात्प्रेम्णः परमकाष्ठायामुत्तमाधिकारे स्मरणं नन्दादीनां वा कीर्तनानि 'आञ्जु नन्दरायके आनन्द भयो' इत्यादीनि 'नन्दस्त्वाल्मज उत्पन्न' इत्यादि च स्मरणमुत्तमाधिकारकृतम् । श्रवणं च पूर्वोक्तानामेव । दास्यभावेनैव, आरात्रिका सेवासम्पूर्णत्वद्योतिका । पूजावत् । रूपकाणि वस्त्राणि चोत्तारणीयानि । अर्धरात्रजन्मनः प्राग् जन्मनो दिनमिति जन्मवर्षात्पञ्चमवर्षमारभ्योत्सवः प्रवृत्तस्तथैव क्रियते । उत्सवान् मङ्गलभोगो महान्, स्नानात्पूर्वं 'पत्रं पुष्पं फलं तोय'मिति वाक्यात् पीताम्बरादिकं समर्प्य पञ्चाशृतेन स्नापयेत् । तत्स्वरूपमग्रे वक्ष्यन्ति पञ्चाशृतेनेत्यादिना । ततोङ्गवस्त्रं ततोम्यङ्गोद्वर्तनादीन् गन्धं च । रसोद्बोधकत्वाच्चारक्तान्यांभरणानि श्वेतानि पीतानि हरितानि च विशिष्टानि । 'विशिष्टालङ्कारे उत्सवः सार्वजनीनो भवती'ति सुषोधिभ्याः । कमलपत्राङ्गनवेणवः । तदुत्तरं तिलकाक्षतमुपायनं चूर्णनीराजनं सङ्कल्पश्च मार्कण्डेयपूजावत् । अत एव 'सतिलं गुडसम्मिश्र पयोपि समर्पणीयम् । 'सतिलं गुडसम्मिश्रपञ्जल्यर्षं शृतं पयः, मार्कण्डेय महाबाहो पिश्याभ्यासुःससृद्धये' इति वचनात् । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति सूत्रात् । न राजभोगोत्तरम् । 'प्रातरेव प्रकुर्वीत देवतानां च पूजन'मिति मनुस्मरणात् । अस्मदादिकैस्तु सेवानवसर एव । 'आदरादलोप' इति सूत्रात् । नन्दादीनामयं भावः । दासदासीवत्स्थितानामप्ययं कर्तव्यः । तथा च भाष्यम् । उपपन्नस्तलक्षणसूत्रस्य 'दासीत्वेन दासत्वेन लीलायां सुहृत्त्वेन प्रमुनिकटे स्थितिरुक्ता भवती'ति । अत्र गोपीगवाला वन्दनमत्तौ शूद्रनभस्कारं निषिद्धं मन्यन्ते तदज्ञानात् । 'ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः सर्वदोषनिवृत्तिर्ही'ति ब्रह्मसम्बन्धिसमुदायपतितानां सर्वदोषनिवृत्त्या शूद्रत्वामावात् । तदुक्तं ब्राह्मण्यादिदेवतावादे दशमे, तत एवानुसन्धेयम् ॥ अतः परं उत्सवान्तरवच्छयनारात्रिकपर्यन्तम् । ततो जागरणम् । स्कान्दे मार्गशीर्षमाहात्म्ये 'यावदिनानि कुरुते जागरं मम सन्निधौ । शुगायुतानि तावन्ति वसते मम वेदमनि' इति साधारणवाक्यम् । अन्यदुक्तम् ।

इयं लीला जन्मनः पञ्चमवर्षात्प्रवृत्ता प्रत्यब्दं नित्यत्वादाविर्भवतीत्याहुः प्रत्यब्दमिति ।

प्रत्यब्दं कार्यमेवं हि लीलानित्यत्वतः सदा ॥ ६ ॥

एवमुक्तपरामर्शेन सदा सर्वस्मिन् काले आशौचकालेऽन्यद्वारा । अशक्तावपि सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायां 'नामचिद्विक्तने'ति श्रुतिप्रामाण्यात्स्वयं नामानि वक्तव्यान्यन्यद्वारैव कार्यम् ।

वामनजयन्ती । अत्र पूर्वं श्रीस्वामिनीजन्माष्टमी द्रष्टव्या दानैकादश्यपि । 'अन्यान्यपि तथा कुर्यादुत्सवो यत्र वै हरे'रिति सेवाप्रकरणनिबन्धात् । 'रहस्यं श्रीराधेखिलनिगमानामिव धनम्' इति स्वामिन्यष्टकम् । एतत्स्वरूपं 'श्रीराधे' इत्यस्य व्याख्याने उपारम्भे उपपादितम् । हरेरुत्सवस्तु पाञ्चोत्तरखण्डे ।

१. रणाम्बरादिकम् । २. गौरस्य शृङ्गारोद्बोधकत्वादितासामुत्सवाच्च काश्मीररञ्जितानि वस्त्राणि शुभाया अप्याविर्भाव इत्युक्त्वा उभयप्रोत्वेरप्याविर्भावाद् रसोद्बोधकत्वाच्च भारकानि भाभरणानि ।

'वृषमानुरिति ख्यातो गोपो ज्ञातिमतां वरः । तस्य पत्नी महाभागा नाम्ना सौभाग्यसुन्दरी । तातुमौ ब्रह्मसत्त्वित्यौ स्वांशेन जगती गतौ । तयोर्गौहे महालक्ष्मीः प्रादुर्भूता सुरेश्वरी । अयोनिजा विशालाक्षी' इत्युक्त्वाग्रे 'कृष्णस्यानन्दकारिणी'ति वाक्याद् अग्रे च 'मासि भाद्रपदेऽष्टम्यां भौमे मूलक्षीमण्डित' इति । आसनवस्त्रगन्धालङ्कारपुष्पमालानैवेद्यजलपात्रधूपदीपकुङ्कुमाक्षतनीराजनताम्बूलाचमनमुखवस्त्रताम्बूलानि । स्वामिनीस्वरूपसेवायां पञ्चाशृतस्थाने सति विभवे दुरधस्य स्नानमम्यङ्गञ्च षोडशोपचाराः, पुराणमते त्वावाहनविसर्जने अपि । 'स्थण्डिले तु मवेद् द्वय'मिति वाक्यात् ।

लोके सर्वं परित्यज्य लीलासिद्धिमचीरूपः ।

प्रभूपरिकृता दृष्टिस्तथा मयि कृपां कुरु ॥ २ ॥ ममेयं कृतिर्न प्राच्यम् ।

दानैकादश्यां श्रीगोस्वामिरचितदानलीलाभावना ।

वामनजयन्ती । यथेति ।

यथा स्वदासवंशीयबलेरर्थार्थसिद्धये ।

अङ्गीकृतं तत्सर्वस्वं तथैव कुरु मे प्रभो ॥ १ ॥

यथा याचकत्वेन प्रकारेण, स्वदासः प्रह्लादः, अर्थः स्वर्गस्तदपेक्षयाधिकोर्थः सुतलं तस्य सिद्धये । 'सुतलस्यापितबलिः स्वर्गाधिकसुखप्रद' इति पुरुषोत्तमसहस्रनाम्नःस्तोत्रात् । मध्यमपदलोपिसमासगर्भितपष्टीतपुरुषः । प्रभो परिवृढ, परिवृढाष्टकात् । जन्माष्टमीवत् काश्मीररञ्जितवस्त्राणि कुल्दी-धौतिपदवाच्ये उत्तरीये च, अनुरागार्थबोधकानि रक्ताभरणानि । कुरु इति पूर्ववत् । 'तयोर्वा पुनरेवाहमदित्यामास करुयात् । उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः' इति वाक्यात् 'आतिथ्येन तु विप्राभ्ये' इति वाक्यादातिथ्यं कर्तव्यम् । 'बद्धो मध्ये वामनो रामरामौ' इति वाक्याद् राजभोगपदवाच्यानन्तरमासनं सङ्कल्पः कुङ्कुमाक्षते तुलसीपत्राणि पञ्चाशृतमर्घ्यं स्नानचन्दने स्नानाङ्गवस्त्रे बालमुकुन्दादेः । मूर्त्तौ तु परपीडादिसम्भवे पूजा लाज्येत्याचार्याज्ञातो न कर्तव्या वक्षुगुह्यापुष्पमालाचन्दनचन्दनार्कचन्दनचूर्णानि नैवेद्यजलपात्रधूपदीपतुलसीशङ्कोदकाचमनमुखवस्त्रताम्बूलनीराजनाद्युपचाराः ।

विजयदशमी । अत्रापि पूर्वं पर्वनवकं मन्तव्यम् । अत्र श्रीहरिरावजितां नवविठासैः कीर्तनाभिधैर्भावनाः । भगवतश्चिकीर्षितत्वात् ।

प्रतिबन्धेत्यादि ।

प्रतिबन्धासुरं दूरीकृत्य भक्तमनोरथः ।

पूरितः स्वप्रियां नीत्वा तथा मेऽस्तु मनोरथः ॥ १ ॥

असुरो रावणः भक्तो हनुमान्, 'विष्णुभक्ता हनुमन्तमिदं ब्रुवन्' इति श्रुतिर्हनुमदुपनिषदि । विष्णुभक्ता यं पृच्छन्ति स मत्त एव । अस्तिबलधीष्टे लोद ।

इति सत्कारपूर्वकं व्यापारं स्पष्टयाम्बुवः श्रीकृष्णेति ।

श्रीकृष्ण पूरयान्तःस्थासुरभावविनाशनात् ।

वर्शनं देहि रासस्यस्वप्रियासङ्गतं स्वकम् ॥ २ ॥

१. शकृपायिवादिराकृतिगण इत्याहुनिकाः, गणपाठे तु नास्तु । २. अङ्गनावच्छान्दसः । ६ परि०

आसुरभावः पुरुषोत्तमप्रकरणे शरणमार्गानन्तरमात्मनिवेदनमुक्तं कठिनमितीन्द्रियाणि
सुहोतीति श्रुत्युक्ताःमनिवेदनप्रतिबन्धकपर्याय आसुरभावः । श्रीरामचन्द्रशुभोपसंहारस्तावेदेन
भक्तमनोरथकाल एव पश्चात्तु मूलस्वरूपमेव विचिन्तयदित्याहुः दर्शनमिति । इदं मूलरूपमिति
विद्वन्मण्डने 'श्रुतय ऊतु'रित्यादिना प्रोक्तम् । देहि, इति पूर्ववत् ।

दीपोत्सवः । अत्रापि पूर्वं रामोत्सवधनत्रयोदशीरूपचतुर्दशयो गन्तव्याः । रामोत्सवो
गोपालतापिनीये विद्वन्मण्डने च, इतरयोर्दशोरेक उत्सवः क्वचिद् द्रष्टव्यः, अपरः स्मार्त उत्सवप्रताने ।
यथेति ।

पथा श्रीमन्नन्दकृतदीपावलिविधानकम् ।

लौकिकं स्वीकृतं स्वान्मग्रयंशार्थं व्रजेश्वर ॥ १ ॥

लौकिकं हेतुकम् । ननु 'धने वृन्दावने' इति श्रुतौ गोपवदेन नन्दस्यापि सङ्ग्रहान्नन्देन
क्रीडन्निति वचनव्यक्तेन हेतुकं किन्तु वैदिकमिति चेन्न । तौ तु बालभावेनैव भावितवन्ताविति सुत्रो-
पिन्याः बालक्रीडागुणयोगो दीपदानमप्य हेतुकत्वात् । तदपि स्वीकृतं दीपदानं प्रप्रेष्य मनसः स्वस्य च
परित्यज्यात् । स्वस्य वक्ष्य आत्मा व्रजो निललीलास्थानं तत्प्रवेशार्थम् । यदा । स्वस्मिन्नात्मनो
मनसः प्रवेशार्थं दीपदानाद्वक्ष्य वारयितुं श्रीनन्दगनोदरोधो यतः अतः सम्बोधनं व्रजेति । व्रजस्य
ईश्वरः कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ ईश्वरः । श्रीनन्दविरोधार्थं ह्यमेलपदवाच्यालङ्कारो धारणीयो ।
श्रीनन्दस्य बालभावेन भावनान् । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यमिति सूत्रात् । अत एव सुवर्णाकसूत्रवस्त्राणि
नो धारणीयानि किन्तु निर्गुणबोधकरूप्याक्तवस्त्राणि धारणीयानि श्रीनन्दस्य प्राणीयत्वेन निर्गुण-
निष्ठत्वात्तत्रानुरागप्रोथकानि कानिचित् सूत्रेणैति प्रसिद्धं गोरुर्णकदिवक्ष्यगोक्रीडनवस्त्राण्यभरणानि
चात्रकूटदिनधारण्यपि । गोकर्णो शावरभाष्ये चतुर्थस्य तृतीयाधिकरणे उक्तौ 'गोलक्षणान्यप्ये-
वमेव कर्तरीकण्यैः कर्तव्या एवमादीनी'ति ।

तदीयं यथा स्वीकृतं भदीयं तथाङ्गीकुर्वित्वाहुः कृपयेति ।

कृपया स्वीयतासिद्धयै पूर्वविस्मरणेन हि ।

तथा दीपादिकं सर्वमङ्गीकुरु मदर्पितम् ॥ २ ॥

पूर्वस्य स्मार्तस्य स्वशरीरादेर्निर्वन्धाभावमुद्दिश्य कृतस्य मूलाद्युच्चारदेर्विस्मरणेन किन्तु 'कायेन
वाचा मनसे'ति श्लोके निवृत्तस्य यथोपकृतेन पूजादिकरणेऽपचात् स्मार्तिति बुद्ध्या मूलाद्युच्चारो न
स्वशरीरादेर्निर्वन्धाभावमुद्दिश्येत्याद्युक्तस्य स्मरणेन । ननु श्रौतधर्ममोक्षसिद्ध्या इति वक्तव्ये बुक्तः
कृपया स्वीयतासिद्धया इत्युक्तमिति चेन्न तृतीयाध्यायचतुर्थेचरणे 'अतस्त्वितरुड्यायो लिङ्गाच्च'ति
रूपे 'इतरत्तदीयत्वमेव ज्ञाय' इति भाष्यात् । मोक्षोपादानपेक्षया स्वीयतोपादानस्य युक्तत्वात् ।
न च तदीयत्वं भक्तिमार्गान्तर्गतभक्तिमार्गीयोत्कृष्टवस्त्रारूपं साधनरूपमेवेति कथं मोक्षोपादानपेक्षया
स्वीयतोपादानस्य युक्तत्वमिति शङ्कम् । अस्याः शङ्कायास्तथैव तद्गतसूत्रे निरासात् । 'मुक्तानामपि
सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तरमे'ति वाक्यं तत्र कृपयेति साधनत्वाय 'कृपाविष्टः
साधन'मिति । पूर्वोक्तलौकिकभिन्नालौकिकं दीपादिकमङ्गीकुर्विति पूर्ववत् । इदानीमपि तथा दृश्यते ।
आदिपदेनापण्यतारिकोपायनानि, महाराजोपचाराणां मुख्यत्वात् । ननु बालभावेऽप्युक्तवस्तु-
दिरुद्धमहाराजोपचारा इति चेन्न । विरुद्धधर्माधारत्वाद्भवतः । 'सर्वसामर्थ्यसहित' इति कृष्णाश्रयात् ।

अत्रकूटः । विशिष्टालङ्कारविशिष्टनैवेद्यानन्तरं श्रीगोवर्द्धनपूजा तत्रेदं वक्तव्यं स्वशक्तीति ।

स्वशक्तिहृदयाद्रूपं खं यथा प्रकटीकृतम् ।

तथैव प्रकटीभूय गिरौ पूजां गृहाण मे ॥ १ ॥

गोपालतापिनीये 'गोवर्द्धनधराय चे'ति श्रुतिस्तस्याः प्रथमः । स्वस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य शक्तिर्माया
तस्या हृदयं प्राप्य तस्या अपसारणं 'कृष्णायाङ्किणकारिण' इति श्रुतेरङ्किणकारितया करोति तेन
मायापसारणेन येन प्रकारेण खं श्रीगोवर्द्धनाधिदैविकभिन्नं रूपमतिस्थूलं प्रकटीकृतमप्रकटं तद्
अतोऽमृतद्रावे च्चिः, तथा मायापसारणप्रकारेण । 'तस्मै नमो व्रजजनैः सद चक्र' इत्यस्य
सुषोविन्यां स्पष्टमिदं प्रमेयम् । गिरिति ।

गिरिच्छत्रेण ह्रस्वात्चामरैः स्नेहवारिभिः ।

केवलस्वीयताराज्येऽभ्यपिञ्जममीश्वरः ॥ २ ॥

त्रिभी राजा कदापि स्वावसरे न विद्युन्क्ति एवं गिर्यादित्रिभिर्भोजोपि न विद्युन्क्ति तल्लीलामण्डलत्वात् ।
ईश्वरोऽभ्यपिञ्जमनः पातन्द्रो भगवन्तं सुरभिकृताभिपेक्षेऽभ्यपिञ्जम् भगवान्, स्वस्वरूपासूतपाता
व्रजमभ्यपिञ्जम् इन्द्रो हि शूद्रं वंशीस्थाने स्वसमये तिष्ठति द्यतः पातुःवममभवः । ईश्वरः अङ्घ्र्याद्युतं
निशि शयानं निःसाधनं व्रजं स्वस्वरूपे ख्यापकः । मालाकार इव व्रजः सञ्जताद्युन्नमयनुन्नतान्
सन्नमयनुत्खातानारोपयन् विगलिताभ्यगुञ्जान् वस्त्रगीचीनं कुर्वाणो पुष्टान् पोषयन् जगति जातान्
जागति । जग्गाद्यस्य यत् इत्यत्र यच्छ्रुदार्थस्य निर्गुणत्वाद् 'उत्खातान्प्रतिरोपयन् कुसुमिताभिन-
ह्यधून्वर्द्धयन् कुञ्जान् कण्टकितान् बहून्निरसयन् विक्षेपयन्संदतान् । अत्युच्चानमयन् नतांश्च शनकैर-
न्मीलयन् भूतले मालाकार इव प्रपञ्चचतुरो राजा चिरं जीवति' । प्रास्ताविकः । तदुक्तं पाशो-
त्तरखण्डीयवाक्ये सम्बोधनं गोवर्द्धनकृतच्छत्रेति ।

ततः पीताम्बरं गोक्रीडनार्थं धारयित्वा गोक्रीडनादि कारयित्वात्रकूटसमर्पणे इमे वक्तव्ये
त्वदित्यादि ।

त्वदाज्ञसत्ययागात्मात्रकूटस्य समर्पणात् ।

गोवर्द्धनाचलाधीश प्रसीद्ध सततं मयि ॥ १ ॥

यथेन्द्रयागभङ्गस्य सभागस्य च कारणात् ।

नन्दादीनामनन्यत्वं कृतं मयि तथा कुरु ॥ २ ॥

नन्दं प्रति त्वदाज्ञेत्यादि । अधीशो नाधिदैविकः किन्तु स्वरूपमतिस्थूलम् । सयागस्येन्द्र-
यागभङ्गस्यैव विरोध इति चेन्न । यागेन गोब्राह्मणादिव्रतयोगिकेन सदेति सयागस्तस्येन्द्रयाग-
भङ्गस्येति । प्रतियोगिभेदात् 'तस्माद्वां ब्राह्मणानामद्रेश्चारम्यतां मख' इति श्रीभागवतात् । अनन्यत्वं
नान्यःपूज्यतमो येषां तेऽनन्यास्तेषां भावोऽनन्यत्वम् । तथा च गोपान्प्रति श्रीनन्दवाक्यं त्रयोविंशत्याध्याये
'इत्यह्मा मां समादिश्य गणं च स्वग्रहं गते । मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमङ्किणकारिण'मिति ॥ १ ॥ २ ॥

प्रबोधिनी । अत्रापि पूर्वं भ्रातृद्वितीयागोपाद्यक्षयवन्मयः । भ्रातृद्वितीयायां तद्दिनकीर्तनै-
र्भावन 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यमिति सूत्रात् । गोपाद्यम्पां कृष्णोपनिषद्भ्युत्सुकगोभिः क्रीडा 'सुखप्रदो
क्रांतिके तु स्मृता गोपाद्यमी बुधैः । तद्दिने वासुदेवोभूद्रोषः पूर्व तु वत्सवः' इति पाशात् । भावन
तद्दिनकीर्तनैः । अक्षयनवमीसुगादिः प्रदक्षिणाप्रभाता । तथैव शिष्टाचारात् । क्रीडतेति ।

क्रीडना योगनिद्राङ्गीकारेण रससागरे ।

तत्रस्थाङ्गीकृता मासैः पुमर्थप्रतिपादकैः ॥ १ ॥

तथाधुनोत्तिष्ठ कृष्ण याहि स्वात्मनिवेदितान् ।

तद्भीकृतिमात्रार्थं जगद्रसमयं सृज ॥ २ ॥

अत्रोत्तिष्ठेति भक्तमनोरथार्थमधीष्टे लोह न प्रार्थने 'प्रार्थिते वा ततः किं स्या'दिति निषेधात् । एतादृशीच्छा लीलाप्राक्त्यार्थमतोयमुत्थापनमत्रः मन्त्रि गुप्तभाषणे इति धातुपाठात् । ननुत्सवप्रताने 'इदं विष्णुर्विचकम' इति मन्त्र उक्तस्तेनास्य बाध इति चेन्न । इच्छायां मन्त्रार्थज्ञानं कारणमर्थदेवस्तु तिरोहितः 'अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु । तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्ममे'ति वाक्यात् । किञ्च सर्वोत्तममार्गे भक्तिरुक्ता तत्र नवधाभक्तिः 'तत्रोपयोगोखिलसाधनानामिति' वक्ष्यते तादृशभक्तौ गीता द्वादशे भक्तियोगाध्याये मन्त्राभावो मन्त्राणां स्वस्वप्रकरणे साधनभक्तितत्साधनेषूपक्षीणशक्तीनामुक्तायां भक्तौ धावनायोगात् । अतः क्रीडतेत्यादिभिर्भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्योत्थापनम्, न मन्त्रैः प्रमाणाभावात् । ननु मा सन्तु प्रेमानन्तरं स्वयसनतः कियमाणायामं भक्तौ फलात्मिकायां साधनभक्तौ तु पूजायां मन्त्राः कुतो नेति चेन्न । गीताद्वादशाध्याये भक्त्यध्याये मन्त्राभावाद् उपासनायाः प्रेमभक्तिसाधनत्वे पूजायां मन्त्राः सन्तु बाधकाभावात् । 'मन्त्रस्यापि विधानत' इति सेवाप्रकरणनिबन्धात् । प्रकृतमयोच्यते क्रीडता योगेत्याद्युक्ते द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायः । किञ्च वाराहपुराणीयचातुर्भासा-माहात्म्यचतुर्दशाध्यायसन्दर्भः । श्वेतद्वीपस्वरूपकथनानन्तरम् ।

'श्वेतद्वीपसमीपे तु क्षीराब्धौ शेषमञ्चके ।

चातुर्भासे तु सम्प्राप्ते स्वपामि प्रतिवत्सरम् ॥

श्वेतद्वीपस्थिताः सर्वे ये चान्येत्रापि वर्तिनः ।

मद्भक्ता देवताः सर्वास्तत्रस्थाः पूजयन्ति हि ॥

श्रीभृदुर्गात्मिका लक्ष्मीस्त्रिभी रूपैः सदैव तु ।

सेवतेऽनन्तरूपैश्च बहुरूपधरं हि माम् ॥' इति ।

स्वपामिति योगनिद्रा । अथ प्रलयात्मा नारायणोवान्तरप्रलयाधारः इति सुबोधिन्याम् । ननु रससागर इति विरुद्धं तस्य भेदनिबन्धनत्वादत आहुः तत्रस्थेति । तत्रस्थ्या योगनिद्राङ्गीकृता क्रीडायां भेदार्थम् । तदुक्तमिदं 'मायाभात्रमनूधान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदती'त्यत्रैकादशस्कन्धे, 'अन्तरा भूतग्रामवदि'ति सूत्रेऽभेदोन्तरातो भगवान्भेदं न ददातीत्युक्तमेवं 'योगमायामुपाश्रित' इत्यत्र सुबोधिन्याम् । अतोत्र 'न यत्र माये'त्यस्य न विरोधः । अत्र निदर्शनमाहुः मासैरिति । चतुर्भिर्भासैः बहुत्वमपेक्षाबुद्धिजन्यं भेदनिबन्धनम् । सङ्घातात्पर्यं वदन्तः शब्दार्थयोरौत्पत्तिकं सम्बन्धमाहुः पुमिति । पुमर्थाश्वत्वारस्तेषां प्रतिपादकाः शब्दात्मका अर्था मासाः रससागरे भक्तेच्छया चतुर्भिः पुमर्थैः क्रीडतीत्युक्तम् । यद्वा मासैश्चेष्टारूपैः क्रीडशैः पुमर्थांलक्ष्मीकृत्य गतैरित्यर्थः । प्रतिर्लक्षणे पद गतौ अर्थप्रकरणे शब्दगतप्रतिपादकत्वाभावात् तथा योगमायाङ्गीकृतत्वेन रूपणेत्यर्थः । स्वैति स्वस्मिन्नात्मनि आत्मा निवेदितो यैस्तान् याहि 'प्रदीपवदावेश'सूत्रोक्तरीत्या कामभोगकरणार्थं प्रविश । यतस्त इन्द्रियाणि जुहति । स्फुटमात्मनिवेदानख्ये ग्रन्थ इदम् । तदित्यादि स्वात्मनिवेदितानामङ्गीकृतिरूपाधिकारमात्रार्थं रसमयं सृजेत्यधीष्टम् । किं जगद् गोकुलात्मकं 'रसो वै स' इति श्रुतेः । एतदेव स्वात्मनिवेदितानामधीष्टम् । यतस्त इन्द्रियाणि जुहति । अत्र 'अचलत्वं चापेक्ष्ये'ति सूत्रम् । 'भक्त्या जानाति चान्ययम्' इति श्रुतेर्वक्ष्यमाणसृतिस्वारस्यात् । गीता तु तद्विस्तररूपा स्मृतिः । 'स्मरन्ति चे'ति सूत्र उदाहृता तत्रैव 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिः ।

मार्गेश्वरः । भगवतः श्रुतमपुरुषस्य भगिनीभावनं पूजनं चाहुः स्वैति ।

स्वनाथप्रापिकां देवीं सन्तुष्टां कृष्णरूपिणीम् ।

भावयित्वात्मभजनीये रूपे पूजयेच्च ताम् ॥ १ ॥

नन्वन्याश्रयोन्यत्रान्यारोपे प्रमथेति चेन्न । साधनाध्याये सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे 'सर्ववेदा-न्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्' 'भेदान्नेति चेदेकस्यामपि' 'स्वाध्यायस्य तथात्वेन समाचारेष्विकाराद्यसववच्च तन्नियमः' 'दर्शयति चे'ति सूत्रचतुष्टयसिद्धमुपसंहारसूत्रभाष्य उच्यते आशङ्कामुखेन । ननु पूर्वसूत्रोक्तरीत्या गुणोपसंहारो न क्वचिदपि प्राप्तवसर इति सिद्धम् । "इत्यते चोपसंहारः रामोपनिषत्सु 'यो वै ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा' इत्यादिनोक्तावताररूपत्वस्य आराम 'नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय चे'त्यादिषु त इति युष्मच्छब्दविषये श्रीव्रजनाथे श्रीरघुवर्यत्वादेरित्याशङ्क्य तत्प्रयोजकं रूपमाहुः उपसंहार इत्यादिना" । उक्तस्थलादिषु य उपसंहारः स त्वर्थस्य पदार्थस्य भगवल्लक्षणस्योभयत्राप्यभेदादित्यर्थः । इत्येकं रूपं द्वितीयम् । विधिशेषवचदिति विधिशेषोर्थवादस्तद्वत्समानं च भवतीति । प्रकृते 'सङ्कल्पो विदितः साध्यो भवतीनां मदर्चना'दिति ब्रह्मवाक्ये मदर्चनपदाद्भगवल्लक्षणार्थाभेदः काल्यायन्याः । 'विधिशेषवत्समानं' विधिकल्पितस्य शरीरस्य 'तस्य सेवादिकल्पने'ति श्रुतौ क्रियेतेति विधि प्रकल्प्य तच्छेषः ॐ यो वै श्रीपिन्याप्रकृतिर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नम इति अर्थवादस्तत्समानमिदमेव । अथवा वायव्यं श्वेतगालभेतेत्यस्य वायुर्वै क्षेपित्यर्थवादस्तेन समानमिदम् । एवं कृष्णरूपिण्या देव्या उपसंहारे भीजद्वयमप्युपलभामहेऽतो भेदे सिद्धे नान्याश्रयो वाप्यन्यत्रान्यारोपः । ननु पुंस्त्वशुपसंहृत्य पूर्वं भजनं कृतमिदानीं कृष्णरूपिणीत्वं स्त्रीत्वमप्युपसंहृतमिति स्वरूपस्यान्यथात्वमापतितमिति चेन्न । विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन न स्वरूपस्यान्यथात्वमित्यस्य 'अन्यथात्वं च शब्दादिति चेन्नाविशषा'दिति सूत्रे सिद्धत्वात् । स्वनाथप्रापिकां दुरदृष्टनाशिकां काल्यायनीरूपां संहारिकां शक्तिमयिरूपां । शक्तित्वेन व्यवहारेः स्त्रीत्वमतः साधनरूपां । अस्या अपि शक्तेरिच्छाशक्तिर्बलीयसीतीच्छया दुरदृष्टनाशप्रतिबन्धेऽसाधनत्वमाशङ्काहुः सन्तुष्टामिति । सन्तोषोनुद्धर्षः महाभाग्यवती 'अल्पभाग्यत्वे भगवान्नाज्ञापयेत् यशोदायां च जन्म न स्याद्भगवद्दास्यं च न प्राप्नुयात्, त्वया प्रार्थितः प्रियः स्वेच्छामप्येतदनुगुणां करिष्यति अहो महाभाग्यं तव आभिमानिकसम्बन्धेन त्वं पुनर्भगिनी भवसि अत उपकारोपि कर्तव्यः' एतादृश्या महानुद्धर्षः । परिशेषात्प्रमाणरूपां प्रासाणिकः सन्तुष्टो भवतीति । फलप्रमेययोरग्रे स्पष्टत्वात् । न च मन्तव्यं तादृशदोषो न मया परिहर्तुं शक्यत इति यतस्त्वं देवी ताम् । महायोगिनी गर्भसङ्कर्षणादिकार्यकारणात् प्रमेयरूपां दिवु क्रीडाव्यवहारेति धातुपाठात् । नन्वाधिदैविकं कथं परिहर्तव्यं कालादिभ्यो बलिष्ठा हि सा प्रतिबन्धकशक्तिस्तत्राहुः कृष्णरूपिणीमिति । कृष्णे रूपमस्या अस्तीति कृष्णरूपिणी तामधीश्वरीमित्यर्थः । ईश्वरं भगवन्तमधिकृत्य वर्तते अतोन्तरज्ञा त्वं शक्तिः स्वल्पापेक्षमन्तरङ्गम् । भगवन्मात्रापेक्षा, प्रतिबन्धकशक्तिस्तु बहिरङ्गा बहुपेक्षत्वं बहिरङ्गत्वम् । भगवत्प्रतिबद्धोभयापेक्षत्वात् । अतः सर्वप्रकारेण त्वं भगवदीयेति आत्मभजनीये रूपे भावयित्वात्वैत्यर्थः । न च 'मायेत्यसुराः' 'माया च तमोरूपे'ति श्रुतिभ्यां तमउपासका असुरा इति वाच्यम् । अनीश्वरप्राकृततमउपासकत्व आसुरत्वं न तु हीश्वरदास्यकर्म्या आत्मगुणतमोरूपाया उपासकत्व आसुरत्वमिति ।

चरन्तः । मकरकण्ठनोर्षदा विकर्तनः सङ्गामति तदा पर्वोत्सवः पूर्वमत्रापि । किञ्च, पौषे श्रीगोस्वाम्युत्सवोपि कृष्णाश्रमव्याप्तम्, 'यम देवे परा भक्तिरथा देवे तथा गुरो' इति श्रुतश्रवत-
रात् । ननु गोपीनाथजिदुस्वयः कुतो नोक्त इति चेन्न प्रब्राह्मणपुराणे सप्तसप्तत्यथापि मथुरा-
गोकुलशुकम् 'तथाहं सुदुः तं रूपं सर्वलोचनगोचरं, करिष्ये विमलं सौम्य मम मक्तसुखावहम् ।
विद्वलेष्टेतिविरुथाति गमिष्य जगतीतले' इति वाक्योच्यः ।

काम इति

कामेपि प्रमदाभावकरणं काममुन्दरम् ।

तदर्थं सेवयन्कृष्णं केशोरं चमयि स्थितम् ॥ १ ॥

एवं संसेवितः कामपञ्चम्यां कामदोसि यत् ।

गोपीनां कृपया देहि तथा मे काममद्भुतम् ॥ २ ॥

अद्भुतपदमहिम्ना व्याख्यायते संग्रहनाभावेन प्रयश्चानुमानाभावात् । पुरुषादियोग्यकामोप्य-
स्तीश्वर इति । 'अपि संग्रहने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' इति सूत्रे संग्रहणस्य कारणत्वात्सर्वधर्मप्रत्यक्षे कामेपि
पदेन चर्तुवःसुवःपदवाच्यलक्ष्याः कामोप्यारोपितलक्ष्मीकः लक्ष्या रमणस्यानत्वाद् अत उक्तं प्रमदा
लक्ष्मीत्वात् । भावो लक्ष्मीत्वं तस्य करणमिति कामात्मुन्दरम् । तदर्थं काममुन्दरप्रमदा-
भावकरणार्थं 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्य' इत्यत्राभिहितमकत्यात्मककामस्य भगवत्सम्बन्धानुक्ति-
साधनत्वमुक्तमिति तत्कामना कार्या, अत्र प्रमदाभावकरणं फलं कामादिनिष्ठं सेवा साधनरूपा देहनिष्ठेति
फलसाधनयोर्वैयधिकरणं तत्तु दूषणं 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदी'ति सुबोधिनीकारिकातः स्व-
वैराग्योत्कर्षार्थं यदि तदा नास्ति फलस्य स्तनिष्ठत्वस्य कृपाया देहि तथा मे काममद्भुतमिति वक्ष्य-
माणत्वाच्च एवमुक्तपरामर्शेन कामपञ्चम्यां भक्तैः संसेवितो कामः अद्भुतत्वाद् यद् येन प्रकारेण गोपीनां
कामदोसि त्वं तेन प्रकारेण सर्वेन्द्रियहोमकर्त्रर्थं तदिच्छया विकृतलीलत्वेन प्रकारेण मे मह्यमद्भुतं कामं
देहीति सत्कारपूर्वको व्यापारः अधीष्टे लोद इति । अकामो भक्तेच्छया सकाम इत्यद्भुतम् । तथाहि
विभावानुभावसञ्चारिणस्तावद् अत्र श्रीकृष्ण आलम्बनम् । तद्गुणतिशयः सच्चिदानन्दरूपत्वात्कामत्व-
कामलक्ष्मीप्रमदाभावकरणलोकोत्तरसौन्दर्यकरणाद्यतिशय उदीपनम् । तत्राहयः 'अकामो भगवान्'
कामदोसीत्युक्तर्पायकृष्णवर्णनादयोनुभावाः । सेवार्थं गतिवृत्तिहर्षादयः सञ्चारिणः । इति
विस्तारिकायामद्भुतरसविवरणे । एभिः कारणादिभिर्विधेषु पदार्थेषु लोकसीमानिवर्तितेषु 'विस्का-
रश्चेतसो यस्तु विस्वयः स उदाहृत' इति लक्षणवाक्याद्भुतः कामः । शृङ्गारैषु सर्वे रसा रसभावं
प्राप्नुवन्तीति रसयोर्विशेष्यविशेषणत्वम् । अन्योपि विस्वयो गोपीनां कामदोसीत्यत्र गोप्यः आविद्या-
कला वैराग्यसाहचर्ययोगतपोभक्तिरूपास्तासां काम इति ।

दोलोत्सवः । अत्रापि पूर्वं माघी पूर्णिमा शुगादिः, फाल्गुनी, सप्तमी, श्रीमोवर्धननाथागमनो-
त्सवः, शुक्लपक्षस्यां निकुञ्जोत्सवः, उषानोपवनेरसवः, फाल्गुनी पूर्णिमा मन्दादिः । अत्र भावना
उल्लासादिभिः कीर्तनादिभिश्च कार्या एव ।

प्रियेति ।

त्रिगोरूपभवात्मस्तम्भयुग्मरामन्विताम् ।

श्रीकृष्णस्मृतिसौर्यां यद्दोलामारोपयाम्यहम् ॥ १ ॥

प्रियावाहुलताभावात्मिकायामनुरागतः ।

दोलायां दोलायामि त्वां प्रसीद पुरुषोत्तम ॥ २ ॥

स्वाधिकारानुसारेण्यं भावना न सर्वज्ञनाधिकारानुसारिणीत्युपरामः । पुरुषोत्तमप्रकरणे श्रीम-
दाचार्यैरिन्द्रियहोमः प्रतिपादितः सोपि ग्रन्थान्तरे कस्यचित्सुसुः कृतगुण्यपुञ्जस्य भगवता सह रिरंसा
समजनीत्यादिनैतादृशरिरंसावतो दासस्य तु निरोधलक्षणग्रन्थोक्तरीत्येन्द्रियहोमस्तथापि स्ववशे
स्थापिताशेषभाहात्म्या आचार्या अतो ग्रन्थे निबन्धः । अन्येप्यपि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इति न्यायेनेयं
भावना 'ईश्याणां चचलायं तथैवार्चति कचिद' इति न्यायानुसंगाने तु 'आत्मानन्दसमुद्रस्यं
कृष्णमेव विचिन्तयेदि'ति दासभावेन भावनायं, मथ्याधिकारे तु स्वधर्मवृद्धा श्रेष्ठे । हीनाधिकारे तु
स्कन्दपुराणोक्तं 'त्रिरैव दोलयेदेवं सर्वपापापनोदनम्' इत्यन्यदस्युत्सवप्रतानेऽस्ति । स्कन्दस्य तामसत्वेऽपि
पुराणानां सात्विकादिविभागो न प्रवृत्त उत्सवप्रताने ग्रन्थान्तरे आवरे निबन्धलेखे श्रीकल्याणार्थै-
स्तुक्तः । अत्र सूत्रं 'तानि परे तथाद्वाहे'ति । श्रुतिः 'ता वां वास्तुनी'ति । गीता प्रयोदशेऽध्याये
'सर्वेन्द्रियगुणाभासमि'ति । श्रीहरिरायाणां कीर्तने हिन्दोलायाः 'दक्षीं दली हो पियराज पावसरिदु
आनन्दमरी । चरणसुगल दोऊखम्भ भये भुजदाण्डी चारि सिरखुरे मयारएहो लटकन आभूखन बहुराज'
कीर्तनादिभिर्भावनाः ।

रामनयमी । अत्रापि द्वितीयापाठगुणमण्डनीसंवत्सरादि पूर्वं बोध्यम् । श्रीति ।

श्रीकृष्णहास्यरूपेण प्रमदाभावकारकः ।

तदर्थं प्रकटाय त्वां भजामि रघुनायक ॥ १ ॥

यथैवाभिकुमारणां भावमुत्पाद्य दत्तवान् ।

वरं मे कृपया देहि तथा देव नमोऽस्तु ते ॥ २ ॥

श्रीकृष्णस्य हास्यरूपेण रामतापिनीमे 'कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय चे'ति श्रुती
मायामयायेत्यत्र प्राचुर्ये मयद् । रामस्य मायाऽविकारत्वात् । तत्र प्राचुर्यं श्रीकृष्णसत्तामंशतो बोध-
यतीत्युक्तं श्रीकृष्णहास्येति । प्रमदाभावस्य कार्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्तद्दीव्यशक्तिः श्रीति कायस्य
मायामयात्वेन 'पुष्टिं कायेन निश्चय' इत्यत्र कायपदार्थत्वेऽपि प्रमदानां साधारणीतां ग्रहणे प्रोतेऽप-
लाप्रसङ्गात् । वाराहे श्रीभागकथनात् चिन्त्याः कृष्णस्येति वा । इन्द्रियमयायेत्यनुत्तना मायामयाये-
त्युक्तं तत्सूचयति प्रमदाभावकार्यं भेदशुतमेव । मायापदवाच्यानीन्द्रियाणि यथा तथा पुराणे गुण्य
मायापदवाच्याः 'हासं जनोन्मादकरी च माये'ति वाक्यान् मायामयायेत्यत्र मायापदसूचितहास्य-
रूपेणेत्यर्थः । हास्यवनारः श्रीराम इति प्रसिद्धिः । रामतापिनीये मन्त्रसाधनमन्यमार्गपरं मतं नापोपयु-
ज्यते । दण्डकारण्यवासिनामृषीणां प्रमदाभावकारकः प्रसिद्धम् । यत् एतादृशः स्वतः प्रमदाभावकर-
णार्थं प्रकटाय तुभ्यं नम इत्यनुकर्षेणान्वयः । मयादापुरुषोत्तमत्वेन ग्रन्थकरणेलायां प्रकट इति नमनं
भगवदाविर्भावो माहात्म्यज्ञानपूर्वकं नमनं कर्तव्यमिति सुबोधिन्याम् । रघुनायकेति सम्बोधनेन रघूणां
नायक इति दासानां दासयोग्यं वरान्तरमपि ध्वनितं देयम् । मायामयायेति श्रुती मायपदं भाङ् माने
शब्दे चेति धातुपाठान्माने परिच्छिन्नपरिमाणे शब्दे चास्ति । ततः प्रत्ययः भयद् च । एवं चात्र
हासं जनोन्मादेति वाक्योपबृंहितश्रुत्या हासं मायेति ।

श्रीमत्प्रभृत्सवः । श्रीकृष्णेति ।

श्रीकृष्णान्तरकृष्णास्यरवरूपविहारकृत ।

तदर्थप्रकटः स्वीयदास्ये मामनुभावय ॥ १ ॥

‘यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरा’विति श्वेताश्वतरश्रुतेरावश्यकः । ‘आचार्यं मां विजानी-
यात्रावमन्येत कर्हिचित् । न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरु’रिति भगवद्बचनात् । अत्रापि ‘प्रभौ
परिवृढ’ इति पाणिनिसूत्रात् परिवृढसमानाधिकरणप्रभुपदोपादानम् । परिवृढाष्टके श्रीपुरुषोत्तमे
परिवृढपदप्रयोगः । अतः प्रभृत्सव इत्युक्तम् । आचार्यत्वं च नूतनमार्गप्रवर्तकत्वं ‘आचार्यवान्
पुरुषो वेद’ इति श्रुतेः ‘आचार्यचैलवपुषा स्वर्गतिं व्यनक्ति’ इति स्मृतेश्च । ‘उपनीय तु यः शिष्यं
वेदमध्यापयेद्विजः । सरहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षत’ इति आरण्यश्रुतिर्वेदमार्गाचार्यलक्षणप्रति-
पादिका । ‘एकं साङ्गं च योगं च वेदारण्यकमेव च । परस्परान्तरान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यत’
इति भारतात् । आरण्यकमित्यत्र स्वार्थे ष्यञ् कप्रत्ययश्च । आरणमित्यर्थः । सुबोधिन्यामपीयं
श्रुतिर्विचारिता श्रीकृष्णस्यानन्दमात्रकरपादमुखोदरादेर्योन्तरकृष्णो विरहदलविधिभावात्मा तस्य
मूर्त्त्यात्मकस्यास्ये ये रचाः ‘अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्’ इति श्रुतेस्तद्रूपा विहाराः तेषां कृत
तदर्थं तादृशविहारार्थं यत्र श्रीकृष्णस्तत्र प्रकटः स्वीय आत्मीये दास्ये तन्निमित्तं मां लक्ष्मीकृत्य
भाचय स्मर । आचार्येषु भेदबुद्धेस्त्रयस्त्रिंशदपराधेषु गणनाञ्जन्माष्टम्यां यानि श्रुत्यादीनि तान्यत्रापि ।
यद्वा लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे ब्रह्मत्वेनोपासनाविषयत्वेनेति भाष्ये उपासनात्वेन भक्तित्वेन कार्यकारणभावः
सूचित इति मर्यादाभक्तौ जनयितव्यायामुपासनामपेक्षते कारणत्वेन तत्रोपासनाविषये प्राणैः श्रुतिः
‘प्राण आचार्य’ इतीयं श्रुतिः । अत्रतीकालम्बनसूत्रम् । विभूत्यध्याये गीता ‘मुनीनामप्यहं व्यास’
इति । ‘भक्तिमार्गप्रचारेकहृदयो बादरायण’ इति भाष्याद्वाचार्याणामपि भक्तिमार्गप्रचारेकहृदयत्वा-
द्भक्तिमार्गप्रचारेकहृदयत्वगुणयोगात्प्रासपदस्य गौणी ।

चन्दनयात्रा ।

कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यमङ्गरागभतिप्रियम् ।

श्रीकृष्ण तापशान्त्यर्थमङ्गीकुरु मपर्पितम् ॥ १ ॥

सष्टम् । ‘तानि पर’ इति सूत्रम् । ‘ता वां वास्तुनी’ति श्रुतिः प्रपञ्चरूपा वैकुण्ठस्थानोद्भवं मम
श्रीतिकरं मङ्गलैर्ब्रह्मादिभिर्धारितं विष्णुचन्दनं वैकुण्ठस्थानादाहृत्य द्वारकायां मया प्रतिष्ठितं चन्दनं
कुङ्कुमादिसहितं विष्णुचन्दनं ममाङ्गे प्रतिदिनमालिप्तं गोपीभिः प्रक्षालनाद्गोपीचन्दनं मदङ्गलेपनं पुण्यं
चक्रतीर्थान्तस्थं चक्रसमायुक्तं पीतवर्णं मुक्तिसाधनं भवतीति श्रुतिर्गोपीचन्दनोपनिषदि । पुण्यं प्रथ-
माधिकारे मर्यादायां प्रेमद्वारा मुक्तिसाधनं पुष्टौ मुक्तिः कर्मसम्बन्धव्यतिरेकेण गृह्य एवं चतुर्विधपुरुषार्थ-
मनुभवतो मगवदीयत्वरूपा पुष्टिमार्गीयमोक्षविवृतौ श्रीपुरुषोत्तमकृतायां विवृतयेत्यं मुक्तिः । गीता-
तावद् ‘अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्य-
ह’मिति राजविद्याराजगुह्ययोगाध्याये नवमाध्याये ।

नृसिंहजयन्ती । श्रीवेति ।

श्रीवारूपं श्रीनृसिंहं स्वभक्त्यतिशयाद्यथा ।

प्रकटीकृतवान् कृष्ण तं भक्तिं वितर स्व मे ॥ १ ॥

श्रीवया रूप्यते नृसिंहोऽयमिति व्यवहियत इति श्रीवारूपं सर्वो हि शिरसाभिज्ञायते देव-
दत्तोयं विष्णुमित्रोयमित्यतो विशेषणम् । स्वपदेन प्रहादः । सप्तमस्कन्धे सष्टम् । वितर स्व हे
स्व वितर । वृ घवनतरणयोः भ्वादिपरस्मैपदी । नृसिंहतापिनीयेऽथैष एवाकार इत्यनेन जीवात्मैकी-
कृतात्मरूपाकारमनुधासतमार्थं आत्मन्येवेलोककारेण विशेषणसङ्गतैवकारेणात्ममात्रे तं बोधयित्वा
नृसिंहे ब्रह्मणि वर्तते इत्यनेन श्रुत्यंशेनाकारस्यानात्मन्यव्यापकेवतार इति यावत् तमाकारं न बोध-
यति । अतः श्रुत्या न पुराणोदितरूपबाधः ।

ज्येष्ठाभिषेकः । अत्रापि गङ्गाजिह्वशहरा पूर्वं बोध्या । अत्रापि हरेरुत्सवः ज्येष्ठशुक्लदशम्यां
प्रयागे श्रीयमुनया समागमो जात इति यमुनासखीत्वात् । पद्मपुराणे मरीचिसर्गे यमुनोवाच ‘पृथ-
ग्मूत्वा गन्तव्यं हि त्वया सखी’त्यत्र सखीति सम्बोधनात् ।

प्रियेति ।

प्रियारतिविहारोत्थश्रमवारिसुगन्धिना ।

शृङ्गाररसरूपात्मयामुनब्रह्मवारिणा ॥ १ ॥

स्वरूपरसदानार्थं तापानन्तरभावनात् ।

प्रियाङ्गरसनीरेण स्वभिषिक्तो भव प्रभो ॥ २ ॥

स्नातस्तद्रसदानार्थं स्वसृष्टिं कारणारिभक्त्याम् ।

सृष्ट्वा वितर सत्क्रीडां तदास्ये स्वीकुरुष्व माम् ॥ ३ ॥

अत्र पद्मपुराणे मरीचिसर्गे यमुनामाहात्म्ये त्वाष्ट्री ब्रह्मणो वरं लब्ध्वा सूर्यनारायणाद्यमं यमुनां
च ससर्ज । तत्र द्रवरूपाशेऽचेतने ब्रह्मासृजितमिश्राम्भःपरिक्लिन्नपाणिस्पर्शः विष्णुप्रवेश ईश्वरैश्वर्याषानं
च देवत्रयकार्यं तत उभयोर्जातकर्मोदि । ततो ‘यमुनाम्बुवपुर्मुत्वा पुण्यतोयाभिगामिनी ।
वैष्णवीयोगमास्थाय सावतीर्यास्तपर्वतात् । अर्षादिकृतसत्कारा भित्त्वा चाम्बुनिधिं ततः । संप्राप्ता
पुष्करद्वीपं पुष्करद्वीपवासिभिः । पूज्यमाना विवेशाशु क्षीराब्धिं तेन सत्कृते’ति । अत्रान्तस्तद्रमभि-
करणे सूर्यान्तस्थः परमात्मा प्रतिपादितस्वस्य प्रिया त्वाष्ट्री ‘अहं बीजप्रदः पिते’ति गीता । प्रियायाः
कीडाविहाराश्च तैरुत्थेन श्रमेण यद् वारि तस्य सुगन्धिना सुगन्ध इव सुगन्धोऽस्त्यसिन् एतेन
चन्दनादि पुष्पादि चोद्घृष्टं सुगन्धजनकं वारिण्युक्तं ‘रसो यः परमाधारः सच्चिदानन्दलक्षणः ।
ब्रह्मेत्युपनिषद्गीतः स एव यमुना स्वयम् । पावनायास्य जगतः सरिद्धत्वा ससार हे’ति वाक्योक्त-
शृङ्गाररसरूपम् । एतस्य वारिणो मधुरो रस इति चेन्न । तच्छृङ्गाररसरूपमात्मनि स्वरूपे ब्रह्मात्मके
यस्य न प्रकटं भक्तेच्छातो विनाऽप्राकट्यात् । नन्वप्रकटस्य तस्य सत्त्वे कोतिग्रह इति चेच्छृणु
स एव यमुनेति प्रत्यभिज्ञाशब्द एव । तच्छब्देन ब्रह्मपरामर्शात् तस्य च शृङ्गाररसत्वात् । तादृशं
यामुनं ब्रह्म निर्विकल्पकज्ञानं वारि तेन वारिणा ॥ १ ॥

स्वरूपरसः फलप्रकरणे ‘ततो रूपं प्रतिष्ठित’मित्युक्तः तदानार्थम् । ननु कथमेवं व्याख्यायते
यतः सूर्यान्तस्थपरमात्मनो दुहितेति चेन्न । यमुनाम्बुवपुर्मुत्वेत्यनेन वपुरन्तरप्राप्तेः, मूलेति पदादंशतः
सत्ताया अबाधकत्वात् । ‘या माता सा पुनर्भार्या या भार्या जननी हि सा । यः पिता स
पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिते’ति योगतत्त्वोपनिषच्छ्रुतेः ब्रह्मवारिणेत्युक्तेर्न कोऽपि दोषः ।
स्वरूपरसदानार्थमित्यत्र यमुनाया इत्युच्यते कुत एतद् ‘बापो वा’ इत्यादिश्रुतेरवान्तरप्रलय-

विषयत्वेन सुभोधिन्यां व्यवस्थापनाद् अत्रापि स्वयं विष्णुः प्रविश्याजीववद्भि तदित्युक्तम् । तदित्यचेतनं मिथुनं यमयम्यात्मकम् । तापेति स्वयं तापः सा करैस्तेत्युक्तस्तदनन्तरं भगवतोषः । 'तुष्यतां मे स भगवानि'ति श्रीभागवते कालिन्दीवाक्यात् तस्य भावनाद् उत्पादनात् तापानन्तरं तोषे स्वरूपरसदानमित्युक्तम् । हे प्रभो परिवृढ सुदृग्भिविक्तो भवेत्यधीष्टे लोद । यद्वा कालिन्दी स्वरूपरसदानार्थम् । यद्वा यामुनब्रह्मवारिणेत्यत्र कालिन्दीब्रह्मवारिणेत्यर्थः । यामुनेत्यत्र शैविकप्रत्ययात् । यमुनया गृह्यते रूपान्तरेण कालिन्दीत्वेन तथामुनमेतदुभयपक्षे 'अहं देवस्य सवितु'रित्यादिसुभोधिनीसन्दर्भे स्फुटोऽयमर्थ उत्तरार्धे । प्रियेत्यादि 'प्रिया कालिन्दी सैबाङ्गं स्वयं विष्णुः प्रविश्ये'ति वाक्यात् तदेव रसो मधुरः तद्युक्तं नीरं तेन ॥ २ ॥

अभिषेकः स्नानं स्नातस्य भक्तेच्छया लीलाप्राकट्यमाहुः स्नातस्तेति । स्वसृष्टिमात्मसृष्टिम् । कारणात्मिकां ब्रह्मात्मिकाम् । सत्स्त्रीडाममृतकीडाम् । तद्दास्ये ब्रह्मदास्ये विस्तृतब्रह्मश्रीडाङ्गीकृतदास्ये । स्त्रीकुरुष्वेत्यात्मनेपदं स्त्रीकारफलं भजनानन्दरूपं आत्मगामि प्रतिपादयति । स्वसृष्टिः सर्वातः स्वसृष्टिं विशिषन्ति स्म कारणात्मिकामिति । कारणानि श्रीगोकुले भक्तेच्छया जातानि अथवा दहराधिकरणोक्तपरमात्मन्यवरुद्धानि कारणानि ब्रह्मजीववादनिराकरणसिद्धानि । न स्नानतोपीत्यधिकरणे ब्रह्मस्वरूपं सिद्धम्, 'अपि संराधन' इति सूत्रे फलायितं वा, अरूपवत्सूत्रे सिद्धं वा कारणं प्रस्थानरत्नाकरस्य प्रमेयप्रकरणे 'तत्र ब्रह्म पूर्वं निराकारमेव सच्चिदानन्दात्मकं सर्वभवनसमर्थ'मित्येवं सर्वभवनसामर्थ्योक्तिः, जिज्ञासाधिकरणे निर्गुणमेव ब्रह्म कारणमिति निरुक्तेः । इमानि कारणानि आत्मा स्वरूपं यसाः । आत्मसृष्टिस्तु वाराहे 'प्रादुर्भावोऽवताराणां मम सृष्टिरितीरिति'ति लक्ष्मणिकोक्ता सापि व्याख्येया । सत्स्त्रीडायां मृत्युरूपाशननिवृत्तिस्तु न, तद्विज्ञतसदृशाशनाया अमृतत्वेनामृतरूपपेक्षितभोगस्य सम्भोगप्राप्तिसूत्रे प्रसाधनात् ॥ ३ ॥

रथोत्सवः । मन इति ।

मनोरथात्मकरथे रथात्मात्मन् हरे मम ।

श्रीकृष्णस्योपवेशार्थमधिवासं कुरु प्रभो ॥ १ ॥

मनोरथो मत्तानां ब्रह्मणि प्रचरति तेनात्मा स्वरूपं यस्य तादृशे मम रथे, हे हरे प्रपञ्चे वर्तमानानां सर्वदुःखहर्तः । यद्वा रथो देहस्मिन्नात्मा जीवात्मा तस्यात्मा स्वरूपं रथशब्दस्य देहे शक्तिः 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव त्वि'ति श्रुतौ जीवस्याक्षरात्मककरणसामर्थ्यं द्योतितम् । 'य एवासि स सन् यज' इति श्रुतेः । तदपि भावात्मकं तु यद्दाम तद्रूपत्वेन व्यावर्तयामासुः प्रभो इति परिवृढ इत्यर्थः पुरुष इति यावत् । तथा च भाष्यम् । अक्षरस्यापि ब्रह्मत्वं पुरुषस्यापि तयोः परापरभावोऽभेदेति अद्वयत्वाधिकरणे । क्रियासहितसदानन्दरूपश्रीकृष्णस्योपवेशार्थं अधि अधिकं प्रयुक्त्वेन वासम् । यद्वा मनोरथात्मकरथविशेषणम् । अधिवासमिति वास इत्यर्थः वास इत्यधिवासमव्ययीभावः । उपवेशार्थमुपवेशस्यार्थं प्रयोजनं फलमानन्दं कुरु यद्वा योग्यतां कुरु । अधीष्टे लोद ।

मनोरथेति ।

मनोरथात्मकः कृष्ण कल्पितोयं रथस्तव ।

पूरयात्रोपसंविश्य गोपीवन्मन्मनोरथम् ॥ २ ॥

'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पने'ति रामपूर्वतापिनीयश्रुतेः कल्पित इत्युक्तम् । 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रिति फलप्रकरणे वाक्यान्मनोरथत्वावच्छेदेन मन्मनोरथं पूरयेति सत्कारपूर्वको व्यापारः ।

श्रीकृष्णेति ।

श्रीकृष्ण रथमारुह्य सरामेण सुभद्रया ।

पाहि मां भक्तिदानेन दुःखसंसारसागरात् ॥ ३ ॥

हे श्रीकृष्ण स पूर्वं मनोरथपूरकत्वेन भावितो रामेण सुभद्रया च सह त्वं रथमारुह्य दुःखसंसारसागरान्मां पाहि । नन्वियदवधि सेवयैवं दुःखसंसारसागरात् पा रथणे रक्षणं कृतमेव 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्ति'रिति सिद्धान्तमुक्तावल्याः पुनः कुतः स्मारयसीत्यत आहुः भक्तिदानेनेति । सर्वात्मभावोत्र भक्तिः दानपदसमभिव्याहारात् 'प्रदानवदेव तदुक्तमि'ति तार्तयिसूत्रात् । सर्वात्मभावाभावजदुःखं तिष्ठत्येवेत्यंशतोऽपि दुःखसंसारसागरात्पाहीत्यर्थः । हीनाधिकारे तामसस्कन्दोपन्यासेन । सर्वत्र प्रसिद्धरथोत्सव उत्सवप्रदाने प्रतिपादित एव, भावनायां भावनापि ।

पवित्रोत्सवः । अत्रापि पूर्वं षष्ठी पूर्णिमा हिन्दोला श्रावणशुक्लतृतीया षाटिका षोष्ठाः । तत्र षष्ठीपूर्णमयोर्भावेने विषये के अपि । हिन्दोलायां दोलोत्सववद् भावना । 'शुद्धी शुद्धी हो पियसङ्ग' इति भाषाकीर्तनाद् अन्यैः कीर्तनैश्च । अत्र तृतीयायामपि कीर्तनाद्भावेन । उद्यानेऽपि उद्यासादिभिर्भावना । द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये 'प्रेङ्गं श्रिता या गायती'त्यत्र सुभोधिन्त्यां हिन्दोलोक्ता ।

अक्षरे लीनतासिद्धौ भृशं लक्ष्मीर्थथाकरोत् ।

दोलिकारोहणं स्वप्रियकर्म गायती तथा ॥ १ ॥

प्रतिमुखे मुखान्दोलैरक्षरादभयं कुरु । मम कृतिरियं न मूलग्रन्थकृताम् ।

या कृतेति ।

या कृता वार्षिकी सेवा सा मूलफलदा मता ।

प्रत्यहं सूत्ररूपेण सैकीभूतानुभावनात् ॥ १ ॥

मूलं धर्मी प्रत्यहं क्रियमाणा तु तत्तद्वन्तर्गततत्तद्दिनसेवाजतोषमुत्पादयन्ती प्रत्यवायाभावे पर्यवस्यति न तु मूले, प्रत्यहं सेवया प्रेमासक्तिव्यसनानां भवनात् । प्रेमत्वेन सेवात्वेन कार्यकारणभावात् । तदुक्तं 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति सिद्धान्तमुक्तावल्यां तद्दीक्षायां तदकरणे प्रत्यवायी भवतीति । 'मानसी सा परा मते'त्यस्य टीका परा फलरूपेति 'मद्भक्तेः कारणं पर'मित्येकादश एकोनविंशे परमिति फलाव्यभिचारिकारणमतः परा फलाव्यभिचारिकारणमतो वार्षिकी सेवा प्रत्यहं क्रियमाणा सूत्ररूपा मूलफलदवार्षिकीसेवासूचनात् । 'सूचनासूत्रमित्याहु'रिति ब्रह्मोपनिषच्छ्रुतेः । न च यज्ञोपवीतसूत्र एवेयं प्रवर्तत इति शङ्क्यम् । सूत्रपदादत्रापि समाख्यासत्त्वात् । एवं च प्रत्यहं सूत्ररूपेण 'प्रकृत्यादिम्य उपसङ्गान'मिति वार्तिकेन तृतीयाऽभेदार्यिका सूत्ररूपेणेत्यत्र तथा च सूत्ररूपा भिन्ना या सेवेत्युक्तम् । ननु सूत्रं कार्पासं सेवानुवृत्तिः क्रियेति यावत् तयोर्द्रव्यकर्मणोः कथममेद इति चेन्न । 'क्रियाङ्गं तद्धि वै स्पृत'मिति ब्रह्मोपनिषदः क्रियाङ्गस्य क्रियाकत्वात् तदन्तःपातिनां सूत्राणां तद्रूपत्वात् । ननु सूत्रपदस्य कार्पाससूत्रं शक्यार्थः न क्रियातोत्र कथं सूत्ररूपा, सूत्रपदेन रूप्यत इति सूत्ररूपेति चेन्न । सूत्रपदस्याभिधेयार्थतिरस्कारेण व्यङ्ग्येयं तात्पर्येयं वा क्रियारूपे प्रवृत्तेः सूचनात्सूत्रशुन्यत इति श्रुतेः ।

सङ्घातात्पर्ये वा यथा पुत्रेष्टौ । ननु षष्ठ्युत्तरशतत्रयपरैः सङ्घातात्पर्यं कुतो नेति चेन्न । अवाचनिकत्वाद् या सेवा व्यष्टीभूता सानुभावनाद् अतु पश्चाद् भावनमनुभावनं चानुभावनं चानुभावनं चैतेषां समाहारोनुभावनं एकवद्भावः । तस्मात्समष्टीभूतानुक्रमेणैकदा भावनाविषयीकृतैकीभूतेत्युच्यते । क्रिया-त्रिभूणावस्थापिनीत्वपक्षे आहार्यज्ञानविषयत्वं बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम् । अत्र वार्षिकीसेवा नाकृता मूलफलदापि तु कृतेति कृतेत्युक्तम् । नन्वेकं तत्पदं व्यर्थं या प्रत्यहं सूत्ररूपेण व्यष्टीभूतानुभवनादेकीभूता कृता वार्षिकी सेवा सा मूलफलदा मतेत्यन्वयादिति चेन्न । इरान्वयस्य पूर्वतश्चे निषिद्धत्वाद् एवं च या प्रत्यहं सूत्ररूपेणेत्यत्र यच्छब्दानुवृत्तिर्यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाच्च 'जनुपापिपतेर्नेति ऋग्वेदश्रुत्या सा मूलफलदा मम ग्रन्थकर्तुर्मता । श्रीमदाचार्याणां तु एकापि सेवा सम्यक् कृता पुरुषार्थपर्यवसायिनी तथापि देहनिष्कृत्यै सम्पूर्णजन्मना पूर्तियुक्तं कुरुतेत्युग्वेदश्रुतिराहेति मतम् ।

एवमेकीभूतसूत्रा वार्षिकी सेवा चैकार्यवाचिका तत्र सूत्रपदं प्रत्यहं सेवानां वार्षिकसेवासूचनरूपं ज्ञापकमित्याहुः पवित्रमिति ।

पवित्रं तज्ज्ञापकं हि प्रेषितं हरिणा ततः ।

अतस्तदारोपणं तु श्रीकृष्णे सन्मतं सदा ॥ २ ॥

पवित्रं षष्ठ्यधिकं शतत्रयतन्वात्मकं तस्य प्रत्यहसेवानां वार्षिकसेवासूचनरूपस्य ज्ञापकम् । तदुक्तं 'तत्रोत्तमं पवित्रं तु षष्ठ्युत्तरशतत्रय'मिति । 'ये त्वां न बहु मन्यन्ते यथा सम्भावितो मया । जपहोमादिर्जं तेषां फलं त्वामेतु निश्चया'दिति कपर्दिबचनम् । ब्राह्मं च राजसं 'न करोति विधानेन पवित्रारोपणं तु यः । तस्य सांवत्सरी पूजा निष्फला मुनिसत्तम' इति । तथा चैकं सूत्रं न्यूनं चेन्न पवित्रं पूर्णं यथा तद्योक्तवाक्याभ्यां पवित्रोत्सवरूपसूत्रं न्यूनं चेन्न वार्षिकी सेवा पूर्णा भवतीति शोक्तम् । कपर्दिनो धर्मज्ञभक्तत्वेन निश्चयार्थं हीत्युक्तम् । 'द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं मठा' इति धर्मराजवाक्याद्भर्मज्ञत्वं 'ज्ञानेन भजती'त्यथर्वशिरःश्रुतेर्भक्तत्वं कपर्दिनः । हरीति हरिणा क्रोडरूपिणः भक्तानां स्वभावत इष्टं प्रेषितं कृतम् । वाराहे चातुर्मासमाहात्म्ये 'पूर्णिमायां ततः कुर्यात्पवित्राणां समर्पणम् । नानावर्णैः षट्सूत्रैर्निर्मितानि समर्पयेदि'ति वचनात् ततः कारणत्पवित्रं तज्ज्ञापकम् । श्रीकण्ठे आरोपणस्याविवक्षितत्वाच्छ्रीकृष्ण इत्युक्तम् । श्रीकृष्णाश्रय इत्यर्थः । दशमस्याश्रयस्य विशुद्धत्वात् । सतामसृतमिच्छूनां मतम् । सदा सर्वमासेषु 'मुख्यालाभे हि सर्वत्र यावन्नोत्तिष्ठते हरि'रिति विष्णुरहस्यवचनात् ।

तदेति ।

तदारोपाङ्गक्तिभावा मूले सर्वे समर्पिताः ।

श्रीकृष्णाश्रये पवित्रारोपणमूले आदिकारणे कटकादिबद् भक्तिभावा दशमोक्ताः । विशेषजिज्ञासायां श्रीहरिधनकृतभावनायां विमृष्टाः ।

त्वत्प्रेति ।

त्वत्प्रेषितं पवित्रं हि मूलसेवाफलत्मकम् ॥ ३ ॥

समर्पयामि तत्प्रीतः कृपयाङ्गीकुरु प्रभो ।

त्वया प्रेषितं त्वत्प्रेषितं मूलसेवैव फलमितरफलानपेक्षणात् । तस्य आत्मा स्वरूपं पूर्णं येन पवित्रेण तत्तयोक्तम् । 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्पस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व

ममार्पणं' इति गीतायामाहुः समिति । प्रीतस्तदङ्गीकुरु इति वचनव्यक्तेः प्रीतेर्प्राणामित्वात्कुर्विति परस्मैपदं धातोरुभयपदित्वेऽपि प्रभो इति पूर्ववत् ।

समर्पणफलमाहुस्तदिति ।

तत्समर्पणतो भावसेवायाः फलरूपता ॥ ४ ॥

भावसेवा 'भावात्मकत्वात्तद्व्यं गुणातीतं सदैव ही'त्यत्र रसो भावो देवादिविषयिण्या रत्नाः स्थायिभावत्वात् 'स्थायिभावो रसः स्मृत' इति अङ्गशास्त्रे, भू सत्तायाम् भावे षञ् भावः सत्तातः सदानन्दमेवेत्यर्थः । फलरूपतेतिवचनं प्रत्यहं मेनायाः फलरूपत्वेऽपि पुराणमत एनया सेवया वार्षिकसेवाव्यङ्गत्वपरिहारात् फलसमर्पकत्वेन भावसेवाया वार्षिक्याः फलरूपता नेतरद्वाहयति साधनं फलं वा ।

रक्षा । पूतनेति ।

पूतनायां संस्थितायां गोपिकाभिर्यथा कृतम् ।

तथा रक्षाबन्धनं प्रेम्णाङ्गीकुरु कृतं मया ॥ ५ ॥

ननु शरणमार्गविरुद्धं रक्षाबन्धनम् । शरणमार्गं ब्रह्मणो रक्षकत्वादत्र भक्तानां रक्षकत्वमिति रक्षाकारणधर्माणां ब्रह्मणि स्फूर्तेर्भ्रमत्वशङ्केति चेन्न । दशमस्कन्धपद्यापटिप्पण्यां श्लेहयावे ये धर्मा भगवन्निष्ठाः स्फुरन्ति ते तत्र सन्त एत तादृशकभक्तवेद्या एवेति प्रकथनाद्ब्रह्मबन्धनकारणधर्माणां भगवति स्फूर्तेर्भ्रमत्वशङ्केति यथा रक्षा कारणधर्मप्रकारेण तथा पूर्णब्रह्मत्वरूपं फलं ब्रह्मगामीति परस्मैपदमङ्गीकुरुविति । 'लोकवत्तु लीलकैवल्यम्' इति सूत्राद्ब्रह्मबन्धनम् ।

एतदतु हिन्दोलोत्तारणम् । पूर्णिमाशुक्त्वा 'ततः परं हृषीकेशं यजेत्प्रतिपदादिषु' इति ब्राह्म-हात् । जन्माष्टमीमभिव्याप्य क्रीडनकार्पणम् । गर्भस्तुतिवत् ।

मालामणिव्यवधायकग्रन्थिवन्नित्यविष्यन्तरोत्सवाननुक्त्वा पृथशुक्तितात्पर्यमाहुः प्रतीति ।

प्रत्यन्दमेवं करणाहुत्सवानां विधानतः ।

श्रीमदाचार्यमार्गोक्तसेवायाः फलरूपता ॥ ६ ॥

श्लेहान्तरं स्वव्यसनतः क्रियमाणोत्सवानां विधिप्रयोजकताशून्यानामकरणापत्तेः । एवमुक्त-परामर्शेन विधानतः विधानतोपीत्यर्थः । अपेरप्याहारः । विधानतो यथा । 'ततो जन्माष्टमी शुभ्या ममातीव प्रिया हि सा । तस्यां निशीथे कर्तव्यं कृष्णमूर्तेः प्रपूजनमि'ति वाराहे । 'अफलाकाङ्क्षिभिर्यद्भो विधिदृष्टे य इज्यते । यष्टव्यमेवंति मनः समाधाय स सात्त्विकः' इति गीतायाम् । श्रीमदिति । सेवोत्सवसेवा । कदाचिद्दृश्यमाणसेवायाः फलरूपता । नित्यसेवोत्सवान्नाहयत् साष्टर्षाहणा-देवान्यद्वाहं निवारितम् ।

जनयत्याशु वैराग्यमिति विषयवैतृष्ण्यसंज्ञवैराग्योक्तेर्भक्तिफलत्वेनात्र सेवात्वेन सेवोक्तैव विशेष-प्रकारेण धनिकसाध्यत्वात् सेवाफलं त्रिभिः प्रपञ्चयामासुः सेत्यादिभिः । सा ष्यायेति ।

सा कायवाङ्मनोभिश्च दृढप्रेम्णा कृता सती ।

दृढमूली लतावच्च वृद्धा कृष्णं फलिष्यति ॥ ७ ॥

सा सेवा कायेन कृता सेवा भगवत्तोषं 'यद्दृश्या तुष्यते हरि'रिति तृतीयस्कन्धात् परं तु कायमात्रेण सेवाऽसम्भवाद् वाङ्मात्रेण सेवा सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायामनुक्ता किन्तु तनुविद्याभ्या-मुक्ताऽतः कायग्रहणं कायवाङ्मनो सेवायाः फलं पार्षाभावः 'उभयोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो

भवे'दिति निबन्धात् । कायवाचनोभिः सेवायाः फलं संसारदुःखनिवृत्तिः 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिरिति सिद्धान्तमुक्तावल्याः । चकारादनुक्तसमुच्चयार्थक्रीतनुचितजसेवाफलं मानसीसेवा सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायाः । किञ्च तपोवैराग्यसेवायाः फलं ज्ञानं साक्षात् सर्वत्वज्ञानं वा 'तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यति' इति निबन्धात् । अपि च तनुविधाभ्यां 'भक्तिरहस्यमज्जनं तदिदामुत्रफलभोगवैराग्येनामुष्मिन् मनःकल्पनभेदे च नैष्कर्म्यमिति गोपालतापिनीयोक्तमानसीसेवाका, एवं च तनुविषययोर्बोधयोगो जातः 'परो हि बोधो मनसः समाधि'रिति वाक्यात् तस्याः फलं प्रेमे 'योगयोगे तथा प्रेम' इति निबन्धात् । कायवाचनःप्रेमभिः सेवायाः फलं ब्रह्मबोधनं 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनमिति सिद्धान्तमुक्तावल्याः । भक्तिः 'ब्रह्मप्रकृत्यस्त्विना' इति सप्तदशे 'परं ब्रह्माधिगच्छती'ति त्वष्टादशे वाक्याभ्यां तत इत्यस्य कायवाचनोभ्यः कायवाचनःप्रेमस्य इत्यर्थत् 'यथा भक्त्येश्वरे मनः' इति वाक्याच्छ्रुत्युक्तमनःकल्पनस्य प्रेमसाध्यस्य ग्रहणात् कायवाचनोद्वेदप्रेमभिः सेवायाः फलं कृतार्थता । 'यदा स्याद्ब्रह्मसंनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि' इति भक्तिवर्धिन्याः । दृढत्वमनुक्रमेण व्यसनावस्थात्वम् । दृढत्वं यद्दि प्रमाणादिचतुष्टयबाधाभावस्तदापि कृतार्थता । 'श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति' इति बालबोधात् । दृढत्वमत्र प्रमाणादिफलं ज्ञेयम् । दृढस्युलीति दृढं मूलं श्रद्धालक्षणं यस्याः 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति' इति वाक्यात् । दृढं बलम् । 'दृढः स्थूलबलयो'रिति सूत्राद् बलं च प्रमाणादिचतुष्टयबाधाभावः । 'श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगमादवैद्दी'ति श्रुतेश्च तस्याः फलं रतिद्वारा भक्तिः, 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यती'ति वाक्यात् । अनुवृत्त्याख्यसेवाफलं सायुज्यं 'सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फल'मिति निबन्धात् । भक्तिहेतूक्तदिशानुग्रहेण मर्यादाभक्तौ फलं भगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु । अनुग्रहेण पुष्टिभक्तौ तु अलौकिकसीमर्थं फलम् । पुष्टिभक्तिर्मर्यादाभक्तिश्चानुग्रहेण जातेति मूलमनुग्रहो वा साधनसाध्यत्वाद्बलतावद्ब्रह्मा मर्यादाभक्तिरानिरोधलक्षणग्रन्थोक्तनिरोधम् । पुष्टिभक्तिस्तु आसर्वात्मभावम् । 'पुरुषार्थोतः शब्दादिति भादरायणः' इति फलमत उपपत्ते'रिति तार्तीये न्यायसूत्रात् 'प्रदानवदेव तदुक्तम्' इति सूत्रेण तस्य मुख्यभक्तिरूपसर्वात्मभावस्य दानसाध्यत्वेन साधनासाध्यत्वादतः कृष्णं फलिष्यति । ब्रह्मप्राप्तेर्गोणफलरूपाया अत्र निवेश एवं वृद्धा भावैरङ्कुरिता सेवानुग्रहाभिव्यक्त्या सद्रूपेण पुंसु स्थिता महीसृगदशां बीजरूपा 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति' इति भक्तिवर्धिन्याः भक्तिः सत्तारूपं बीजं शृङ्गारसत्तारूपं बीजं लतावद्दृढं यथा भावैरङ्कुरिता श्रुतिस्मृतिदृशामाकल्पमासम्भितैः श्रद्धा केन्दलिता मनोरथमयैः शास्त्राशतेनावृता लौल्यैः पल्लविता मुदा कुसुमिता प्रत्याशया पुष्पिता इति वृद्धा सा फलिष्यति कृष्णं लीलाभिः । चकाराद्भावेरङ्कुरिता महीसृगदशांमाकल्पमासम्भितैः प्रेम्णा केन्दलिता मनोरथमयैः शास्त्राशतेनावृता लौल्यैः पल्लविता मुदा कुसुमिता प्रत्याशया पुष्पिता लीलाभिः फलिता ब्रजवनीशृङ्गारकल्पद्रुमरूपा 'कामादितरत्र' इत्यादिसूत्रोक्ता विहितभक्तेरितरत्र कामादिरूपा सेवा गृहीता भक्तिवर्धिन्युक्तदिशा वृद्धा प्रेमासक्तिव्यसनरूपा वा कृतार्थताफलम् ।

एतदेवाहुः व्यस्तैरिति ।

व्यस्तैस्तैः सुहृदैर्हीनमध्यमोत्तमभेदतः ।

कृता जीवैः स्वमार्गस्यैः फलिष्यत्युत्तरोत्तरम् ॥ ८ ॥

१. कन्दं नवाङ्कुरमिता इतच् ।

हीनमध्यमोत्तमभेदतो व्यस्तैस्तैः पूर्वोक्तैः प्रकारैः सुहृदैः सुशोभनैराचार्याभिमतैः दृढैः स्व-
रुचि मननशास्त्राभ्यासकृतैः । व्यासस्तु स्वरुच्या कायवाग्भ्यां कृता हीनाधिकारिणी कायवाचनोभिसौः
सप्रेमैः कृता मध्यमाधिकारिणी तैः दृढप्रेमसहितैः दृढमूत्युत्तमाधिकारिणी लतावद्दोत्तमोत्तमाधिका-
रिणी, अयं भेदो नातिप्रसिद्धोऽनुग्रहसाध्य इत्युत्तमान्तर्गतमात्रो गृहीतः । 'शुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म
न भक्तियोगम्' इति वाक्यादुत्तमोत्तमाधिकारिभक्तिरनुग्रहे सति ददातीति । अत्र फलं ब्राह्मेणेत्यादि-
सूत्रोक्तं भगवत्सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु, अलौकिकसामर्थ्यं तु 'निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे' इति
वाक्यादत्यन्तानुग्रहे सति संपादयति । आत्मनिवेदनमात्मनिवेदनपद्धतौ द्रष्टव्यं सप्रकारम् ।
'अभिः त्वा शूर नोनुमोऽदुग्वा इव धेनव' इत्याद्याः श्रुतयः । त्रिविधं निवेदनम् । आत्मा तु ईश्वरे तस्मा-
त्कृतात्मनिवेदनेन विहाय पुरुषोत्तमं न कोपि भजनीयः शरीरं तु गुरुपुरुषोत्तमयोः कार्यं कल्पनीयं
नान्यत्र तथा सर्वं धनादिकमपि । यदा निवेदितं शरीरं गुरुर्विक्रीणाति शुनक्ति वा कथमपि
करोति तदा तस्मिन् शरीरे स्वयं स्वामित्वं न करणीयम् । 'विक्रीतस्य पशोः पुत्र न कर्तव्यो
यथा व्ययः । न करोति पुनः शिष्यस्तथा जीवे निवेदिते' इति काठिन्यमस्तीत्यनधिकारिणि न
देयम् । 'यस्य देवे परा भक्तिः' स इतः प्रेतानन्दमयमात्मानमुपसङ्गामति' परं विशिष्टं चिकीर्षुं पुष्ट-
मत्तत्त्वादिति प्रतिभाति ।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैत कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन' इति
श्वेताश्वतरन्यायादप्रकाशितानां फलानुपयोगमाशङ्क्य प्रकाशार्थं पावित्र्यद्वारा भावजनकरजोभक्ति
स्मरणात्मिकां मार्गीरूपार्थप्रकाशद्वारा फलोपयोगार्थमाहुः पित्रित्यादि ।

पितृपादरजो जातु श्रुत्तमैर्बिस्मृतं न यैः ।

तेषामेव हि मार्गोयं फलिष्यति न चान्यथा ॥ ९ ॥

अन्यथा पितृपादरजोविस्मृतत्वप्रकारेण धतमानानां च पुनर्न फलिष्यति तदुक्तं
'यत्पादरजसागत्य यादृग्भावः कृतो मम । तादृशेनैव तद्भावं वर्णयाम्यवशः कचिदि'ति प्रमरगीत-
टिप्पण्यां स्वानुभव उक्तः । एकादशे चतुर्दशाध्याये 'पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुमि'रिति रजसो महदङ्घ्रिसम्बन्धिनः
पावित्र्यं प्रति कारणत्वमुक्तम् ।

एवं प्रवृत्त्यर्थं फलमुपपाद्य बाधकसत्त्वे प्रवृत्तिरपि निष्फलातः कालस्य बाधकत्वाभावमनुगुणस्य
विरोधकार्यं संप्राप्त्यर्थमपि वदन्तो नमनात्मकविरहदशायां वस्तुनिर्देशात्मकं च मङ्गलं ग्रन्थमध्येऽष्ट-
श्लोक्याहुः श्रीति ।

श्रीवल्लभो जयति भक्तहितैकबन्धु-

राविश्चकार तनयं किल विद्वलं यः ।

तस्यैव पादयुगलं सततं नमामि

प्रेम्णा तदस्तु हृदये मम सर्वदेव ॥ १ ॥

श्लुभपदमारम्भ एव व्याख्यातम् । भक्तानां हितश्चासावेकबन्धुर्गुणवन्धुः । विशेषणप्रति-
पादनार्थं ज्येष्ठप्रातरानुजस्य स्वनामापि गृहीतवन्तः । विदा ज्ञानेन ठान् शून्यान् स्मृतीति पितृ-
प्रवर्तितपथप्रचारसुविचारक इति नाम ।

कलिकालसाधाकत्वमाहुः श्रीति ।

श्रीबल्लभाचार्यमार्गे स्मरणात्सेवनाद्धरेः ।

तत्कथाश्रवणाच्चापि न कालो बाधते कश्चित् ॥ २ ॥

स्मरणं सकलशास्त्रनिष्पन्नं भगवद्विषयकमात्मविषयकं च । 'कृष्णमेव विचिन्तये'दिति सिद्धान्तमुक्तावली । सेवनकथाश्रवणे संप्रदायप्रदीपे एताभ्यां हरिं सेवेतेति । कालो न बाधत इति कठवङ्गायां 'मयादस्याश्रितपति भयात्तपति सूर्यः' इत्युपक्रम्य 'श्रुत्युर्ध्ववति पञ्चम' इति श्रुतेः । 'कालात्मा दिनकृदि'ति ज्योतिषे । यो विभेति स न बाधते कश्चिद्देशे ।

अनुवृत्त्याख्योत्सवसेवायां कालाबाधमुक्त्वा तत्र तस्यानुगुणत्वं तत्र करणं चाहुः वा इति ।

वैराग्यप्रेमयोगेन स्मरणादित्रिकात्पुनः ।

प्रसीदति हरिः शीघ्रं कालश्चानुगुणो भवेत् ॥ ३ ॥

विद्याङ्गतपञ्चात्मकविचारेण ज्ञानं फलिष्यतीति तपो विहाय वैराग्यमात्रमुक्तम् । तत्र वैराग्यस्य प्रेमयोगेन जन्यजनकभावः सम्बन्धः वैराग्यजनकेन प्रेमयोगेनेत्यर्थः । प्रेमयोग-वैराग्यात्मकं विद्यापर्वत्रयमुक्तम् । साङ्ख्यमपि चतुर्थं पर्वोक्तम् । तस्य योगत्वात् । 'साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिता' इति गीतावाक्यात् । स्मरणादित्रिकं प्रेमयोगात्पूर्वं कृतं पुनः स्मरणादित्रिकाद् वैराग्यप्रेमयोगेनेति प्रसादकथनात् स्मरणाद्यावृत्तिः 'आवृत्तिसकृदुपदेश'दिति तत्त्वसूत्रात् । हरिः सर्वदुःखहर्ता । काल इति उक्तश्रुतेः । 'कालं समाजयन्त्यार्या' इति वाक्यात् । अत्र कश्चित् 'तस्माद्भक्तप्रकारेण दृढविश्वासतो हरिम् । भजेदन्यत्परित्यज्य ततः सिद्धिमवाप्नुयादि'ति श्लोकं लिखन्ति । तत्र हरिं मनोमयमन्यथा दैवतमिति फलश्रुतिविरोधः । सिद्धिहेतुत्वं श्रीयमुनायाः 'सकलसिद्धिहेतु'मिति यमुनाष्टकात् । भगवत्सेवान्तर्गतश्रीयमुनाजित्सेवापि वक्ष्यते समाप्तौ ग्रन्थस्य कारिकात्मकस्य । अन्नमयः प्राणमयो मनोमय इति तृतीयत्वैपि यो यस्य स तस्य दैवतमिति श्लोका-दयमर्थ उपनिषद्भिः । तथाप्यन्यत्परित्यज्येति विरुध्यते । पुरुषोत्तमभजनस्य सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् । 'देवोऽसुरो मनुष्यो वे'ति वाक्यात् सिद्धयोऽणिमाधाः सर्वात्ममावाधा वा भगवच्चिन्तामिच्छता तु साङ्ख्यप्रवचनस्य 'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञान'मिति सूत्रात् एतच्छले योगशास्त्रे साङ्ख्यप्रवचनसूत्रे तृतीयपादे-ऽस्ति । परमधिकारभेदात्फलानि व्यवस्थितानि । भक्तेः संयोगविप्रयोगाभ्यां भेदस्तात्साधारणो निरोधोऽपि कारणत्वेनानुवृत्त्याख्यसेवायां निविशते आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्येति छन्दोग्यसमाप्तिश्रुतेः । अतः श्रीमद्भगवतभक्तिवर्धिनीनवरश्लोकं संयोगसेवाकरणं विहाय विप्रयोगसेवाकरणनिरोध-दार्ढ्यप्रकारमाहुः ब्रज इत्यादि ।

ब्रजे मधुवने चापि द्वारकायां तथैव च ।

गोपीषु कुञ्जादिषु च रुक्मिण्यादिषु या कृता ॥ ४ ॥

प्रकटानन्दरूपेण स्वकीया रसरूपता ।

प्रकटीकृत्य कृपया तां वेत्कारयते मयि ॥ ५ ॥

तदा निरोधः सुदृढो जायते नान्यथा कश्चित् ।

अत्र गोपालतापिनीयकृष्णोपनिषदाद्युक्ताः सर्वाः प्रकृतोपयोगिन्यः सकृद्दीताः श्रुतयः । द्वारकाया-मिति गोपीचन्दनोपनिषत्स्यद्वारकायां मया प्रतिष्ठितं चन्दनमिति श्रुत्यंशीमूतद्वारकायामिति पदस्यानु-

१. सेवाप्रकरणात्सेवायां संयोगनिरोधः सर्वत्रेखाशयः ।

करणम् । तेन 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वेत्यात् इदाप्यसुप' इति पाणिनीयसूत्रं न प्राप्नोति । रसरूपता दशरसरूपता, चकोरे कामवति गृह्णाररस इव भगवति गृह्णाररसरूपता । क्रीञ्चे वीर इव भगवति वीररसरूपता । चक्राद्धे करुण इव करुणरसरूपता । गारद्वाजेद्भुत इवाद्भुतरसरूपता । भारद्वाजस्य द्विजन्मत्वात् । बर्हिणि द्वारपरस इव दास्यरसरूपता । व्याघ्रसिंहयोर्भयानकवद् भयानकरसरूपता । बलभद्रे संवाहनपदे भक्तिमति भीमत्सरसः हीनाद्धीनभाव उत्तमस्य भीमत्सो भवति, स भक्तिमतां प्रतीयते । वलात्सु भक्तेषु रौद्र इव रौद्ररसरूपता । कृतोत्सङ्गोपबहेणेषु गोपेषु शान्तरस इव तत्र सुप्ते भगवति शान्तरसः । भगवत्पाद-संवाहकेषु भक्तेषु दास्यभक्तिरसः । तद्भगवति दास्यभक्तिरूपता यावद्रससामग्र्या ब्रह्मत्वात् 'रसो वै स' इति श्रुतेः । जीवद्वारा जीवधर्मस्य भगवद्धर्मत्वं वा । एतच्च दशमद्वादशाध्याये 'चकोरक्रीञ्चक्राद्धे'त्यत्र सुबोधिन्यां स्पष्टम् । गोपीषु भक्तिरससंयोगविप्रयोगरसरूपता । पञ्चाध्याय्यां भ्रमरगीते विरहरसः । कुञ्जायां कामरसः । आदिपदोक्तसान्दीपिनिगुरौ भक्तिरसः । रुक्मिण्यादिषु कामरसः । तां प्रकटीकृत्य कृपया मयि कारयते चेदित्यन्वयः । मदिच्छया प्रकटीकृत्य, भक्तेच्छायाः क्रीडाप्राकृत्यं प्रति हेतुत्वाद् 'अचलत्व'मिति सूत्रभाष्यात् । कृपया प्रकटानन्दरूपेण मयि सर्वात्ममावस्य आश्रये, कृपाया आनन्दरूपप्राकृत्येऽपि कारणत्वात् । कृपया विज्ञानं खानन्दप्राकृत्ये सति भवतीति प्रथमस्य चतुर्थचरणे 'तदधीनत्वादर्थवदि'ति सूत्रे 'कृपाविष्टः साधनम्, आनन्दरूपः फल'मिति भाष्यात् । कारयत इति ब्रह्मणा सहाहं भक्तः कामलीलाः करोमि अक्षोपाधि-भेदभिरं मां भक्तं कारयते कामलीला इत्यस्मच्छन्दोत्तरं द्वितीया प्राप्ता महिम्नः स्वस्याध्यात्मिकादि-त्रितयविदाश्रयत्वविवक्षया निरस्ता । विवक्षतः कारकाणि भवन्तीति युक्तवचनात् । ग्रामे गच्छतीतिवत् सप्तमी मयीति । कारयत इत्यात्मनेपदं तु 'णिचश्चे'ति सूत्रात् । लीलाकरणरूपं फलं प्रयोज्यप्रयोजककर्तृगामि भवत्येव । तदुक्तं स्वामिनीस्तोत्रे उदाहरणं तु 'प्रियतमकरपद्मस्पर्शमावे-क्षणोद्यद्भ्रमरजवरासामन्दमोदाकुलानाम् । प्रतिपदतलरुग्भिर्गोपसीमन्तिनीनामरुणतरुदम्भोजन्मने मे ननोस्त्विति । एतत्फलं निरोधसुदार्ढ्यं तच्च तदा भवति यदा निरोधः सुदृढो जायते नान्यथा, अन्ये-षूक्तनिरोधलीलाकारयितृत्वप्रकारातिरिक्तेषु सर्वादिलीलाकारयितृत्वादिषु सत्सु कश्चिदपि निरोधलीला-कारयितृविरहिते मनसि देशे तत्काले च दृढो निरोधो जायते न सुदृढः । शुद्धलीलाऽसाहित्यवद्भगव-द्विषयकत्वेन शोभनघटिकाभिपदार्थाभावादाचार्याभिमतत्वस्य शोभनपदार्थत्वसाभावात् । एवं तु ब्रज इत्यादिना रुक्मिण्यादिष्वित्यन्तेन ग्रन्थेन 'जयति जननिवासो देवकीजन्मवाद' इत्युत्तरार्धान्त्यक-श्लोकोक्तशुद्धलीलाः सकृद्दीतास्तत्साहित्याच्छोभनघटिकाभिपदार्थोस्त्येव ।

निरोधस्य सर्वात्मभावरूपकस्य कारणं 'प्रदानवदेवे'ति सूत्रोक्तं भगवत्कृतं प्रदानकं शक्तिस्तु सर्वोऽप्यात्मनो भावो भगवत्येवाधिकृत इति षष्ठीतत्पुरुषगर्भितकर्मधारयादात्मनि सर्वेन्द्रियप्रतिष्ठापने । कलमत्र मोदप्राप्तिः 'ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशमि'ति निरोधलक्षणवाक्यात् । सेवाफलं तु पृथक्सेवाफलोक्तम् । तत्र सेवायाश्चेत्तत्प्रवणत्वरूपत्वात्, अत्र सेवाया अनुवृत्तिरूपत्वात् ।

एवं ज्ञानात्सुदृढनिरोधेच्छुं प्रति कृपावितरणप्रार्थनां स्मरणात्यागविधिं चाहुः निरोधेत्यादि ।

निरोधेच्छुभिरेतावदेव प्रार्थ्यं हरौ ततः ॥ ६ ॥

अक्रूरे श्रुतदेवे च चिदुरेऽथोद्धवे च ॥

कृता दासार्पितकृपा तां कृपां वितर प्रभो ॥ ७ ॥

१. मद् भूषायां मिधू कर्कने तदा सिकेचित्ति पाठः ।

श्रीमदाचार्यपादाब्जरेणोर्न स्मरणं त्यजेत् ।

तस्याग्रे महती हानिर्मानुष्यं निष्फलं भवेत् ॥ ८ ॥

ततो ज्ञानानन्तरं ज्ञानाद्देतोर्वी हरौ, निरोधेच्छुभिः निरोधदाब्जेषुभिः, श्रुतावात्मनीति सप्तम्या निरोधस्यात्माभिन्नाश्रये बोधनाद्धराविति सप्तमी, युक्तं चैतत्, आश्रयस्य मुख्यत्वात् । प्रार्थ्यमिति 'प्रार्थिते वा ततः किं स्यात्स्वाम्यभिप्रायसंशयादि'ति वाक्यात्प्रार्थना विरुद्धा तथापि 'रतिप्रादुर्भावो भवतु सततमि'ति वाक्ये प्रार्थनायां लोदस्वीकाराद्रतिप्रार्थना युक्ता । कृपाविस्तारस्य रतित्वात्, रतिः प्रीतिर्यद्यपि तथाप्यत्र रतिः क्रीडा रसु क्रीडायामिति धातुपाठात् प्रार्थ्यम् । अक्रूरे दासापितकृपा 'अप्यङ्घ्रिमूल' इति श्लोके पञ्चत्रिंशत्तथाये 'भयि दया उत्पत्स्यत' इति सुबोधिन्यां कृपा सा दासापिता, 'प्रणतवत्सल' इत्यस्य 'नतिमात्रेणैव कृपा अभिव्यक्ता भवती'ति सुबोधिन्यां च कृपा सा दासापिता पञ्चत्वारिंशत्तथाये 'अक्रूरभवनं कृष्णः सहारामोद्धवः प्रभुः । किञ्चिद्विकीर्षया प्रागादक्रूरप्रियकाम्यये'ति वाक्ये प्रभुपदादुक्ता । 'सर्वेषां हि स्वामी सेवकगृहेऽपि सेवकसंमाननार्थं गच्छती'ति सुबोधिन्यां श्रुतदेवे दासापितकृपा । उत्तरार्धे सप्तत्रिंशत्तथाये मैथिलस्य गृहवासमात्रं श्रुतदेवस्य तु सन्मार्गोपदेश इति तं विहाय श्रुतदेवोपादानम् । तत्र कृपा तु 'दृष्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपुरुष' इत्यस्य सुबोधिन्यां दर्शनं चक्षुषाथैव शास्त्रतस्तु यः शक्तिभिः सृष्ट्वा आत्मसत्तया प्रविष्टः स कीदृश इति मनोरथ एव स्थितः, न तु कदाचिद्दृष्टः, अथैव परं दृष्ट इति तद्दर्शनं तु बुद्ध्या बुद्धिमानयं पदार्थाज्ञानातीति प्रत्ययात्सा च कृपयैव भाष्यप्रामाण्याद् अतः श्रुतदेवे दर्शनानुमितबुद्ध्यानुमिता कृपा या सा दासापिता । 'स त्वं शाधि स्वभृत्याः किं देव करवाम ते । एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षिणोचर' इत्यत्र सुबोधिन्यां दामत्वात् स्वामिकार्यमेव कर्तव्यमिति । अत आज्ञापयेत्यर्थ इति कथनात् 'देवाः क्षेत्राणी'त्यादिवाक्यादर्चाचिनेऽधिकारो भाभूदिति तु न सूच्यते गृहिणोपसंहाराधिकरणभाव्यविरोधाद् अतो ज्ञानिनि कृपामात्रमक्षरोत्तमदर्शनजनकबुद्धिजनकं प्रार्थनीयं प्रार्थयन्ते पुष्टिमक्ताक्रूरदृष्टान्तेन पुष्टिमक्ते कृपा पूर्व प्रार्थिता भाष्यमर्यादार्यं कृपया विज्ञानं 'बुद्धिविज्ञानरूपिणी'ति भगवद्वाक्यात् तेन दर्शनमिति । विदुरे दासापितकृपा तृतीयस्कन्धे चतुर्थोऽध्याये 'इति सह विदुरेण विश्वमूर्ते'रित्यत्रोत्तमाधिकारिणि विदुरे यथा यथा यस्मिन्नवसरे भगवान्पुष्ट्यादितीलयया स्वस्मिन्कृपां कृतवान् एवं विदुरोपि उद्धवं प्रति भगवत्कृपाकथां कथयति स्मेति सुबोधिन्यां कृपा या सा दासापिता । 'विष्णोर्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ती'ति उद्धवं प्रति विदुरवाक्यात् । परमाधिकारिणि भगवद्दर्शनजनकबुद्धिजनिका कृपा प्रार्थिता । उद्धवे दासापितकृपा पूर्वोक्तरीत्या स्पष्टा एकादशे च स्पष्टा भगवत्प्रवर्तितपथप्रचारसुविचारके भगवद्दर्शनजनकबुद्धिजनिका कृपा या सा प्रार्थिता । 'भक्त्या जानाति चाव्यय'मिति श्रुतौ भक्त्या ज्ञानकरणत्वेन हेतुत्वेन चोक्तेस्तस्याश्च 'ब्रह्मविदाप्नोति परमि'त्यत्र व्यापारत्वेन 'तादृक्षज्ञानजनकबुद्धौ कारणत्वात्कृपा भगवद्दर्शने परम्परया निविशते । अपितपदेन श्रुतदेवे 'भगवान्भक्तमक्तिमानि'ति वाक्यात्स्नेहेन कृपावितरणे सत्कारपूर्वको व्यापारः, अभीष्टे लोद । अत एव प्रभो भोः परिवृद्ध इति सम्बोधनम् । सर्वमिदं 'यस्य देव' इति श्रुतौ गुरुभक्त्यधीनं निरूपितमिति तदाहुः श्रीति । महती हानिर्हि ब्रह्मणः सकाशाजीवस्य विभागः सा 'हानौ तूपायने'ति सूत्र उक्ता सा महती ।

प्रभुमुक्तांश्च यो जीवान् सङ्गृह्णाति गुरुः खग ।

नाङ्गीकरोम्यहं मुक्तान् गुरुणा पुष्टिसेवकान् ॥

गुरौ निवेद्यते भक्तिर्यस्मिन्नात्मा निवेदितः ।

तेषामहं न गृह्णामि भक्तिं वै नवलक्षणाम् ॥

गुरोः प्रियतमो यस्तु भजनं मम शासने ।

करोति पारतन्त्र्येण तत्रावेशं करोम्यहम् ॥

नावेशो मम विज्ञेयोऽसमूर्तिर्न तु मामकी ।

अः विष्णुः समूर्तिः मूर्त्या सह । अश्वासौ समूर्तिश्च असमूर्तिः कर्मधारयः । 'विनोद्धव हरे-र्भक्त्या भक्तिर्मम विदम्बनम्' । 'गुरुर्भवेद्यथा तात प्रसन्नो मनसा शुभम् । तदुपायं करोत्याशु विवेकी मम बलम्' इत्यात्मनिवेदनकाठिन्यबोधकपुराणान्महती । निष्फलं तासां पुरां मानुषी भगवत्प्रिया तत्र तत्त्वाधिगमात् तदभावात्मानुष्यं निष्फलम् । यतो मानुषो विष्णुर्भवति । 'नावेशो मम विज्ञेयोऽसमूर्तिर्न तु मामकी'त्युक्तवाक्यात् ।

श्रीमत्प्रभुविरचितसेवाविधिः । प्रभुपदं श्रीमदाचार्यपरं श्रीमत्प्रभुत्वस्य इत्याचार्योत्सवे उक्त-त्वात् 'चातुर्मास्ये विशेषतः' इति वाराहपुराणन्यायेनात्र विशेषत्वात्पूर्वमपुनरावृत्तिसाधकोत्सवानुक्त्वाऽ-द्वात्प्रति चातुर्माससेवा 'यस्य शक्तिः सदा नास्ति कर्तुं मम निवेदने' इति वाक्यात् । इदानीं सदा भक्तिमतः प्रति सेवाविधिमाहुः 'भगवदित्यादि श्रुतिस्त्वावत् छान्दोग्योपनिषदन्ते 'आचार्यकुल-देवमधीत्य गुरोः कर्मातिशेषेणातिसमावृत्त्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि भवेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्यार्हिसन्सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः खल्वेवं वर्तयन् यावदासुषं ब्रह्मलोक-गमिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' इति । श्रीकृष्णवाक्यानि तावत् पुरुषोत्तमयोगोपायाये 'ऊर्ध्वमूलमधःशास्त्रमि'त्यारभ्य

'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभक्त्यैव्यय ईश्वरः ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥'

इत्युपसंहारात् । श्रीन्याससूत्रं तावत् साधनाध्यायीयसमाप्तौ 'कृत्स्नभावान्तु गृहिणोपसंहार' इति । समाधिभाषा तावत् 'अनयोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे । लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिताम्' । सात्वतसंहिता तावत् 'श्रीभगवानुवाच । कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनैः स्मरन् । मत्प्रतिमनश्चित्तो भद्रमत्समनोरतिः । देशानुपुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् । देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च । पृथक्सत्रेण वा मद्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् । कारयेच्चत्यगीताथैर्महाराजविभूतिभि'रित्येकोनत्रिंशत्तथाये ब्रह्मवादसङ्ग्रहरूपा । प्रकृतिस्तु एकादशस्कन्धैकादशाध्यायोक्ता 'लघुस्वमार्गवक्ता चे'ति पुरुषोत्तमसहस्र-नाम्नाचार्योः ब्रह्मवादसङ्ग्रहो लघुः, स्वमार्गः श्रीकृष्णमार्गः । अत्र भाष्यम् । 'भक्तिमार्गो बहुविध' इति कपिलदेववाक्यात् 'केचन भक्ताः स्वगृहेष्वेव स्नेहेन भगवदाकारे विविधोपचारैः सेवां कुर्वन्तस्तथैव निर्वृत्त्या

युक्तिमपि तुच्छां मन्यन्त' इति । अन्यत्सर्वं तृतीयाध्याय एवोपपादितम् । एवं च 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती'ति श्रुत्या वेदानुवचनेन ब्राह्मणा ज्ञात्वा वेतुमिच्छन्तीति वेदानं तु भक्त्या । व्यापारः कृपा । ततो जानातीच्छति यत इति लोके न्यायविदो वचनात्कृष्णानुवृत्तिरूपा सेवोक्ता इयमंशत्रयवतीत्यन्यत्र भक्तिरत्नटीकायां विस्तरः । 'यदेव विषया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवती'ति छान्दोग्यश्रुत्योपनिषदज्ञानस्य कर्मयोगाङ्गता । 'अत एव ब्रह्मविदाभिव जनकादीनां कर्मणि सर्वदेवसान्निध्यमन्यथाऽऽमासत्वमेव' । एतच्च जिज्ञासाधिकरण एवोपपादितमेतच्च कर्म 'एकं साङ्ख्यं च योगं च वेदारण्यकमेव च । परस्पराङ्गान्येतानि पञ्चरात्रं च कथ्यत' इति वाक्याद् अगहनकर्मप्रकाशकपञ्चरात्राद्युक्तमित्यवसीयते । शैवान्प्रति तु पाशुपतशास्त्रमिति वेदान्तवेदसाङ्ख्ययोगपञ्चरात्रपाशुपतिमतमिति षड्शास्त्राणां विषयाः । अत्र सेवामार्गे भगवदित्यारभ्य मां हि पालयेत्यन्ता नवश्लोकी, हरितुर्येत्यारभ्य भावमुत्तममित्यन्तं श्लोकद्वयं च श्रीमत्पशुविरचितसेवा-विधिस्त एकादशश्लोकाः सानुपूर्वीव्याख्याने व्याकरिष्यन्ते । श्रीमत्पशुकृतसेवाश्लोकान् सानु-पूर्व्यां लिखामः । 'प्रातरुथाय सविधानं स्नात्वा इत्यादि' इत आरभ्य श्रीगोपीनाथजितां सेवाविधि-कृतिरस्ति । सविधानमिति । 'यं मां स्पृत्वा अपृतः प्रतो भवती'ति गोपालतापिनीये 'एवं विधिना गोपीचन्दनं यो धारयेद्यस्त्वेतदधीते वे'त्युपक्रम्य 'सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवती'ति चासुदेवोपनिषदि च श्रुतिग्याम् । वारुणं स्नानं वेदान्तिनां कुतः प्राप्तम् । उच्यते । 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति श्रुते-वेदान्प्राप्तीच्छुं प्रत्याचार्याङ्गान्प्राधान्येन वारुणस्य स्नानसोक्तिरुक्तं तु स्नानं सकलसाधारणम् । तदुक्तं ग्रन्थविशेषे कुम्भनदासादीन्प्रति 'मस्तके जलं निक्षिप्य स्नाया'दिति । विधानं तु भक्तिरत्नटीकायां प्रोक्तमेव परम्परागतं क्रियत एवं पञ्चरात्राद्युक्तस्नानं तु ह्युपनिषदा कर्तुर्विहितम् । एकं साङ्ख्यमिति वाक्यात् । श्रीमदाचार्यान्स्मृत्वेति । अस्मन्मार्गे श्रीमदाचार्यस्मरणं विना तद्वैमनस्येन सेवा परगामिनी भवति । 'विनोद्धव गुरोर्भक्त्या भक्तिर्मम विडम्बनमि'ति वाक्यात् ।

बलमाष्टकेन स्मरणं भावनायां, नित्यकृत्ये तथोक्तेः । प्रार्थनादिकमाहुः भगवद्भामेत्यादि ।

भगवद्भाम भगवन्नमस्तेलङ्करोभि तत् ।

अङ्गीकुरु हरेरर्थे क्षान्त्या पादोपस्पर्शनम् ॥ १ ॥

भगवन्मन्दिरं प्रार्थयित्वा नमस्कृत्येत्ययं ग्रन्थो हे भगवन् हे भगवद्भाम भगवद्भामत्वेन वाक्यार्थज्ञेन युक्तं भगवन्निति ह्यदृश्यत्वाधिकरणोक्तरीत्याऽक्षरमभेदेन संबोध्य प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ धामत्वेन तदुद्भवस्वामाभ्याद्भामत्वेन वाक्यार्थे बोधस्तदाश्रयत्वेन वक्तुरिच्छाविषयत्वात्पार्थना गम्यते धाम्नो भेदानुसन्धाने 'प्रार्थिते वे'त्यस्य न विरोधः । ते तुभ्यं नम इति नमस्कारः । उभाम्यां गतार्थः । वाक्यार्थबोधोपाश्रयत्वेन वक्तुरिच्छाविषयत्वं सम्बोधनलक्षणं प्रार्थनागमनाय ज्ञेयं ग्रन्थकर्तुः श्रीगोपीनाथजितो भक्तिमार्गायत्वेनाभिप्रेतत्वेऽपि 'ऋषिरभिकुमारस्त्विति वाक्याद् प्रातुर्ग्रन्थकर्तुः ऋषित्वेऽपि मन्त्रत्वं नास्ति । श्लोकानामाचार्यकर्तृत्वात् । मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमस्य दशमचतुर्थपादे रथघोषेण माहेन्द्रस्य स्तोत्रमुपाकरोतीति श्रुत्यां रथघोषेण उपावर्तयमिति बहिर्म्यां स्तोत्रमुपाकरोतीति प्राकृतौ बहिर्मन्त्रौ बाध्येते एवं बाधात् प्रकृते 'स्वयं परिचरेद्भक्त्ये'ति तृतीयाश्रुत्या भक्त्युपाधात् किन्तुः भक्तित्वं तथा च भगवद्भामेत्यादिकीर्तनभक्तिरूपम्, न मन्त्ररूपम्, कारिकातिरिक्तं ग्रन्थमऽप्यत्रैव बोधाय समग्रं लिखामः ।

अलङ्कारं विवृण्वन्त एव मार्जनादिकं कुर्यादिति ग्रन्थं स्पष्टयांभूतुः मार्जनादिति ।

मार्जनात्कृष्णगेहस्य मनोविक्षेपकं रजः ।

नाशमेति तदर्थं च मार्ज्यामि तथास्तु मे ॥ २ ॥

मार्जनमलङ्कारः । ननु 'कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं'मित्यादित्रिश्लोकीमन्तरा कुतः सर्वोत्तम-मार्गे एकादशस्कन्धीयेकादशाध्यायस्थमार्जनादिकमूरीकुर्येति चेन्न प्रकृतित्वात् । प्राकृतान्यङ्गानि त्रिश्लोक्यां निष्पतन्ति विकृतौ । भक्तिरत्नटीकायां प्रकृतिरिति भावः प्रपञ्चितः । चकारान्मानसी मेवा । 'मानसी सा परा मते'ति वाक्यात् । तथास्तु म इति मार्जनं मे मम मत्कर्तृकं 'कर्तृ-कर्मणोः कृती'ति सूत्रेण यथी । तथा मनोरजोनाशकत्वमानसीसेवाजनकत्वाभ्यां प्रकारान्भ्यामस्तु । इह कृष्णगेहमार्जनस्य कृष्णगेहस्य रजोनाशकत्वात्कुतः कृष्णगेहमार्जनत्वेन मनोरजोनाशकत्वेन कार्य-कारणभावः । उच्यते । गीतायां चतुर्दशोऽध्याये 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्त्वमतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते' इति वाक्ये भक्तियोगसेवात्वेन गुणात्ययत्वेन कार्यकारणभाव-घोतनाद् यत् सामान्ययोः कार्यकारणभावस्तद्विशेषयोरपीति नैयायिकोद्घोषादुक्तकार्यकारणभाव इति ।

मार्जनादित्यत्रादिशब्दार्थमाहुः आत्मन इति ।

आत्मनोऽज्ञानरूपस्य दुरितस्य क्षयाय हि ।

करोमि सेकोपलेपौ त्वद्गृहे गोकुलेश्वर ॥ ३ ॥

आत्मनो जीवस्य अज्ञानरूपं स्वरूपाज्ञानरूपं तस्य क्षयाय सेकलेपौ, निषन्धे पञ्चसु विधापर्वसु भक्तिपर्वणा स्वरूपाज्ञाननाशोक्तेः । स्वरूपाज्ञानमविद्यायाः पञ्चमं पर्व । 'माया च तमोरूपा' इति श्रुतेः । अज्ञानं तमोगुणस्तस्य क्षयो भक्तियोगेनेत्यत्र गीता पूर्वं निर्दिष्टा ज्ञानत्वेन वा भक्तिरत्रा-ज्ञाननाशकत्वात् । यद्वा आत्मनो मनसः भक्तिस्तनुजा सेवा कार्यकारणभावः पूर्वमुक्तो गीतया तथा चैकादशे 'प्रकृतिवचांसि' 'उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि । सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः । गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवचनमायये'ति ।

ततः सिंहासनास्तरणं कुर्यादिति । तत इति क्रमवाचकपदम् । यद्यपि मार्जनाद्यानन्तर्यवाचकं तत इति पदं तथापि तात्पर्येण क्रमवाचकम् । क्रमस्तु पाठमनादस्य 'लोकवसु लीलकैवल्य' मिति व्याससूत्रात् पश्चादुक्तमपि मार्जनादि पूर्वं कृत्वा प्रवर्तते । प्रकृतौ पूर्वं 'परिचर्यास्तुतिप्रहृगुणकर्मातु-कीर्तन'मित्यनेनोक्ता परिचर्या पश्चात्कर्तव्या आर्थक्रमादत्र मार्जनादि परिचर्यार्थम् । 'सिंहासने समासीनं राम' इति रामोपनिषच्छ्रुतेः सिंहासनपदम् । 'सिंहासने आस्तरणमिति सप्तमीतत्पुरुषः । अलङ्करणं सिंहासनस्य 'यथा सुन्दरतां याति वक्षैराभरणैरपि । अलङ्कुरीति सप्रेम तथा स्थानपुरः-सरम्'इति सेवाप्रकरणात् ।

अधीष्टमाहुः सिंहासने कीर्तनभक्तिरूपं सिंहेति ।

सिंहासनं मद्भुत्पद्वारूपं सज्जीकरोम्यहम् ।

श्रीगोपीशोपवेशार्थं तथा तद्योग्यतां भज ॥ ४ ॥

'तद्भुत्पद्वारूपं'इति चतुर्थचरणं श्रीमत्पशुविरचितसेवाविधौ । सिंहासनं शेषरूपं 'अग्रतो भविता देव' इत्यत्र सुबोधिन्यां तथोपपादनात् । मद्भुत्पद्वारूपं सर्वात्मभाववद्भुत्पद्वारूपं तद्गर्भं लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणतोदो विहायैतदुपात्तम् । 'सर्वं सर्वभयं' इति तापिनीयश्रुतेः । सिंहासनस्य

हृत्पद्मत्वेन ज्ञानं न भ्रमः । हे तद्रूप हृत्पद्मरूप स्वीर्यं हृत्पद्मत्वेन रूपेणावह्य प्रापय सिंहासने । पाठान्तरे हृत्पद्मत्वेन रूपेणेति तथेत्यस्यार्थः । योग्यतां सर्वात्मभाववद्भक्तहृदयं श्रीगोपीशोपवेशयोर्ग्यं पाठे तु सिद्धान्तरहस्ये 'तथा कार्यं समर्थैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः । गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादि-वर्णना । गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात् तद्द्वन्त्रापि चैव ही'ति ब्रह्मतया योग्यता । यद्वा फलप्रकरणे 'स्वानन्दानुभवार्थं हि योग्यतापि निरूपिते'त्यस्याष्टिप्यनुक्तदिशा भूर्भुवःसुवो जगत्तद्रूपलक्ष्मीरूपतां भज । लक्ष्मीतुल्यतायां हि भगवद्रमणमिति हि मर्यादेति । ततः पात्राणि सजीकुर्यादिति एतावानेव ग्रन्थः स्पष्टः । श्लोकान्तरं श्रीमत्प्रभुविरचितसेवाविशेषग्रन्थकर्तुः ।

पानीयेति ।

पानीयपात्रं हि तथा ब्रजनाथाय कल्पितम् ।

राधाधरात्मकत्वेन भूयात्तद्रूपमेव तत् ॥ ५ ॥

अर्थः । प्रकृतौ परिचर्यापदं तत्र चान्यत्र वाराहे चातुर्भूसमाहास्ये 'सुगन्धिशीतलं वारि ततो मद्यं निवेदयेदिति' लोकवत्तु लीलाकैवल्यं' इति सूत्रे लोकवल्लीलायामपि । गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनादित्यत्रतं पिबन्ताविति श्रुत्या वारिपानस्यतस्य वारित्वेन सिद्ध्या 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यनया श्रीधमुनाजिदुक्त्या च स्वरूपमद्यतपानं प्रथमं निर्दिष्टम् । सुवर्णमयपात्रे राधाधरात्मकत्वं 'सर्वं सर्वमय'मिति श्रुत्या तदीयभोगोपि राधाधरात्मकत्वं एव 'ऋतं पिबन्तौ' इति श्रुतेः । ऋतं परब्रह्मानन्दम् । तद्रूपमेव तद्रूप्यादित्याशीर्वाङ्मणस्य ग्रन्थकर्तुः । तथा च भाष्यं 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्मे'ति ।

श्रीमत्प्रभुविरचितसेवाविधिः स्वामिनीति ।

स्वामिनीकररूपाणि भावस्वर्णमयानि वै ।

श्रीकृष्णभोज्यपात्राणि सन्तु ते मत्कृतानि हि ॥ ६ ॥

अनुभाषुकानामपि श्लोको विधीयते । अत्रा सह कृष्णः सदानन्दः तस्य भोज्य-पात्राणि यानि मत्कृतानि मया ते तुभ्यं सजीकृतानि धात्वादिमयानि भावो भावना तेन स्वर्णमयानि स्मरणभक्त्या सर्वभयत्वेपि स्वर्णप्रचुराणि निबन्धे 'अथवा सर्वरूपत्वात्' इत्यत्र वाच्यप्रस्य प्रामाण्योक्तः । अत आहुर्वा इति । तानि पुनः स्वामिनीकररूपाणि । सन्तिवति सत्कारपूर्वको व्यापारः । अधीष्टे लोद आशीर्वा । अयमर्थेष्टिप्यण्यां फलप्रकरणे लक्ष्मीतुल्यतायां हि भगवद्रमणमिति मर्यादा सा च ब्रह्मानन्दरूपेति । तथा च सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मतोक्त्या तद्रूपत्वमुक्तं जातमित्युक्तमर्यादापि सम्पन्ना । तत्राप्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्दानिरिति न्यायेनाधिकप्रवेशः । द्वादशखण्डेषु कराणां पात्रत्वेन तदुक्तिः पिबत्यस्मादात्मेति पात्रं तानि पात्राणि ह्यन् प्रलयः । 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सुरयः' इति श्रुतेर्दर्शनात् । हीति निश्चयार्थकमव्ययम् ।

ततः शय्यातो विज्ञाप्योत्थापयेदिति तत इति पदं क्रमवाचकं पूर्ववत् । शय्यात इति पदेन मुक्तिसाधनीभूतवक्ष्यमाणवन्दनभक्तावपि दास्यभक्तिवच्छयनमाश्लिष्यते 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति न्यायात् । विज्ञापना भावनोक्ता लोडर्थः । तत्र श्रुतिः । 'वने वृन्दावने ऋडन् गोपगोपीसुरैः सदे'ति कृष्णोपनिषदि सा यशोदोत्थापनभावनायां गोप्युत्थापनभावनायां च प्रबोधोपि । गोप-गोभिरित्यत्र गोपाश्च गोपश्च गोपाः 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः । उत्थापयेदिति विधिः ।

वन्दनभक्तौ कीर्तनभक्तिमाहुः उदिति ।

उदेति सविता नाथ प्रियया सह जागृहि ।

अङ्गीकुरुष्व मत्सेवां स्वकीयत्वेन मां वृणु ॥ ७ ॥

हे नाथात्यन्तानुग्रहे त्वैकदेशभक्तविरोधिवारक । सुबोधिन्यां स्वांशेषु कस्यानिवार्यत्वेऽप्य-कृन्तानुग्रहे वारयत्यपि । प्रिययेति यदा स्वामिन्युत्थापनं न यशोदाजित्कृतं तदुत्थापने तदिच्छया शरणो बालत्वेन तां प्रति प्रियाविर्भावाभावाद् यशोदाजिद्भवनायां तसा अपि बालत्वात् । अङ्गी-कुरुष्वेति अधीष्टे लोद । सेवाङ्गीकारफलं कर्तुंगामीत्यात्मनेपदम् । मत्सेवामिति दास्यभक्तिरपि वन्दनभक्त्यन्तर्गता । वृणु वरणफलं भगवन्मार्गं रुचिः । स्वकीयत्वेनेति तु मुक्तेः सकाशात् तदीयत्वमेव ज्यायो भजनानन्दानुगुणत्वात् । मुक्तानां मायाविनिर्मुक्तमात्मस्वरूपमेव न तु देहेन्द्रिया-दिकमप्यस्ति येन भजनानन्दानुभवः स्यात् । ततः सिंहासने उपवेशयेदिति स्पष्टम् ।

महाराजोपचारः उद्धवं प्रति त्रिंशोक्त्यां एकत्रिंशे एकादशे 'महाराजविभूतिमि'रिति शक्याद् उद्धवोपचारः । क्रीडेति ।

क्रीडात्मसाधनयुत मद्बुद्धामाक्षरात्मकम् ।

आस्याय गोकुलाधीश रमस्व कृपया मयि ॥ ८ ॥

यावत्पर्यन्तं स्वहृदये न कोऽपि भगवन्तं वेद तावन्न कोऽपि प्रतिमादौ पूजयेदिति सुबोधिन्यां प्रतिमासेवादौ पूर्वं स्वहृदयेऽधीष्टमुक्तम् । क्रीडात्मेति साधनविशेषणादन्यानि साधनानि व्यावर्ति-तानि । आक्षरात्मके रमणं तृतीयाध्याये 'विधैव तु निर्धारणादिति सूत्रभाष्ये । कृपयेत्यनेन साधनरूपो भगवानित्युक्तं 'कृपाविष्टः साधन'मिति । सेवायां प्रवृत्तः स्वसेवोपयोगिपदारथोमावे दुःखी भवत्यतो बुद्धिप्रेरके सत्कारव्यापारः । सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायां स्पष्टमिदम् ।

प्रकृतमाहुः भावेति ।

भावात्मकतया कृतस्वोत्तरीयात्मकत्वात् ।

सिंहासने गोकुलेश कृपयोपविश प्रभो ॥ ९ ॥

त्रयभक्तभावः शृङ्गारात्मा भक्तिर्वा । 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथास्मितः, भावः प्रोक्त' इति काव्यप्रकाशात् । तदात्मकतयेत्यर्थः । भक्तिशृङ्गारयोस्तःपातिवस्तुनां भक्तित्वं शृङ्गारत्वं वा । कृपयेति पूर्ववत् । ततो नमस्कुर्यादिति स्पष्टम् ।

यादृश इति ।

यादृशोऽसि हरे कृष्ण तादृशाय नमो नमः ।

यादृशः भाष्यादिप्रतिपादितः । 'यतो वाच' इति श्रुतिप्रतिपादितश्च 'यस्यामर्तं तस्य मत'मिति श्रुतेः । नमो नम इति । 'भगवति जीवैर्नमनातिरिक्तं कर्तुंभक्त्य'मिति । 'किमासनं ते गरुडासनाय किं मूषणं कौस्तुभभूषणाय । लक्ष्मीकलत्राय किमस्ति देयं वागीश किं ते वचनीय-मस्ती'ति निबन्धशास्त्रार्थात् । तथा च श्रुतिर्गोपालतापिनीये 'ॐ नमो विश्वरूपाय विश्व-स्थित्यन्तहेतवे । विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः' इत्यादि । श्रीभागवते चाद्वयत्वाधिकरणोक्तं रूपमनमच्छुक्तः 'नमो नमस्तेऽस्तुवभय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् । निरस्तसाभ्या-तिशयेन राघसा स्वधाननि ब्रह्मणि 'रंस्ते नम' इति । एतच्च श्रुतात्मनिवेदिना कर्तव्यम् ।

पूर्वं तावच्छरणं गतस्य आत्मनिवेदनं कर्तव्यं । नान्यस्येति 'मुमुक्षुर्वै शरणभनुव्रजे'दिति । गोपालतापिनीयश्रुत्याहुः यादृश इति ।

यादृशोऽसि हरे कृष्ण तादृशं मां हि पालय ॥ १० ॥

याहशः शास्त्रादौ निरूपितस्ताहशमणुं पालय त्वं रक्षको भवेत्यधीष्टे लोद । 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्युक्तम् । अयं वन्दनभक्तिप्रकारः सुबोधिण्यां दशमस्याष्टमाध्याये । एवं श्रीमत्सुविरचित-सेवाविधिनवश्लोकयुक्तवन्दनभक्तिरित्युक्तं न शरणमार्गः, मार्गिणां त्रित्वात् । 'मार्गास्त्रयो मया प्रोक्ता' इति वाक्यात् । शरणमार्गस्तु पृथगेव 'पृथक् शरणमार्गोपदेष्टे'ति सर्वोक्तमात् । ननु कथं चतुर्यो मार्ग उक्त इति चेन्न । न्यासादेशेष्वित्यस्य विवरणे 'मदितरभजनापेक्षणं वा व्यपोढम्' धनाद्यभावे तु प्रपत्तिमार्गं वक्ष्यन्त्येवेति निबन्धटीकातः ।

'एवमनियमः सर्वासा'मिति सूत्रोक्तवन्दनादिभक्तीनां मध्ये वन्दनभक्तिर्नवश्लोक्या विवृता, अधुना दास्यभक्तिः सिद्धान्तमुक्तावत्युक्ता वितन्यते स्म । हरितुर्यप्रिय इति श्लोकद्वयं मर्यादीकृत्य ग्रन्थकर्तृभिः । तथा च द्वितीयस्कन्धचतुर्थाध्यायसुबोधिनी 'नमो नमस्त' इत्यत्र नमनमात्रेणैव स्वतः पर्यवसाने तदधीनत्वलक्षणे अधिके धर्मे सम्पन्ने स्वसेवामपि कारयतीति वन्दनानन्तरं दास्यं प्रयोजनमिति निरूपितमिति नमो नम इति ।

नमो नमोऽस्तु ते राधे श्रीकृष्णरभणप्रिये ।

स्वपादपद्मरजसा सनाथं कुरु मच्छिहरः ॥ ११ ॥

अत्र दास्यभक्तौ वन्दनभक्तिर्नवश्लोकयुक्ता सम्बध्यते । एवं ज्ञानं नत्वा क्रियामनम् । आरम्भे श्रीराधे इति श्लोके इदं प्रमेयं स्पष्टम् । तनुजा सेवेयम् ।

ततः श्रीमदाचार्यान्नमस्कुर्यादिति स्पष्टं पूर्वमुक्तश्रायम् ।

चिन्तासमिति ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः ।

स्त्रीयानां तान्निजाभार्यान्प्रणामाभि मुद्गुर्मुद्गुः ॥ १२ ॥

नवरत्नग्रन्थे याः परिहार्याश्चिन्ता उक्तास्तासां सन्तानस्य हन्तारः यत्पादाम्बुज-सम्बन्धिरेणवः पादाम्बुजपेक्षया साक्षात्सम्बन्धाः कारणानि । अन्यस्पष्टम् । प्रकृतौ 'परिचर्यास्तुति-प्रह्वगुणकर्मातुकीर्तन'मित्यत्र प्रह्वपदेन नमस उक्तेः । णम प्रह्वत्वे शब्दे चेति धातुपाठात् । अत्र सर्वत्र यशोदागोपीगोपोद्भवादिसम्बन्धिनी सेवा महाराजोपचाराश्च ज्ञेयाः । महाराजोपचारास्तुत्तरार्ध-सुबोधिण्यां 'चामरव्यजनशङ्खतपत्रकिरीटासनशय्यामहाराजचिह्नानी'ति । तत्रोत्थापनाक्षिप्रशय्या-शङ्खनादश्च जागरणादिसमय उष्णकाले व्यजनमपि भक्तिमार्गानुसारेणोपचारा मुख्या इत्याहेति । 'यथा सुन्दरतां याति' इत्यस्य निबन्धस्य टीकायाः । तदुक्तं 'देशकालविभागविधि'ति चतुर्थस्कन्धे । अत्रैकश्लोकपर्यन्तमुद्भवादिवत्परिचरणं 'पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोद्गुद्गये' इत्युद्भवं प्रति सप्तविंशे वाक्यात् । नन्दयशोदादीनां श्रीकृष्णे बालभावेन स्नानाद्यसम्भवोप्युत्थीयते यतः, अग्रे श्लोकद्वयोक्त-मप्युद्भवादिवत्परिचरणं प्रकृतेस्तं प्रत्युपदेशात् । क्रीडेल्याद्येकश्लोकोक्तमप्यन्यमक्तवत् । तदुत्तरश्लोकोक्त-मप्युद्भवादिवत्परिचर्यान्तर्गतत्वात् । अक्रूरवदभिवन्दनं याहश इत्याद्युक्तम् । 'अक्रूरस्त्वभिवन्दन' इति कस्यचिद्वाक्याद् अकिञ्चनादिवच्छरणमार्गः, न्यासादेशेष्विति वाक्यात् । अग्रेऽपि वन्दन-मक्रूरवत् किञ्च गीतनृत्यादि कारयितव्यम् । मन्दिरे दर्शनाद् 'गीतनृत्यादि पर्वणि स्युरुता-नवह'मिति वाक्यात् । भावनायां तु शृङ्गारसमये शयनभोगसमये चोक्तम् ।

ततः पात्रे सामग्रीं संस्थाप्य विज्ञाप्य समर्पयेदिति स्पष्टम् ।

विज्ञापनायाः सम्भोगप्राप्तिसूत्रानुगुणत्वाद्धिज्ञापनामाहुः ब्रजेति ।

ब्रजस्त्रीकरयुग्मात्मयन्त्रे पात्रं च तन्मयम् ।

स्थापितं ते भोजनाय योग्यं भोज्यान्नसम्भृतम् ॥ १३ ॥

ब्रजस्त्रीणां करयुग्मं तदात्मके यन्त्रे, उपासनया शुद्धे चित्ते भरिति पक्षेक्ति रामतापिनीये सर्वात्मकयन्त्रस्य विभूतिविषयत्वं भक्तिहंसोक्तदिशाऽतो गोपालतापिनीयोक्तं यत्र जानीयाद् ध्यान-निधीभूतं न तु रामतापिनीयोक्तं लेख्यम् । ननु दास्यभक्तौ प्रेमलक्षणाभक्तिकारणत्वात् किमनेन यन्त्रेण पाक्षिकेण सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगस्तिष्ठतीति तत्रैव श्रुतेरिति चेन्न । यन्त्रमिव यन्त्रमिरयुप-चारात् । एतस्योपयोगः पूर्वं 'क्रीडात्मसाधनयुतम्' इत्यत्र निरूपितः । क्रीडात्मसाधनानि यन्त्रे श्रुत्युक्तानि । तास्तु 'ते होचुरुपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूहीति । तानुवाच यन्त्रस्य पीठं हैरण्यमष्टपलाशमम्बुजं तदन्तरालिकानलास्त्रयुगं तमनु गायत्री यथावद्भासज्य मूषण्डलं मूषण्डलं कृत्वा गवा वेष्टितं कृत्वाङ्गवासुदेवादिरुक्मिण्यादिस्वशक्ती इन्द्रादिवसुदेवादिपाष्यादीनिध्या-यितं यजेत्सन्ध्यासु प्रतिभिरुपचारेस्तेनास्याखिलं भवत्यखिलं भवतीति' भक्तिमार्गे उपासना-निवेशे श्रुतिरत्रैव 'तस्वैवासौ दर्शयेदात्मरूप'मिति । आत्मरूपदर्शनं तु भक्त्यैवेति भक्तिलिङ्गम् । तादृशं यत्र ब्रजस्त्रीकरयुग्मात्मकम् । रुक्मिण्यादीत्यत्र आदिपदार्थत्वाद् गोपालतापिनीये गोपीनां चोपलेखात् । तेन चतुष्पाद्यां ब्रजस्त्रीकरयुग्मात्मकयन्त्रत्वेन भावना । अत्रस्तु परास्तः पूर्वम् । पात्रं च तन्मयं परं तद्व्यक्तित्वेन भेदमास्थायाधाराधेयभावः । योग्यस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य भोज्यान्नेः सम्भृतम् ।

उल्लेखेति ।

भुङ्क्ते भावैकसंशुद्धदधिदुग्धादिमोदकान् ।

प्रियं ते नवनीतं च राधया सहितो हरे ॥ १४ ॥

यद्यपि 'सुखदुःखसाक्षात्कारो भोगः' निवेद्यं तुष्टिद'मिति भोगो जात एव परं पुराणमतम्, श्रुतिस्तु 'सर्वमनुमभ्रियत' स्मृतिश्च 'सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्' अन्यापि 'पात्रं पुष्पमि'त्यादि तच्छ्रौतं मतम्, अतोऽधीष्टे लोद । भाषः 'सर्वेषां ब्रह्मता ततः' निवेदिभिः समर्थैव सर्वं कुर्यादिति स्थिति'रिति सिद्धान्तरहस्यकीर्तनोत्थः तेनैकेन शोधने मुख्येन समीचो ब्रह्मज्ञानोपयोगित्वेन शुद्धान् दध्यादिकान् । मङ्गलभोगे दध्यादिकं स्कान्दे पञ्चदशेऽध्याये मार्ग-शीर्षमाहात्म्ये भगवता 'अथ श्रीमदुद्यानसंवीते'त्यादिना स्वध्यानमुक्त्वोच्यते 'सितामोदहैयङ्गवीनेश्च दध्ना त्रिमिश्रेण दौग्धेन स प्रीणयेत्तम्' इति 'प्रातरेवाच्येदच्युतं यो नरः प्रत्यहं शश्वदास्तिक्ययुक्तः लभेताचिरेणैव लक्ष्मीं समग्राभिह प्रत्य शुद्धं परं धाम भूयादिति । सिता शर्करा, मोदा मोदकाः, त्रिमिश्रं संधितं नूतनसत्करीरादि, दौग्धं दुग्धं प्रज्ञाद्यण् मलाई । दौग्धं, दुग्धेन निष्पन्नत्वात् । सामान्ये नपुंसकम् । यद्वा सिताहैयङ्गवीनदधिदुग्धानि चत्वारि चतुर्णां व्यूहानां 'नवनीतं दधि क्षीरं धनीभूतं घृतं तथा । अनिरुद्धादिमूर्त्तीनां चतसृणां क्रमात्प्रियम् । नारायणस्य चत्वारि सर्वेषां शर्करापि णं'ति सप्तदशे वाराहात् । चतुर्व्यूहा व्यष्टयः श्रीनारायणः समष्टिः अन्यदिष्टतमं लोके दधिदुग्धादीत्यादि-पदेन मलाईसन्धितसिताः । राधयेति भावनाविषयीभूतया कचित्साक्षात् । भोजनाधीष्टं यशोदाजि-ह्वत्परिचरणम् । भावनायां तथोक्तेः ।

भाषणमिति ।

भाषणं मा त्यज प्राणप्रिये गोपवधूपतेः ।

त्वन्मुखामोदसुरभि भोज्यं भुङ्क्तेऽधिकं प्रियः ॥ १५ ॥

१. प्रपत्तिभिः प्रतिपत्तिभिः ।

१ परे०

गोपबधूपतेः प्राणप्रिये हे राधे यशोदाजिदुक्तिः । तत्र गोपबधूपतेरित्युक्तिः लेहेन मुक्तित्वाद्वा । 'यशोदा मुक्तिगोहिनी'ति कृष्णोपनिषच्छ्रुतेः धरात्वाद्वा 'यशोदा सा धराभवत्', इति भागवताद् धराया विरुद्धधर्माश्रयत्वम् । किञ्च ग्रन्थकर्ता श्लोकानुपनिषत्त्वम् । श्लोकास्तु विज्ञप्त्यादि-
ष्वेतद्ग्रन्थानां तत्कर्तुस्तुचितमेव । गोपबधूपतेरिति पदं तदीयत्वाद् 'अहं तदीय इत्येषा तद्गतौ रूपिता परम्' इति त्रिभङ्गललितस्तोत्रन्यायात् । तत्र हेतुमाहुः त्वदित्यादि । तव मुखस्यामोदः सुरभिविशेषः तेन सुरभीत्यर्थः । अधिकमिति । भक्तमात्रनिवेदितमश्नाति यद्यपि तथापि नाहं भक्षितवानिति वाक्यादानन्दभुगपि ब्रह्मानन्दामोदेन सुरभि त्वधिकं भुङ्क्ते 'ऋतं पिबन्ता'विति श्रुतेः । तदेवाहुः राधेति ।

राधाधरसुधापातुः किमन्यन्मधुरायितम् ।

यन्निवेद्यं तदप्येतन्नामसम्बन्धतो भवेत् ॥ १६ ॥

अन्यन्मधुरवदाचरितं किम्, न किमपीति काकुः । ध्वनेर्विकारः काकुः । एतस्या नाम-
सम्बन्धतो मधुरायितं भवेत् । यथा 'ब्रजस्त्रीकारसुग्मात्मयन्त्रे पात्रं च तन्मय'मिति ब्रजस्त्रीनाम-
सम्बन्धः । अयं भावः । सर्वेषां ब्रह्मत्वेऽपि पुनः 'सर्वेषां ब्रह्मता तत' इति सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मताविधान-
मीदृगिति । 'ऋतं पिबन्ता'विति श्रुतेः ।

एवं विज्ञाप्यात्राङ्गीकारेधीष्टमाहुः प्रियेति ।

प्रियामुत्साम्बुजामोदसुरभ्यन्नमतिप्रियम् ।

अङ्गीकुरुष्व गोपीश तदीयत्वान्निवेदनम् ॥ १७ ॥

ननु प्रियेत्यादिविशेषणेन पूर्वोक्तब्रह्मतासुवादस्तेनैव योग्यतया भुङ्क्तेत्युपपन्नेङ्गीकुरुष्वे-
त्यङ्गीकारस्य किं प्रयोजनमिति चेन्न । एतादृशब्रह्मत्वेऽपि वरणरूपाङ्गीकारस्यावश्यकत्वात् । तदुक्तं
'विद्यैव तु निर्धारणात्' इति सूत्रभाष्ये 'नायमात्मेति श्रुतिरितरसाधननिषेधपूर्वकं वरणस्य
साधनत्वमुक्तत्वे'त्यादि । अङ्गीकुरुष्वेत्यात्मनेपदेनाङ्गीकारफलं भक्तमनोरथपूर्तिरात्मगामिनी ।
तदीयत्वादिति स्वस्य योग्यता । निवेदनमिति अर्शआद्यच् निवेदितमित्यर्थः ।

'सर्वतोक्षिशिरोमुख'मित्युक्ते कस्मिन्निय आस्य इत्याकाङ्क्षायां नवलास्ये भक्तिमार्गमर्यादया-
ङ्गीकृतं भोज्यमन्नं भुङ्क्तेत्याहुः निजेति ।

निजास्यनवलास्येऽस्मिन्श्चारुभोज्यं मदर्पितम् ।

भुङ्क्ते श्रीगोकुलाधीश स्वाधिव्याधी निवारय ॥ १८ ॥

सर्वत आस्येषु निजे आस्ये तत्रापि नवं भक्तेच्छयाधुना प्रकटं लास्यं यत्र तदपि प्रत्यक्षं
साक्षात्कृतं तस्मिन् भुङ्क्ते, न तु धर, 'तत्तदत्तुमधियते'ति बृहदारण्यके सर्वाश्रयस्योक्तेः । अयं तु
भक्तिमार्गाश्रयः । भक्तस्त्वाध्यात्मिकादित्रितयविदाश्रयः । अत ऊचुः स्वाधीति । पूर्वोक्तभक्तेच्छया
स्वस्यात्मनो निवर्तनीयत्वेन भक्तेच्छाकालिकौ आधिर्मनःपीडा व्याधिः शरीरस्य तौ निवारय ।
ननु भूमि तावश्यक्यवचनावित्यत आहुः गविति । गोकुलस्य पुष्टिमत्तौ स्वीकृतस्याधीशः पुष्टि-
रक्षकस्तस्य सम्बोधनम् । पुष्टौ क्षुत्पिपासादि ज्ञापयतीति । स्वीयानां आधिव्याधी इति वा । 'उत्कर्षश्चापि
वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदी'ति सुबोधिनीकारिकाया वैराग्योत्कर्षवतां भक्तानां आधिव्याधी भवतः ।
लौकिकावाधिव्याधी वा ।

दास्यसेवाया भानसीसेवा फलं तस्यै समाधये ध्यानवद्भावनास्ता आहुः यशोदेति ।

यशोदारोहिणीभावाद्भलेन सह बालकैः ।

भुक्तं यथा बाल्यभावप्राकट्याद्भुङ्क्ते मे तथा ॥ १९ ॥

अत्र तृतीयाध्यायस्य 'सर्वथापि त एवोभयलिङ्गादि'ति सूत्रे 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वति
ब्राह्मणः' इति बृहदारण्यकश्रुत्या भावनाश्रयम् । तासु प्रथमं लीलाभावना यशोदारोहिणी-
भावादिति । लीलाभावना नाम लीलास्यभक्तानामात्मनिष्ठक्रीडाभावना सप्रतियोगिकक्रीडाभावेनेति
यावत्, लीलास्या भक्ताः परिगणिताः क्वचिद्भावनायाम्, उभये स्वामिन्यौ, तुर्यप्रिया, श्रीगोवर्धनः, ब्रजः
श्रीमदाचार्याः श्रीगोस्वामिनः सप्तबालका इति । अत्र श्रीगोपीनाथजितः श्रीमल्लक्ष्मणजितः अन्येऽपि
नित्यलीलाप्रविष्टा उपलक्षणविधया ब्राह्म्याः । यशोदारोहिणीभावाद्बाल्यभावप्राकट्याद् बाल्य-
भावेऽष्टस्वरूपाणां भावना कर्तव्या यथास्वरूपस्थितिः सा कर्तव्या कश्चिच्छयामः कश्चिच्छ्रीनवनीतप्रिय-
जिदादिगौरः कश्चिद्वैरश्यामः केचिद्विभुजाः केचिच्चतुर्भुजाः । तत्र क्वचिद्भक्ताकारणक्रिया कश्चिन्नवनीतं
रोटी च कर्कटीति द्विः खरबूजेति ख्याता । क्वचिच्छङ्खचक्रगदापद्मानि क्वचिच्छङ्खः सच्छिद्रः क्वचि-
च्छ्रीगोवर्धनः शङ्खश्च सोऽपि निश्छिद्रः क्वचिच्छ्रीहस्तोऽभयकरः क्वचिच्छ्रीहस्तो भयकरः 'अपि सरा-
धनसूत्रा'दनुभवगम्यावित्यादिपदार्थानां भावना । अयं कीदृशीलाविशिष्टविग्रह इति स्वरूपभावना ।
इयं लीला निष्प्रतियोगिनी । 'तदेजति तत्रैजती'ति श्रुत्युक्ता स्वरूपान्तःपातिनी 'प्रकाशाश्रयवद्वा
तेजस्ता'दिति न्यायात् । ननु बाल्यभावप्राकट्य एकरसत्वदानिः तथा च सच्चिदानन्दत्वमनुपपन्नं
स्मादिति चेन्न । अस्या आशङ्कया 'व्याप्तेश्चासमलक्षसमि'ति सूत्रे परिहृतत्वात् । यशोदारोहिणीभावा-
त्कारणाद्बाल्यभावप्राकट्यं तस्माच्च बलेन बालकैश्च राह यथा भुक्तं त्वया तथा बाल्यभावेन
प्रकारेण मम नैवेद्यं भुङ्क्तेत्यर्थः ।

नन्दादिवन्मद्गृहेऽप्यागन्तव्यमिति भक्तिमार्गभर्यादारक्षणार्थमावश्यकमागमनमित्याहुः सेवेति ।

सेवार्थं दत्तगोहस्य निजदासस्य मे प्रभो ।

आगन्तव्यं भोजनार्थं श्रीकृष्ण कृपया गृहे ॥ २० ॥

दत्तगोहस्येति भगवता दत्तं गेहं पूर्वं गेहं नास्ति । ननु तथा च कुत्राश्रमेऽवस्थानं गृहिणे
पसंहाराधिकरणे 'धार्मिकान्विदधदि'ति गृहस्थाश्रम उक्तः तत्र कथं तुरीयाश्रमः । सेवाप्रकारो
गृहस्थस्य भक्तिवर्धिन्युक्तस्तत्र 'त्यागं कृत्वा यतेषस्तु तदर्थार्थैकमानस' इति त्यागे दास्यं कथमिति
चेन्न । एकादशे एकोनविंशे विश्लोक्यनन्तरं ज्ञानप्रकारमुक्तोवाच भगवानुद्धवं प्रति । 'एतत्ते कथितः
सर्वो ब्रह्मवादस्य सङ्ग्रह' इति वचनात् । ननु तथापि गृहं न ग्राह्यं तद्धि वान्ताशनवद्भवतीति चेन्न ।
'प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनि'रिति 'सर्वेषां मद्युपासनमि'ति वाक्याभ्यां वान्ताशनं स्मार्तानां न ब्रह्मवादिनाम् ।
एकदण्डनामित्युक्तया ब्रह्मोपनिषदि 'आत्मविद्यातपोमूल'मिति श्रुतेः । विद्या सर्वात्मभावः 'क्विवैव तु
निर्धारणादि'ति तत्त्वसूत्रात् । विद्यातपसी मूले कारणे प्रापिके यस्य । मूलपदं नित्यं नपुंसकम् ।
विद्यातपसोर्मूलं वा कारणं विषय इति यावत् । 'एतद्गृहं वा व न तपति किमहं साधु नाकरवं
किमहं पापमकरवमि'ति श्रुतेश्च । तथा चैतादृशं गृहं भगवता दत्तम् । 'अनन्याभिन्यन्तो आं
नित्ययुक्ता उपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' इति वाक्योत्तरं गीतानवमाध्याये
राजविद्याराजगुह्ययोगे 'यत्करोषि यदश्रासि यजुहोषि ददासि यत् । यत्पस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व
मदर्पणम् । शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः । संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसी'ति
गीतातः संन्यासानन्तरं गृहादिप्राप्तिः पूर्वमुक्ता । ननु वैराग्याभावे कथं संन्यासः सर्वेषामिति चेन्न ।

‘स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्य’ इति सर्वोत्तमे श्रीमदाचार्यनाम्नः सर्वेषां तद्वंशजानां वैराग्यसंभवात् । कृपयेति श्रीभगवतः साधनत्वयैतत्पूर्वमुक्तम् । अत्र ‘कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्’ इति यशोदानन्ददि-
भावचता देवासुरेति वाक्यार्थमनुसन्दधता श्रीकृष्ण एव संबोधितः बलस्तु गोपीवल्लभभोगापसरणा-
नन्तरमाकार्यः ।

सेवार्थं नन्दादयश्च तत्रैवाकार्यन्ते स्म देवकीति ।

देवकीवसुदेवश्रीबलरोहिणीसंयुतः ।

श्रीमन्नन्दयशोदाभ्यां समं मयि कृपां कुरु ॥ २१ ॥

देवकी ब्रह्मविद्या ब्रह्मविद्योपनिषदुक्ता, सर्वात्मभावः पुरुषोत्तमविद्या, वसुदेवः शुद्धसत्त्वा-
त्मकः, श्रीबलः शेषनागः, रोहिणी दया, श्रीमद्गोकुलम्, वनम्, वैकुण्ठम्, तत्र नन्दः परमा-
नन्दः । श्रीमन्नन्द इति वा स एवार्थः । ‘यशोदा मुक्तिगेहिनी’ मुक्तिश्च गेहिनी मुक्तिर्भक्तिमार्गीयात्र गृह्यते
मर्याश्रये आध्यात्मिकादित्रितयविदाश्रये भक्ते वा । यथायोग्यकाले कृपां कुरु । देवक्यादीनां
स्वरूपाणि कृष्णोपनिषदि वर्तन्ते ।

निःकिञ्चनस्य ‘यद्यदिष्टतमं लोक’ इति श्लोकोक्तमर्यादातिक्रमेऽपि ह्यधिकारस्याकिञ्चनाधि-
कृत्योक्तेत्यत्रोपपादनादाहुः निःकिञ्चनेति ।

निःकिञ्चनस्य दीनस्य गुणहीनमपि प्रभो ।

शुद्धात्तं तत् स्वदत्त्वाद्भुङ्क्ते गोकुलनायक ॥ २२ ॥

विकृतेः प्रकृतौ ‘मच्छरणो मुनि’रिति मुनिविशेषणाच्छरणं भक्तिमार्गं प्रोक्तमतः ‘पृथक् शरण-
मार्गोपदेष्टे’त्यस्य न विरोधः । किञ्च प्रकृतौ ‘धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत् स च सत्तम’ इत्यत्र
‘न्यासादेशेषु धर्मलज्जनवचनतोऽकिञ्चनाधिकृत्योक्ता कार्पण्यं वाङ्मुक्त’मिति श्लोकोक्तप्रकारोऽस्युचि ।
पराज्ञगणान्नादिभिन्नमन्नं शुद्धाक्षम् । वाराहे ‘कान्यन्नानि निषिद्धानि तद्भक्ते शोधने च कि’मिति
पृथ्वीप्रश्ने श्रीवराहः ‘परान्नं नैव सुखीत परपक्वं विशेषतः । तथा गणान्नं शुद्धात्तं स्वयं पक्वमपि
त्यजे’दिति षोडशाध्याय उवाच । तत् सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या ब्रह्मात्मकं स्वदत्तं यतिभ्यो दत्तं स्वेन
पूर्वमुपपादितं ‘पुष्पं पत्रं फलं तोय’ मिति श्लोकोक्तमर्यादायां भुङ्क्ते ।

भोजनफले आहुः भुक्त्विति ।

भुक्त्वा दत्त्वातिप्रियेभ्यो भक्तेभ्योऽतिप्रियं सदा ।

तदात्मशोधकोच्छिष्टं कृतकृत्यं च मां कुरु ॥ २३ ॥

भुक्त्वा वैराग्योत्कर्षं मयि फलं कुरु ‘उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदी’ति वाक्यात् ।
मानसीसेवां प्रति तनुजापूर्तिं कुरु, तदतिप्रियं भुक्तमात्मशोधकोच्छिष्टं कुरु, पुरुषोत्तमयोगाध्या-
योक्तपदार्थज्ञानात्कृतकृत्यं च मां कुरु । ‘एतद्बुद्ध्या बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारते’ति गीतततः ।
अतिप्रियमात्मशोधकं भक्तेभ्योऽतिप्रियेभ्यो दत्त्वा च कृतकृत्यं मां कुरु । ‘आहारशुद्धौ
सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां प्रविमोक्ष’ इति श्रुतेः ।

केत्याकाङ्क्षायां श्रीविष्णुस्वामिसंप्रदायानुरोधाद्यथा तद्गृहे आगत्य भुक्तं तथा भुक्त्वा कृतार्थं
कुर्वित्याहुः श्रीति ।

श्रीकृष्णान्तरस्वरूप स्वकीयस्य गृहे मम ।

आगत्य भोजनं कृत्वा कृतार्थं कुरु मां प्रभो ॥ २४ ॥

हे भ्रिया सहित कृष्ण सच्चिदानन्द हे अन्तरस्वरूप ‘आनन्दमय आनन्दसुमि’ति वृत्ति-
तापिनीयश्रुतेः । यद्यपीयं तृतीयचरणनिरूपणेऽस्ति तथापि तुरीयचरणे ‘नित्यानन्दं सदैकरस’मिति-
श्रुतेरानन्दभुक्त्वमस्येव सदैकरसं मन्यन्त इत्यस्य रसत्वेनानेकरसत्वप्राप्त्या तन्निषेधार्थमेकरसावधोक्तेः
मनु अवबोध इति धातुपाठात् । तर्ह्यानन्दमयः प्राज्ञ इत्यायाति । ‘प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्
चेतोमुखश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पाद’ इति श्रुतेः । मैवम् । ‘नित्यानन्दं सदैकरस’मिति
पूर्वांक्तश्रुतेः, अत एवानन्दमयाधिकरणे ‘को ह्येवान्यात् क. प्रा. याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति
श्रुतिर्मीमांसिता, नतुक्ता श्रुतिर्मीमांसिता । अत एवाहुः स्वकीयस्येति । मदीयजीवविशिष्टो भोगान्भुङ्क्ते
यतः । एतच्च विधेवैति सूत्रभाष्य उक्तम् । कृतार्थं हृदि भगवत्प्राकट्यवन्तं मां कुरु । एतादृशस्य हृदि
भगवत्प्राकट्यं भवतीत्याहेति भाष्यात् तथा च कृतः अर्थो हृदि भगवत्प्राकट्यं येन स तथोक्तः ।
अत्र श्रुतिः ‘ता वां वास्तूनि’ ‘वने वृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सह’ । सूत्रं ‘तानि परे तथा द्याह’ ।
गीतात्रयोदशाध्याये ‘सर्वेन्द्रियगुणाभासम्’ समाधिभाषा ‘अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्ष्ण’ इति ।
अथवा श्रुत्यादयः ‘सर्वथापि त एव’त्यादिसूत्रस्थाः, समाधिभाषा तु सैव । मङ्गलभोगपर्यन्तं ‘गोपगोपीसुरैः
सह’त्यतो नन्दयशोदागोपीमात्रेण सह लीलादि भावनीयम् । ततो जलमर्षयेदिति स्पष्टम् ।

अत्राचार्याणां कुम्भनदासादीन्प्रति प्रियेति ।

प्रियारतिश्रमपरिमलितं वारि यामुनम् ।

समर्पयामि तत्पानं कुरु श्रीकृष्ण तापहृत् ॥ २५ ॥

वारीस्युक्तं चेदितरस्य स्यादतो यामुनमिति विशेषणं यामुनं सिकताद्यपीति वारीति । तदपि
न तापि सेवमानानां भुक्तिमुक्तिदा अपि तु प्रिया या कदाचित् प्रत्यक्षा, तस्या रतिः तस्मिन्ब्रह्मणा एकैक-
स्मिन्पदार्थे दशलीलाविशिष्टो भगवान्चर्तत इति सुबोधिन्याः । तन्नन्यश्रमेण परिमलवत्कञ्चित्पदार्थ-
मित्तं प्राप्तं तारकादिभ्य इतच्, आधिदैविकसंप्रकृतमिति यावत् । मल धारणे श्वादितात्मनेपदी सेद्र ।
क्ते रूपमपि प्रियारतिश्रमं परिहातुं धारितमित्यर्थः । तापो ह्याधारे भक्तेच्छया वार्यपनोधधर्मरूपः ।
सगंधर्मकत्वात् । श्रुतिस्तावत् ‘ऋतं पिबन्तावि’ति । सूत्रं ‘गुहां प्रविष्टावामानौ’ इति । ‘पुष्पं पत्रं
फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्रामि प्रयतात्मन’ इति गीताराजविद्याराज-
गुह्ययोगाध्याये । गुरुपादुकाजितपूजनं तु पूर्वमेव कर्तव्यम् । मङ्गलपूजाभ्यधिकेति वाक्यात् । आधिक्यं
प्राथम्यम् । तथा च भाष्यम् । गुरौ तु ‘शान्दे परे चे’त्यादिगुर्वभेदेन भगवत्सेवयैव चारितार्थ्यम् ।
पादुकाजितां भक्तिमार्गीयं पूजनं वेदस्तुतौ वर्तते । घटिकानन्तरं कृत्यमाहुः ततः आचमनं कारये-
दिति । ‘दत्त्वाचमन’मिति वाक्योक्ताचमनस्य ‘पाद्योपस्पर्शाह्मणादीनि’त्यत्राप्यादिपदार्थत्वात् ।

कुरुष्वेति ।

कुरुष्वेति चमनं कृष्ण प्रिययामुनवारिणा ।

स्नेहान्मदन्तसक्तान्यभावापाकरणात्मकम् ॥ २६ ॥

आचमनफलस्य शुद्धेः कृष्णगामित्वादात्मनेपदम् । कुरुष्वेति । आङ् मर्यादायां चमु अदने अद-
नमवधियस्य भावे ल्युट् । आचमनं हस्तादेः प्रक्षालनम् । कृष्ण सदानन्द । स्नेहात्मानो दन्तास्तेषु
सक्ताः अन्यभावाः स्नेहगलनिकारकास्तदापाकरणरूपमाचमनम् । तदुक्तं ‘स्नेहकला द्विजानी’ति
द्वितीयस्कन्धे । ननु हस्तादेरपि प्रक्षालनं वर्तते किं पुनर्बालभावे सर्वाङ्गप्रक्षालनं भवति । तत्र सक्तान्यभावाः

क इति चेन्न । भक्तिमार्गे स्नेहासक्तान्यभावापाकरणस्येष्टत्वेनान्येषामत्रानिष्टत्वात् । नन्वान्यत्रिकमाचमनं किमात्मकमिति चेन्न । ब्रह्मणः फलत्वेऽपि तद्दर्शनादेरवर्जनीयस्वभावस्य फलत्ववदन्तप्रक्षालनेऽन्येषामवर्जनीयप्रक्षालनकत्वाद् अत एव द्वादशस्कन्धोक्तज्योत्स्नात्मकत्वं दन्तानां नोक्तम् । ननु मन्त्रात्मकत्वे विषयस्य विभूतित्वं न तु पूर्णत्वं तथा च भाष्यं स्वाध्यायस्येति सूत्रे मन्त्राद्यधिष्ठानरूपाणि तु विभूतिरूपाणीतीति चेन्न । एतावद्भूतभाषणमात्रेण मन्त्रत्वाभावात् । 'प्रयोगकरणभूतः शब्दो मन्त्र इत्युक्तं भवती'ति भावार्थपादभाष्ये मन्त्रलक्षणात् । नन्वयमपि भक्तिमार्गीयः प्रयोग इति चेन्न । तथा सति मन्त्राधीनत्वे पूर्णत्वं भज्येत विषयस्य । तथा च सर्वश्लोकार्थोपगमानन्तरं प्रयोगः पुनः श्लोकार्थोपगमानन्तरं प्रयोग इति नियमाभावः ब्राह्मणवत्प्रयोगात्पूर्वं प्रमितिजनकत्वमात्रम् । ननु साक्षाद्भक्तिर्नास्तीति द्वितीयस्कन्धषष्ठाध्यायसुषोधिर्न्यां भनक्तु नाम पूर्णत्वमिति वाच्यम् । तस्याः शास्त्रार्थपरत्वात् । 'शास्त्रार्थतो यदि हरिर्भवतामभीष्टस्तत्पश्यतात्र विवृति'मिति समाप्तौ कारिकायाः ।

नन्वयं शास्त्रार्थो न वेति चेन्न । धर्मे शास्त्रार्थपर्यवसानात् । धर्मिणि तद्वच्छास्त्रार्थत्वाभावात् । धर्मास्तु सर्गादयो दशानन्दस्य लीलात्मकाः संनियोगशिष्टन्यायेनाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रतिश्रमजलप्रोच्छद्राधाकराञ्चलम् ।

स्मृत्वानन्दभरात्राय कुरु श्रीमुखमार्जनम् ॥ २७ ॥

गृहं प्रविष्टावित्यधिकरणपरोक्षवाद इति भाष्येणर्तं पिबन्ताविति श्रुतावातपः प्रकटानन्द आतप इति ह्यातपशब्दस्य परोक्षवादः । तद्योग्यो मुखवस्त्रे परोक्षवादः । पूर्वं यामुनं वारि मुखसम्बद्धमिदानीं स्नेहात् स्वमुखाद्देतोस्तद्रतिश्रमस्य क्रीडाश्रमस्य जलं जातमिति परोक्षवादः । एवमग्रेऽपि । तत्प्रोच्छद्राधायाः करस्याञ्चलं स्मृत्वा यथा निघण्टव इत्यत्र निगन्तव इति परोक्षवादः । निगमयितार इति प्रत्यक्षवादः निघण्टव इत्यतिपरोक्षवादो निरुक्तौ परेषाम् । एवं प्रकृते वैयाकरणानामक्षणः श्रोत्रस्य परो वादः परोक्षवादः । या प्रीतिरिविवेकानां विषयेषु सा प्रीतिः प्रत्यक्षा तादृशं शब्दान्तरं स्नेहशब्दस्थाने प्रकल्प्य ब्रह्मण्यक्षणः परा मुखरूपाः । भक्तानां तु परोक्षस्यापि प्रत्यक्षम् । सा स्नेहपदवाच्या सैव मुखं 'तस्य प्रियमेव शिर' इति श्रुतेः । न च प्रीतिः परोक्षा मुखं प्रत्यक्षमिति शङ्कम् । स्नेहपदस्य परोक्षार्थविवक्षणात् । प्रीतिस्त्वक्षणः परोक्षा श्रवणस्य न । रतिर्मनःप्रवणता लौकिकी, चेतस्तत्प्रवणताऽलौकिकी, सा परोक्षा क्रीडा वा । 'रमु क्रीडायाम्' इति धातुपाठात् प्रत्यक्षा, पूर्वोक्ते उभये परोक्षे । यद्यपि स्नेहो रतिरिति पर्यायोऽत्र व्याख्याने तथापि प्रपञ्चविस्तृतिपूर्वकब्रह्मासक्तिरूपा रतिः । तज्जन्यश्रमः श्रमस्य श्रम आधिदैविकः । यथा चक्षुषश्चक्षुराधिदैविकम् । तज्जन्यं जलं यमुनाजलं 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति श्रुतेः । अत्रापि रतिश्रमजलं परोक्षं, जलं प्रत्यक्षम् । प्रोच्छन्नमपि प्रोच्छन्नस्य प्रोच्छन्नमाधिदैविकम् । राधापि द्वाष्टसिद्धेराधिदैविकी राध संसिद्धाविति धातुपाठात् तस्याः कराञ्चलमप्याधिदैविकम् । तं स्मृत्वा स्नेहादिषु तानारोप्य स्मृत्वा स्वस्वरूपा-नन्दस्वस्वरूपाभृतपानजानन्दौ मिलित्वाऽन्येऽपि तत्कालिकानन्दा मिलिता आनन्दभरो भवत्यस्मात्कारणान्नाथ हे आतप श्रीमुखमार्जनं कुरु तत्सेवाफलं मद्गामि कुरु । अत्र स्वस्मिन् राधात्वारोपो भावनार्यां यशोदासखीत्वारोपः । तदुभयभक्तमनोरथपूरणाय सञ्जातरूपे युक्ततमम् । यथाभक्तमनोरथमाविर्भाव्यात् । अत्र गौण्या निर्वाहः । तदुपपादितमेव चमसवदित्यधिकरणे ।

१. दर्शनश्रवणमनननिदिध्यासनानीनाम् । २. वर्जनीयानां प्रक्षालनं वर्जनीयप्रक्षालनं न तथेषाम् तत्कत्वात् ।

३. स्नेहशब्दस्थानेयः स्नेहः तदादिषु पदार्थेषु स्नेहानुबन्धस्याचमनजलं प्रोच्छद्राचमनजलं मुखवस्त्रमिति स्नेहादयः ।

उद्धवभावनया रोवामाहुः ततस्ताम्बूलमर्पयेदिति । 'लोकवतु लीलाकैवल्यमि'ति व्याससूत्रादिति भावः । इदमग्रेतनमाकृष्यते ताम्बूलमिति ।

ताम्बूलं स्वप्रियावक्रसौरभ्यरतिसंयुतम् ।

गृहाण गोकुलाधीश तत्कपोलाभपाण्डुरम् ॥ २८ ॥

स्वस्य सदानन्दस्य प्रिया भोक्तयुता ब्रह्मानन्दात्मिका तस्या वक्त्रे तदिच्छयाविर्भूतेन सौरभ्य-ब्रह्मणा या रतिः क्रीडाव्याप्तिस्तया संयुतम् । ताम्बूलं पर्णव्यतिरिक्तमपि पर्णमात्रेऽपि प्रियावक्रसौरभ्याभावादेवं व्याख्यातम् । तत्कराद्याभपाण्डुरमित्यनुक्त्वा तत्कपोलाभेत्याद्युक्तं तत्तन्मुखमात्रयोग्यार्थत्वाय हस्तद्वारेति ज्ञेयम् । गृहाणेति हस्तव्यापारादानात् । ग्रह उपादाने 'हस्तौ चादातव्यं चे'ति प्रश्नोपनिषच्छ्रुतेः । उपेति लुसपष्टीकं समीपस्थानां पदार्थानां हस्तव्यापारो हस्ताभ्यामादानं यत्तदुपादानम् । गृहाण, हे गोकुलाधीश गोकुल एवैतलीलाप्रसिद्धेः ।

तत आरात्रिक कृत्वा स्नानादिशृङ्गारार्थं विज्ञाप्य स्नानादिकं कारयेदिति । 'पाद्योपसर्गादिष्णादी-नुपचातनप्रकल्पयेदि'ति वाक्यात् । 'सामनीराजनानादिभिरिति वाक्याद्वा ।

स्नानादिशृङ्गारार्थं यद्ब्रह्माद्युत्तारणं तद् विज्ञापयन्ति स्म रमणेत्यादि ।

रमणातिभराद्राद्यौ वस्त्राण्याभूषणानि हि ।

मृगजानि च वस्त्राणि प्रसीदोत्तारयामि ते ॥ २९ ॥

रमणमत्र बालशृङ्गारयोः । 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्य' इति व्याससूत्रात् । अतोऽत्र भावनाद्वयं, यशोदा गोपिकानां च भावभेदेन । ततो बालरमणशृङ्गाररमणयोरतिभरादित्यर्थः । मृगजानि मृगजा कस्तूरिका सास्थेषु अर्शआद्यजित्यच् मृगजानि वस्त्राणि । अर्शआदित्वं नास्तीति चेन् मृगो यात्रा सा च वैकुण्ठादागमने हिरण्यगर्भस्य, श्रीमदाचार्यजिह्वेहे भक्तानां तस्याऽभावोऽप्यानि अलौकिकानि । भक्तमनोरथपूरकत्वाद् मृगजैव वा वस्त्ररूपा जाता । 'यदस्ति यन्नास्ति तत्सर्वं तत्र वर्तते' इति दहराधिकरणे उक्तम् । तत्रोत्तारयामि प्रसीदेत्यर्थः । 'बद्धर्षा पाणिना मृजेदि'ति वाक्यात् ।

स्नानादिविज्ञापनामाहुः प्रियेति ।

प्रियाङ्गसङ्गसम्बन्धिगन्धसम्बन्धतो भवेत् ।

कदाचित्कस्यचिद् भावो यतः स्नानं समाचर ॥ ३० ॥

यतः प्रियाया अङ्गसङ्गस्य सम्बन्धी यो गन्धः तस्य सम्बन्धतः कदाचित्कस्मिंश्चित्काले कस्यचित् भगवत्साक्षिकस्य कस्यचित् यदि भावः 'पूर्णाः पुलिन्ध' इति वेणुगीतश्लोकरीत्या श्री-गोवर्धनसत्सङ्गात् कुङ्कुमादिकृतस्मररुक्शान्त्यर्थं भगवदुपास्थितानां पुलिन्दीनां लक्ष्मीप्रवेशवद् भक्तिस्ततः स्नानं समाचरेत्यर्थः । ननु भक्तिनिविशतां मुक्तो भविष्यतीति चेन्न । अयोग्ये भक्तिप्रवेशे भगवद्विषयीकरणं भक्तविद्विष्टमिति पुलिन्दीनां गा गोपकैरित्यत्र योग्यत्वनिरूपणाद् अयोग्यानां पुलिन्दीनामिति । 'चलसि यद्गजा'दित्यत्र 'शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छती'त्यनेनाऽयोग्ये शिलतृणादौ भगवत्संबन्धस्य भक्तविद्विष्टत्वम् । भक्तिमार्गमर्यादयैषा विज्ञापना । यद्वा यत इत्यन्तं पूर्ववत् । अग्रे ततस्तस्मै भावाय स्नानं समाचर । स्नानप्रक्षिप्तगन्धेन भावो भवतीति । यशोदाया मुक्तिवाजागरणार्थं गताया बालभावाच्च न तां प्रति तत्प्रतिकूलभावजननम् । तां प्रत्यन्यभावस्य तिरोभावात् । लीलात्मकत्वाद्भावस्य ।

१. सर्वात्मभावभक्तयोः । २. भक्तिः । ३. चेद् यद्यर्थे मनोरमायामिदमपि क्वचिद् द्रष्टव्यम् । ४. जागरितम् ।

स्नेहेति ।

स्नेहात्मगन्धतैलेन प्रियगन्धातिचारुणा ।

अभ्यक्तो मङ्गलस्नानं कुरु गोकुलनायक ॥ ३१ ॥

स्नेहो गुणस्तदात्मा गन्धो न संभवतीति स्नेहेनात्मा स्वरूपं भगवद्योग्यतारूपं यस्य गन्ध-
युक्ततैलस्य तेन तैलेन प्रियो गन्धः प्रियागन्धः पूत्यग्रगन्धव्यतिरिक्तो वा गन्धः प्रियगन्धस्तेन
चारुणा मङ्गलदिने स्नानं कुरु ।

स्नेहेति ।

स्नेहात्मगन्धतैलस्य लापनाद्गोकुलाधिप ।

वितरात्यन्तिकीं भक्तिं मयि स्नेहात्मिकां विभो ॥ ३२ ॥

भक्तिवर्धिन्यां तनुजासेवाया भक्तिवृद्धिबीजत्वेनोपादानाद् वितरेत्युक्तम् । ननु सेवायाः
फलं मानसी सिद्धान्तमुक्तावत्युक्तम् । भक्तिवर्धनस्य फलत्वं कुत इति चेन्न । श्रद्धा भक्तिबीजं
'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यतीति वाक्यात् । सेवा मानसीसेवायाः कारणम् । व्यसनारिमिका तु सेवा
भक्तकृतार्थताबीजमिति । आत्यन्तिकीं भक्तिं फलाभिसन्धानरहितां 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्
स्म न भक्तियोग'मिति वाक्यात् मुकुन्दाभक्तिसत्कारपूर्वको व्यापारो युक्तः । स्नेहात्मिकां भक्तिं
वितरेति । विभविति । मुक्तिदातुरपि भक्तिदाने सामर्थ्यं द्योतितम् ।

श्रीति ।

श्रीसुगन्धोद्धर्तनेन निशाश्रमनिवारणात् ।

उद्धर्तितः कृष्ण भक्तिदानेन कुरु मे कृपाम् ॥ ३३ ॥

चतुरसेवकैः सुगन्धयुक्तसुद्धर्तनं कृतं चेच्छीयुक्तं भवतीतरथा तु कृष्णं शुभ्रं वा भवेत् । उद्धर्तनं
उच्यते लोके उच्यते । तत्करणं पुस्तकेऽस्ति । तथाहि । सठी, कचूरिति लोके तद्वस्तु सेटक-
द्वयम् । कर्पूरा, कपूरकाचरीति प्रसिद्धा सा पादद्वयपरिमिताऽऽनकद्वयमिता च । ब्रह्मं, वरमीति
लोके, तत्पादद्वयानकद्वयपरिमितम् । जटिला, भूतकेशी छडीलो इति लोके सा पादद्वयानकद्वयमिता ।
तालीसपत्रं तमालपत्रं वा, पत्रेति लोके तदपि पादद्वयानकद्वयम् । मुस्ता, मोथा इति लोके सापि
पूर्वोक्तमाना । वेसा, वेसवनोसा इति लोके सापि सार्धसेटकैकपादा च । वालम्, वालो इति लोके
तदपि सेटकद्वयम् । उक्तसर्वोपपन्न एकीकृत्य पक्वाः कृत्वा शुष्काः कृत्वा खण्ड्यन्ताम् । पश्चाद्
रुगातुगा तवखीरेति लोके सा पादोनसेटकद्वयमिता । चन्दनं घृष्टा कृताः स्वपद्मः सेटकद्वयानकद्वयाः ।
चन्दनचूर्णं सपादद्वयसेटकमेतानोषधीनेकीकृत्य पिष्ट्वा वस्त्रपूतान्कृत्वोद्धर्तनं कुर्यात् । 'कस्तूर्या चन्दने-
नैव कुर्यादुद्धर्तनादिक'मिति स्कान्दे । निश्चेति आलस्यं स्नानेन निवर्तते अमस्तु 'स्युः श्रमो
भूत्वे'ति श्रुतेर्भूत्युक्तम् स उद्धर्तनेन निवर्तते । भक्तीति करणे ल्युट् प्रकृत्यादिक्त्वाद्भेदे तृतीया ।
भक्तिदानकरणीभूता कृपा तां कुरु । कृपापदस्यानुग्रहे गौणी । तेनानुमानिकाधिकरणे विज्ञानकरण-
त्वेऽपि भक्तिदानकरणत्वं कृपायाः । परस्मैपदार्थं उक्त एव ।

आलस्यदरीकरणाय स्नानमाहुः दिवेति ।

दिवा त्वद्वनगमनस्पर्णात्तापभावतः ।

गोपिकास्पर्शनोष्णेन वारिणा स्नापयाम्यहम् ॥ ३४ ॥

ननुष्णेन वारिणा स्नापयाम्यहमित्येतावता चातितार्थं 'लोकवतु लीलकैवल्यमि'ति

व्याससुत्रान् । तदुक्तं सिद्धान्तरहस्ये 'सर्वेषां ब्रह्मता तत' इति 'निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति
स्थितिरिति च । स्पर्शनान्तं तु परं किमर्थमिति चेन्न । 'ऋतं पिबन्ता'विति श्रुतौ सर्वेषां ब्रह्मत्वरूप-
प्रकारस्य प्रस्तावनाङ्गीकारान् । तदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावत्यां 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति । 'तस्माच्छ्रीकृष्ण-
मार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः । आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेदिति । तथा च स्नान-
वारिणि कृष्णविचिन्तनं दिवात्मनो वने गमनस्य स्पर्णाद् यस्तापो विरहतापः सोऽपि भावो
भक्तिदः ततो गोपिकास्पर्शनवदुष्णः स्पर्शो यस्य वारिणि इति । ननु गोपिकास्पर्शनोष्णत्वचिन्तनं न
कृष्णविचिन्तनमिति चेन्न । 'सर्वस' इति श्रुत्या कृष्णस्यैव सर्वरूपत्वेनास्य कृष्णविचिन्तनत्वात् । अत्र
श्रीभागवतम् 'चन्दनोशीरकपूरकुङ्कुमागुरुवासितैः । सलिलैः स्नापयेन्मद्यैर्नित्यदा विभवे सती'ति ।

स्नानेति ।

स्नानार्द्रतानिवृत्त्यर्थं प्रोञ्छिताङ्ग विभो मम ।

दूरीकुरुष्व गोपीश कृपया लौकिकार्द्रताम् ॥ ३५ ॥

प्रोञ्छितान्यङ्गानि यस्य तस्य संबोधनं प्रोञ्छिताङ्ग भोः कृपयानुमानिकाधिकरणो-
क्तया लौकिकेष्वाद्रतां स्नेहात्मिकां दूरीकुरुष्व विज्ञानतननालौकिकार्द्रतातननं प्राप्तम् । गीतायां
ज्ञाननिरूपणे 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'ति वाक्यात् । मयीति विश्वस्मिन् भक्तिः
प्राप्ता शान्त्यत्र दूरीकुरुष्व । आत्मनेपदं तु लौकिकस्नेहदूरीकरणरूपफलस्य 'मदन्यत्वे न जानन्ती'ति
पद्योक्तान्यज्ञानाभावे साधनद्वारोक्तस्ववाक्यसत्यकरणेन भगवद्रूपकतृणामित्वात् ।

विप्रयोगकालेऽपि वक्ष्यमाणकीर्तनभक्तिसंप्रयोगाय संयोगशृङ्गारावसरे विप्रयुक्तब्रह्मस्वरूपशृङ्गारं
वक्तुं विरहे भजनमतिदिशन्ति स्म गोपिकेत्यादि ।

गोपिकावद्विप्रयोगे कालक्षेपाय सर्वथा ।

कृष्णमूर्तिं प्रियां कृत्वा भजेत्तत्तत्स्वभावतः ॥ ३६ ॥

विप्रयोग इति । ननु कथं विप्रयोगो यावता निबन्धे मूर्तौ कृताः कटकाद्युपचाराः
साक्षात्कृता भवन्तीत्युक्तमिति चेन्न । कृष्णस्य मूर्तिरिति भेदनिर्देशात् । तथा च श्रुतिः 'योऽर्चये-
त्प्रतिमां मां चे'ति गोपालतापिनीयस्था । तर्हि निबन्धस्य का गतिरिति चेन्न । विष्णुस्वामिमत्-
परत्वात्निबन्धस्य, समाप्तौ विष्णुस्वामिमत्तवर्तिश्रीवल्लभविरचित इति दर्शनात् । तथा च शास्त्रार्थे
सुबोधिनीद्वितीयस्कन्धस्य, साक्षाद्भक्तिर्नास्त्येवेति, इत्थं च विष्णुस्वामिमतेन संयोगकाले प्रेमवशा-
द्विप्रयोगवर्तने कालक्षेपाय भजेत् । तदुक्तं शाण्डिल्यपिणा 'संयोगे वियोगवृत्तिः प्रेमे'ति सूत्रे ।
वृत्तिवर्तनम् । तद्विप्रयोगे संयोगवर्तनमपि प्रेमति तद्वाच्यकारः । एवं संयोगे विप्रयोगस्तस्मिन् ।
चतस्रो घटिकाः शृङ्गारस्य संयोगे विप्रयोगे च यदा कदाचिदधिका न्यूना वा घटिका भवन्ति तदा
'अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिरिति वाक्यात् चिन्ता । अत्रापि पूर्वं मधुपर्कं ज्ञेयः ।
'दिव्यं पयोदधिमधुघृतखण्डसमन्वितम् । मधुपर्कस्य पात्रे वै दद्यान्मे श्रद्धयार्चक' इति मार्गशीर्ष-
माहात्म्ये स्कान्दात् । न च स्कान्दस्य तामसत्त्वेनाप्रामाण्यमिति गङ्गायाम् । तदप्रामाण्यस्य ग्रन्थान्तरे
खण्डनात् । बहिर्मुखमुखध्वंसाख्ये ग्रन्थे निपुणतरमुपपादनात् । विविधोपचारेषु मधुपर्कस्यापि
निवेशो वा । 'मुख्योपहारैर्विधिवैश्च पूज्य' इति रामतापिनीयश्रुतेः । एवं चित्तजसेवाविप्रयोगेऽपि
गोपिका यथा विप्रयोगकाले भजन्ति तथा भजेत् । प्रथमान्तादितिः । ब्रजराजा यां काञ्चिद्भरिभूतिं
प्रियां कृत्वा भक्तवत्सः 'आनर्तुर्वृष सैकती'मिति वाक्यात् । श्रीमदाचार्यवत् । अत्र 'कृष्णमूर्तिः
10 परे०

सदा ब्येया' 'दर्शनं स्पर्शनं स्पष्ट'मिति वाक्ये । अत्र प्रयोगे यत्र मूर्तिकर्मकार्चनवाक्याथ कर्तृत्वेन प्रतिपाद्यत्वं तत्र हरिमूर्तिभक्तत्वमिति व्याप्तिः । सर्वथेति सर्वैः प्रकारैस्ते च 'कामादीतरत्रे'ति सूत्रोक्ता ब्रह्मत्वकामुकत्वभयानकत्वद्विष्टत्वसम्बन्धित्वस्नेहविषयत्वभक्तिविषयत्वरूपाः । अत्र द्विष्टत्व-भयानकत्वरूपौ प्रकारौ भक्तिमार्गं चिन्त्यौ । तत्तत्स्वभावात् इति तेन श्रीविष्णुना तस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य स्वभावस्तस्मात् । 'अलङ्कारप्रियो विष्णुरिति श्रीपुरुषोत्तमोऽप्यलङ्कारप्रियः भूयोऽ-प्रियः श्रीडनकानि प्रियाणि श्रीपुरुषोत्तमस्य । यद्वा 'इन्द्रस्य युज्यः सखे'ति श्रुतेरिन्द्रेण समानानि शीलव्यसनानि श्रीपुरुषोत्तमस्येतीन्द्रस्वभावेन श्रीपुरुषोत्तमस्वभावमनुमाय भजेदित्यर्थः ।

ननु 'शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती । मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा सृष्टा' तत्र का मूर्तिः प्रिया कार्यैलाकाङ्क्षायां मनोमयीमाहुः भावेत्यादि ।

भावोत्थविप्रयोगेऽपि न स्यात्तुं शक्यते यतः ।

अतः स्वहृद्गतैर्भावैर्भूषयेत्तं मनोमयम् ॥ ३७ ॥

मूर्तिद्वारापि प्रेमलक्षणामक्तयुत्विप्रयोगेपीत्यर्थः । हृद्गतैर्मनोगतैः भावैः स्मरणकैः स्मरण-स्यापि भक्तित्वात् । मनोमयमिति यथा 'तोये तोयपुरस्कृतैस्तथा मनोमयं मनोमयैर्भूषयेदित्यर्थः । 'मनो ब्रह्मेति व्यजानादि'ति श्रुतेः । न त्वानन्दमयं तस्य मूर्तित्वाभावेनाष्टमूर्तिष्वप्रवेशात् । विज्ञान-मयस्य जीवत्वाच्च जीवे भजननिषेधात् ।

शृङ्गारे कीर्तनभक्तिमाहुः ब्रजेति ।

ब्रजेश रसरूपात्मन् शृङ्गारं रचयाम्यहम् ।

स्त्रीकुरुष्व तदीयात्वात्स्वप्रियायत्कृतं निशि ॥ ३८ ॥

ब्रजेश तव शृङ्गारं महाराजोपचाररूपमीशत्वाद्ब्रूयामि स्त्रीकुरुष्व भक्ताधीनतायाः स्त्रीकारफलस्य ब्रह्मगामित्वादात्मनेपदम् । अन्यथा ब्रजेशः कथं स्त्रीकुर्यात् । अत एव तदीयत्वा-दित्युक्तम् । तदीयत्वं प्राप्याहमित्यर्थः । अयं भक्तः शास्त्रीयोतः 'ऋतं पिबन्तौ' इति श्रुत्यनुरो-ध्यतो निशि स्वप्रियया यत्कृतमिति शृङ्गारविशेषणम् । प्रिया रमा तत्कृतशृङ्गारस्यापि ब्रह्म-नन्दत्वात् । ननु शास्त्रीयभक्तस्य निरुक्तशृङ्गारेऽनुचितः । फलाध्याये 'सोध्यक्षे तदुपगमादिभ्य' इति सूत्रस्यादिपदाङ्गावद्वशीकरणसमर्थः स्नेहः प्रभ्वनिङ्गितार्थत्यागस्तदनुरूपं भजनं चे'ति माध्यस्य विरोधादिति चेत्तत्र संबोधनमाहु रसरूपात्मन्निति । रसरूपमात्मनि यस्य, रसरूपः आत्मा यस्येति वा । ननु नवनीतचोरस्य शृङ्गारे कर्तव्ये कथं निधि स्वप्रियायत्कृतमिति शृङ्गारविशेषणमिति चेन्न । स्वप्रियाङ्गीकारात् । प्रिया माता वा 'आऊ गोपाल शृङ्गार बनाऊ' अस्मात्कीर्तनात् । रसरूपात्मन्नित्यत्र भक्तिरसात्मन्नित्यर्थः ।

गन्धार्पणमाहुः कुचेति ।

कुचकुङ्कुमगन्धाद्यमङ्गरागमतिप्रियम् ।

श्रीकृष्ण तापशान्त्यर्थमङ्गीकुरु मद्रर्पितम् ॥ ३९ ॥

अङ्गरागं सुवासिततैलादि तदप्यतिप्रियं स्वस्य । इतरद्विशेषणं पूर्ववत् । तापोङ्गराग-निराकाङ्क्षीयः पदार्थः । प्रियाविरहतापो वा प्रियास्मारणात् । अङ्गीकुरुविति परस्मैपदमङ्गीकारफलस्य प्रेम्णः परगामित्वात् । जलपात्रमपि बोध्यं ताम्बूलं च । 'वक्षोपवीताभरणपत्रसगन्धलेपनै'रि-त्येकादशस्कन्धीयसप्तविंशत्याप्यस्यवाक्यात् ।

वक्षार्पणमाहुः प्रियेति ।

प्रियाङ्गुलुल्यवर्णानि वक्ष्याणि ब्रजनायक ।

समर्पयामि कृपया परिधेहि इयानिधे ॥ ४० ॥

प्रियाङ्गुल्यादिपूर्ववद् ब्रह्मानन्दत्वात् । ननु लोहितशुक्लीलरूपाणि प्रासादनि न परं पीतहरितकपिश-चित्ररूपाणीति चेन्न । विविधरूपभेदत्वादन्येषाम् । तथा च श्रुतिः, 'यदमे रोहितं रूपं तेजसस्वरूपं यच्छुङ्गं तदपां यत्कृष्णं तदज्ञस्येति यद् धूमं तद्वायोरिति'त्याथर्वणीश्रुतिरित्यनन्तानि रूपाणीति प्रस्थान-रत्नाकरेऽस्ति । वक्ष्याणि यथाकालं 'देशकालविभागविदि'ति चतुर्थस्कन्धवाक्ये दैशिकविशेषणात् । कृपयाप्येत्यत्र परिधानकारणं कृपा गृह्यते न विज्ञानकारणं वाक्यं पूर्वयुक्तम् ।

अलङ्कारार्पणमाहुः भूषणेति ।

भूषणान्यवतारात्मकान्येतान्यर्पयामि ते ।

प्रियाङ्गुलुल्यफान्तीनि प्रसीद ब्रजसुन्दर ॥ ४१ ॥

अवतारात्मकानि द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां सप्तमाध्याये यथर्षभावतारो 'लसन् महारङ्ग-द्विरण्मयाङ्गद' इति 'नाभेरस्रावृषभ' इत्यत्र निरूपितः । हयग्रीवो हि स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलरूपः । नृसिंहो भगवान् कौस्तुभरूपः । यो हरिः स वनमाला । वामनो हि कटिमेखलारूपः । नूपुरकङ्कणादीनि मन्व-तरावताररूपाणि । प्रियाङ्गुल्यादि विशेषणं पूर्ववत् । ब्रजसुन्दरेति संबोधनं तदनु रूप-शृङ्गाररूपभजनार्थमुक्तभाष्यात् ।

प्रियेति ।

प्रियानासाभूषणस्यबृहन्मुक्ताफलाकृतिम् ।

समर्पयामि राधेश गुञ्जाहारभतिप्रियम् ॥ ४२ ॥

प्रियाणां नासाभूषणानि तत्स्थानि बृहन्नि मुक्ताफलान्यादावन्ते च येषां मणीनां ते तथोक्तास्तेषामिवाकृतिर्यस्य हारस्य तम् । राधेशेति संबोधनं तादृशहारसमर्पणे प्रभ्वनिङ्गितत्यागार्थम् । मिलितेति ।

मिलितान्योन्याङ्गकान्तिचाकचक्यसमं विभो ।

अङ्गीकुरुष्वोत्तमाङ्गे केकिपिच्छमतिप्रियम् ॥ ४३ ॥

मिलिता अन्योन्यस्याङ्गकान्तयः पीताङ्गकान्तिः त्रयामाङ्गकान्तिश्चोभे मिलिते हरिता कान्तिः लोहिताङ्गकान्तिर्नीलाङ्गकान्तिश्चोभे मिलिते ताम्रवर्णकान्तिस्तयोः कान्त्योः शोभयोः चाकचक्यं भास्वरशुक्लं रूपं तेन समम् । चाकचक्यं लौकिकशब्दातुकरणं दीधितिवाचकम् । अमरकोशादान्य-त्रिको वा शब्दः । केकिनं मयूराणां पिच्छं अङ्गीकुरुष्वेत्यात्मनेपदम्, 'मयूराभिन्विता येने'ति स्ववकनिःसृतमयूरचित्रप्रेष्ठथजवाक्यसत्यत्वरूपम्, अङ्गीकारफलस्य कर्तृब्रह्मगामित्वात् ।

गोपेति ।

गोपक्रीडकस्थितं श्रीमच्छृङ्गारात्मकमञ्जनम् ।

शोभार्थं मातृवद्वत्तमङ्गीकुरु ब्रजाधिप ॥ ४४ ॥

मातृवदित्यत्र तृतीयान्तादितिः मया दत्तम् । ननु शृङ्गारात्मकमञ्जनं मातृवद्वत्तमित्यनु-चितमिति चेन्न । हे ब्रजाधिपेति संबोधनाद् ब्रजस्य ग्रामीणाः स्त्रियो न चतुराः नागर्ग्यश्चतुरा-स्तस्याधिप इत्यनौचित्यभावाद् अङ्गीकारफलस्य परगामित्वात्परस्मैपदम् ।

कस्तूरीति ।

कस्तूरीतिलकं भाले चित्रं चारु कपोलयोः ।

दृष्ट्वा प्रियाकृतं दृष्टस्तथा मुदमचामुहि ॥ ४५ ॥

ननु बालगोपाले कथमिति चेन्न । प्रियापदस्य मातृवाचकत्वमपीति दोषामावात् ।
मुखेति ।

मुखान्जमकरन्दासिलोभेन रसभावतः ।

मधुपायितचित्तानि ब्रजरत्नानि तानि ते ॥ ४६ ॥

मुखं भक्तिः साऽञ्जं भक्तोष्मापहारिवात् तस्य मकरन्द आनन्दः भजनानन्द इत्यर्थः ।
तस्यासिलोभेन । मकरन्दः पुण्यं कर्म वा दास्यमिति यावत् सौरभ्यसाम्यात् । अयमर्थः । बह्वीदु
भक्तासु कस्याश्चिन्मनोरथेन मन्मथमन्मथरूपेणात्मन आविर्भावे आत्मनः कपोलरिंसावशाद्दम्पि
सति कासाभिन्नकानां वैराग्योत्कर्षवशात्तच्छान्तचित्तानां रसभावः रसः शृङ्गारः स च
देवादिविषयो भावः । 'रतिर्देवादिविषये'ति काव्यप्रकाशात् तादृशरसभावतः पाञ्चभौतिकापगमे
मधुपायितानि मधुपवदाचारशुक्तानि चित्तानि येषां ब्रजरत्नानामतो 'अन्ते या मतिः सा
गति'रिति वाक्याद्गण्डसायुज्यालकाभिन्नसारूप्योभयातिक्रमेण मुखान्जमक्तावृत्तकस्तूरीरूपता । अतः
कपोलयोश्चित्रं चारु कस्तूरीरूपं ते तव तानि प्रसिद्धानि ब्रजरत्नानि तान्यपि मधुपायित-
चित्तानि नान्यानि । अन्येषां भक्तानामन्यत्रालकादौ प्रवेशात् । वाक्यं तु 'वक्षोपवीते'त्याद्युक्तमेव ।
'तथा स्थानपुरःसर'मिति च ।

मालार्पणं सुमनसामाहुः किति ।

कुसुमान्यर्पितानीश प्रसीद मयि संततम् ।

कृपासंहृष्टदृष्टया तदङ्गीकृतिशोभितः ॥ ४७ ॥

मालाकारेणार्पितानि 'भक्तिमागानुसारेणोपचारा मुख्या' इति निबन्धे दर्शनात् । 'नमः कमल-
मालिन' इति गोपालतापिनीयश्रुतेः । तदुक्तं स्कान्दे 'जातीपुष्पसहस्रेण यच्छेन्मालां सुशोभनाम्' इति ।
कृपया संहृष्टानि । यद्वा । संहृष्टानां ब्रजरत्नानां हंशि ज्ञानानि बलवीनयनाम्भोजरूपाणि ।
यद्वा द्वितीयपक्षे नयनाम्भोजरूपाणि बलवीनां संहृष्टपदेनोक्तेः । तेषां ज्ञानानां कृष्टिर्भ्रष्टोपरि मोचनं
तया तदात्मकमालाङ्गीकृत्या शोभितः । तदुक्तं 'बलवीनयनाम्भोजमालिन' इति गोपालतापिनीये ।

'वेणुवादनशीलाये'ति श्रुतेर्वेणुवादनमाहुः प्रियेति ।

प्रियाकारणदौल्यैकभावेनातिप्रियं सदा ।

वेणुं धृत्वाधरे कृष्ण पूरय स्वामृतस्वनेः ॥ ४८ ॥

स्पष्टम् । प्रियाणां ब्रजरत्नानामाकारणे, दूतत्वं तदेवैकं मुख्यं भावो प्रकृतिजन्यबोधे प्रकार-
स्तेन । 'धूपदीपोपहाराणि दधान्मे श्रद्धयाचकः' इति वाक्ये उपहारान्तर्गतो वेणुरिति भागवतमार्गः ।
आदर्शार्पणमाहुः प्रियेति ।

प्रियानखात्मकादर्शं विलोक्य वदनाम्बुजम् ।

ब्रजाधीश प्रमुदितः कृपया मां विलोक्य ॥ ४९ ॥

आदर्शविशेषणं पूर्ववत् । सेवाफलमवान्तरमधीष्टमकार्षुः । कृपया ज्ञानकारणभूत्या मां

विलोक्य ब्रह्मबोधनयुतं कुरु । परस्मैपदं ब्रह्मबोधनस्य परगमित्वात् । ज्ञानी वेङ्गजते कृष्णं
तस्मान्नास्वधिकः पर' इति वाक्यात् स्नेच्छयाऽस्मिच्छ्लोकेषीष्टं कृतं ब्रह्मबोधनम् ।

एवं शृङ्गारं कृत्वा सिंहासने उपवेश्य सामग्रीमग्रे स्थाप्य ब्रजस्त्रीकरोत्यदिसार्धपद्येन विज्ञाप्य
भाषणमित्यादिपद्यद्वयेन विज्ञाप्यानेन पद्येन समर्पयेद् गोपिकेति ।

गोपिकाभावतः स्नेहाङ्गुक्तं तासां यथा ।

मदर्पितं तथा भुङ्क्ते कृपया गोपिकापते ॥ ५० ॥

गुह्यसे स्पष्टोऽस्यार्थः । 'न रोधयति मां योग' इत्यारण्य 'यथा भक्तिर्मोर्षिता' 'भक्त्याह-
मेकया ब्राह्म' इत्येकादशद्वादशाध्याये । अत्र श्रीभागवते मार्गे गोपीवल्लभमोगो न दृश्यते अतः
सामान्यतः प्रमाणमुक्तमन्यच्च 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं ब्रह्मकु-
पह्नामश्रामि प्रयतात्मनः' इति वाक्ये द्रव्यानियम उक्तः । तेन भक्तिहंसोक्तदिशा वेदाविरोधे स्नेहे च
सर्वभोगोपपत्तेः । ततो यथावदाचमनं कारयित्वा ताम्बूलमर्पयेत् ।

ततो दुग्धफेनं दुग्धं चार्पयेत् स्वर्णेति ।

स्वर्णपात्रे पयःफेनपानव्याजेन सर्वतः ।

अभ्यस्यति प्राणनाथः प्रियाप्रत्यङ्गुचुम्बनम् ॥ ५१ ॥

स्वर्णपात्रं प्रियाङ्गुतुल्यकान्तित्वेन प्रियाङ्गं पयोधररूपं पयजापारपात्रत्वात् 'सर्वकाम' इति
श्रुतेः । कस्यचित् सुकृतराशेरत्ममनोज्ञत्वे तेन प्रियाप्रत्यङ्गुचुम्बनं त्वया क्रियत इत्युक्ते स्वर्णपात्रे
पयःफेनपानं क्रियते मयेति स्वर्णपात्रे पयःफेनव्याजरूपं तेन व्याजेन सर्वतः सर्वं प्रिया-
ङ्गाङ्गुचुम्बनम् । वीप्सायां प्रतिः । अभ्यस्यति पुनः पुनः कथयति । तथा च सर्वं प्रिया-
प्रत्यङ्गुचुम्बनं प्राणनाथः स्वर्णपात्रे पयःफेनव्याजेन पुनः पुनः कथयतीत्यर्थः । बालस्तु प्राणनाथः
प्रियाया मातृभार्यारूपं पयोधररूपमङ्गं तस्य चुम्बनं न पानं पानस्य दुग्धकर्मकत्वात् । दुग्धं पिबतीति
प्रत्यायात् तत्स्वर्णपात्रे पयःफेनपानव्याजेनाभ्यस्यति यथा पूर्वोक्तो महानभ्यस्यति तथासु करोति ।

एवं गुहां प्रविष्टाविति सूत्रभाष्योक्तरीत्योक्त्वा संप्रदायप्रदीपोक्तरीत्या श्रीभागवतमार्गेणेति
निधन्वोक्तरीत्या श्रीहरिरायजिद्भावनयाहुः गोपेति ।

गोपार्पितपयःफेनपानं यद्भावतः कृतम् ।

मदर्पितपयःफेनपानं तद्भावतः कुरु ॥ ५२ ॥

मालामुत्तार्योक्तं समर्पणीयं यद्भावतो ब्रजे धारोष्णदुग्धत्वेन । किंच तन्मध्ये सूक्ष्मं सुवर्णपात्रं
पयोमहापात्रे ज्ञेयम् । ततः पुनराचमनं कारयित्वा ताम्बूलमर्पयेत् । अत्रापि मुखवस्त्रं योजितं देयम् ।
ततः पायसादिकमर्पयेदिति मूलम्, आदिपदेनोत्सवादौ भोगविशेषः पायसेन सहैव, जलपात्रं वादिपदाद्यैः
धूपदीपतुलसीशङ्खोदकानि च ।

ब्रजेति ।

ब्रजस्त्रीकृतशृङ्गारानन्तरं तद्गृहे यथा ।

अभोजि पायसं तानिः सह भुङ्क्ते तथैव मे ॥ ५३ ॥

स्पष्टम् । ततः पुनराचमनं कारयित्वा ताम्बूलमर्पयित्वा आरात्रिकं कुर्यात् । अत्रापि माला ।

अमङ्गलनिवृत्त्यर्थं मङ्गलावाप्तये तथा ।

कृतभारात्रिकं तेन प्रसीद पुरुषोत्तम ॥ ५४ ॥

तृतीयमारात्रिकमिदं क्वचिदुक्तं स दोषो नित्यत्वात्सेवायां नास्ति तदुक्तं पूर्वमीमांसायाम् । ननु स्कान्दे मार्गशीर्षमाहात्म्ये नृसिंहपरिचर्यायां च 'सर्वं संपूर्णतामेति कृते नीराजने सुते'ति सर्वसंपूर्णता-वाप्तये 'नीराजनमिदं नाथ प्रीयतां मधुसूदने'ति प्रीत्यवाप्तये चारात्रिकस्य निरुक्तेः कथममङ्गल-निवृत्त्याद्यर्थमिति चेन्न । स्कान्दस्य तामसत्वेन 'तामसा निरययैवे'ति वाक्यप्रसारात् । सर्वं संपूर्णता-मित्यस्य मानसीपूजामत्रत्वात् । अतो 'अचलत्वं चापेक्ष्ये'ति सूत्राभासोक्तमक्तेच्छयाऽमङ्गलनिवृत्त्या-द्यर्थमारात्रिकं साधु, घण्टादीनां वादनं 'सामनीराजनादिभि'रित्यत्रादिपदार्थत्वात् । अश्रुतघटस्थापना-पेक्षया पुराणादौ स्मृतस्य घण्टावादानादेर्ज्यायस्त्वात् 'सामनीराजनादिभि'रिति यागवतथाप्यस-त्सामश्रुतिः । सेवापूर्वार्थमिति स्कान्दे । स्पष्टमन्यत् ।

नवनीतचौर्यादीनां प्रेङ्गशायनमाहुः प्रेङ्गेति ।

प्रेङ्गा मत्प्रेङ्गशायनदोलने श्रीयशोदया ।

सिताद्यमर्पितं सुक्तं सुङ्गेदं च तथैव मे ॥ ५५ ॥

बालभामतिमहतामप्यन्यप्रेङ्गशयनं न दोषाय । प्रेमवशत्वादात्मनस्तदाहुः प्रेङ्गा मत्प्रेङ्गेति । वर्तमानेन त्वयेति शेषः । आद्यपदेन त्वक्सहिता मञ्जा शीर्षफल, वीणि, खर्जूरिका, द्राक्षादीनि खण्डशकलानि च बदाममीजी गरी चिरोजीति लोके धयाणां पूर्वेषां समाख्याः । अधुना तु नवनीतघण्टीखल्पमोदकाद्यपि । पिष्टसिताखण्डे च जलभृङ्गारः । इदं चेत्यत्र चकार संसृज्ये । पूर्वोक्तं प्रत्यक्षगमित्यर्थः । इदं सेवयाम् । पूर्वोक्तं रुद्धे । अन्येषां स्वरूपाणां भावनया शय्यायां शायनं श्रीयशोदादिभावनं च ।

अथेतनकृत्यमाहुस्ततोप्रे क्षणं क्रीडार्थमक्षादीन्निवेदयेत् ।

क्रीडारूपात्मकैरक्षैः क्रीडार्थं स्थापितैः प्रभो ।

क्रीडां कुरु महाराज गोपिकाभिश्च राधया ॥ ५६ ॥

आदिपदेन क्रीडनकानि व्याघ्रबर्करी, शतरङ्गिका । क्रीडारूपात्मकैरिति नव सात्विकादिभेदाः । सच्चिद् आनन्दाः विभावोऽनुभावः सञ्चारिभावो निर्गुण इति मिलित्वा षोडश क्रीडारूपाणि । धीरा, अधीरा, धीराधीरारूपा अक्षास्त्रयः । अक्षबिन्दवश्चतुर्दश तेषां सङ्ख्यातात्पर्यं षड् तथैकः पञ्च द्वौ च । षड् धर्माः, एको धर्मो, पञ्च महाभूतानि, जीवपरमात्मानौ द्वौ । पट्टिकाखण्डानि षण्णवतिः षोडश शृङ्गाराः पुंसः षोडश स्त्रियाः मिलित्वा द्वात्रिंशच्छृङ्गाराश्चतुःषष्टिकलाः एवं षण्णवतिः । शतरङ्गिकाशयः 'द्वात्रिंशच्छृङ्गाराः क्रीडनकरूपाः, चतुःषष्टिखण्डानि कलारूपाणि, द्वौ क्रीडा-कर्तारौ, द्वौ द्रष्टारौ मिलित्वा शतं जातम् । व्याघ्राजाशयः विशतिरजानां सात्विकादिनवैकादशे-न्द्रियभेदेन । व्याघ्राश्वत्वारः पुष्टिमार्गीयधर्मार्थकाममोक्षरूपाः द्वौ चेद् धर्ममोक्षात्मकौ धर्ममोक्ष-रूपकोटेरर्थकामकोटेरुत्कृष्टत्वात् । द्वात्रिंशत्खण्डानि द्वात्रिंशच्छृङ्गाररूपाणि स्त्रीपुरुषभेदेन । एवं क्रीडारूपाण्यक्षादीनि भक्तेच्छया तत्र तत्र स्थिताभिर्गोपीभी राधया च । श्रीहरिरायजितां भावनया वेणुवेत्रे अपि श्रीहस्ते धर्तव्ये ।

मालासुतार्यं राजभोगसमर्पणमाहुः ततो राजभोगं समर्पयेच्छ्रीमदिति ।

श्रीमद्राधाङ्गसौगन्ध्यागरुधूपार्पणाद्विभो ।

भावात्मकृतसामग्र्यां भोगेच्छां प्रकटीकुरु ॥ ५७ ॥

अगरुधूपार्पणस्य विशेषणं पूर्ववच्चन्दनधूपार्पणस्योपलक्षकम् । तेन मुक्तः कृतसामग्रीको भवति । 'मुक्तोपस्यव्यपदेशात्' इति व्यामसूत्रात् । धूपार्पणेन मुक्तत्वं तु तत्त्वसागरे 'कृष्णा-गरुसमुत्पेन धूपेन श्रीधरालयम् । धूपयेद्वैष्णवो यस्तु स मुक्तो नरकार्णवा'दिति नृसिंहपरिचर्यायाम् । भोगेच्छाकारणत्वेन भक्तान्याङ्गातुरात्मनः । सामग्रीज्ञानार्थं विशेषणम् । भावात्मेति । भावो भक्तिर्दायस्वरूपा तस्यामात्मा स्वरूप यस्याः कृतसामग्र्याः । तथा च 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि' इति वाक्ये तत्पदार्थो भक्तत्वावच्छिन्नस्तत्र भक्तत्वं भक्तिरेव । तस्यामात्मा स्वरूपं यस्या इति सामग्र्या आत्मज्ञानविषयत्वम् । ततो जानातीच्छति यतत इति प्रणाख्या भोगेच्छां प्रकटीकुरुर्वित्युक्तम् ।

दीपः समर्पितो भोग्यरूपार्थान्नप्रदीपने ।

तद्दीपनेन चोद्दीप्तभावो भोजनमाचर ॥ ५८ ॥

प्रदीपने प्रकाशने । ननु सूर्यप्रभाप्रकाशितेऽन्ने प्रकाशकान्तरदीपापेक्षाभाव इति चेन्न । भूयः प्रकाशदेशान्मन्दिर आगच्छत आत्मनः प्रथममपेक्षाभावे गानाभावात् । उद्दीप्तभावस्तूदीप्तबेहः 'धूपदीपोपहाराणी'ति श्रीभागवतम् । नारदीयकल्पे तु 'सघृतं गुग्गुलं धूपं दीपं गोघृतदीपितम् । समस्तरिवाराय हृत्ये श्रद्धयार्पयेदि'त्युक्तम् ।

धूपदीपावुक्तवोगहाराण्याहुः व्रजेति ।

व्रजस्त्रीकरयुग्मात्मयज्ञे पात्रं च तन्मयम् ।

स्थापितं ते भोजनार्थं योग्यभोज्यान्नसम्भृतम् ॥ ५९ ॥

व्याख्यातम् ।

गुप्तरस इव प्रकारमाहुः स्वर्णेति ।

स्वर्णपात्रेषु दुग्धादि दध्याद्यं राजतेषु च ।

मृत्पात्रेषु रसालाद्यं भोज्यं सद्रोचकादिकम् ॥ ६० ॥

राजते नवनीतं च पात्रे हैमे सिता तथा ।

यथायोग्येषु पात्रेषु पायसत्रयञ्जनादिकम् ॥ ६१ ॥

सूपौदनं पोलिकादि तथासं च चतुर्विधम् ।

मुञ्च भावैकसंशुद्धं राधया सहितो हरे ॥ ६२ ॥

सद्रोचकं सन्धितं तदादिकमादिपदेन निम्बार्द्रकादि । यथायोग्यानि पात्राणि । श्रीपद्मपुराणे 'नैवेद्यपात्रं वक्ष्यामि केशवस्य महात्मनः । हैरण्यं राजते कांस्यं ताम्रं मृगमयमेव च । पालाशं पद्मपत्रं वा पात्रे विष्णोरतिप्रियम्' इति नृसिंहपरिचर्यायाम् । सूपशब्देन 'दारि' इत्युच्यते लोके तद्वाङ्मयम् । पोलिका रोच्यः आदिपदेन वाच्यः । चतुर्विधमन्नं भोज्यं तण्डुलादि, लेखं शिख-रिण्यादि, चोष्यमिक्षुदण्डादि, पेयं दुग्धादि । भावैकसंशुद्धं भक्त्यैकसंशुद्धं सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या । नवनीताप्रियजिस्वरूपे राधाशक्तिर्बाला वा भावनीया । अत्र भावना गुप्तरसे स्फुटैव, उपहाराणीत्यत्र

श्रीभागवते उपहारान्तरमुक्तम् । 'गुह्यायससर्पीषि शङ्कुल्यापूपमोदकान् । संयावद्विस्पूर्णांश्च नैवेद्यं सति कल्पये'दिति 'पच्यन्तां विविधाः पाका' इति श्रीगोवर्धनप्रसङ्गे ।

उपहारपदस्य नैवेद्यवदन्यत्रापि वृत्तेराहुः कम्ब्विति ।

कम्बुनाज्ञातिप्रियश्रीशङ्कान्तर्गतवारिणा ।

हृष्ट्यादिदोषाभावाय सामग्री प्रोक्षिता विभो ॥ ६३ ॥

कम्बुर्गलकस्तन्नाज्ञातिप्रियः श्रीशङ्को गलकशङ्खः । तथा च विश्वः 'कम्बुः शम्बूक-गजयोश्रीभागलकशङ्खयोः' अमरः 'कम्बुर्ना वलये शङ्खे' इति । कम्ब गतौ मृगत्वादिः । काम्यते वा । एकदेशान्वयः । तदन्तर्गतवारिणा । भक्तिमार्गानुसारेणाहुः हृष्ट्यादिदोषेति । आदिपदेनाज्ञा-तास्त्वृश्यतादोषः । तदुक्तं 'नाथं तडागजं वापि वापीकूपादिकं च यत् । गाङ्गेयं जायते सर्वं जलं शङ्खे कृतं सुत । त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि मम वै याज्ञया सुत । शङ्खे तानि वसन्तीह तस्मान्छङ्खो वरः स्युत' इति स्कान्दे । याज्ञयेत्यत्र इ आज्ञयेति छेदः । श्रीभागवते च 'अपां तत्त्वं दरवर' इति । यद्वा कम्बुर्वलयस्तन्नाज्ञा कम्बुना गृहीतः शङ्कोऽतिप्रियो भवति । राधाशृङ्गारत्वाद्दलयस्यान्यत्पूर्ववत् । प्रायपाठाद् यथावजस्त्रीकरयुग्मात्मेति यद्यविशेषणम् । 'त्रजस्त्रीकरयुग्मात्तयत्रे पात्रं च तन्मयमि'त्यत्र तथा च वलयस्मारककम्बुपदेन शङ्खाभिधानादतं पिबन्ताविति श्रुत्युक्तस्वरूपासृतपानात्मकः शङ्खभोग आत्मनः सिद्धः । न च शङ्खभोगो न वलयभोग इति वाच्यम् । सर्वं सर्वमयमिति श्रुतेर्वलयस्य स्मारकपदप्रयोगे वलयस्यापि भोगाङ्गीकारात् ।

प्रक्षिप्तेति ।

प्रक्षिप्ता तुलसी तेऽतिप्रियगन्धा तथैव च ।

क्रूरुष्व तेनातितुष्टो भोजनं व्रजनायक ॥ ६४ ॥

अतिप्रियेति । तदुक्तं ब्रह्मपुराणे 'तुलसीदलगन्धेन मालतीकुसुमेन च । कपिलाक्षीर-दानेन सद्यस्तुष्यति केशवः' इति । राजसत्त्वेऽपि पुराणस्य समबलत्वं समोत्कर्षः समं प्रामाण्यं परेषाम् । अस्माकं बलोल्लर्षयोः साम्यासहनमिति बहिर्मुखमुखध्वंसे कल्याणरायाः । तथैव भक्ताराधासङ्गान्धत्वे-नैवेत्यर्थः । तेनातितुष्ट इत्यत्रातिपदम् । अतिप्रियेत्यत्रापि । वाक्यं तु गरुडपुराणे भगवतः 'तुलसीं प्राप्य यो नित्यं न करोति ममाचनम् । तस्य तां प्रतिगृह्णामि न पूजां शतवार्षिकीम्' इति । इदं सात्त्विकं पुराणम् । 'भवत्या तुतोष भगवान् गजसूयपाय' इति श्रीभागवतम् । एवमुक्तं श्रीगरुडपुराणे 'तुलसीदलसम्भिन्नं हरेर्यच्छति यः सदा । नैवेद्य'मित्यादि 'भाषणं मा त्यजे'ति श्लोकचतुष्टयेन समर्पये-दिति मूलम् । अत्रार्चपात्रेऽर्घ्यं ज्ञेयः । विष्णुरहस्ये 'सौवर्णे रम्यपात्रे तु मणिरत्नविभूषिते । तोयाघट्टाङ्गसम्पूर्णं स्वाग्निनेऽर्घ्यं ददामि ते' इति वचनात् । यद्यपि नृसिंहपरिचर्यायां मानसीसेवायां पादप्रक्षालनानन्तरमनेन वाक्येनार्घं उक्तस्तथा स्कान्दे 'अर्घ्यं दद्यात्ततो वत्स पाद्यमाचमनीयकमिति पादप्रक्षालनमर्थानन्तरमुक्तं तथापि प्रयोगभेदात्पाठक्रममनाद्यत् क्रमान्तरेण नैवेद्यसमये बोध्यः । तदित्यम् । 'अर्घ्योपहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि' । 'गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ।' 'मूर्त्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ।' इत्येकादशसप्तविंशत्याध्याये भगवदुपदेशः । तत्र भक्त्या क्रमेण नैवेद्यसमयेऽर्घ्यः । एकत्र सिद्धः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि तथेत्यदिदेशस्य निर्बलत्वाद्भगवदुपदेशा-पेक्षया । पूर्वतन्त्रे पञ्चमस्यैकादशाधिकरणे आचार्येषु द्यात्मभेदबुद्धेर्महापराधेषु गणनं यद्यपि तथापि लौकिकदृष्टिमतो भक्त्येच्छया पादुकाजितामुत्सवेऽपि नित्यदा वा राजभोगसमर्पणं पादुकाजितामाहुः ततः श्रीमदाचार्येषु समर्पयेदिति ।

कीर्तनभक्तिमपि तदर्थमाहुः स्वार्थेति ।

स्वार्थप्रकटसेवाख्यमार्गे श्रीबल्लभप्रभो ।

निवेदितस्य मे भोज्यं खास्ये कुरु हुताशन ॥ ६५ ॥

'मायावादतमोनिरस्य मधुभिस्सेवाख्यवर्त्माद्भुतं, श्रीमद्भोक्तुलनाथसङ्गमसुधासंप्रापकं तत्क्षणात् । दुःप्रापं प्रकटं चकार कर्षणारागातिसंभोहनः स श्रीबल्लभमानुरुहसति यः श्रीबल्लवीशान्तर' इति स्फुरत्कृष्णप्रेमासृतास्वार्थप्रकटसेवाख्यमार्गः । भोज्यं चतुर्विधात् । हुताशन कृष्णवर्त्मन् । पानीयपात्रमपि ज्ञेयम् । घटिकाद्वयं भोगं प्रस्थाप्यानन्तरं कृत्यमाहुः । ततो यथावदाचमनं कारयित्वा ताम्बूलमर्पयेदिति, अत्र मुखवस्त्रं द्रष्टव्यम् । 'मुखवासं सुरभिमत्ताम्बूलाद्यम्' इति श्रीभागवतवाक्यात् । आचार्येभ्योऽपीति ज्ञेयम् । किञ्च 'भद्रक्तपूजाम्यधिके'ति वाक्यात्सम्बालकपादुकाजितामपि ताम्बूलान्तं समर्पयेत् । 'पितृदेवो भवे'ति श्रुत्या भक्तः स्वपितृभ्योऽपि पादुकाजिद्वारा योग्यं कुर्यात् । 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इति श्रुतिः ।

ततो भोजनपात्रस्थले मार्जनं कुर्याद् गोकुलेऽपि ।

गोकुलेश तद्योच्छिष्टेष्टलेपात्पात्रप्रमार्जनात् ।

स्वत्सेवान्तरधर्मेण रतिर्भवति निश्चला ॥ ६६ ॥

भोजनपात्राणां मार्जनं च कुर्याद् इति पाक्षिकार्थः । श्लोके उच्छिष्टेष्टलेपालोक्य पात्राणां प्रकृष्टं मृदादिभिर्मार्जनं तस्मात् । स्वत्सेवातोऽन्यधर्माः पात्रप्रमार्जनादयस्तेषु । रतिः पूर्वं वर्तते सेवान्तरधर्मेणैवपि प्रवृत्तत्वात् । इदानीं नित्यदा करणाभिश्चला । अन्तरपदं मध्यवाचि वा । ततश्चरणयोस्तुलसीं समर्पयेत् प्रियेति ।

प्रियाङ्गमन्धसुरभितुलसीं ते पदप्रियाम् ।

समर्पयामि मे देहि हरे देहमलौकिकम् ॥ ६७ ॥

तुलसीविशेषणं पूर्ववत् । पदप्रियाम् 'कश्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये' इति वाक्यात् । देहमिति । तुलस्याः पदसमर्पिताया अलौकिकदेहदातृत्वं पद्मपुराणे 'सुकृती दुःकृती चापि तुलस्या योऽर्चयेद्भरिम् । देहान्ते दिव्ययानेन विष्णुमकैः स नीयत' इति । देहमन्तरा यानेन नयनासंभवात् ।

प्रसीदेति ।

प्रसीद् पूजितो भक्त्या तुलस्या प्रियगन्धपा ।

निःकिञ्चनाधीश नान्यत्कर्तुं शक्नोमि सर्वथा ॥ ६८ ॥

तुलस्याः गोविन्दचरणप्रियत्वात् प्रसीद् । अन्यत्युष्णमालादि । सर्वथा सर्वैः प्रकारैः देहेन मृत्येनाज्ञया वा । तादृशदेहवान् मृत्यवानाज्ञावांश्च नास्मीति देहादीनां प्रकारता । ननु निःकिञ्चनस्य कथं सेवेति चेन्न । यतो निःकिञ्चनानामधीश 'धर्मोऽन्यज्य यः सर्वान्मां भजेत्स च सत्तम' इत्येकादशस्कन्धदशमेऽध्याये । 'न्यासादेशु धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चनाधिक्रियोक्ते'ति । ननु गीता कुतो नोक्ता 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'त्यादिः । गीतायाः प्रकृतित्वाभावात् । एकादशस्कन्धायस्य उद्युत्समार्गस्यैकोनविंशत्याध्यायोक्तस्य प्रकृतित्वात् । धनी पुष्पमालाः पुष्पमण्डपादिकं कुर्यादेव । घटिका-समर्पणमपि । ततः पादपीठादिकमर्पयेत् । आदिपदेन जलपात्रं मुखवस्त्रं दर्पणमुष्णकालमेन्वृत्तान्तरं जलपूर्णं चन्दनपात्रं च व्यजनानि च सिंहासने उभयपार्श्वयोः स्थापनीयानि । सिंहासनसङ्घात्परं

दन्तादिक्रीडनकानि तष्टी भूमितूलिका विष्वगास्तरणं शीतकाले, उष्णकाले लम्बतूलिकास्तरणं तूलासन-
द्वयं पीठकशय्याप्रयोः । वक्रवेत्रद्वयं वा चतुष्टयं वा त्रयं वा कन्दुकद्वयं तच्चतुष्टयं तत्रयं वा ।
'मुखवासं सुरभिमसाम्बूलाद्य'मिति वाक्यीयाद्यपदात् ।

पादपीठसमर्पणे कीर्तनमाहुः हृदिति ।

हृत्पङ्कजात्मकं स्वर्णपादपीठं समर्पितम् ।

पादौ घृत्वा गोकुलेश हस्तापं समपाकुरु ॥ ६९ ॥

सर्वात्मभाववद्भक्तानां हृत्पङ्कजात्मकं सर्वात्मभावस्य भगवत्कृतदानसाध्यत्वेनाक्षरात्मकं
हृत्पत्रं वा भक्तसाधारणम् । पादयोः पङ्कजत्वेन तापापाकरणसामर्थ्यात्तापमपाकुरु । पादौ घृत्तौ
पादपीठे हृद्भक्तनिष्ठं तस्य तापापाकरणं 'सर्वतः पाणिपादं त'दिति वाक्यात्पादयोः सर्वत्र सत्त्वात् ।

ततः आरात्रिकं कृत्वा विज्ञापयेद् भक्तार्थेति ।

भक्तार्थाविर्भूतरूपं कृष्णं ते चरणाब्जयोः ।

सर्वाशुभविनाशार्थं न्यस्तः पुष्पाञ्जलिः शुभः ॥ ७० ॥

घृत्वास्तुतौ 'भक्तियोगवितानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः' 'भक्त्या भुव उदारो भारहारात्रिरु-
पित' इत्यादौ भक्तानामर्थे अविर्भूतरूपः कृष्णस्तस्य संशोधनम् । पुष्पाञ्जलिरिति भक्ति-
मार्गानुसारेण मुख्या उपचारा इति पुष्पाणां मालास्ता उक्ताः अञ्जलिश्चेत्करोतु कश्चित् कदाचित् ।

अनेन पुष्पाञ्जलिमर्पयेद् अमङ्गलेति ।

अमङ्गलनिवृत्त्यर्थं मङ्गलावाप्तये तथा ।

कृतभारात्रिकं तेन प्रसीद पुरुषोत्तम ॥ ७१ ॥

व्याकृतम् । अनुक्तमपि नमस्कारमनेन कुर्यात् । 'प्रसीद भगवन्निति वन्देत् दण्डवदि'ति
वाक्यात् । अत्रापि प्रसीद पुरुषोत्तमेति दर्शनात् । तदुक्तं गरुडपुराणे 'अक्षं चतुर्विधं पुण्यं गुणाढ्यं
चामृतोपमम् । निष्पन्नं स्वर्गदे यद्वा श्रद्धया कल्पयेद्धरेः । नैवेद्यं परया भक्त्या घण्टायैर्जयनिःस्वनैः ।
नीराजनैश्चाद्दरुहः पश्चादापोशनं बुधः । अथ मुक्तवते दत्त्वा जनैः कर्पूरवासितैः । आचमनं च ताम्बूलं
चन्दनैः करमार्जनम् । पुष्पाञ्जलिं ततः कुर्याद् भक्त्यादर्शं प्रदर्शयेत् । नीराजनं ततः कार्यं कार्यैः
विभवे सती'ति ।

नक्तंशयनार्थं विज्ञापनस्य वक्ष्यमाणत्वान् मध्याह्ने शयनार्थं विजिज्ञुः पञ्चभिः प्रीत इत्यादिभिः ।

प्रीतो देहि स्वदास्यं मे पुरुषार्थात्मकं स्वतः ।

त्वदास्यसिद्धौ दासानां न किञ्चिद्विशिष्यते ॥ ७२ ॥

'तं मजेदि'ति गोपालतापिनीये दास्यमुक्तं तस्य साधनसाध्यत्वेन दानमनुपपन्नमत उक्तं
स्वस्यात्मनो दास्यं सर्वात्मभावरूपं निरोधलक्षणग्रन्थोक्तं तनु साधनासाध्यं 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्
स्म न भक्तियोगम्' 'प्रदानवदेव तदुक्त'मित्यतिरूपवाक्याभ्याम् । 'पुरुषभूषणं देहि दास्यम्' इति
पञ्चाध्याय्याम् । अतः प्रीतो देहि स्वदास्यं मे इत्युक्तम् । पुरुषार्थात्मकमिति । तच्च 'अतस्त्वितर-
श्यायो लिङ्गाच्च' 'तद्भूतस्य तु नातद्भवो जैमिनेरपि नियमात्प्रप्राभावेभ्य' इति सूत्रद्वये साधना-
ध्यायोपान्त्य उपपादितम् । श्रीभागवते च 'तथैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि
स्वयमासादितमपि नो एवाद्वियन्ते भगवदीयत्वेन परिसमाप्तसर्वाथो' इति । अत एवोत्तरार्थं
'सालोक्यसाधिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इति च

वाक्यम् । 'भक्तिमार्गं हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि । कामस्तस्य दिक्ष्वैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् भुवम्'
इत्याचार्यकारिका ।

एतावदिति ।

एतावदेव विज्ञाप्यं सर्वथा सर्वदेव मे ।

त्वमीश्वरोसीङ्कितं ते धुद्रोऽहं न विदाभि हि ॥ ७३ ॥

इङ्किताज्ञाने सेवा न संभवति । भगवदीयत्वस्य च पुष्टिमार्गीयमोक्षत्वादेतावदेव विज्ञा-
प्यमन्यत्साधनसाध्यमिति । विप्राय गां ददातीत्यत्र स्वाधुमतिप्रकाशनवत् । विज्ञापनद्वारा स्वाधु-
मतिः प्रकाशितात्र । गोवत् सर्वात्मभावदास्यं दास्यतीति सर्वथा सर्वेषु साधनसाध्यतदितरेषु प्रकारेषु ।
सर्वदा सर्वकालेषु आपत्संपत्स्वपि । तत्तत्सेवाकाल इङ्कितं 'इङ्कितं गतिचेष्टयोः' इति विश्वात् ।
चेष्टायाः कालत्वात् । धुद्रोऽल्पेण इति यावत् । 'धुद्रः स्यादधमकूरकृपणात्वेषु वाच्यवत्'
इति विश्वात् । विदामीति विदधातुर्लोभे तुदाद्युभयपदी लभ इत्यर्थः । तादृशकाललाभफलं
परामीति परस्मैपदम् ।

तुष्टुः स्तुतिः परमकारुणिक इति ।

परमकारुणिको न भवत्परः परमशोच्यतमो नहि मत्परः ।

इति विचिन्त्य सदा मयि किङ्करे घट्टुचितं व्रजनाथ तथा चर ॥ ७४ ॥

पूर्वश्लोकसङ्कतिस्तु प्रसादयुक्तो हि ददातीति प्रसादानन्तरं स्वदासदानविज्ञापनम् । स्वदास्ये
इङ्कितलाभः कारणमितीङ्कितलाभविज्ञापनं तदनन्तरं वैराग्योत्कर्षात्स्वसिन्धुचिकीर्षितमधीष्टीक्रियते
'निवेदितात्मा विचिकीर्षितो म' इति वाक्यात् ।

किञ्च कियानिति ।

कियान्पूर्वं जीवस्तदुचितकृतिश्चापि कियती

भवान् यत्सापेक्षो निजचरणदास्ये बत भवेत् ।

अतः स्वात्मानं खं निरुपममहत्त्वं व्रजपते

समीक्ष्यास्मन्नेत्रे शिशिरय निजास्याम्बुजरसैः ॥ ७५ ॥

कियान्पूर्वं जीवोऽणुरित्यर्थः । अणुचितकृतिश्चापि कियत्यणुवीत्यर्थः । यस्याः कृतेः
सापेक्षो यत्सापेक्षो भवान् साधनसापेक्षो बत इति खेदे भवेत् । मर्यादायां साधनसापेक्षोऽहं
भवाम्येवेत्यत आहुर्निजचरणदास्य इति लक्ष्मीवद्वेदित्यर्थः । चरणदास्ये लक्ष्म्या अधिकारात् ।
पुष्टिफले दास्य इति चरणपदेन ज्ञाप्यते । व्रजभक्त्यायेन यजतः फलं नित्यलीलायां प्रवेश इत्यर्थः ।
अतस्तादृशफलानुरूपसाधनाभावात् स्वात्मानं निःसाधनजनोद्धारकं 'अह्वयापृतमि'ति वाक्यात् ।
खं महत्त्वं जीवन्मुक्तेऽप्यणुत्वसमानाधिकरणमतोऽनुग्रहमात्रात् तन्निष्ठाकृतिरपि महती पुष्टिफलो-
पयुक्ता तु निरुपममहती निरुपममहत्त्वं च स्वम् । निजास्यमेवाम्बुजं तस्य रसैरास्वादनैः
तदनुभवैरित्यर्थः । विरहस्य 'सेवित' इत्यनेन वक्ष्यमाणत्वाद्दिरहते नेत्रे शिशिरयेत्यधीष्टम्,
अधीष्टे लोडिति ।

किमित्यधीष्टीक्रियते पुष्टौ प्रवृत्त्यर्थं साधनानां विद्यमानत्वान्मर्यादायां स्थितेरुत्कर्षाद्यथाशास्त्रं
साधनानि विधीयन्तामित्याशङ्कमानं प्रत्याहुर्भगवन्तं स्वदोषानिति ।

स्वदोषान् जानामि स्वकृतिविहितैः साधनशतै-

रभेद्यास्त्यक्तुं चापदुतरमना यद्यपि विभो ।

तथापि श्रीगोपीजनपदपरागाञ्चितशिरा-
स्वदीयोऽस्मीति श्रीव्रजनृप न शोचामि मुदितः ॥ ७६ ॥

स्वदोषा 'गुणदोषौ शुभाशुभा'विति वाक्यादशुभाः संशोध्या अशुचित्वषादिसुख्यादयस्तान् ।
ते च जलकूपीटयोनिश्रीभागवतानुसन्धानैः साधनैः संशोध्यन्तां इति चेत्त्राहुः साधनानां शर्तं यत्र
तादृशैः स्वकृतिविहितैवेस्तुभिरभेद्यान् भेतुमयोग्यान् आसमन्तात् पुष्टिफलाय पटुतरं साधनं
यथा भवति तथा तानभेद्यांस्तु च न शक्नोमि इति शेषः । ननु पुष्टावत्यन्तानुग्रहेतरसाधना-
साध्यत्वात्साधनोक्तिर्विद्वेति चेन्न । 'संयोगे वियोगवृत्तिः प्रेमे'ति शाण्डिल्यसूत्रभाष्ये वियोगे
संयोगवृत्तिरपि गृहीतेति तां वृत्तिमादाय दोषाभावात् । अपटुतरो ह्यनापद्यपीति वा पाठः । तर्हि
शोच्य दोषसत्त्वे भक्त्यभावादिति चेद् 'एतद् ह वा व न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं
पापमकरवमि'ति श्रुतेर्भ्रष्टविदं शोको न तपतीत्याहुः तथापीति । श्रीगोपीजना आविष्ठाकलाः परि-
दृश्यमानाः तासामचतुरश्रीगोपीनां पदपरागो धूलिस्तत्पूजितशिराः गोप्यो मेघवद्वर्षन्ति ह्यनस-
हसितलीलेन शिरोधृतं रजोऽतस्त्वदीयोऽस्मीत्यनुमाय पुष्टिर्भ्यस्तीति दोषाणां भक्त्यप्रतिबन्धकत्वं
चाज्ञाय प्रमुदितो न शोचामि अतः संबोधनं व्रजनृपेति व्रजस्य निःसाधनस्य नृप ।

एवम्, 'आन्तरं तु परं फल'मिति 'सेवित' इति श्लोके वक्ष्यमाणपरफलार्थमपि विज्ञाप्य प्राप्त-
श्लोके मध्याह्नशयनगोचरणेधीष्टेकार्थुः प्रियेति ।

मियासङ्केतकुञ्जीयवृक्षमूलेषु पल्लवैः ।

कृतेषु भावतल्पेषु क्रीडन् गोचरणं कुरु ॥ ७७ ॥

'मुदा चन्द्रावल्याः कुसुमशयनीयादि रचितु'मित्यादि श्रीगोस्वामिग्रन्थे । भावतल्पेऽपि
षड्वचनेनेदानीन्तनकृतशय्यामन्दिरतल्पसङ्ग्रहः । कृतप्राज्ञेनमन्दिरवस्त्रशय्यामन्दिरं शय्यायाः कृतसेवाया
यथाकालं तदुपयोच्छादिताया दक्षिणपार्श्वे शय्याभोगं तदभोदेशे जलपात्रं च निधाय वामपार्श्वे
ताम्बूलतट्टीमालाव्यजनानि चतुष्पट्टिका स्रक्षमसिंहासनं च स्थापयेत् । 'मुखवासं सुरभित्ताम्बूला-
मिति वाक्ये आदिपदात् । भावनात्रया श्रीहरिराधाणाम् । ततश्च 'इति शेषां मया दत्तां शिरस्वाधाय
सादर' इति वाक्योक्तं मालाताम्बूलादि ग्राह्यम् । पुष्टिमार्गीयं विलासं हृदि स्वाधीष्टमकार्षुः ।

सेवित इति ।

सेवितोऽत्र हरे रन्तुं गृहे मद्दद्यात्मके ।

निमीलयामि दृग्द्वारं विलसैकान्तसधनि ॥ ७८ ॥

'तं काचिन्नेत्रन्ध्रेण हृदिकृत्ये'ति फलप्रकरणे वाक्यम् ।

ततो वस्त्रप्रक्षालनादिकं कुर्याद् वस्त्रेति ।

वस्त्रप्रक्षालनाद्दुष्टसंसर्गजमनोमलम् ।

महत्सेवायाधरूपं मम कृष्ण निवारय ॥ ७९ ॥

'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण मक्तियोगेन यजेत पुरुषं पर'मिति
वाक्याद् दुष्टसंसर्गजमनोमलनिवृत्तिकामनया वस्त्रप्रक्षालनं 'स्वयं परिचरेद्भक्त्या वस्त्रप्रक्षालना-
दिभि' रिति सेवाप्रकरणे निबन्धस्य । आदिपदेन पुस्तकावलोकनमहाप्रसादग्रहणशयनव्यवहारादि ।
सायंसेवामाहुः । ततश्चतुर्थग्रहरे प्रसुप्तं प्रबोध्य फलादिकमर्पयेदिति । षड्वट्टिकात्मके दिने
उर्वरिते प्रसुप्तं मगवन्तं प्रबोध्य गावो गोपाश्च व्रजे जिगमिषवोऽतः शीघ्रं जागृहीत्यादिभावनोक्त-
प्रकारेण व्रजभक्तशब्दानुकरणेन प्रबोध्य फलमूलकन्दादिकमर्पयेदित्यर्थः ।

समर्पणे कीर्तनभक्तिमाहुर्यथेति ।

यथा गोवर्धने भुक्तं फलमूलादिकं हरे ।

रामेण सखिभिः सार्धं पुलिन्दीभिः समर्पितम् ॥ ८० ॥

तथा फलादिकं सर्वं सुहृद् भावार्पितं मया ।

पुलिन्दीवद्भावदानात् सार्धकं जन्म मे कुरु ॥ ८१ ॥

गोवर्धने श्रीगोवर्धनसमीपे 'वटे गावः सुशेरते' इतिवत्सामीप्ये समी । पुलिन्दीभिरिति ।
'पूर्णाः पुलिन्द्य' इत्यत्र व्याख्याने ता अप्युपभुक्ता इत्युक्त्या सान्निध्यात् । 'हन्तायमत्रि'रित्यत्र कन्-
फलमूलादिकं पुलिन्दीभिराहृतं श्रीगोवर्धने स्थितं तदादिभिः समर्पितं प्रकरणाच्च 'उभयाकाङ्क्षा द्वि
प्रकरणम्' प्रमाणमिति पूर्वतन्प्रकाराः । पुलिन्दीनां पूर्णत्वेन फलाद्याहायीकाङ्क्षा फलादीनामाहारकाङ्क्षा
एवं च साहचर्यादुभयोरङ्गाङ्गिभावः । भावार्पितमित्यत्र भावः क इत्यपेक्षायामाहुः पुलिन्दी-
वदिति । पुलिन्दीनां यथा भावो दत्तः 'पूर्णाः पुलिन्द्य' इत्यत्रोक्तः स्मररूपः स तुभ्यं श्रीराधा-
श्रीसखीभ्यां मन्थरगत्या निकुञ्जे नीताय व्रजमत्तैर्दृष्टाय व्रजतरुणीकण्ठे हस्तायोत्थापनभोगं समर्प्य यतो
मम जात इति । एतावत्पर्यन्तं जन्म निष्फलं गृहे त्वां सेवमानस्य वने गमनाभावादपूर्णेक्षणमिदानीं तु
वनभावनाया अत्र मन्दिर एव कृतत्वात् कुङ्कुमादि मुखदौ तिलकादिरूपेण लेपयित्वापस्थितस्य स्मरण-
रुक्मनरूपं तादृशकुङ्कुमाद्यर्थेन सह वर्तमानं सार्धकम् । ननु कुङ्कुममिदानींतानां कुङ्कुमतिलकरूपं
वैष्णवलङ्गं न तु तच्छभनाय लक्ष्मीप्रवेशद्वारमिति चेन्न । भावशमनार्थं धारणं भाववतामविरुद्धमिति ।
एतादृशं सार्धकं मे मम जन्म कुरु । अत्र किं मानमिति चेन्न । 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं
वाऽपि पूजयेत्' इति निबन्धः श्रीभागवतं च 'अथाह्वयेदि'ति । वाराहेपि षोडशे च 'ततः सायं प्रकुर्वीत
मम पूजां तु भक्तितः । नानाविधानि खाद्यानि फलानि विविधानि च । नवनीतं दधि क्षीरं घनमाष्यं
सुगन्धितम् । विकारानैश्वर्वापि शर्करादीन् स्वशक्तितः । निवेद्य मां सताम्बूलं दक्षिणां च स्वशक्तितः ।
ततो नीराजयित्वा तु प्रणम्यापि च भक्तित' इति । अत्र व्यवस्था श्रीमदाचार्योपामाज्ञया विधीयते ।
'सेवाकृतिगुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छये'ति नवरत्नात् । विष्णुरहस्ये च 'अविज्ञाय विधानोक्तां
हरिपूजाविधिक्रियाम् । कुर्वन्भक्त्या समाप्नोति शतभागं विधानत' इति । शतांशं फलं शतभागम् । तत्र
भगवतांश्याचार्याणां कुम्भनदासादीन् पृच्छतः प्रत्याज्ञा । नानाविधानि खाद्यानि शयनभोगे, उत्पापन-
समये तेषां दुःकरत्वाच्च । अतः फलानि विविधानि कन्दमूलफलानि समर्पणीयानि । विकारानैश्वर्वा-
श्चापि शर्करादीनपि, सन्ध्याभोगे शीतलपानकरसादिकं नार्पयेदित्याज्ञया उत्पापने समर्पणीयम् । जल-
पात्रं पुनर्भर्तव्यं तदाज्ञात एव । भावनाप्यत्रास्ति महानुभावानाम् । ननु पुराणपाठकरो बलीयानाचार्यो-
पदेशत इति पाठकरोऽस्तु हीति चेन्न । पुराणस्याप्राप्तविधिनापि चारितार्थ्यं श्याचार्योपदेशस्यानुष्ठान-
स्मारणायैवाभिव्यक्तस्य बाधनायासामर्थ्यात् । तदिदं पूर्वतन्ने पञ्चमस्य नवमाधिकरणे चिन्तितम् ।

ततो षट्टिकानन्तरं भोगं विसृज्याचमनमुखं वस्त्रताम्बूलमालोत्थितवेणुवेप्रचतुष्पाद्यः समर्प्याः ।
तदनन्तरं कृत्यमाहुः । ततो व्रज आगच्छन्तं विज्ञापयेद् बलभद्रावय इति ।

बलभद्रादयो गोपा गावश्चाग्रे च पृष्ठतः ।

गोपिकावेष्टितो मध्ये रणक्षेणुर्ब्रजागमात् ॥ ८२ ॥

दिवा विरहजं तापं व्रजस्थानां यथाहृतम् ।

तथा मल्लोचने नाथ शिशिरीकुरु संततम् ॥ ८३ ॥

द्रागेव श्रीगोवर्धननगे वेणुं कण्ठास्त्रस्तदाज्ञया बलभद्रादयो बलभद्रसंघट्टिनो गोपाः गावश्चाग्रे तत्रापि गावः पृष्ठतः । च पुनरात्मनो गोपाः गवां पृष्ठतः सर्वासां स्वयमात्मा कमलहस्त एकाकी वनं दृष्ट्वा स्वगोपेष्वगल वने दिदक्षुमक्तदर्शनार्थं सार्थं त्यक्त्वाऽग्रेऽग्रे गत्वा भक्तान् रहस्यस्थलं प्रदर्श्य ताभिर्गोपिकाभिर्वेष्टितो मध्ये रणद्वेषुर्बलभद्रादिसर्वसहितो ब्रजस्थानागमत् दिवा विरहजं तापं ब्रजस्थानां गोगोपिकानां गृहस्थितानां गोधूर्लि दृष्ट्वा निकलहस्तानामनेकस्त्राहस्तानां जलपात्रचतुष्पादीमुखवस्त्रताम्बूलामरणाचमनपात्रवस्त्रहस्तानां परस्परं दत्तकरतालकानां सन्ध्याभोगस्त्रीकारेण हृतवान् । तापपदस्य नमुंसकत्वे तथैव । तथा नामैवंप्रकारेण मल्लोचने शिशिरीकुरु सन्ततं निरन्तरम् । ततो यत्किञ्चिन्मोदकादि समर्पयेत् । ततो विज्ञापनानन्तरं मोदकादीत्यत्रादिपदेन पूर्वोक्तं ब्रजभक्तहस्तगतं सर्वम् ।

कीर्तनमाहुः श्रीति ।

श्रीमन्नन्दयशोदादिप्रेम्णा भुक्तं ब्रजे यथा ।

भोजनं कुरु गोपीश तथा प्रेमार्पितं हरे ॥ ८४ ॥

अत्र भावनानुरोधेनायां च्छ्रीमन्नन्दयशोदे आदी यासां ब्रजभक्तानामित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुधीहिः । अत एव गोपीशेति संबोधनम् । तत आरात्रिकं कृत्वा शृङ्गारोत्तारणार्थं विज्ञाप्योत्तार्य पयःफेनं पयो वा समर्पयेत् । ततो ब्रजभक्तानीतत्वेन स्यूताचमनमुखवस्त्रताम्बूलसमर्पणानन्तरं सखी-
भोधितपुत्रागमनत्यक्तपुत्रविरह्या स्वकृतमालार्पितया स्वगृहे नीतपुत्रया पुत्रसंछादितोत्तरीयया कृत-
रात्रिकं स्मृत्यारात्रिकं कृत्वा उत्तार्येति ।

अत्र कीर्तनमाहुः राधिकेति ।

राधिकाश्लेषान्तरायभूषणोत्तारणात् प्रभो ।

निशि तत्कृतशृङ्गाराङ्गीकारार्थं प्रसीद मे ॥ ८५ ॥

शृङ्गारोत्तारणं तु पूर्वं मुकुटोत्तारणम्, पश्चात् काञ्चीपदवाच्यकटिचक्रोत्तारणम्, एवं क्रमेण यशोदया कृतमेव । तत्कृतशृङ्गार उष्णीषादितिलकतन्मुक्ताफलावलिमुगलोरीयतमुक्तामालानासा-
भूषणचिबुकाभरणकर्णफूलकण्ठमालाकराभरणनूपुरमुद्रिकानखभूषणनीवीरचितः । पयःफेनमित्यादि ।

अत्र कीर्तनमाहुः ब्रजेति ।

ब्रजे खानन्दतो दोहं बलेन सह गोपकैः ।

कृत्वा पीतं पयःफेनं तथा पिब ब्रजाधिप ॥ ८६ ॥

ब्रजे गोस्थाने खानन्दतः 'आनन्दमु'गिति श्रुतेः, पीतमित्यनेनान्वयि, स्वयं दोहं कृत्वा गोपकैः शृङ्गारं रात्र्युचितं कृत्वा वनसंबन्धिनीं चार्तां पृच्छन्त्या यशोदाया अभिमुखे स्थितात्मभगवन्तं धारोष्णदुग्धपानार्थं विज्ञापकैर्गोपकैस्तथानन्दद्वारकत्वेन प्रकारेण पिब । ननु नाहं पिबामि, आनन्दः पास्यतीति, तत्राहुः ब्रजाधिपेति । ब्रजस्य स्त्रीकृतस्याधिप, अहमपि स्त्रीकृतः, अतः पिब । आचमनमुखवस्त्रताम्बूलानि ततः समर्पणीयानि । अग्निमां व्यवस्थामाहुः । तमोदीपं निवेश निशि दुग्धान्नादि समर्थं शयनार्थं विज्ञाप्य शयनं कारयेदिति ।

तमोदीपनिवेशने कीर्तनमाहुः वासरीयेति ।

वासरीयवियोगार्तराधिकास्यावलोकने ।

दीपार्पणाद्गोपिकेश प्रसीद करुणानिधे ॥ ८७ ॥

वासरीयवियोगार्तराधिकास्यावलोकने । 'अस्यैव चोपपत्तेरूपे'ति व्याससूत्रात् । राधिकाया वियोगस्य ब्रजगमात् परिहृतत्वाच्च । तमोदीपस्य यत्किञ्चिद्विषयसत्त्वेऽर्पणस्य श्रीमदा-
चार्याज्ञाविषयत्वेन निशीत्युत्तरान्वयि फक्किकायाम् ।

निशि दुग्धान्नादिसमर्पणे कीर्तनमाहुर्दुग्धेति ।

दुग्धान्नादि यथा मुक्तं रोहिण्युपहृतं निशि ।

ब्रजनायक भोक्तव्यं तथैव हि मदर्पितम् ॥ ८८ ॥

वाराहोयवाक्येपि विविधानि खाद्यानि भक्तसूपशाकसन्धितलवणपर्पटरूपाणि शयनभोगे वारा-
हीयवाक्ये 'दधि क्षीरं घनमाज्यं सुगन्धितमि'त्यस्मिन् दधि तक्रलक्षकं कथितचणकचूर्णादिमिश्रित
तक्रलक्षकं च 'कडी'ति लोके 'क्षीरं घनमाज्यं च सुगन्धितम् । एलाकर्पूरयुतं च पेयं तदि'ति
गुत्तरसात् । क्षीरं च सुगन्धितम् । तत्र दुग्धान्नं यशोदया प्रथमं भोजितमिति दुग्धान्नादीत्युक्तम् ।
रोहिण्युपहृतमिति । गोष्ठे गते भगवति यशोदा भक्तसूपादिकं शयनभोगार्थमपचत्, ततो रोहिणीं
पाकरक्षार्थं निरूप्य गोपगोपबालगोपीः पृष्ट्वा गोष्ठं गत्वा भगवन्तमुक्तवती, भोज्यं सम्पाद्य मयागतम्,
स्त्रियो गृहे गायन्ति, रोहिणी भोजनकालं प्रतीक्षमाणास्ते इति, ततो भगवन्तमुत्सङ्गे कृत्वा, रामं
चैकहस्तेन गृहीत्वा गृहे नीतवती, तदनन्तरं बलं दक्षिणभागे उपवेश्य स्वयं वामभागे उपविश,
सखी जलपात्रं वामभागेऽधरत्, रोहिणीजित्तु ज्ञात्वा महास्थालीमानीय भगवदग्रे धृतवती, बलं
दृष्ट्वा दृष्टवती, तद् रोहिण्युपहृतं तथैव पूर्वोक्तरीत्या रोहिण्युपहृतभोक्तृत्वेन । यशोदाजिद्
दुग्धौदनं प्रथममलाग्रहेण मुखेऽकरोत् । धूपदीपाग्ः । यथादृष्टं कर्तव्यम् । ततो षट्कानन्तरं
कृत्यमाहुः । ततस्ताम्बूलचमनादिकं विधाय, आरात्रिकं कृत्वा, शयनार्थं विज्ञाप्य, शयनं कारये-
दिति । आदिपदेन मुखवस्त्रमालाचन्दनस्थलपद्मजलानि, गुलाबजलमिति लोके । 'अयार्हेयेदि'ति
वाक्यात् । 'उपगायन्ति'ति स्मरणाद् गानं स्वस्य अन्यस्य वा शयनार्थमित्यादिपूर्वोक्तानुवादः ।

शयनार्थं विज्ञापने कीर्तनमाहुः 'गुणन्नि'ति स्मरणाद् भावेति ।

भावात्मकास्सद्दृश्यपत्यङ्के शेषरूपके ।

रसस्य राधया कृष्ण शयानो रसभावतः ॥ ८९ ॥

रसभावान् प्राप्येति रसभावत इत्यस्यार्थः । तदुक्तम् 'नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराग्नि-
शयिनम् । लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधि'मिति दशमसुबोधिन्यारम्भे ।

इदं च कीर्तनीयम्, तदाहुः अयीति ।

अयि ब्रजसखि ब्रज ब्रजवधूकदम्बाभिका-

समर्हणफलीभवच्चरणपङ्कजस्यान्तिकम् ।

नितम्बमिलदम्बरकणितहेमदामाङ्गना-

वृतस्य नलिनावलीप्रतिभटप्रभस्य द्रुतम् ॥ ९० ॥

ननु श्रुतिरूपाणां वृत्तान्तं परित्यज्य ऋषिरूपाणां वृत्तान्तपरिग्रहे किं बीजमिति चेन्न ।
अत्र भक्तिवर्धिनीनवरत्नश्रीभागवतोक्तरीत्या सेवोपक्रान्ता, भक्तिवर्धिन्यां तु 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभि'रित्युक्तम्, पूजयामपि 'भक्तिमार्गानुसारेण उपचारा
मुल्या' इति भक्तिमार्गानुसार उक्तः । 'पत्रं पुष्पं मित्यत्र 'कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि' त्यादिपद्यत्रिके च
भक्तिमार्गानुसारिणां प्रपञ्च उक्तः । अत्र च ऋषिरूपाणां वृत्तान्तप्रसक्तिः, न श्रुतिरूपाणां । ता

अन्यपूर्वास्तासां त्यागोऽङ्गम् एतासां तु ब्रह्मागः । 'अत्यागत्यागादुत्तम' इति निरूपयितुं साधनप्रकरणे व्रतचर्याकृत्यादि हेमन्ते प्रथमे भासी'त्यादिपद्येषु । तद्वद्विष्णुणादौ च स्फुटम् । अतः ऋषिरूपाणां परिग्रहः । तत्र अयीत्यनुनयः । 'अयि प्रश्नानुनयो'रिति विश्वात् । अत्राधिकारः कृतपुण्यपुञ्जानामृषिरूपासजातीयभाववताम् । तथा चोक्तं महाकौर्मै 'अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे । भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभु'मिति । पद्मपुराणेपि 'दण्डकारण्यवासिनामृषीणां श्रीकोसलेन्द्रे रिरंसाभर उक्तः । ब्रजसखीति सम्बोधनं ब्रजवधूनां कदम्बः सिद्धार्थस्तद्रूपमम्बिकायाः समर्हणं तत्फलीभवद्यश्चरणपङ्कजं तस्यान्तिकं समीपं ब्रज । नितम्बो हि कटितटः स्कन्धो वा, तत्र मिलदम्बरं तच्च कणितं शब्दयुक्तं हेमदाम हेमरञ्जुः कठ्याभरणरूपं करामरणरूपं वा । तत्र ते आलिङ्गनविशेषे । तादृशहेमदामयुक्ताङ्गना- नितम्बमिलदम्बरकणितहेमदामाङ्गना तथा तामिवां वृत्तस्य । किञ्च नलिनानां कमला- नामावल्परस्तत्सदृशी प्रभा कान्तियैस्य पङ्किसादृश्यमङ्गुलिद्वारा । श्रीश्यामनेकत्वमप्येकस्या- विरुद्धं योगिवत् ।

एवमष्टविधकामान्तर्गतोऽमर्यादभोगस्तमाहुः निर्भरमिति ।

निर्भरं श्रीशतोरालि कुञ्जे विगतवाससोः ।

अन्योन्यप्रभयैवासीदन्त्योन्यस्योचितांशुकम् ॥ ९१ ॥

कौ जायत इति कुञ्जः पृषोदरादिः । अन्योन्यप्रभया 'कोटिसूर्यसमप्रभ' इति पुरुषोत्तम- सहस्रनाम्नि नाम्नाश्रीश्रीश्रीपायाः प्रमाणियामकत्वेन प्रभाया उचितांशुकत्वम् । नयनतेजोनुपहारकत्वं तत्तदवयवयोग्यत्वमुचितत्वम् । ततोऽन्योन्यप्रभयेत्यत्र 'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्गानामि'ति वार्तिकेनाभेदे तृतीया अन्योन्यप्रभामिन्नमन्योन्यस्योचितांशुकमित्यर्थः ।

श्रमशयनमाहु रतीति ।

रतिश्रमशयानयोरलसलोचनाम्भोजयोः

कलं किमपि कूजतोरभिमुखं मियः सस्मितम् ।

रताङ्गभरिताङ्गयोर्मिलितजानुसंवाहने

पदाम्बुजतलानि मङ्गुदि लुठन्तु राधेशयोः ॥ ९२ ॥

किमप्यनिर्वचनीयम् । रता च रतश्च रती तौ चाङ्गभरिताङ्गौ च तयोः । अङ्गो मूषणम् । एतद्वशराधेशयोः पदाम्बुजतलानि । मिलितानि जानुनि तेषां संवाहनार्थं निमित्ते ससमी चर्मणि द्वीपिनं हन्तीतिवत् । मङ्गुदि लुठन्तु लुठ लुठ उपघाते स्वादिः परसौपदी सेह प्रार्थने लोद । 'प्रार्थिते वा ततः किं स्वादि'त्यस्य स्वतिरिक्तविषयत्वाद् 'रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढ' इत्यत्र तथा निश्चयात् । दाक्षिण्येन गच्छतु । 'उपसामर्थ्येदाक्षिण्ये'ति विश्वद, हन हिंसागत्योःशब्दादिः परस्मैपद्यनिद ।

अतिदुर्लभत्वात्सन्दिहानाः फलाद्यौ संशयमाहुः केलीति ।

केलीश्रान्तशयानश्रीराधाश्रीशपदसरोजानि ।

कूपया कृतमनि मनु रसि कदानु संलालयिष्येऽहम् ॥ ९३ ॥

अनु संशये (अनु संशये चेति) अनु पश्चाद् 'पश्चाद् अन्त्येत्स्ये'ति सिक्त्वात् । मन्कर्तृकं संलालनं मन्विष्यत्कालिकं अनु संशयमितिः ।

विज्ञापनामाहुः प्रातरिति ।

प्रातः कुञ्जगृहाड्दहिर्यदि समागत्य स्थिता त्वं भवस्य-

म्भोजाक्षि वदासि चर्चितमिदं चाकार्यं हस्तेन तु ।

ताम्बूलस्य यदा पुनस्तदिह सच्छिद्रस्य मुक्त्यापि च

कार्यं किं सततं प्रसीदसि यदि त्वं स्वामिनीत्यं तदा ॥ ९४ ॥

हस्तेनाकार्यं सच्छिद्रस्य मम । सच्चिद्रं जीवरूपं यस्य देहादिसङ्घस्य । पुष्टिफलस्यास- न्तातुग्रहसाध्यस्य मुक्तजीवापेक्षाभावेपि मार्गरीत्या ज्ञानिनो मर्यादाभक्तस्य वा पुष्टिमत्स्युक्तेर्न दोषः । मुक्त्यापि कार्यं च किम्, न किमपीत्यर्थः । 'तदापीतेः संसारव्यपदेश'दिति व्याससूत्राद् अपीतेर्भोक्षस्य । त्वमित्थमहोरात्रं सततं निरन्तरं प्रसीदसि । ननु सायं सेवां विधाय न किञ्चित् कृत्यम्, प्रातः पुनस्ताम्बूलचर्चितग्रहणमिति कथमहोरात्रं सततं प्रसीदसीत्युक्तमिति चेन्न रात्रौ ताम्बूलचर्चितग्रहणानन्दिना स्थितं निद्रा तु सेवयामालसाभावयेति सततमेवेति । ननु संसारवन्मुक्तेरपि हेयत्वं यत्र तादृशं चेत् पुष्टिमार्गीयं तत्त्वम्, तदा मुक्तेः पुरुषार्थत्वभोषिकायाः श्रुतेः प्रतारकत्वमापततीति तदोषकप्रमाणानां तस्तुतिगात्रपरस्वमिति चेन्न 'सुप्तं प्रमापत' इत्यादिसूत्रेऽस्याः शङ्काया निरासात् ।

एतावती श्रीगोपीनाथजितां पद्मतिरूपा कृतिः ।

ननु सगुणं ब्रह्मेदम्, न तु निर्गुणमिति चेत् तत्राहुः श्रीति ।

श्रीवच्छ्रभाचार्यमते फलं तत्प्राकृत्यमत्रान्यभिचारिहेतुः ।

प्रेमैव तस्मिन् नवधोक्तभक्तिस्तत्रोपयोगोऽखिलसाधनानाम् ॥ ९५ ॥

निर्गुणं ब्रह्माखिलसाधनान्तर्गतशमाद्युपेतसाध्यात्मिकचित्तशुद्धिमतो ज्ञानफलमक्षरम्, सगुणं च धारणाश्रयो विराडात्मा, स च 'ततो विराडजायते'ति श्रुतेः पुरुषावतारः । 'अतो ज्यायांश्च पुरुष' इति श्रुतेः । पुरुषस्तु ततो ज्यायान् उभयव्यपदेशाधिकरणोक्तो भक्त्यैकलम्यः 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेः । अतो निर्गताः प्राकृता गुणा यस्मात् तद् निर्गुणमितीदं निर्गुणमेव रूपम् । तदुक्तं 'भक्तिष्ठो निर्गुणः स्मृतः' इति भगवन्निष्ठस्य निर्गुणत्वे भगवतो निर्गुणत्वे किमु वक्तव्यम् । यतु विश्वकोशे प्रकृतिपदं परयात्मनि प्रयुक्तम्, तदपि 'प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्व' इत्यत्र प्रकृतिपदस्य स्वरूपपरत्ववत् स्वरूपे प्रयुक्तम् । यदा । एतादृशफलप्राप्तिः कुतः साधनादित्याकाङ्क्षायामाहुः श्रीति । फलं तत्प्राकृत्यम् । 'एतेन स्वरूपस्यैव फलत्वमुक्तं भवतीति मुख्यः सिद्धान्तः सूचितो भवती'त्यादि 'आदित्यादिमतयश्चात्र उपपत्ते'रिति सूत्रभाष्यात् । प्रेमैवेति । साधनाध्यायोपान्त्ये 'श्रुतेष्वे'ति सूत्रे 'भक्तिरहस्यभजनं तदि- हासुत्र फलभोगनैराशयेनैवाभुम्भिन् मनःकल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्य'मिति श्रुतिश्रुताहता । मनःकल्पनं प्रेमापरपर्यायमित्युक्तं प्राक् । नवधोक्तेति वाक्यान्वयाधिकरणे उपपादितम् । तत्रोपयोगो नवधाभक्तावुपयोगः । उपासनायाश्चित्तशुद्धिद्वारा भक्तावुपयोगो भाष्ये ज्ञान उपयोगेपि भक्तावेवो- पयोगो भक्तेर्ज्ञानव्यापारत्वात् । एवं साङ्गं योगश्च मन्तेः मुक्तिसाधकौ भिन्नौ । अखिलसाध- नानां धर्मादीनामित्यर्थः । एतच्च 'सर्वोपेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्व'दिति सूत्रभाष्ये निरूपितम् ।

'ननुक्तं मर्यादाभक्तिफलं पुष्टिमक्तिफलं केन इत्यपेक्षायां तद्विशेषसर्वात्मभावेनेत्याहुः तत इति ।

ततो यदिन्दीवरसुन्दरक्षीवृत्तस्य वृन्दावननन्दिताहे'ः ।

सर्वात्मभावेन सदाख्यलास्यमस्यानिशं सानु फलानुभूतिः ॥ ९६ ॥

ततः प्राक्ख्यानन्तरं इन्दीवरसुन्दराक्षीवृत्तस्य वृन्दावननन्दिताहेरस्य सर्वात्म-
भावेन अनिशां सदास्यं लास्यं यत् सानु फलानुभूतिः । इन्दीवरं कमलं तद्वत् सुन्दरे अक्षिणी
यासां ताभिः संवेष्टितस्य तापापहारिभक्तिमार्गीयज्ञानवतीसंवेष्टितस्य 'स्वामिन्धो गुरव' इति वाक्याद्गुरुसं-
वेष्टितस्य तस्य तापापहारिभक्तिमार्गीयज्ञानवत्त्वात् । एतादृशस्याहोः भक्तिमार्गे भक्तिरूपाहोः सेव्यत्वात् ।
तदुक्तं 'विधिर्वा धारणव'दिति सूत्रभाष्ये । याभ्यां पद्भ्यां 'हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवशितम्'
समर्चताम् । तयोर्द्वयोरकस्य वाहोः समर्चनद्वारेष्वरर्चनं मर्यादायाम्, पुष्टौ तु 'वृन्दा भक्ति'रिति
कृष्णोपनिषत् तयोपलक्षितं वनं वृन्दावनं तत्र नन्दितस्य समृद्धितस्याहोः । अयमर्थः । वृन्दावने
सच्चिदानन्दो भगवान् सेव्यः, तदुक्तं गोपालतापिनीये वृन्दया वृन्दावनमिति द्वादशमं वनमुक्त्वा
'द्वादशी तु मृत्यां तिष्ठति, ता हि ये यजन्ति, ते मृत्युं तरन्ति, मुक्तिं लभन्त' इति श्रुतौ
कृष्णमूर्त्युक्तेः । ननु कथं कृष्णमूर्तिलाभ इति चेन्न । तत्र हि रामस्य राममूर्तिः,
प्रद्युम्नस्य प्रद्युम्नमूर्तिः, अनिरुद्धस्य अनिरुद्धमूर्तिः, कृष्णस्य कृष्णमूर्तिरित्युक्त्वा 'वनेष्वेवं मधुरास्त्रेवं
द्वादशमूर्तयो भवन्ती'त्यत्र तृतीयावृत्तौ द्वादशी कृष्णमूर्तिर्द्वादशमे वृन्दावने सिध्यतीति । एवं च
वृन्दावनसमृद्धितोद्दिष्टा 'खे महिम्नि प्रतितिष्ठती'त्यहोद्वारा वृन्दावनसमृद्धितो भगवान् सेव्यः ।
विशेषस्तु स्त्रीभिः समृद्धिस्तद्गो वेणुगीते । अस्य प्रलक्ष्मीकृतस्य 'शृण्वन्ति गायन्ति शृण्वन्त्यभीक्षणशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तथेहितं जनाः । त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुज'मिति
वाक्यात् । भगवद्भक्तेन सर्वात्मभावेन पुष्टौ लिङ्गभूयस्वाधिकरणोक्तनानिशां सदा सदास्यं दालेन
सह वर्तमानं लास्यं तौर्यकम् 'लास्यं तौर्यत्रिक' इति विश्वात् । तुर्यमेव तौर्यं तौर्यमिव यथावदज्ञातं
वा तौर्यं तौर्यकं देवं 'देवस्तुर्यो विभुः स्मृत' इति मण्डूकोपनिषदः । एतादृशं दास्यं यत् सा अनु
मर्यादाभक्तिमनु पश्चात् फलं भजनानन्दलक्षणानुभूतिः । सर्वात्मभावेनेत्यभेदे तृतीया ।
सर्वात्मभावस्वरूपं स्वस्मिन् विगाढभावात्मकमिति लिङ्गभूयस्त्वसूत्रभाष्यप्रकाशेऽस्ति । एवं च विगाढ-
भावामिन्नं यदास्यं तेन सह वर्तमानं लास्यं चेत्, लास्यविगाढभावात्मको भजनानन्दो भवत्येव ।
लास्यमनुभूतिर्भजनानन्दस्येति । 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे'ति गीतायाः । ननु 'ततो
यदिन्दीवरे' त्यादिकं मर्यादायामस्तु, कुतः पुष्टिर्व्याक्रियते इति चेन्न । सर्वात्मभावेनेतिपदात् ।
नहि सर्वात्मभावः पुष्टिं विहाय भवति । मर्यादायां सर्वात्मभावो निरोधलक्षणग्रन्थोक्त इति चेत्,
लासेनेति पदादित्यस्तु । न हि सर्वात्मभावामिन्नं लास्यं मर्यादायामस्ति । 'कामस्तस्य दिदक्षैवे'ति
वाक्यात् साधनासाध्यत्वे सति प्रदानसाध्यत्वात् सर्वात्मभावस्य । 'प्रदानवदेव तदुक्त'मिति सूत्रभाष्य
एतदुक्तम् । 'यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति, स भूमे'ति । एतेन सर्वा-
त्मभावस्वरूपमेवोक्तं भवती'तिभाष्यम् । कृतात्मनिवेदनो हि पुष्टावधिकारी न तु श्रुतात्मनिवेदनः ।
अत्रानुफलानुभूतिर्भवत्विति विज्ञापना ।

पुरुषोत्तमप्रकरणे 'अज्ञात्वा पुरुषं पुष्टिमकृतात्मनिवेदनः । धर्मलोपकरो यस्तु स नरो नरकं
व्रजति' इति वाक्ये तत्राचार्यमुखादज्ञात्वेत्यर्थादाचार्यपादाब्जभजनं कर्तव्यत्वेनाहुः श्रीति ।

श्रीमदाचार्यपादाब्जं भवेद्येषां हृदि स्थिरम् ।

सदा श्रीराधिकाकान्तस्तत्र तिष्ठति सुस्थिरः ॥ ९७ ॥

अतः पितृपदाभोजभजनं सर्वथा मतम् ।

उत्तमानामितो नान्या कृतिः काचन विद्यते ॥ ९८ ॥

नान्या कृतिः पौष्टिकानाम्, मार्यादिकीनां त्वन्या कृतिरुपदिष्टात् साधनादन्या कृतिः ।
उत्तमानामिति विशेषणात् । तथास्त्विति विज्ञापना ज्ञेया ।

किञ्च, विज्ञापनान्तरमाहुः मानुष्येति ।

मानुष्यप्राप्तिसाफल्यं यत्संसारविरागिता ।

सात्त्विकत्वस्य साफल्यं श्रीकृष्णस्यानुरागिता ॥ ९९ ॥

अत्र पूर्वार्थे 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्रथं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् । भयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महे'ति वाक्यम् । उत्तरार्थे 'सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः ।
भवान्तसम्भवा दैवात् तेषामर्थे निरूप्यत' इति निबन्धवाक्यम् । तथा च मनुष्याणां पूर्वार्थोक्तं
सात्त्विकानां तु पूर्वग्रन्थोक्तं भवत्विति विज्ञापनात्र । सात्त्विकानामर्थे ग्रन्थकरणात् ।

मध्ये विज्ञापनायाः पदश्लोकाः स्नानायोग्यैः स्नानविज्ञापनार्थाश्चिन्त्याः । पश्चामृतस्नानोप-
योगित्वाद् व्याक्रियन्ते । पञ्चेति ।

पश्चामृतेन भावात्मरूपेणातिप्रियेण ते ।

स्नापयामि ततः स्नात्वा हृदि मे सुस्थिरो भव ॥ १०० ॥

'अकामः सर्वाकामो वे'ति वाक्याद् हृदि सुस्थिरत्वार्थं कारितं स्नानं सुस्थिरत्वफलकम् ।
कथं लेख्याद्यप्यैः स्नानमिति चेत्तत्राहुः 'भावात्मनेति । भावा वक्ष्यमाणास्तदात्मरूपेण ।
अत एव अतिप्रियेण 'श्रद्धं पिबन्ता' इति श्रुतेः ।

वक्ष्यमाणभावानाहुः प्रियेति ।

प्रियाहास्यप्रभानुल्यरूपेण पयसा गन्नाम् ।

स्नानं समाचर चिभो कम्बुस्थेन व्रजेश्वर ॥ १०१ ॥

प्रभा श्वेतरूपा । कम्बुः शङ्खः । यद्वा । विज्ञापना आहुः वङ्गिः पञ्चेति । शयनसमये स्नानं
भक्तिमार्गविरुद्धं प्रत्यहं, ग्रहणेऽविरुद्धं तत्राहुः प्रियेति । प्रियेति पूर्ववत् । गवामिन्द्रियाणां पयसा
रमेनास्वादरूपेण कम्बुर्गजस्तस्थेन स्नात्तेन 'आत्तगजेन्द्रलील' इति वाक्यात् । स्नानं ण्या शुद्धौ
अदादिरनिद्र । इन्द्रियशुद्धिं समाचर । श्रीऽराणाञ्छ्रीभीमसिंहजिद्रप्या वाण्या प्रेरितोऽहं द्वितीया-
र्थकर्ता । यद्वा । जलस्थलभेदेन क्रीडा द्विधा तत्र स्थलक्रीडामुक्त्वा जलक्रीडां स्नानात्मिकामाहुः
पञ्चेति । अत्र पक्षे ततः प्रियाभिः सह त्वां स्नापयामि, त्वं प्रियाभिः सह स्नात्वेति पूर्वश्लोके, द्वितीये
च प्रियाभिः सह त्वं नीराणां नीरेण शङ्खस्थेन गाङ्गेनेति गन्नां पयसा कम्बुस्थेनेति पदत्रयाथो
विश्रकोशात् स्नानमितरत् समानम् ।

राधिकेति ।

राधिकास्यामृतकरचन्द्रिकाविशादेन वै ।

सरसेन घनेनेह दध्ना स्नानं समाचर ॥ १०२ ॥

राधिकाया आस्यं मुखं तदेवामृतं चन्द्रस्तस्य करः प्रत्ययः किरणा वा तस्सम्बन्धिनी
चन्द्रिका तद्वत् विशादः पाण्डुरस्तेन । पूर्वोक्तप्रयोजनायोक्तम् । सरसेन सजलेन । अम्लरस-
सहितेन वा कम्बुस्थेनेत्यनुवर्तनीयम् । यद्वा । पूर्वार्थे पूर्ववत् । दध्ना श्रीनिवासेन वासेन वा शृङ्गारादि-
रससहितेन घनेन दधेन स्नानं भयजनितचित्तोद्वेगस्य शुद्धिं मार्जनं समाचर । नात्र कम्बुस्थेने-
त्यनुवर्तनीयम् । जलक्रीडापक्षे बहिःस्थाने शीतं प्रतिबन्धकं भक्तिमार्गे, अतो दध्ना वासेन हेतुना
प्रियाभिः सह त्वं स्नानं समाचर । इतरत् समानम् । नात्र कम्बुस्थेनेत्यनुवर्तनीयम् ।

प्रियेति ।

प्रियाधराभृतस्पन्दमधुरेण महाप्रभो ।

शङ्खस्थितेन मधुना स्नात्वा मुदमवामुहि ॥ १०३ ॥

प्रियायाः अधराभृतमधुरजलं तस्य स्पन्दः प्रसवस्तद्वन्मधुरेण मधुररसवता । उत्तरार्धं स्पष्टम् । यद्वा । पूर्वार्धं पूर्ववत् । शङ्खस्थितेन सुगन्धद्रव्यस्थितेन मधुना जलेन । चन्दनपात्रस्थितेन जलेन स्नात्वा कामालुदीपनशुद्धिं विधाय मुदमवामुहि । जलक्रीडापक्षे शङ्खस्थितेन जलेनेत्यर्थः । स्नानयोग्यं जलमिति चेन्न 'समः पुषिणे'ति श्रुतेर्विस्फुलिङ्गसाम्येनोपपत्तेः । भक्तेन शङ्खस्थापितेन जलेनेति वा । स्नात्वा शङ्खशुद्धिं विधाय मुदमवामुहि ।

प्रियेति ।

प्रियास्नेहैकरूपेण घृतेन ब्रजनायक ।

स्नानं स्नेहात्मकं कृत्वा स्निग्धतां प्रकटीकुरु ॥ १०४ ॥

विशेषणं पूर्ववत् । स्निग्धतां भक्तिमतां भक्ततां वा । सुरतान्ते स्नेहो गच्छति स्नानानन्तरं प्रकटीभवत्यत उक्तं प्रकटीकुरुविति । यद्वा विशेषणं पूर्ववत् । घृतेन प्रदीप्तेन निर्नाशितेन पूर्वोक्त-सुगन्धद्रव्यप्रदीप्तेन कामेन स्नेहात्मकं स्नेह आत्मनि मनसि यस्मात् स्नानात्तादृशं स्नानं सुरतान्त-वैराग्यमार्जनं विधाय स्निग्धतां प्रकटीकुरु । जलक्रीडापक्षे घृतेन जलेनान्यत्पूर्ववत् । तथा च विश्वः 'घृतमाद्ये प्रदीप्ते च सलिले च घृतं स्पृतमिति ।

प्रियेति ।

प्रियाप्रत्यङ्गसौन्दर्यमाधुर्यसमतां गतम् ।

तया शर्करया स्नात्वा प्रत्यङ्गोच्छ्रनतां ब्रज ॥ १०५ ॥

प्रियायाः प्रत्यङ्गमङ्गसौन्दर्यं स्नानं व्यञ्ज । सुन्दरं तदेव माधुर्यं प्रियं तत्समतां गतं यथा भवति तथा स्वं प्रत्यङ्गोच्छ्रनतामुत्तुङ्गतां ब्रज । कया तया प्रसिद्धया शर्करया स्नात्वेत्यर्थः । यद्वा उं शंभुं प्रति पठति गच्छति तादृशोपलक्षणरूपशर्करया स्नात्वा तच्छक्तियुक्तत्वेन केवलमन्मथमन्मथत्व-मार्जनं विधाय भक्तमाधुर्यं प्रियतास्त्वं तत्समतां गतं यथा भवति तथा प्रत्यङ्गमुत्तुङ्गतां ब्रज । भक्तभक्तियोग्यं रूपं मन्मथमन्मथत्वं तिरोभाव्य प्रकटीकुरु भक्तभक्तिमात्रयोग्यं रूपम् । 'उपला शर्करापि चै'त्यमरः । जलक्रीडापक्षे शर्करया कर्पररूपया कर्परः कटाहोण्डकटाहः 'कर्परः स्यात्कपाले च शङ्खभेदकटाहयो'रिति विश्वः । 'शर्करा कर्परंशेऽपी'त्यमरः । अण्डकटाहांशो गङ्गा स्वर्गङ्गा प्रियाभिः सह स्नात्वा । अन्यत्स्पष्टम् । एवं शयनार्थं विज्ञाप्य शयनं कारयेदिति ।

एवं स्नानानां स्वरूपस्य विज्ञापनपूर्वकशयनमुक्त्वा दैन्येन हरितोषणसाधनेन नवनीतमुषं विज्ञापयन्तः संयोगे वियोगवर्तनं कुर्वन्त आत्मनः शयनस्य कारितत्वाद् आत्मनश्च गोपिकादिभ्यो निश्चानन्ददानार्थं तद्गृहे गोपिकाप्रार्थितस्य शयनानन्तरं गतत्वाद् विरहे विज्ञापनमाहुः हेति ।

हा नाथ हा रमण हा करुणैकसिन्धो हा कृष्ण हा पतितपावन दीनबन्धो ।

संसारसागरमहोर्मिषु मज्जमानं माशुद्धर प्रणतपालक बालकृष्ण ॥ १ ॥

हा नाथ उपतापक संयोगेपि वियोगवर्तनलक्षणप्रेम्णा, हा विषादं करोमि । 'हा विषाद' इति विश्वात् । नाथ नवनीतयाचक । एवमग्रेपि । रमण स्मृ क्रीडायाम् । करुणैकसिन्धो । पुष्टिप्राकृत्यात् पुष्टयानेकविहाररूपरत्नप्राकृत्यान् नवनीतमुद, करुणैकसिन्धुः, स्वरूपानन्ददानात् । कृष्ण सच्चिदानन्द । पतितानामपि पावन, किमुतास्माकम् । दीनबन्धुश्च । संसारोऽहन्त-

गमतात्मकसंसारः सागरोऽनेकभगवत्सेवोपयोगितदनुपयोगिमात्सर्यदुःखेष्व्यादिनिधिः । गरेण नरक-साधकेन विषयेण विषेण सह वर्तमानो वा सागरः सागरस्यायं सागरः । तस्येदमित्यपि सुधायाम् । महो-र्मयो गुर्वाद्युपरि क्रोधात्मिका उर्मयो मात्सर्यदुःखेष्व्यादिजा गुर्वाद्यतिरिक्ते क्रोधविषयनिन्दादयः तेषु मज्जमानं मुह्यमानं माशुद्धर सेवोपयोगिसंसारं स्थापय, अन्यं शोषय । किं साधनमिति चेत् तत्राहुः प्रणतेति । प्रणामः साधनम् । मर्यादाभक्तौ प्रेमसाधनत्वेपि चन्दनभक्त्यानुक्तसाधनत्वं कुरु । 'अकामः सर्वकामो वे'ति वाक्यात् । बालः कृष्णो बालकृष्णः । 'कृषिर्मवाचकः शब्दो षम निर्वृतिवाचक' इति श्रुतेः । ब्रह्माण्डपुराणे च ।

'बालाय नीलवपुषे नवकिङ्किणीकजालाभिरामजघनाय दिग्म्बराय ।

शार्दूलदिव्यनखभूषणभूषिताय नन्दात्मजाय नवनीतमुषे नमस्ते' ।

इति नवनीतचोरविज्ञापना ।

रूपसेवागुक्त्वा अविशेषेण नामसेवां 'आवृत्तिसकृदुपदेशा' दिति सूत्रेणावृत्त्याख्यां विज्ञापयामासुः श्रीति ।

श्रीबालकृष्णेतिनाम सकलाभीष्टदं कलौ ।

जिह्वाद्ये वर्ततां तेन सदा मे कृतकृत्यता ॥ २ ॥

श्रीभिः शोभाभिर्बालोचिताभिर्लुको बालः पुरुषविद्यमात्राणोक्तोभयलिङ्गवांश्च स कृष्णः सच्चिदानन्द इत्यभिधायकं नाम । नमूभयलिङ्गत्वं न बालस्य, किन्तु 'कारणगुणाः कार्ये समायान्ती'ति प्रवादमूलकः कार्ये एकाकिनि पुरुषे ज्ञापितः पुरुषविषे भयं कारणत्वकमिति चेन्न । कार्ये भयस्य द्वितीयाभिनिवेशकृतत्वेन भायिकत्वे सत्युपपत्तेः 'भीपास्मादातः पवते भीषोदेति सूर्ये' इत्यादीनां 'भीरपि यद्विभेती'त्यस्य च विरोधाच्च । न च भयस्य ब्रह्मलिङ्गत्वमसम्भवीति शङ्काम् । 'अनुकृते-स्तस्य च' इति सूत्रेऽनुकृतेर्भयसत्त्वात् । न चैकरसत्वविरुद्धं भाव्यपौगाण्डादिकं मुक्तसच्चिदानन्द-त्वानुपपत्तिसाधकं चेति वाच्यम् । 'व्याप्तेश्च समञ्जस'मिति सूत्रे 'सर्वतः पाणिपादान्तमि'त्यादिश्रुतेः साकारमेव व्यापकमिति भाष्यात् । एवमग्रे स्तकलेति पदम् । कलाविति । 'कलिं समाजयन्त्यार्या' इत्यादिवाक्यात् । कृतकृत्यतेति । पुरुषोत्तमयोगाध्याये 'यो मामेवमसम्भूढो जानाति पुरुषोत्तम-मि'त्यत्र पदजन्यपदार्थोपस्थितेरावश्यकत्वात्पदस्यापि कृतकृत्यतासाधने निवेशेनोक्तं कृतकृत्यतेति 'एतद्बुद्धा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारते'ति गीतायाः ।

एवं विज्ञाप्य घृतानां शयानिकटे भोग्यानांशय्या श्रीगोवर्द्धननाथजिस्रवनीतरायविदादि भोक्तानां तन्मूलमालातटीजलपात्रव्यजनादीनां च भोगं विज्ञापयामासुरभियमित्यादिपञ्चभिः ।

अप्रियं सप्रियं वापि धनहीनस्य मे प्रभो ।

मद्गृहे भोजनार्थाय ह्यागन्तव्यं महाप्रभो ॥ ३ ॥

अप्रियं सप्रियं वा भागमनं कर्तव्यम्, प्रविक्रिताज्ञानादित्यर्थः । मे मय मत्सम्बन्धि-भोजनार्थाय । ननु व्यापकोहमानन्दमुक्त्वा मुनज्मयेव गोपिकादिगृहस्थितोपीति चेत्, तत्राहुः मद्गृह इति । एतावत्पर्यन्तं प्रभुत्वं स्थितं मद्गृहागमनानन्तरं तु महाप्रभुर्जातः परिवृष्टोपि महाप्रभुः । आचार्योक्तपरिवृष्टाष्टकात् । तत्रत्य 'परा काष्ठा प्रेम्णः पशुपतरुणीना'मिति वाक्यात् । मद्गृहं च गृहस्थस्य मे उद्धरणसमर्थत्वम् । हे गृहस्थोद्धारक परिवृष्ट, हे महाप्रभो बालस्तु ब्रह्मपादावपि देवै इति मद्गृहागमनविज्ञापना । 'चलसि यद्गजाकारयन् पशन् नलिनसुन्दरं नय ते पदम् । शिखरकन्दो-रिद्रीति नः कलिकर्ता मयः कान्ध नञ्च' इति न्यायेन भक्तयनःकलिकर्ताकनमाह ।

आगत्य तूर्णान् न श्येयम्, किन्तु भक्तिमार्गात्वात् प्रीतिः क्रियतामित्याहुः येति ।

या प्रीतिर्विदुरार्पिते मुररिपो कुन्त्यर्पिते यादृशी
या गोवर्द्धनमूर्ध्नि या च पृथुके स्तन्ये यशोदार्यपिते ।
भारद्वाजसमर्पिते शबरिकादन्तेऽधरे योषितां
या प्रीतिर्मुनिपत्निभक्तरचिते स्यत्रापि तां तां कुरु ॥ ४ ॥

विदुरार्पिते सेवने विशेषानुल्लेखः श्रीभागवते तृतीयस्कन्धे कथाश्रवणातिरिक्तसेवनाप्रसिद्धेः । तर्हि कथाश्रवणे विदुरार्पित इत्यस्तु कथाश्रवणार्पणास्मरणात् । तर्हि विदुरश्रुते इति मूलमस्तु 'इति सह विदुरेण विश्वमूर्तेर्गुणकथया सुधये'ति वाक्ये कीर्तनस्याप्युक्तेः । न च विदुरश्रवणादाविति वक्तव्यमिति शक्यम् । अनर्पितस्यासाधनत्वात् । ननु विदुरमुक्त्या विदुरश्रवणादीनामर्पितत्वमनुमास्यत इति चेन्न । मूलाविरोधादोम् । न च विदुरार्पिते श्रवणादाविति वक्तव्यमिति वाच्यम् । अनुमितार्पणनिवेशे पदलिङ्गतापत्तेः । न चानुमितार्पणविषयश्रवणादाविति वाच्यम् । शरीरगौरवात् । अतोर्पितत्वेन श्रवणादीनां ग्रहणं युक्तमेव । कुन्त्यर्पितेऽखिलोदये । 'पृथयेत्यं कल्पदैः परिणताखिलोदय' इति वाक्यात् । या प्रीतिः 'मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायये'ति वाक्यात् । महिभजानेनैक्यशुद्ध्या लये प्राप्ते ऐक्यप्रतिबन्धकमायामोहेन कुलसम्बन्धजा यद्यपि तथापि भगवान् प्रकान्तस्वविचारितमेव मोहं दत्तवान् । अद्भुतकर्मनिरूपणे तां तां कुर्वित्यत्र शकपत्रे या तां पुनस्तां स्वकुलसम्बन्धजाम् । ब्रह्मबोध-प्रतिबन्धानन्तरमपि सिद्धान्तमुक्तावस्थुक्तो ब्रह्मबोधः । अद्भुतकर्मत्वाद्भगवतो नात्र मोहदानं विवक्ष्यते । गोवर्द्धनमूर्ध्नि या प्रीतिः यया हरिदासप्रीत्या गोवर्द्धनस्य मूर्ध्नि शिखरे व्रजस्थार्तिं मोचयन् गवां दिनतापारिम्कां चक्राम । उत्थापनभोगं भुक्त्वा । तां प्रीतिं दासप्रीतिं कुरु । सुदाम्नः पृथुके चिपिटे खाद्यभेदे तन्दुले 'पृथुकः पुंसि चिपिटे' इत्यगरः । 'चिपिटेः खाद्यभेद' इति विश्वः । तत्र या प्रीतिः सख्यन्नभोजनप्रीतिः । यशोदया अर्पिते स्तन्ये दुग्धे जग्धप्राये सति या प्रीतिर्विश्वदर्शनेन सुविस्मयजनिका । 'विस्मयोद्भूतगर्वयोरिति विश्वः । 'एकदार्भकमादाये'त्यादिसन्दर्भे सप्तमेध्याये स्पष्टमेतत् । उदासीनत्वश्रुत्या खेहो विरुध्यते इति कथमुदासीनस्यात्मनः खेह इत्याकाङ्क्षायामुदासीनस्य खेहो विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन निरूपितः । स्तन्ये या प्रीतिरिति वा 'भगवान्भक्तभक्तिमा'निति वाक्यात् । भारद्वाजो व्याघ्राट्यो विहङ्गमस्तदार्पिते रावेऽद्भुतरसे तद्भद्रागव्यापारो भगवत इति तदार्पितो रावस्तत्र या प्रीतिरद्भुतरसजन्त्या । अद्भुतरसस्तावत् 'चित्रं महानेष वतावतारः क यन्न एषोभिनवैव भङ्गिः । लोकोत्तरं यन्नमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः' । बनेति हर्षे, भङ्गिः प्रकारः, एष सर्गः भारद्वाजशब्दसर्गः । अत्र लोकोत्तरदर्शनादिविभावः, नेत्रविकासञ्चनुभावः, हर्षोदिव्यभिचारी, विस्मयः स्थायिभावोद्भुतरसः । तां प्रीतिम् । 'चित्रं महानेष वतावतारः क कान्तिरेषाऽकृतसाधनत्वम् । लोकोत्तरं कार्यमनुग्रहश्च कः प्रेम को नूतन एष सर्गः' । पुष्टिमार्गस्थस्य प्रभोर्वचः । कार्यफलम्, अनुग्रहोनुभावः । शबरिकाः पुलिन्धः शबरिका पार्वती वा तद्भक्ते कामे । पुलिन्धो वेणुगीते । पार्वती पुराणान्तरे । योषितां व्रजभक्तानामधरे । 'अधरस्तु पुमानोष्ठ' इति कोशः । स्पष्टोर्थः । तां प्रीतिं कामात्मिकाम् । मुनिपत्निभक्तरचिते बहुगुणेने । पत्नीत्यत्र हस्यो व्याकरणान्तराद् यथा परिणताखिलोदय इत्यत्र णू स्तुती व्याकरणान्तरात् तु छन्दोनुरोधेन णू स्तुतावित्यस्य दीर्घः । यद्वा 'ड्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुल'मिति सूत्रे बहुलग्रहणात् संज्ञाभावेपि पत्नीशब्दस्य हस्यः । अत्र महद्दे । यशोदा यथा शयने भगवन्तं नेष्यन्ती गोपीद्वारा शय्याभोगं धारयति रात्रिर्भृती बालगोपालः

क्षुधितो भविष्यतीति शय्यानिकटे भोगं स्थापयेति गोपीमाज्ञापयन्ती तद्वारा भोगं धारयति तद्भावेन धृतभोगे प्रीतिं कुर्वित्याहुः यशोदाया इति ।

यशोदायाः स्तन्ये तदनु नवनीते व्रजगवां
विहारे दध्यन्ने द्विजयुवतिदत्ते बहुगुणे ।
तथा मित्रात्प्राप्ते पृथुकवरमुष्टौ मुरहरे
यथा प्रीतिस्तां मे प्रकटय सुनैवेद्यनिचये ॥ ५ ॥

पूर्वश्लोकव्याख्यानेन व्याख्यातप्रायमेतत् । मित्रात्सुदाम्नः पृथुकवरमुष्टौ पृथुकः खाद्यभेदस्तत्सम्बन्धिनी वरा मुष्टिस्तास्याम् । यथेति यशोदादत्तत्वेन प्रकारेण उभयत्र स्ववृत्तित्वेन प्रकारेण 'वयं गोवृत्तय' इति वाक्याद् द्विजपत्निदत्तत्वेन प्रकारेण मित्रदत्तत्वेन प्रकारेण । सुनैवेद्यं तथा दत्तम्, तस्य निचयः शरदुत्सवादौ ।

प्रीतिकरणं विज्ञाप्य भोजने कृपाकरणे विज्ञापयान्भूतुः विदुरस्येति ।

विदुरस्य गृहे प्रीत्या यथा भुक्तं निजेच्छया ।
तथैव भुङ्क्ते नैवेद्यं मयि नाथ कृपां कुरु ॥ ६ ॥

व्याख्यातप्रायम् । यथा भक्तदत्तत्वेन प्रकारेण निजस्य भक्तसेच्छया । नैवेद्यमिति मातृचरणैर्नैवेद्यसमर्पणस्य कारित्वात्प्राधान्येन नैवेद्यस्य ग्रहणम् ।

ताम्बूलतट्टीमालाजलभाजनव्यजनादिभोगं प्रार्थयन्तो 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम्' इति गीतायाः भुक्तशिष्टान्नदानं स्वकीयोभ्योधीष्टं कर्त्तव्यम् ।

यथा त्वं गोपिकादिभ्यो निजानन्दं प्रयच्छसि ।

तथैव भुक्तशिष्टान्नं भक्तेभ्यो यच्छ पुष्कलम् ॥ ७ ॥

यशोदया शायितः श्रीगोप्या प्रार्थितो ह्यारामा सखीशतेन भृङ्गैराशुतो भक्तमेहानुत्थाय गच्छति । तदाभासोक्तताम्बूलादीनां भोगो भवति तद्वारा निजानन्दं रसस्वरूपानन्दं प्रयच्छति । आदिपदेन कर्मणि यज्ञशेषामृतभोजनाद् ब्रह्मा संसिद्धिमास्थितो गृह्यते । तथैव यज्ञशेषामृतत्वेन यज्ञशेषामृतभोगदानत्वेन वा प्रकारेण 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा'दिति सूत्रेण धर्मात्मकयज्ञस्यापि धर्म्यात्मकत्वं मत्वोक्तम् । तथा च भाष्यम् 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वे'ति । एवं च पूजया श्रवणादिकमुक्त्वा आदिपदेनोपनिषदा श्रवणादिभिः पूजेत्युक्तम् । अधुना किञ्चिदुच्यते । ननु 'नञ्चान्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव । सङ्घिसं वर्णयिष्यामी'ति प्रतिज्ञाय 'दत्त्वाचमन' मित्यादीनां वाक्यानां श्रीभागवते उक्तत्वात् तैर्दास्यप्रामाणिकीकरणमसङ्गतम्, दास्यार्चनयोर्भेदादिति चेन्न उपासनायामपि भक्तिमार्गानुसारेणोपचारा मुख्या इति 'दत्त्वाचमन' मित्यादिवाक्यानां पाठादिक्रमानुरोधेनेदृशमर्चनं विधाय, तत्रेदृशदास्यभक्तिमार्गानुसरणम् । दास्यभक्तिमार्गानुसरणे सिद्धे दास्यभक्त्यनुसृतैर्दत्त्वाचमन'मित्यादिवाक्यैर्दास्यप्रामाणिकीकरणं सङ्गतमेव । उभयोरेकमार्गयत्वेनान्यापेक्षयैतद्ग्रहणस्य ज्यायस्त्वात् । ननु 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति व्याससूत्रेण प्रामाणिकीकरणं सङ्गतमिति चेन्न । 'श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यती'ति निबन्धालोकः श्रीभागवतं गृह्यत इत्यदोपात् । न च पञ्चमस्कन्धतृतीयाध्याये 'परिजनानुरागविरचितशब्दसंशब्दसलिलसितकिशलयतुल्यसिद्धाङ्कुरैरपि संभृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसी'ति लोकः कुतो न गृह्यत इति वाच्यम् । स्थानलीलात्वेन शुद्धलीलात्वाभावात् । अपिपदं सङ्गृहीतपदार्थानां चानियतत्वात् । पूर्वोक्तरीत्याऽनियतत्वे तु ह्यपिपदसङ्गृहीतपदार्थानां सुकरत्वात् । किञ्च,

‘आशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्र’मिति । न च सप्तमेऽध्याये भगवत्परिचर्यानिरूपके ‘विविधकुसुमकिशलयतुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च सगीहमानो भगवत आराधन’मिति वाक्यं लोकस्तदुक्तप्रकारोऽस्त्विति वाच्यम् । तत्राप्युक्तयैवैकभक्तिमार्गं पदार्थनियमसंभवात् । भक्तिमार्गस्य बहुविधत्वात् स्थानलीलात्वाच्च । वसन्तोत्सवादावस्था अप्यभिनविशेत्तच्च । एवं च दास्यपूजापरिचर्याः सहैवानुष्ठिताः । ‘सर्वांसामविरोध’ इति व्याससूत्रात् । दास्यपरिचर्यायोः पर्यायत्वेपि भक्तिमार्गस्य बहुविधत्वात् कश्चिदुपाधिराश्रीयते इति न दोषः । पादसेवनमप्यत्र, पादयोः सेवनं पूर्वं कृत्वा भगवत्सेवने कृते सति भवति । तदुक्तं चतुर्थस्कन्धे ‘पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम् । हृत्पद्मकणिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थित’मिति ध्रुवचरिते ‘कारणं पादसेवन’मित्युपक्रम्य श्रवण-कीर्तनस्मरणवन्दनभक्तयोऽत्र निविशन्त एव । सख्यं फलम् । आत्मनिवेदनं स्वतिकठिनं कृतं सत्, श्रुतं तु वर्तते एवात्मनिवेदनम् तथा चाविहितभक्तिपक्षे श्रवणादित्रिकेण जनितप्रेम्णा स्वतः क्रियमाणदास्यादिनवकमुक्तमिति सूत्रोक्तसामान्यपक्षोऽत्रोक्त इति भावः । नन्वपेक्षितसमर्पणं दास्यम्, ‘पुराणं हृदयं स्मृतम्’ इति हृदयेनोरसाऽप्रमाणेन प्रामाणिकीकरणमयुक्तमिति चेन्न । तत्र ‘हृदयं मानसोरसो’रिति विश्वादर्थद्वयम्, तत् प्रकृते विरुद्धम्, अतो हृन्मनः ‘अयः शुभावहो विधि’रिति कोशाद् द्वयोर्हृदययोरर्थाविवधत्वं मनःशुभावहो विधिर्हृदयं पुराणं भगवन्मनः शुभावहविधि-रूपेण पुराणेन प्रामाणिकीकृतं दास्यमपेक्षितसमर्पणात्मकं जातमेवेति । अथ सेवाप्रकरणे ‘यद्यदिष्ट-तम’मिति वाक्यात् स्वापेक्षितसमर्पणं विवक्ष्यते तदपि साम्प्रतम्, वाक्यादेव । नन्वपेक्षित-समर्पणं दास्यम्, तदेकेनापीन्द्रियेण भवतीति दास्यरूपा सेवा न सर्वात्मभावरूपेति चेन्न । सर्वैरिन्द्रियैरपेक्षितसमर्पणे बाधकाभावात् सर्वात्मभावरूपा सेवा तथा च सर्वोप्यात्मनोऽन्तः-करणस्य भाव एकादशविधो मनसो वृत्तिरूपः षष्ठीगर्भितकर्मधारयेण सर्वात्मभावपदार्थोऽत्र । तथा च नवमस्कन्धे अम्बरीषप्रसङ्गे ‘एवं सदा कर्मकलापमात्मनः परेऽपियज्ञे भगवत्यधोक्षजे । सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां तन्नित्तविप्राभिहितः शशास ह’ इति । एवं पूर्वोक्तपरामर्शेन पूर्वं तु ‘स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयो’रित्यादिवाक्यानि । न च सर्वत्रात्मेति भावो भावना यस्मिन् क्रियाकलाप इति बहुव्रीहि-रस्तु, किं षष्ठीगर्भितकर्मधारयेणेति शङ्क्यम् । ‘याहि सर्वात्मभावेने’ति वाक्ये बहुव्रीहेरसंभवात् । न चैतद्वाक्यानुरोधेन क्रियाकलापमध्याहृत्यं योजनीयम्, सर्वात्मभावेन क्रियाकलापेन याहीति चेन्न । सर्वोप्यात्मनो भावो भगवत्येवाधिकृत इति ‘सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षज’ इत्यस्य सुबोधिन्यां क्रियाकलापानध्याहारात् । न च सर्वोपि सर्वत्र भगवत्स्फूर्तिलक्षणांशेनाप्यन्यत आत्मनो भाव इति सुबोधिन्या अर्थ इति शङ्क्यम् । सर्वपदस्य सर्वात्मभावघटकत्वेन भगवत्स्फूर्तिपर्यन्तं तस्यार्थाभावात् । ‘स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो’ रित्यादिवाक्योक्तैकादशमनोवृत्तीनां सर्वपदार्थ-त्वात् । तथा च ‘लिङ्गभूयस्त्वा’दिति सूत्रमाध्यम् । ‘यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमे’ति । ‘एतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेवोक्तं भवती’ति । न च ‘सर्वभूतेषु मन्मति-रित्येकादश एकोनविंशत्याध्याये वाक्याच्च सर्वस्मिन्नात्मभावः सर्वात्मभाव इत्यर्थोऽस्त्विति वाच्यं, प्रकृते-ऽसम्भवात् । तादृश्या मतेः ‘एवं धर्मैर्ननुष्याणामुद्भवात्मनिवेदिनाम् । मयि सज्जायते भक्ति’रिति वाक्ये प्रेमभक्तिकारणत्वेनोलेखात् पृथगेव कारणत्वम् । एवमनेकार्थेषु षष्ठीगर्भितकर्मधारयो गृह्यते । न च प्रकृते क्रियाकलापविशेषणत्वेन बहुव्रीहिर्गृह्यतामिति वाच्यम् ॥ स्वमते षष्ठीगर्भितकर्मधारयकस्य सर्वात्मभावस्यैव प्राधान्यात्सर्वात्मभावस्य क्रियाकलापमित्येव विशेषणमस्तु । क्रियाणां कलापः संहतं समूहो यत्रेति । ‘सर्वदा सर्वभावेन मजनीयो व्रजाधिप’ इति कारिका चतुःश्लोकीत्या तत्र

सर्वभावेन मजनं न सर्वात्मभावेनेति सेवा सर्वभावेन न सर्वात्मभावेनेति सर्वात्मभावरूपा सेवेति व्याहृतमिति विचारयति न च तस्मादिति । न च ‘तस्याच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः । आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तये’दिति सिद्धान्तमुक्तावस्थापेतद्विचिन्तनमिति वाच्यम् । तत्र लघुस्वमार्गस्थैकादशैकोनविंशत्याध्यायोक्तस्य ग्रहणात् । ननु ‘मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् । ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा स्वममलाशय’ इति वाक्येन बहुव्रीहेरिवास्त्विति चेत्सत्यम् । ‘सर्वदा सर्वभावेन मजनीय’ इत्याचार्यकारिकायामपि तथात्वेपि श्रीमदाचार्यमतत्वात् । श्रीगोस्वामिनां मते तु ‘सदा सर्वात्मभावेन मजनीय’ इति कारिकायास्ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिरिति ह्यात्मानन्द-समुद्रस्थ’मित्यस्य टीकायाश्च सर्वात्मभावे गोस्वामिमताङ्गीकारात् । भाष्येपि साध्याध्याये तत्प्रणीते प्रदान-वत्सुत्रे लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे चैतद्विचारात् । तन्मते षष्ठीगर्भितकर्मधारयेण निर्वाहः, न तु बहु-व्रीहिणा । न चाचार्यमतमस्तु गोस्वामिमतात्प्रबलत्वादिति वाच्यम् । सर्वात्मभावविषये ह्याचार्यमाध्या-भावात् । भाष्यं तु ‘यत्र नान्यत्पश्यती’त्याद्युक्तं षष्ठीगर्भितकर्मधारयं व्योतयति, न तु बहुव्रीहिमिति तेन भाष्येण सर्वं सुस्थम् । एतेन षष्ठीगर्भितकर्मधारयस्याचार्याङ्गीकृतस्य पुष्टिसर्वात्मभावविषय-त्वम्, मर्यादायां तु बहुव्रीहेरिति कुचोर्धं निरस्तम् । नापि दास्यरूपा सेवा सर्वभावरूपेति वक्तुं शक्यते । लघुस्वमार्गात् पृथक् सर्वभाववचनाद् एकादशे ‘मामेव सर्वभूतेष्विव’त्यादिबचनेभ्यः । तस्मात् सुषु सर्वात्मभावरूपा सेवेति । न च ‘आत्मानन्दसमुद्रस्थ’मित्यस्य सर्वभावानन्दसमुद्रस्थ-मित्यर्थोऽस्तु । अस्याक्षेपस्य ते त्विति टीकासम्बन्धित्वात् । तत्र ते तु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिरिति स्वमतिवाच्च । उक्तार्थस्य ज्ञाने सन्निवेशाच्च । ‘सर्वदा सर्वभावेने’त्यत्र करणे तृतीया नाभेदे ‘प्रकृत्या-दिभ्य उपसङ्ख्यानमि’ति वार्तिकेनाभेदासम्भवात् । न च सिद्धान्तमुक्तावस्था आचार्यकृतत्वेन सर्वभावा-नुरोधेन तनुजा सेवा व्याकर्तव्येति चेन्न । सर्वात्ममाधुरूपसेवायाः सर्वभावाविसिद्धत्वात् । आत्मनां बाह्याभ्यन्तरपरमात्मनां आत्मोपनिषदुक्तानां निवेदनमात्मनिवेदनम्, सर्वात्मभावस्तु आन्तरमात्रात्म-निवेदनमिति भेदः ।

अथ शरणमार्गः पृथगस्ति ‘पृथक्शरणमार्गोपदेष्टे’ति सर्वोक्तमात् । स च विवेकधैर्याश्रय इत्याहुः स च निबन्धे सेवाप्रकरणे ‘जगन्नाथे त्रिङ्गले च श्रीरङ्गे वैङ्कटेश्वरा । यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्पर’ इत्यनया कारिकयोक्तः । तत्र जगन्नाथः पुरुषोत्तमः, विङ्गले महाविष्णुः श्रीरङ्गोपि, वैङ्कटस्तु वैकुण्ठनाथः, तन्माहात्म्येषु प्रसिद्धाः । पुष्टिमार्गधिक्रीडाविशिष्टा-सन्निहिता श्रीयमुनाजित् उद्दिधीर्ष्वी ‘सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे’ति श्रुतिप्रतिपादिता पञ्चपुराणात् तत्र ‘ऐहिके पारलोके चे’ति वक्ष्यमाणोपसंहाराच्छरणमार्गं वक्तुं ‘सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्मे’ति सर्वोपनिषदुक्तब्रह्मणो भक्तिमुक्त्वा ‘सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे’ति श्रुत्युक्तब्रह्मणो भक्तिं ‘तत्र तिष्ठेत तत्पर’ इति निबन्धोक्ततत्परपद-वाच्यामुपचक्रमिरे हरितुयेति । तदर्थं प्रवृत्तं च निवृत्तं चेत्युक्तं लघुस्वमार्गस्वरूपमुक्तम्, अधुना तु ।

‘यत्र योगेन साङ्ग्येन दानव्रतपोऽध्वरैः ।

व्याख्यास्वाध्यायसत्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ।

तस्मात् त्वमुद्भवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम् ।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ।

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।

याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यङ्कुतोभयम् ।

इत्येकादशसर्वस्वं भगवान् स्वयमुक्तवान् ।

आत्मानं हि स्वयं वेद तस्मादन्यवचो मृषा'

इति सर्वनिर्णयोपान्त्ये प्रवृत्तनिवृत्तोत्सर्गेण भगवत्सङ्गजसर्वात्मभावेन 'मां याही'त्युक्ते सर्वात्म-
भावस्य प्रदानसाध्यत्वात् प्रवृत्तनिवृत्तोत्सर्गेण ।

'मत्सङ्गान्मासुपागता' इति श्लोकोक्तमत्सङ्गं निन्दयत्वाभावाय गुरूणामाहुः वृन्देति ।

वृन्दारण्यगतं रासरसोन्मत्तमतं गजम् ।

बधन्ध गोपबालैका बहु शृङ्खलया निशि ॥ १ ॥

रासरसोन्मत्तमतं रासे रससमूहे भक्तिरसेनोन्मतमपि मतं पूजितं संमतम्, वा गोपाल-
तापिनीये 'बलवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने नम' इति ब्राह्मणस्य 'श्रीकृष्ण रूक्मिणीकान्त गोपीजन-
मनोहर । संसारसागरे मधं मासुद्धर जगद्गुरो' इति च ब्राह्मणस्य । गजं गजमिवात्तगजेन्द्रलीलम् ।
एका मुख्या । आत्मवशीकरणसमर्थभक्तिमत्या शृङ्खलया प्रेम्णा 'पराकाष्ठा प्रेम्णाः पशुपतस्त्रीना' मिति
परिवृद्धाष्टकात् । बहु यथा भवति तथा पुष्टिमार्गीयसर्वात्मभावेन बहुरूपम् । मध्ये विरहाङ्गीकारात् ।
यद्वा । बही च शृङ्खला बहुशृङ्खला तथा एकत्वगविवक्षितम् । बहुविलसेन प्रेम्णा ।

हरितुर्यप्रियामक्तिमाहुः ।

हरितुर्यप्रिये कृष्णे प्रेम्णा भोज्यं मदर्पितम् ।

अङ्गीकुरुष्व कृपया सफलं जन्म मे कुरु ॥ २ ॥

एतस्या नाम कृष्णा, तस्याः सम्बोधने कृष्णे इति । भोज्यं खाद्यलेख्यचोग्यपेयरूपं
वस्त्राभरणमालाधूपदीपजलपात्राचमनमुखवस्त्रताम्बूलयमुनाष्टकपाठानामुपलक्षकम् । भक्तिदानेन वैराग्य-
रूपफलेन सह वर्तमानं जन्म मम 'जनयत्याशु वैराग्य' मिति वाक्यात् ।

वन्दनं पूजायां न निविशत इत्यत्र भक्तावपि पृथगेवाहुः नम इति ।

नमस्ते सच्चिदानन्दरसरूपिणि सुरजे ।

कुमारीष्विव मे देहि श्रीकृष्णे भावमुत्तमम् ॥ ३ ॥

पूर्वार्धोक्तं रूपं पद्मपुराणयमुनामाहात्म्ये 'त्रयी रसमयी सौरी ब्रह्मविद्या सुधावहा । नारायणी-
श्वरी ब्राह्मी धर्ममूर्तिः कृपावती'ति वाक्यात् । सुरो मिहिरस्तज्जे, मे मद्यम्, यद्यप्युत्तमं भावं
व्यसनात्मको भावः साधनप्रकरणे 'उत्तमः फलपर्यन्त' इत्यत्र कारिकायां विवृतः, तथापि स न
सूर्यजायै दत्तोऽपि तु भवाय दत्तः, अतः सूर्यजादतो भावः उत्तमः कुमारीषु फलसहितो भाव
उत्तमस्तद्वत् फलसाहित्यं भावे देहीति । यमुनायाः कालिन्दीत्वे तु कलिं घृतीति व्युत्पत्त्यान्योन्य-
कलहखण्डनं भगवता सह कलहावखण्डनं कलिकालदोषावखण्डनं च भावं देहीति । तिष्ठे-
तेत्यात्मनेपदेन 'प्रकाशनस्थेयारख्ययोश्चे'ति सूत्रेण लकारार्थप्रक्रियात्वेन जातेन 'गोपी कृष्णं
तिष्ठत' इत्युदाहरणवत् ।

स्वाशयं प्रकाशयांबभूदुः त्वदीयेति ।

त्वदीयमधुसूक्तिभिर्ब्रजजनेशसङ्गाशया

मनोजशरपीडिताः कथमपि स्थिता मेऽसवः ।

अतः परमये यदि प्रियतमाङ्गसङ्गो भवेत्

तदैव मम जीवितं विरहितादशाहीकरम् ॥ १ ॥

'अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे । भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विसु'मिति
वाक्यादेवं भावः । वस्तुतस्तु साधनप्रकरणे 'प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवती'ति सुबोधिन्याः स्त्रीत्वं
प्रसादमापिरे । भर्तारं धारकं पोषकं वा । कामाद्धारणमप्रच्युतं भवतीति । काम इच्छा प्रेमेच्छेति
स्थितमिति सुधीभिराकलनीयम् । कथमपि हृदि प्रकटेनाकाशरूपानन्देन । आकाशवद्दिति
प्रत्ययादाकाशरूपानन्दस्य प्रकारता । अये विषादे विरहात् । कथमपि स्थितानामसूनां स्थिति-
विचारस्त्वया कर्तव्य इति ।

श्रीयमुनाजिदुक्तावाहुः श्रीति ।

श्रीगोकुलनाथोऽस्माकमैहिकं पारलौकिकं च ।

स्वयमेव जातोऽस्तीति किमस्माकं विचारणीयमस्ति ॥ २ ॥

अत्र द्वितीयतुरीयपादयोर्व्यत्ययः, आर्यान्तरत्वात् । 'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा
तृतीयकेपि । अष्टादश द्वितीये पञ्चदश चतुर्थके सार्ये'ति । अत्रा'स्माकमैहिकं पारलौकिकं च श्रीगोकुल-
नाथः स्वयमेव जातोऽस्ती'त्यन्वयात् सखण्डब्रह्मज्ञानं सर्वस्मिन्नात्मभावो यत्र स सर्वात्मभाव इति
व्युत्पत्तिकसर्वात्मभावरूपम् ।

एवं च ब्रजभक्तानां भ्रमरगीते उद्धवद्वारा ज्ञानोपदेशवदत्रापि स्वयमेव ज्ञानोपदेशं कारयिष्यतीति
नास्माकं विचारणीयं किमप्यस्ति । तदुक्तं स्वप्नदर्शनाख्यग्रन्थे 'एवमुखास्रस्तं विलपन्ती मूर्च्छिता-
दमासं ततश्चिरेण श्रुतिपथागतप्रियवंशीनिनादैर्मन्त्रैरिध विगतमूर्च्छां हमभवमि'ति ।

तद्धीस्माभिः कथमपि स्थितानामसूनां स्थितिचिन्ता कार्येत्यत्र नेत्याहुः चिन्तेति ।

'चिन्ता कापि न कार्या, गोवर्धननाथोऽस्मात्कुल-

पतिरस्मद्विदितमेव करिष्यति ॥ ३ ॥

'चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि । भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकी
च गति' मिति नवरहात् ।

आशयान्तरं प्रकाशयन्ति स्म ।

किं ब्रुवाणि सखि प्रेम्णविरहानलदाहिता ।

जीवामीत्येतदेवालं निरपत्रपतास्पदम् ॥ ४ ॥

हे सखि निरपत्रपतास्पदं यथा भवति तथा जीवामीति यत् तत् तस्मै जीवनायालं
'नमःस्वस्ती'ति सूत्रेण चतुर्थो तस्याः 'अव्ययादाप्सुप' इति सूत्रेण लुक् ।

वेदान्तिनां ज्ञाननिष्ठत्वेन कियाकृपाप्रश्नं चकः सखीति ।

सख्येतल्लेखनीयं त्वयातियत्नेन राधिका (कान्तः) ।

किं कृपयिष्यत्यथवा मनोरथेनैव जन्मनिर्वाहः ॥ ५ ॥

हे सखि यमुनाजित् । एतद् वक्ष्यमाणं पत्रे लेखनीयं प्रश्नविषयम् । राधिका क्रिया 'क्रिया
सा राधिका देवी'ति वचनान् मनोरथेन इच्छया जन्म आत्मतया शरीरस्वीकारो निर्वाहः
निर्गते वाहाद् वाञ्छया एतादृशः । 'वाहस्तु मतभेदे वृषेहयो'रिति विश्वः । 'ईहा तूद्यमवाञ्छयो'
रिति च विश्वः । किमिति प्रश्ने मनोरथेनैव जन्मनिर्वाहः किमिति प्रश्नः । कृपयिष्यतीत्यत्र
कृपा कृपाभावाभावरूपापि सम्भवति अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानं कारणमिति ।

प्रतियोगिनं कृपाभावं व्यक्तीकुर्वन्ति स्म मदिति ।

मदन्तःस्नेहघशतो मच्छरीरव्यवस्थितिम् ।

जानन्तोपि न जानन्ति तत्तूचिततरं हि वः ॥ ६ ॥

ममान्तःस्नेहो मनोजशरपीडाजन्यविधिविधभावोपशामकत्वेन आत्मविषयः । मच्छरीरव्यवस्थितिः पूर्वोक्ता विरहसामयिकी ताम् । जानन्तः 'शरीरेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनां' स्त्रीत्वं भगवत्सेवानुकूलत्वलक्षणं न सम्भवतीति भगवत्सेवानुकूलत्वलक्षणपुंस्त्वविशिष्टास्ता इति पुंस्त्वेन निर्देशः । यूथामिप्रायेण बहुवचनम् । न जानन्ति अधिकुमारत्वेन भर्तृमावात् ताः प्रत्यज्ञानम् । भक्तेच्छयैतादृशलीलाप्राकट्यादुचिततरं वो युष्माकं भगवता लीलाविशेषेऽङ्गीकृतानाम् ।

अन्यथा कुतो न लीलायां प्रविष्टो येन कृपाभावो न भवेदिति चेत्, तत्राहुः यथेति ।

यथा नर्तयति स्वामी वस्तुतस्त्वपराधिनम् ।

मां तथाहं तु नृत्यामि भृशं क्लिष्टोऽस्मि तेन हि ॥ ७ ॥

वेदान्तिनामस्माकं नन्दराजकुमारे नवजलदे वर्षति पूर्वोक्त इदं प्रह्वेति सर्वात्मभावभवनादन्तर्धामिणश्च प्रत्यक्षाद् यथा नर्तयति गात्रविक्षेपं कारयति, स्वामी, 'अत एव चानन्याधिपति'रिति-सुत्रोक्तः श्रीपुरुषोत्तमः । वस्तुतस्तु श्रीमदाचार्याज्ञया निरुद्धोऽहं सर्वात्मभावकः सर्वेन्द्रियादीनां ब्रह्मात्मकानामन्यत्रापकर्षेपि तदाज्ञेयताकरणाद्पराधिनं माम् । तेन नृत्येन भृशं क्लिष्टोऽस्मि तेन 'तानि मृत्युः श्रमो मृत्योपयेम' इति सप्तान्नब्राह्मणश्रुतेस्तानि वागादीनि, मृत्युः श्रमो मृत्योपयेमे, राधिकाकृपायां त्वेवं न स्यात् । 'अनन्यासाञ्च वेदानामाचारस्य च लङ्कनान्यत्सुर्विप्रान् जिघांसती'ति । क्रियावेदयोगतप्रविवेकाभावात् षदाथेऽपि । भगवांस्त्वक्लिष्टकर्मा, अयं तु क्लिष्टकर्मा मृत्युः ।

तर्हि मृत्युकृतश्रमभयान् नात्रागन्तव्यमित्युक्तावाहुः त्रपेति ।

त्रपावैराग्यराहिस्याद् भवदार्तिजिहीर्षया ।

पुनस्तत्रागताविच्छां करोमि स्नेहयश्चित्त ॥ ८ ॥

'साधत्रपाऽन्यतः' सा लज्जान्यतो भवतीम्य इति, त्रपा विरहे जीवतो मे, तादृशी लज्जा तद्-राहिस्यात्, वैराग्यं विषयवैतुष्यं तदभावात् 'कर्मेन्द्रियाणी'ति तृतीयाध्याये मिथ्याचारस्त्वं गीतोक्तं परास्तम्, भक्तिमार्गाधिकारश्च सूचितः । 'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनाम् । न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोस्य सिद्धिद्' इति वाक्यात् । पुनस्तत्रागतिफलकमिच्छाकरणं तत्कर्ताहम् । एतेन रतिमार्गे यत्र पूजाप्रवाहो यमुनादौ तत्राविच्छिन्नस्थितिनियमो निराकृतः । नन्वन्यादृशी लीलास्मत्सम्बन्धिनी तत्र विरुद्धाभिरस्माभिः संकुलितं स्थानं तस्मिन् आगतीच्छा कथं तत्राहुः भवदिति । भवतामार्तिविरहदुःखं तस्य हरणेच्छा तथा प्रकारभूतया । ननुक्तं विरुद्धा वयं कथमस्माकमार्तिहरणेच्छावान् भवान् इत्यत आहुः स्नेहयश्चित्त इति । विरुद्धा भगवदिच्छया क्रीडार्थं यूयं तत्र स्नेहयत्रणे किं भुवे यतोहं प्रकृत्या विरुद्धेष्वपि स्नेहयश्चित्तः । गीतायां पञ्चमे 'इहैव तैर्जितः स्वर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः । निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः । न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् । स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः' इति ।

आशयविषयं वृत्तान्तं प्रकाशयति परमिति ।

परं तु तदनु रूपं शरीरं नैव वर्तते ।

तथापि यदि पञ्चम्यां स्वास्थ्यं किञ्चिद्भविष्यति ॥ ९ ॥

तदा समागमिष्यामि दुःखं मा कुरुत प्रियाः ।

दुःखं विरहदुःखम् ।

वस्तुतस्तु विरहो नास्तीत्याहुः सर्वेति ।

सर्वेशो गोकुलाधीशो शरणा एव सर्वतः ॥ १० ॥

शरणा इत्यत्र 'शरणं गृहरक्षित्रो'रिति क्रोशः । 'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना कश्चित् । आत्मत्वाद् भक्तनश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात् स्वभावत' इति वाक्यात् । 'रक्षतीत्येव विश्वासः षड्विधा शरणागति'रिति पञ्चरत्ने ।

अत इति ।

अतश्चिन्ता न कर्तव्या भवद्भिः कृष्णसात्कृतैः ॥ ११ ॥

उक्ताद् दृश्यमानात् सन्दर्भाच्च चिन्ता केच्छा, ईश्वरः कः, यथेश्वरं प्रादुर्भावित इति 'उत्कर्ष-आपि वैराग्ये' भग्नेश्वरोऽङ्गीकृतवान् किमुदासीनः क्लिष्टः किं व्यापको वा क्लिष्टः काहम् केश्वर इत्यादि चिन्ता न कर्तव्या कृष्णसात्कृतैः कृत्स्ना यूयं कृष्णाः संपद्यन्ते तथा कृताः कृष्णसात्कृताः यतः । अस्मिन्मार्गे 'सच्चिदानन्दता स्वत' इति निरोधलक्षणे । किञ्च ।

श्रीगोकुलजीवनः सर्वं भद्रमेव करिष्यति ।

श्रीगोकुलस्य निःसाधनस्य जीवनो जीवयिता, यूयं तु कृततपस्काः कुतः सन्देहो जीवनेपि । किञ्च ।

अहं यथा शीघ्रं दर्शनं प्राप्नोमि तथा विधेयं प्रत्यहम् ॥ १२ ॥

भवन्ती भगवांश्च विसदृशीः लीलाः परित्यज्य चित्तादोषजनकलीलाः कुर्वित्यधीष्टं चित्तदोषेषु भक्त्यभावाद् दर्शनं न प्राप्स्यामि । 'अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यती'ति वाक्यात् । ततः खेपु चित्तदोषजनकलीलारूपं विशेषणं विधेयमिति भावः, तदपि प्रत्यहम् ।

उपसंहरति शरणमार्गमेहिकेति ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

संपत्स्वापत्स्वपि सदा शरणं हरिरेव हि ॥ १३ ॥

स्पष्टम् ।

एवं तत्तद्रूपसन्निधानमेव तत्तत्फलदानादिप्रयोजकमित्यर्थः समासेन न तु व्यासेन ।